अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

(International Economics)

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र
(INTERNATIONAL ECONOMICS)

[भारत के विशेष संदर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेशी विनिमय एवं प्रशुल्क नीति का एक सारपूर्ण एवं आलोचनात्मक अध्ययन]

लेखक
डा० पी० सी० श्रीवास्तव, एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्रधानाचार्य एवं अध्यक्ष, व्यावहारिक अर्थशास्त्र विभाग,
जी० एस० कॉलिज ऑफ कॉमर्स एण्ड इकोनॉमिक्स, जबलपुर।

नवयुग साहित्य सदन,
लोहामण्डी, आगरा–२

तृतीय संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक का द्वितीय संस्करण एक वर्ष की अल्प अवधि में ही समाप्त हो गया, जो इस बात का प्रतीक कहा जा सकता है कि विद्यार्थियों ने इसे उपयोगी पाया। विद्यार्थियों एवं प्राध्यापक बन्धुओं ने पुस्तक का जो स्वागत किया उससे प्रेरणा लेकर लेखक ने तृतीय संस्करण को उपयोगी बनाने के लिए विशेष प्रयत्न किया है। इस कार्य में छात्रों, प्राध्यापकों और अपने कतिपय शिष्यों से प्राप्त हुए विभिन्न सुझावों से बड़ी सहायता मिली है।

इस नये संस्करण की भाषा सम्बन्धी त्रुटियों को दूर करने के अतिरिक्त यत्र-तत्र नवीनतम् तथ्यों और आँकड़ों को सम्मिलित किया गया है। 'परिचय खण्ड' में अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की समस्याओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ समझाये गये हैं और यह बताया गया है कि इसका प्रादुर्भाव एवं विकास कैसे हुआ। दूसरे खण्ड में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्त का विवेचन किया गया है और समय समय पर जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते रहे उनकी विशद चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त, आर्थिक विकास पर पड़ने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रभावों को भी स्पष्ट किया गया है। तीसरे खण्ड में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मौद्रिक पहलुओं—विदेशी भुगतान, भुगतान सन्तुलन, विनिमय दर, अवमूल्यन, विनिमय नियन्त्रण, अर्थ प्रबन्धन अन्तरण समस्या इत्यादि का विवेचन किया गया है। चौथे खण्ड में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीति—स्वतन्त्र व्यापार, संरक्षण, द्विपक्षी एवं बहुपक्षी व्यापार प्रणालियाँ, व्यापारिक संधियाँ, कार्टेल्स, एकाधिकार, राशिपातन, वस्तु व्यापार समझौते आदि को समझाया गया है। पाँचवें खण्ड में भारत के विदेशी व्यापार का विकास दिखाया गया है और निर्यात संवर्धन, आयात प्रतिस्थापन, निर्यात-साख विषयक अध्याय बढ़ाये गये हैं। विदेशी मुद्रा विदेशी पूँजी की समस्याओं पर पृथक् पृथक् विचार किया गया है। रुपये के १९६६ के अवमूल्यन तथा पौण्ड के १९६७ के अवमूल्यन से भारत के विदेशी व्यापार पर गम्भीर प्रभाव हुए। इनके अध्ययन के लिए पृथक् पृथक् अध्याय रखे गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग वाले अन्तिम छठे खण्ड में भी नवीनतम् सामग्री दी गई है तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग शीर्षक अध्याय में कोलम्बो योजना, यूरोपीय साझा बाजार आदि के विषय में विस्तृत सामग्री बढ़ाई गई है। एशियाई

विकास बैंक एवं संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन (UNCTAD) की उपलब्धियों तथा विश्व मन्दी, स्वर्ण संकट जैसी घटनाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। अतः आशा है कि विद्यार्थियों के लिए यह संस्करण अब अधिक उपयोगी होगा।

लेखक ने विभिन्न पत्र, पत्रिकाओं एवं इनमें प्रकाशित अध्यापकों एवं विद्वानों के लेखों से समुचित सहायता ली है, जिसके लिये वह इनका आभारी है।

पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने हेतु सुझाव सदैव की भांति सादर निमन्त्रित हैं।

—लेखक

अनुक्रमणिका

[चतुर्थ खण्ड]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीति
(International Commercial Policy)

[पाँचवाँ खण्ड]

भारत का विदेशी व्यापार
(India's Foreign Trade)

[छठा खण्ड]

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं मौद्रिक सहयोग
(International Economic and Monetary Co-operation)

प्रथम खण्ड

विषय-प्रवे

(INTRODUCTION)

— —— —

विद्वानों के विचार—

(१) जी० एल० मेहता (G. L. Mehta)—"हम पर्याप्त सहायता प्राप्त करने के इच्छुक हैं और यह भी चाहते हैं कि स्वय भी विभिन्न असमानताओं को समाप्त करने में भरसक सहयोग दें। हर्ष की बात है कि अनेक एशियाई और अफ्रीकी देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है किन्तु यह राजनैतिक स्वतन्त्रता तब तक निरर्थक है जब तक कि इसके साथ ही उनके आर्थिक विकास में भी प्रगति न हो।"

["We would like to receive adequate aid and we would also like to exert our own efforts to eliminate various disparities and inequalities Many Asian and African countries have won independence but this political independence has no meaning unless it is accompanied by economic development and growth"]

(२) सैमुअलसन (Samuelson)—"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के महत्त्वपूर्ण होने का एक मौलिक कारण यह है कि विदेशी व्यापार एक ऐसी 'उपभोग-सम्भावना अनुसूची' प्रस्तुत करता है, जो हमें सभी वस्तुओं की अधिक मात्रा, उस मात्रा से भी अधिक, जो कि हमारे निजी 'आन्तरिक उत्पादन-सम्भावना अनुसूची' द्वारा उपलब्ध की जाती है, प्रदान करता है।"

["International trade is important for the following basic reason Foreign trade offers a 'Consumption-possibility schedule' that can give us more of all goods than can our own domestic production-possibility schedule"]

(३) हैरोड (Harrod)—"अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एक विस्तृत और जटिल विषय है, इस पर एक ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत पाठकगण वर्तमान सङ्कटपूर्ण स्थिति के कारणों और प्रभावों का विश्लेषण पाने की भी आशा कर सकते हैं। इसके द्वारा उन्हें उचित समाधान खोजने तथा भविष्य की प्रवृत्तियों का अनुमान लगाने में सहायता मिलेगी।"

["International Economics is a large and complex subject; it might be surveyed from a historical or a geographical point of view, a brief description of the principal constituent items of international trade might be attempted, above all the reader might hope to find an analysis of the causes and phases of the present crisis, with a view to forming opinions about the probable course of events and the appropriate remedies for the situation"]

१

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र

(The Scope of International Economics)

प्रारम्भिक—

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र वह है जिसमे राष्ट्रो के मध्य आर्थिक सम्बन्धो का अध्ययन किया जाता है। राष्ट्रो के इन पारस्परिक सम्बन्धो से कुछ विशेष समस्यायें उत्पन्न होती है। इन विशेष सम्बन्धो और समस्याओ पर आगे सक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

व्यापार की भूमिका

जिस प्रकार व्यक्ति आत्मनिर्भर नही रह सकता उसी प्रकार राष्ट्र भी पूर्णत स्व-निर्भर नही हो सकते। यदि वे इसका प्रयास करेंगे, तो उनका जीवन-स्तर पर्याप्त ऊँचा नही हो सकता। अत प्रत्येक राष्ट्र कुछ विशेष वस्तुओ का ही उत्पादन करता है और अपने उत्पादन का एक भाग निजि के उपभोग के लिए रखकर शेष को अन्य राष्ट्रो से अपनी अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने मे प्रयोग करता है। इस प्रकार, विशिष्टीकरण का अर्थ है व्यापार और व्यापार के अभाव मे विशिष्टीकरण नहीं हो सकता। सदेह नही कि विदेशो से होने वाला व्यापार आन्तरिक व्यापार की तुलना मे प्राय अल्प होता है, किन्तु कुछ देशो (जैसे—इङ्गलैण्ड) के लिए वह जीवन-मरण का प्रश्न बना हुआ है। यथार्थ मे विदेशी व्यापार के परम महत्त्व के दो बुनियादी कारण है—एक तो यह कि विदेशो से वे वस्तुएँ मँगाई जा सकती है, जिन्हे देश मे ही उत्पन्न करना सम्भव नही है और दूसरे, जो वस्तुये स्वदेश मे उत्पन्न की जा सकती है वे भी विदेशो से कम लागत पर ही प्राप्त हो जाती हैं।

प्रसाधनो एव तकनीको का आवागमन

केवल वस्तुये ही नही बल्कि इन्हे बनाने वाले कुछ प्रसाधने भी राष्ट्रीय सीमाओ से बाहर आते-जाते है। ऐसे आवागमन भी विभिन्न राष्ट्रो की अर्थव्यवस्थाओ को बहुत अधिक प्रभावित करते है। पूंजी, श्रम और तकनीकी कौशल ऐसे ही प्रसाधन है। इस प्रकार के आवागमन प्रथम महायुद्ध से पूर्व एक बहुत विस्तृत पैमाने पर हुआ करते थे तथा इन्होंने (जैसे—ब्रिटिश पूँजी ने) सम्बद्ध राष्ट्रो (जैसे—यूनाइटेड स्टेट्स) की कायापलट कर दी थी। किन्तु प्रथम महायुद्ध के समय से इन आवागमनो मे कुछ

गी आई। विशेषत श्रम का प्रवाह तो बहुत ही घट गया है। अब द्वितीय महायुद्ध बाद विकासशील देशों के विकास के लिए विकसित देशों से पूँजी और तकनीकी कौशल का आवागमन विशाल पैमाने पर पुन होने लगा है।

प्रतिबन्धों का विकास

१६वीं शताब्दी में राष्ट्रों ने वस्तुओं और साधनों के आवागमन का स्वागत किया था तथा इन पर मामूली प्रतिबन्ध ही लगाये थे। उस काल में क्रेताओं को सस्ते से सस्ते बाजार में खरीदने तथा विक्रेताओं को महँगे से महँगे बाजार में बेचने की पूरी छूट थी। यात्रियों के आने जाने पर भी कोई रोक टोक नहीं थी। विनियोक्ताओं को अपना धन किसी भी देश में लगाने और इच्छानुसार वापस लेने की अनुमति थी। किन्तु सन् १९१४ के बाद स्थिति बहुत बदल गई। विभिन्न राष्ट्रों ने तटकरों की ऊँची दीवार खड़ी कर दी, प्रत्यक्ष परिमाणात्मक प्रतिबन्ध भी लगाये गये, विशेष वस्तुओं के आयात के लिए लाइसेन्स व्यवस्था प्रचलित की गई और कुछ वस्तुओं का आयात तो बिल्कुल ही रोक दिया गया। सौभाग्यवश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रयत्नों के फलस्वरूप अब इन प्रतिबन्धों को हटाया जा रहा है, यद्यपि इसकी गति धीमी है।

राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन

उन्नीसवीं शताब्दी में ग्रेट ब्रिटेन को विश्व का अग्रणी राष्ट्र कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। उसकी भौगोलिक विशेषताओं और औद्योगिक प्रगतियों ने उसे विश्व का प्रधान औद्योगिक राष्ट्र बना दिया था। उसका प्रभुत्व व्यापार और वित्त के क्षेत्र में भी विस्तृत था। ब्रिटिश जहाज ब्रिटिश माल को विश्व के कोने-कोने में ले जाते और वहाँ से खाद्यान्न व कच्चा माल भरकर लौटते थे। लन्दन विश्व का प्रमुख वित्त केन्द्र बना हुआ था।

किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद ब्रिटेन की प्रभुता को गम्भीर चुनौती प्रस्तुत हुई। पहले तो यूनाइटेड स्टेट्स और फिर जर्मनी ने उसे औद्योगिक क्षेत्र में पछाड़ दिया। आज तो औद्योगिक, व्यापारिक एवं वित्तीय क्षेत्र में अमेरिका ही अग्रणी राष्ट्र बना हुआ है। किन्तु जिन परिस्थितियों में ब्रिटेन ने नेता की भूमिका निभाई थी वह उनसे बिल्कुल ही भिन्न हैं जिनमें कि अमरिका को आजकल नेता की भूमिका निभानी पड़ रही है। ब्रिटेन की प्रभुता वाले युग में सर्वत्र पूँजीवाद ही छाया हुआ था किन्तु आजकल विश्व दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं (पूँजीवाद एवं साम्यवाद) में बँटा हुआ है। यही नहीं, पहले विश्व—अर्थव्यवस्था अपेक्षतः स्वतन्त्र व्यापार के आधार पर एकीकृत हो गई थी किन्तु आजकल इसका स्थान प्रतिबन्धों और क्षेत्रीय गुटों ने ले लिया है। आर्थिक गुटों के अतिरिक्त विश्व में साम्यवादी एवं गैर-साम्यवादी देशों के गुट भी हैं, जिनके मध्य मामूली व्यापार होता है। पहले लन्दन विश्व अर्थ व्यवस्था का एक मात्र केन्द्र था किन्तु अब कई केन्द्र (जैसे, न्यूयार्क) बन गये हैं, जिससे इनके मध्य सहकारी उपायों द्वारा सन्तुलन रखना जरूरी हो गया है।

उपर्युक्त अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो के प्रकाश मे हम उन अन्तर्राष्ट्र आर्थिक समस्याओ की गम्भीरता को सहज ही समझ सकते है जो आज विश्व के सामने उपस्थित हैं। प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय समस्याये निम्न प्रकार है —

(१) क्षेत्रीय गुटो के निर्माण से उत्पन्न समस्यायें— द्वितीय विश्व युद्ध बाद अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र मे कई क्षेत्रीय गुट बन गये है, जिनमे यूरोपि साझा बाजार (European Common Market, ECM) प्रमुख है। इस सघ फ्रास, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, नीदरलैड्स और लक्सेमबर्ग यह छह राष्ट्र स लित हुये और यह तय किया कि सदस्यो के मध्य व्यापार पर कोई तटकर नही रहगा समुदाय के भीतर श्रम और पूँजी के आवागमन पर लगे हुए प्रतिबन्धो को समाप्त कर दिया जायेगा और बाहरी विश्व के विरुद्ध समान तटकर रखे जायेगे। इस समुदाय के लक्ष्य पर्याप्त सीमा तक पूरे हुये है। इससे प्रेरणा लेकर कुछ अन्य क्षेत्रीय गुट भी बने, जैसे—यूरोपीयन स्वतन्त्र व्यापार सघ (European Free Trade Association, E F T A)। इसमे वे यूरोपीय देश सम्मिलित हुये, जो साझा बाजार मे सम्मिलित होने के इच्छुक नही थे। इनका लक्ष्य सदस्यो के मध्य केवल औद्योगिक उत्पादो के आवागमन पर लगे हुए तटकरो को समाप्त करना था। दक्षिणी अमेरिका के आठ राष्ट्रो ने भी, जो एक कस्टम यूनियन म पहले ही सम्मिलित हो चुके थे, एक दूसरे के उत्पादो के विरुद्ध लगाये हुए तटकरो को घटाने की दिशा मे कदम उठाय। किन्तु विचारणीय बात यह है कि इन क्षेत्रीय गुटो के निर्माण का शेष विश्व पर क्या प्रभाव होगा या हुआ है। सदेह नही कि ऐसे किसी भी गुट के तटकर गुट बनने से पहले के औसत राष्ट्रीय तटकरो से ऊँचे नही है, किन्तु गुट बन जाने मात्र से ही कुछ सदस्य-राष्ट्र, गुट के अन्य सदस्य-देशो से तटकर न देने या रियायती दर से तटकर देने की सुविधा के कारण वहाँ गैर सदस्य राष्ट्रो के तटकर वाले आयातो को प्रतिस्थापित (Replace) करने मे समर्थ हो गये है और जिस सीमा तक ऐसा हुआ है उस सीमा तक शेष विश्व को कुप्रभावित हुआ माना जायेगा। अत यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और विश्व-स्थायित्व के हित मे है कि इसका उचित समाधान तलाश किया जाय।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्यायें—द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्थापित हुआ। इसके सदस्य देशो ने अपनी मुद्रा का सम-मूल्य डालर और स्वर्ण मे घोषित किया हुआ है। डालर और स्टर्लिंग को विश्व के अनेक देशों द्वारा रिजर्व करैन्सियों के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। किन्तु सन् १९५८ से सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के भुगतान सन्तुलन मे भारी 'घाटा' (Deficit) रहने लगा और उसके स्वर्णकोषो मे भारी गिरावट आ गई है। डालर के विरुद्ध अल्पकालीन विदेशी दावे (Foreign claims) कई गुने हो गये है। अत यदि जल्दी ही उचित उपाय न किये गये, तो इस रिजर्व करैन्सी मे विश्व का विश्वास नष्ट हो जायेगा

पैदा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा को सकट का सामना करना पडेगा । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था । सुधार के लिए समय समय पर जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते रहे है, वह कोई विशेष फलदायक नही हुए है ।

(३) **आर्थिक विकास की समस्यायें**—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अफ्रीका और एशिया के अनेक देश स्वतन्त्र हुए और अब वह अपने शीघ्र आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील है । किन्तु विकास-कार्य उनके लिए सहज नही है । इसमे उन्हे विकसित देशो की सहायता आवश्यक है । किन्तु इस सम्बन्ध मे कुछ प्रश्न उलझन मे डालने वाले हैं, जैसे—क्या यह सहायता शर्त रहित (Unconditional) होनी चाहिये ? क्या सहायता देने वाले देश सहायता पाने वाले देश को ऋण के सदुपयोग के सम्बन्ध मे कुछ इम्तहान पूरा करने को कहे ? सहायक देश को सहायता प्राप्त देश के विकास-कार्यक्रमों मे कहाँ तक भाग लेना चाहिये और क्या जिम्मेदारी उठानी चाहिए । पुन , जैसे जैसे अर्द्ध-विकसित देशो का विकास होगा, उनकी अर्थव्यवस्था मे परिवर्तन होगा और वह अधिकाधिक औद्योगीकृत (Industrialise) होते जायेगे । ऐसा होने पर उन्नत औद्योगिक राष्ट्रो को अपने यहाँ कुछ समायोजन करने आवश्यक होगे । ये समायोजन क्या है और किस तरह किये जाये ? एक अन्य विचारणीय समस्या और है । विकासोन्मुख देशो को भुगतान सन्तुलन मे भारी घाटे अनुभव हो रह है क्योकि उनके आयात निर्यातो की अपेक्षा कही अधिक बढ गये है । इसका कारण यह है कि उन्हे अपने विकास कार्यक्रमो की पूर्ति के लिये पूँजीगत सामान बडे पैमाने पर मँगाना पड रहा है । इस घाटे की पूर्ति प्राय विदेशी ऋण लेकर की गई है, किन्तु उसे एक न एक दिन तो लौटाना ही पडेगा । अत आवश्यक आयातो के भुगतान के लिये पर्याप्त मात्रा मे निर्यात बढाने की बुनियादी समस्या अभी उलझी हुई है, जिसका स्थाई समाधान खोजना आवश्यक है ।

साम्यवाद द्वारा प्रस्तुत की गई चुनौती के सदर्भ मे यह परम आवश्यक है कि उपर्युक्त समस्याओ का समाधान अविलम्ब खोजा जाय । विकसित देशो को चाहिए कि विकासोन्मुख देशो की समस्याओ के प्रति एक अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाये, क्योकि इनका विकास होना विश्व शान्ति की गारन्टी है ।

समस्याओ के समाधान के लिए बुनियादी बात

हमारे प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य इन समस्याओं के समाधान हेतु पाठको को कुछ बुनियादी बात बताना मात्र है, कोई रेडीमेड नुस्खे प्रस्तुत करना नही । बुनियादी बातो की जानकारी होने से समस्याओ का समाधान खोजने मे सुविधा होगी । ये बुनियादी बात निम्नाकित है —

(१) **विदेशी व्यापार का सिद्धान्त**—सर्वप्रथम हमे यह ज्ञात होना चाहिए कि राष्ट्रो के मध्य व्यापार क्यो होता है, कौन-कौन से घटक यह निश्चय करते हैं कि अमुक देश किन-किन वस्तुओ मे विशिष्टीकरण करे, किन वस्तुओ का निर्यात करे और किन वस्तुओ को मँगाये । जब तक हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बुनियादी

सिद्धान्त को नही समझ लेंगे, तब तक उन नीतियों का मूल्यांकन करने में ... रहेंगे जो कि आजकल वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन पर प्रभाव डाल रही ... साथ ही, व्यापार विषयक नियमों को दृष्टिगत रखकर ही विकासोन्मुख देश अ... दुर्लभ प्रसाधनों के समुचित विदोहन के लिए समुचित स्कीमें बना सकते है।

(२) भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी विश्लेषण—किसी देश के आयातों ... निर्यातों में होने वाले परिवर्तन उसके भुगतान सन्तुलन पर तात्कालिक प्र... डालते है और घाटे या आधिक्य के रूप में प्रतिबिंबित होते हैं। उक्त परिवर्तनों का देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था (रोजगार-स्तर, व्यावसायिक क्रिया, कीमतों ... पर भी प्रभाव पड़ता है तथा अन्तत विदेशी बाजारों में स्वदेश की स्पर्धा शक्ति प्रभावित हो जाती है। जब तक हमें ऐसे प्रभावों की जानकारी न होगी, ... अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में कदापि सफल नहीं होंगे। चूँकि ... प्रभाव विनिमय दरों की स्थिरता या परिवर्तनशीलता के अनुसार अलग अलग होते हैं, इसलिये भुगतान सन्तुलन का दोनों प्रकार की दरों के सन्दर्भ में अध्ययन करना होगा। तब ही हम यह भी जान सकेंगे कि भूतकाल में स्वर्णमान का खण्डन क्यों किया गया और हमारी वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था का आधार क्या है।

(३) संस्थाओं का ज्ञान—किसी देश की आर्थिक प्रगति पर सांस्कृतिक और संस्थागत भिन्नतायें भी प्रभाव डालती हैं, अत इन संस्थाओं का ज्ञान होना भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब अधिकांश लेटिन अमेरिकन देश आजाद हुए, तो उनकी स्थिति यूनाइटेड स्टेट्स से कोई बहुत भिन्न नही थी। किन्तु १५० वर्ष के मध्यान्तर में यूनाइटेड स्टेट्स तो धन और उत्पादकता में अभूतपूर्व प्रगति कर गया जबकि लेटिन अमेरिकी देश लगभग वैसे ही बने रहे जैसे कि वह सदा से थे अर्थात् कृषि प्रधान, निर्धन और स्थैतिक। इस विषमता के लिए उनके केवल प्रसाधन सम्बन्धी अन्तरों को ही जिम्मेदार नहीं ठह राया जा सकता, वरन् दोनों क्षेत्रों की सांस्कृतिक विशेषताओं का अन्तर भी जिम्मे-दार है।

उत्तरी अमेरिका में बसने के लिए आये हुये प्रारम्भिक लोग निचले मध्यम वर्ग में से थे। यह बहुत महत्त्वाकांक्षी न थे। उन्होंने केवल छोटे छोटे फार्म ही स्थापित किये, जो प्राय पारिवारिक श्रम से सचालित किये जा सकते थे। किन्तु स्पेनिश प्रवासी प्राय सामन्तवादी वर्ग के थे। उनकी महत्त्वाकांक्षायें अमित थी। उन्होंने विशाल भू-सम्पत्तियाँ खरीदीं और शीघ्र ही प्रभुताशाली बन गये। अत निर्बाधावाद की नीति ने आर्थिक विकास की गति को यूनाइटेड स्टेट्स में तो तेज कर दिया, किन्तु लेटिन अमेरिकी देशों में धीमा, क्योंकि वहाँ आर्थिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण घटक—'स्फूर्तवान महत्त्वाकांक्षी मध्यम वर्ग', जोकि व्यावसायिक नेता प्रदान करता है—अनुपस्थित रहा। या तो इस एजेन्सी का सृजन करना चाहिये था अथवा इसका विकल्प खोजना था, जो नहीं किया गया। फलत लेटिन

अमेरिकन देशो का आर्थिक विकास कुण्ठित हो गया। स्पष्ट है कि समस्याओं को समझने और हल करने हेतु सैद्धान्तिक विश्लेषण के साथ-साथ ऐतिहासिक विश्लेषण करना भी जरूरी है। यही कारण है कि अगले अध्याय मे हमने वणिकवादियो के विचारो का विवेचन किया है, क्योकि इन्ही के सुधार या प्रतिक्रिया के रूप मे बाद के अर्थशास्त्रियो ने अपने विचार प्रस्तुत किये। कुछ पुराने विचार तो आज भी हमारे निर्णयो पर प्रभाव डाल रहे है।

परीक्षा प्रश्न

१ अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र का विवेचन कीजिये।

[Discuss the scope of International Economics]

२ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याये क्या है ? इनके समाधान के लिए किन बुनियादी बातो को दृष्टिगत रखना आवश्यक है ?

[What are the current international economic problems requiring immediate attention ? What are the basic points which have to be considered in order to solve these successfully ?]

२

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्त्व

(Importance of International Trade)

परिचय—

देशों के मध्य होने वाले व्यापार को 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' कहा जाता है। एक देश विशेष के दृष्टिकोण से, उसके निवासी अन्य देशों के लोगों से जो व्यापार करते हैं वह इसका विदेशी व्यापार है। ऐसा व्यापार 'आन्तरिक' (Internal) या 'घरेलू' (Domestic) व्यापार की तुलना में कहीं अधिक जटिल हुआ करता है, क्योंकि वह कई प्रकार की मुद्राओं पर आधारित होता है किसी एक प्रकार की मुद्रा पर नहीं। जब हम अन्य देशों को माल बेचते हैं, तो उनसे रुपयों में भुगतान लेना चाहते हैं क्योंकि इसी मुद्रा को हम अपने देश में प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु अन्य देश तब ही 'रुपया' प्राप्त कर सकते हैं जब कि वह हमें माल बेचें। यदि वह हमें अपना माल नहीं बेच सकते, तो हमसे खरीद भी नहीं सकते। इस प्रकार, विदेशी व्यापार किसी भी देश के लिए केवल 'एक ओर का रास्ता' (One way street) नहीं होता, जिसके द्वारा ट्रैफिक केवल जावे ही जावे आवे नहीं। वास्तव में वह 'दोनों ओर का रास्ता' (Two way street) है, अर्थात् ऐसा रास्ता है जिसके द्वारा ट्रैफिक आता भी है और जाता भी।

विदेशी व्यापार की आवश्यकता
(The Need for Foreign Trade)

संयुक्त राज्य अमेरिका का विदेशी व्यापार 'मात्रा' (Quantity) की दृष्टि से अपेक्षत थोड़ा ही है। वहाँ उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं का केवल पाँच प्रतिशत ही विदेशों में बेचा जाता है। किन्तु अन्य देश, जैसे कि ग्रेट ब्रिटेन और बेल्जियम, अपनी वस्तुओं और सेवाओं के विक्रय के लिए विदेशी व्यापार पर बहुत अधिक सीमा तक निर्भर है। सच तो यह है कि किसी भी देश के निवासियों के लिए विदेशी व्यापार के बिना निर्वाह करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होता है। उदाहरणार्थ, हम विदेशों से औद्योगिक मशीनें और साज-सामान खरीदते हैं, जोकि हमारे देश के औद्योगीकरण के लिए नितान्त आवश्यक हैं। यही नहीं, अन्य अनेक वस्तुओं के लिए भी, जोकि हमारे जीवन को सुखपूर्ण बनाती हैं, हम विदेशी व्यापार पर ही निर्भर हैं। हमें विदेशों से रक्षा सामग्री और कई औद्यो-

गिन कच्चे मालों का भी आयात करना पड़ता है। दूसरी ओर, हमारे निर्यात यद्यपि हमारे कुल उत्पादन का एक बड़ा अंग नहीं है, तथापि कई उद्योगों में यह कुल बिक्री का एक महत्वपूर्ण अंग है। यही कारण है कि जब कभी विदेशों में बिक्री कम हो जाती है, तो विदेशी विनिमय की समस्या' (Problem of Foreign Exchange) गम्भीर रूप धारण कर लेती है।

विदेशी व्यापार को वाञ्छनीय बनाने वाले कारण—

विदेशी व्यापार के उपरोक्त उदाहरणों से उन बुनियादी कारणों का पता चलता है, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को वाञ्छनीय एवं आवश्यक बनाते हैं। नीचे इन कारणों पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।[1]

(१) उपभोग व्यापक रूप से—कुछ देश भौगोलिक अथवा जलवायु सम्बन्धी कारणों से कुछ वस्तुयें उत्पन्न नहीं कर सकते, किन्तु अन्य देश इन्हें आवश्यकता से अधिक मात्रा (Surplus quantity) में उत्पन्न कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, कहवा उत्पन्न करना अमेरिका में असम्भव है यद्यपि बहुत खर्चीले निषिद्ध तरीकों से भले ही सम्भव हो, किन्तु लेटिन अमेरिका में कहवा प्राकृतिक रूप से पैदा होता है, अत अमेरिका वासी इसे लेटिन अमेरिका से आयात करते हैं। दूसरी ओर, वे अपनी कपास उन देशों को निर्यात करते हैं, जहाँ जलवायु और मिट्टी कपास की पैदावार के लिए अनुपयुक्त है। स्पष्टत ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक है, क्योंकि इसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व के लोग उन वस्तुओं का, जोकि विश्व के केवल कुछ ही भागों में उत्पन्न की जा सकती हैं, आनन्द उठा लेते है।

(२) जीवन स्तर ऊँचा—विभिन्न देशों के आन्तरिक व्यापार के अध्ययन से हमें यह पता चल जायेगा कि विशिष्टीकरण (Specialization) वस्तुओं और सेवाओं के कुल उत्पादन में (और इसलिए जीवन-स्तर में भी) वृद्धि करता है। यही सिद्धान्त वस्तुओं और सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी लागू होता है। उदाहरणार्थ, स्विट्जरलैंड और अमेरिका उच्च कोटि की घड़ियाँ बनाते हैं, किन्तु स्विट्जरलैंड के निर्माताओं को घड़ियों के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करते हुए अनेक वर्ष बीत गये हैं, जिससे वे इन्हें बढ़िया और कम लागत पर ही बना लेते हैं। ऐसी दशा में दोनों देशों के लिये यह लाभदायक होगा कि वे उस वस्तु के बनाने में, जिसमें उन्हें एक विशेष लाभ (Special advantage) है, विशिष्टता प्राप्त करें, और फिर

---

1 "Much popular writing on the subject of foreign trade shows *considerable knowledge about the* mechanism of foreign payments, the foreign exchanges, the balance of trade and circumstances likely to affect it but no understanding whatever of what it is all for"—R F Harrod *International Economics*, p 10.

अपनी-अपनी विशेष वस्तुओं का परस्पर विनिमय करलें। यही कारण है कि वास्तविक व्यवहार में स्विस उद्योगपति अमेरिकनों को उच्च कोटि की घड़ियाँ बेचते हैं जबकि अमेरिका वाले उन्हें मशीनें एवं मोटरें। इस तरीके से दोनों ही देश कम व्यय पर अधिक और उत्तम वस्तुओं तथा सेवाओं का उपभोग करने में समर्थ हो जाते हैं और अधिक एवं उत्तम वस्तुओं के उपभोग का अर्थ है दोनों ही देशों के निवासियों का जीवन स्तर ऊँचा उठना।

(३) आर्थिक विपदाओं के समय सहायक—किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था अचानक ही उतार चढ़ाव के भँवर में फँस सकती है। उदाहरणार्थ, भारत में मानसूनों (Monsoons) के असफल रहने पर इसके कृषि-उत्पादन को बड़ी ठेस पहुँचती है और ऐसे समय में देश की जनता के भूखों मरने की नौबत आ जाती है। लेकिन ऐसी विपदायें विश्व के सब देशों पर एक ही साथ नहीं आतीं। परिणामत हम अपने यहाँ खाद्यान्न के अभाव (Food scarcity) को विदेशों से खाद्यान्न का आयात करके दूर कर सकते है। वास्तव में, भारत अपने खाद्य संकट को, जिसके चंगुल में करोड़ों लोग जब तब फँस जाया करते हैं अन्न के आयात द्वारा हल करता रहता है।

(४) सारे विश्व में कीमत की समानता– अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रभाव से वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें समस्त विश्व-बाजार (World market) में समान होने की प्रवृत्ति रखती हैं तथा इससे विभिन्न देशों के उपभोग सम्बन्धी ढाँचों (Consumption patterns) और जीवन स्तरों में भी समानता आती है। समानता, भ्रातृत्व और जनतन्त्र के वर्तमान युग में ऐसा समानीकरण (Equalisation) आर्थिक एवं राजनैतिक दोनों ही दृष्टियों से बहुत ही लाभप्रद है।

(५) राष्ट्र की कुशलता में वृद्धि—वस्तुओं और सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की (और इसलिए प्रतियोगिता की) उपस्थिति में स्वदेशी उद्योगों को अपने विदेशी प्रतिस्पर्धियों का भय रहता है, जिससे कि सदैव वे अपनी कुशलता बढ़ाने के लिये प्रयत्न करते रहते हैं। इससे राष्ट्र की कुशलता में व्यापक वृद्धि होना स्वाभाविक है।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और एकता की स्थापना—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा विभिन्न राष्ट्र पारस्परिक सम्पर्क में आते हैं, एक दूसरे को समझने लगते हैं तथा परस्पर अच्छे सम्बन्ध बनाने की चेष्टा करते हैं। उदाहरणार्थ, पाकिस्तान और भारत के मध्य जो ताशकन्द समझौता जनवरी १९६६ में सम्पन्न हुआ उसके अन्तर्गत राजनैतिक समझौते की सफलता के लिए प्रथम कदम के रूप में सामान्य सम्बन्धों को, और इस हेतु विदेशी व्यापार की दशाओं को, सद्भावपूर्ण बनाने पर बल दिया गया था।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियाँ
(Disadvantages of International Trade)

निःसन्देह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उपरोक्त लाभ बहुत ही सन्तोषप्रद है। साथ

ही, स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के विरुद्ध कोई आपत्ति भी प्रतीत नही होनी है। किन्तु, वास्तविक व्यवहार मे हम एक भिन्न ही चीज देखते हैं जो यह कि विभिन्न राष्ट्र विदेशी व्यापार मे उतनी स्वतन्त्रता से प्रविष्ट नहीं होते, जितनी स्वतन्त्रता से होना चाहिए अथवा हो सकते हैं। यहाँ तक कि वे अपने कुछ आर्थिक लाभो (जैसे—घटी हुई लागतों और नीची कीमतों) को भी छोड देते हैं। प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की प्रत्येक बारीक से बारीक बात के बारे मे सदा सजग रहता है। प्रश्न यह उठता है कि ऐसा सकोच किस लिए ? यह सकोच सम्भवत विदेशी व्यापार से उदय होने वाली हानियों के कारण है। तुलनात्मक *लाभ का सिद्धान्त (Law of Comparative Advantage)* ठीक ही यह सकेत करता है कि देशो के बीच व्यापार लाभदायक है, किन्तु राष्ट्र केवल इस लाभ की इच्छा से ही अपने विदेशी व्यापार के मामले मे नियन्त्रित नही होते, वरन् उन्हें अन्य बातो पर भी, विशेषत विदेशी व्यापार की हानियो पर, ध्यान देना पड़ता है। *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उदय होने वाली हानियाँ प्राय निम्नलिखित हैं* —

(१) **आवश्यक सामग्री और खनिजो के भण्डार खाली होना**—कुछ सामग्रियो और खनिजों के भण्डार देश मे केवल निजी उपभोग के लिए ही एक दीर्घ-समय तक पर्याप्त होते हैं। लेकिन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत जब उन्हें विदेशों को भेजा जाता है तो उनके भण्डार शीघ्र ही समाप्त होने लगते है तथा इनका प्रतिस्थापन सम्भव नही होता। उदाहरण के लिए, कुछ समय पूर्व तक भारत से अनेक महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ (जैसे—मैगनीज खनिज) मूल दशा (Raw state) मे ही निर्यात की जाती रही थी। इससे देश को बहुत ही मामूली लाभ हुआ जब कि आयातक देशो ने उन्हे पक्के माल मे बदल कर और विक्रय करके बहुत लाभ कमाया। यदि इन प्रसाधनो को सुरक्षित रखा गया होता, तो वे देश के लिए अब अधिक लाभप्रद हो सकते थे, क्योंकि आजकल यहाँ नये नये उद्योग धन्धो की स्थापना की जा रही है।

(२) **कटु अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वदेश के उद्योगो को बाह्य प्रतियोगिता के समक्ष असहाय अवस्था मे छोड देता है। विदेशी वस्तुओ के राशिपातन (Dumping) का भी भय उत्पन्न हो जाता है, जिससे देश के विकासोन्मुख उद्योग खतरे मे पड जाते हैं। यही बात भारत मे सचमुच घटित भी हुई। स्वेज नहर के निर्माण तथा यातायात एव सम्वादवाहन के साधनो की अभूतपूर्व उन्नति के फलस्वरूप, मशीनो का बना हुआ सस्ता माल देश मे धड़ाधड़ आने लगा। इसकी प्रतियोगिता मे हमारे कुटीर उद्योग टिक न सके और नष्ट हो गये। कुटीर उद्योगो का पतन होने से कृषि पर जनसख्या का भार बढ गया और हमारी अर्थव्यवस्था असन्तुलित बन गई।

(३) **एकांगी विकास**—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के आचरण के फलस्वरूप एक देश केवल गिनी चुनी वस्तुओ का उत्पादन करता है। इससे

युद्धकाल मे अथवा अन्य आपदाओ के समय आत्म-निर्भरता (Self-sufficiency) की विकट समस्या उत्पन्न हो जाती है तथा लोगो को मिलने वाले रोजगारो की सख्या भी घट जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्धो द्वारा उत्पन्न हुई सम्पूर्ण विश्व की आर्थिक परावलम्बता के कारण ही १९२९-३२ की मन्दी ने विश्व-व्यापी आकार ग्रहण कर लिया था और कुछ देशो की मन्दी अन्य देशो पर भी फैल गई थी।

(४) अशोषित प्रसाधन—एक देश मे कुछ प्रसाधन केवल इसलिए ही अशोषित (Unexploited) पड़े रह जाते है कि इनके प्रयोग द्वारा जो वस्तुएँ उत्पन्न की जा सकती थी उन्हे अपेक्षतः कम लागत पर ही विदेशो से प्राप्त किया जा सकता है।

(५) उपभोग सम्बन्धी आदतो में विषमता—कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देश की उपभोग सम्बन्धी आदतो को भी, हानिप्रद वस्तुओ के आयात द्वारा (जैसे—पिछली शताब्दी मे चीन की दशा मे अफीम का आयात) कुप्रभावित कर देता है।

कुल पर, हम यह कह सकते है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभो का पलड़ा इसके हानियो वाले पलड़े से कही अधिक भारी है, और यदि एक उपयुक्त नीति अपनाई जाय, तो इसके अनेक दोषो से मुक्ति मिल सकती है। किन्तु यह आवश्यक है कि राष्ट्रो के बीच वस्तुओ का विनिमय अधिकतम् सीमा तक 'स्वतन्त्र' (Free) हो।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और हितो का सघर्ष
(International Trade and Conflict of Interests)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि से लाभदायक है। यदि उस पर प्रतिबन्ध न लगाये जायें तो विश्व का उत्पादन अधिकतम् सीमा तक बढ सकता है। किन्तु यह समझा जाता है कि समस्त विश्व के लिए लाभदायक होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक राष्ट्र विशेष के लिए, कुछ दशाओ में, हानिप्रद हो सकता है। फलत. राष्ट्रीय हितो की सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने का समर्थन किया जाता है। विश्व-हित और राष्ट्रीय-हित मे सघर्ष होने की निम्नलिखित दशाये बताई जाती है :—

(१) रोजगार—कहा जाता है कि एक देश आयातो मे कमी और निर्यातो में वृद्धि करके अपने यहाँ रोजगार के स्तर को ऊँचा कर सकता है। जिस प्रकार नया विनियोग करने से आय और रोजगार मे वृद्धि होती है उसी प्रकार शुद्ध निर्यात मे वृद्धि होने से उत्पादन, आय और रोजगार बढ जाते है। विनियोग-गुणक की ही भाँति 'विदेशी व्यापार गुणक' (Foreign Trade Multiplier) भी अपना प्रभाव दिखलाता है, अर्थात्, निर्यात मे जितनी वृद्धि होती है, उत्पादन, आय और रोजगार मे उससे कई गुणा वृद्धि हो जाती है।

[यदि उक्त तर्क का समुचित विश्लेषण करें, तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि शुद्ध निर्यात में वृद्धि करके कोई राष्ट्र केवल अस्थायी रूप से ही लाभान्वित

हो सकता है। कारण, यदि प्रत्येक राष्ट्र निर्यात करना ही पसन्द करे, तो फिर आयात कौन करेगा ? यही नहीं, जब एक राष्ट्र अपने यहाँ आयातो पर प्रतिबन्ध लगाता है, तो अन्य राष्ट्र भी वैसा ही कर सकते हैं। यदि ऐसा हुआ तो रोजगार मे वृद्धि न हो सकेगी।]

(२) श्रमिकों का आवागमन— जब एक देश मे वास्तविक मजदूरियाँ अन्य देशो की अपेक्षा कम हो, तब सम्पूर्ण विश्व के आर्थिक कल्याण की दृष्टि से यह वाछनीय होता है कि श्रमिको का आवास प्रवास निर्बाध होने दिया जाये। किन्तु ऊँची मजदूरी वाले देश (जैसे कि अमेरिका) के श्रमिको के लिए वहाँ कम मजदूरी वाले देश (जैसे कि भारत) से श्रमिको का आगमन वित्तीय रूप मे हानिप्रद हो सकता है, क्योकि जबकि ससार भर के मजदूरो की औसत वास्तविक मजदूरियाँ बढ जायेंगी, तब अमेरिकी मजदूरो की आय कम हो जायगी। इस प्रकार, यह एक ऐसी दशा है जिसमे (कहा जाता है कि) राष्ट्रीय हित विश्व हित से टकराते है और तर्क दिया गया है कि तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त को लागू करते समय इस परिस्थिति की उपेक्षा नही करनी चाहिए।

[ध्यानपूर्वक देखने से पता चलेगा कि पहली परिस्थिति की भाँति ही यह दूसरी परिस्थिति भी भ्रमपूर्ण है। वास्तव मे, तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त केवल इतना ही *बताता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय साधनो के अन्तर्राष्ट्रीय वितरण* की एक दी हुई दशा मे लाभप्रद होता है किन्तु वह ऐसा कदापि नही कहता कि साधनो के अन्तर्राष्ट्रीय स्थानान्तरण मे प्रत्येक देश को तभी लाभ पहुँचेगा जबकि इस स्थानान्तर से विश्व का औसत जीवन-स्तर ऊँचा हो जाय।]

(३) एकाधिकार—आन्तरिक व्यापार की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भी एकाधिकार (Monopolies) बन जाते है। घरेलू एकाधिकारी की भाँति एक देश भी अपने व्यापार को सीमित करके अधिकतम् लाभ उठाने की चेष्टा कर सकता है।

[इस तर्क के सदर्भ मे हमारा निवेदन इतना ही है कि यह प्रयास सफल ही हो ऐसा जरूरी नही है, क्योकि प्रथमत, अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी को अन्य देशो की सम्भावित प्रतियोगिता का भय रहता है, और दूसरे, अन्य देश भी उसकी देखा-देखी अपने यहाँ व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा सकते हैं। यदि ऐसा हुआ, तो अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में कमी आ जावेगी और सम्बद्ध सभी पक्ष हानि उठावेंगे। इस प्रकार, कोई देश शेष विश्व की उपेक्षा करके केवल अस्थायी रूप से ही लाभान्वित हो सकता है। अन्तत उसे भी, शेष विश्व के साथ ही साथ, *हानि उठानी पड़ेगी। उदाहरणार्थ*, कुछ समय पूर्व तक कम्यूनिस्ट देश (विशेषत सोवियत रूस) एकाधिकारी की भाँति *चलाने का यत्न करते रहे थे। किन्तु नवीनतम् रिपोर्टों के* अनुसार उन्होने इस प्रयास की निरर्थकता का अनुभव कर लिया है और अब वे गैर-कम्यूनिस्ट देशो से भी व्यापार बढ़ाने के लिए तत्पर हो गये हैं।]

(४) अविकसित देश—जब एक धनी राष्ट्र (जैसे कि अमेरिका) अविकसित देशों (जैसे कि भारत) को सहायता देता है, तो ये देश अपने यहाँ प्रतिस्पर्धी उद्योग विकसित कर लेते हैं, जिससे धनी राष्ट्र की स्थिति कमजोर हो जाती है। अतः यह भी एक ऐसी परिस्थिति है जिसमें राष्ट्रीय-हित और विश्व-हित परस्पर टकराते हैं।

[किन्तु व्यावहारिक तथ्यों से यह तर्क भी सर्वथा प्रमाणित नहीं होता। निःसन्देह भारत ने अमेरिकी सहायता के फलस्वरूप नये नये उद्योग कायम कर लिए हैं किन्तु ये सब के सब उद्योग अमेरिकी उद्योगों से प्रतिस्पर्धा करने वाले नहीं है, और फिर, जहाँ भारत अधिक निर्यात करने लगा है वहाँ वह अधिक आयात भी तो कर रहा है। इसी का परिणाम है कि उसके समक्ष भुगतान-सन्तुलन-सम्बन्धी विषम कठिनाइयाँ उपस्थित है।]

(५) युद्ध—हितों के संघर्ष की सबसे प्रमुख परिस्थिति आर्थिक क्षेत्र से बाहर की है और इसका सम्बन्ध युद्ध एवं तत्सम्बन्धी दशाओं से है। कोई भी राष्ट्र यह पसन्द नहीं करेगा कि वह अपनी आवश्यक वस्तुओं के लिए अपने सम्भावित शत्रुओं पर निर्भर रहे। साथ ही, वह उनकी शक्ति बढ़ाने में भी अपना सहयोग नहीं देना चाहेगा।

निष्कर्ष—

यह अन्तिम परिस्थिति ही राष्ट्रीय एवं विश्व-हित के संघर्ष की वास्तविक दशा है। इस एक परिस्थिति को छोड़कर अन्य सब परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय, आर्थिक एवं राजनैतिक दोनों ही दृष्टियों से, विश्व कल्याण का एक ठोस आधार प्रतीत होता है।

परीक्षा प्रश्न :

१. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की लाभ-हानियों का विवेचन करिये। क्या आप, कुल पर, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का समर्थन करेंगे ?

   [Discuss the advantages and disadvantages of international trade Would you, on the whole, favour international trade ?]

२. अन्तर्क्षेत्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आर्थिक आधार क्या है ? विवेचन कीजिये।

   [What is the economic basis of inter regional and international trade ? Discuss] (विक्रम, एम० ए०, १६६६)

३

अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार

(International and Inter-regional Trade)

प्रारम्भिक—अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र 'सामान्य अर्थशास्त्र' की एक शाखा

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन समस्त आर्थिक व्यवहारो (Econo mic transactions) से है जिनमे किसी राष्ट्रीय सीमान्त की समस्या उत्पन्न होती है। इसके उदाहरण है—प्रवास (Emigration), एक देश के व्यक्तियो द्वारा दूसरे देश के व्यक्तियो को ऋण देना अथवा वस्तुओ का क्रय विक्रय करना।[1] सीमान्त अधिकारियो के लिए यह सम्भव है कि वे भारत मे आने वाले अथवा यहाँ से जाने वाले समस्त व्यक्तियो, सामानो और डाक-थैलो की विस्तृत जाँच द्वारा, उन समस्त अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवहारो की, जिनमे कि भारत सम्मिलित हुआ था, एक सूची बना ले। यह सूची इङ्गलैंड, अमेरिका, रूस जापान, चीन, पाकिस्तान आदि के सीमान्त-अधिकारियो द्वारा बनाई गई राष्ट्रीय सूचियो से बहुत भिन्न न होगी। किन्तु हमें देशो के उदाहरण तक ही सीमित रहने की आवश्यकता नही है। हम किसी देश के अन्दर ही उसके किसी क्षेत्र (Area) विशेष को भी उदाहरण के रूप मे ले सकते हैं। मान लीजिए दिल्ली प्रदेश को लेते है। दिल्ली राज्य के सीमा अधिकारियो द्वारा प्रवास ऋण, वस्तुओ के क्रय-विक्रय आदि की जो सूची तैयार की जायेगी वह भी बहुत अंशो मे भारत के या अन्य देशो के सीमान्त-अधिकारियो की सूची से मिलती जुलती होगी।

स्पष्टत, यदि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को एक पृथक् अध्ययन का स्थान देना है, तो यह दिखाना आवश्यक होगा कि राष्ट्रीय सूची मे प्रविष्ट किये गये व्यवहारो की कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो कि राष्ट्रीय सीमाओ से भिन्न किन्ही अन्य सीमाओ पर

---

1 "International Economics is concerned with all economic transactions involving passage across a national frontier Examples are emigration, the loan of capital by the nationals of one country to those of another, the purchase of goods by the nationals of one country from those of another"—R F Harrod *International Economics*, pp 4-5

बनाई गई सूची के व्यवहारो मे नही पाई जाती है ।[1] अन्य शब्दो मे हमे यह देखना होगा कि विभिन्न राष्ट्रीय सरकारो के अधीन निवास करने वाले व्यक्तियो के मध्य के आर्थिक व्यवहार एक ही राष्ट्रीय सरकार के अधीन किन्तु अलग अलग क्षेत्रो मे निवास करने वाले व्यक्तियो के मध्य होने वाले आर्थिक व्यवहारो से किन बातो मे भिन्न है ।

किन्तु यह महत्त्वपूर्ण है कि इन अन्तरो पर आवश्यकता से अधिक बल न दिया जाय । उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय (International) और अन्तर्प्रदेशीय (Inter-state) दोनो ही प्रकार के व्यवहारो मे यह समानता देखी जाती है कि समस्त व्यवहार जिन भुगतानो को जन्म देते हैं उनमे से 'आवक भुगतानो (Inward payments) का जोड़ 'जावक भुगतानो' (Outward payments) के जोड़ के बराबर होता है और यदि कोई अन्तर है तो उसे मुद्रा के वास्तविक स्थानान्तरण द्वारा चुका लिया जाता है । वास्तव मे किसी देश के विदेशी भुगतानों को जिस 'मिकेनिज्म' (व्यवस्था) द्वारा सन्तुलित रखा जाता है उससे सम्बन्धित सिद्धान्त उस देश के अन्दर ही किन्ही दो क्षेत्रो के मध्य भुगतानो को सन्तुलित रखने मे भी लागू किये जा सकते हैं । संक्षेप मे अन्तर्राष्ट्रीय एव अन्तर्प्रदेशीय भुगतान सन्तुलन के सिद्धान्त समान होते है ।

साथ ही यह भी समझना आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्प्रदेशीय (या आन्तरिक) व्यवहारो के मध्य एक घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है जिस कारण इन दोनो प्रकार के व्यवहारो को बिल्कुल ही पृथक पृथक् श्रेणियो म रखने से भयकर त्रुटियाँ हो सकती है । वास्तव मे, बाह्य विश्व की परिस्थितियाँ न केवल हमारे आयातो और निर्यातो के परिमाण को वरन् ऐसे आन्तरिक विषयो, जैसे कि आयकर से प्राप्तियाँ नये घरो के निर्माण की दर आदि को भी प्रभावित कर सकती हैं और करती भी हैं । हमे इसी सम्बन्ध पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार (अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार) और आन्तरिक व्यवहार (आन्तरिक व्यापार) मे तुलना

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने अन्तर्राष्ट्रीय और आन्तरिक व्यापारो को व्यापार की दो भिन्न भिन्न जातियाँ माना था । उनकी परिभाषा के अनुसार, 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' वह व्यापार है जो विभिन्न देशो मे रहने वाले लोगो के बीच होता है किन्तु

1 "Clearly if international economics is to be justified as a proper subject of study, it is necessary to show that the transactions entered on the British inventory have attributes which make them differ substantially from transactions re orded in any of the similar inventories which might be drawn up on boundaries not coincident with national frontiers —*Ibid*, p 5.

'आन्तरिक व्यापार' वह है जो एक ही देश मे रहने वाले लोगो के बीच किया जाता है। स्पष्टत यह भेद राजनैतिक सीमाओं पर आधारित है। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक देश के सीमान्त को पार कर जाता है, आन्तरिक व्यापार ऐसा नहीं करता। ऐसी भिन्नता के सन्दर्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विद्यमानता और दिशा को स्पष्ट करने के लिए ही उन्होने एक पृथक सिद्धान्त (तुलनात्मक लागत सिद्धान्त) प्रस्तुत किया। किन्तु एक नये या पृथक् सिद्धान्त की रचना का प्रयास तब ही उचित ठहराया जा सकता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार से कुछ 'मौलिक भिन्नता' (Fundamental difference) रखता हो। अत क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को स्पष्ट करने हेतु एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता है, इस विषय मे अपनी सम्मति देने के पूर्व हमे इन दोनो की समानताओ और असमानताओ पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिये।

आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारो के मध्य समानतायें—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निम्नलिखित बातो मे आन्तरिक व्यापार से मिलता जुलता है —

(१) **वस्तुओ और सेवाओ का विनिमय**—दोनो ही प्रकार के व्यापारो मे वस्तुओ और सेवाओ का विनिमय होता है। मुद्रा तो केवल मध्यस्थ का कार्य करती है क्योकि सब ही सौदे अन्तत वस्तुओ का वस्तुओ से, सेवाओ का सेवाओ से अथवा वस्तुओ का सेवाओ से विनिमय मात्र हैं।

(२) **सम्बन्धित पक्ष 'व्यक्ति' होते हैं**—जिस प्रकार आन्तरिक व्यापार मे है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी सम्बन्धित पक्ष 'व्यक्ति' ही होते है। नि सदेह प्रत्येक सरकार अपनी विभागीय आवश्यकताओ का सामान आयात करती है, किन्तु इस स्थिति मे वह एक व्यापारी के समान ही काय करती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कुछ भाग सरकारो के मध्य होता है परन्तु अधिकाश भाग व्यक्तियो के बीच ही सम्पन्न किया जाता है।

(३) **ऐच्छिक सौदा**—सरकारें कुछ वस्तुओ के व्यापार का निषेध कर सकती हैं अथवा उस पर परिमाणात्मक प्रतिबन्ध (Quantitative restrictions) लगा सकती है। किन्तु वे व्यापारियो को किसी प्रकार की वस्तु खरीदने के लिये विवश नही कर सकती हैं। लोग विदेशी वस्तुयें तब ही खरीदते है जबकि उनमे इसके लिये इच्छा हो। इस प्रकार, *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी, आन्तरिक व्यापार की भांति*, ऐच्छिक सौदो से ही उत्पन्न होता है।

आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे असमानतायें—

अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन और आन्तरिक लेन देन मे प्राय निम्नलिखित असमानतायें बताई जाती हैं —

(१) **दूरी**—अन्तर्राष्ट्रीय और आन्तरिक व्यापारो मे कभी-कभी दूरी के आधार पर भी भेद किया जाता है। लेकिन विद्वानो ने इस भेद को (कि अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापार दूरी का व्यापार है और आन्तरिक व्यापार निकट का) महत्व नहीं दिया है। उदाहरणार्थ, अमृतसर और लाहौर के मध्य दूरी अपेक्षाकृत कम है किन्तु इन स्थानों के मध्य का व्यापार 'विदेशी व्यापार' की श्रेणी में आता है, जबकि अमृतसर और बम्बई के मध्य दूरी अपेक्षाकृत अधिक है किन्तु इनके बीच का व्यापार 'आन्तरिक व्यापार' की श्रेणी में गिना जाता है। स्पष्टतः दूरी की अधिकता या कमी को अन्तर्राष्ट्रीय और आन्तरिक व्यापारों के मध्य भेद का आधार बनाना ठीक नहीं है।

(२) करेंसी—आन्तरिक व्यापार में केवल एक ही करेंसी—आन्तरिक चलन—का प्रश्न उदय होता है। इसके विपरीत, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दो करैन्सियों का प्रश्न है—आन्तरिक चलन और बाह्य चलन। इस विशिष्टता के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन में एक अतिरिक्त कार्य (करैन्सियों के परिवर्तन का कार्य) करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु यह कोई मौलिक भेद नहीं है। भेद केवल इतना ही है कि व्यापार की प्रक्रिया कुछ अधिक जटिल बन जाती है।

(३) व्यापारिक सम्बन्ध—कहा जाता है कि, क्योंकि एक देश के लोग अन्य देशों में अपने व्यापारिक सम्बन्धों के बारे में, अपने ही देश के अन्य भागों की अपेक्षा, कहीं अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से पृथक समझना चाहिए। जनता के इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए यद्यपि विदेशी व्यापार सम्बन्धी सूचना का सकलन पृथक् से करना वाछनीय प्रतीत होता है तथापि इस प्रकार के व्यापार को स्पष्ट करने हेतु एक पृथक् सिद्धान्त का निर्माण करना उचित प्रतीत नहीं होता। एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता जैसा कि हम पहले ही सकेत कर चुके हैं, तब ही पड़ेगी जबकि व्यापार का स्वभाव मौलिक रूप से भिन्न हो।

(४) साधनों की गतिशीलता—भिन्नता का अन्य आधार उत्पत्ति-साधनों की गतिशीलता से सम्बन्धित है और प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की सम्मति में यह एक मौलिक भिन्नता है। उन्होंने कहा था कि उत्पत्ति-साधन एक देश से दूसरे देश को जाने की अपेक्षा एक देश में ही एक भाग से दूसरे भाग को अधिक सुगमता से आ जा सकते हैं। तकनीकी भाषा में, उत्पत्ति-साधनों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता (Inter-national mobility) बहुत ही कम है जबकि उनकी आन्तरिक गतिशीलता (Inter-al mobility) ऊँची होती है। श्रम और पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता में बाधा डालने वाले प्राय निम्न घटक गिनाये जाते हैं —(अ) श्रम की गतिशीलता के सम्बन्ध में—भाषा और प्रथाओं में अन्तर, विदेशियों के प्रति सामान्य विद्वेष-भावना, सम्पत्ति नियम, जाति भेद आदि और (ब) पूँजी की गतिशीलता सम्बन्ध में—सम्पत्तियों की देखभाल सम्बन्धी कठिनाइयाँ, विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ, युद्ध, अवरुद्ध खाते (Blocked accounts), जब्त सम्पत्तियाँ आदि। वास्तव प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने भी यह अनुभव किया था कि उत्पत्ति-साधनों की

अन्तर्राष्ट्रीय और आन्तरिक गतिशीलता के मध्य केवल अंशो का अन्तर है। किन्तु उन्होने यह तुतर्क किया कि अंशो (Degrees) का यह अन्तर इतना अधिक है कि वह लगभग गुण' (Kind) का ही अन्तर बन गया है। इस आधार पर उन्होने यह मान लिया कि उत्पत्ति साधन देश के अन्दर तो पूर्णरूप से गतिशील (Perfectly mobile) हैं किन्तु सीमान्त के पार पूर्णत गतिरहित (Perfectly immobile)। इस भेद के कारण ही उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक् सिद्धान्त के लिये किंचित् न्यायोचित आधार मिलता है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो द्वारा प्रकट किये गये विचारों मे भ्रम का समावेश—

स्पष्ट है कि व्यापार को आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारो मे विभाजित करने का कोई वैज्ञानिक आधार नही है। दोनो प्रकार के व्यापारो की परिभाषा करने मे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने राजनैतिक सीमाओ के आधार पर भेद किया, किन्तु जब वे दोनो के मध्य मौलिक भेद को बताने का यत्न करते है, तो ऐसा भेद साधनो की गतिशीलता या गतिहीनता मे पाया जाता है। इस प्रकार, भेद का एक आधार तो 'आर्थिक' (Economic) है किन्तु दूसरा राजनैतिक' (Political)। इन दोनो के निष्कर्ष सदा ही समान नही होते। यदि साधनो की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता 'शून्य' नही है तो आन्तरिक साधना की गतिशीलता भी पूर्ण' नही। वास्तव मे, 'अ प्रतिस्पर्धी समूहो' (non competing groups) की समस्या केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे ही पाई जाती हो ऐसा नही वरन् वह एक ही देश के विभिन्न भागो के मध्य भी पाई जाती है। उदाहरणार्थ पंजाबी परिवारो के मद्रास जाने मे और मद्रासी परिवारो के पंजाब जाने मे अनेक भौतिक एव मनोवैज्ञानिक बाधायें है। दूसरी ओर, हम यह भी देखते है कि बर्मा लङ्का, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया मे अनेक श्रमिको ने प्रवास किया।

भिन्नता का आर्थिक आधार—

इस प्रकार, साधनो की गतिशीलता राजनैतिक सीमाओ के साथ सह विस्तृत (Co extensive) नही है। अन्य शब्दो मे, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को साधनो की गतिशीलता के आधार पर ही समस्त आन्तरिक व्यापार से भिन्न नही किया जा सकता। अत हमे यह निर्णय करना है कि व्यापार का वर्गीकरण राजनैतिक आधार पर करें या आर्थिक आधार पर। स्पष्टत, अर्थशास्त्र के विद्यार्थी होने के नाते हमे आर्थिक भिन्नता मे, अर्थात् साधनो की गतिशीलता और गतिहीनता के आधार पर भिन्नता मे अधिक रुचि होनी चाहिए।

उपरोक्त कारण से, ओहीलन (Ohlin) और डंकन (Duncan) जैसे अर्थशास्त्रियो ने व्यापार को आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे वर्गित करना अनुचित बताया और उस क्षेत्रीय' (Regional) एव 'अन्तर्क्षेत्रीय' (Inter-regional) व्यापारो मे वर्गित करने का सुझाव दिया।

अन्तर्क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा क्षेत्रीय एवं आन्तरिक व्यापार—

अब हम एक ओर 'अन्तर्क्षेत्रीय' व्यापार और 'अन्तर्राष्ट्रीय' व्यापार मे और दूसरी ओर, 'क्षेत्रीय' और 'आन्तरिक' व्यापार म भेद करते हैं। जबकि क्षेत्रीय और अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार आर्थिक सीमाओ (Economic boundaries) से सम्बन्धित हैं, तथा राष्ट्रीय (आन्तरिक या गृह) और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राजनैतिक सीमाओ से। आधुनिक अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण यह है कि दो विभिन्न राजनैतिक क्षेत्रो के मध्य व्यापार-सिद्धान्त की रचना करने के बजाय दो आर्थिक क्षेत्रो के मध्य, जो कि एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न होते है, व्यापार-सिद्धान्त की रचना करनी चाहिए।

दोनों प्रकार के व्यापारो को शासित करने वाला सिद्धान्त—

आन्तरिक एव बाह्य दोनो ही प्रकार के व्यापारो की दशा मे एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति या व्यक्तियो से इसलिए वस्तुये खरीदता है ताकि वह अपनी उन आवश्यकताओ को भी पूर्ण करने मे समर्थ हो जाय जिन्हे वह केवल अपनी उत्पादित वस्तुओ के उपयोग द्वारा ही सन्तुष्ट नही कर सकता। इस प्रकार, दोनो ही दशाओ मे व्यापार का आधार 'श्रम विभाजन' है, जो लोगो को ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न करने की प्रेरणा देता है जिसमे उन्हे विशेष लाभ है। इस प्रकार, 'तुलनात्मक लागत सिद्धान्त' (Doctrine of Comparative Cost) केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की ही विशेषता नही है, वरन् वह एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रो और बाजारो के मध्य होने वाले व्यापार पर भी समान रूप से लागू होता है।

"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए 'पृथक् सिद्धान्त' की आवश्यकता भले हो न हो, किन्तु इसके 'पृथक अध्ययन' की आवश्यकता है"

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों की भिन्नात्मक विशेषताएँ—

ओहलिन का यह कथन सच है कि मूल्य सिद्धान्त मे जो नियम निर्धारित किये गये है व सैद्धान्तिक अध्ययन म सर्वव्यापी हैं। किन्तु इसका यह मतलब नही है कि पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता न होने के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक् अध्ययन की भी आवश्यकता नही है। वास्तव मे, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् से अध्ययन करना निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कारणों से आवश्यक है[1]।—

(१) देशों के मध्य साधनों की गतिहीनता और एक ही देश के भीतर साधनों की गतिशीलता—साधनो की गतिहीनता (Immobility of factors) के कारण ही तुलनात्मक लागत सम्बन्धी भिन्नतायें उत्पन्न होती है। एक देश के भीतर उत्पादन लागतें विभिन्न वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतो को निर्धारित करती हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे सापेक्षिक कीमतों का तात्पर्य एक ही वस्तु की किन्ही दो देशो मे प्रचलित कीमतो से है। इससे परिस्थिति मे बहुत हेर-फेर हो जाता है।

---

1 *Economic Relations in International Trade, Introduction*, p XV.

(२) विभिन्न केन्द्रीय बैंको के प्रभाव क्षेत्र—जब व्यापार एक देश के भीतर किया जाता है तो एक मान्य मुद्रा के सन्दर्भ मे लेखाकम सम्बन्धी ढङ्ग की समानता विनिमय व्यवहारों को सुविधापूर्ण बना देती है। लेकिन जब विभिन्न मुद्रा मान प्रचलित होते है (जैसे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे) तब कुछ जटिलताये उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि हमारा सामना विभिन्न चलन पद्धतियो और व्यापारिक तकनीकों से होता है। यही नही प्रत्येक राष्ट्रीय चलन पर इसकी राष्ट्रीय सरकार (अथवा केन्द्रीय बैंक) का नियन्त्रण होता है। मुद्रा मान के सुचारु रूप से संचालित होने के लिये यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक एक विशेष नीति अपनाये। किन्तु यह जरूरी नही है कि यह नीति एक ही समय पर सभी देशों मे एक समान हो। परिणामत अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार (International transactions) जोकि विभिन्न मुद्रा अधिकारियों के प्रभाव क्षेत्र मे रहने वाले व्यक्तियों के मध्य आर्थिक व्यवहारों की श्रेणी मे आते है आन्तरिक व्यापार (Internal trade) की तुलना मे एक विशिष्ट स्थिति रखते है। इसी से उनका पृथक अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है।

(३) विभिन्न सुविधाओं की व्यवस्था—प्राय एक देश के उत्पादकों को वहा की सरकार द्वारा कुछ समान सुविधाये प्रदान की जाती है लेकिन विभिन्न देशों मे उत्पादकों को मिली हुई सुविधाये समान नही होती है। अत आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भेद इस प्रकार किया जा सकता है कि आन्तरिक व्यापार तो सरकार से समान सुविधा प्राप्त उत्पादकों के मध्य होने वाला विनिमय है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न सरकारों से विभिन्न सुविधाये प्राप्त उत्पादकों के मध्य होने वाला विनिमय है।[1] इस भेद के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक से अध्ययन करना उपयोगी है।

(४) सरकार का हस्तक्षेप— विशुद्ध मूल्य सिद्धान्त (Pure value theory) सरकार के किसी भी हस्तक्षेप के विरुद्ध है वह उत्पादकों और साधन स्वामियों के मध्य पूर्ण प्रतियोगिता की विद्यमानता को आवश्यक मानता है तथा यह कल्पना करता है कि स्वतन्त्र बाजार सयन्त्र (Free market mecha ism) द्वारा प्रत्येक प्रसाधन अधिकतम् प्रयोग मे लाया जाता है। किन्तु आधुनिक समय मे स्वतन्त्र बाजार मिकेनिज्म की अपूर्णताओं के कारण राज्य आर्थिक क्षेत्र में अधिक हस्तक्षेप करने लगे है। स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था लाभों का उन्ही लोगो के पक्ष मे अधिक अनुकूल

---

1 It would still be possible to distinguish between internal trade as interchange between producers provided by government with similar amenities for production and international trade as interchange between producers provided by the government with dissimilar amenities —Harrod *International Economics* p 9

वितरण करती है जो कि पहले से ही लाभ-सम्पन्न थे। इन परिस्थितियों में, शारीरिक दृष्टि से योग्य समस्त व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करने का सामाजिक दायित्व राज्य के कन्धों पर आ गया है। फलत आजकल 'सामान्य कीमत सिद्धान्त' के नियमों को बिना सशोधन किये, लागू करना सम्भव नहीं रहा है। इस प्रकार, यहाँ आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मध्य भिन्नता का एक स्पष्ट आधार उत्पन्न होता है, क्योंकि घरेलू या आन्तरिक कार्यों हेतु राजकीय नीति को सचालित करने वाले उद्देश्य उन उद्देश्यों से सर्वथा भिन्न होंगे जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हेतु राजकीय-नीति का सचालन करते हैं। आन्तरिक नीति प्राय राष्ट्रीय भावना पर आधारित होती है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-नीति में राष्ट्रीय भावनाओं के साथ ही साथ विश्व-भावनाओं को भी ध्यान में रखना पड़ता है।

(५) **बाजारों का विभाजन**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भौगोलिक एव राजनैतिक घटक बाजारों के विभाजन को प्रभावित करते हैं तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रसाधनों के आवागमन का नियमन करते हैं। अब, प्रसाधनों के बजाय वस्तुये स्थानान्तरित की जा सकती है। लेकिन, चूँकि स्वय वस्तुओं पर भी नियन्त्रण लगे हुये हैं, इसलिए वस्तुओं का स्थानान्तरण भी सुगम नहीं रह गया है। फलत कीमत सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लागू नहीं रहते, बाजार विभाजित हो जाते हैं और प्रत्येक बाजार का आचरण भिन्न होता है। नि सन्देह, परम्परागत कीमत-विभेद सिद्धान्त दो या अधिक विपणियों का और एक वस्तु का विवेचन करता है, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पद्धतियाँ अधिक जटिल होती हैं, जिस कारण अन्य घटकों को भी मॉडल (Model) में सम्मिलित करना पड़ता है। इससे भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

(६) **विदेशी व्यापार में परिवर्तन**—हमारा विश्व 'परिवर्तनशील अर्थ-व्यवस्थाओं वाला विश्व' है। राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के साथ ही साथ राष्ट्र आर्थिक आत्म-निर्भरता और स्वाभिमान में भी बढ़ गये हैं। इसका प्रमाण हमें अविकसित देशों में आर्थिक विकास के लिए बनाई जा रही योजनाओं से मिलता है। ऐसी परिवर्तनशील परिस्थितियों के अन्तर्गत यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् अध्ययन करें, तो इससे परिवर्तनशील घटकों और प्रवृत्तियों को समझना अधिक सुगम हो जायेगा। कारण, सरचनात्मक परिवर्तन (Structural changes) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा सबसे पहले दिखाई दे जाते हैं।

(७) *अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र सम्बन्धी विशिष्ट समस्यायें*—अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली अनेक विशिष्ट (Special) समस्यायें भी हैं। यदि हम उक्त समस्याओं का अध्ययन आन्तरिक प्रवृत्तियों के बजाय विश्व-विकास-प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में करें, तो उन्हें अधिक सुगमता से हल कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता (International liquidity) की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विशिष्ट

समस्याओं का एक ज्वलन्त उदाहरण है। हम सब यह जानते है कि द्रवता के लिए माँग विनिमय कार्यो हेतु की जाती है। सट्टा और दूरदर्शिता अन्य दो उद्देश्य है। इनसे भी द्रवता के लिए माँग उदय होती है। आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का सिद्धान्त लागू करते समय यद्यपि उद्देश्य समान होते हैं तथापि उनके परिणाम (Consequences) *अलग-अलग होते है। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता सम्बन्धी* माँग को राजनैतिक घटक आर्थिक घटको की अपेक्षा अधिक प्रभावित करते हैं, किन्तु यह बात एक आन्तरिक अर्थ व्यवस्था के सम्बन्ध मे उतनी सही नही है।

(८) **वर्ग सम्बन्धी भेद** (Difference as to group)—एक देश अपने आपको एक राजनैतिक इकाई के रूप म इस आधार पर सगठित करता है कि उसमे *निवास करने वाले व्यक्ति राष्ट्रीय एकता की भावना रखते हैं। इस विशाल राष्ट्रीय* एकता या समन्वय के भीतर प्रादेशिक स्वाभिमान' के लिए भी सदैव स्थान रहता है किन्तु राष्ट्र पहले और प्रान्त या क्षेत्र पीछे होते हैं। निसन्देह जहाँ अनेक क्षेत्र होते हैं वहा भिन्नतायें भी अनेक होती है तथा वे राष्ट्रीय आर्थिक नीतियो को प्रभावित करने की प्रवृत्ति रखती हैं। किन्तु क्षेत्रीय भिन्नतायें अधिक से अधिक *'स्वरूप सम्बन्धी' होती हैं 'मूल सम्बन्धी' नही। इस दृष्टि से अन्तर्क्षेत्रीय एव* अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भिन्नता यह है कि जबकि क्षेत्रो के मध्य व्यापार एक ही वर्ग के व्यक्तियो के मध्य का व्यापार होता है तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देशो के मध्य, अथवा यो कह कि विभिन्न प्रकार की एकता वाले वर्गो के मध्य का व्यापार है। फ्रैडरिक लिस्ट (Freidrick List) के शब्दो मे आन्तरिक व्यापार हम लोगो' के *बीच मे है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार 'हमारे और 'उनके' बीच मे होता है।* [1]

परीक्षा प्रश्न .

१ किस आवश्यक बात म अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्रीय और अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार स भिन्न है ? क्या अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन पर आधारित विशिष्टीकरण विश्व व्यापार को अधिकतम् करने मे सदा सहायक होगा ? कारण सहित उत्तर दीजिये।

[In what essential way is the international trade different from the regional and inter-regional trade ? Would specialization on the basis of *international division of labour*

---

1 'Domestic trade is among us international trade is between us and them —Freidrick List, *quoted in* C Kindleberger *International Economics*, p 10.

always lead to the maximisation of world trade? Give reasons for your answer]

घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बीच जिन आधारों पर भेद किया जाता है उनका विवेचन करिये। ऐसे भेद के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों की समीक्षा कीजिये।

[Discuss the grounds for the distinction that has been made between Home Trade and International Trade. Examine the criticism that has been advanced against such a distinction]

अन्तर्क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मध्य भेद कीजिये। क्या ये समान सिद्धान्तों द्वारा शासित होते हैं? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये।

[Distinguish clearly between Inter-regional and International Trade. Are they governed by the same principles? Illustrate your answer with examples]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार से कैसे भिन्न है? स्पष्ट रूप से समझाइये।

[How is international trade different from inter-regional trade? Explain clearly] (विक्रम, एम० ए०, १९६६)

"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की एक विशेष दशा मात्र है।" विवेचन कीजिए।

['The theory of international trade is nothing more than a special case of inter-regional trade.' Discuss]

(इलाहा०, एम० ए०, १९६६)

४

आर्थिक आत्म-निर्भरता एवं अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन

(Economic Self-sufficiency & International Division of Labour)

आर्थिक आत्म-निर्भरता एव विदेशी व्यापार

सामान्यत. यह देखने मे आता है कि एक देश कुछ वस्तुओं और सेवाओं का निर्यात करता है और बदले मे कुछ अन्य वस्तुयें एव सेवाये आयात करता है। कोई देश निर्यात प्राय ऐसी ही वस्तुयें करेगा, जिनका आन्तरिक उत्पादन स्वदेश की माँग से अधिक हो, और आयात ऐसी वस्तुओं का, जिनका आन्तरिक उत्पादन स्वदेश की माँग से कम हो। साधारणत यह कह सकते हैं कि एक देश को कुछ वस्तुओं के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ (Comparative advantage) होता है और ये प्राय· ऐसी वस्तुयें होती हैं जिनका आन्तरिक उत्पादन स्वदेश की माँग से अधिक है। इसी प्रकार, कुछ वस्तुये ऐसी हैं जिनके उत्पादन मे देश को तुलनात्मक हानि (Comparative disadvantage) होती है और ये प्राय ऐसी वस्तुयें हैं जिनमे आन्तरिक उत्पादन स्वदेश की माँग से कम होता है। कुल पर, यह कहा जा सकता है कि विश्व मे कोई भी देश ऐसा नही है जो कि सभी वस्तुओं के उत्पादन मे आत्म-निर्भर हो।

विभिन्न अर्थ-व्यवस्थाओं मे आत्म-निर्भरता का अंश—

कोई देश किस अंश तक आत्म-निर्भर है इसका अनुमान उस सीमा से लगाया जा सकता है जिस तक कि वहां उत्पन्न की जाने वाली वस्तुयें और सेवाये आन्तरिक मांग को सन्तुष्ट करने मे प्रयोग की जाती हैं। किन्तु आत्म-निर्भरता की यह परिभाषा बहुत सन्तोषजनक नही है। सच तो यह है कि यही आत्म-निर्भरता की एक-मात्र परिभाषा नही है, अन्य परिभाषायें भी हैं। किन्तु इस परिभाषा का महत्त्व इस तथ्य मे निहित है कि भले ही आयात एक अल्प मात्रा मे किये जाते हो, किन्तु, अर्थ-व्यवस्था के लिए यदि वह आवश्यक हैं, तो देश को आत्म-निर्भर नही कहा जा सकता।

यदि उपरोक्त दृष्टिकोण से विचार किया जाय, तो यह कह सकते हैं कि विश्व में कोई भी अर्थ-व्यवस्था पूर्णत आत्म-निर्भर नही है। सोवियत रूस मे कुल वस्तुओं

और मेवाओं के २ या ३% भाग को छोड़कर कर शेष सबके उत्पादन की व्यवस्था देश के अन्दर ही की जाती है। इसी प्रकार से, संयुक्त राज्य अमेरिका में कुल उत्पादन का ४ से ५% तक का ही आयात किया जाता है। लेकिन इङ्गलैंड अन्य देशों पर एक बड़े अंश में निर्भर है। वह अपनी केवल ७५% आवश्यकतायें ही आन्तरिक उत्पादन द्वारा सन्तुष्ट कर सकता है। फ्रान्स, पश्चिमी जर्मनी और इटली में आन्तरिक उत्पादन कुल आन्तरिक माँग का ८०% है। बेल्जियम, डेन्मार्क और न्यूजीलैंड में राष्ट्रीय उत्पादन का दो-तिहाई भाग स्वदेश में ही उपभोग किया जाता है। भारत अपने राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग ८ या १०% विश्व के अन्य देशों से आयात करता है। अन्य शब्दों में, उसका आन्तरिक उत्पादन स्वदेश की ९० से ९२% माँग को पूरा कर पाता है।

अर्थ-व्यवस्थाओं की आंशिक आत्म-निर्भरता का कारण—

यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था अन्य देशों पर कुछ न कुछ सीमा तक निर्भर क्यों होती है ? अन्य शब्दों में प्रश्न यह है कि वे कौन-कौन से घटक हैं जो किसी अर्थ व्यवस्था के पूर्ण आत्म-निर्भर बनने में बाधा डालते हैं ? इन घटकों का मौलिक आधार (Fundamental basis) यह है कि कुछ वस्तुओं के उत्पादन में एक देश तुलनात्मक लाभ रखता है जबकि कुछ अन्य वस्तुओं में उसे तुलनात्मक हानि होती है। फलतः यह उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है जिनमें उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त है। यह तुलनात्मक लाभ कई घटकों के प्रभाव-स्वरूप उदय होता है, जैसे—प्रसाधन, राजनैतिक सीमायें, औद्योगिक विकास का स्तर आदि

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन
(International Division of Labour)

विभिन्न देशों में विशिष्टीकरण को प्रोत्साहित करने वाले मौलिक घटक—

चूँकि विनिमय साधारणतः श्रम-विभाजन के कारण आवश्यक हो जाता है इसलिए विदेशी व्यापार तब प्रगट होता है जबकि श्रम विभाजन राष्ट्रीय सीमाओं को पार करके अन्तर्राष्ट्रीय बन जाता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का एक अनिवार्य परिणाम है।[1]

श्रम-विभाजन के दो पहलू—यहाँ श्रम विभाजन के दो पहलुओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है—प्रथमतः, उत्पादक क्रिया को छोटे-छोटे भागों में बाँटा जाता है, जिससे कि प्रत्येक श्रमिक को जो कार्य करना है वह सुगमतापूर्वक और प्रभाव-

---

[1] "As exchange in general is necessitated by the division of labour, so foreign trade appears when the division of labour is pushed beyond national frontiers. It is the necessary consequence of an international division of labour."—**R. F. Harrod:** *International Economics*, p. 11

न से सम्पन्न किया जा सके। दूसरे, उत्पादन व्यवस्था इस प्रकार से बनाई जाय कि जिन लोगो मे कुछ प्रकार के कार्य करने की विशिष्ट क्षमतायें है उन्हे अधिकतम् सुयोग मिले।

यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रत्येक देश मे प्राय लाखो करोडो श्रमिक होते हैं, तब क्या वहाँ सम्पूर्ण उत्पादक-क्रिया को अनेक सुगम हिस्सो मे बाँटते हुए उसे पृथक् पृथक् व्यक्तियो द्वारा सम्पन्न कराने के लिए श्रमिको की इतनी कमी पड सकती है कि अन्य देशो के श्रमिको की सहायता लेनी पड जाय ? एडम स्मिथ (Adam Smith) ने पिनो के निर्माण की क्रिया को १८ छोटी छोटी प्रक्रियाओ मे बाँटा था। वर्तमान परिस्थितियो के सन्दर्भ मे हम इस सख्या को कई गुना कर सकते हैं। यदि विभिन्न वस्तुओ को इनकी विभिन्न किस्मो की सख्या से, जिनका उपयोग आजकल समाज मे किया जाता है, और प्रत्येक किस्म को इसके उत्पादन के लिए आवश्यक उप क्रियाओ की सख्याओ से गुणा करें, तो यह देखेंगे कि गुणनफल (अर्थात् रोजगारो की कुल सख्या) देश के श्रमिको की सख्या से कही अधिक है।

उपरोक्त प्रश्न पर एक अधिक श्रेष्ठ ढग से भी विचार किया जा सकता है—हमारी माँग सभी वस्तुओ के लिए समान नही है। यदि कार्यशील जनसख्या को विभिन्न वस्तुओ के लिए हमारी माँगो के अनुपात मे बाँटा जाय, तो यह सम्भव है कि किसी वस्तु के निर्माण के लिए, जिसके लिए माँग कुल माँग का एक अल्प प्रतिशत ही है, सुरक्षित की गई श्रम-सख्या उस वस्तु के उत्पादन मे सबसे मितव्ययिता पूर्ण श्रमविभाजन करने के लिए अपर्याप्त रहे। यदि किसी राष्ट्र को आत्म निर्भर होना है, तो उसके श्रमिको का एक बडा भाग प्रमुख वस्तुओ के उत्पादन मे ही लगना चाहिए तत्पश्चात् जो श्रम-सख्या बचे वह अन्य उत्पादो के लिए अपर्याप्त हो सकती है। इसीलिए कुछ न कुछ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन आवश्यक जाता है।[1]

[1] 'Our demand for all commodities is not equal, if the working population were divided in proportions corresponding to our demand for various products, it is possible that the number earmarked for making some product the demand for which is a minute proportion of the whole, would not be sufficient to give the most economical division of labour in the making of that product If a nation is to be self-sufficing, a large proportion of its workers must be engaged in making the main staple commodities, and the surplus left over for each of the various specialities might be inadequate, and so some international division of labour would be desirable"—**R F Harrod** · *International Economics*, pp 11-12

किन्तु यह एक बड़े पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का कारण नहीं हो सकता। इस हेतु हमें विभाजन के एक अन्य पहलू पर ध्यान देना होगा। यह पहलू उपयुक्त क्षमतायें रखने वालों को उपयुक्त कार्य पर नियुक्त करने की सुविधा से सम्बन्धित है। प्रत्येक राष्ट्र को केवल उसी वस्तु या वस्तुओं का उत्पादन करने दिया जाय जिन्हें वह सबसे सस्ता उत्पन्न कर सकता हो।[1]

"अर्थ-व्यवस्थाओं की पारस्परिक निर्भरता' के कारण—

अब हम उन कारणों या घटकों पर प्रकाश डालेंगे जो कि उपरोक्त विशेष सुविधा के प्रादुर्भाव के लिए दायी हैं। प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं —

(१) प्राकृतिक साधनों का प्रभाव—प्राकृतिक प्रसाधन विशेष सुविधाएँ प्रदान करते है। उदाहरण के लिए जहाँ खानें पाई जाती हैं वहीं पर खनिज पदार्थ निकाले जाते है। इसका अर्थ है विदेशी व्यापार होना। कारण जिन राष्ट्रों के क्षेत्र म खानें स्थित है उन्हें उस खनिज के विनिमय मे जिसका वे निर्यात करते हैं, किसी न किसी प्रकार की वस्तुएँ मिलनी चाहिए।

भूमियों की प्राकृतिक उर्वरता भी देश देश मे भिन्न भिन्न होती है। यह भिन्नता स्वय मे तो विदेशी व्यापार को जन्म देने की सामर्थ्य नहीं रखती, क्योंकि विश्व की जन सख्या भूमि की उर्वरता के अनुपात मे बँटी हो सकती है, जिससे उर्वर भूमियो को घनी जनसख्या और कम उवरा भूमियो को अल्प जन सख्या पोषण के लिए मिले। किन्तु वास्तविक जगत मे जन सख्या का वितरण इस प्रकार से नहीं हुआ है। अत विदेशी व्यापार को बढ़ावा मिलता है।

जलवायु का सभी कृषि वस्तुओं और अनेक निर्मित वस्तुओ के उत्पादन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रभाव के कारण अर्थशास्त्रियो ने जलवायु को भौगोलिक श्रम विभाजन मे केन्द्रीय स्थान दिया है। जलवायु के दो प्रमुख अङ्ग है—वर्षा और तापक्रम। उदाहरणार्थ, गेहू को लीजिए। इसके लिए वर्ष पर्यन्त हल्की वर्षा की आवश्यकता पड़ती है किन्तु फसल के जल्दी पकने के लिये शुष्क जलवायु आवश्यक है। इसके विपरीत, चावल तब ही पैदा किया जा सकता है जबकि वर्षा प्रचुरता से हो और पौधे की जड़ो मे कुछ समय तक पानी बना रहे। इसी प्रकार वन उपज वर्षा के बाहुल्य वाले प्रदेशो मे ही मिलती है। अनेक प्रकार की फसलों और वनस्पतियों के लिए ठण्डे और नम जलवायु की आवश्यकता पड़ती

---

[1] '*By hypothesis, however, this cannot be the cause of international division of labour on a big scale* And so it is necessary to look to the other aspect of the division namely, the convenience of setting those with special facilities to do the tasks for which they are most fitted Let each nation produce that which it can produce most cheaply "—*Ibid*, p 12

। जलवायु के कारण ही बहुत ठण्डे प्रदेशों में केवल एक फसल प्रति वर्ष पैदा की जा सकती है। अतः जलवायु सम्बन्धी दशाएँ यह निर्धारित करती है कि कृषि-क्षेत्र में कौन कौन सी वस्तुएँ उत्पन्न की जायेंगी। उदाहरणार्थ, चाय केवल एशिया में ही उत्पन्न की जाती है। चाय के कुल विश्व उत्पादन में भारत और लङ्का का भाग क्रमशः ४६% और ४१% है। लङ्का की अर्थव्यवस्था में चाय का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है कि यह इसके कुल निर्यातों का ८८% भाग है।

निर्मित वस्तुओं के उत्पादन पर भी जलवायु का प्रभाव देखा गया है। उदाहरणार्थ सूत कताई उद्योग के लिए नम जलवायु उपयुक्त होती है, क्योंकि नम जलवायु सूत को बार-बार टूटने से बचाती है। ऊन उद्योग के लिए भी नम जलवायु उपयुक्त है। जलवायु की उपयुक्तता के कारण ही इंगलैंड में वस्त्र उद्योग लंकाशायर क्षेत्र में विकसित हो गया। उल्लेखनीय है कि बहुत गर्म या बहुत ठंडी जलवायु के कारण उत्पादन लागत बढ़ जाती है क्योंकि बहुत ठण्डे जलवायु के अन्तर्गत कारखानों को गरम रखने की व्यवस्था करनी पड़ती है जबकि बहुत गर्म जलवायु के अन्तर्गत कूलर लगाने पड़ते है ताकि वहाँ श्रमिकों के लिए काम करने का वातावरण ठीक बना रहे। अतः समशीतोष्ण जलवायु वाले देशों में, जहाँ कि गरम या ठन्डा रखने की व्यवस्थाओं पर अधिक व्यय नहीं करना पड़ता, उत्पादन लागतें कम होती हैं, जिससे कि वे एक लाभप्रद स्थिति में आ जाते है।

शताब्दियों से जलवायु सम्बन्धी भिन्नतायें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रभाव डालने वाला एक महत्त्वपूर्ण घटक समझी जाती रही है। उदाहरणार्थ, मसाले पूर्वी देशों से पश्चिमी देशों को भेजे जाते हैं, क्योंकि यूरोप की जलवायु मसालों के उत्पादन के लिए उपयुक्त नहीं है। निःसंदेह आज भी जलवायु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रभाव डालने वाला एक शक्तिशाली घटक है, किन्तु इसका प्रभाव कुछ वस्तुओं के उत्पादन में पहले की अपेक्षा कम हो गया है। उदाहरण के लिए, गेहूँ की एक विशेष किस्म का विकास कर लिया गया है जिसे पहाड़ी क्षेत्रों में भी उत्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि इसके पकने में कम समय लगता है। इसी प्रकार, जिन क्षेत्रों में वर्षा कम होती थी, वहाँ कृत्रिम सिंचाई की व्यवस्था द्वारा अभाव की पूर्ति करली गई है। यही कारण है कि पंजाब और राजस्थान के अनेक जिलों में, जहाँ पहले घटिया फसलें उत्पन्न की जाती थीं भाखड़ा नंगल परियोजना के निर्माण के बाद, श्रेष्ठ फसलें उत्पन्न की जाने लगी हैं। इसी प्रकार, वातानुकूलन तकनीक (Air-conditioning technique) की सहायता से शुष्क क्षेत्रों में भी वस्त्र उद्योग आरम्भ किये जा सकते हैं।

निष्कर्ष के रूप में, खाद्य पदार्थों की दशा में जलवायु का ही मुख्य प्रभाव पड़ता है, किन्तु निर्मित उत्पादों की दशा में उसका महत्त्व कम है। उत्पादन कार्य वहीं स्थापित (Locate) होने की प्रवृत्ति रखते हैं जहाँ जलवायु अनुकूल हो, क्योंकि जलवायु की अनुकूलता वस्तु की उत्पादन-लागत में कमी कर देती है। परि-

एामत देश (अथवा क्षेत्र) अन्य देशो (या क्षेत्रो) को वही वस्तुयें निर्यात करेंगे जिनमें उन्हे एक तुलनात्मक लाभ है। इस प्रकार, जलवायु क्षेत्रीय विशिष्टीकरण का एक आधारभूत कारण है।

(२) **विभिन्न देशो मे साधन-सज्जाओ से सम्बन्धित भिन्नता**—प्रकृति माता ने उत्पादन साधनो की दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रो को समान रूप मे सम्पन्न नही बनाया है। यदि कुछ देशो मे कुछ साधनो की पूर्ति आवश्यकता से अधिक है, तो अन्य देशो मे किन्ही दूसरे साधनो का बाहुल्य है। यदि प्राकृतिक प्रसाधनो का वितरण समान रूप से हुआ होता, तो क्षेत्रीय या राष्ट्रीय विशिष्टीकरण के लिए बहुत ही थोड़ा अवसर बचता। किन्तु प्रकृति ने जिस प्रकार से विश्व की रचना की है उसके अन्तर्गत यह देखा जाता है कि जिन देशो के पास प्राथमिक साधनो की पूर्ति अच्छी मात्रा मे है वह उन प्रसाधनो के उपयोग से सम्बन्धित वस्तुओ के उत्पादन मे एक तुलनात्मक लाभ रखते है। उदाहरणार्थ, प्रति व्यक्ति कृषि-भूमि आस्ट्रेलिया मे २८८ एकड है, किन्तु भारत और जापान मे क्रमश ३ २ एकड और ० ४ एकड है। इसका अर्थ यह हुआ कि आस्ट्रेलिया मे जन सख्या कम और भूमि अधिक है किन्तु भारत और जापान मे जन-सख्या अधिक और भूमि कम है। खनिज सपदा के वितरण मे तो बहुत ही अधिक असमानता पाई जाती है। उदाहरणार्थ विश्व के तांबा भंडार का ८०% केवल सयुक्त राज्य अमेरिका मे ही उपलब्ध है। इसी प्रकार मध्य पूर्व के देश विशाल तैल क्षेत्रो के स्वामी बने हुए है। सम्भव है कि भविष्य मे प्राकृतिक प्रसाधनो की खोज के प्रयत्नो के फलस्वरूप नये-नये भण्डार पता लगें और देशो के मध्य साधन-सज्जा (Factor endowment) सम्बन्धी जो असमानता आज विद्यमान है वह और अधिक बढ जाय। यदि ऐसा हुआ, तो एक देश अन्य देशो पर निर्भर बना रहेगा।

(३) जन संख्या का असमान वितरण—यदि प्रकृति माता ने पृथ्वी के सभी भागो मे सभी चीजे समान प्रचुरता से प्रदान की होती तो भी जन-सख्या का वितरण जिस असमान ढग से हुआ है उससे विदेशी व्यापार वाछनीय बन गया है। कुछ उत्पादक-कार्य (जैसे—निष्कर्षण उद्योग extractive industries) प्राकृतिक प्रसाधनो के निकट ही सम्पन्न किये जाने आवश्यक हैं। अन्य कार्य (जैसे—कच्चे मालो को निर्मित वस्तुओ मे बदलना) इनसे दूर के स्थानो मे भी सचालित किये जा सकते है। भूमि की तुलना में घनी जन-सख्या वाले देश स्वभाविक रूप से उन उत्पादन कार्यों पर अपने प्रचुरता वाले साधनो का प्रयोग करेंगे जिन्हे भूमि के निकट सचालित करना आवश्यक नही है, और अपने द्वारा निर्मित उत्पादो का विनिमय बिखरी हुई जनसख्या वाले देशो के कच्चे पदार्थों से कर लेंगे।[1]

---

[1] 'Countries with a population dense in proportion to the capi-

(Contd on next page)

(४) मानवीय क्षमता मे भिन्नता—जिस प्रकार भूमि की उर्वरता सर्वत्र समान नही होती है उसी प्रकार मानवीय क्षमता भी देश देश मे भिन्न-भिन्न होती है। यह भिन्नता हस्त कौशल वैज्ञानिक योग्यता, स्फूर्ति और साहस सम्बन्धी स्वाभाविक जातीय गुणो के कारण हो सकती है अथवा राजनैतिक एव सामाजिक सरचना (Political and social structure) के कारण भी, जो कि स्वय जातीय क्षमता का या ऐतिहासिक घटनाओ की सम्पूर्ण शृङ्खला का परिणाम होती है, मानवीय क्षमता मे भिन्नता आ सकती है। अत वे प्रक्रियायें, जिनमे वैज्ञानिक निपुणता या सङ्गठन क्षमता का, कुशलता-वृद्धि की दृष्टि से बडा महत्त्व है, स्वभावत ऐसे ही लोगो द्वारा अपनाई जानी चाहिए जिनमे कि उक्त गुण प्रचुरता से हो।[1]

(५) बडे पैमाने पर उत्पादन की आवश्यकता—विशिष्टीकरण के लिए यह कारण भी दायी है कि कुछ वस्तुओं का उत्पादन लघु पैमाने पर निपुणतापूर्वक सगठित नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ, यदि एक धमन-भट्ठी (Blast furnace) का पूर्ण उपयोग उठाना है, तो हमे १० लाख व्यक्तियो की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये लोहा उत्पन्न करना चाहिए। एक कारखाने मे साधारणत दो या तीन भट्टियाँ लगाई जाती हैं। अत एक लोहा एव स्पात कारखाना २० से ३० लाख व्यक्तियो की आवश्यकताओ के लिए पर्याप्त स्पात का उत्पादन कर सकता है। ऐसी बडी फैक्ट्री की स्थापना के लिए विशिष्टीकरण अपनाना आवश्यक हो जाता है। अत सम्भव है कि कुछ बहुत छोटे देश (जैसे—केन्या, जमैका या पाराग्वे) इतने विशाल कारखाने स्थापित न करें और अपने लघु कारखाना के उत्पादन के बदले अन्य देशो से लोहे का सामान आयात करना अधिक उचित समझे।

(६) जनसख्या का पेशेवर वितरण—विभिन्न देशो मे जनसख्या के पेशेवर वितरण (Occupational distribution) से सम्बन्धित आँकडे यह बताते हैं कि कुछ देशो मे जनसंख्या का एक बहुत ऊँचा अनुपात प्राथमिक उद्योगो मे सलग्न है। उदाहरणार्थ, भारत मे लगभग ७०% जनसख्या कृषि मे लगी हुई है। ऐसी दशा मे वहाँ कृषि की उत्पादकता बढाने के लिए कृषि का यन्त्रीकरण नही किया जा

---

city of the soil would naturally employ their surplus on the processes which do not have to be undertaken in conjunction with the soil and exchange manufactured goods for the raw products of more sparsely peopled regions"—Harrod *International Economics*, p 13

[1] "Process in which scientific skill or the capacity for conducting great collaborative enterpris —production on a large scale—count for more in increasing efficiency should naturally be undertaken by the peoples more highly endowed with these qualities"—Harrod *International Economics*, p 13.

सकता। यदि ऐसा किया जाय, तो बड़े पैमाने पर बेकारी फैलने का भय है, जिससे अर्थ व्यवस्था का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। अत अधिक श्रमिकों के प्रयोग वाली विधियां (Labour intensive methods) ही काम में लाना भारत के लिए एक उचित नीति होगी। इसी घटक के कारण विशिष्टीकरण को अपनाना भी सामाजिक दृष्टिकोण से वाछनीय न होगा, क्योंकि रोजगार को यन्त्रीकरण पर प्राथमिकता (Priority) मिलनी ही चाहिए। दूसरी ओर ऐसे भी कुछ देश हैं जहाँ जन-शक्ति का अभाव अनुभव किया जा रहा है। इन देशों में विशिष्टीकरण बढ़ाया जा सकता है और ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में, जिनमें देश को तुलनात्मक लाभ प्राप्त है, विस्तृत श्रम विभाजन प्रचलित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, इङ्गलैंड डेरी पदार्थों (Dairy products) का उत्पादन डेन्मार्क की अपेक्षा कम लागत पर कर सकता है किन्तु फिर भी वह इन्हें डेन्मार्क से आयात करता है। इसका कारण यह है कि इङ्गलैंड में जनसंख्या थोड़ी है और इसलिए श्रम-साधन का प्रयोग अधिक उत्पादक-धन्धों में लाभदायकता के साथ किया जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विशिष्टीकरण कुछ सीमा तक जनसंख्या के पेशेवर वितरण से निर्धारित होता है।

(७) भूतकालीन सचय—यह सम्भव है कि भूतकाल में हुये विकास कार्य के फलस्वरूप किसी राष्ट्र को वर्तमान समय में साज-सामान (जैसे—रेलों, कारखानों, कुशल सङ्गठनों, विशिष्ट ज्ञान, उपयोगी आदतों आदि के रूप में) का महान् सचय प्राप्त हो, जिससे कुछ प्रकार के उत्पादन कार्यों के लिए उसकी क्षमता बहुत बढ़ जाती है। ऐसी दशा में भी देश को विशेष सुविधायें प्राप्त होने लगती हैं और वह विशिष्टीकरण कर लेता है।

(८) असाधनों का उपयोग—नि संदेह प्रकृति ने प्रत्येक देश को उत्पत्ति के समस्त प्राथमिक साधनों का समान कोटा (Quota) प्रदान नहीं किया है, जिस कारण (अर्थात् साधन-सज्जाओं की भिन्नता के कारण) विभिन्न देशों में विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। किन्तु, इस असमान वितरण के प्रभाव को, प्रचुर साधनों के अधिकाधिक प्रयोग और न्यून साधनों के मितव्ययितापूर्ण प्रयोग द्वारा कम किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, उन देशों में, जहाँ भूमि-साधन प्रचुर मात्रा में और श्रम साधन न्यून मात्रा में हैं, वहाँ श्रम की कमी को कुछ सीमा तक भूमि पर पूँजी के अधिक प्रयोग द्वारा पूरा किया जा सकता है, और जहाँ श्रम साधन प्रचुर मात्रा में तथा भूमि साधन न्यून मात्रा में है, वहाँ श्रम-साधन के अधिक प्रयोग द्वारा उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार प्रत्येक देश को अपने उत्पादक-साधनों का पूर्णतम उपयोग करने हेतु अपनी अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप विशिष्ट तकनीकों (Specialized techniques) का विकास करना पड़ेगा।

उत्पत्ति के लिए विभिन्न साधनों के सयोग (Combination) की आवश्यकता पड़ती है। किसी उद्योग में जो सयोग अपनाया गया हो उसमें विभिन्न साधनों के

अनुपात को बदलना सम्भव है। किन्तु ऐसा प्रतिस्थापन (Substitution) एक सीमा तक ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, मिट्टी मे पेट्रोल निकालने के लिये एक निर्धन देश मे अधिक श्रम का उपयोग किया जा सकता है किन्तु इतने पर भी पूँजी और साज-सामान का कार्य पूर्ति के लिय यथेष्ठ मात्रा मे उपयोग करना पड़ेगा। श्रम को एक सीमा तक ही बढ़ाया जा सकता है क्योंकि इस सीमा के आगे श्रम की वृद्धि अपव्ययपूर्ण होती है। इस प्रकार की सीमाओं (Limitations) से भी भौगोलिक विशिष्टीकरण के लिए प्रेरणा मिलती है और फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आरम्भ हो जाता है।

(६) **यातायात व्यय**—जहाँ तक उद्योगों विशेषत निर्माणी उद्योगों के *स्थिति चयन (Location) का सम्बन्ध है भौगोलिक विशिष्टीकरण के लिए यातायात व्ययों* का बहुत महत्व है। इस बात को निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—वनों मे वृक्ष गिराये जाते हैं। तत्पश्चात् शाखायें और पत्ते काटे और तोड़े जाते हैं। विशाल धड़ खम्भों और स्लीपरों में परिवर्तित किये जाते हैं और लकड़ी स्लीपरों और तख्तों के रूप मे ही यातायात की जाती है, ताकि उनसे फर्नीचर, बसों के ढाँचे, रेलों के डिब्बे आदि बनाये जा सकें। वृक्षों से स्लीपरों के बनाने की अवधि मे बहुत सा भार (Weight) कम हो जाता है। इससे स्लीपरों के यातयात मे मितव्ययिता हो जाती है। नियम यह है कि उत्पादन की प्रारम्भिक दशाओं मे भार की हानि अधिक होती है किन्तु बाद की प्रत्येक अवस्था मे ऐसी हानि कम होती है। उत्पत्ति का एक अन्य नियम यह है कि उत्पादन की अन्तिम अवस्था बाजार के अधिक से अधिक निकट स्थापित होनी चाहिए। इस प्रकार, *औद्योगिक इकाइयों का स्थान निश्चित करते समय यातायात व्ययों को उचित महत्व* देना आवश्यक है। उद्योग का स्थिति-चयन ही तब आदर्श कहा जायेगा जबकि यातायात व्यय कम से कम हो जाय। भौगोलिक विशिष्टीकरण साधन सज्जाओं की भिन्नताओं का प्रत्यक्ष परिणाम है और यह स्वय भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शुरूआत के 'कारण' का कार्य करता है।

विशिष्टीकरण को बढ़ावा देने वाले उपर्युक्त घटकों का मिला-जुला प्रभाव ही किसी देश म वस्तु विशेष की उत्पादन-लागत को निर्धारित करता है। चूँकि ये घटक देश-देश मे भिन्न भिन्न होते हैं, इसलिए वस्तु की लागत भी विभिन्न देशों मे विभिन्न होती है और यह लागत-भिन्नतायें (Differences in Comparative Costs) ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार है।

"अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के आधार पर हुए विशिष्टीकरण के द्वारा विश्व व्यापार का अधिकतम् हो जाना आवश्यक नहीं है"

("Specialization on the Basis of International Division of *Labour may not necessarily lead to Maximisation of* World Trade")

जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं, कच्ची सामग्रियों, शक्ति और श्रम के

रूप से प्राकृतिक साधन इस प्रकार बिखरे हुए हैं कि कुछ देशों में कुछ वस्तुओं के अतिरिक्त सभी वस्तुयें लगभग सब देशों में उत्पन्न की जा सकती हैं। किन्तु वास्तविक जीवन में हम प्रत्येक देश को अपनी आवश्यकता की प्राय सभी वस्तुये बनाते हुए नहीं देखते। एक देश केवल उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में जिन्हें उत्पन्न करने के लिये उसके पास आवश्यक प्रसाधन सस्ती कीमतों पर और प्रचुरता से उपलब्ध हैं, विशिष्टता प्राप्त करता है। इसी से उसका उत्पादन व्यय अन्य देशों में वैसी ही वस्तु के उत्पादन व्ययों से कम रहता है। यह लागत भिन्नता (Cost difference) ही विशिष्टीकरण का आधार है, अर्थात् देश वहीं वस्तुयें उत्पन्न करते हैं जिनमें उनको एक तुलनात्मक लाभ (Comparative advantage) होता है और बदले में विदेशों से उन वस्तुओं को जिन्हें वे अपने यहाँ अधिक लागत पर ही उत्पन्न कर सकते थे, प्राप्त करते हैं। इस प्रकार देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभान्वित होते हैं और जैसे-जैसे श्रम विभाजन की प्रगति होती है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अपनी अधिकतम सीमा तक बढ़ने लगता है।

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सभी दशाओं में लाभ होना आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ, जैसा कि मार्शल (Marshall) ने सकेत किया है, यदि निर्यात-वस्तुयें उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जा रही है, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक न होगा। कारण, जब निर्यात वस्तुये उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाती हैं तो उत्पादन व्यय बढ़ने लगते हैं, जिससे व्यापार से मिलने वाले लाभ घटने लगता है, निर्यात में भी कमी होने लगती है और अन्ततः वह बिल्कुल ही समाप्त हो जाता है।

"उत्पत्ति साधनों की गतिहीनता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय के लिये मुख्य रूप से दायी"

("International Trade arises primarily due to a Lack of Mobility in the Factors of Production")

हम यह पूर्व ही बता चुके है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो राष्ट्रो के मध्य होने वाला व्यापार है। राष्ट्र शब्द का प्रयोग प्राय एक राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र जन-समुदाय को सूचित करने हेतु किया जाता है। लेकिन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सदर्भ में, इस शब्द से आशय एक स्वतन्त्र आर्थिक इकाई (Independent economic unit) का है। [आधुनिक अर्थशास्त्रियों, जैसे ओहलिन और डन्कन ने यह सुझाव दिया है कि 'राष्ट्र' शब्द के दोहरे अर्थ से उदय होने वाले किसी भ्रम को सभावना से बचने के लिए 'राष्ट्र' शब्द के स्थान में 'क्षेत्र' (Region) शब्द का प्रयोग करना चाहिये। अत हम "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार" के बजाय "अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार" की चर्चा करते हैं।]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देने वाले कारण के बारे मे प्रतिष्ठित मत—

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय होने का

बुनियादी कारण उत्पत्ति-साधनो मे विभिन्न देशो के बीच गतिशीलता का अभाव होना है। उनका यह दृष्टिकोण था कि श्रम और पूँजी एक ही देश में एक जिले से दूसरे जिले को तो स्वतन्त्रतापूर्वक आते-जाते है किन्तु विभिन्न देशो के मध्य नही आते-जाते। विभिन्न देशो के मध्य साधनो की गतिहीनता के अनेक कारण हैं। सच तो यह है कि विदेशो मे ऊँची मजदूरी मिलने पर भी श्रमिक अपने देश से बाहर जाने को तत्पर नही होते। उनकी यह हिचकिचाहट भाषा, रूढियो, धर्म, प्रथाओ सामाजिक एव राजनैतिक जीवन आदि मे भिन्नताओ के कारण है। पूँजी के आवागमन के बारे मे भी यही बात सत्य है। लोगो की रुचि-अरुचि, अनभिज्ञता, पूँजी के आवागमन मे निहित जोखिम और कानूनी प्रतिबन्ध राष्ट्रीय इकाइयो के मध्य पूँजी के प्रवाह को रोकते हैं।

देशो के मध्य उत्पत्ति-साधनो की अपेक्षित अधिक गतिहीनता (Immobility) प्रतियोगिता के महत्त्व को कम कर देती है। अन्य शब्दो मे, साधनो की एक देश से दूसरे देश को गतिहीनता के कारण प्रतिस्पर्धा का अभाव रहता है। प्रतियोगिता के फलस्वरूप समान वस्तुओ की उत्पादन-लागते देश भर मे समान रहने की प्रवृत्ति रखती हैं। किन्तु इसके अभाव मे समान वस्तुओ की उत्पादन लागते देश देश मे भिन्न हो जाती हैं और यह लागत-भिन्नताये ही स्वतन्त्र देशो के मध्य व्यापार को जन्म देती हैं। इस प्रकार, विभिन्न देशो के मध्य साधनो की गतिहीनता प्रतियोगिता पर अपने प्रभाव के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय मे सहायक बनती है।

प्रतिष्ठित दृष्टिकोण का समर्थन और विरोध—

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के उपरोक्त दृष्टिकोण की कटु आलोचना हुई है। प्रमुख आलोचनाये, जो कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने की है, नीचे दी जाती हैं —

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये प्रसाधनो का असमान वितरण दायी है, साधनो की गतिहीनता नहीं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के दृष्टिकोण की प्रथम आलोचना यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय का कारण साधनो की गतिहीनता नही है, वरन् यह है कि विश्व मे प्राकृतिक साधनो का वितरण असमान रूप से हुआ है।

यदि हम इस आलोचना का सावधानी से विश्लेषण करे, तो पता चलेगा कि यह प्रतिष्ठित मत का समर्थन करती है विरोध नही। प्राकृतिक प्रसाधनो के असमान वितरण की समस्या आज हमारे सामने इसीलिये तो है कि वे प्रचुरता के क्षेत्रों से अभाव के क्षेत्रों मे नही जा सकते। यदि उनमे गतिशीलता होती, तो प्राकृतिक साधनों के असमान वितरण की समस्या उदय नहीं हो सकती थी। वितरण की असमानता इस दृष्टिकोण की पुष्टि करती है कि गतिशीलता का अभाव ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख स्रोत है।

(२) एक ही देश के विभिन्न भागों के मध्य और विभिन्न देशो के मध्य गतिशीलता सम्बन्धी भेद अंशों का है गुण का नहीं। अ-प्रतिस्पर्धी समूहो (Non-

competing groups) की स्थिति केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ही पाई जाती हो, ऐसा नहीं है। एक ही देश के विभिन्न भागों के मध्य भी प्रतिस्पर्धा-रहित समूह विद्यमान होते हैं। एक ही देश के अन्दर विभिन्न व्यापारों और विभिन्न भागों में मजदूरियों के विशाल अन्तर देखने में आते हैं। इन अन्तरों के लिये साधनों की गतिहीनता बाधी है। क्या हम नहीं देखते कि मद्रासी परिवारों को पंजाब जाने में और पंजाबी परिवारों को मद्रास जाने में संकोच होता है? स्पष्टत, साधनों की आन्तरिक गतिशीलता "पूर्ण" नहीं है। साथ ही, साधनों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिहीनता भी 'शून्य' (Zero) नहीं होती है। उदाहरण के लिये, क्या लोग बेल्जियम और स्पेन से, सीमान्त पार करके, फ्रांस में नहीं आते रहे हैं? क्या पूँजी विशाल मात्रा में अमेरिका से अर्ध-विकसित एशियाई देशों को नहीं गई है? अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Industry and Trade में मार्शल (Marshall) ने उद्योगों द्वारा कच्चे माल आकर्षित करने की प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला है। इस प्रकार, एक ही देश के विभिन्न भागों के मध्य और विभिन्न देशों के बीच साधनों की गतिशीलता में केवल 'अंशों' (Degree) का ही भेद है 'गुण' (Kind) का नहीं।

उपरोक्त आलोचना के उत्तर में प्रतिष्ठित सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों को भी उक्त तथ्य का ज्ञान था। उदाहरणार्थ, एडम स्मिथ (Adam Smith) ने प्रवास (Emigration) के महत्व पर बल दिया था और मिल (Mill) ने भी यह स्वीकार किया था कि पूँजी अधिकाधिक गतिशील हो गई है और इसका स्वभाव अन्तर्राष्ट्रीय बनता जा रहा है। इतने पर भी आलोचना में कुछ सत्य की झलक है, जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता, विशेषत वर्तमान युग में, जबकि विश्व के देशों के मध्य राजनैतिक सम्बन्ध बिगड़े हुये हैं। आजकल हम देखते हैं कि लगभग सभी देशों ने प्रवास सम्बन्धी नियम (Immigrations regulation) बना दिये हैं, जो बाह्य श्रम के प्रवेश को रोकते हैं। पूँजी के सम्बन्ध में भी देखा जाता है कि किन्हीं देशों में ब्याज दर ऊँची है तो किन्हीं देशों में नीची। विश्व के विभिन्न देशों में ब्याज-दरों की असमानता इस बात का ठोस साक्ष्य है कि पूँजी न्यून ब्याज दर वाले देशों से ऊँची ब्याज दर वाले देशों में जाने के लिए अनिच्छुक है। यह अनिच्छा मौद्रिक दशाओं की अस्थिरता, पूँजी के निर्गमन पर भाँति-भाँति के प्रतिबन्ध, राष्ट्रीयकरण की दशा में क्षतिपूर्ति न मिलने का भय और विदेशियों के प्रति अविश्वास की भावना आदि के कारण हैं। संक्षेप में, साधनों की गतिहीनता सम्बन्धी प्रतिष्ठित धारणा आज जितना अधिक सत्य है उतनी पहले कभी नहीं थी।

(२) उत्पत्ति-साधनों में गतिशीलता का अभाव होना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय होने का एक पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं है। सच तो यह है कि अन्य घटक भी (जैसे—करेंसियों की भिन्नता, मौद्रिक नीति का स्वतन्त्र रूप से निर्धारण आदि) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रभावित करते हैं। किन्तु न्याय की दृष्टि से यह स्वीकार

करना पड़ेगा कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अन्य घटकों की भूमिका को भुलाया नहीं था।

इस प्रकार, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की त्रुटि यह स्वीकार करने में निहित थी कि केवल साधनों की गतिहीनता मात्र ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय का कारण है। इस मान्यता के ही कारण उनकी उचित और अनुचित आलोचनायें हुई हैं। सत्य यह है कि उत्पत्ति साधनों में विभिन्न देशों के मध्य गतिशीलता का अभाव होना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय का 'एक' (न कि एकमात्र') कारण है।

वस्तुओं और सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का औचित्य
(Rationale for International Exchange of Goods and Services)

अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का औचित्य सम्बन्धित पक्षों द्वारा व्यापार से पारस्परिक लाभ उठाने में निहित है। एक निश्चित लाभ के अभाव में, कोई भी दो पक्ष (चाहे वे दो व्यक्ति हों या दो देश) विनिमय सम्बन्धी किसी भी समझौते में सम्मिलित होना पसन्द नहीं करेंगे। दोनों पक्षों को पारस्परिक लाभ (Mutuality of advantage) होना यह स्पष्ट करता है कि क्यों देश अपनी कुछ उत्पादित वस्तुओं का अन्य देशों की उत्पादित वस्तुओं के साथ विनिमय करने के लिए तैयार हो जाते हैं। 'लाभ' शब्द में अनार्थिक और आर्थिक दोनों ही प्रकार के लाभ सम्मिलित हो सकते हैं। अतः यहाँ हम केवल आर्थिक लाभ के स्पष्टीकरण पर ही ध्यान देंगे।

आर्थिक लाभ का स्वभाव—

लाभ की पारस्परिकता का आर्थिक कारण यह है कि देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा ऐसी वस्तुयें भी प्राप्त कर लेते हैं जिन्हें अपने यहाँ उत्पन्न करना उनके लिए या तो सम्भव नहीं था अथवा लाभप्रद नहीं था। सभी देश सभी वस्तुयें, जो कि उनकी जनसंख्यायें उपभोग करती हों, उत्पन्न करने के लिए पूर्ण रूप से सुसज्जित नहीं होते हैं, और इसलिए ऐसी वस्तुयें, जो या तो बिल्कुल भी उत्पन्न नहीं की जा सकती हैं अथवा केवल बहुत ऊँची लागत पर ही उत्पन्न की जा सकती है, निर्यातों के बदले में प्राप्त करनी पड़ती है। राष्ट्रों के सम्पूर्ण इतिहास में, कुछ संक्षिप्त समयावधियों को छोड़ कर वह भी राजनैतिक आधार पर, अन्य दशाओं में पूर्ण आत्म-निर्भरता पर कभी भी अमल नहीं किया गया है।

तुलनात्मक उत्पादन लागत—

प्रत्येक देश प्रायः उन वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करने का यत्न करता है जिनमें कि वह अपने निज के साधन-भण्डार और तत्सम्बन्धी लागत संरचना को ध्यान में रखते हुए सर्वोत्तम क्षमता रखता हो। विभिन्न देशों के पास विभिन्न मात्राओं और गुण वाले उत्पत्ति साधन (भूमि, श्रम, पूँजी, सङ्गठन और साहस) होते हैं। अतः विशिष्टीकरण के लिए सबसे अधिक उपयुक्त क्षेत्र का चुनाव करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि कौन सी वस्तुयें न्यूनतम् तुलनात्मक लागत पर बनाई जा सकती हैं। प्रायः उन वस्तुओं का उत्पादन न्यूनतम् तुलनात्मक

लागत पर किया जा सकता है जिनकी उत्पादन लागत का एक बड़ा अनुपात वहाँ प्रचुरता से पाये जाने वाले साधन के प्रयोग से सम्बन्धित हो।

उदाहरणार्थ, भारत को ही लीजिए। इसने जूट, चाय, तिलहन और अन्य कृषि-पदार्थों के उत्पादन में विशिष्टीकरण किया है। क्यों? इसका कारण बिल्कुल सीधा-सादा है। उसकी प्राकृतिक साज-सज्जा (जलवायु श्रम आदि) इन फसलों के लिए उपयुक्त है। इसी प्रकार, ब्रिटेन ने औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टी-करण किया है, क्योंकि उसके साधन-भण्डार (पूँजी, निपुणता, संगठन एवं खनिज प्रसाधन) इन वस्तुओं का उत्पादन करने में बहुत ही सुविधाजनक है। इन परिस्थितियों में, भारत और ब्रिटेन वस्तुओं और सेवाओं के पारस्परिक विनिमय द्वारा लाभ उठा सकते हैं। यही कारण है कि भारत ब्रिटेन से औद्योगिक वस्तुयें और ब्रिटेन भारत से कृषि-उत्पाद मंगाता है।

सर्वाधिक लाभ कौन प्राप्त करता है ?

निःसंदेह दोनों ही देश अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय से लाभ उठाते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि कौन देश सबसे अधिक लाभ उठाता है अथवा कितनी मात्रा में विनिमय किया जाता है? तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त हमें केवल इतना ही बताता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय क्यों किया जाता है। वह इस बात को बताने में असमर्थ है कि कितनी मात्राओं में तथा किस कीमत पर विनिमय होगा। उत्पादन-लागतें कीमत की न्यूनतम सीमा निर्धारित करती हैं, किन्तु व्यापार की वास्तविक शर्तें (Actual) terms of trade) एक दूसरे की वस्तुओं के लिए माँग और पूर्ति की लोच द्वारा निर्धारित होती है। अन्य शब्दों में, कितनी मात्रा में विनिमय किया जायेगा यह इस बात पर निर्भर होगा कि कितना शुद्ध लाभ अर्जित होता है और शुद्ध लाभ की मात्रा व्यापार की शर्तों पर निर्भर होती है।

'लागत' शब्द के विभिन्न अर्थ—

नीचे हम उन विभिन्न अर्थों पर प्रकाश डालेंगे, जिनमें कि 'उत्पादन-लागत' वाक्यांश का प्रयोग किया जाता है :—

(१) मौद्रिक लागत (Money Cost)—सभी मौद्रिक अर्थव्यवस्थाओं में लागत की गणना मुद्रा के सन्दर्भ में की जाती है, क्योंकि यह किसी वस्तु की उत्पादन लागत की गणना करने का सबसे सुगम ढंग है। तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त बताता है कि प्रत्येक देश वही वस्तुयें उत्पन्न करेगा, जिनमें उसकी मौद्रिक लागत न्यूनतम आवे। चूँकि विभिन्न देशों में विभिन्न करेंसियाँ चलती हैं, इसलिए औसत लागतों की एक मान्य विनिमय-दर के आधार पर ही तुलना करना सम्भव है। लेकिन, जब तक दोनों अर्थव्यवस्थायें एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन न करें, तब तक औसत लागतों की तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता एवं दो विभिन्न वस्तुओं की औसत लागतों की तुलना करना व्यर्थ है। अतः मौद्रिक लागतें तुलनात्मक उत्पादन-लागत का एक अधूरा सूचक (Rough index) हैं।

(२) साधन-लागत (Factor Cost)—स्वय मौद्रिक लागत का निर्धारण उत्पत्ति के विभिन्न साधनो (भूमि, श्रम, पूँजी, सगठन और साहस) को दिये जाने वाले पुरस्कार द्वारा होता है। उत्पत्ति के साधनो के पुरस्कार किसी साधन की पूर्ति की तुलना मे उसकी माँग पर निर्भर होते हैं। अत लागत-सरचना (Cost structure) से यह पता चल सकता है कि कौन-सा साधन अधिक प्रयोग किया जा रहा है। यदि किसी वस्तु के उत्पादन मे एक ऐसे साधन का, जो कि बहुत दुर्लभ (Scarce) है, सर्वाधिक प्रयोग किया जा रहा है, तो स्पष्ट है कि लागत बहुत बढ़ जायेगी। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि इङ्गलैण्ड जूट का उत्पादन करने लगा है। इसके लिये उसे अत्याधिक लगान, मजदूरी और अन्य प्रासगिक व्यय (Incidental costs) चुकाने पडते हैं। चूंकि जूट की उत्पादन-लागत का अधिकाश भाग भूमि और श्रम के सम्बन्ध मे किया जाता है, इसलिए इङ्गलैंड के लिए औसत लागत उससे कहो अधिक होगी जो कि वास्तविक व्यय के रूप मे है। देश मे पूँजी की अधिकता होने के कारण ब्रिटेन को विनियोग-पूँजी नीची ब्याज दरो पर मिल जायेगी। किन्तु वहाँ कृषि योग्य भूमि और श्रम का अभाव है, अत वह भूमि या श्रम सघन विधियो का प्रयोग नही कर सकता। स्पष्टत:, उसे अपने को ऐसी वस्तुओ के उत्पादन मे, जिनके लिए प्रचुर भूमि और श्रम की आवश्यकता पडती है, नही फसाना चाहिये। यही तर्क भारत को भी, यदि वह ऐसी वस्तुओ का उत्पादन करे जिनके लिये देश मे दुर्लभ प्रसाधनो की प्रचुर पूर्ति चाहिए, लागू होता है।

(३) अवसर-लागत (Opportunity Costs)—अवसर-लागतों का अभिप्राय उन विकल्पो का है जिन्हे उत्पत्ति-साधनो के एक विशेष क्षेत्र मे ही प्रयोग करने के कारण छोड देना पडता है। कुछ क्षेत्रो मे इन्हे प्रयोग करना अन्य क्षेत्रो मे प्रयोग न करना है। इन्ही को छोडे हुए विकल्प (Alternatives foregone) कहते हैं। यदि ब्रिटेन जूट के उत्पादन का प्रयास करे, तो छोडे हुये विकल्पो के रूप मे उसकी अवसर-लागत इतनी अधिक होगी कि जूट का उत्पादन उसके लिए लाभदायक नही हो सकेगा। यदि ये ही प्रसाधन किसी अन्य वस्तु का उत्पादन करने मे प्रयोग किये जाये, तो उसकी उत्पादन-लागत बहुत ही न्यून हो सकती है तथा उस वस्तु के बदले वह भारत से जूट को सुगमतापूर्वक मँगा सकता है।

स्पष्टत: तुलनात्मक लागत के आधार पर उत्पत्ति-साधनो को सर्वोत्तम प्रयोग मे लाया जा सकता है और फिर कुछ निर्यातों के बदले में आयात करके परस्पर लाभ उठाया जा सकता है। अगले खण्ड मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है।

परीक्षा प्रश्न :

१. विश्व-अर्थव्यवस्थायें अपनी आर्थिक क्रियाओं के सम्बन्ध में एक दूसरे पर निर्भर क्यों होती हैं ? कारण बताइये।

२. "चूंकि विनिमय साधारणतः श्रम-विभाजन के कारण आवश्यक हो जाता है, इसलिए विदेशी व्यापार तब प्रगट होता है जबकि श्रम-विभाजन, राष्ट्रीय सीमाओं को पार करके अन्तर्राष्ट्रीय बन जाता है।" विवेचन कीजिये।

३ "उत्पत्ति साधनों की गतिहीनता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय के लिए मुख्यतः दायी है।" विवेचन करिये।

[International Trade arises primarily because of the lack of mobility in the factors of production " Discuss]

(आगरा, एम० कॉम०, १९६१)

४ आपकी सम्मति में वस्तुओं और सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का औचित्य क्या है ?

५ अन्तर्क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आर्थिक आधार क्या है ? विवेचन कीजिये।

[What is the economic basis of international and inter-regional trade ? Discuss] (विक्रम, एम० ए०, १९६१)

द्वितीय खण्ड

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विशुद्ध सिद्धा

[THE PURE THEORY OF INTERNATIONAL TRADE]

।द्वानों के विचार—

१) नर्कसे (Nurkse) —' नि सन्देह व्यापार के खुल जाने से एक आदिम अर्थ-व्यवस्था को विशाल लाभ हो सकते हैं, किन्तु क्या इस बात की कोई गारण्टी है कि तत्पश्चात् केवल व्यापार द्वारा ही एक ऐसी विकास दर सुलभ हो जायेगी जिसे देश में (उदाहरणार्थ) जन सख्या की वृद्धि या विदेशों में प्रचलित जीवन स्तरों के सन्दर्भ में सन्तोषजनक समझा जा सके ? स्पष्टत ऐसी कोई गारण्टी नहीं है विशेषत ऐसी दशा म जबकि निर्यात-उत्पादों के लिये, जिन्हें देश में ही उत्पन्न करने पर तुलनात्मक लाभ सिद्धान्त जोर देता है बाह्य माग (अ) कीमत की दृष्टि से सामान्यत लोचहीन हो और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह कि (ब) उसके (बाह्य माग के) कुल परिमाण में मन्द गति से वृद्धि होती हो। अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण के समस्त लाभ ठीक होते हुए भी वहाँ गतिरोध और तुलनात्मक स्थिरता या निश्चेष्टता की सम्भावना है।"

[There is no doubt that the opening up of trade can bring very sizable gains to a primitive economy but is there any guarantee that trade alone will thereafter cause a rate of growth that can be regarded as satisfactory in the light, for instance of population increase at home or the living levels prevailing abroad ? There is no such guarantee especially if the export products—which the comparative-advantage principle forces a country to produce—face an external demand which (a) is generally inelastic with respect to price, and (b) what may be more important shows only a sluggish rate of increase in total volume Granted all the advantages of international specialization, there remains a possibility of deadlock and comparative stagnation "]

क्लेरमोण्ट (Clairmonte)— 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन ने ऐतिहासिक प्रतिबन्धित विकास अवस्था म कुछ देशों की आर्थिक सम्पत्तियों को उपयोग के अनुपयुक्त बना दिया है। कम विकसित भागों में एक गतिवान शक्ति बनना तो दूर रहा उसने प्राय सुस्थापित राष्ट्रीय रूप से सङ्गठित बड़े औद्योगिक देशों के हित में ही कार्य किया है।'

['International specialization has brought in its train a freezing of the economic endowments of a given country at a certain historically conditioned stage of development Far from constituting a dynamic force in the less developed areas it has operated in the interests of the larger, nationally integrated and better established industrial communities "]

५

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का विकास

(Development of the Theory of International Trade)

परिचय—एडमस्मिथ द्वारा स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन

जैसा कि हम अध्याय २ मे बता आये है यह एडम स्मिथ थे जिन्हो स्वतन्त्र व्यापार (Free Trade) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। वास्तव मे उनके सम मे परिस्थिति कुछ ऐसी बन गई थी कि स्वतन्त्र व्यापार पर बल देना आवश्यक ह गया। जैसे—व्यापारवादी नीतियो (Mercantilist policies) के दुष्परिणामो विश्व तङ्ग आ गया था और लॉक (Locke) ह्यूम (Hume) एव निर्बाधावादिय (Physiocrats) ने एक स्वतन्त्र प्रणाली के लिए उचित दार्शनिक आधार बना दिय था। किन्तु स्मिथ का महत्त्व इस बात मे है कि उन्होने आर्थिक प्रसाधनो के सर्वो त्तम वितरण के लिए स्वतन्त्र व्यापार को उपयुक्त बताया।—उन्होने यह दिखाने क भारी प्रयत्न किया कि यदि व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने दिया जाय, तो व अपने प्रसाधनो को अधिक प्रभावपूर्ण ढङ्ग से उपयोग मे ला सकता है किन्तु सरकार द्वारा हस्तक्षेप करने की दशा मे इतना प्रभावपूर्ण प्रयोग सम्भव नही है। सच तो यह है कि हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप राष्ट्रो के मध्य प्रसाधनो के वितरण से सम्बन्धित लाभ कम हो जाते है।

(I) लागतो की भूमिका
(Role of Costs)

रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त—

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे रिकार्डो ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध मे एक सर्वमान्य आधुनिक सिद्धान्त प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। कुछ लेखको ने, जैसे कि शुम्पीटर (Schumpeter) ने, रिकार्डो के योगदान के महत्त्व को घटाने और उसके पूर्ववर्तियो के महत्त्व को बढाने का यत्न किया है। निःसन्देह *रिकार्डो के पूर्व टौरेन्स (Torrens) ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त प्रचलित किया था,* किन्तु इस सिद्धान्त को, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का आधार है, सबसे अधिक स्वीकृति दिलाने मे सफलता रिकार्डो ने ही पाई। अत्यन्त सुगम किन्तु अवास्तविक मान्यताओं के अन्तर्गत रिकार्डो ने यह दिखाया कि दो देश, जिनमे से प्रत्येक दो वस्तुयें उत्पन्न करता है, व्यापार से, यदि वस्तुये पैदा करने की सापेक्षिक

लागतें दोनों देशों में भिन्न-भिन्न हैं तो लाभ उठा सकते हैं। वे तब भी लाभ उठायेंगे जबकि दोनों में से किसी एक देश में निरपेक्ष उत्पादन लागतें (Absolute costs of production) दोनों ही वस्तुओं के लिए कम हों।

रि ार्डो की अवास्तविक मान्यतायें—

रिकार्डो के सिद्धान्त की अवास्तविक मान्यताओं को हटाने के लिए अगले १२५ वर्षों में जितने प्रयत्न किये गये वे उन प्रयत्नों से अधिक थे जो कि उस सिद्धान्त को छोड़ने हेतु किये गये। अन्य शब्दों में, रिकार्डो के सिद्धान्त को रद्द करने के बजाय इसे सुधारने के प्रयत्न ही अधिक किये गये। रिकार्डो ने मुद्रा, विनिमय-दरों और मजदूरी दरों को अपने असाम्यता सम्बन्धी विवेचन (Discussion of disequilibrium) में सम्मिलित तो किया किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्त को एक भाग में और मौद्रिक विवेचन को दूसरे भाग में रखा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी सिद्धान्त का यह द्विवर्गीय विभाजन—(१) विशुद्ध सिद्धान्त (The Pure Theory) जो कि सामान्य स्थैतिक मूल्य सिद्धान्त (General static theory of value) का भाग है और (२) प्रावैगिक कीमत एवं मुद्रा सिद्धान्त (The Dynamic Price and Monetary Theory)—आजकल भी चला आ रहा है। वास्तव में जैसा कि मिरडल (Myrdal) ने अपनी नई पुस्तक The International Economy में लिखा है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था के सिद्धान्त का पूरक है।

उत्पादकता सम्बन्धी भिन्नताओं पर बल—

सन् १८३० में सीनियर (Nassau Senior) ने यह समझाया कि कुछ देशों में मजदूरी की दरें अन्य देशों की अपेक्षा अधिक ऊँची क्यों थीं। उनका स्पष्टीकरण मुख्यतः श्रम-उत्पादकता सम्बन्धी भिन्नताओं के आधार पर था, चाहे इस अधिक उत्पादकता का कारण अधिक परिश्रम करना अधिक बुद्धि होना या अधिक पूँजी का विनियोग करना कुछ भी रहा हो। यह स्पष्टीकरण तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के सम्बन्ध में मजदूरी-दरों से सम्बन्धित अन्तरों का महत्त्व समझाने का एक सराहनीय प्रयास था क्योंकि रिकार्डो (Ricardo) ने केवल 'श्रम समय' (Labour Time) का ही विवेचन किया था मजदूरी-दरों (Wage rates) का नहीं। जान स्टुअर्ट मिल (J S Mill) और केर्नेस (Cairnes) ने भी यह मत व्यक्त किया था कि एक विशिष्ट उद्योग में किसी देश की प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति पर मजदूरी की दरों का प्रभाव पड़ सकता है। किन्तु मजदूरी की दरों के प्रभाव को सविस्तार समझाने तथा पूँजी लागतों (Capital costs) के सम्बन्ध पर विचार करने का श्रेय बीसवीं शताब्दी के एक अर्थशास्त्री को ही मिला।

पूँजी-लागतों को विचार में लेना—

टाजिग ने यह स्वीकार किया कि मजदूरियों से संस्थागत विघ्नों (Institu-

(tional obstacles) की झलक मिल सकती है और इसलिए जब कुछ देशों में मजदूरों के विशिष्ट वर्गों को अन्य देशों की अपेक्षा कम मजदूरी मिलती है तो उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुयें भी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपेक्षत सस्ती होंगी। किन्तु टॉजिग का कहना था कि मजदूरी कमाने वालों के विभिन्न वर्गों के लिए मजदूरी की सापेक्षिक दरें विभिन्न देशों में एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं हुआ करती हैं।

टॉजिग ने यह भी माना कि पूँजी-लागतों को विचार में लेना चाहिए, क्योंकि वह देश, जिसके पास बहुत पूँजी है और जहाँ ब्याज की दरें नीची हैं, ऐसी वस्तुएं उत्पन्न करने में, जिनके लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, लाभदायक स्थिति में रहता है। प्रो० वाइनर (Viner) भी, जो कि टॉजिग के एक प्रतिभाशाली शिष्य हैं, टॉजिग के इस विचार से सामान्य सहमति रखते हैं कि पूँजी लागतों को विचार में लेने में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में कोई भारी संशोधन करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु हमारी सम्मति में टॉजिग और वाइनर दोनों ही ने अन्य सब लागतों की उपेक्षा श्रम लागतों पर आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और पूँजी सम्बन्धी लागतों में वे केवल ब्याज-दर को ही गिनते हैं जबकि पूँजी की उपलब्धता, प्रतिस्थापन व्यय और पूँजी के प्रबन्ध से सम्बन्धित व्यय भी विचारणीय हैं।

सम्भवतः टॉजिग और वाइनर ही ऐसे विख्यात अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तज्ञ हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के 'वास्तविक लागत सिद्धान्त' (Real Cost Theory) से चिपके हुए हैं। यह लोग श्रम सम्बन्धी अरुचियों और विरति रहने की लागतों (Cost of abstinence) पर जोर देते हैं। जैसा कि प्रो० हैबरलर (Haberler) ने कहा है, "ये विद्वान यह मान कर चलते हैं कि सभी साधनों के प्रयोग में अनुपयोगिता उदय होती है और इनका पुरस्कार उस अनुपयोगिता (Disutility) के अनुपात में होता है अथवा सभी उद्योगों में विभिन्न प्रकार के श्रमों और अन्य साधनों (Inputs) का प्रयोग एक जैसे अनुपात में ही किया जाता है। ऐसी मान्यतायें वास्तविक संसार के तथ्यों से मेल नहीं रखती हैं।"[1]

अन्य लागतों को भी विचार में लेना—

बाद के विवेचनों में ऐसे घटकों पर भी, [जैसे—प्रति श्रमिक अश्व शक्ति की मात्रा, उत्पादकता एवं पूँजी, प्रबन्ध-कौशल, श्रमिक संघों का आचरण, कर प्रणा-

---

[1] "They assume that all inputs involve disutility and that their remuneration is proportionate to the disutility involved or that the different types of labour and other inputs are employed in approximately the same proportion by all industries These assumptions are far removed from the facts of the real world." —G Haberler : *A Survey of International Trade Theory*, p 13.

लियाँ, व्यावसायिक सस्था का आकार और बाह्य मितव्ययितायें], जो कि देशो और इनके पृथक्-पृथक् उद्योगो की सापेक्षिक प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति को निर्धारित करने मे सहायता करते हैं, बल दिया गया। उदाहरण के लिए, विभिन्न देशो के मजदूरी सम्बन्धी दरो के ढाँचो मे बडी भिन्नतायें देखी जाती हैं और यह भी देखा जाता है कि अमेरिका मे बढाये गये मूल्य (Value added) मे मजदूरियो का भाग केवल ४०% के लगभग है। इसके अतिरिक्त मजदूरियो से वेतनो का अनुपात बहुत विभिन्न देखा जाता है, जिसका यह अर्थ है कि प्रबन्ध, अनुसन्धान आदि बातो पर विभिन्न देशो मे समान महत्त्व नही दिया जाता। यह भी देखा गया है कि निर्माणी मजदूरियाँ निर्मित वस्तु के मूल्य का एक छोटा-सा भाग होती है, जिससे प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने हेतु विक्रय-लागतो (Selling costs) पर भी ध्यान देना आवश्यक हो जाता है।

(II) माँग का प्रभाव
(Influence of Demand)

अन्तर्राष्ट्रीय माँग का समीकरण (मिल)—

अभी तक हमने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त मे केवल लागतो की भूमिका का विचार किया था। अब हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रवाह पर माँग के प्रभाव का विवेचन करेगे। **जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill)** पहले अर्थशास्त्री थे जिन्होने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर माँग के प्रभाव का विस्तार सहित विश्लेषण किया। मिल ने व्यापार से होने वाले लाभ की मात्रा और उस अनुपात का, जिस पर विभिन्न देशो के मध्य वस्तुओ का व्यापार किया जायेगा, पता लगाने का यत्न किया। रिकार्डो के विश्लेषण मे इन प्रश्नो का उत्तर नही दिया गया था। उन्होने तो केवल उन सीमाओ को ही बताया था जिनके भीतर व्यापार की शर्तें तय होनी चाहिए। अर्थशास्त्र के प्रति मिल का एक सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होने यह स्पष्टता के साथ दिखाया कि व्यापार की शर्तें कैसे निर्धारित होती हैं। इस हेतु उन्होने 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का समीकरण' (Equation of International Trade) प्रस्तुत किया। किन्तु व्यापार से होने वाले लाभ का माप करने के लिए मिल ने 'व्यापार की शर्तों" के विचार का जिस तरह उपयोग किया उसकी कडी आलोचना हुई।

(III) एक व्यापक आधार का निर्माण
[माँग एवं पूर्ति दोनो पर एक साथ विचार करना]

सीनियर, टॉजिग और वाइनर ने तो रिकार्डो के विश्लेषण मे संशोधन करने के प्रयास किये थे किन्तु बाद के अर्थशास्त्रियो ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के लिये एक व्यापार आधार बनाने का यत्न किया। उन्होने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को मिल के माँग सम्बन्धी विश्लेषण से जोड दिया। इस दिशा मे सबसे नया विवेचन मार्शल का था, जिन्होने एक मिश्रित वस्तु (Composite Commodity) की, जिसे उन्होने 'गाँठ' (Bale) कहा, धारणा प्रचलित की। मार्शल का अनु-

सरण करते हुए एजवर्थ ने व्यापार से होने वाले लाभ के विश्लेषण को और आगे बढ़ाया तथा संरक्षण और व्यापार की शर्तों के बारे में बहुत कुछ बताया। लेकिन सबसे क्रान्तिकारी विवेचन ओहलिन ने प्रस्तुत किया।

(IV) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्या को सामान्य साम्य सिद्धान्त लागू करना

ओहलिन ने सभी सम्बन्ध घटकों को विचार में लेने का यत्न किया और ऐसा करते हुए उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारपर साधन सम्पत्ति सम्बन्धी अन्तरों (Differences in factor-endowments) के जो प्रभाव पड़ते हैं उन पर बल दिया। उनका तर्क यह था कि प्रत्येक देश ऐसे ही उद्योगों पर अपना प्रयत्न केन्द्रित करता है जो अपेक्षतः प्रचुर साधनों (Plentiful factors) को प्रयोग में लाते हैं। उन्होंने माँग की भूमिका पर भी विचार किया और बताया कि उत्पत्ति-साधनों के मूल्य (या पुरस्कार) माँग सम्बन्धी दशाओं पर निर्भर होते हैं। उदाहरणार्थ, वह देश, जहाँ प्रचुर और सस्ता श्रम उपलब्ध है, उन उद्योगों को चलायेगा, जो कि प्रचुर सस्ते श्रम का प्रयोग करते हैं। किन्तु साधन की कीमत कम होने से इसकी माँग में जो भारी वृद्धि होती है वह प्रचुरता वाले साधन (श्रम) की और ऐसे साधनों की कीमतों में, जो कि इसके पूरक हैं वृद्धि कर देगी। संक्षेप में, ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्या को सामान्य साम्य सिद्धान्त (General Equilibrium Theory) लागू किया है। हैबरलर ने सुगमता हेतु यह माना कि प्रत्येक देश में साधनों की एक निश्चित किन्तु विभिन्न मात्राओं में आपूर्ति होती है। तत्पश्चात् ओहलिन के समान उन्होंने उस ढंग को दिखाया, जिसमें साधन सम्पत्ति सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय भेद देशों के बीच व्यापार को सम्भव बनाते हैं। हैबरलर ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के वास्तविक लागत सिद्धान्त को मौद्रिक लागतों के सिद्धान्त से प्रतिस्थापित (Replace) कर दिया है। प्रस्तुत खण्ड के अगले अध्यायों में इन विभिन्न सिद्धान्तों का सविस्तार वर्णन किया गया है।

परीक्षा प्रश्न :

१. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का विकास किस तरह हुआ है? संक्षेप में समझाइये।

[Write a note on the development of the theory of international trade]

२. तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए और इसके सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये नवीनतम् विचारों को बताइये।

व्यापारवादी एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पूर्व सिद्धान्त

(Mercantilists and Earlier Theories of International Trade)

प्राचीन आर्थिक विचारधारा और व्यापार

आदिकालीन समाज मे आवश्यकताओ और सन्तुष्टि के मध्य असन्तुलन था। सभ्यता अपनी शिशु-अवस्था मे थी। आर्थिक कलापो के प्रति प्रभावपूर्ण प्रेरणाओ का अभाव था। यह तो केवल कबीली अर्थव्यवस्था (Tribal economy) के विकास की उच्चतम अवस्था मे ही था कि जनसख्या और उत्पादक योग्यता मे वृद्धि के फलस्वरूप श्रम विभाजन प्रगट हुआ और वस्तुएँ 'विनिमय' के लिए उत्पादित की जाने लगी। स्पष्टत जब आन्तरिक विनिमय ही अविकसित हो, तब अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का प्रश्न ही नही उठता। लेकिन सभ्यता जैसे-जैसे अधिक विकसित होती गई और आर्थिक प्रगति हुई आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी बढता गया।

(I) प्राचीन भारत और व्यापार—

भारतीय सस्कृति और सभ्यता विश्व मे सबसे प्राचीन है। वेद और उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थ, मनु और याज्ञवल्क्य सहिता, पाणिनी सूत्र, रामायण, महाभारत आदि से भारतीय समाज की आर्थिक प्रगति की झाँकी प्राप्त होती है। कहा जाता है कि जबकि विश्व के आधुनिक और प्रगतिशील पश्चिमी राष्ट्रो मे शताब्दियो पूर्व जगली जातियो का निवास था तब भारत मे सुसभ्य, प्रगतिशील एव धनी जातियाँ निवास करती थी। न केवल आन्तरिक व्यापार वरन् विदेशी व्यापार भी पर्याप्त विकसित अवस्था मे था। देश विदेश के व्यापारी भारत मे आते थे। भारतीय आर्थिक विचारको ने श्रम विभाजन के महत्त्व को समझ कर ही वर्ण व्यवस्था बनाई थी। उनकी दृष्टि मे आन्तरिक और विदेशी व्यापार राष्ट्र की सम्पत्ति और आय का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत था। किन्तु उनके आर्थिक विचारो पर आध्यात्मिक विचार छाये रहे।

(II) हिब्रू (यहूदी) आर्थिक विचारक एव व्यापार—

पाश्चात्य देशो म प्राचीन यहूदी समाज सबसे सगठित समाज था, जिसका विवरण प्राचीन बाइबिल के आदेश तथा अन्य धर्मोपदेशो से प्राप्त होता है। ओल्ड-

टेस्टामेंट के अनुसार प्रचुरता की दशा में व्यापार और वाणिज्य वांछनीय था। बादशाह सोलोमन के शासन काल में व्यापार की बहुत उन्नति हुई। उसका जहाजी बेड़ा दूर-दूर के देशों तक यात्रायें करता था। व्यापार को संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान करने हेतु उसने व्यापार-मार्गों पर भण्डार-नगरों (Store cities) का निर्माण कराया।

प्राचीन हिब्रू समाज में व्यापारिक नियम न्याय भावना से ओत प्रोत थे। उदाहरणार्थ, कानून द्वारा मिलावट और बेईमानी का निषेध था। सट्टा और एकाधिकार को अप्रोत्स हित किया जाता था। मध्यस्थों को बुरा समझा जाता था। खाद्य पदार्थों के संचय की अनुमति नहीं थी। इनके निर्यात का भी निषेध था। विक्रेताओं के लाभ को भी सीमित कर दिया गया था।

(III) यूनानी आर्थिक विचारक और व्यापार—

यूनानी समाज में श्रम विभाजन की प्रथा थी। प्लेटो के अनुसार मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये स्वयं में पूर्ण नहीं है और इस हेतु उसे दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। मनुष्य की तीन प्राथमिक आवश्यकतायें—भोजन, वस्त्र और मकान—हैं, जिनकी पूर्ति के लिये कृषक, बुनकर और कारीगर का कार्य अनिवार्य है तथा उनके बीच विनिमय की गति बनाये रखने के लिये व्यापारियों की श्रेणी भी आवश्यक है। प्लेटो (Plato) का विचार था कि सभी वस्तुयें अधिक मात्रा में, अधिक सरलता और सुन्दर ढङ्ग से तभी उत्पन्न होती हैं जबकि व्यक्ति उसी काम को करते हैं जो उनकी रुचि, स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल हो। किन्तु उसने श्रम विभाजन के सामाजिक पहलू पर विचार नहीं किया था और इसे अपने युग की एक तर्क-सङ्गत आर्थिक आवश्यकता मात्र समझा था। उसकी श्रम विभाजन सम्बन्धी विचारधाराओं ने एडम स्मिथ के श्रम विभाजन सम्बन्धी विचारों के लिये आधार-शिला का काम किया। जेनफन (Xenophon) ने भी श्रम विभाजन पर बहुत बल दिया। उन्होंने अपनी पुस्तक 'The Ways and Means to Increase the Revenue of Athens' में निर्धनता को दूर करने के उपायों में वाणिज्य व्यापार का विस्तार, विदेशियों के लिये सुविधायें, निर्यात के लिये सरकार द्वारा जहाज निर्माण आदि का उल्लेख किया है। उनके विचारों का भी व्यापारवादियों और प्रकृतिवादियों पर बहुत प्रभाव पड़ा।

(IV) रोमन आर्थिक विचारक और व्यापार—

रोमन विचारकों में सिसेरो (Cicero) अग्रणी है। उसने भी श्रम विभाजन के लाभ को दृष्टिगत रखते हुये श्रम विभाजन पर बल दिया। रोमन राज्य सङ्कट के समय व्यापारिक और आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करता था। बहुमूल्य धातुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध था।

मध्यकालीन आर्थिक विचार और व्यापार

मध्य युग के समाजों में आर्थिक कार्यकलाप की प्रगति ने अधिक गति प्राप्त

करली। पूंजीवाद का जन्म इसी युग मे हुआ। ग्रदल व्यवस्था भङ्ग हो चुकी थी तथा मुद्रा व्यवस्था ने जडे मजबूत कर ली थी। इस युग के विचारको ने श्रम विभाजन, विनिमय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विषय मे विस्तृत विचार प्रस्तुत किये। सेन्ट टॉमस एक्विनास (St Thomas Acquinas) ने श्रम विभाजन को तो स्वीकार किया, किन्तु अनिवार्य वस्तुओ के व्यापार को छोड कर शेष व्यापार को अप्राकृतिक बताया। अन्य लेखको (जैसे Oresme) ने व्यापार के विकास पर बहुत बल दिया।

व्यापारवादी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध मे व्यापारवादियो के विचार सबसे स्पष्ट थे। आधुनिक सिद्धान्त पर उनका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। स्वतन्त्र व्यापार के प्रबल समर्थक एडम स्मिथ की धारणायें अनेक बातो मे व्यापारवादियो की धारणाओ की प्रतिपूरक और विरोधी है। मध्ययुगीय विचारधारा के बाद जो आर्थिक विचार और नीतियाँ प्रचलित हुई उनको व्यापारवाद की सज्ञा दी गई, क्योकि इसमे राष्ट्र की आर्थिक शक्ति को बढाने के लिए वाणिज्य तथा विदेशी व्यापार जैसे साधनो पर बल दिया गया था। यह विचारधारा १६वी शताब्दी से लेकर १८वी शताब्दी के दूसरे भाग तक प्रचलित रही।

टॉमस मन (Thomas Mun) को इङ्गलैंड के व्यापारवादियो का प्रतिनिधि माना जा सकता है। वे अपने समय और देश मे व्यापार का अनुकूल सन्तुलन और व्यापाराधिक्य प्राप्त करने हेतु अपने देश के विदेशी व्यापार का नियमन कराना चाहते थे। इङ्गलैंड को सम्पन्न बनाने के लिए उनके व्यापारवादी विचारों की सक्षिप्त सूची निम्न प्रकार है —

(१) सभी देश, जिनके यहा सोने चाँदी की खान नही है, एक ही उपाय से धनी बनते हैं और वह उपाय है विदेशी व्यापार का अनुकूल व्यापाराधिक्य। उसने 'साधारण' और 'विशेष' व्यापाराधिक्यो मे भी भेद किया।

(२) इङ्गलैंड को चाहिए कि व्यापार के लिए एक मण्डी स्थापित करे, जिसमें इङ्गलैंड स्वय वितरण का केन्द्र बने तथा जहाजरानी और व्यापार द्वारा अधिक से अधिक लाभ कमाने की चेष्टा करे।

(३) विदेशो से आयात को कम करने के लिए परती भूमि पर कृषि की जाय और फैशन की वस्तुओ के आयात को विशेष रूप से कम किया जाय।

(४) देश के जहाजों मे ही माल का निर्यात किया जाय, जिससे विदेशी व्यापार के सभी लाभ प्राप्त हो सकें।

(५) कच्चे माल पर अत्यधिक कर न लगाये जायें, अन्यथा मूल्य-वृद्धि होने से विदेशो मे उसकी बिक्री बहुत कम हो जायेगी।

जैसा कि ऐरिक रॉल (Eric Roll) ने बताया है मन ने विदेशी व्यापार

की तुलना आधिक्य उत्पन्न करने के एक प्राचीन ढङ्ग से की है। विलियम पैटी (इङ्गलैंड) के अनुसार व्यापार का अन्तिम परिणाम साधारण सम्पत्ति का बाहुल्य होना नहीं वरन् सोना, चांदी और जवाहरात का बाहुल्य होना है। एक अन्य अग्रेज विचारक जोशिया चाइल्ड ने भी, जिनको ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार का अनुभव था, व्यापाराधिक्य के महत्त्व का सकेत किया। किन्तु विशेष-व्यापाराधिक्य के स्थान पर उन्होने साधारण व्यापाराधिक्यों की ओर ही अधिक ध्यान दिलाया। फ्रान्स के व्यापारवादी विचारक कोलबर्ट (Colbert) ने सभी आर्थिक कार्यों मे सरकारी हस्तक्षेप का प्रतिपादन किया। उनकी धारणा थी कि व्यापार का एकमात्र उद्देश्य विदेशी मुद्रा का अर्जन और राज्य की शक्ति को बढाना है। जीन बोडीन ने व्यापार की स्वतन्त्रता के पक्ष मे विचार प्रगट किये। रिचर्ड केण्टिलीन अनुकूल व्यापाराधिक्य के पक्ष मे थे। उनकी धारणा थी कि यह राज्य की आर्थिक शक्ति का प्रतीक है। उनका यह भी विश्वास था कि देश को कच्चे माल का आयात और निर्मित माल का निर्यात करना चाहिए। इटली के एन्टोनिओ सीरा राष्ट्र मे ऐसी कुशल और परिश्रमी जन सख्या के पक्ष मे थे, जो देशी और विदेशी व्यापार मे वृद्धि कर सके। मैकियावेली ने यह मत प्रगट किया कि आर्थिक क्रियाओ पर राज्य का पूरा नियन्त्रण होना चाहिए।

आस्ट्रिया के वॉन हॉर्निक (Von Hornick) ने यह मत प्रगट किया कि किसी देश की शक्ति और प्रभुत्व उस देश मे उपलब्ध सोने और चांदी तथा जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक या सुविधाजनक उन सब साधनो और वस्तुओं पर निर्भर है जिन्हे उस देश ने दूसरे देशो पर निर्भर न रहते हुये अपने ही साधनो से प्राप्त किया है। उसने बताया कि देश के सोने-चांदी को बाहर न जाने दिया जाय, देश की वस्तुओं से ही निर्वाह किया जाय यथासम्भव विदेशी वस्तुओ के उपयोग से बचा जाय, अनिवार्य आयातो को वस्तुओ के बदले मे ही मँगाया जाय, सोने-चांदी के बदले मे नही। विदेशो से आयात करने पर कच्चा माल ही मँगाया जाय। यदि कोई वस्तु देश मे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है (चाहे वह घटिया श्रेणी की हो), तो उसका आयात नही होना चाहिये।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सभी देशो के व्यापारवादी यह विश्वास करते थे कि सोना और चांदी ही देश की शक्ति का आधार है। जिन देशो के पास सोना चांदी की खानें नहीं हैं उन्हे ये बहुमूल्य धातुयें विदेशी व्यापार द्वारा प्राप्त करनी चाहिये। इस हेतु उन्होने अधिक से अधिक निर्यात और कम से कम आयात करने (अर्थात् अनुकूल व्यापाराधिक्य) पर बल दिया। जहाजरानी और मछली मारने को, जो विदेशी व्यापार मे सहायक थे, उच्च महत्त्व प्राप्त था। किन्तु निर्यात के लिए वही वस्तुयें उपयुक्त समझी जाती थी, जिनसे यातायात की ऊँची लागत वसूल हो जाय। अत. विदेशो को भेजने के लिए पक्का माल तैयार करने पर बल दिया गया। आयात को घटाने का समर्थन किया गया। राज्य को ऐसे नियम एव नियन्त्रण

स्थापित करने का अधिकार था, जिनसे कि देश के उद्योग और व्यापार की उन्नति हो तथा राष्ट्र के लिये अधिक से अधिक अनुकूल व्यापाराधिक्य सुलभ हो जाय। उपनिवेशों का विकास भी इस आधार पर करना था कि वे मुख्य राष्ट्र के उद्योगों के लिये कच्चे माल की पूर्ति करते रहें। कृषि के लिए संरक्षण देने का समर्थन किया गया, क्योंकि इससे खाद्यान्नों का आयात कम होता था।

व्यापारवादियों के विदेशी व्यापार सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन—

स्वीडन के अर्थशास्त्री हेक्सर (Heckscher) ने वणिकवाद को 'विदेशी वस्तुओं का भय' बताया है। उनकी यह आलोचना विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में बहुत सही है। व्यापारवाद की तत्कालीन परिस्थितियों में सोने-चाँदी जैसे बहुमूल्य पदार्थों को महत्त्व देना कुछ सीमा तक ही उचित ठहराया जा सकता है। अन्य शब्दों में, अल्पकालीन दृष्टि से सोने-चाँदी की प्राप्ति उचित कही जा सकती है। अतः व्यापारवादियों की त्रुटि यह थी कि उन्होंने इसे राष्ट्रीय नीति का स्थायी आधार बनाने का प्रयत्न किया। वास्तव में सोने-चाँदी के ऐसे संग्रह से क्या लाभ, जो देश की आर्थिक प्रगति में कोई ठोस सहायता न दे सके? आधुनिक अर्थशास्त्री सोने चाँदी के निजी अस्तित्व को इतना महत्त्व नहीं देते जितना कि उस उत्पादक आर्थिक व्यवस्था को, जिसमें कि सोने-चादी के प्रयोग से देश में वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन बढ़े और राष्ट्र की रक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ हो जाय।

विदेशी व्यापार द्वारा सोना-चाँदी प्राप्त करने का उद्देश्य कुछ दूषित है। विदेशी व्यापार का वास्तविक लाभ तो उपयोगिता को बढाने और राष्ट्र के लिये विभिन्न वस्तुयें प्राप्त कराने में है। यदि विश्व के सभी देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनुकूल व्यापाराधिक्य और सोने-चाँदी की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनायें, तो विश्व-अर्थ-व्यवस्था का संचालन कठिन हो जाय। वास्तव में, व्यापारवादियों के विचार राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था तक ही सीमित थे, उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का विचार नहीं रखा था।

व्यापारवादी विचारधारा और तत्सम्बन्धी नीतियों की प्रतिक्रिया के रूप में ही प्रकृतिवाद (Physiocracy) का जन्म हुआ, जिसने स्वतन्त्र व्यापार पर बल दिया और देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को उपयोगी बताया।

उपसंहार—आधुनिक युग में व्यापारवादी प्रभाव

कई आधुनिक प्रगतिशील देशों में व्यापारवादी नीतियों का सक्रिय अनुसरण किया गया है। उदाहरणार्थ, विश्व मन्दी के युग में देशों ने स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त को छोड़कर संरक्षण की नीति अपनाई। आज कल हम यह देखते हैं कि आर्थिक क्षेत्र में (विशेषतः विदेशी व्यापार में) सरकारों का हस्तक्षेप बहुत बढ़ गया है। प्रत्येक देश अपने स्वर्ण कोष सुरक्षित रखने के लिये प्रयत्नशील है, और इस हेतु वह अनुकूल व्यापाराधिक्य पर बल देता है। अतः निर्यात-उत्पादकों को विशेष प्रोत्सा-

रख दिये जा रहे है। हाँ, यह अवश्य है कि अब तक राष्ट्रीय नीति को शेष विश्व से पृथक् रूप में संचालित न करके अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय दोनों हितों के अपूर्व समायोजन के साथ संचालित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

परीक्षा प्रश्न :

१ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के वाणिज्यवादी एवं अन्य पूर्व सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

[Give an account of mercantilists and earlier theories of international trade]

२ वर्तमान भारतीय अर्थ व्यवस्था के सदर्भ में एक अप्रतिबंधित आयातों वाली नीति के परिणामों की समीक्षा कीजिए।

[Examine the consequences of a policy of unrestricted imports in context of the present day Indian economy]

३ विदेशी व्यापार के व्यापारवादी सिद्धान्त के प्रमुख तत्वों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए। इसकी परिसीमाओं के बावजूद क्या यह वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का पुनर्कथन करने के लिए एक उपयुक्त ढांचा प्रदान करता है ?

[Critically examine the main elements of the mercantilist theory of foreign trade Despite their limitations do they provide a framework for restating the theory of international trade today ?] (इलाहा०, एम० १९६९)

७

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त का उदय (एडम स्मिथ के विचार)

(The Origins of Classical Theory of International Trade. The Views of Adam Smith)

परिचय—

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त स्वतन्त्र व्यापार और संरक्षणवाद के वाद-विवाद से सम्बन्धित रहा है और सच तो यह है कि इसका विकास स्वतन्त्र व्यापार के समर्थन मे ही किया गया था।

एडम स्मिथ द्वारा सरकार के हस्तक्षेप का विरोध
(Smith's Assault upon Government Interference)

आर्थिक प्रसाधनो के प्रयोग के सम्बन्ध मे सरकारी हस्तक्षेप की नीति पर प्रबल आक्रमण करके एडम स्मिथ ने व्यापारवाद की आने वाली मृत्यु की पूर्व-घोषणा कर दी। 'वैल्थ ऑफ नेशन्स' (Wealth of Nations) मे उन्होंने लिखा था कि किस उद्योग मे पूँजी लगाई जाय और किस मे नही, इसका निर्णय प्रत्येक व्यक्ति अपनी 'स्थानीय परिस्थिति' के सन्दर्भ मे जितना अच्छी तरह से कर सकता है उतना एक राजनीतिज्ञ या शासक के लिये कदापि सम्भव नही है, चाहे यह राजनीतिज्ञ या शासक एक कौन्सिल या सीनेट ही क्यो न हो। यदि वह निर्णय के अधिकार को अपने हाथ मे ले लेता है, तो न केवल उस पर अनावश्यक व्यस्तता का भार बढ जायेगा वरन् अधिकार का दुरुपयोग भी किया जा सकता है।[1]

इसके बाद उन्होंने यह बताया कि आन्तरिक बाजार मे गृह उद्योग को

---

[1] "The statesman, who should attempt to direct private people in what manner they ought to employ their capitals, would not only load himself with a most unnecessary attention, but assume an authority which could safely be trusted, not only to no single person, but to no council or senate whatever, and which would nowhere be so dangerous as in the hands of a man who had folly and presumption enough to fancy himself fit to exercise it."—Adam Smith : *Wealth of Nations*, p 423.

उत्पत्ति को एकाधिकार देने का अर्थ कुछ सीमा तक प्राइवेट व्यक्तियों को यह निर्देश देना है कि वे अपनी पूँजियाँ किस तरीके से प्रयोग में लायें। किन्तु ऐसे निर्देश या नियम बेकार हैं और हानिकारक भी प्रमाणित हो सकते है। जब विदेश में कोई वस्तु उतनी ही सस्ती खरीदी जा सकती है जितनी कि स्वदेश से, तब प्रतिबन्ध लगाने वाला नियम स्पष्टतः व्यर्थ है और जब वस्तु विदेश से उतनी सस्ती नहीं खरीदी जा सकती है, तब नियम सामान्यतः हानिप्रद होता है। प्रत्येक विवेकशील परिवार स्वामी का यह निश्चित सिद्धान्त होता है कि वह अपने घर पर ऐसी वस्तु बनाने का प्रयास कभी न करे, जिस पर बाहर से क्रय करने की अपेक्षा अधिक व्यय आये। अतः एक दर्जी अपने लिए जूते स्वयं कभी नहीं बनाता किन्तु मोची से खरीदता है। मोची भी अपने लिए कपड़े स्वयं नहीं बनाता वरन् दर्जी की सेवायें लेता है। एक कृषक न तो कपड़े बनाता है और न जूते, वरन् वह दर्जी और मोची की सेवाओं का उपयोग करता है। ये सब व्यक्ति अपने-अपने साधनों का ऐसे तरीके से प्रयोग करने में अपना हित अनुभव करते हैं जिसमें उन्हें अपने पड़ोसियों की तुलना में कुछ विशेष लाभ हो और फिर अपनी उत्पत्ति के एक अंश के बदले में दूसरों से अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर लेते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन की महत्ता पर जोर
(Stress on the Significance of International Division of Labour)

एडम स्मिथ ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन की महत्ता पर निम्न शब्दों में प्रकाश डाला है—"प्रत्येक प्राइवेट परिवार के आचरण में जो बातें बुद्धिमत्तापूर्ण हैं वह एक विशाल देश के आचरण में कठिनता से ही मूर्खतापूर्ण हो सकती है। यदि एक विदेशी देश हमें कोई वस्तु उससे सस्ती दे सकता है जो कि हम स्वयं बनाते है, तो उससे ऐसी वस्तु को हमें अपने निजी उद्योग की, जिसमें हमें कुछ विशेष लाभ है, उपज के कुछ भाग के बदले में खरीद लेना चाहिए। विशेष वस्तुओं के उत्पादन में एक देश की अपेक्षा दूसरे देश को जो प्राकृतिक लाभ प्राप्त होते हैं वे कभी कभी इतने अधिक होते हैं कि समस्त विश्व यह स्वीकार करता है कि इनसे लड़ना व्यर्थ है।"[1] उदाहरणार्थ, व्ययपूर्ण तकनीकों द्वारा स्कॉटलैंड में बहुत बढ़िया अंगूर उत्पन्न

1 "What is prudence in the conduct of every private family, can scarcely be folly in that of a great kingdom If a foreign country can supply us with a commodity cheaper than we overselves can make it, better buy it of them with some part of the produce of our own industry, employed in a way in which we have some knowledge The natural advantages which one country has over another in producing particular commodities are sometimes so great that it is acknowledged by all the world to be in vain to struggle with them"—*Ibid*, p 426.

किये जा सकते है और इनसे बहुत बढ़िया शराब भी तैयार की जा सकती है किन्तु इसमे विदेशों से उतनी ही अच्छी शराब मगाने की अपेक्षा तीस गुना व्यय होगा। तब क्या केवल इसलिए कि स्काटलैण्ड म क्लैरट और बरगडी के निर्माण को प्रोत्साहन मिले समस्त विदेशी शरावो के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने वाला कानून उचित कहलायगा ?

श्रम विभाजन के विस्तार के लिए स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन

(Smith's Support of Free Trade as Promoting the Divison of Labour)

स्मिथ का श्रम विभाजन सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रगतिशील है क्योंकि श्रम विभाजन की महत्ता पर बल देते हुए उसने यह दिखाया कि इससे आय म भी वृद्धि हो जाती है। चूंकि स्वतन्त्र व्यापार प्रत्येक देश को केवल उन वस्तुओ के उत्पादन पर ही, जिन्हे वह बहुत सस्ती बना सकता है ध्यान केन्द्रित करने के लिए प्रेरित करता है, इसलिए वह श्रम विभाजन के विस्तार मे (और इसके द्वारा आय की वृद्धि) मे सहायक होता है। अत उसने स्वतन्त्र व्यापार का भरपूर समर्थन किया। इस सम्बन्ध मे उसके अपने शब्द उल्लेखनीय है और इस प्रकार है— जब सिपाहियो और नौ सैनिको को सम्राट की सेवा से पृथक कर दिया जाता है, तो व किसी भी स्थान मे कोई भी धन्धा करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। इसी प्रकार की प्राकृतिक स्वतन्त्रता यह निर्णय करने के सम्बन्ध मे कि कौन सा उद्योग करें, सम्राट की समस्त प्रजा को लौटा देनी चाहिए। अर्थात् कारपोरेशनो के एकाधिकारो को भग कर दिया जाय एव शिष्यत्व सम्बन्धी विधान को भी रद्द कर दिया जाय क्योकि ये दोनो नियम प्राकृतिक स्वतन्त्रता पर रोक लगाते हैं। नया धन्धा तलाश करने के सम्बन्ध म जो प्रतिबन्धक कानून बने हुए है उन्हे भी रद्द कर देना चाहिए, जिससे कि एक निर्धन कारीगर किसी एक रोजगार या स्थान म बेकार होने पर किसी अन्य रोजगार या स्थान मे निर्भय होकर काम कर सके।"[1]

---

[1] "Soldiers and seamen indeed when discharged from the king's service, are at liberty to exercise any trade, within any town or place of Great Britain or Ireland Let the same natural liberty of exercising what species of industry they please, be restored to all His Majesty's subjects, in the same manner as to soldiers and seamen, that is break down the exclusive privileges of corporations and repeal the statute of apprenticeship, both of which are real encroachments upon natural liberty, and *add to these the repeal of the law of settlements so that a* poor workman, when thrown out of employment either in one trade or in one place, may seek for it in another trade or in another place without the fear either of a prosecution or of removal, and neither the public nor the individuals will suffer much more than those who defend it with their blood, nor deserve to be treated with more delicacy"—*Ibid*, p 437.

स्वतन्त्र व्यापार के अपवाद
(Exceptions to Free Trade)

कई प्रश्नों पर स्मिथ के विचार बहुत आधुनिक जंचते है। उदाहरणार्थ संरक्षण के पक्ष में सुरक्षा के तर्क को स्वीकार करता है।[1] इसके अतिरिक्त स्मिथ ने यह भी स्वीकार किया है कि विदेशों को व्यापार विषयक उदार नीति पर चलाने हेतु प्रतिशोधात्मक ड्यूटी (Retaliatory duties) का प्रयोग किया जा सकता है।[2]

प्रतिबन्धों को शनै शनै हटाना
(Gradual Removal of Restrictions)

जब किसी देश में (जैसा कि इङ्गलैंड में था) विदेशी वस्तुओं के स्वतन्त्र आयात पर एक दीर्घ अवधि से प्रतिबन्ध लगे हुए हो, तब यह विचार करने की बात है कि स्वतन्त्र व्यापार की पुन स्थापना किस सीमा तक अथवा किस तरीके से की जाय। सरक्षित उद्योगों का इतना विकास हो जाता है कि उनमे हज़ारों-लाखों

---

1 "There seem, however, to be two cases in which it will generally be advantageous to lay some burden upon foreign, for the encouragement of domestic industry The first is, when, some particular sort of industry is necessary for the defence of the country The defence of Great Britain for example, depends very much upon the number of its sailors and shipping. The act of navigation, therefore, very properly endeavours to give the sailors and shipping of Great Britain the monopoly of the trade of their own country, in some cases, by absolute prohibitions, and in others by heavy burdens upon the shipping of foreign countries .. .."—*Ibid*, p 429.

2 'The second case, in which it will generally be advantageous to lay some burden upon foreign for the encouragement of domestic industry, is, when some tax is imposed at home upon the produce of the latter In this case, it seems reasonable that an equal tax should be imposed upon the like produce of the former . ...The case in which it may sometimes be a matter of deliberation how far it is proper to continue the free importation of certain foreign goods, is, when some foreign nation, restrains by high duties or prohibitions the importation of some of our manufactures into their country. Revenge in this case naturally dictates retaliation . ....There may be a good policy in retaliations of this kind, when there is a probability that they will procure the repeal of the high duties or prohibitions complained of"—*Ibid*, pp. 432-34.

श्रमिक काम पर लग जाते हैं। ऐसी दशा में मानवता का तकाजा है कि व्यापार की स्वतन्त्रता शनै शनै स्थापित की जाय। यदि ऊँचे कर और कठोर निषेधादेश अचानक ही समाप्त कर दिये गये, तो सस्ती विदेशी वस्तु गृह बाजार में इतनी तेजी से आ जायेगी कि सम्बन्धित देशी उद्योग सकट में पड़ जाये और लाखो मजदूरो की जीविका छिन जाये। इस प्रकार, एडम स्मिथ ने एक स्वतन्त्र व्यवस्था में समायोजन की आवश्यकता पर पर्याप्त बल दिया। किन्तु वे समायोजन की जटिलता को पूर्णरूप से नहीं देख सके।[1]

निहित स्वार्थ एव सरक्षण
(Vested Interests and Protection)

लगातार सरक्षण मिलते रहने से उद्योग धन्धो में निहित स्वार्थ स्थापित हो जाते हैं, और भविष्य में जब कभी सरक्षण को समाप्त करने की चर्चा चलती है तो वे इसके विरोध में सगठित हो जाते हैं। यहाँ तक कि वे अपनी धन सम्पत्ति और राजनैतिक शक्ति के प्रयोग द्वारा विधायको को डराने की चेष्टा करते हैं, जिससे कि सरक्षण विरोधी कानून पास न हो सके। इस सम्बन्ध में स्मिथ का कहना है कि

---

[1] "The case in which it may sometimes be a matter of deliberation, how far, or in what manner, it is proper to restore the free importation of foreign goods, after it has been for sometime interrupted, is, when particular manufactures, by means of high duties or prohibition upon all foreign goods which can come into competition whith them, have been so far extended as to employ a great multitudes of hands. Humanity may in this case require that the freedom of trade should be restored only by slow gradations, and with a good deal of reserve and circumspection Were those high duties and prohibition taken away all at once, cheaper foreign goods of the same kind might be poured so fast into the home market as to deprive all at once many thousands of our people, of their ordinary employment and means of subsistence The disorder which this would occasion might no doubt be very considerable It would in all probability however, be much less than is commonly imagined for the following two reasons : First all those manufactures, of which any part is commonly exported to other European countries without a bounty could be every little affected by the freest importation of foreign goods . . . Secondly, though a great number of people should, by thus restoring the freedom of trade, be thrown all at once out of their ordinary employment and common method of subsistence, it would by no means follow that they would thereby be deprived either of employment or subsistence"—*Ibid*, pp 435-36.

विधान सभा का सामान्य हित (General good) सम्बन्धी विस्तृत दृष्टिकोण अप नाना चाहिए। कम से कम इतना तो आवश्यक ही है कि वह नये एकाधिकार स्थापित न करे तथा पुराने एकाधिकारो को मजबूत न बनावे अन्यथा भविष्य मे इन पर अकुश लगाना कठिन हो जायगा।[1]

यातायात व्यय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(Transportation Cost and International Trade)

स्मिथ ने यह माना है कि यातायात व्यय व्यापार को घटाते हैं। अत उन्होंने यह तर्क दिया कि सरक्षण से निर्माताओं को कृषकों की तुलना मे अधिक लाभ होता है। कृषि पदार्थ भारी होने के कारण अधिक व्यय पर ही स्थानान्तरित किये जा सकते है। चूँकि कृषि पदार्थों के यातायात व्यय ऊँचे होते हैं, इसलिए वे आयातो के मार्ग मे प्राकृतिक बाधाओ का कार्य करते हैं, जिससे फिर कृषि की रक्षा के लिए टेरिफ लगाने की आवश्यकता कम हो जाती है।[2]

---

1 This monopoly has so much increased the number of some particular tribes of them that, like an over-grown standing army, they have become formidable to the government, and upon many occasions intimidate the legislature The legislature, were it possible that its deliberations could be always directed not by the clamorous importunity of partial interests, but by an extensive view of the general good, ought upon this very account, perhaps, to be particularly careful neither to establish any new monopolies of this kind nor to extend further those which are already established Every such regulation introduces some degree of real disorder into the constitution of the state, which it will be difficult afterwards to cure without occasioning another disorder"—*Ibid* p 436

2 "Manufactures, those of the finer kind especially, are more easily transported from one country to another than corn or cattle It is in the fetching and carrying manufactures, accordingly, that foreign trade is chiefly employed In manufactures, a very small advantage will enable foreigners to undersell our own workmen, even in the home market It will require a very great one to enable them to do so in the rude produce of the soil If the free importation of foreign manufactures were permitted, several of the home manufactures would probably suffer and some of them perhaps go to ruin altogether But the freest importation of the rude produce of the soil could have no such effect upon the agriculture of the country"

—*Ibid*, p 426.

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में निरपेक्ष लागतों पर बल देना

'विषय प्रवेश' सम्बन्धी खण्ड में हमने यह स्थापित किया था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के एक पृथक अध्ययन की आवश्यकता है। अब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है? विभिन्न समयों पर विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इसके भिन्न-भिन्न उत्तर प्रस्तुत किये। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में लागत भिन्नताओं का सिद्धान्त (Doctrine of Cost Differences) बताया। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों में यह सिद्धान्त एडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो के नाम से बहुत सम्बन्धित रहा है। एक अगले अध्याय में हमने डेविड रिकार्डो के योगदान की विशद चर्चा की है। यहाँ पर हम केवल एडम स्मिथ के दृष्टिकोण पर विचार करेंगे।

एडम स्मिथ के दृष्टिकोण की विशेषतायें—

एडम स्मिथ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी दृष्टिकोण को समझने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है —

(१) श्रम मूल्य सिद्धान्त का प्रयोग— एडम स्मिथ ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) को अपनाते हुए वस्तु की एक इकाई के उत्पन्न करने में लगे हुए श्रम की मात्रा पर बल दिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुयें एक दूसरे से, अपने में निहित श्रम की सापेक्षिक मात्राओं के अनुसार, विनिमय की जाती हैं। अर्थात् समान मूल्य वाली वस्तुओं में श्रम की समान मात्राएँ होती हैं। उन्होंने यह मान लिया था कि यद्यपि लागतों को विभिन्न प्रकार के घटक प्रभावित करते हैं तथापि उत्पादन सुविधा (Production advantage) मुख्यतः श्रम पक्ष से ही उदय होती है। एडम स्मिथ ने निम्न विख्यात उदाहरण दिया—"यदि शिकारियों के किसी देश में समान मात्रा में श्रम व्यय करके व्यक्ति या तो एक ऊदबिलाव मार सकता है या दो हिरन तो यह स्वाभाविक है कि एक ऊदबिलाव का विनिमय दो हिरनों से किया जायगा।"[1] यदि उक्त अनुपात बदल जाय (मान लीजिये कि एक ऊदबिलाव तीन हिरनों से विनिमय किया जाने लगे), तो इस परिवर्तित अनुपात का लाभ उठाने की इच्छा से अधिक लोग अधिक संख्या में ऊदबिलावों को मारने पर ध्यान केन्द्रित करेंगे, जिससे ऊदबिलावों की पूर्ति तो बढ़ जायेगी किन्तु हिरनों की पूर्ति घट जायेगी और फलस्वरूप विनिमय अनुपात हिरनों के पक्ष में और ऊदबिलावों के विपक्ष में बदलने लगेगा तथा अन्ततः मूल अनुपात (Original ratio) पुनः प्रचलित हो जायगा।

---

1 "If among a nation of hunters for example, it usually costs twice the labour to kill a beaver which it does to kill a deer, one beaver should naturally exchange for or be worth two deer." —Adam Smith : *Wealth of Nations*, p 37.

इस प्रकार विनिमय अनुपात या मूल्य केवल सापेक्षिक श्रम लागतों से ही माँग और पूर्ति पर इनके प्रभाव द्वारा निर्धारित होते हैं। जैसा कि हम अगले अध्याय में देखेंगे, श्रम मूल्य सिद्धान्त वास्तविकता से कोसों दूर है। यह केवल निम्न मान्यताओं के आधीन ही सत्य हो सकता है — (i) कि समस्त श्रम एक ही गुण वाला है, (ii) कि प्रत्येक धन्धा सभी के लिए खुला है, (iii) कि श्रम ही उत्पत्ति का एक मात्र गतिशील साधन है, एवं (iv) श्रमिकों में स्वतन्त्र प्रतियोगिता होती है। वास्तविक जगत में इनमें से कुछ मान्यतायें तो कभी भी सत्य नहीं होती हैं और कुछ मान्यतायें सदा सत्य नहीं होती हैं, जिस कारण श्रम मूल्य सिद्धान्त वैध नहीं रहता।

(२) देशों के मध्य श्रम को प्रगतिशील और एक ही देश के अन्दर श्रम को गतिशील समझना—स्मिथ ने श्रम को, जो कि उत्पादन लागतों को निर्धारित करने वाला एक मात्र घटक है, एक ही देश के अन्दर तो गतिशील किन्तु देशों के मध्य प्रगतिशील मान लिया। इस प्रकार, एक देश विशेष के अन्दर श्रम-साधन विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों के मध्य सम सीमान्त रूप से (Equi marginally) वितरित हो जाता है, जिससे कि प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र में उसकी सीमान्त उत्पत्ति व्यय किये गये श्रम-घण्टों की संख्या के बराबर होती है। किन्तु चूँकि देशों के मध्य श्रम पूर्णतः प्रगतिशील (Immobile) होता है, इसलिए वह एक उद्योग से दूसरे उद्योग को (यदि दोनों उद्योग विभिन्न देशों में स्थापित हों) आ-जा नहीं सकता। इस प्रकार बंद अर्थ-व्यवस्थाओं (Closed economies) में अर्थात्, उन देशों में जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रचलित नहीं है, इस अद्वितीय प्रसाधन (अर्थात् श्रम) के वितरण में कुसमायोजन (Mal adjustments) उत्पन्न हो जाते हैं। इनसे वस्तुओं के रूप में प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि कम हो जायगी, क्योंकि श्रम की गतिहीनता सम्पूर्ण विश्व में अधिकतम श्रम विभाजन सम्भव नहीं बनने देती है। स्पष्टतः श्रम के वितरण में अपूर्णता का अर्थ है अधिकतम से कम मात्रा में उत्पत्ति होना। सौभाग्य से श्रम की गतिहीनता विश्व-सन्तुष्टि के अधिकतम होने में बाधक बनती आवश्यक नहीं है, बशर्ते कि वस्तुएं जिनमें श्रम निहित होता है, स्वतन्त्रतापूर्वक विनिमय की जाये। अन्य शब्दों में, वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

(३) लागत भिन्नताओं का सिद्धान्त—उपरोक्त मान्यता की दशा में उन वस्तुओं का जिनका अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय किया जा सकता है, चुनाव करने की समस्या उदय होती है। स्मिथ ने इसका उत्तर लागत भिन्नताओं के सिद्धान्त' (Doctrine of Cost Differences) द्वारा दिया।

(४) केवल दो देशों और दो वस्तुओं पर विचार—एडम स्मिथ ने (और आगे चल कर रिकार्डो ने भी) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के स्पष्टीकरण की सुगमता के लिए एक ऐसा मॉडल (Model) चुना, जिसमें केवल दो ही देश और दो ही वस्तुयें हैं। क्या एक देश एक दी हुई वस्तु के उत्पादन में अन्य देश

की अपेक्षा कोई विशेष लाभ (Special advantage) रखता है और यदि रखता है, तो किस सीमा तक, इसका निर्णय उस वस्तु की एक इकाई का उत्पादन करने मे दोनो देशो की लागतो के मध्य भिन्नता द्वारा होता है। ऐसी परिस्थिति मे, यदि दोनो देशो मे से प्रत्येक एक वस्तु को, अन्य देश की अपेक्षा, निरपेक्ष रूप से कम *उत्पादन-श्रम-लागत'* (*Absolutely lower labour cost of production*) पर उत्पन्न कर सकता है, तो वस्तुओ का विनिमय किया जायेगा।

उदाहरण के लिए, मान लें कि 'अ' देश 'क' वस्तु की एक इकाई १० और 'ख' वस्तु की एक इकाई २० श्रम-इकाइयों की सहायता से उत्पन्न कर सकता है जबकि 'ब' देश को 'क' और 'ख' वस्तुओ की एक-एक इकाई उत्पन्न करने मे क्रमश. २० और १० श्रम इकाइयाँ प्रयोग करनी पड़ती हैं।

श्रम-लागत संरचना की तुलना

वस्तु	अ देश मे उत्पादन लागत (*श्रम इकाइयाँ*)	ब देश मे उत्पादन-लागत (*श्रम इकाइयाँ*)
'क' वस्तु की एक इकाई	१०	२०
'ख' वस्तु की एक इकाई	२०	१०

उपरोक्त परिस्थिति मे, अ देश क वस्तु के उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त करेगा, *क्योंकि इसमे ही उसे निरपेक्ष लागत लाभ* (*Absolute cost advantage*) *प्राप्त है, किन्तु ब देश ख वस्तु के उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त करेगा, क्योंकि* उसे इसी वस्तु मे निरपेक्ष लागत लाभ है। बाद मे वे इन्हे परस्पर विनिमय कर लेंगे और इस क्रिया के फलस्वरूप, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के विस्तार द्वारा *लाभ उठायेंगे। अन्य शब्दो में कुल उत्पत्ति मे वृद्धि हो जायेगी।* [*उपरोक्त तालिका* में जिस परिस्थिति को प्रस्तुत किया गया है उसे 'लागतो को निरपेक्ष अन्तर' (Absolute Difference in Costs) कहते है, क्योंकि प्रत्येक देश एक वस्तु दूसरे देश की *अपेक्षा निरपेक्ष रूप से कम लागत पर बना सकता है।*]

वास्तविक जगत मे हम यह देखते हैं कि विश्व व्यापार का एक बड़ा भाग लागत सम्बन्धी निरपेक्ष अन्तर पर ही आधारित है। इस विषय मे हमारा ध्यान तुरन्त ही उष्ण और समशीतोष्ण क्षेत्रो के मध्य होने वाले व्यापार पर जाता है। हम 'वास्तविक लागत' सम्बन्धी धारणा की कुछ भी व्याख्या क्यों न करें, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उष्ण कटिबन्धीय उपज समशीतोष्ण देशो में प्रथम तो उत्पन्न ही नहीं की जा सकती और यदि किसी प्रकार उन्हे वहाँ उत्पन्न करना सम्भव हो भी, तो बहुत अधिक लागत पर ही उत्पन्न की जा सकेंगी। यही बात उर्वरा *भूमियों वाले कृषक देशो और कोयला एवं लोहे की खानो वाले औद्योगिक देशो के*

बारे में देखी जाती है। इन परिस्थितियों में, सरलता से यह देखा जा सकता है कि विशिष्टीकरण और व्यापार के फलस्वरूप विश्व-उत्पादन तथा विश्व आय यथेष्ठ मात्रा से बढ़ जाती है। अंगूरों और शराब के उत्पादन के उदाहरण द्वारा एडम स्मिथ ने यह दर्शाया कि अपेक्षत कम पूँजी और कम श्रम के प्रयोग की आवश्यकता वाली वस्तुओं के बदले में अंगूरों का आयात न करते हुए यदि स्काटलैण्ड में ही अंगूर उत्पन्न किया गया तो इस देश को बड़ी हानि उठानी पड़ेगी।

परीक्षा प्रश्न :

१ एडमस्मिथ द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त का विवेचन कीजिये।

[Discuss the classical theory of international trade with particular reference to Adam Smith]

२ 'श्रम-विभाजन' और 'स्वतन्त्र व्यापार' के समर्थन में तर्क दीजिये।

[Give arguments to support "division of labour" and "freedom of trade"]

३ 'आधुनिक विश्व में देशों के मध्य व्यापार के उदय का एक मात्र कारण लागतों का निरपेक्ष अन्तर है।' इस कथन की सावधानी से समीक्षा कीजिये।

["Absolute Difference in Costs alone give rise to the phenomenon of trade between countries of the present day world." Examine this statement carefully]

८

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त
(रिकार्डो का दृष्टिकोण)
(The Theory of Comparative Costs)

परिचय—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त क्या है ?

जबकि एडम स्मिथ ने निरपेक्ष लाभ (Absolute advantage) को अधिक महत्त्व दिया, तब डैविड रिकार्डो (David Ricardo) ने तुलनात्मक लाभ (Comparative advantage) पर अधिक बल दिया। यद्यपि विश्व के व्यापार का एक बड़ा भाग लागतो मे निरपेक्ष अन्तर पर आधारित है, जिससे एडम स्मिथ ने ठीक ही इसे एक सामान्य प्रचलित दशा माना, तथापि रिकार्डो इसे एक सामान्य प्रचलित दशा स्वीकार नही करते। वे इस स्थिति को कम प्रचलित मानते हुये अपने सिद्धान्त का विवेचन एक अन्य स्थिति से, जो उनकी सम्मति मे बहुत प्रचलित है, प्रारम्भ करते हैं। उन्होने अनुभव किया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कम अनुकूल परिस्थितियो मे भी लाभ सहित किया जा सकता है। उनकी यह मान्यता थी कि उस दशा मे भी, जिसमे कि एक देश को दोनो ही वस्तुओ के उत्पादन मे अन्य देश की अपेक्षा एक निरपेक्ष लागत लाभ प्राप्त है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनो ही देशो के लिये लाभप्रद हो सकता है, बशर्ते कि प्रथम देश सबसे अधिक लाभदायक वस्तु के उत्पादन पर ध्यान केन्द्रित करे और दूसरी वस्तु के उत्पादन का कार्य अन्य देश पर छोड दे। यह नियम ही तुलनात्मक लागत सिद्धान्त' कहलाता है।

यद्यपि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पर रॉबर्ट टौरेन्स (Robert Torrens) ने भी, किन्तु कम प्रभावपूर्ण ढङ्ग से, विचार किया था, तथापि रिकार्डो को ही इस सिद्धान्त का वास्तविक प्रणेता माना जाता है। प्रो० हैबरलर (Haverler) ने यह दिखा दिया है कि रिकार्डो के सिद्धान्त के लगभग प्रत्येक भाग पर इनके पूर्ववर्त्तियो ने कुछ न कुछ विचार किया था, किन्तु एडम स्मिथ के सदृश्य रिकार्डो की अतुलनीय प्रतिभा विभाजित सत्यो को एक समन्वित और व्यापक सत्य मे परिणित करने के

महान् कार्य में संलग्न हुई।[1] हैरिस के अनुसार, निरपेक्ष लाभ के बजाय सापेक्षिक लाभ पर बल देना ही, एडम् स्मिथ की तुलना में रिकार्डो की महानता का सूचक है।[2]

रिकार्डो के सिद्धान्त की मान्यतायें

सुगमता की दृष्टि से रिकार्डो ने भी दो देशों और दो वस्तुओं वाला मॉडल चुना। उन्होंने पुर्तगाल और इङ्गलैंड को लिया तथा कपड़ा और शराब यह दो वस्तुयें ली। सरलता की दृष्टि से ही उन्होंने समस्त लागतों को श्रम-घन्टों (Hours of labour) में मापा। एडम स्मिथ की भाँति-उन्होंने यह माना कि श्रम एक ही देश के विभिन्न भागों के मध्य तो पूर्ण गतिशील है, किन्तु देशों के मध्य पूर्ण गतिहीन। उन्होंने यातायात व्ययों को विचार में नहीं लिया। उन्होंने यह माना कि प्रत्येक वस्तु की वास्तविक उत्पादन लागत प्रत्येक देश में स्थिर (Constant) रहती है। हाँ, मिट्टी, जलवायु, कृषि एवं खनिज-प्रसाधनों की भिन्नतायें दोनों देशों में विभिन्न वस्तुओं की सापेक्षिक लागत में अनेक भिन्नतायें उत्पन्न कर सकती हैं। विभिन्न धन्धों से सम्बन्धित कौशल और पूँजी की मात्राओं में, जिनकी आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति के श्रम को सफल बनाने के लिये होती है, अन्तरों की उपेक्षा कर दी गई है अथवा यों कह सकते हैं कि विभिन्न प्रकार के श्रमों या पूँजी स्टॉकों के मूल्य एक प्रमाप कुशलता वाले श्रम के मूल्य के सदर्भ में व्यक्त किये गये हैं। अतः किसी भी देश में वस्तु की वास्तविक उत्पादन लागत उस देश के एक प्रमाप कुशलता वाले श्रम की मात्रा के समानुपात में होती है। चूँकि यातायात निशुल्क किया जाता है, इसलिए दोनों देशों में विभिन्न वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्य (Relative values) सामान्यतः एक ही रहेंगे अर्थात् यदि दो इकाई कपड़े का मूल्य इङ्गलैंड में १ इकाई शराब के मूल्य के बराबर है, तो पुर्तगाल में भी २ इकाई कपड़े का मूल्य १ इकाई शराब के बराबर ही होगा।[3]

---

1 "Prof. Haberler, has shown that nearly every part of Ricardo's doctrine was anticipated by some of his predecessors, but his masterly genius like that of Adam Smith, was largely occupied with the supreme task of building up a number of fragmentary truths into coherent doctrine."—**A. Marshall** *Credit and Commerce*, 1923 edn, p. 41.

2 "This emphasis on comparative advantage as opposed to absolute advantage marks Ricardo's great advance over Adam Smith"—S E Harris; *International and Inter-regional Economics*, p. 15

3 "Marshall put Ricardo's assumptions as follows.—"We may proceed on Ricardo's lines, and suppose that E and G are neighbouring islands which trade with one another, the goods

(See page 68)

रिकार्डो के सिद्धान्त की व्याख्या

रिकार्डो ने पुर्तगाल और इङ्गलैंड के मध्य निम्नलिखित परिस्थिति को उदाहरणस्वरूप चुना —

श्रम लागत संरचना की तुलना

उत्पाद	पुर्तगाल मे श्रम-लागत	इङ्गलैंड मे श्रम लागत
१ इकाई शराब	८० व्यक्तियों का १ वर्ष का श्रम	१२० व्यक्तियो का १ वर्ष का श्रम
१ इकाई कपडा	६० व्यक्तियो का १ वर्ष का श्रम	१०० व्यक्तियो का १ वर्ष का श्रम

निरपेक्ष लाभ की परिस्थिति मे (देखिये पिछला अध्याय) तो एक साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी यह मान जायेगा कि दो देशो (मान लीजिए कि अ और ब) के मध्य जबकि अ देश को क' वस्तु मे और ब देश को ख' वस्तु मे श्रेष्ठता प्राप्त है व्यापार पारस्परिक रूप मे लाभदायक है क्योकि क' वस्तु की १ इकाई उत्पन्न करने मे अ देश को ब देश की अपेक्षा कम श्रम इकाइयो की आवश्यकता पडती है किन्तु ख' वस्तु की १ इकाई उत्पन्न करने मे ब देश को अ देश की अपेक्षा कम श्रम-इकाइयो की जरूरत होती है। यह बताने के लिए कि ऐसी दशा मे अ देश 'क'

(From page 67)

being carried at public expense to the extent of one half by either island, and thus the cost of transport is eliminated from the trading account, the peoples, however, are supposed to be intolerant of one another's customs, and to refuse to migrate from one island to the other The real cost of production of each commodity in each island is taken to be constant, though differences of soil, climate, agricultural and mineral resources cause many differences in the relative cost of various commodities in the two islands Differences in the relative cost of various commodities and in the amount of capital by which each man's labour needs to be assisted, are neglected (or else the values of the several classes of labour and stocks of capital are expressed in terms of the value of labour of a standard efficiency), so that the real cost of production of any commodity in either island can be regarded as proportional to the amount of the standard labour of that island Also transport being gratuitous, the relative values of different things would of course remain generally the same in the two islands, if a quarter of oats and a hundred weight of sugar were of equal value in one island, they would be of equal value also in the other"—*Money, Credit and Commerce*, pp 322-323.

—

वस्तु मे और ब देश ख' वस्तु मे विशिष्टीकरण करेगा, साधारण व्यक्ति को किसी रिकार्डो' की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

किन्तु रिकार्डो ने तो इससे कहीं अधिक बताया। उसने दिखाया कि यदि अ देश दोनों ही वस्तुयें ब देश की तुलना म कम इकाइयों द्वारा बना लेता हो, तो भी उनके मध्य व्यापार लाभदायक हो सकता है। ऐसी ही परिस्थिति ऊपर की तालिका २ मे दिखाई गई है। रिकार्डो ने यह प्रमाणित किया है कि यदि पुर्तगाल शराब के उत्पादन मे और इङ्गलैड कपड़े के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करते हुये इन उत्पादनों का परस्पर विनिमय करले, तो इङ्गलैंड और पुर्तगाल दोनों ही लाभान्वित होंगे। रिकार्डो के शब्दों मे[1] --

"इङ्गलैंड की स्थिति इस प्रकार की हो सकती है कि उसे कपड़ा उत्पन्न करने के लिए प्रति वर्ष १०० आदमियों के श्रम की आवश्यकता पड़े और यदि उसने शराब बनाने का यत्न किया, तो उसे उतनी अवधि के लिये १२० व्यक्तियों के श्रम की आवश्यकता पड़ेगी। अत यह इङ्गलैंड के हित मे होगा कि वह कपड़े का निर्यात करके पुर्तगाल से शराब का आयात करे।"

"पुर्तगाल मे शराब के उत्पादन के लिये केवल ८० व्यक्तियों के एक वर्ष के श्रम की आवश्यकता पड़ती है, और यदि वह कपड़ा उत्पन्न करे, तो उसे उसी अवधि के लिये ६० व्यक्तियों के श्रम की आवश्यकता पड़ेगी। अत उसके लिए यह लाभदायक होगा कि वह कपड़े के बदले मे शराब का निर्यात करे। यह विनिमय इस तथ्य के बावजूद होगा कि पुर्तगाल जिस वस्तु का आयात करता है वह वहाँ इङ्गलैंड की अपेक्षा कम श्रम से बनाई जा सकती है। यद्यपि वह कपड़े का उत्पादन ६० व्यक्तियों के श्रम द्वारा कर सकता है तथापि वह इसे उस देश से आयात करेगा जहाँ कि इसका उत्पादन करने के लिये १०० व्यक्तियों के श्रम की आवश्यकता पड़ती है, कारण, शराब के उत्पादन करने मे पूँजी लगाने मे उसे 'विशेष' लाभ है। वह इसका निर्यात करके इङ्गलैंड के उतने कपड़े से, जो कि वह शराब के उत्पादन मे लगी हुई पूँजी का कुछ भाग कपड़े के निर्माण मे मोड़कर उत्पन्न करता, अधिक मात्रा म कपड़ा आयात कर सकता है।"

'इस प्रकार, इङ्गलैंड ८० व्यक्तियों के श्रम की उपज के बदले मे १०० व्यक्तियों के श्रम की उपज देगा। ऐसा विनिमय उसी देश के व्यक्तियों के मध्य नहीं हो सकता था। १०० अंग्रेजों के श्रम की उपज ८० अंग्रेजों की उपज के बदले मे नहीं दी जा सकती, किन्तु १०० अंग्रेजों के श्रम की उपज ८० पुर्तगालियों ६० रूसियों अथवा १२० भारतियों के श्रम की उपज के बदले मे दी जा सकती है इस सम्बन्ध मे अन्तर का कारण यह है कि अधिक उपयोगी रोजगार ढूँढने के लिए

---

1 *The Works and Correspondence of David Ricardo* (Sraffa, ed 1952, vol. I, pp 135-136.

पूँजी एक देश-से दूसरे देश को बड़ी कठिनाई से जाती है किन्तु एक ही देश मे एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को बड़ी सुगमता से चली जाती है।"

देश के भीतर साधनो की गतिशीलता और देशो के मध्य गतिहीनता

ऐसे विनिमय एक ही देश के भीतर क्यो सम्भव नही होंगे, इसका कारण रिकार्डो ने यह बताया कि पूंजी और श्रम उन भागो मे चले जायेंगे जहाँ कि उनकी उत्पादकता अधिक थी। यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय एव अन्तर्क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाओ मे विरोध इस मान्यता पर आधारित है कि पूंजी और जनसख्या एक देश के भीतर तो गतिशील है लेकिन देशो के मध्य यह गतिहीन है। 'नि सन्देह इङ्गलैंड के पूँजीपतियो और दोनो देशो के उपभोक्ताओ के लिए यह लाभदायक होगा कि इन परिस्थितियो के अन्तर्गत शराब और कपड़ा दोनो ही पुर्तगाल मे उत्पन्न किये जायें और इसलिए कपड़ा बनाने मे इङ्गलैंड का जो श्रम और पूँजी लगी हुई है उसे इस कार्य के लिए पुर्तगाल भेज दिया जाय। उस दशा मे इन वस्तुओ के सापेक्षिक मूल्य का नियमन उसी नियम के अनुसार होगा जो कि तब लागू होता जब कि इनमें से एक यार्कशायर की और दूसरी लन्दन की उपज होती, और अन्य प्रत्येक दशा मे, यदि पूंजी उन देशो को, जहाँ उसका सबसे लाभप्रद तरीके से प्रयोग किया जा सकता है, स्वतन्त्रतापूर्वक जा सकती है तो लाभ की दर मे कोई अन्तर नही होगा एव वस्तुओ की वास्तविक (या श्रम) लागत मे, बिक्री के लिए विभिन्न बाजारो मे वस्तु को स्थानान्तरित करने के श्रम की मात्रा के अतिरिक्त अन्य कोई भिन्नता न होगी।"

किन्तु अनुभव से पता चलता है कि पूंजी की सुरक्षा (काल्पनिक या वास्तविक), जबकि वह इसके स्वामी के तात्कालिक नियन्त्रण मे न रहे, साथ मे प्रत्येक व्यक्ति की, अपने पितृ देश और पुराने सम्बन्धो को छोडने तथा अपनी पुरानी आदतो को एक नये देश की परम्पराओ, नई सरकार, नये कानून आदि के अनुरूप ढालने के सम्बन्ध मे स्वाभाविक अरुचि पूंजी के प्रवास को रोकती है। ये भावनायें, जिन्हे दुर्बल होते हुये देखकर मुझे खेद होगा, अनेक धनी व्यक्तियो को विदेशी राष्ट्रो मे अपनी सम्पत्ति के लिए अधिक लाभदायक रोजगार या उपयोग खोजने के बजाय अपने ही देश मे कम दर के लाभ से ही सन्तुष्ट रहने को प्रेरित करती हैं।"[1]

किन्तु यह समझ लेना चाहिये कि रिकार्डो ने इस बात पर बल नही दिया था कि जनसख्या और पूँजी कभी भी राष्ट्र की सीमाओ से बाहर नही जाती। नि सन्देह वह इस बात को जानता था कि ऐसे आवागमन होते हैं, किन्तु एक देश के भीतर होने वाले आगमनो की अपेक्षा कम सख्या मे। इसी प्रकार, यद्यपि उसने अपने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का विकास दो वस्तुओ की मान्यता के आधार पर किया था, तथापि उसने सिद्धान्त का सन्दर्भ दो से अधिक वस्तुओ के

---

[1] *Ibid*, pp. 136-137

प्रति जोड़ने की उपेक्षा नहीं की थी। "सुगमता के लिये मैं यह मानता रहा हूँ कि दो देशों के मध्य व्यापार दो वस्तुओं तक सीमित है—कपड़ा और शराब, किन्तु यह सब जानते हैं कि आयात और निर्यात की सूचियों में अनेक एवं विभिन्न वस्तुयें प्रवेश करती हैं।"[1]

८—रिकार्डो के योगदान की आलोचना

जॉन स्टुअर्ट मिल ने रिकार्डो के योगदान का जो संक्षिप्तीकरण किया है वह इसके महत्व का एक श्रेष्ठ मूल्यांकन है। मिल (Mill) ने लिखा है कि—"राजनैतिक अर्थशास्त्र को रिकार्डो ने जितने सत्यों (Truths) से सम्पन्न बनाया है उसमें से किसी ने भी ज्ञान की इस शाखा को वह सही और वैज्ञानिक स्वभाव, जो कि इसे आज प्राप्त है, दिलाने में इतनी सहायता नहीं की, जितनी कि उसके द्वारा किये गये वस्तुओं के पारस्परिक विनिमय से राष्ट्रों को होने वाले लाभ के स्वभाव के सही विश्लेषण ने की है।........"[2]

रिकार्डो ने यह दिखाया कि राष्ट्रों के मध्य वस्तुओं के पारस्परिक विनिमय से होने वाले लाभ एक मात्र इस बात में निहित है कि यह प्रत्येक को, श्रम और पूँजी की एक दी हुई मात्रा के बदले में, कुल पर सब वस्तुओं की अधिक मात्रा प्राप्त करने में समर्थ बनाता है।

'चूँकि प्राय: एक देश के पास दो वस्तुयें होती हैं जिनमें से वह एक को विदेशी देश की तुलना में, कम श्रम-लागत पर बना सकता है, इसलिये यह उस देश के हित में होगा कि वह प्रथम उल्लेखित वस्तु का निर्यात और दूसरी वस्तु का आयात करे, भले ही वह दोनों वस्तुओं को अपने यहाँ विदेशी देश की अपेक्षा श्रम के कम व्यय पर (किन्तु समान अंशों में कम श्रम-व्यय पर नहीं) अथवा दोनों ही वस्तुयें अधिक व्यय पर (किन्तु समान अंशों में अधिक व्यय पर नहीं) बना सकता हो। इसके विपरीत, यदि वह दोनों ही वस्तुयें अधिक सुविधा से अथवा अधिक

---

1 "To simplify question, I have been supposing the trade between two countries to be confined to two commodities—to wine and cloth; but it is well known that many and various articles enter into the list of exports and imports."—*Ibid*, p. 141.

2 'Of the truths with which political economy has been enriched by Mr. Ricardo, none has contributed more to give to that branch of knowledge the comparatively precise and scientific character which it at present bears, than the more accurate analysis which he performed of the nature of the advantage which nations derive from a mutual interchange of their productions......."—J. S. Mill: *Essays on Some Unsettled Questions of Political Economy*, pp. 1-3.

कठिनाई से उत्पन्न कर सकता है और यह अधिकता समान अंशो मे है, तो पारस्परिक विनिमय के लिये कोई प्रलोभन नही रहेगा।"[1]

स्मिथ रिकार्डो के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी सिद्धान्त का मूल्यांकन

सम्पूर्ण १६वी शताब्दी मे और बीसवी शताब्दी के भी पहले २०-२० वर्षों मे एडम स्मिथ रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित (एव तदुपरान्त मिल द्वारा सुधारा हुआ) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक सामान्यत स्वीकृत स्पष्टीकरण था। किन्तु यह सिद्धान्त बहुत दुर्बल था, क्योकि इसकी मान्यतायें बहुत ही काल्पनिक थी। आधुनिक वर्षो मे कई प्रसिद्ध लेखको ने, जिनमे ओहलन और ग्राहम उल्लेखनीय हैं, इसकी कटु आलोचना की है। प्रमुख आलोचनायें संक्षेप मे नीचे दी गई हैं।

(१) **केवल श्रम लागतें ही तुलना का सर्वश्रेष्ठ आधार नहीं**—स्मिथ-रिकार्डो का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी सिद्धान्त श्रम लागतों (labour costs) पर आधारित है। अन्य तत्व (जैसे भूमि, पूँजी और साहस) जोकि लागत का अंग होते है और समान रूप से महत्वपूर्ण हैं, सिद्धान्त मे बिल्कुल ही स्थान न पा सके हैं। यह आश्चर्य की बात है कि जबकि लागतो और मूल्य का श्रम-सिद्धान्त (labour theory of costs and prices) १६वीं शताब्दी मे ही, श्रम के अप्रतिस्पर्धी समूहो की विद्यमानता तथा उत्पत्ति के अन्य साधनो के साथ साथ श्रम की विभिन्न गुण-सम्पन्न श्रेणियो को सम्मिलित करने की आवश्यकता के कारण, त्याग दिया गया था, तब इस अप्रचलित सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे बनाये रखा गया। आलोचको ने इस बात पर ठीक ही बल दिया है कि श्रम-लागत दृष्टिकोण को अब छोड़ देना चाहिए। यथार्थ मे यह कीमतें ही हैं जो यह निर्धारित करती है कि किन वस्तुओ मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया जायेगा और कौन देश उन्हे उत्पन्न

---

[1] "As often as a country possesses two commodities one of which it can produce with less labour, comparatively to what it would cost in a foreign country, than the other, so often it is the interest of the country to export the first mentioned commodity and to import the second, even though it might be able to produce both the one and the other at a less expense of labour than the foreign country can produce them but not less than in the same degree or might be unable to produce either except at a greater expense, but not greater in the same degree On the contrary, if it produces both commodities with greater facility, or both with greater difficulty and greater in exactly the same degree, there will be no motive to interchange"—*Ibid* pp 1 3

करेगा। अतः यह उचित होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्या का कीमतों के संदर्भ में विश्लेषण किया जाय।

[किन्तु प्रो० टॉजिग ने चतुराईपूर्वक यह समझाते हुये कि उत्पादन के अन्य सब तत्त्व (पूँजी आदि) अन्तिम विश्लेषण में मजदूरियों से कुछ भिन्न प्रमाणित नहीं होते, श्रम लागत सिद्धान्त का समर्थन किया था।]

(२) स्थिर लागतों की मान्यता वास्तविक संसार में उपयुक्त नहीं—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की यह मान्यता है कि लागतें स्थिर रहती हैं। किन्तु वास्तविक संसार में अधिकांश वस्तुयें या तो बढ़ती हुई लागतों (उपज-ह्रास) के अन्तर्गत या फिर घटती हुई लागतों (उपज-वृद्धि) के अन्तर्गत ही उत्पन्न की जाती हैं। [इस दोष को दूर करने के लिये ही बेस्टेबिल (Bastable) ने सिद्धान्त में परिवर्तनीय लागतों (Variable costs) की धारणा को सम्मिलित किया।]

(३) यातायात व्ययों को भी विचार में लेना आवश्यक—प्रतिष्ठित सिद्धान्त ने यातायात व्ययों (transport costs) की उपेक्षा कर दी है। निर्यात वस्तुओं का मूल्य इतना कम होना चाहिए कि उनमें यातायात व्यय खप सकें और आयात वस्तुओं का मूल्य ऊँचा होना चाहिए। मान लीजिए कि दो देशों के मध्य व्यापार नहीं हो रहा है। ऐसी दशा में, यदि यातायात-व्यय कीमत भिन्नताओं (Price differentials) से अधिक है, तो व्यापार आरम्भ न हो सकेगा। वास्तव में इसी कारण से अनेक वस्तुयें और सेवायें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रवेश नहीं करती है। विशेषतः जहाँ दूरियाँ और यातायात साधन अलग-अलग हैं, वहाँ यातायात-व्यय लागत-अनुपातों (cost ratios) में भिन्नता का निर्धारण करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। जर्मनी के बन्दरगाह, द्वितीय महायुद्ध के पहले, इंगलैंड से कोयला मँगाते थे, यद्यपि जर्मनी स्वयं कोयले का एक विख्यात उत्पादक और निर्यात करने वाला था। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि किस प्रकार एक देश का एक भाग किसी वस्तु का आयात कर सकता है जबकि उसी देश का दूसरा भाग उसे उत्पन्न करता है और निर्यात भी कर सकता है। इससे यातायात व्ययों को विचार में लेने का महत्त्व स्पष्ट है।

[कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस समस्या के समाधान के लिए यह मान लिया है कि जो देश किसी वस्तु का निर्यात करता है वही इसके यातायात व्यय को भी वहन करता है तथा यातायात व्यय उत्पादन-लागत में शामिल रहते हैं।]

(४) यह मान लेना ठीक नहीं कि उत्पत्ति के साधन आन्तरिक रूप से पूर्ण गतिशील हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय रूप से पूर्ण गति रहित—वास्तविक जगत में, उत्पत्ति के विभिन्न साधन एक ही देश के एक भाग से दूसरे भागों को या एक उद्योग से दूसरे उद्योग या उद्योगों को पूर्ण गतिशील नहीं होते। इसका प्रमाण यह है कि विभिन्न पेशों और विभिन्न क्षेत्रों में मजदूरी की विभिन्न दरें प्रचलित होती हैं। निःसन्देह, एक सीमा तक समायोजन होना सम्भव है लेकिन इसकी गति बहुत

धीमी होती है। परिणामत मध्यान्तर (Interval) में, साधनो की गतिहीनता कीमतो को प्रभावित कर देती है और कीमतो के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के प्रवाह पर भी असर पडता है। स्मरणीय है कि साधनो की आन्तरिक गतिहीनता अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण का, जिसके आधीन एक देश को एक विशेष वस्तु या वस्तुयें ही उत्पन्न करनी पडती हैं परिणाम है।

(५) जब व्यापार करने वाले दोनो देश असमान आर्थिक आकार वाले हो या जब व्यापार की वस्तुओ का असमान आर्थिक मूल्य हो, तब यह सिद्धान्त लागू नहीं होता—प्रो० ग्राहम (Graham) ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त के निम्न दो निष्कर्षों की कटु आलोचना की है —(i) कि तुलनात्मक लागतो के अन्तर्गत प्रत्येक देश किसी एक वस्तु मे ही विशिष्टता प्राप्त करने की प्रवृत्ति रखता है, और (ii) कि व्यापार का लाभ दोनो देशो के मध्य समान रूप से विभाजित होता है। उनका कहना है कि "प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का यह निष्कर्ष तब ही वैध हो सकता है जबकि यह मानकर दोनो पलडो को समान कर दिया जाय कि व्यापार से सम्बद्ध दोनो वस्तुओ का कुल उपभोग मूल्य समान है तथा व्यापार समान आर्थिक महत्त्व रखने वाले दो देशो के मध्य होता है।'[1] किन्तु जब हम एक बडे देश (जैसे कि अमेरिका) और एक छोटे देश (जैसे कि जर्मनी) का उदाहरण लेते है, तो हम यह देखेंगे कि छोटा देश पूर्ण रूप से विशिष्टीकरण करने की स्थिति मे होगा, क्योंकि उसकी अतिरिक्त उपज बडे देश में सुगमतापूर्वक बिक जायेगी, किन्तु बडा देश पूर्णरूप से विशिष्टीकरण नही कर सकेगा, क्योंकि (i) दूसरी वस्तु की जितनी मात्रा उसे अपने उपभोग के लिए आवश्यक है उसे वह विदेशी देश से प्राप्त नही कर पायेगा, और (ii) उसका अपनी विशिष्टीकृत वस्तु का समस्त उत्पादन उस छोटे देश मे बिक न सकेगा। स्पष्टत बडे देश को दोनो ही वस्तुयें उत्पन्न करनी पडेंगी तथा ऐसी दशा मे समस्त लाभ दोनो देशो द्वारा समान रूप से, जैसा कि मिल एव प्रतिष्ठित वर्ग के अन्य सदस्यो की कल्पना थी, प्राप्त नही किया जा सकेगा वरन् सबका सब लाभ छोटे देश द्वारा ही उठाया जावेगा।

इसी प्रकार, उस दशा मे भी अपूर्ण विशिष्टीकरण होगा जबकि व्यापार से सम्बन्धित दोनो वस्तुये असमान मूल्य की हो। उदाहरण के लिए कपडे और दियासलाई को ही लीजिए। यहाँ दियासलाई के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करने वाला देश अपूर्ण विशिष्टीकरण करेगा क्योकि उसके निर्यातो का मूल्य उसकी कपडा सम्बन्धी समस्त आवश्यकता के प्रबन्ध की दृष्टि से बहुत अपर्याप्त होगा। अत. उसे

---

1 "This conclusion of classical economists can hold ground only if the dice are loaded by assuming trade in two commodities of approximately equal consumption value and between two countries of approximately equal economic importance"

कपड़ा और दियासलाई दोनों ही चीज उत्पन्न करनी पड़ेगी। फिर ऐसी दशा में लाभ का समान रूप से तो क्या असमान रूप से भी विभाजन नहीं होता, वरन् कुल लाभ कपड़ा निर्यात करने वाले देश द्वारा ही हजम कर लिया जाता है।

(६) श्रम की गतिहीनता स्वतन्त्र प्रतियोगिता की मान्यता से असङ्गत है— श्रम-मूल्य सिद्धान्त, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त का आधार है, इस मान्यता पर निर्भर है कि श्रम और वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है। किन्तु हमारे वास्तविक संसार में एकाधिकारिक अथवा अर्ध-एकाधिकारिक परिस्थितियाँ ही हमारी अर्थ व्यवस्थाओं का लक्षण बनी हुई हैं। उदाहरणार्थ, श्रम संघों (labour unions) और मालिक-संघों (employers' unions) की विद्यमानता श्रम और पूँजी को एक बड़ी सीमा तक अगतिशील (immobile) बना देती है जिससे वह सर्वोत्तम बाजार को आसानी और शीघ्रता से नहीं आने जाने पाते जबकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत ऐसा ही होना चाहिए था।

(७) तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में केवल पूर्ति पक्ष का ही विचार किया गया है— यह सिद्धान्त इस बात को तो बतलाता है कि एक देश कौन-सी वस्तु बेचेगा या खरीदेगा, किन्तु यह नहीं बताता कि इन वस्तुओं में व्यापार किन कीमतों पर किया जावेगा। इस आशय के लिए यह जरूरी था कि माँग पक्ष का अध्ययन किया जाय। रिकार्डो ने तो केवल इतना ही कहा था कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त इस बात का निश्चय करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कौन-सी वस्तुएँ खरीदी-बेची जायेंगी और मिल ने यह स्पष्ट किया था कि प्रतिपूरक माँग (reciprocal demand) उन कीमतों को निर्धारित करती है जिन पर वस्तुयें विनिमय की जायेंगी। किन्तु इस ढङ्ग से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माँग और पूर्ति पक्षों (demand and supply sides) को पृथक्-पृथक् करना त्रुटिपूर्ण था। सच तो यह है कि माँग एवं पूर्ति दोनों ही संयुक्त रूप से खरीदी और बेची जाने वाली वस्तुओं की मात्रायें और कीमतें निर्धारित करती हैं।

(८) समान साधन-सम्पत्ति वाले देशों के मध्य भी व्यापार पनप सकता है— विश्व के गर्म और शीतोष्ण कटिबन्धों के मध्य अथवा घनी जन-संख्या वाले औद्योगिक देशों और कम जन-संख्या वाले कृषिक देशों के मध्य वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय का कारण स्पष्टतः इन देशों की साधन-सम्पत्तियों में भिन्नता होना है। किन्तु समान साधन सम्पत्ति (factor endowment) वाले देशों (उदाहरणार्थ औद्योगिक देशों) के मध्य भी व्यापार पनप सकता है, क्योंकि उपज वृद्धि नियम की क्रियाशीलता के फलस्वरूप उनकी तुलनात्मक लागतों में भिन्नता आ जाती है।

(९) तुलनात्मक लागत सिद्धान्त स्थैतिक मान्यताओं पर आधारित है— इस सिद्धान्त में इस प्रकार की मान्यतायें की गई हैं कि रुचियाँ, भूमि, श्रम और पूँजी आदि उत्पत्ति साधनों की पूर्तियाँ स्थिर (constant) रहती हैं। चूँकि ये मान्यतायें स्वभाव से स्थैतिक (static) हैं इसलिए वे सिद्धान्त को वास्तविक जगत

के लिए, जो कि प्रावैगिक या गतिमान (dynamic) है, अनुपयुक्त बना देती है। उदाहरणार्थ प्रदर्शन प्रभाव (demonstration effect) के कारण रुचियों में परिवर्तन होता रहता है, नवीन विचारों के साथ-साथ टेक्नोलॉजी में भी परिवर्तन होते रहते हैं और साधन भी परिवर्तनशील हैं। परिवर्तनशील टेक्नोलाजी एवं साधन सम्पत्ति वाली परिस्थिति में तुलनात्मक लागतों का निर्धारण करना सम्भव नहीं है।

(१०) कार्यान्वयन की दृष्टि से मॉडल प्रतिबन्धात्मक है— रिकार्डो माडल' (Model) कार्यान्वयन की दृष्टि से प्रतिबन्धात्मक (restrictive) है क्योंकि वह केवल दो देशों और दो वस्तुओं से ही सम्बद्ध है। अन्य शब्दों में वह एक अति-सुगम (over simplified) माडल है। लेकिन जब हम अनेक देशों और अनेक वस्तुओं की परिस्थिति पर विचार करते हैं तो सिद्धान्त की गुणवत्ता जाती रहती है। [यह उल्लेखनीय है कि बेस्टेबिल (C F Bastable) ने इस सिद्धान्त को दो से अधिक देशों और दो से अधिक वस्तुओं पर विस्तृत करने का प्रयत्न किया है।]

(११) प्रतिष्ठित सिद्धान्त दो देशों के मध्य उन वस्तुओं के व्यापार की उपेक्षा करता है जोकि उनमें से केवल एक देश द्वारा ही उत्पन्न की जाती है। इस तरह उसने आयात निर्यात सूची के सबसे महत्वपूर्ण अंग को छोड़ दिया है।

(१२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वास्तविक या मौद्रिक लागतों की भिन्नता पर निर्भर नहीं है—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की एक अन्य दुर्बलता यह है कि देशों के मध्य व्यापार लागत भिन्नताओं पर (चाहे ये मौद्रिक हों या वास्तविक) निर्भर नहीं करता, जैसा कि यह सिद्धान्त सुझाता है। आयातकर्ता लागतों के बारे में चिन्ता नहीं करते। उन्हें तो उन कीमतों से मतलब है जो कि वे चुकायेंगे। इस प्रकार वस्तुओं की कीमतों का अनुपात (ratio of prices) ही वस्तुओं और सेवाओं के समस्त अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का आधारभूत कारण है।

(१३) एक देश जान बूझकर एक विशेष वस्तु उत्पन्न करने का यत्न कर सकता है—सामरिक एवं बुनियादी महत्त्व के कारण एक देश एक विशेष वस्तु के बनाने के लिए जानबूझ कर यत्न कर सकता है चाहे इसके उत्पादन में उसे तुलनात्मक लाभ नहीं हो और विदेशों से उसका सस्ती कीमतों पर आयात किया जा सकता हो। उदाहरणार्थ, भारत ऊँची लागत सहन करके भी उड़ीसा और दक्षिण के कुछ राज्यों में पटसन उत्पन्न करता है जबकि वह इसे पाकिस्तान से कम दामों पर मँगा सकता था।

(१४) जब कोई देश वस्तु की एक किस्म का तो आयात करे किन्तु दूसरी किस्म का निर्यात, तो ऐसी परिस्थिति में प्रतिष्ठित सिद्धान्त लागू नहीं होता। उदाहरणार्थ, भारत कपड़े की महँगी एवं श्रेष्ठ किस्मों का आयात करता है किन्तु सस्ती एवं मोटी किस्मों का निर्यात। [हमारी सम्मति में इसे सिद्धान्त की सीमा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आर्थिक विश्लेषण के अन्तर्गत वस्तु की विभिन्न किस्मों को पृथक् पृथक् वस्तुयें माना जाता है।]

(१५) विश्लेषण का एक भौंथरा और खतरनाक साधन—ओहलिन (Ohlin) ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हुए इसे विश्लेषण का एक बेढंगा (clumsy) और खतरनाक साधन (dangerous tool) बताया है। उक्त सिद्धान्त बेढंगा इसलिये है कि वह इस बात की परीक्षा नहीं करता कि एक देश में उत्पादन का सस्तापन किस सीमा तक नीची मजदूरियों, नीचे ब्याज, न्यून यातायात व्यय आदि के कारण है और खतरनाक इसलिये है कि यह केवल दो देशों और दो वस्तुओं वाली परिस्थितियों का विश्लेषण करता है किन्तु इसके निष्कर्षों को वास्तविक परिस्थितियों पर, जिनमें अनेक देशों और अनेक वस्तुओं का प्रश्न उठता है, लागू करने का यत्न किया जाता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्तों की अवास्तविक मान्यताओं का परित्याग

संक्षेप में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त यह है कि विदेशी व्यापार का अधिकतम लाभ प्राप्त करने हेतु राष्ट्रों को चाहिए कि उनमें से प्रत्येक उस वस्तु में विशिष्टीकरण करे जिसे वह सबसे सस्ता उत्पन्न कर सकता हो। 'सबसे सस्ता उत्पादन' क्या है, इसे 'विदेशी व्यापार विषय के लेखकों ने प्रायः आरम्भ में दो वस्तुएँ और दो राष्ट्र का उदाहरण देकर समझाना सुविधाजनक समझा है। इसके बाद एक-एक करके जटिल तत्त्वों को सम्मिलित करके विचार किया जाता है।"[1]

(1) मौद्रिक लागत—

उत्पादन के तुलनात्मक सस्तेपन (या लाभ) को देखने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन लागत के माप की एक इकाई हो। किन्तु विभिन्न देशों में एक ही इकाई माप के लिए प्रयोग की जाय ऐसा न तो आवश्यक है और न सम्भव ही है। लागतों को परेशानी (trouble), प्रयत्न (effort) अथवा इसके लिये दिए जाने वाले पुरस्कार के रूप में मापा जा सकता है। यह पुरस्कार एक निश्चित मात्रा में उपभोग वस्तुयें अथवा द्रव्य हो सकता है। हैबरलर के मतानुसार लागत को अवसर-लागत के रूप में प्रगट किया जा सकता है। यहाँ पर हम मौद्रिक लागत अपनाते हुए यह देखेंगे कि क्या मौद्रिक अर्थव्यवस्था में भी तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त वैध है। इस प्रकार का प्रयत्न सर्वप्रथम टॉजिग (Taussig) ने किया था। उन्होंने श्रम लागत के तुलनात्मक अन्तरों की कीमतों के निरपेक्ष अन्तरों में बदल दिया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो उदाहरण दिया है उसे हम नीचे प्रस्तुत करते हैं :—

वस्तुओं की श्रम लागतें

देश	श्रम लागत	गेहूँ की उत्पादित इकाइयाँ	कपड़े की उत्पादित इकाइयाँ
अमेरिका	१० दिन का श्रम	२०	२०
जर्मनी	१० दिन का श्रम	१०	१५

[1] Haberler : *The Theory of International Trade*, pp. 132-144.

यहाँ ग्रमेरिका को उत्पादन की दोनों ही शाखाओं में जर्मनी की ग्रपेक्षा निरपेक्ष (absolute) श्रेष्ठता प्राप्त है और गेहूँ में तुलनात्मक लाभ (comparative advantage) है। अत ग्रमेरिका गेहूँ में और जर्मनी कपड़े में विशिष्टीकरण करेगा। मुद्रा के रूप में स्थिति इस प्रकार होगी —

वस्तुओं की मौद्रिक लागतें

देश	दैनिक मजदूरी (डालर)	कुल मजदूरी (डालर)	१० दिन के श्रम की उपज	मौद्रिक लागत =(पूर्ति) प्रति इकाई लागत (डालर)
ग्रमेरिका —				
(१) गेहूँ	१ ५	१५	गेहूँ की २० इकाइयाँ	० ७५
(२) कपड़ा	१ ५	१५	कपड़े की २० इकाइयाँ	० ७५
जर्मनी —				
(१) गेहूँ	१ ०	१०	गेहूँ की १० इकाइयाँ	१ ००
(२) कपड़ा	१ ०	१०	कपड़े की १५ इकाइयाँ	० ६६२/३

जर्मनी की ग्रपेक्षा ग्रमेरिका में गेहूँ का मूल्य कम है। अत ग्रमेरिका से गेहूँ का निर्यात किया जायेगा। किन्तु जर्मनी में ग्रमेरिका की ग्रपेक्षा कपड़े का मूल्य कम है। अत वहाँ से ग्रमेरिका को कपड़े का निर्यात किया जायेगा। यह निष्कर्ष तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के ही अनुरूप है। नि सन्देह यहाँ मौद्रिक मजदूरियाँ मनमानी चुनी गई है। किन्तु इसके विरुद्ध ग्रापत्ति उठाना ठीक नहीं होगा, क्योंकि यह दिखाया जा सकता है कि, हमारी पूर्व धारणाओं (assumptions) के अन्तर्गत, दोनों देशों में मौद्रिक मजदूरियों का अनुपात एक अधिकतम और एक न्यूनतम सीमा के अन्दर रहना चाहिये। हाँ, इन सीमाओं के भीतर एक या दूसरे अथवा तीसरे किसी भी अनुपात का चुनाव अवश्य मनमाना (arbitrary) है किन्तु इससे विचाराधीन समस्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

यदि यह मानले कि जर्मनी में दैनिक मजदूरी १ डालर है, तो ग्रमेरिका में दैनिक मजदूरी २ डालर से अधिक नहीं हो सकती है। वह जर्मन-मजदूरी के दूने से अधिक कदापि नहीं हो सकती है। यह अधिकतम सीमा गेहूँ में ग्रमेरिका के लागत लाभ (अर्थात् २० १०) द्वारा निर्धारित हुई है। यदि ग्रमेरिकन मजदूरी २ डालर तक बढ़ जाय, तो ग्रमेरिका में गेहूँ और कपड़े दोनों की ही प्रति इकाई लागत १-१ डालर होगी। ऐसी दशा में गेहूँ का निर्यात अलाभदायक हो जायेगा किन्तु कपड़े का ग्रायात पहले की ही भाँति होता रहेगा। इसके फलस्वरूप ग्रमेरिका का भुगतान सतुलन निष्क्रिय (Passive) बन जावेगा, स्वर्ण बाहर जाने लगेगा तथा कीमतें और मजदूरियाँ पुन घटने के लिए विवश हो जायेंगी।

इसी प्रकार, यह भी दिखाया जा सकता है कि दैनिक मजदूरी अमेरिका में १ ३३ डालर से कम नहीं हो सकती है। वह जर्मन-मजदूरी के चार तिहाई (four-thirds) से कम नही हो सकती है। यह न्यूनतम् सीमा अमेरिका के कपडे सम्बन्धी लागत लाभ (अर्थात् २० १५) द्वारा निर्धारित हुई है। यदि अमेरिकन मजदूरी १ ३३ डालर से कम हो जाये (जबकि जर्मनी मे मजदूरी मान्यतानुसार १ डालर ही रहे), तो जर्मनी का व्यापार सन्तुलन विपक्षिय हो जायेगा, जर्मनी से स्वर्ण बाहर जाने लगेगा और अमेरिका मे (स्वर्ण के आते रहने से) कीमतें और मजदूरियाँ बढ जायेंगी (किन्तु जर्मनी मे कम हो जायेगी)। इस प्रकार, मजदूरियों का अनुपात इन न्यूनतम् और अधिकतम् सीमाओं के भीतर ही कहीं पर निर्धारित होगा।

किन्तु, केवल लागत-आँकडों (cost data) के आधार पर ही यह नहीं कहा जा सकता कि मजदूरियों का अनुपात (और इसलिए अमेरिकन गेहूँ एवं जर्मन कपडे का विनिमय-अनुपात) इन सीमाओं के भीतर ठीक-ठीक (exactly) कहाँ निश्चित होगा। इस सम्बन्ध मे टॉजिग ने पारस्परिक माँग (reciprocal demand) की भूमिका पर बल दिया है।[1]

जैसा कि हैबरलर ने लिखा है, उपरोक्त उदाहरण से यह सामान्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस देश मे उत्पत्ति की दशायें अधिक अनुकूल हैं वहाँ मजदूरियाँ या, अधिक सामान्य शब्दों मे, आय दूसरे देश की अपेक्षा ऊँची होनी चाहिए।

यह उल्लेखनीय है कि टॉजिग की मौद्रिक-लागत सम्बन्धी व्याख्या पारस्परिक लाभ के सिद्धान्त का अनुमान लगाने मे असमर्थ है। इसे प्रो० हैबरलर ने अपने अवसर लागत विश्लेषण के प्रयोग द्वारा सम्भव बनाया है।[2]

(II) दो से अधिक वस्तुयें—

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त दो से अधिक वस्तुओं की दशा में भी वैध है। इसे दिखाने के लिए हैबरलर ने यह युक्ति अपनाई है कि वे दो वस्तुओं को अनेक वस्तुओं का प्रतिनिधि और लागत-अंकों को समान लागत-अनुपातों वाली वस्तुओं की एक सम्पूर्ण शृंखला से निकाले गये औसत मान लेते हैं। ऐसी दशा मे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—अ को अपनी समस्त निर्यात वस्तुओं में ब की अपेक्षा तुलनात्मक लाभ और समस्त आयात वस्तुओं मे तुलनात्मक हानि होगी। इसी प्रकार, ब देश को होगा।

मान लीजिए कि A, B, C, D एवं E ५ वस्तुयें है जिनमे से प्रत्येक की एक इकाई उत्पन्न करने के लिए श्रम लागतों की आवश्यक इकाइयाँ अ देश मे a_1, b_1, c_1, d_1 और e_1 और ब देश मे a_2, b_2, c_2, d_2 एवं e_2 हैं। यह भी मान

---

[1] *See* Chapter 8.
[2] *See* Chapter 10.

लीजिए कि A, B, C, D, और E की (मौद्रिक) पूर्ति कीमतें (अर्थात्, प्रति इकाई मौद्रिक लागत) अ देश में pa_1, pb_1, pc_1, pd_1 एवं pe_1 और ब देश में pa_2, pb_2, pc_2 pd_2 एवं pe_2 हैं। मान लीजिए कि मौद्रिक मजदूरी (प्रति इकाई श्रम) अ देश में W_1 और ब देश में W_2 है। इन कल्पनाओं के सन्दर्भ में हम यह कह सकते हैं कि —

प्रत्येक वस्तु की एक इकाई का मूल्य (जैसे pa_1)
= प्रत्येक वस्तु एक इकाई उत्पन्न करने की श्रम-इकाइयाँ $(a_1) \times$ मजदूरी प्रति श्रम-इकाई (W_1), अर्थात् —

$pa_1 = a_1 W_1$	$pa_2 = a_2 W_2$
$pb_1 = b_1 W_1$	$pb_2 = b_2 W_2$
$pc_1 = c_1 W_1$	$pc_2 = c_2 W_2$
$pd_1 = d_1 W_1$	$pd_2 = d_2 W_2$
$pe_1 = e_1 W_1$	$pe_2 = e_2 W_2$

हम यह भी कह सकते हैं कि प्रत्येक देश में सापेक्षिक कीमतें श्रम लागतों द्वारा निर्धारित होती है[1], जिससे

$$pa_1 \;\; pb_1 \;\; pc_1 \;\; pd_1 \;\; pe_1 = a_1 \;\; b_1 \;\; c_1 \;\; d_1 \;\; e_1$$

एवं $$pa_2 \;\; pb_2 \;\; pc_2 \;\; pd_2 \;\; pe_2 = a_2 \;\; b_2 \;\; c_2 \;\; d_2 \;\; e_2$$

अब हम यह कल्पना करते है कि विनिमय की दर (अर्थात् अ देश की एक करेंसी-इकाई के बदले में दी जाने वाली ब देश की करेंसी इकाइयों की संख्या) R है। फलत प्रत्येक वस्तु की एक इकाई का मूल्य दोनों देशों में ब देश की करेंसी में इस प्रकार हैं —

ब देश में कीमतें	अ देश में कीमतें
$a_2 \times W_2$	$a_1 \times W_1 \times R$
$b_2 \times W_2$	$b_1 \times W_1 \times R$
$c_2 \times W_2$	$c_1 \times W_1 \times R$
$d_2 \times W_2$	$d_1 \times W_1 \times R$
$e_2 \times W_2$	$e_1 \times W_1 \times R$

इस दशा में यह कह सकते है कि अ देश जिन वस्तुओं को (जैसा कि A को) निर्यात करे, उसमें से प्रत्येक के लिये $a_1 \times W_3 \times R < a_2 \times W_2$ का सम्बन्ध

---

[1] "In order to determine the *absolute* height of the money wages we must include in our data the quantity of money This is done by making assumptions as to the absolute rates of money wages which prevail It is important to recognise that the sole function of the Labour Theory of Value is to determine the relative prices "—Haberler *International Trade*, pp 136-37

लागू होना चाहिये, क्योंकि किसी वस्तु का निर्यात तब ही किया जायेगा जबकि इसकी पूर्ति कीमत (अर्थात् मौद्रिक लागत) विदेशी देश की अपेक्षा कम हो। इसी प्रकार, अ देश जिन वस्तुओं का (जैसा कि B को) आयात करे, उनमें से प्रत्येक के लिये $b_1 \times W_1 \times R > b_2 \times W_2$ का सम्बन्ध लागू होना चाहिये।

अब, चूँकि $a_1 \times W_1 \times R < a_2 \times W_2$, अर्थात् $\frac{a_1}{a_2} < \frac{W_2 \times R}{W_1}$

और $b_1 \times W_1 \times R > b_2 \times W_2$, अर्थात् $\frac{b_1}{b_2} > \frac{W_2 \times R}{W}$

इसलिये $\frac{a_1}{b} < \frac{b_1}{b_2}$ होना चाहिये।

उपरोक्त सम्बन्ध भी इसी तथ्य को (जो कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त द्वारा बताया गया है) प्रगट करता है कि अ देश को ब देश पर A वस्तु के उत्पादन में, अर्थात् अपनी समस्त आयात वस्तुओं की अपेक्षा अपनी समस्त निर्यात वस्तुओं के उत्पादन में श्रेष्ठता प्राप्त होनी चाहिए। मार्शल का अनुसरण करते हुए हम विभिन्न वस्तुओं को इनमें ब देश पर अ देश की तुलनात्मक श्रेष्ठता के अनुसार क्रमबद्ध कर सकते हैं। मान लीजिये कि यह क्रम इस प्रकार है—A,B,C,D और E, ऐसी दशा में $\frac{a_1}{a_2} < \frac{b_1}{b_2} < \frac{c_1}{c} < \frac{d_1}{d_2} < \frac{e_1}{e_2}$ होगा। यदि अ देश द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं को आयात की जाने वाली वस्तुओं से पृथक करने वाली रेखा खींच दें, तो हम यह देखेंगे कि समस्त निर्यात रेखा के एक ओर और समस्त आयात रेखा के दूसरी ओर पड़ते हैं। अर्थात्, यह नहीं होगा कि अ देश A और C वस्तुओं का तो निर्यात किन्तु B वस्तु का आयात करे।

विभाजक रेखा की वास्तविक स्थिति क्या होगी अर्थात् A के नीचे होगी या B के नीचे या C के नीचे अथवा D के नीचे इस बारे में तब तक कुछ कहना कठिन है जब तक कि हम केवल लागत आँकड़ों (Cost data) पर ही विचार करते रहते हैं। सम्भवतः इसीलिये ओहलिन ने यह घोषित किया था कि जब दो से अधिक वस्तुयें होती है, तब तुलनात्मक लागत सिद्धान्त टूट जाता है। हैबरलर का कहना है कि विभाजक रेखा की सही स्थिति मालूम करने के लिये हम एक शर्त और प्रचलित करनी पड़ेगी वह इस प्रकार कि भुगतानों के सन्तुलन के डैबिट और क्रेडिट पक्ष बराबर होने चाहिये।[1] मान लीजिए कि लागत आँकड़े निम्नलिखित हैं —

---

[1] **Haberler** *The Theory of International Trade*, pp 137 139.

Real Cost per Unit (in terms of labour-hours) ↓ / Kinds of Goods →	A	B	C	D	E	F	G	H	I	J
In country I ($a_1, b_1, c_1, \ldots$)	20	20	20	20	20	20	20	20	20	20
In country II ($a_2, b_2, c_2, \ldots$)	40	36	32	30	25	20	18	16	14	12

नोट—उपरोक्त तालिका में Country I में विभिन्न वस्तुओं की इकाइयाँ इस प्रकार चुनी गई है कि प्रत्येक वस्तु की प्रति इकाई लागत एक ही समान (अर्थात् २०) आती है।

भागफल $\frac{W_2}{W_1 \times R}$ देश I द्वारा निर्यात और आयात की जाने वाली वस्तुओं के मध्य विभाजक रेखा की स्थिति को निर्धारित करता है। यदि दोनों देशों में मौद्रिक मजदूरियाँ समान हों $\left(\frac{W_1}{W_1 \times R} = 1\right)$, तो Country I जिन वस्तुओं को अपेक्षत. कम निरपेक्ष लागत पर उत्पन्न कर सकता है उन सबकी मौद्रिक लागतें (अर्थात् A से E तक वस्तुओं की मौद्रिक लागतें) country I में country II की अपेक्षा कम होंगी। अतः वह इन वस्तुओं का निर्यात और G, H, I तथा J वस्तुओं का आयात करेगा। F वस्तु सीमा पर पड़ती है, अतः यह साथ ही साथ दोनों देशों में उत्पन्न की जावेगी।

यदि मौद्रिक मजदूरियाँ (Money Wages) country II की अपेक्षा country I में १०% नीची हों, तो मौद्रिक लागत (Money cost)) भी country II की अपेक्षा country I में नीची होगी, भले ही इसकी वास्तविक लागत १०% ऊँची हो। अन्य शब्दों में, नीची मजदूरियाँ उत्पादन सम्बन्धी दशाओं की प्रतिकूलता को निष्प्रभावित कर देती है।

मान लीजिये कि मौद्रिक मजदूरियाँ दोनों देशों में समान है। जब ऐसा है, तो हम यह ठीक-ठीक जान सकते हैं कि कौन-सी वस्तुयें निर्यात और कौन-सी वस्तुयें आयात की जायेंगी तथा यह विनिमय किन मौद्रिक कीमतों पर सम्पन्न होगा। Country I २० प्रति इकाई कीमत पर A से E तक वस्तुओं को निर्यात करेगा और Country II १८ प्रति इकाई कीमत पर G को, १६ प्रति इकाई कीमत पर

H को, १४ प्रति इकाई कीमत पर I को और १२ प्रति इकाई कीमत पर J को निर्यात करेगा। यह परिस्थिति भुगतान के सन्तुलन में साम्यावस्था बनाये रखेगी या नहीं यह दोनो देशो की प्रतिपूरक माग (Reciprocal demand) पर निर्भर है।

उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि वह साम्यावस्था बनाये रखने मे असमर्थ है और Country I का भुगतान सन्तुलन निष्क्रिय हो गया है, अथवा युद्ध मुआविजा देते रहने से विद्यमान साम्यावस्था भङ्ग हो गई है जिससे कि Country I का भुगतान सन्तुलन निष्क्रिय हो गया है। ऐसी दशा मे मौद्रिक यन्त्र (Monetary mechanism) क्रियाशील हो जाता है, स्वर्ण Country I मे Country II को प्रवाहित होने लगता है, Country II मे कीमते और मजदूरियां बढ़ने लगती हैं, किन्तु Country I मे गिरने लगती है, W_1 छोटा और W_2 बड़ा होने लगता है, भागफल $\frac{W_2}{W_1 \times R}$ बढ़ जाता है, विभाजक रेखा का स्थान बदल जाता है, और F का समावेश Country I द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओ की श्रेणी मे हो जाता है। भुगतान-सन्तुलन मे साम्य निम्नलिखित कारणो से स्थापित हो जाता है —(i) अब F का निर्यात किया जा रहा है, (ii) Country I की अन्य निर्यात वस्तुये (A से E तक) पहले से सस्ती हो जाती है, और (iii) Country II की निर्यात वस्तुये महँगी हो जाती हैं। यदि ये बाते साम्य की स्थापना के लिये पर्याप्त न हो, तो Country I से स्वर्ण का निर्यात जारी रहेगा, विभाजक रेखा और भी आगे खिसक जायेगी Country I वस्तु G का आयात करने के बजाय निर्यात करने लगेगा, जिससे अतत साम्य की स्थापना हो जायेगी।

अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि दो वस्तुओ के उदाहरण की दशा मे जिस भाँति दोनो देश उस वस्तु मे विशिष्टता द्वारा, जिसमे प्रत्येक को तुलनात्मक लाभ है, अपने कुल उत्पादन को बढ़ाने में समर्थ हो जाते हैं उसी भाँति अनेक वस्तुओ की दशा मे भी है। दोनो देशो मे लाभ का विभाजन आयात और निर्यात वस्तुओ के मध्य विभाजक रेखा की सही स्थिति पर निर्भर है।[1]

---

[1] "It is clear that the complications we have just introduced do not disturb our presumption that unrestricted exchange of goods between countries is economically advantageous The examples we gave upon the assumption of only two goods showed plainly that both countries could increase their total output by each specialising upon the good in which it had a comparative advantage We can reach the same conclusion upon the assumption of numerous export and import commodities We can 'pair off' any export commodity with any

(Contd Next Page)

(III) यातायात व्यय—

हमारा यह निष्कर्ष कि एक दी हुई वस्तु अचानक ही एक निर्यात वस्तु से एक आयात वस्तु मे अथवा एक आयात वस्तु से एक निर्यात वस्तु मे बदल जाती है, अवास्तविक प्रतीत हो सकता है। कारण, यह निष्कर्ष इन कल्पनाओ (Assumptions) से उदय होता है कि यातायात लागतें शून्य है तथा स्थिर लागतें नियमशील हैं। जब हम यातायात व्ययो को विचार मे लते है, तो वस्तुओ की एक तीसरी श्रेणी, जो कि केवल आन्तरिक व्यापार मे प्रवेश करेंगी, प्रगट होती है। कोई भी वस्तु निर्यात से आयात श्रेणी को सीधे नही गुजरती, वरन् उसे पहले इस तीसरी श्रेणी म प्रवश करना पडता है और दोनो ही देशो मे, अपने अपने गृह बाजार के लिये उत्पन्न की जाती है। इसे हैबरलर ने निम्नलिखित ढङ्ग से समझाया है —

मान लीजिए कि country I से country II को A वस्तु का यातायात करने की वास्तविक लागत (श्रम इकाइयों मे या उत्पादक प्रसाधनो की इकाइयो मे, जिनमे भी a_1 b_1 c_1 आदि व्यक्त की गई हों) at_{12} है और विपरीत दिशा म यातायात की लागत at_{21} है। सुगमता हेतु यह भी मान लीजिये कि पूर्ति करने वाला देश ही यातायात व्यय का भुगतान करता है। ऐसी दशा मे हम यह कह सकते है कि country I द्वारा वस्तु का निर्यात तब किया जायेगा जबकि $\frac{a_1 + at_{12}}{a_2 + at_{12}} < \frac{W_2}{W_1 \times R}$ और आयात तब किया जावेगा जबकि $\frac{W_2}{W_1 \times R} < \frac{a_1}{a_2 + at_{21}}$ हो।

किन्तु $\frac{a_1}{a_2 + at_{21}} < \frac{a_1 + at_{12}}{a_2}$ है। अत, यदि $\frac{W_2}{W_1 \times R}$ का मूल्य उक्त दोनो मूल्यो के मध्य हो, जिससे कि $\frac{a_2}{a_2 + at_{21}} < \frac{W_1}{W_1 + R} < \frac{a_1 + at_{12}}{a_2}$ हो, तो वस्तु न तो आयात की जावेगी और न निर्यात की जावेगी। इस प्रकार किसी भी वस्तु के सम्बन्ध मे हमारे पास दो मूल्य होते हैं $\frac{a}{a_2 + at_{21}}$ और $\frac{a_1 + at_{12}}{a_2}$

अन्य शब्दो मे, जब तक दो देशो के मध्य वस्तु की लागत मे अन्तर एक देश से दूसरे देश को यातायात करने के व्यय से अधिक न होगा, तब तक उस वस्तु का निर्यात या आयात नही किया जावेगा। वह क्रम, जिसमे कि विभिन्न वस्तुओ को

---

import commodity It is clear that whichever of these pairs we consider, each country has an advantage in the commodity it exports relatively to the commodity it imports Thus, the division of labour between the two countries depends upon the exact position of the dividing line between export and import commodities"—Haberler *International Trade*, p 139

यह दिखाने हेतु रखा जायेगा कि यदि country I ने निर्यात बढाये तो कौन-सी वस्तु अगली बार निर्यात वस्तु बन जायेगी, यातायात व्ययो को विचार मे लेने पर बदल जाता है। किसी देश की निर्यात-क्षमता केवल इसकी तुलनात्मक उत्पादन लागत पर ही नही, जैसा कि हमने पहले मान लिया था, वरन् यातायात व्ययो पर भी निर्भर होती है।

इसे पिछली तालिका की सहायता से समझा सकते है। यदि country II से I को स्वर्ण जाने से अथवा R मे वृद्धि होने से भागफल $\frac{W_2}{W_1+R}$ छोटा हो जाता है, जिससे कि विभाजक रेखा A की दिशा मे खिसक जावे, तो वस्तु D निर्यात-वस्तु नही रहती, क्योकि यह भागफल $\frac{d_1+dt_{12}}{d_2}$ से नीचे गिर जाता है। किन्तु D अचानक ही आयात वस्तु मे परिणत नही हो जायेगी। वह आयात वस्तु तब ही बनेगी जबकि इस भागफल के मूल्य मे कुछ कमी और हो जाय तथा वह $\frac{d_1}{d_2+dt_{21}}$ से कम हो जाय।

किन्तु यातायात व्यय के प्रवेश के फलस्वरूप उत्पन्न हुई जटिलता के कारण हमारे इस अनुमान मे कोई परिवर्तन नही होता कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन प्रत्येक देश को लाभ पहुँचाता है। हाँ, यह अवश्य है कि 'बिना व्यय यातायात की दशा' की तुलना मे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन 'यातायात व्यय वाली दशा' मे कम सीमा तक ही सम्भव हो सकेगा। यातायात व्ययो के भुगतान की आवश्यकता विश्व को तब की अपेक्षा, जबकि वस्तुएँ अपेक्षत सबसे उपयुक्त स्थानो मे उत्पन्न की जावे और वहाँ से उन्हे बिना व्यय ही यातायात किया जा सके, अधिक गरीब बना देती है। लेकिन विश्व मे यातायात व्ययो के विद्यमान होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो रहा है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह राष्ट्रो को लाभप्रद है, क्योकि वे इसमे तब ही भाग लेंगे जबकि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का लाभ यातायात व्यय की अपेक्षा अधिक होगा।[1]

---

1 "The necessity of paying transport charges makes the world poorer than it would be if all goods could be produced in the relatively most suitable places and thence transported without any cost But in so far as international trade takes place despite the existence of transport costs, in must be advantageous, since it will be undertaken only if the gain from division of labour exceeds the costs of transport"—**Haberlar** *International Trade*, p 142

(IV) उत्पादन की परिवर्ती लागतें—

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का विवेचन करते हुए यह कल्पना भी की गई थी कि उत्पत्ति की प्रत्येक शाखा मे (दोनों देशो मे) स्थिर लागतों का नियम क्रियाशील है, जिससे किसी वस्तु की अतिरिक्त मात्राएँ पहले के बराबर प्रति इकाई श्रम व्यय से ही उत्पन्न की जा सकती हैं। हमारा पूर्व-परिचित उदाहरण यह था :—

वस्तुओं की श्रम लागतें

देश	श्रम लागत	गेहूँ की उत्पादित इकाइयाँ	कपड़े की उत्पादित इकाइयाँ
अमेरिका	१० दिन का काम	२०	२०
जर्मनी	१० दिन का श्रम	१०	१५

यदि जर्मनी गेहूँ की खेती शनैः शनैः कम कर देता है और इसके स्थान मे कपड़ा उत्पन्न करता है, तो प्रत्येक १० इकाई गेहूँ के लिए, जिन्हे वह उत्पन्न करना बन्द कर देता है, वह अतिरिक्त १५ इकाई कपड़ा उत्पन्न करने लगेगा। इसी प्रकार, अमेरिका म दोनो वस्तुओ के मध्य प्रतिस्थापन अनुपात १ १ पर स्थिर रहा आएगा।

अब हम स्थिर लागत की मान्यता को छोड देते है, क्योकि यह एक अपवाद मूलक दशा है। अधिक प्रचलित दशा बढ़ती हुई लागतो (या उपज ह्रास नियम) की है। एक विशेष बिन्दु के बाद, जो व्यवहार मे प्रतियोगिता के आधीन सदा ही पार कर लिया जाता है, अतिरिक्त मात्राएँ केवल प्रति इकाई बढती हुई लागत पर ही उत्पन्न की जा सकती हैं। इस नियम को विचार मे लेने का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की वैधता पर क्या प्रभाव पडेगा ?

यदि यह मानले कि जर्मनी और अमेरिका दोनो ही देशो मे उत्पत्ति बढती हुई लागतो के आधीन की जा रही है, तो उपरोक्त उदाहरण मे हमने जो अक लिये हैं वे सीमान्त उत्पत्ति से सम्बन्ध रखते हुए समझने चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शुरू होने के पूर्व स्थिति यह होगी कि जर्मनी मे उत्पन्न की गई गेहूँ की मात्रा मे जो पिछली वृद्धि की गई थी उसका व्यय प्रत्येक १० इकाई गेहूँ के लिए १० इकाई श्रम है और इसी प्रकार, कपड़े की सीमान्त लागत १५ इकाई कपड़े के लिये १० इकाई श्रम।

जब जर्मनी पर विदेशी प्रतियोगिता का दबाव पडता है और इसके वशीभूत होकर वह कपड़ा अधिक किन्तु गेहूँ कम उत्पन्न करने लगता है, तो कपड़ा उत्पन्न करने की सीमान्त लागत बढ़ेगी, क्योंकि कम उपयुक्त भूमियों पर भी सन (Flax) उत्पन्न किया जायेगा तथा विद्यमान प्रयोग वाली भूमियों पर अधिक श्रम और पूँजी लगाई जायेगी। दूसरी ओर, गेहूँ उत्पन्न करने की सीमान्त लागत घटेगी, क्योकि कम उपयुक्त भूमि या खेतो से हटा लिया जायगा तथा अन्य भूमियों पर पहले की अपेक्षा कम श्रम और पूँजी व्यय की जायेगी।

परिणामतः सीमान्त लागतो का अनुपात जर्मनी मे गेहूँ के पक्ष मे परिवर्तित होगा। किन्तु अमेरिका मे वह कपडे के पक्ष मे परिवर्तित हो जायेगा, क्योंकि वह पहले की अपेक्षा अधिक गेहूँ और कम कपडा उत्पन्न करता है। इस प्रकार, जैसे-जैसे जर्मनी गेहूँ उत्पादन के स्थान मे वस्त्र-उत्पादन और अमेरिका वस्त्र उत्पादन के स्थान मे गेहूँ-उत्पादन बढाता जायेगा, दोनो देशो के मध्य तुलनात्मक लागत अनुपात मे अन्तर चार दिशाओ से कम होने लगेगा और इसके फलस्वरूप प्रतिस्थापन प्रक्रिया देर-सवेर मे समाप्त हो जायेगी। श्रम-विभाजन इस अर्थ मे अपूर्ण रहेगा कि जर्मनी अपने गेहूँ के उत्पादन को पूर्ण रूप से नही छोडेगा, किन्तु उतनी भूमि तक सीमित कर देगा जोकि अमरीकी प्रतियोगिता से सफलता पूर्वक प्रतियोगिता कर सके। इसी प्रकार, अमेरिका अपने कपडा उत्पादन को पूर्णतः नही छोडेगा किन्तु सीमित कर देगा। श्रम-विभाजन कहा तक किया जायेगा अथवा अन्य शब्दो मे, गेहूँ मे अमेरिका और कपडे मे जर्मनी का तुलनात्मक लाभ सीमान्तों पर कब तक, जबकि अमेरिका और जर्मनी मे चल रहे प्रतिस्थापन के प्रभावस्वरूप सीमान्त बदल रहे हो, जारी रहेगा। यह कुछ अश मे उस तेजी पर निर्भर है जिससे लागतें उत्पादन बढने पर बढती हैं और उत्पादन घटने पर घटती है।[1]

बढती हुई लागतो के तथ्य को हम पूर्व उदाहरण मे सम्मिलित कर सकते है। अभी तक हमने प्रत्येक वस्तु के लिये एक उत्पादन लागत निर्दिष्ट की थी—जैसे वस्तु A के लिए देश मे I मे a_1 और देश II a_2, किन्तु अब हम प्रत्येक वस्तु के लिये लागतो की एक सम्पूर्ण शृखला निर्दिष्ट कर देगे, जैसे वस्तु A के लिए देश I मे a'_1, a''_1, a'''_1......और देश II मे a'_2, a''_2, a'''_2......और इसी प्रकार B, C, D के लिए भी......ये अङ्क वस्तु की विभिन्न मात्रायें उत्पन्न करने की विभिन्न सीमान्त लागतें सूचित करते है।

अन्य जटिलताओ की भाँति बढती हुई लागतो से सम्बन्धित जटिलता को विचार मे लेने से कोई विशेष अन्तर नही पडता है। निःसन्देह श्रम विभाजन स्थिर लागतो की दशा की अपेक्षा अब कम दूरी तक बढाया जायेगा, क्योंकि जैसे-जैसे इसे बढाया जाता है एक देश (जो कि सीमान्त पर है) की तुलनात्मक हानि कम होती जाती है तथा अन्ततः समाप्त हो जाती है। इस प्रकार, यदि हम (बढती हुई) सीमान्त लागतो से (न कि स्थिर लागतो से) सम्बन्धित लागत-आंकडो पर विचार करें तो देश की तुलनात्मक हानि कम होती है; और उस बिन्दु से आगे, जिस पर बढती हुई लागतें दो देशों के मध्य लागत अन्तरों को खत्म कर देती है, श्रम-विभाजन को बढाना लाभदायक नही होता। किन्तु उस बिन्दु तक बढाना तो लाभदायक

[1] *Ibid.*, p 143

है हो । अतः यह धारणा कि स्वतन्त्र व्यापार सर्वश्रेष्ठ आर्थिक नीति है, ठीक प्रमाणित होती है ।[1]

घटती हुई लागतें एक जटिल समस्या प्रस्तुत करती हैं । इन पर १३ वें अध्याय में विचार किया जायेगा ।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त और अर्द्ध विकसित देश

अर्द्ध विकसित देशों पर तुलनात्मक लागत सिद्धान्त लागू करने की कई आधारों पर आलोचना की गई है । प्रमुख आलोचनायें निम्नांकित हैं —

(१) तुलनात्मक लागत सिद्धान्त स्थैतिक स्वभाव का है—यह एक विशेष समय पर कुल उत्पत्ति को अधिकतम् करने पर बल देता है चाहे विकास की दर कुछ भी हो । किन्तु चालू उत्पत्ति के अधिकतम होने से विकास-दर भी अधिकतम हो जाये ऐसा जरूरी नहीं है । एक अर्द्ध विकसित देश के लिए विकास दर बढ़ना चालू उत्पत्ति के अधिकतम होने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है । उसके प्रसाधनों का वितरण वहां साहसियों की वृद्धि, श्रम शक्ति के गुण में सुधार और परिमाण में वृद्धि, कौशल में वृद्धि, बचत सम्बन्धी आदतों, उपभोग के स्वरूप, जनसंख्या की वृद्धि दर आदि पर प्रभाव डालते हुए अर्थव्यवस्था की विकास की दर को प्रभावित करता है । एक अल्प विकसित देश के लिये यह लाभप्रद होता है कि वह अपने प्रसाधनों को विकास प्रोत्साहक उद्योगों में लगाये, चाहे वही प्रसाधन कुछ अन्य उद्योगों में चालू उत्पत्ति में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि कर सकते हैं, *क्योंकि विकास दर में* वृद्धि नहीं होती है ।

(२) तुलनात्मक लागत सिद्धान्त अल्पदृष्टीय है—किस वस्तु का कौनसे देश में उत्पादन किया जाना चाहिये इसका निर्णय करने में तुलनात्मक लागत ... *न विभिन्न देशों में केवल चालू उत्पादन लागत को ही विचार में लेता है* । ... उत्पादन की दीर्घकालीन उत्पादन लागतों को उचित महत्त्व नहीं देता । प्रारम्भ में कुछ औद्योगिक वस्तुओं की उत्पादन लागत अर्द्ध विकसित देशों में विकसित देशों की अपेक्षा ऊँची हो सकती है । किन्तु दीर्घकाल में ऐसे उद्योगों को यदि प्रारम्भिक अवस्थाओं में संरक्षण प्रदान किया जाय तो इन वस्तुओं की उत्पादन लागत अर्द्ध विकसित देशों में अपेक्षाकृत नीची हो सकती है, क्योंकि वहां इन वस्तुओं के उत्पादन

---

1 "Thus, the comparative disadvantage of a country is less if we regard the cost data as relating to (increasing) marginal costs and not to constant costs, and it is not profitable to carry the division of labour beyond the point at which increasing costs wipe out the cost differences between the two countries. But it is profitable to carry it upto that point. Our presumption that Free Trade is the best economic policy, therefore, remains intact."—Haberler *The Theory of International Trade*, p. 143

के लिये अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल प्राकृतिक प्रसाधन उपलब्ध होते है। आज विकसित देशो मे अनेक औद्योगिक वस्तुओ की उत्पादन लागतें इसलिए नीची हैं कि उन्होंने कृत्रिम अनुकूल सुविधायें (जैसे—विशाल पूँजी, बेहतर टेक्नॉलाजी, दक्ष श्रम) विकसित कर ली है। यदि यह सुविधायें अर्द्ध विकसित देश भी विकसित कर लें, तो वह अनेक औद्योगिक वस्तुयें विकसित देशों की अपेक्षा सस्ती बना सकते है, क्योंकि उनको प्राकृतिक सुविधायें प्राप्त है जो विकसित देशो को नही है। कोई कारण नही है जो अर्द्ध विकसित देश कृत्रिम सुविधायें विकसित न कर सकें बशर्ते सच्चाई से प्रयास करें। किन्तु तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तो यह मान कर चलता है कि साधन-भंडार स्थिर और अपरिवर्तनीय है।

किन्तु वर्तमान तुलनात्मक लाभ के अनुरूप विशिष्टीकरण के लाभों की उपेक्षा करना एक तेजी से बदलते हुए विश्व मे हानिप्रद भी हो सकता है, क्योंकि सम्भव है कि जब तक विश्व दीर्घकालीन उत्पत्ति-अनुकूलतम की अवस्था मे पहुँचे, विभिन्न देशो के तुलनात्मक लाभो मे कुछ देशो मे नये प्रसाधनों की खोज या टेक्नॉलॉजी के परिवर्तनो के फलस्वरूप परिवर्तन हो जाये। अत दीर्घकालीन उत्पत्ति अनुकूलतम प्राप्त करने के लोभ मे देश सक्रान्तिकालीन व्यय उठाते रह सकते हैं और चालू तुलनात्मक लाभ के आधार पर विशिष्टीकरण के लाभो को खोते रह सकते है। किन्तु यह बात कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध मे सही हो सकती है। कुल पर, दीर्घकालीन तुलनात्मक लाभो के आधार पर विशिष्टीकरण के लाभ सक्रान्तिकालीन लागतों की अपेक्षा कही अधिक होते है, क्योंकि ऐसे मौलिक परिवर्तन जो कि तुलनात्मक लाभो को बदल दें, बार-बार और शीघ्रतापूर्वक घटित नही होते।

(३) **विश्व आय के वितरण की उपेक्षा की गई है**—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त केवल उत्पादन पक्ष को ही दृष्टिगत रखता है। कुल विश्व उत्पादन कैसे अधिकतम किया सकता है इसे तो वह बताता है किन्तु वितरण की उपेक्षा कर देता है। किसी नीति का विश्व के आर्थिक कल्याण पर जो प्रभाव पडता है उसका मूल्यांकन करने मे नीति का विश्व आय के वितरण पर पडने वाला प्रभाव कम महत्वपूर्ण नही होता। विश्व आय को अधिकतम करने वाली नीतियां, जो इसके वितरण को महत्व न देती हों, अर्द्ध विकसित देशों को कदापि स्वीकार्य न होंगी जब तक कि विश्व आय के वितरण का नियमन करने के लिये कोई प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्था न बनी हो, क्योंकि ऐसी नीतियाँ प्राय. अर्द्ध विकसित देशो के हिस्से को कुप्रभावित करती हैं। साधारणत, प्रति व्यक्ति आय कृषि की अपेक्षा उद्योग में ऊँची होती है। यदि कम विकसित देश विश्व आय मे एक न्यायोचित हिस्सा पाना चाहें, तो उन्हें अपने उद्योग का विकास करना होगा चाहे उनके ऐसा करने मे विश्व आय मे कुछ कमी आ जाय। किन्तु उन्हे यह सावधानी रखनी चाहिये कि उनके व्यापारिक प्रतिबन्ध विश्व आय को कहीं इतना कम न कर दें कि इसमें उनका निरपेक्ष हिस्सा घट जाय।

हाल के अनुभव से पता चला है कि प्राथमिक उत्पादन वाले देशों को बहुत अनुकूल व्यापार-शर्तें नहीं मिलने वाली है। कुछ अर्थशास्त्रियों को यह विश्वास था कि इन देशों को भविष्य में अनुकूल व्यापार शर्तें मिल सकेंगी, क्योंकि प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन पर बढ़ती हुई लागतें कार्यशील होनी हैं जबकि औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन पर घटती हुई लागतें। किन्तु इतिहास ने इस विश्वास को गलत प्रमाणित कर दिया है। कुछ लोग यह विश्वास करते है कि व्यापार शर्तें जल्द ही प्राथमिक उत्पादक देशों के पक्ष में हो जायेंगी, क्योंकि उन्होंने अपने औद्योगीकरण के लिये नियोजित प्रयास आरम्भ कर दिये है। एक ओर तो औद्योगीकरण औद्योगिक वस्तुओं की पूर्ति में भारी वृद्धि कर देगा तथा दूसरी ओर वह प्राथमिक उपजों के लिये माँग बढ़ा देगा। किन्तु विभिन्न अर्द्ध विकसित देशों के विकास कार्यक्रमों का विश्लेषण करने से यह साफ पता चलता है कि इन्होंने उद्योग के साथ-साथ कृषि के विकास को भी महत्व दिया है। वह अनुभव करने लगे है कि विकसित कृषि औद्योगिक विकास की पूर्व शर्त है। अतः कच्चे मालों का अकाल पड़ने की कोई सम्भावना नहीं है और इसलिए व्यापार-शर्तें प्राथमिक देशों के पक्ष में परिवर्तित होने की सम्भावना भी कम है। सच तो यह है कि कई कारणों से व्यापार शर्तें उनके अधिक प्रतिकूल हो जाने की आशंका है, जैसे—प्राकृतिक कच्चे मालों के स्थानापन्न का पता चलना, औद्योगिक देश में भी कृषि का तेजी से विकास होना, वैज्ञानिक अनुसंधानों के फलस्वरूप प्रति निर्मित इकाई कच्चे माल के प्रयोग में कमी होना, विकसित देशों द्वारा सरक्षण की नीति अपनाना, विकसित देशों में जनसंख्या बढ़ने की दर घटना आदि।

(४) **तुलनात्मक लागत सिद्धान्त सभी देशों में पूर्ण रोजगार और उत्पत्ति साधनों में पूर्ण गतिशीलता की कल्पना करता है।** किन्तु अर्द्ध विकसित देशों में व्यापक बेकारी अर्द्ध रोजगार देखते है। वहाँ कृषि में मानव शक्ति की सीमान्त उत्पादकता लगभग शून्य (और कुछ मामलों में तो ऋणात्मक) है। यदि बेकार रहने वाली मानव शक्ति को आयात-स्थानापन्नों का उत्पादन में लगाया जाय, तो बेकार रहने की अपेक्षा वह राष्ट्रीय लाभांश में कुछ न कुछ वृद्धि तो कर ही सकेगी।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है, जो यह कि एक अर्द्ध विकसित देश में बेकारी मुख्यतः पूँजी, भूमि आदि प्रसाधनों की कमी से उदय होती है। अतः वहाँ केवल निर्यात आधिक्य होना मात्र पर्याप्त नहीं है। इसके विपरीत, रोजगार में आयात आधिक्य के द्वारा वृद्धि की जा सकती है। उदाहरणार्थ, पूँजीगत इन्वेस्टमेन्ट के अतिरिक्त आयात अतिरिक्त श्रम को काम दे सकते हैं। अतः आयातों पर प्रतिबन्ध केवल उन्हीं वस्तुओं के सम्बन्ध में रोजगार की मात्रा को बढ़ा सकता है जिनके लिये स्थानापन्न देश के अन्दर ही मुख्यतः बेकार श्रमिकों की सहायता से (अधिक पूरक साधनों की आवश्यकता के बिना) उत्पन्न किये जा सकते हों।

(५) **तुलनात्मक लागत सिद्धान्त सामाजिक लागतों की उपेक्षा करता है—**

यह सिद्धान्त प्राइवेट लागतों को तो दृष्टिगत रखता है लेकिन सामाजिक लागतों को विचार मे नही लेता। जहाँ प्राइवेट और सामाजिक लागतो मे भारी अन्तर रहता हो, तुलनात्मक लागतो के आधार पर विशिष्टीकरण करने से विश्व का आर्थिक कल्याण अधिकतम नही हो सकेगा।

(६) **तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना करता है।** किन्तु अर्द्धविकसित देशो मे हाल के वर्षों मे शीघ्र विकास के लिये नियोजन पर बल दिया जाने लगा है, जिस कारण कीमत मिकेनिज्म के स्वतन्त्र क्रियाकलाप को धक्का लगा है। अपूर्ण प्रतियोगिता वाले विश्व में कीमत सीमान्त लागतो के (जिनकी चर्चा तुलनात्मक लागत सिद्धान्त करता है) बराबर नहीं होती है।

(७) **अर्द्धविकसित देशो की विचित्र स्थिति**—अर्द्धविकसित देशो को कृषि मे, जो कि बढती हुई लागतो के आधीन है, तुलनात्मक लाभ है। अत यदि वे कृषि मे विशिष्टीकरण कर, तो कृषि उत्पादन की वृद्धि के साथ साथ उत्पादन लागत बढ़ेगी। उन्हे उद्योग मे, जिस पर घटती हुई लागते क्रियाशील है, तुलनात्मक हानि होती है। अत जब वह औद्योगिक उत्पादन को घटायेगे, तो इसकी उत्पादन लागत भी बढ़ेगी। इस प्रकार, विशिष्टीकरण का विस्तार कृषि व उद्योग दोनो मे उत्पादन लागतो को बढायेगा, जिससे विश्व बाजार मे अर्द्धविकसित देशो की प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति और ज्यादा बिगड जायेगी तथा वह अपनी विकास क्षमताओ का विदोहन करने मे बाधायें अनुभव करेगे। अत जब किसी देश को बढती हुई लागतो वाले व्यवसाय म तुलनात्मक लाभ किन्तु घटती हुई लागतो वाले उद्योग मे तुलनात्मक हानि हो, तो उस देश के लिये तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के निर्देशानुसार विशिष्टीकरण करना लाभदायक नही भी हो सकता है।

परीक्षा प्रश्न :

१ तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की समीक्षा करिये और इस सिद्धान्त की आधुनिक व्याख्या पर प्रकाश डालिए। (आगरा, एम० कॉम०, १९६६)
[Examine the theory of Comparative Costs Throw light on the modern Concept of the theory]
प्रतिष्ठित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की परिसीमायें बताइये।
(आगरा, एम० ए०, १९६६)
[Indicate the limitations of the classical theory of Comparative costs]

२ परिवर्ती लागतो और यातायात व्ययो को विचार मे लेने पर तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के निष्कर्षो पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?
(विक्रम, एम० ए०, १९६६)

[How is the theory of comparative costs affected by the introduction of (a) varying costs and (b) transport costs ?]

४ तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को समझाइये जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को लागू होता है । इस विषय पर आधुनिकतम विचार प्रस्तुत करिये ।

(आगरा, एम० ए०, १९६८)

[Explain the theory of Comparative costs as applied to international trade Give the latest views on the subject]

५ "लागत अनुपातों में अन्तर होना ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार है ।' स्पष्ट कीजिये । (जीवाजी, एम० ए०, १९६७)

['A difference in the cost ratios is then the basis of international trade ' Explain]

६ तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को जिस तरह यह विकासोन्मुख देशों को लागू होता है समझाइये । (गोरखपुर, एम० ए०, १९६९)
[Explain the theory of comparative costs Is it applicable to developing countries ?]

७ मिर्डल के इस कथन के सन्दर्भ में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की परिसीमायें इंगित करिये कि 'जिस तरह आर्थिक सिद्धान्त विकसित हुआ वह लाखों करोड़ों लोगों की रुचियों और महत्त्वाकांक्षाओं का एक अंश तक विवेकीकरण था । (इलाह०, एम० ए०, १९६८)

[Indicate the limitations of the theory of comparative costs in the light of Myrdal's observation that economic theory, as it was developed, who to some extent a rationalisation of the interests and aspirations of the millions where it grew]

८ इस तर्क का विवेचन करिये कि जब तक तुलनात्मक लागतों में अन्तर नहीं होगा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए आवश्यकता नहीं होगी, किन्तु तुलनात्मक लागतों में यदि समानता स्थापित होने की सम्भावना नहीं रहती तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कोई अन्त नहीं होता ।

(इलाहा०, एम० कॉम०, १९६७)

[Discuss the argument that there would be no motive for international trade unless there was initially a difference between comparative costs, but there would be no limit to international trade unless there was finally an equality between comparative costs]

९ बढ़ती हुई लागतों का नियम दो देशों के मध्य व्यापार को कैसे प्रभावित करता है ? विवेचन कीजिये । (विक्रम०, एम० ए०, १९६९)

[How does the law of increasing cost affect trade between two countries ? Discuss]

८

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में माँग एवं पूर्ति

(Supply and Demand in International Trade)

परिचय—

रिकार्डो और उनके तात्कालिक अनुवर्तियों ने केवल व्यापार को जन्म देने वाली परिस्थितियों का ही वर्णन किया था और उनका विश्लेषण केवल इतना ही बताने के लिये पर्याप्त था कि 'व्यापार-शर्तें' (Terms of Trade) किन सीमाओं के अन्दर रहेंगी। यथा वस्तुओं का विनिमय व्यापारिक देशों के व्यापार पूर्व लागत अनुपातों (Pre trade cost ratios) के मध्य किया जायेगा। किन्तु इन सीमाओं के भीतर किस विशेष बिन्दु पर व्यापार शर्तें तय होंगी, इसका उत्तर वह नहीं दे पाये थे। सच तो यह है कि व्यापार शर्तों की वास्तविक स्थिति प्रत्येक देश की (दूसरे देश द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तु के लिये) माँग पर निर्भर होती है। यदि कोई देश अनेक वस्तुये उत्पन्न करता है, तो केवल लागत अङ्को (Cost data) को देख कर ही यह नहीं बताया जा सकता कि वह कौन सी वस्तुयें निर्यात और कौन-सी वस्तुयें आयात करेगा। आयात और निर्यात की वस्तुओं के मध्य विभाजक-रेखा माँग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। सर्व प्रथम जॉन स्टुअर्ट मिल ने और बाद में मार्शल ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में आवश्यक संशोधन और विस्तार करके उसे उक्त प्रश्नों का उत्तर देने योग्य बनाया। प्रस्तुत अध्याय में इन्हीं महत्वपूर्ण प्रयासों की चर्चा की गई है।

मिल का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों का सिद्धांत
(Mill's Theory of International Values)

मिल द्वारा 'माँग' के महत्त्व पर बल दिया जाना—

किसी देश में एक विदेशी वस्तु का मूल्य गृह उत्पत्ति की मात्रा पर, जो कि उसके बदले में विदेशों को देनी पड़ेगी, निर्भर करता है। अन्य शब्दों में, विदेशी वस्तुओं के मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की शर्तों पर निर्भर होते हैं। किन्तु ये शर्तें स्वयं किन पर निर्भर हैं? वह क्या है जो एक निश्चित मात्रा में कपड़े के बदले में इङ्गलैंड से स्पेन को एक पाइप विनिमय करने हेतु प्रेरित करता है? मिल की

---

[1] *Principles of Political Economy*, Book 3, Chapter XVIII

सम्मति है कि उनकी उत्पादन लागते कदापि नही है। 'यदि कपडा और शराब दोनो ही स्पेन मे बनाये जाते, तो ये स्पेन में अपनी उत्पादन लागतो पर विनिमय किये जाते, यदि ये दोनो इङ्गलैंड मे बनाये जाते, तो भी उनका विनिमय उत्पादन लागतो पर ही किया जाता, किन्तु जब समस्त कपडा इङ्गलैंड मे और समस्त शराब स्पेन मे उत्पन्न की जाती है, तो ये ऐसी परिस्थितियो मे है जिनको उत्पादन-लागत का नियम लागू नही होता है। तदनुसार, जैसा कि हमने ऐसी ही दुविधापूर्ण स्थिति मे एक बार पहले भी किया था, हमे एक प्राचीन नियम--माग और पूर्ति के नियम का सहारा लेना चाहिये और इसमे ही हम पुन अपनी कठिनाई का समाधान पायेंगे।"[1] इस प्रकार मिल के अनुसार व्यापार की दोनों वस्तुओ का विनिमय मूल्य दोनो देशो मे, माग के प्रभाव द्वारा, इस प्रकार से समायोजित (Adjust) होता है कि प्रत्येक देश के आयात उसके निर्यातो से बिल्कुल चुक जायेंगे।

उदाहरण—

जब दो देशो के मध्य व्यापार होने लगता है तब दोनो वस्तुए एक-दूसरे से, दोनो देशो मे एक समान विनिमय दर पर (यातायात व्यय को छोडते हुए) ही विनिमय की जावेगी। तर्क के लिये मानिये कि एक देश से वस्तुए दूसरे देश को बिना श्रम या व्यय के यातायात की जा सकती है। जैसे ही व्यापार आरम्भ होगा, दोनो वस्तुओं का मूल्य (एक दूसरे मे अनुमानित) दोनो देशो मे समान स्तर पर आ जाएगा।[2]

मान लीजिये कि श्रम के रूप मे १० गज कपडे की लागत उतनी ही है जितनी कि इङ्गलैंड मे १५ गज लिनिन (Linen) और जर्मनी मे २० गज लिनिन

---

1 "If the cloth and the wine were both made in Spain they would exchange at their cost of production in the Spain, if they were both made in England they would exchange at their cost of production in England but all the cloth being made in England, all the wine in Spain they are in such circumstances to which the law of cost of production is not applicable We must accordingly, as we have done before in a similar embarrass ment, fall back upon an antecedent law, that of supply and demand, and in this we shall again find the solution of our difficulty"—J S Mill *Principles of Political Economy*, Chapt 18.

2 "Supposing for the sake of argument that the carriage of the commodities from one country to the other could be effected without labour and without cost, no sooner would the trade be opened than the value of the two commodities, estimated in each other, would came to a level in both countries"—*Ibid*

की। इस मान्यता के अन्तर्गत, यह इङ्गलैंड के हित में होगा कि वह जर्मनी से लिनिन मँगाये और जर्मनी के हित में होगा कि वह इङ्गलैंड से कपड़ा मंगाये। जब प्रत्येक देश दोनों ही वस्तुयें अपने लिये बनाते थे, तब १० गज कपड़ा इङ्गलैंड में १५ गज लिनिन से और जर्मनी में २० गज लिनिन से विनिमय होता था। अब दोनों देशों में कपड़ा लिनिन से समान संख्या में गजों में बदला जायेगा। यह समान संख्या क्या होगी ?

	कपड़ा	लिनिन
इङ्गलैंड में १० दिन के श्रम का उत्पादन	१० गज	१५ गज
जर्मनी में १० दिन के श्रम का उत्पादन	१० गज	२० गज
इङ्गलैंड में व्यापार पूर्व लागत अनुपात १० : १५		
जर्मनी में व्यापार पूर्व लागत अनुपात १० : २०		

यदि १५ गज लिनिन के बदले में १० गज कपड़ा बदला गया, तो इङ्गलैंड की स्थिति पूर्ववत् ही रहती है और जर्मनी ही समस्त लाभ ले लेगा। यदि २० गज लिनिन के बदले में १० गज कपड़ा विनिमय हुआ तो जर्मनी की स्थिति पूर्ववत् रहेगी और समस्त लाभ इङ्गलैंड बचा लेगा। यदि १५ और २० के बीच में किसी भी संख्या के बदले में विनिमय किया गया, तो व्यापार का लाभ दोनों देशों में बँट जायेगा। मान लीजिये कि १० गज कपड़े का विनिमय १८ गज लिनिन से होता है, तो इङ्गलैंड को प्रत्येक १५ पर ३ गज कपड़े का लाभ होगा और जर्मनी प्रत्येक २० में से २ की बचत कर लेगा। अब समस्या यह है कि वे कौन से कारण हैं, जो उस अनुपात को, जिसमें कि इङ्गलैंड का कपड़ा जर्मनी में लिनिन से विनिमय किया जायेगा, निर्धारित करते हैं।

चूँकि विनिमय मूल्य घटता बढ़ता रहता है, इसलिये हम कोई भी विनिमय मूल्य मान कर चल सकते हैं। मान लीजिये कि बाजार की सौदेबाजी के फलस्वरूप १० गज कपड़ा दोनों देशों में १७ गज लिनिन से विनिमय होता है किसी वस्तु के लिये माँग (अर्थात् वह मात्रा जिसके लिये क्रेता मिल जायेंगे) कीमत के अनुसार घटती-बढ़ती है। जर्मनी में १० गज कपड़े की कीमत अब १७ गज लिनिन है (अथवा १७ गज लिनिन के तुल्य जो भी जर्मन मुद्रा हो उसके बराबर है) अब इस कीमत पर गजों में कपड़े की कोई विशेष मात्रा ऐसी है जिसकी माँग की जायेगी, अर्थात् जिसके लिये क्रेता मिल जायेंगे। कपड़े की एक दी हुई मात्रा ऐसी है, जिससे अधिक कपड़ा उस कीमत पर नहीं बेचा जा सकेगा, और इससे कम मात्रा में कपड़ा उस कीमत पर माँग की पूरी सन्तुष्टि न कर सकेगा। मान लीजिये कि यह मात्रा १० गज की १००० गुनी है।

अब इङ्गलैंड में, १७ गज लिनिन की कीमत १० गज कपड़ा (या इसके बराबर इङ्गलैंड की मुद्रा) है। लिनिन की गजों में एक विशेष मात्रा ऐसी है जो

उस कीमत पर केवल माँग की सन्तुष्टि भर कर सकेगी, अधिक नहीं। मान लीजिये कि यह सख्या १७ गज की १००० गुनी है।

१७ गज लिनिन का १० गज कपडे से जो अनुपात है वही १७ गज के १००० गुने का १० गज के १००० गुने से है। विद्यमान विनिमय मूल्य पर, इङ्गलैंड को जितनी मात्रा मे लिनिन की आवश्यकता है वह कपडे की उस मात्रा के लिये जो कि उन्ही विनिमय-शर्तों पर जर्मनी को चाहिए, पूरा पूरा भुगतान कर सकेगी। प्रत्येक पक्ष म माग इतनी पर्याप्त है कि वह दूसरे पक्ष की पूर्ति को ग्रहण (क्रय) कर सकती है। चूँकि यहा माँग और पूर्ति के नियम की शर्त पूरी हो गई है, इसलिए दोनो वस्तुये १० गज कपडे के बदले मे १७ गज लिनिन की दर पर विनिमय की जाती रहेगी।

किन्तु हमारी कल्पनाये कुछ और भी हो सकती थी। मान लीजिये, पारस्परिक विनिमय की कल्पित दर पर, इङ्गलैंड १७ गज के ८०० गुने से अधिक लिनिन का उपभोग करने की इच्छा नही रखता है। स्पष्टत, लिनिन की यह मात्रा मानी हुई विनिमय दर पर, १० गज के १००० गुने कपडे का, जिसकी हमारी कल्पना के अनुसार जर्मनी की आवश्यकता है, मूल्य चुकाने के लिए पर्याप्त न होगी। इस कीमत पर तो जर्मनी को केवल १० गज का ८०० गुना कपडा ही मिल सकेगा। शेष २०० की प्राप्ति के लिए, अन्य साधन के अभाव मे वह अधिक कीमत (१७ गज से भी अधिक लिनिन) १० गज कपडे के बदले मे देने को विवश हो जायेगा मान लीजिये कि वह १८ गज का प्रस्ताव रखता है। सम्भवत इस कीमत पर इङ्गलैंड लिनिन की अधिक मात्रा लेने को तैयार हो जायेगा। मान लीजिए कि वह १८ गज का ९०० गुना उपभोग करने को तैयार है। दूसरी ओर, कपडे की कीमत बढ जाने के कारण इसकी माँग जर्मनी मे घटेगी। यदि जर्मनी १० गज के १००० गुने के बजाय अब केवल १० गज का ९०० गुना कपडा लेकर ही सन्तुष्ट हो जाय, तो यह १८ गज के ९०० गुने लिनिन के, जिसे इङ्गलैंड बदली हुई कीमत पर खरीदने को तैयार है, मूल्य का भुगतान कर सकेगा। इस प्रकार, माँग दोनो पक्षो की ओर पुन पूर्ति को ग्रहण करने के योग्य हो जायेगी और १८ के बदले १० गज वह दर होगी जिस पर कि दोनो देशो मे कपडा लिनिन से विनिमय किया जायेगा।

स्पष्टत जब दो देश परस्पर दो वस्तुओ मे व्यापार करते है, तो इन वस्तुओ का विनिमय मूल्य, एक दूसरे से सापेक्षिक रूप म दोना पक्षा के उपभोक्ताओ की रुचियो और परिस्थितियो के अनुसार, समायोजित हो जायेगा। यह समायोजन इस तरीके से होगा कि एक देश द्वारा अपने पडोसी देश से वस्तुओ की जो मात्रायें, आयात की जावेंगी वे दूसरे को भुगतान करने के लिए पर्याप्त होगी। चूँकि उपभोक्ताओ की रुचियो और परिस्थितियो को किसी विशेष नियम मे बाँधा नहीं जा सकता, इसलिए उन अनुपातो को भी निर्धारित करना कठिन है जिनमे कि दोनो

वस्तुओं का विनिमय होगा। हम यह जानते है कि ये सीमायें, जिनके अन्दर ही अन्दर घटा-बढ़ी हो सकती है, एक देश मे उनकी उत्पादन लागतो के मध्य अनुपात और दूसरे देश मे उनकी उत्पादन लागतो के मध्य अनुपात है। १० गज कपड़े का विनिमय २० गज लिनिन से अधिक और १५ गज लिनिन से कम नही हो सकेगा। किन्तु इनके बीच की किसी भी सख्या से विनिमय हो सकता है। अत वह अनुपात जिससे व्यापार का लाभ दोनों देशों मे बँट सकता है कई हो सकते है। प्रत्यक देश का आनुपातिक भाग जिन परिस्थितियो पर निर्भर रहता है उनकी एक मोटी रूपरेखा मात्र ही दी जा सकती है।

यातायात व्यय—

यातायात व्यय द्वारा जो परिवर्तन ला दिया जाता है उसके बारे मे मिल इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि—"यातायात व्यय किस प्रकार विभाजित होगे इसका तो कोई ठीक नही है किन्तु इतना निश्चित है कि एक देश उन वस्तुओ का निर्यात करेगा जिनमें उसे अधिकतम लाभ है और उन वस्तुओ का आयात करेगा जिनमे उसे अधिकतम असुविधा होती है। इनके मध्य अनेक वस्तुये ऐसी है जिनका व्यापार इसलिए नही हो सकेगा कि सम्भावित लाभ यातायात व्ययो द्वारा ही खपा लिया जाता है।"

दो से अधिक वस्तुयें—

दो से अधिक वस्तुओ के सम्बन्ध मे व्यापार का विवेचन करते हुए मिल ने प्रतिपूरक माँग की भूमिका पर विशेष रूप से बल दिया। "यदि हम इङ्गलैण्ड की ओर से कोयला या कपास और जर्मनी की ओर से शराब, अनाज अथवा लकडी बढ़ाते, तो इससे सिद्धान्त मे कोई फर्क नही पड़ेगा। प्रत्येक देश के निर्यात आयातो के भुगतान के लिए पर्याप्त (Exactly equal) होने चाहिए। यहा हमारा अभिप्राय अब 'कुल आयात' और कुल निर्यात' से है, एक विशेष वस्तु के आयात निर्यात से नही। अंग्रेज श्रम के ५० दिनो का उत्पादन चाहे वह कपडा, कोयला, लोहा या अन्य किसी वस्तु के रूप मे हो जर्मन श्रम के ४० या ५० या ६० दिन के लिनिन, शराब, अनाज या लकडी किसी भी रूप मे उत्पादन के बदले, अन्तर्राष्ट्रीय माँग के अनुसार विनिमय होगा। एक न एक अनुपात ऐसा होता है जिस पर दोनो की एक दूसरे के उत्पादो के लिए माँग सन्तुलित हो जाती है, अर्थात् इङ्गलैण्ड द्वारा जर्मनी को दी गई वस्तुओं का पूरा-पूरा (अधिक नहीं) भुगतान उन वस्तुओ द्वारा हो जायेगा, जो कि जर्मनी इङ्गलैण्ड को देगा। अत इसी अनुपात मे अंग्रेज श्रम की उपज और जर्मन-श्रम की उपज जो एक दूसरे से विनिमय की जायेगी।"[1]

---

[1] "If we now super-add coals or cottons on the side of Englan,a
(Contd on next pagd)

व्यापार के लाभ का माप और इसका विभाजन—

मिल के अनुसार व्यापार का लाभ उस अन्तर के बराबर होता है जो कि 'घरेलू लागत अनुपात' (Domestic cost ratio) और 'साम्य व्यापार शर्तों (Equilibrium terms of trade) मे पाया जाय। यदि घरेलू लागत अनुपात और साम्य व्यापार शर्तों के मध्य अन्तर बढ जाय, तो व्यापार से लाभ की मात्रा बढ जायेगी, और यदि अन्तर घट जाय, तो लाभ की मात्रा मे कमी हो जायेगी। चूँकि १९वी शताब्दी के प्रथमार्ध मे निर्देशांक बनाने की टेक्नीक का अधिक विकास नही हो पाया था, इसलिए मिल और अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने व्यापार से लाभ का माप करने के लिए समस्त निर्यातो और आयातो की कीमतो की तुलना नही की थी। किन्तु विनिमय की जाने वाली मात्राओ पर ध्यान देकर वे वास्तव मे उन्ही परिवर्ती घटको (Variables) पर विचार कर रहे थे, जिनका हम आयात और निर्यात-कीमतो की तुलना के द्वारा अध्ययन करते है।

इस प्रश्न का कि कौन सा देश व्यापार से होने वाले लाभ का सबसे अधिक भाग प्राप्त करेगा, मिल ने यह उत्तर दिया कि वही देश सबसे अधिक लाभ पावेगा, जिसके उत्पादको के लिए अन्य देशो मे सबसे अधिक माँग है, ऐसी माँग जोकि अतिरिक्त सस्तेपन से (Additional cheapness) बढने की प्रवृत्ति रखती हो। 'जिस सीमा तक किसी देश के उत्पादन यह विशेषता रखते है उस सीमा तक वह देश समस्त विदेशी वस्तुये कम लागत पर प्राप्त कर लेगा। विदेशी बाजारों मे उसके निर्यातों के लिए माँग की तीव्रता जितनी अधिक होगी, उतना ही सस्ते आयात वह प्राप्त कर सकेगा। उसे अपने आयात तब भी सस्ते प्राप्त होते है जबकि उनके लिए उसकी अपनी माँग की तीव्रता (Intensity) और विस्तार (Extent) कम हो। बाजार उन देशों के लिए सबसे सस्ता होता है जिनकी माँग कम हो। एक देश, जिसे कुछ ही विदेशी वस्तुओ की और वह भी सीमित मात्रा मे आवश्यकता है

---

and wine or corn or timber on the side of Germany, it will make no difference in the principle The exports of each country must exactly pay for the imports, meaning now the aggregate exports and imports not those of particular commodities taken singly There is some proportion at which the demand of the two countries for each other s products will exactly correspond, so that the things suppl ed by England to Germany will be completely paid for, and no more, by those supplied by Germany to England This accordingly will be the ratio in which the produce of English and produce of German labour will exchange for one another"—**Mill** *Principles of Political Economy*, p 590.

जबकि स्वयं उसकी वस्तुओं की विदेशी देशों में बहुत माँग है, अपना सीमित आयात बहुत ही मामूली लागत पर अर्थात्, अपनी श्रम और पूँजी की बहुत ही थोड़ी मात्रा के उत्पादन के बदले में प्राप्त कर सकेगा।'[1]

दो से अधिक देश—

मिल उन पहले अर्थशास्त्रियों में से थे, जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को दो से अधिक देशों पर विस्तृत किया, यद्यपि अनेक अर्थशास्त्रियों ने भी तब से ऐसा ही किया है। मिल ने यह दिखलाया कि ब्रिटिश निर्यातों के क्रय में रुचि लेने वाले एक तीसरे देश को विचार में लेने पर व्यापार की शर्तें ब्रिटेन के अधिक अनुकूल हो जाती है चाहे यह तीसरा देश ब्रिटेन की आवश्यकता की कोई भी वस्तु उत्पन्न न करता हो। वह लिखते है कि —

'अन्त में, अब हम दो से अधिक मूल देशों पर विचार करेंगे। जर्मनी के लिनिन के लिए इङ्गलण्ड की माँग के कारण विनिमय दर '१० गज कपडा १६ गज लिनिन के बदले' तक बढ जाने के पश्चात मान लीजिए कि इङ्गलैंड और किसी अन्य देश (जो लिनिन का ही निर्यात करता है) के मध्य व्यापार खुल जाता है। यह भी मान लीजिए कि (यदि इस तीसरे देश के अतिरिक्त किसी अन्य देश से इङ्गलैंड का व्यापार नहीं है) अन्तर्राष्ट्रीय माँग के प्रभाव द्वारा वह उससे १० गज कपड़े के विनिमय में १७ गज लिनिन प्राप्त कर सकता है। स्पष्टतः अब वह जर्मनी से पूर्व-दर पर लिनिन अधिक नहीं खरीदगा। इससे जर्मनी का माल कम बिकेगा और विवशतः वह अन्य देश की भाँति ही १७ गज देने हेतु तैयार हो जायेगा। प्रस्तुत दशा में यह मान कर चला गया है कि तीसरे देश में उत्पादन और माँग सम्बन्धी परिस्थितियाँ इङ्गलैंड के लिए जर्मनी की परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। किन्तु यह मान्यता आवश्यक नहीं थी। हम यह भी मान सकते थे कि यदि जर्मनी से व्यापार नहीं होता है तो इङ्गलैंड अन्य देश को वैसी ही लाभदायक शर्तें देने के लिये विवश हो जाता, जोकि वह जर्मनी को देता है—अर्थात् १६ गज अथवा इससे भी कम मात्रा में लिनिन के बदले में १० गज कपडा। "इतने पर भी, तीसरे देश के साथ व्यापार खुल जाने से इङ्गलैंड के पक्ष में अन्तर पड़ ही जायेगा। कारण, इङ्गलैंड के निर्यातों के लिए अब दोहरे बाजार हो गये हैं जबकि लिनिन के लिए इङ्गलैंड की माँग पूर्ववत् है। इससे यह अनिवार्य है कि इङ्गलैंड लाभ

[1] 'In so far as the production of any country possess this property, the country obtains all foreign commodities at less cost It gets its imports cheaper, the greater the intensity of the d mand in foreign countries fo. its exports It also gets its imports cheaper, the less the extent and intensity of its own demand for them The market is cheapest to those whose demand is small "— *Ibid*, p 591.

दायक शर्ते प्राप्त कर ले। दोनो देशो को अब इङ्गलैंड के उत्पादन की इतनी मात्रा मे आवश्यकता है, जिसकी पहले उनमे से किसी एक को नही थी। अत इसे प्राप्त करने के लिए वे अपने निर्यातो की माँग मे वृद्धि करने का यत्न करेंगे। यहाँ तक कि इन्हे अपेक्षत कम मूल्य पर ही देने को तैयार हो जायेंगे।"[1]

"यह उल्लेखनीय है कि इङ्गलैंड के पक्ष मे यह प्रभाव, जो कि उसके निर्यातो के लिए एक अन्य बाजार खुल जाने से उदय होता है, तब भी इसी प्रकार से उदय होगा जबकि वह देश, जिससे माँग आती है, इङ्गलैंड को इसकी आवश्यकता की कोई वस्तु भी बेचने मे समर्थ नही है। मान लीजिये कि तीसरे देश को इङ्गलैंड से लोह या कपडे की आवश्यकता है किन्तु वह स्वय लिनिन या ऐसी कोई अन्य वस्तु, जिसके लिए इङ्गलैंड मे माँग है, उत्पन्न नही करता। किन्तु वह निर्यात योग्य कुछ वस्तुये उत्पन्न करता है अन्यथा वह अपने आयातो का भुगतान न कर सकेगा। उसके निर्यात यद्यपि वे इङ्गलैंड के उपयुक्त नही है तथापि किसी अन्य देश मे तो बाजार प्राप्त कर ही सकते हैं। चूँकि यहाँ तीन देशो की कल्पना की गई है, इसलिए यह मानना चाहिए कि उसे अपनी वस्तुओ के लिए जर्मनी मे बाजार मिलता है तथा इङ्गलैंड से वह जो आयात करता है उसका भुगतान वह अपने जर्मन ग्राहको पर आदेशो द्वारा करता है। इस प्रकार, जर्मनी को, अपने आयातो का भुगतान करने के अतिरिक्त, एक तीसरे देश के कारण भी इङ्गलैंड का ऋणी बनना पडता है और दोनो भुगतानो के लिए साधन उसे अपनी वस्तु की निर्यात-आय मे से जुटाने पडते हैं। अत. उसे अपना उत्पादन इङ्गलैंड को पर्याप्त अनुकूल शर्तो पर देना पडता है जिससे कि वहाँ माँग इतनी बढ सके कि जो दोनो ऋणो के भुगतान के लिए पर्याप्त हो।"[2]

---

1 " the opening of the third country makes a great difference in favour of England There is now a double market for English export, while the demand of England for linen is only what it was before This necessarily obtains for England more advantageous terms of interchange The two countries, requiring much more of her produce than was required by either alone, must, in order to obtain it, force an increased demand for their exports, by offering them at a lower value"—*Ibid*, p. 591

2 "This effect in favour of England from the opening of another market for her exports, will equally be produced even though the country from which the demand comes should have nothing to sell which England is willing to take Germany besides having to pay for her own imports, now owes a debt to England on account of the third country and the means for both purposes must be derived from her exportable produce She must therefore, tender that produce to England on terms sufficiently favourable to force a demand equivalent to this double debt."—*Ibid*

सब बातें बिल्कुल इसी प्रकार से होंगी कि मानो तीसरे देश ने जर्मनी का उत्पादन अपनी निजी वस्तुओं के बदले में खरीदा है और फिर उसे इङ्गलैंड को इसके उत्पादन के बदले में दिया है। अँग्रेजी माल के लिए माँग बढ़ गई है, जिसका भुगतान जर्मनी के माल को देना पड़ता है और ऐसा तब ही किया जा सकता है जबकि इङ्गलैंड में माँग को बलात् (अर्थात उनका मूल्य कम करके) बढ़ाया जाय। "इस प्रकार, किसी विदेश में देश के निर्यातों के लिए माँग बढ़ने से देश के ऐसे आयात भी, जिन्हें वह अन्य देशों से प्राप्त करता है, अधिक सस्ता प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है और विपरीत क्रम से, किसी विदेशी वस्तु के लिए उसकी अपनी माँग में वृद्धि होने से, अन्य बातें समान रहने पर, वह सभी विदेशी वस्तुओं के लिए महँगा भुगतान करने को विवश हो जाता है।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय माँग का समीकरण—

जिस नियम को अभी समझाया गया है उसे मिल ने "अन्तर्राष्ट्रीय माँग का समीकरण" (Equation of International Demand) कहा है। इसे उनके तुले शब्दों में निम्न प्रकार में प्रस्तुत किया जा सकता है, "एक देश का उत्पादन अन्य देशों के उत्पादन से ऐसे मूल्यों पर, जो कि उसके कुल निर्यातों द्वारा उसके कुल आयातों का भुगतान करने के लिए पर्याप्त हो, विनिमय किया जावेगा। अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य का यह सिद्धान्त वास्तव में एक अधिक सामान्य सिद्धान्त—मूल्य सिद्धान्त का, जिसे माँग-पूर्ति का समीकरण (Equation of Supply and Demand) कहते हैं, विस्तार मात्र है।" यह पहले ही देख चुके हैं कि एक वस्तु का मूल्य सदा ही अपने आपको इस प्रकार समायोजित कर लेता है कि जिससे वस्तु की माग वस्तु की पूर्ति के ठीक समान स्तर तक आ जाय। किन्तु समस्त व्यापार, चाहे वह राष्ट्रों के मध्य हो या व्यक्तियों के मध्य, वस्तुओं का पारस्परिक विनिमय मात्र ही है, जिसमें कि वह चीजें जो कि वे क्रमिक रूप से बेचते हैं, उनके खरीदने का 'साधन' भी होती है। एक देश द्वारा जो आपूर्ति (supply) खरीदी जाती है वह अन्य देश द्वारा की गई खरीद के लिए उसकी माँग के समान है। इस प्रकार, मिल ने बताया है कि माँग और पूर्ति प्रतिपूरक माँग (Reciprocal demand) का ही दूसरा नाम है, और यह कहना कि मूल्य अपने आपको इस प्रकार से समायोजित कर लेगा, जिससे कि माँग और पूर्ति बराबर हो जायें, वास्तव में यह कहने के तुल्य है कि वह

[1] "Thus, an increase of demand for a country's exports in any foreign country enables her to obtain more cheaply even those imports which she procures from other quarters And conversely an increase of her own demand for any foreign commodity compels her, ceteris paribus, to pay dearer for all foreign commodities"—*Ibid*, p. 593.

अपने आपको इस प्रकार से समायोजित करेगा कि एक पक्ष की माँग दूसरे पक्ष की माग के बराबर हो जाय।

मिल के सिद्धान्त की आलोचना—

व्यापार से लाभ की गणना करने के सम्बन्ध मे ही मिल ने माँग की भूमिका पर प्रथम ध्यान दिया। उन्होंने यह दिखाने का यत्न किया कि व्यापार करने वाले देशो के मध्य व्यापार का लाभ, व्यापार शर्तों पर माँग सम्बन्धी दशाओं के प्रभाव द्वारा, किस प्रकार वितरित हो जाता है। किन्तु व्यापार की शर्तों के निर्धारण एव व्यापार के लाभ के सम्बन्ध मे मिल ने जो विश्लेषण किया उसकी कटु आलोचना हुई है। प्रमुख आलोचनायें निम्नांकित हैं —

(१) **पूर्ति सम्बन्धी दशाओं की उपेक्षा—**मार्शल (Marshall) ने यह बताया कि मिल के विश्लेषण मे पूर्ति की उपेक्षा की गई है। वास्तव मे पूर्ति सम्बन्धी दशायें भी व्यापार की शर्तों को प्रभावित करती है। उनके निज के शब्दो मे—"विदेशी वस्तुओ के लिए देश की प्रभावपूर्ण माग की लोच न केवल इसकी सम्पत्ति और उनके लिए इसकी जनसख्या की इच्छाओं की लोच द्वारा, वरन् इसकी अपनी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की आपूर्तियों को विदेशी बाजारो की माँग के साथ समायोजित करने की क्षमता द्वारा भी प्रभावित होती है।"[1]

(२) **व्यापार से बडे देशों को छोटे देशो की अपेक्षा लाभ कम होना आवश्यक नहीं—**मार्शल ने इस धारणा के सम्बन्ध मे भी मिल की आलोचना की है कि व्यापार से बडे देश छोटे देशों की अपेक्षा कम लाभ उठाते हैं, क्योंकि प्रथम देशो की माँग विदेशी वस्तुओ के लिये अधिक होती है जिस कारण विनिमय की शर्तों मे उनके विपक्ष मे परिवर्तन हो जाता है। नि सदेह यह ठीक है कि छोटे देश विदेशी व्यापार पर अधिक निर्भर होने के कारण अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु मार्शल का कहना है कि एक धनी देश भी (i) नई वस्तुओ का प्रचलन कर सकता है, (ii) विस्तृत एव सुसगठित व्यापारिक सम्बन्धो से लाभ उठा सकता है, (iii) एक विशेष वस्तु से भरे हुये बाजार मे उस वस्तु की बिक्री करने के बजाय नये बाजार खोज सकता है, और (iv) निर्धन देशो की अपेक्षा वह विभिन्न बाजारो की माँग के अनुसार अपने उत्पादक को समायोजित करने की अधिक अच्छी स्थिति मे होता है। यही नही, आयातो पर प्रतिबन्ध लगा के भी एक देश प्राय अपनी व्यापार शर्तों को,

---

1 " ..the elasticity of her effective demand for foreign goods is governed not only by her wealth and the elasticity of the desires of her population for them, but also by her ability to adjust the supplies of her own goods of various kinds to the demands of foreign markets"—Marshall *Money credit and Commerce* pp 167 69

सुधार सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह कठिनाई भी है कि घटे हुये व्यापार और उत्पत्ति साधनों के कुवितरण के फलस्वरूप हानि भी होने लगती है।

मार्शल द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के सिद्धान्त का सामान्यीकरण
(Marshall's Generalisation of The Theory of International Values)

जबकि टॉजिग (Taussig) और बाद में वाइनर (Viner) रिकार्डियन विश्लेषण में सुधार करने के प्रयत्न कर रहे थे तब अन्य अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को एक नये मार्ग पर लाना प्रारम्भ कर दिया। इन अर्थशास्त्रियों में सबसे प्रथम स्थान मार्शल (Marshall) का है, जिन्होंने एक तो लागतों में मापक के रूप में प्रतिष्ठित श्रम समय के प्रयोग में सुधार करने का प्रयत्न किया और दूसरे, मिल के माँग सम्बन्धी विश्लेषण को पुराने पूर्ति-विश्लेषण से जोड़ने का प्रयास किया।

प्रतिनिधि गाँठों की धारणा—

रिकार्डो के ही समान मार्शल भी उत्पादन-लागतों और व्यापार के लाभों को वास्तविक सदर्भ (Real terms) में अर्थात् प्रयत्न और विरति के रूप में (As effort and abstinence) व्यक्त करने के पक्ष में थे। रिकार्डो ने वस्तुओं के मूल्य को 'श्रम समय' (Labour time) के सदर्भ में मापा था। किन्तु मार्शल के मतानुसार—"यह कल्पना करना अधिक श्रेष्ठ प्रतीत होता है कि प्रत्येक देश अपने निर्यातों को प्रतिनिधि गाँठो (Representative bales) में बनाता है अर्थात ऐसी गाँठें, जिनमें से प्रत्येक उसके विभिन्न प्रकार के श्रमों के समान कुल विनियोगों का प्रतिनिधित्व करे।"[1] चूँकि गाँठ एक निश्चित मात्रा में निविष्ठ श्रम और पूँजी (Fixed input of labour and capital) को सूचित करती है, इसलिये इनमें से किसी भी साधन की प्रभावपूर्णता में वृद्धि या लागतों में सामान्य कटौती गाँठ के आकार को, जिसे निर्यात योग्य वस्तुओं में गिना जाता है, बढा देगी।

दो देशों (E और G) के मध्य विनिमय के विवेचन के लिए मार्शल ने यह माना कि वे गाँठों में विनिमय करते है। उन्होंने यह भी माना कि प्रत्येक देश उन वस्तुओं को, जिनकी माँग उत्पादन-लागत के सन्दर्भ में विदेशों में सबसे मजबूत है, बेचने का प्रयास करेगा और इस प्रकार अधिकतम् लाभ उठायेगा। किन्तु एक सीमा के आगे, उसे कोई दूसरी वस्तु बेचना लाभदायक हो जायेगा और यही क्रम आगे भी चलेगा। हैबरलर का कहना है कि—"स्पष्टतः, गाँठ सम्बन्धी धारणा ने दो वस्तु-विश्लेषण

---

[1] "But, it seems better to suppose either country to make up her exports into representative bales, that is, bales each of which represents uniform aggregate investments of her labour (of various qualities) and of her Capital."—Marshall *Money, Credit and Commerce*, p. 17.

की कई कठिनाइयों में से एक को समाप्त कर दिया है कि (मान लीजिये) E देश प्रारम्भिक व्यापार वाली (Originally traded) निर्यात-वस्तु को किसी अन्य वस्तु (या वस्तुओं के मिश्रण) से प्रतिस्थापित करके अच्छी शर्तें प्राप्त कर सकता है। पृथक-पृथक वस्तुओं के निर्यात श्रेणी से गैर निर्यात (अथवा आयात) श्रेणी में (एवं विपरीत) परिवर्तित होने के साथ साथ, वस्तु सरचना को भी, टेक्नॉलॉजिकल एवं सन्तुलनकारी समायोजनों के प्रभाव स्वरूप बदलने की अनुमति देकर, मार्शल एक जटिल घटना को साधारण रूप से समझाने म समर्थ हो गये हैं।"[1]

माँग एवं पूर्ति के सयुक्त कार्यवाहन पर बहुत बल देना—

मार्शल ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ढाँचे के निर्धारकों के रूप में माँग एवं पूर्ति दोनो के सयुक्त कार्यवाहन पर बहुत बल दिया है। वह लिखते हैं कि—"दो देशों के मध्य सामान्य व्यापार मे किसी को भी केवल माँग या केवल पूर्ति से ही विशेष रूप से सम्बद्ध नही किया जा सकता। प्रत्येक की माँग उसके निवासियो की विदेशों से कुछ वस्तुये प्राप्त करने की इच्छा से उदय होती है और उसकी पूर्ति का मूल उन वस्तुओं को, जो कि अन्य देशों के लोग लेना चाहते हैं, उत्पन्न करने की सुविधाओं में छिपा है। किन्तु उसकी माग व्यापार को उकसावा देने में सामान्यत केवल उस सीमा तक ही प्रभावशाली हैं जहाँ तक उसके पीछे उपयुक्त वस्तुओं की पूर्ति की आड है और उसकी पूर्ति उस सीमा तक सक्रिय होती है जहाँ तक कि विदेशी वस्तुओं के लिए उसकी माँग विस्तृत है।"[2]

---

1 "To treat the exchange between two countries (E and G) Marshall had them exchange bales He assumed that each country in turn would press the commodities in strongest demand abroad relative to its cost of production, thus marketing to the best advantage Beyond a certain point, it would become profitable to market a second commodity and so on Obviously the concept of the bale avoids one of the difficulties involved in two-commodity examples, that country E, say, could achieve better terms by substituting for the export good initially traded some other good or a combination of goods By permitting the commodity composition to vary, as a result both of technological and of equilibrating adjustments, with individual goods shifting from export to non-export or import and vice versa, Marshall was able to treat complex phenomena quite simply"—G. Haberler : *The Theory of International Trade*, pp 10-11.

"In the general trade between two countries neither can be specially associated either with demand or with supply The

(Contd on next page)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में साम्य का उदाहरण—मार्शल ने निम्नलिखित तालिका की सहायता से व्यापार-सम्भावनाओं को दिखाया है :—

उन शर्तों की अनुसूची जिन पर E व्यापार करने का इच्छुक है			इन शर्तों की सूची जिन पर G व्यापार करने का इच्छुक है	
E गाँठो की सख्या	(दर) प्रति १०० E गाँठे G गाठो की सख्या, जिस पर E कालम १ मे दी हुई गाँठे देगा।	(मात्रा) G गाँठो की कुल सख्या, जिसके बदले मे E कालम १ मे दी गई सख्या में E गाठे देने को तैयार है।	(दर) प्रति १०० G गाँठे E गाँठो की सख्या जिस पर G कालम १ मे दी गई सख्या मे E गाँठे खरीदने को तैयार है	(मात्रा) G गाठो की कुल सख्या, जिन्हे G कालम २ मे दी गई E गाँठो के बदले मे देने को तैयार है
१	२	३	४	५
१०,०००	१०	१,०००	२३०	२३,०००
२०,०००	२०	४,०००	१७५	३५,०००
३०,०००	३०	९,०००	१४३	४२,९००
४०,०००	३५	१४,०००	१२२	४८,८००
५०,०००	४०	२०,०००	१०८	५४ ०००
६०,०००	४६	२७,६००	९५	५७,०००
७०,०००	५५	३८,५००	८६	६०,२००
८०,०००	६८	५४,४००	८२½	६६,०००
९०,०००	७८	७०,२००	७८	७०,२००
१,००,०००	८३	८३,०००	७६	७६,०००
१,१०,०००	८६	९४,६००	७४½	८१,९५०
१,२०,०००	८८½	१०६,२००	७३¾	८८,५००

तालिका मे प्रथम पंक्ति यह दिखाती है कि E देश १००० G गाँठो के बदले मे १०,००० E गाँठे देने को तैयार है किन्तु G देश १०,००० E गाँठो के बदले २३,००० G गाँठे देने को प्रस्तुत हो जायेगा। अत. G गाँठो की पूर्ति इसकी माँग की तुलना मे बहुत अधिक है। अब तालिका की अन्तिम पंक्ति यह दिखाती है कि

---

demand of each has its origin in the desires of her people to obtain certain goods from abroad, and her supply has its origin in her facilities for producing things which the people of other countries desire But her demand is, in general, effective in causing trade, only in so far as it is backed by her supply of appropriate goods, and her supply is active, only in so far as she has a demand for foreign goods"—**Marshall** : *Money, Credit and Commerce*, p 137.

१,०६,२०० G गाँठो के बदले मे E देश १,२०,००० E गाठ देने को तैयार है किन्तु G देश १२०००० E गाठो के बदले मे केवल ८८,५०० G गाठे ही देना चाहता है। *यहाँ G गाँठो के लिए माँग इनकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक है। लेकिन,* जब E देश ९०,००० E गाठ देने के लिए और बदले मे ७०,२०० G गाँठे लेने हेतु तैयार है तब साम्यावस्था प्राप्त हो जायेगी क्योंकि G देश ९०,००० E गाठो के लिये पूर्ण (न अधिक न कम) ७०,२०० G गाठ देने को तैयार है। ऐसी अवस्था मे E और G दोनो प्रकार की गाठो के बाजार साफ हो जायगे। विनिमय अनुपात १०० E गाठ=७८ G गाँठ निर्धारित होगा। E के लिए व्यापार की शर्तें तालिका के शीर्ष भाग की ओर अधिक लाभदायक और नीचे के भागो की ओर कम लाभदायक होगी।

प्रतिपूरक माँग और पूर्ति वक्रो की सीमायें—

हैबरलर का मत है कि मार्शल द्वारा दी गई अनुसूचिया साधारण माग और पूर्ति अनुसूचियो (Ordinary supply and demand schedules) के समान है। जैसे जैसे E गाठो म G गाठो की कीमत गिरती जाती है, G गाठो के लिए E की माँग G गाठो की पूर्ति की तुलना मे अधिक बढती जाती है और अन्त मे पूर्ति की अपेक्षा बहुत अधिक हो जाती है। इस प्रकार, य वास्तव मे प्रतिपूरक माग अनुसूचियाँ ही हैं और इन्हे प्राय ग्राफ द्वारा दिखाया जाता है। प्रतिपूरक माग वक्रो को प्रस्ताव वक्र (Offer curves) भी कहते है। साधारण माँग एव पूर्ति वक्रो के समान ही इन अनुसूचियो पर भी *प्रत्येक बिन्दु एक सम्भावित साम्य का बिन्दु होता है।* किन्तु इनमे से किसी भी वक्र पर कोई भी गति (Movement) इस मान्यता के आधीन होती है कि सम्बद्ध देश की अर्थ व्यवस्था न अपने आन्तरिक व्यापार को नई साम्य परिस्थितियो के अनुसार समायोजित कर लिया है।[1]

बाद के अर्थशास्त्रियो ने मार्शल के प्रस्ताव वक्रो का विस्तृत उपयोग किया है। इन अर्थशास्त्रियों म एजवथ (Edgeworth) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने इनका प्रयोग व्यापारिक नीति सम्बन्धी समस्याओ की परीक्षा करने हेतु किया। लेकिन ये वक्र, कभी कभी, जितना बताते हैं उससे कही अधिक छिपा भी लेते है। उदाहरणार्थ, प्रतिनिधि गाठ की वस्तु रचना के परिवर्तनो की तह म व्यापार के ढाँचे से सम्बद्ध जटिल परिवर्तन छिपे है। इन परिवर्तनो का स्पष्ट विवेचन करने के उद्देश्य से ही एजवर्थ ने लागतो का एक नया माप निकाला। यह

---

1 'Like ordinary supply and demand curves, each point on these schedules is a point of potential equilibrium But a movement along one of these curves presupposes that the economy of the relevant country has rearranged its internal trade to conform to the new equilibrium conditions"—Haberler *loc cit.*

माप है—'उत्पादक साधनों की इकाई' (Unit of Productive Forces), जो किसी वस्तु के उत्पादन में प्रयोग होने वाले श्रम, पूँजी एवं अन्य साधनों का योग (Combination) है। तत्पश्चात् उन्होंने किसी देश के निर्यातों की रचना पर लागतों के प्रभाव का विचार किया। उन्होंने यह संकेत करने की सावधानी रक्खी कि कुछ वस्तुयें ऐसी होती है जोकि देश मे ही उत्पन्न की जा सकती है और विदेश से आयात भी। उन्होंने यह भी बताया कि कौनसी वस्तु निर्यात की जावेगी इसका पता लगाने हेतु विभिन्न वस्तुओं के लिये प्रत्येक देश की माँग पर भी विचार करना चाहिये।[1]

परीक्षा प्रश्न :

१ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का विकास करने मे मिल ने जो योग दिया उसका विश्लेषण कीजिये।

[Analyse the contribution of Mill of the development of the theory of international trade]

२ मार्शल के प्रतिपूरक माँग और पूर्ति वक्रो की सहायता से यह दिखाइये कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में साम्य कैसे प्राप्त होता है। क्या ये वक्र एक सामान्य साम्य को दिखाते है ?

[Illustrate equilibrium in international trade with the aid of Marshall's reciprocal demand and supply curves Do these curves represent a general equilibrium ?]

---

[1] F Y Edgeworth : *Paper Relating to Political Economy, 1925, Volume II*, pp 52-53

६

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सामान्य साम्य सिद्धान्त

(General Equilibrium Theory of International Trade)

परिचय—

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तथा बीसवीं शताब्दी में यूरोपीय महाद्वीप में सामान्य साम्य सिद्धान्त के प्रति लोगों की रुचि बहुत बढ़ गई। प्रायः इस सिद्धान्त को एक जटिल गणितीय रूप प्रदान किया गया है, अर्थात् अर्थ-व्यवस्था की कई समीकरणों द्वारा व्याख्या की गई है। किन्तु सामान्य साम्य सिद्धान्त का मौलिक सत्य (Fundamental truth) बहुत ही सीधा-साधा है और यह है कि अर्थव्यवस्था का प्रत्येक परिवर्ती घटक (Variable), चाहे यह कीमत हो या परिणाम, अर्थव्यवस्था के अन्य सब परिवर्ती घटकों (Other variables) पर निर्भर होता है और वस्तुओं की कीमतें एवं मात्रायें तथा उत्पादक सेवाओं के पुरस्कार और उनकी आपूर्तियाँ (Supplies) सब साथ ही साथ निर्धारित होती हैं। यह सिद्धान्त, जो कि एक अकेले बाजार में मूल्य या कीमत-सम्बन्धों को स्पष्ट करने हेतु बनाया गया था, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में भी लागू किया गया है। किन्तु ऐसा विस्तार बाधापूर्ण तरीके से हुआ। सन् १९३३ में दो रचनायें, एक ओहलिन द्वारा और दूसरी हैबरलर द्वारा, प्रकाशित हुईं। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त सामान्य साम्य प्रणालियों के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत किये गये थे।

सामान्य साम्य मूल्य सिद्धान्त

(General Equilibrium Theory of Value)

मूल्य के सामान्य साम्य सिद्धान्त की विशेषतायें—

ओहलिन के अनुसार, 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त मूल्य के सामान्य साम्य सिद्धान्त का विस्तार मात्र है"। अतः उसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन करने से पूर्व हम मूल्य के सामान्य साम्य सिद्धान्त के विषय में जान लेना चाहिए।

(१) *वस्तु के मूल्य का निर्धारण मांग और पूर्ति के साम्य द्वारा*—किसी भी वस्तु का मूल्य उसकी मांग और पूर्ति के द्वारा निश्चित होता है। जबकि वस्तु के लिए मांग उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं, अभिरुचियों (Preferences), इच्छाओं और आमदनियों पर तथा अन्य वस्तुओं की उपलब्धता और कीमतों पर निर्भर

होती है, वस्तु की पूर्ति इसे उत्पन्न करने की सम्भावना पर (अर्थात् उत्पत्ति-साधनों की उपलब्धता) एवं उत्पादन की भौतिक तथा टेक्नीकल दशाओं पर निर्भर है। साम्य बिन्दु पर माँग और पूर्ति बराबर होती है और इसी पर वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है। यह मूल्य वस्तु की उत्पादन लागत (जिसमे सामान्य भी सम्मिलित है) के बराबर होगा और वस्तु की उत्पादन लागत उन सब साधनों के मूल्य का योग होती है जो कि वस्तु के उत्पादन में सहयोग देते हैं।

उत्पत्ति-साधनों के मूल्य भी इनकी माँग-पूर्ति के द्वारा तय होते हैं। साधनों के लिए माँग अन्ततः निर्मित वस्तु के लिए माँग पर ही निर्भर है, क्योंकि साधनों का प्रयोग निर्माण हेतु ही तो किया जाना है। अत. निर्मित वस्तु के लिए माँग जितनी अधिक होगी, साधनों के लिए माँग भी उतनी ही अधिक होगी। किसी साधन के लिए कुल माँग समस्त उद्योगों के लिए आवश्यक उस साधन की विभिन्न मात्राओं का जोड़ है। दूसरी ओर, साधनों की पूर्ति इन्हें मिलने वाली कीमतों के साथ घटती बढ़ती है।
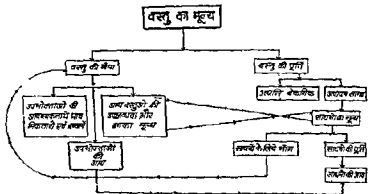
(२) मूल्य निर्धारण पर प्रभाव डालने वाले घटकों की परस्पर निर्भरता—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि एक वस्तु विशेष के मूल्य को प्रभावित करने वाले अनेक घटक हैं जो स्वयं भी परस्पर प्रभावित होते हैं। यदि प्रत्येक बाजार में साधनों को पूर्ण रूप से गतिशील और पूर्णतः विभाज्य मान लें तथा यह भी मान लें कि साधनों की पूर्ति स्थिर (Constant) एवं ज्ञात (Known) है, तो यह देखेंगे कि प्रत्येक बाजार की मूल्य व्यवस्था में कार्यकारी सम्बन्धों (Functional relations) के ५ सैट विद्यमान होते हैं :—

(i) वस्तु का मूल्य उसकी उत्पादन लागत के बराबर होता है।

(ii) वस्तु की माँग सभी वस्तुओं के मूल्य और उपभोक्ताओं की आयों पर निर्भर करती है।

(iii) एक व्यक्ति की आय उसकी साधन सम्बन्धी मात्रा और इसके मूल्य पर निर्भर करती है।

(iv) किसी उत्पत्ति-साधन के लिए माँग उस साधन की पूर्ति के बराबर होती है, जिसे दिया गया और स्थिर मान लिया है।

(v) वस्तु के उत्पादन के लिए किसी साधन की कितनी मात्रा आवश्यक होगी यह उत्पादन सम्बन्धी भौतिक दशाओं और उत्पत्ति-साधनों की कीमत पर निर्भर है।

(३) उक्त सम्बन्धों से साधनों और वस्तुओं की कीमतें निकालना—इस प्रकार, ओहलिन ने वस्तुओं के मूल्यों, उत्पत्ति साधनों के मूल्यों, वस्तु की माँग, उत्पत्ति-साधनों की माँग एवं पूर्ति आदि की परस्पर-निर्भरता दिखाई है। प्रत्येक बाजार या क्षेत्र में एक समय विशेष पर, सभी वस्तुओं और उत्पत्ति-साधनों की कीमतें अन्तिम रूप से चार मौलिक घटकों द्वारा निर्धारित होती है। इसमें से दो घटक माँग से और दो घटक पूर्ति से सम्बन्ध रखते हैं तथा निम्न प्रकार है :—(अ) उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें व इच्छायें, (ब) उत्पत्ति साधनों की स्वामित्व सम्बन्धी दशायें, जोकि व्यक्तियों की आय को और आय द्वारा वस्तुओं की माँग को प्रभावित करती हैं, (स) उत्पत्ति-साधनों की पूर्ति, एवं (द) उत्पत्ति की भौतिक दशायें। यदि ये चार बातें दी गई हों तो उपरोक्त पाँच सम्बन्धों के आधार पर साधन और वस्तु दोनों ही के मूल्यों को निकाला जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सामान्य साम्य मूल्य सिद्धान्त का प्रयोग
(General Equilibrium Theory of value applied to International Trade)

उपरोक्त सामान्य साम्य मूल्य सिद्धान्त को ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में लागू किया है। इसके स्पष्टीकरण हेतु उसने निम्न बातें मान ली है :—(i) केवल दो क्षेत्रों पर ही विचार किया जाता है, (ii) उत्पत्ति साधनों की गुणात्मक भिन्नता पर ध्यान नहीं देता है, (iii) एक ही क्षेत्र के भीतर साधन पूर्ण गतिशील है किन्तु दो या अधिक क्षेत्रों के बीच में नहीं है, (iv) अन्य सब चीजें पूर्णतः गतिशील है, (v) केवल वस्तु व्यवहारों पर ही विचार करना है, एवं (vi) प्रत्येक क्षेत्र में स्वतन्त्र पत्र मुद्रा प्रणाली प्रचलित है।

ओहलिन के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी सिद्धान्त की विशेषतायें—

ओहलिन के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी सामान्य साम्य सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषतायें हैं :—

(१) व्यक्तियों की ही भाँति राष्ट्रों या क्षेत्रों के बीच विशिष्टीकरण सम्भव है—ओहलिन का कहना है कि व्यक्ति जिन कारणों से विशिष्टता प्राप्त करते और व्यापार करते हैं उन्हीं कारणों से प्रदेश और राष्ट्र भी विशिष्टता प्राप्त करते और व्यापार करते हैं। कुछ व्यक्ति अपने स्वभाव से ही किसी कार्य की अन्य व्यक्तियों की

तुलना में अधिक योग्यता से कर सकते है। जैसे—एक व्यक्ति अच्छा बागवान होता है जबकि दूसरा अच्छा प्रोफेसर और तीसरा कुशल डाक्टर। एक बागवान अकुशल चिकित्सक, एवं चिकित्सक अकुशल अध्यापक तथा एक अध्यापक अकुशल बागवान ही प्रमाणित होगा। अत अपने अपने अनुकूल कामों में विशिष्टता प्राप्त करना सब पक्षों के लिए लाभप्रद है। यदि सभी व्यक्ति एक ही क्षमता के होंगे तो भी वे विशिष्टीकरण के द्वारा लाभान्वित हो सकते है।

व्यक्तियों की ही भाँति राष्ट्र और क्षेत्र भी एक दूसरे से विभिन्न उत्पादक-सुविधायें रखते है, जैसे—यदि कुछ देशों में उपजाऊ भूमियाँ है, तो अन्य देशों में सम्पन्न खनिज भण्डार होते है या पूँजी की प्रचुरता होती है। [स्मरण रहे कि 'प्रचुरता' और 'न्यूनता' सापेक्षिक शब्द हैं, अर्थात् एक देश मे किसी साधन विशेष की विशाल मात्रा उपलब्ध हो सकती है किन्तु इसकी सेवाओ के लिए माँग यदि इस मात्रा से भी अधिक हो तो उक्त साधन 'न्यूनता' वाला कहलायेगा।] अत राष्ट्र और क्षेत्र भी उत्पादन मे विशिष्टीकरण करते देखे जाते हैं।

(२) उत्पादक सुविधाओं की भिन्नता के कारण वस्तु कीमत भिन्नतायें उदय होती हैं—ओहलिन ने बताया है कि उत्पादक-सुविधायें विभिन्न देशों मे विभिन्न होती है, जिस कारण कीमत भिन्नतायें उदय हो जाती हैं और इसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास होता है। इस बात को नीचे समझाया गया है।

एक अकेले बाजार के सम्बन्ध मे जिस सामान्य साम्य मूल्य सिद्धान्त का विश्लेषण हमने ऊपर किया था उससे यह स्पष्ट है कि एक वस्तु विशेष का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति पर तथा माँग उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं और उनकी आय पर, उपभोक्ताओं की आय साधनों की कीमत पर एवं वस्तु की पूर्ति उत्पत्ति-साधनों की पूर्ति और उत्पत्ति की भौतिक दशाओं पर निर्भर होती है। ओहलिन का कहना है कि उत्पत्ति की भौतिक दशायें सर्वत्र समान है जिससे इन्हे विचार से पृथक रखा जा सकता है। अत यह कह सकते हैं कि वस्तु का मूल्य इसकी माँग सम्बन्धी दशाओं और साधन सेवाओं की पूर्ति पर निर्भर है।

उपरोक्त सन्दर्भ में हम यह देख सकते है कि किन्हीं दो क्षेत्रों में सभी वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतें निम्न शर्तें पूर्ण होने पर ही समान होंगी—(अ) वस्तुओं के लिए माँग सम्बन्धी दशायें दोनों क्षेत्रों में समान होनी चाहिए, (ब) उत्पत्ति साधन दोनों ही क्षेत्रों मे समानुपात में उपलब्ध होने चाहिए, एवं (स) साधनों की पूर्ति मे यदि कोई अन्तर हो, तो उनका सन्तुलन माँग सम्बन्धी दशाओं मे ठीक उतने ही अन्तर द्वारा हो जाना चाहिए। चूँकि ये शर्तें प्राय अपूर्ण रहती है, इसलिए वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता देखी जाती है। ओहलिन ने बताया है कि (अ) और (स) शर्तों की पूर्ति होना तो कभी भी सम्भव नहीं है। अत 'माँग की तुलना में उत्पत्ति साधनों की पूर्ति' (Supply of factors of production in relation to demand), अर्थात् 'उत्पत्ति-साधनों की सापेक्षिक न्यूनताओं' (Relative scarcities

of productive factors) में भिन्नतायें होने के फलस्वरूप वस्तु कीमतों में भिन्नता उदय हो जाती है।

उदाहरण के लिए, आस्ट्रेलिया में भूमि की प्रचुरता है जबकि वहाँ श्रम और पूँजी का अभाव है, अर्थात् वहां भूमि सस्ती और अन्य साधन महँगे है। दूसरी ओर, इङ्गलैंड में पूँजी की प्रचुरता और भूमि का अभाव है, अर्थात् वहाँ पूँजी-साधन सस्ते और भूमि-साधन महँगा है। परिणामत. जिन वस्तुओं (जैसे—गेहूँ, ऊन, माँस आदि) के उत्पादन के लिए बड़ी मात्राओं में भूमि की आवश्यकता पड़ती है किन्तु, श्रम और पूँजी की अधिक आवश्यकता नहीं है, वे आस्ट्रेलिया में सस्ती होंगी। दूसरी ओर, इङ्गलैंड में, जहाँ पूँजी की प्रचुरता और भूमि की कमी है, वे वस्तुयें (जैसे कपड़ा) सस्ती होंगी, जिनके उत्पादन में भूमि की अपेक्षा पूँजी की अधिक आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता वस्तु की माँग सम्बन्धी दशाओं और साधन-सेवाओं की पूर्ति में भिन्नता के कारण उत्पन्न होती हैं।

(३) दोनों क्षेत्रों में वस्तु कीमतों में भिन्नतायें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तात्कालिक कारण हैं—प्रचुर साधनों के प्रयोग से सम्बद्ध वस्तु देश में सस्ती उत्पन्न की जा सकती है, जिससे उसे अन्य देशों की अपेक्षा इस वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होता है और इसके फलस्वरूप विशिष्टीकरण और व्यापार की वृद्धि होती है। ओहलिन के शब्दों में, 'अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का तात्कालिक कारण सदा यह है कि वस्तुयें स्वदेश में उत्पन्न करने की अपेक्षा, विदेशों से कम मौद्रिक कीमतों पर ही मँगाई जा सकती हैं।'[1] इस प्रकार, लागतों को साधनों की पूर्ति तथा इनके प्रयोग की प्रभावपूर्णता से सम्बन्ध करके ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को एक अधिक व्यापक आधार प्रदान किया। उसने सब घटकों को विचार में लिया तथा तुलनात्मक लागतों को कीमत प्रणाली से, साधनों की माँग और साधनों की पूर्ति से सम्बन्धित किया। ओहलिन के लिए अप्रतिस्पर्धी समूहों से कोई परेशानी नहीं है, क्योंकि वह गुणों की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के श्रम को उत्पत्ति के पृथक-पृथक साधन मान लेता है।[2]

---

1 Ohlin : *Inter-regional and International Trade*, p 12

2 "By thus relating costs to the supply of the factors and the effectiveness with which they are used Ohlin provides a broader base for the theory of international trade than did the classical and neo classical theories He introduced all the factors and relates comparative costs to the price system, to factor supply and factor demand Ohlin has no trouble in dealing with non-competiting groups, he simply treats qualitatively different types of say, labour as separate factors of production"—S E **Harris** *International and Inter-regional Trade*, p. 52.

(४) **विदेशी व्यापार की वस्तुओं का निर्णय**—साधनों की सापेक्षिक पूर्ति में भिन्नताओं से तो केवल यह पता चलता है कि कुछ वस्तुयें अन्य वस्तुओं की अपेक्षा सस्ती होगी। लेकिन यह पता नहीं चलता कि किन किन वस्तुओं में विदेशी व्यापार होगा। इस हेतु प्रत्येक क्षेत्र के क्रेताओं को चाहिए कि स्वदेश निर्मित वस्तुओं की कीमतें विदेश निर्मित वस्तुओं से मिलावें। इसके लिए एक सामान्य (Common) करेन्सी के प्रयोग की आवश्यकता है और यदि दो करेन्सियाँ प्रयोग में आ रही हैं तो उनके मध्य विनिमय दर (Rate of exchange) मालूम होनी चाहिए।

(अ) **सामान्य करेन्सी**—मान लीजिए कि भारत और पाकिस्तान में समान करेन्सी प्रणाली है। इन देशों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध भी नहीं हैं। ऐसी दशा में प्रत्येक देश में विभिन्न वस्तुओं की कीमतें उनकी क्रमिक आन्तरिक माँगों (Respective internal demands) के अनुसार निर्धारित होंगी। जब दोनों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध खुल जाते हैं तो प्रत्येक क्षेत्र की माग दूसरे क्षेत्र की मूल्य प्रणाली के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आती है और अपेक्षाकृत सस्ते साधनों वाली वस्तुओं की स्वदेशी माँग के साथ उन्हीं वस्तुओं की विदेशी माँग भी जुड जायेगी। किन्तु साथ ही अपेक्षाकृत महँगे साधनों वाली वस्तुओं की स्वदेशी माँग विदेश को चली जावेगी। पारस्परिक मांगों (Reciprocal demands) के प्रभाव स्वरूप सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता उत्पन्न हो जायेगी और समानता की स्थापना तब ही होगी जबकि वस्तुओं का एक समान मूल्य (Equal value of goods) दोनों देशों के मध्य यात्रा करेगा।

(ब) **भिन्न करेन्सियाँ**—यदि दोनों देशों में भिन्न करेन्सी प्रणालियाँ हैं तो विनिमय दर पर भी ध्यान देना आवश्यक है। कारण, सापेक्षिक साधन कीमतों का अन्तर स्वयं को केवल विदेशी विनिमय दर के द्वारा ही वस्तु कीमतों के निरपेक्ष अन्तर के रूप में, जो कि व्यापार का तात्कालिक कारण है, प्रदर्शित कर सकता है। दूसरे शब्दों में, उनकी पारस्परिक माँगें कीमतों पर विनिमय-दर के माध्यम से प्रतिक्रिया दिखावेंगे।

भिन्न-भिन्न करेन्सियों वाले क्षेत्रों के मध्य साधन कीमतों की तुलना

उत्पत्ति-साधन	साधन-कीमतें पाकिस्तान में (पाक० रुपये)	साधन-कीमतें भारत में (भा० रु०)	साधन कीमतें भारत में (१ भा० रु० = १.५ पा० रु०) (पाक० रु०)	साधन-कीमतें भारत में (१ भा० रु० = २ पाक० रु०) (पाक० रु०)
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
O	I	0 20	0 30	0 40
P	I	0 30	0 45	0 60
Q	I	0 40	0 60	0 80
R	I	0 50	0 75	1 00
S	I	0 60	0 90	1 20
T	I	0 70	1 05	1 40

उपरोक्त तालिका से यह प्रगट है कि पाकिस्तान मे साधनो की कीमतें समान है जबकि भारत म T सबसे महँगा और O सबसे सस्ता साधन है। व्यापार के दृष्टिकोण से निरपेक्ष सस्तापन (Absolute cheapness) महत्त्वपूर्ण है, सापेक्षिक सस्तापन (Relative cheapness) नहीं। निरपेक्ष सस्तापन विनिमय की दर पर निर्भर होता है। जब विनिमय दर १ भारतीय रुपया = १.५ पाक रुपये है, तब पहले पाच साधन भारत म सस्ते और छठा साधन महगा है। किन्तु जब विनिमय दर १ भारतीय रुपया = २ पाकिस्तानी रुपये है, तब केवल प्रथम तीन साधन सस्ते है, चौथे साधन का मूल्य समान है और पाँचवे व छठे साधन महँगे है। इस दशा में भारत O P Q साधनों की अधिक आवश्यकता वाली वस्तुयें बनायेगा किन्तु पाकिस्तान S एव T साधनो की अधिक आवश्यकता वाली वस्तुये बनाने पर ध्यान देगा। R साधन वाली वस्तु दोनो देशों मे पैदा की जायेगी। सस्ते साधनो वाली वस्तुयें (Cheap factor products) निर्यात की जायेंगी और महगे साधनो वाली वस्तुये (Dear factor products) आयात होगी।

(५) विनिमय की दर एव अन्तर्क्षेत्रीय वस्तु व्यापार का मूल्य दोनो ही पारस्परिक माँग द्वारा निर्धारित होते हैं—स्मरण रहे कि विनिमय दर यह तो दिखाती है कि प्रत्येक क्षेत्र म कौन से साधन सस्ते और कौन से साधन महँगे हैं किन्तु इनके सस्तेपन अथवा महँगेपन को निर्धारित नही करती है। जिस प्रकार साधन-कीमतें पारस्परिक माग (Reciprocal demand) द्वारा निर्धारित होती है उसी प्रकार *विनिमय दर भी पारस्परिक माग की बुनियादी शक्ति द्वारा निर्धारित होती है।* विनिमय दर ऐसी होनी चाहिए कि दोनों क्षेत्रो मे साधन-पूर्ति, आन्तरिक माँग (Internal demand) और एक दूसरे की वस्तुओ के लिये पारस्परिक माँग की दी हुई दशाओ के अन्तर्गत आयात और निर्यात बराबर हो जाये।

(६) विदेशी व्यापार द्वारा साधन-कीमतों मे साम्य को बढ़ावा—जब एक बार व्यापार एक देश (या क्षेत्र) तथा बाह्य विश्व के मध्य खुल जाता है तो आन्तरिक कीमतो की प्रारम्भिक प्रणाली मे संशोधन हो जाते है। ओहलिन ने बताया है कि विदेशी व्यापार अपेक्षतः प्रचुर साधनों की कीमतो मे वृद्धि तथा दुर्लभ साधनो की कीमतो मे कमी लाने की प्रवृत्ति रखता है। 'हम एक बहुत ही सरल और अमूर्त उदाहरण लेते हैं, जिसमे केवल दो देश और दो साधनो (श्रम और भूमि) पर ही विचार किया जायेगा। भूमि की प्रचुर पूर्ति किन्तु श्रम की न्यून पूर्ति वाला देश/ *ऐसी वस्तुओ क आयात से, जिनके उत्पादन क लिए अधिक श्रम की आवश्यकता* पडती है, और ऐसी वस्तुओ के निर्यात से, जिनके उत्पादन के लिए भूमि की बहुत मात्रा आवश्यक होती है, लाभ उठायगा। अतः औद्योगिक एजेन्ट्स पहली प्रकार की वस्तुयें उत्पन्न करने के बजाय दूसरी वस्तु के उत्पादन के उद्योगों मे संलग्न हो जायेंगे। फलत अधिक श्रम प्रयोग करने वाले उद्योग कम हो जायेंगे अथवा लोप हो जायेंगे, जिससे देश मे श्रम के लिए माग कम हो जायेगी। अधिक मात्राओं

मे भूमि का प्रयोग करने वाले उद्योग बढ गे, जिससे भूमि के लिए माग बढ जायगी। इस प्रकार, श्रम की दुलभता कम हो जाना है किन्तु भूमि की दुलभता बढने लगती है। दूसरे देश (या क्षेत्रो) म, जहा श्रम की प्रचुर पूर्ति उपल न है किन्तु भूमि की पूर्ति कम है, अधिक मात्राओ म श्रम के प्रयोग करन वाले उद्योगो पर ध्यान केन्द्रित होने से श्रम की दुर्लभता बढ कर भूमि की सापेक्षिक दुलभता म कमी हो जायेगी। इस प्रकार दोनो ही क्षत्रो म सापेक्षिक प्रचुरता वाले साधन के लिए माग बढ जाती है और उसे ऊँची कीमत प्राप्त होती है जबकि कम पूर्ति वाले साधन के लिए माग कम हो जाती है जिससे उस पहले की अपेक्षा कम कीमत मिलती है। इस प्रकार, दोनो की कीमत दोना देशा म समानता की ओर बढने लगती है।

(७) **साधन कीमतो मे केवल आंशिक समानता**—किन्तु यह केवल तात्का लिक प्रभाव है। बढती हुई साधन कीमता के प्रति साधन पूर्तियों का क्या रुख होगा इसे भी विचार मे रखना आवश्यक है। यदि उदाहरण के लिए जापानी वस्त्रो के निर्यात मे, जो कि सस्ते श्रम की विशाल पूर्तियो पर आधारित है, वृद्धि होने से जापान मे वस्त्र-श्रम की कीमत बढ जाय, तो श्रम की पूर्ति म काफी वृद्धि हो सकती है, जिससे अन्तत सापेक्षिक साधन पुरस्कारो का अन्तर घट जायगा। इसके अति रिक्त वस्त्रो के उत्पादन काय म जो साधन श्रम के पूरक है वे भी अधिक माना मे माँगे जायेगे, जिससे उनकी कीमत भी बढ सकती है। अत ओहलिन ने यह निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पत्ति साधनों की सापेक्षिक कीमतो मे अन्तर्राष्ट्रीय भिन्नताओ को घटाता है तथापि साधन कीमत कभी भी पूर्णत समान न हो सकेगी। अन्तर्राष्ट्रीय समानता की दिशा मे अग्रसर होने की प्रवृत्ति साधन कीमतो की अपेक्षा वस्तु कीमतों मे अधिक पाई जाती है।

[कुछ असाधारण परिस्थितियो मे साधन-कीमत (निरपेक्ष एव सापेक्ष दोना ही) पूर्ण समानता की स्थिति म हो सकती है। प्रो० शुम्पीटर ने इसका प्रमाण भी दिया है किन्तु उन्हे कई कल्पनाये करनी पडी है यथा—स्वतन्त्र बाजार, यातायात लागते न होना सभी बाजारो म शुद्ध प्रतियोगिता, उत्पत्ति फलना म समरूपता (Homogeneous production function) (पैमाने सम्बन्धी मितव्ययिताओ का अभाव), दोनो देशा मे सभी वस्तुए उत्पन्न होना।[1] ये कल्पनाये वास्तव मे बहुत अवास्तविक है।]

वास्तविक जीवन के संदर्भ मे ओहलिन का सिद्धान्त

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि (1) अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का तात्कालिक कारण दोना क्षेत्रो की सापेक्षिक वस्तु-कीमतो मे असमानतायें होना

---

1 P A Samuelson "*International Trade and the Equalization of Factor Prices*" Economic Journal, June, 1948

है, (ii) सापेक्षिक वस्तु-कीमतों में असमानता उत्पत्ति साधनों की सापेक्षिक दुर्लभताओं में भिन्नताओं के कारण उदय होती है, (iii) विनिमय दर की स्थापना पर 'सापेक्षिक कीमत भिन्नतायें' निरपेक्ष कीमत-भिन्नताओं में परिणत हो जाती है। इससे यह मालूम होता है कि प्रत्येक क्षेत्र किन वस्तुओं में विशिष्टीकरण करेगा, एवं (iv) विनिमय दर और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तु का मूल्य पारस्परिक माग द्वारा निर्धारित होता है।

ओहलिन ने बताया है कि यदि उसकी ग्रहण की हुई पूर्व धारणाओं को त्याग दिया जाय, तो भी उसका सिद्धान्त वास्तविक जीवन में अडिग रहता है। यथा—(i) वह कई देशों पर लागू किया जा सकता है। ऐसा करने से इसके निष्कर्षों में तो कोई परिवर्तन होगा नहीं किन्तु जटिलता बढ़ जायेगी, (ii) एक ही समान साधन-सम्पत्ति वाले देशों के मध्य भी विशिष्टीकरण और व्यापार होना उचित है, क्योंकि एक विशाल (स्वदेशी + विदेशी) बाजार उन्हें बड़े पैमाने पर उत्पादन करने की प्रेरणा देते हुए श्रेष्ठता (Superiority) या मितव्ययितायें (Economies) प्राप्त करायेगा। इस प्रकार, उत्पादन के बड़े पैमाने की मितव्ययितायें अन्तर्क्षेत्रीय विनिमय के लिए एक अतिरिक्त आधार प्रस्तुत करती है, (iii) भूमि, श्रम और पूँजी को, अन्तर्क्षेत्रीय तुलना की दृष्टि से, विभिन्न वर्गों में रखा जा सकता है, क्योंकि इनमें गुणात्मक भिन्नतायें होती है, (iv) यातायात व्यय व्यापार को घटाते है तथा कीमतों पर व्यापार के जो प्रभाव पड़ते है उन्हें दुर्बल बनाते है, (v) ओहलिन ने साधनों की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता के बाधक घटकों को भी समझाया और बताया है कि किस प्रकार साधनों के आवागमन वस्तु-आवागमनों का स्थान ले सकते है, एवं (vi) चूँकि अन्तर्क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अन्तर केवल परिमाण (Volume) का है इसलिए ओहलिन का अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी लागू होता है।

प्रतिष्ठित सिद्धान्त पर ओहलिन के सिद्धान्त की श्रेष्ठता

अनेक बातों में ओहलिन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित (रिकार्डो के) सिद्धान्त की अपेक्षा एक सुधार है, क्योंकि वह लागतों और कीमतों पर बल देता है तथा साथ ही वास्तविक तथ्यों से अधिक निकट है। किन्तु जैसा कि प्रो० वाइनर (Viner) ने कहा है, ओहलिन का यह कहना प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के प्रति अनुचित है कि उन्होंने सापेक्ष साधन-पूर्तियों के प्रभाव पर विचार नहीं किया था। वाइनर ने स्पष्ट दिखा दिया है कि प्रतिष्ठित विद्वान इस समस्या से अपरिचित न थे।[1] उदाहरणार्थ, माल्थस ने लिखा था—"यूरोप के अनेक देशों में मुद्रा के मूल्य की अपेक्षा इङ्गलैंड में मुद्रा का नीचा मूल्य मुख्यत हमारी निर्यात वस्तुओं के सम्बन्ध से, जो स्वय हमारी श्रेष्ठ मशीनों, निपुणता और पूँजी के कारण है, उदय हुआ है। अमेरिका

[1] J. Viner *Study in the Theory of International Trade*, p 505

मे मुद्रा का मूल्य और भी नीचा है और इसलिए है कि वहाँ कच्चे मालो की प्रचुरता है और वे सस्ते है। यह प्रचुरता और सस्तापन उसकी भूमि, जलवायु और स्थिति सम्बन्धी लाभो के कारण है। लाभो मे या श्रम की कीमत मे अन्तर इतने अधिक नही है कि वे उत्पादन सम्बन्धी इन सुविधाओं को सन्तुलित कर सकें और इस प्रकार निर्यातो की बाहुल्यता को रोक सके।[1]

अधिकाश अर्थशास्त्री यह स्वीकार करने लगे है कि ओहलिन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त की अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु हैबरलर ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त को जिस तरह से पुन प्रस्तुत किया है उसके सन्दर्भ मे यह देखा जा सकता है कि ओहलिन और प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी सिद्धान्तो म बहुत सादृश्य है। हैबरलर के अनुसार प्रत्येक व्यापारी देश उन वस्तुओ का निर्यात करता है, जिन्हे वह कम अवसर लागत पर बना सकता है और उन वस्तुओ का आयात करता है जिन्हे वह अन्य देशो की अपेक्षा अधिक अवसर लागत पर ही बना सकता है। कम अवसर लागत वाली वस्तुए वास्तव म वे है जिनके लिए प्रचुरता वाले साधनो की अधिक आवश्यकता पडती है और अधिक अवसर लागत वाली वस्तुए वे है जिनके लिए दुर्लभता वाले साधनो की अधिक आवश्यकता पडती है। इस प्रकार ओहलिन के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित सिद्धान्त के पुन कथन (Restatement) मे मिलाया जा सकता है।[2]

---

[1] "The lower value of money in England compared with the value of money in most of the states of Europe has appeared to arise principally from the cheapness of our superior machinery, skill and capital The still lower value of money in the United States is occasioned by the cheapness and abundance of her raw products derived from the advantages of her soil climate and situation, neither the difference in profits, nor the difference in the price of labour, is such as to counterbalance this facility of production and prevent the abundance of exports"—Malthus : *Principles of Political Economy*, 2nd Ed. pp 106-107.

[2] "The Ricardian example of trade between England and Portugal can be interpreted in terms of the theory of opportunity cost without breacking Ricardo's reasoning and objectives The explanatory function of the labour theory of value is to determine the price ratio, or, put in reciprocal terms, the exchange ratio between the two commodities. It has also the purpose of showing that the two commodities can be substitu-

(Contd. on next page)

किन्तु हैरिस (Harris) को यह विश्वास है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने साधन अनुपातों पर बल नहीं दिया था और ओहलिन को ही इस बात का श्रेय है कि उसने साधन-सम्पत्तियों और स्थान-चयन सिद्धान्त (Theory of location) को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त में मिला दिया।[1]

इसके अतिरिक्त ओहलिन ने सबके (जिनमें नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री भी सम्मिलित हैं) द्वारा मान्य मूल्य-सिद्धान्त को ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू किया है। उसने यह अकाट्य रूप से दिखा दिया है कि अन्तर्क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मध्य कोई बुनियादी भेद नहीं है, केवल परिमाण सम्बन्धी भेद (Quantitative difference) है और कि एक अकेले बाजार के मूल्य सिद्धान्त को ही विस्तृत करके अनेक बाजारों में प्रचलित मूल्य के स्पष्टीकरण हेतु प्रयोग किया जा सकता है।

किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि ओहलिन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित सुगम श्रम लागत स्पष्टीकरण की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल है और यह जटिलता स्वाभाविक भी है क्योंकि जिस मूल्य सिद्धान्त (सामान्य साम्य सिद्धान्त) पर वह आधारित है वह स्वयं भी जटिल है और जिन तथ्यों को वह स्पष्ट करता है वे भी जटिल हैं। किन्तु जटिल होते हुए भी ओहलिन का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अधिक यथार्थवादी विवेचन करता है। लेकिन ऐसी यथार्थवादिता सुगम प्रतिष्ठित सिद्धान्त के सम्बन्ध में नहीं पाई जाती है।

ted for each other in proportion to their costs by means of a shift in production, that is, by a transfer of the means of production (Labour) If it were possible to show, without making the unacceptable assumptions of the labour theory of value, that the exchange ratio (price ratio) in the market and the rate of substitution coincide the national trade would remain intact And it can indeed be proved that, under certain ideal conditions even if we assume the existence of a large number of more or less immobile and specific factors of production, the exchange ratio will be equal to the marginal rate of substitution These required conditions are identical to those which usually underline general equilibrium theory—free competition in the commodity and product markets as well as the absence of so called external economics"— Haberler : *A Survey of International Trade Theory*, 1955, pp 14-15

1 Harris : *International and Inter-regional Economics*, p 55

परीक्षा प्रश्न :

१. मूल्य का सामान्य साम्य सिद्धान्त क्या है ? यह किस सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक पर्याप्त स्पष्टीकरण देता है ?

[What is the General Equilibrium Theory of Value ? How far does it afford a satisfactory explanation of inter-regional trade ?]

२. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित एवं आधुनिक सिद्धान्तों की तुलना कीजिये।

[Compare the classical and modern theories of international trade]

३. ओहलिन के सामान्य साम्य सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिये। इसकी आलोचनात्मक समीक्षा करिये। (गोरख०, एम० ए०, १९६६)

[Explain Ohlin's general equilibrium theory. Examine it critically]

४. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त में ओहलिन के योगदान की समीक्षा कीजिये। (जीवाजी, एम० ए०, १९६७)

[Explain the contribution of Ohlin to the theory of international Trade.]

१०

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत सिद्धान्त

(Opportunity Cost Doctrine of International Trade)

प्रारम्भिक—

सामान्य साम्य विश्लेषण के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त का एक अन्य दृष्टिकोण भी है, जिसे प्रो० हैबरलर ने विकसित किया है और वह 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत सिद्धान्त' कहलाता है। हैबरलर ने भी विभिन्न साधन-सम्पत्तियों (Factor-endowments) की भूमिका पर बल दिया है, किन्तु सुगमता के लिये वे यह मान लेते है कि देश विशेष मे उपलब्ध साधनों की पूर्ति स्थिर (Fixed) है यद्यपि उनका प्रयोग कई ढंगों मे किया जा सकता है—जैसे, एक वस्तु के उत्पादन मे कुछ कमी करके दूसरी वस्तु के उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार प्रत्येक देश के पास उत्पादन सम्भावनाओं (Production-possibilities) के कई सेट होते है। प्रो० हैबरलर के विश्लेषण म श्रम लागतों का स्थान एक वस्तु को दूसरी वस्तु से प्रतिस्थापित करने की लागतों न ले लिया है और इन्हे 'त्यागे हुए विकल्प' (Alternative forgone) के रूप मे व्यक्त किया जाता है।

अवसर लागत सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताय

(1) साधनों की अनेकता, विविधता और विशिष्टता पर बल देना—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त श्रम मूल्य सिद्धान्त (Labour Theory of Value) पर आधारित है। श्रम मूल्य सिद्धान्त की अनेक त्रुटियां हैं। हां, यदि उत्पत्ति का एक ही साधन (समान गुण युक्त श्रम) होता, तो वह सामान्य मूल्य सिद्धान्त की एक विशिष्ट दशा के रूप मे वैध (Valid) ठहराया जा सकता था। किन्तु वास्तविक विश्व मे ऐसा नही है, क्योंकि एक देश मे अनेक प्रकार के अनेक उत्पत्ति साधन (जैसे विभिन्न गुणों वाले श्रम, भूमि एव अन्य प्राकृतिक तथा मनुष्य निर्मित साधन) पाये जाते हैं। इन सब साधनों को किसी एक सामान्य मात्रा इकाई के रूप मे नहीं पाया जा सकता।

इसके अतिरिक्त, अनेक उत्पत्ति-साधन विशिष्ट (Specific) होते हैं। अर्थात् या तो वे केवल एक विशेष कार्य के लिए ही प्रयोग किये जा सकते हैं अथवा अन्य कार्य मे स्थानान्तरित करने पर उनकी उपज इतनी थोडी होगी कि स्थानान्तरण

करना व्यर्थ रहता है। साधनों की इस विशिष्टता के कई कारण हो सकते हैं, जैसे—प्रवास पर कानूनी नियन्त्रण, अत्यधिक यातायात-व्यय, तकनीकी अनुपयुक्तता। साथ ही, साधनों की विशिष्टता स्थायी हो सकती है अथवा 'अस्थाई'।

(II) प्रतिस्थापन-वक्र से सापेक्षिक कीमतों का पता लगाना—

श्रम मूल्य सिद्धान्त के प्रयोग का एकमात्र उद्देश्य दोनों देशों में से प्रत्येक में सापेक्षिक कीमतें (Relative prices) पता लगाना था। रिकार्डो ने कहा था कि श्रम लागत पूर्ति को प्रभावित करके कीमतों को निर्धारित करती है। हेबरलर ने बताया है कि सापेक्षिक कीमत, श्रम-मूल्य सिद्धान्त की अवास्तविक मान्यता को अपनाये बिना ही पता लगाई जा सकती है। वह लिखते हैं —

'मान लीजिए कि स्थिर लागत प्रचलित है। वस्तु A की प्रत्येक इकाई के उत्पादन के लिए श्रम की एक और वस्तु B की प्रत्येक इकाई के उत्पादन के लिये श्रम की दो इकाइयों के व्यय की आवश्यकता पड़ती है। निकट के चित्र १ में X axis पर A की मात्रायें और Y axis पर B की मात्रायें मापी गई हैं, जिससे कि दोनों axis के मध्य कोई भी भाग A और B के एक विशेष संयोग को सूचित करता है। यदि श्रम की कुल उपलब्ध पूर्ति को केवल A वस्तु के उत्पादन में ही लगायें, तो उससे A वस्तु की Oa मात्रा का उत्पादन किया जा सकता है और यदि केवल B वस्तु के उत्पादन में ही लगावें, तो उससे B वस्तु की Ob मात्रा का उत्पादन किया जा सकता है। इस प्रकार

चित्र १
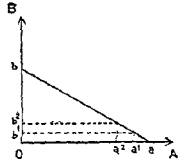
उपलब्ध श्रम द्वारा दोनों वस्तुओं के अनेक संयोग (Combinations) उत्पन्न किये जा सकते हैं। इन विभिन्न संयोगों की सूची निम्न प्रकार हो सकती है —

उत्पादन-संयोग तालिका

संयोग क्रमांक	A वस्तु	+	B वस्तु
1.	Oa	+	शून्य
2	Oa^1	+	Ob^1
3.	Oa^2	+	Ob^2
4	...	+	...
5	..	+	...
n	शून्य	+	Ob

A और B वस्तुओं के जो विभिन्न संयोग कुल उपलब्ध श्रम के प्रयोग द्वारा उत्पन्न किये जा सकते हैं वे सब a b रेखा पर ही पड़ते हैं। यहाँ हम देखेंगे कि B वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई उत्पन्न करने के लिए A वस्तु की २ इकाइयाँ कम करनी पड़ती हैं। अन्य शब्दों में, A और B के मध्य प्रतिस्थापन की दर (Rate of Substitution) 1·2 है। यही वस्तुओं का विनिमय अनुमान भी है।"

अब यदि हम यह मानें कि अर्थव्यवस्था में बढ़ती हुई लागतें प्रचलित हैं, तो उक्त परिस्थिति में क्या अन्तर पड़ेगा ? हैबरलर ने बताया है कि ऐसी दशा में प्रतिस्थापन वक्र (Substitution curve) मूल बिन्दु अवतल (Concave to the origin O) होगा। पहले की भाँति इस दिशा में भी A की Oa मात्रा और B की शून्य मात्रा उत्पन्न की जा सकती है। यदि B की Ob^1 मात्रा उत्पन्न करना चाहे, तो A की aa^1 मात्रा का त्याग करना पड़ेगा। यदि B की एक और अतिरिक्त मात्रा $b^1 b^2$ उत्पन्न करना चाहें, तो ऐसा केवल तब ही किया जा सकता है जबकि हम A की पहले से अधिक मात्रा ($a^1 a^2 > aa^1$) का त्याग करने को तैयार हो जायें। आगे भी यही क्रम चलेगा। जैसे-जैसे B का उत्पादन बढ़ाते और A का उत्पादन घटाते जायेंगे, B की उत्पादन-लागत बढ़ती जायेगी,

चित्र २—बढ़ती हुई लागतों के आधीन प्रतिस्थापन वक्र

किन्तु A की उत्पादन लागत कम होती जायेगी, जिससे B की एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने हेतु A की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्रा का त्याग करना पड़ेगा। यदि हम b बिन्दु से चलते, तो भी ऐसी ही प्रवृत्ति दिखाई देगी, अर्थात् A की एक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन करने हेतु B की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्रा का त्याग करना पड़ता। यही कारण है कि प्रतिस्थापन वक्र मूल बिन्दु से अवतल होता है।

यदि दोनों वस्तुओं का उत्पादन घटती हुई लागतों के आधीन होता है, तो प्रतिस्थापन वक्र मूल बिन्दु से उन्नतोदर (Convex) होगा। जैसे-जैसे B (या A) के स्थान में A/(प.स.), का. उत्पादन, प्रतिस्थापित, किया, जायेगा., A/(प.स.), की. अवसर लागत B (या A) के रूप में घटती जायेगी।
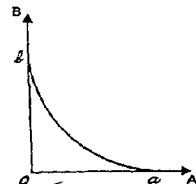
चित्र ३—बढ़ती हुई लागतों के आधीन प्रतिस्थापन वक्र

अब प्रश्न यह है कि ऐसी दशा में विनिमय अनुपात कैसे निर्धारित होगा ? स्थिर लागतो के आधीन तो वह केवल लागतो (Costs) से ही निर्धारित होता है, माँग की भूमिका केवल इतनी है कि वह उत्पत्ति की दोनो शाखाओं में उपलब्ध साधनों के वितरण को (और इस तरह से A और B की उत्पन्न की जाने वाली सापेक्षिक मात्राओं को) निश्चित करती है। लेकिन बढ़ती हुई लागतों की दशा में वह (माँग) विनिमय के अनुपात पर भी प्रभाव डालने लगती है, क्योंकि सापेक्षिक लागतें—प्रतिस्थापन अनुपात—A और B के लिए सापेक्षिक माँग की घटा-बढ़ी के अनुसार परिवर्तित हो जाया करती हैं। एक दिये हुए माँग सम्बन्धी सयोग की दशा में, A और B जिस अनुपात पर बाजार में एक दूसरे से विनिमय की जायेगी वह उस बिन्दु पर इनके प्रतिस्थापन अनुपात के बराबर होगा, अर्थात् वस्तुओं के मध्य विनिमय अनुपात इनकी सीमान्त लागतो के अनुपात के बराबर होगा, क्योंकि यदि वह इससे कम या अधिक है, तो समायोजन की प्रवृत्ति (Process of adjustment) प्रारम्भ हो जायेगी, जिससे अन्तत विनिमय अनुपात सीमान्त लागतो के अनुपात के समान हो जायेगा। अत. हैबरलर ने कहा है कि —

"अब यह स्पष्ट है कि हमे मूल्य के श्रम सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं रही है। हम वस्तुओं के मध्य प्रतिस्थापन की दशायें मालूम कर सकते हैं तथा उन्हें एक प्रतिस्थापन वक्र की शक्ल में प्रगट कर सकते हैं चाहे उत्पत्ति के अनेक साधन उपलब्ध हों या केवल एक समान (Homogeneous) श्रम-साधन ही उपलब्ध हो। जबकि माँग दी हुई है, तब चाहे कितने साधन हों दो वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतें इनकी लागतो द्वारा निर्धारित होगी। किन्तु अब हमें लागतो का माप करने में आस्ट्रियन सम्प्रदाय का अनुसरण करना चाहिए, अर्थात् लागतों का माप त्यागे गये विकल्पों द्वारा करें न कि श्रम की मात्रा द्वारा। इस प्रकार, वस्तु A की एक

दी हुई मात्रा x की लागत B वस्तु की वह मात्रा है जिसे A वस्तु की x 1 इकाइयो के बजाय x इकाइया उत्पन्न करने हेतु छोडना पडता है। बाजार मे A और B के मध्य विनिमय अनुपात इसी अर्थ मे इनकी लागतो के बराबर (अर्थात् अवसर लागतो के बराबर) होना चाहिए।[1]

चूँकि विभिन्न देशो की साधन सम्पत्तिया (Factor endowments) अलग-अलग होती है इसलिए उनके प्रतिस्थापन वक्र विभिन्न स्वरूपो (Forms) के होगे। मांग सम्बन्धी दशाये भी इसी प्रकार विभिन्न हो सकती हैं। अत ऐसी दशा मे, उन्ही कारणो से जिन्हे ओहलिन ने बताया था व्यापार दोनो देशो के लिए लाभदायक होगा।

(III) आधुनिक मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था मे भी विनिमय अनुपात उनकी प्रतिस्थापन लागतो से निर्धारित होना—

हैबरलर ने बताया है कि एक आधुनिक मौद्रिक अर्थ व्यवस्था मे भी विनिमय अनुपात (वस्तुओ की सापेक्षिक कीमते) वस्तुओ की प्रतिस्थापन लागतो से ही निर्धारित होते है। हा यह अवश्य है कि वस्तुओ के मध्य प्रतिस्थापन-सम्बन्ध प्रत्यक्ष नही रहते वरन् अप्रत्यक्ष हो जाते हैं, क्योकि मुद्रा एक मध्यस्थ का कार्य करती है।[2] अत

---

1 "It is now obvious that we have no further need of the labour theory of value We can derive the conditions of substitution between the commodities, and express them in the form of a substitution curve, when many different factors of production are available just as well as when there is only homogeneous labour However many factors there may be, the relative prices of two commodities will be determined (given the demand) by their costs—but we must now follow the Austrian School in measuring costs not by the absolute amount of labour required but by the alternatives forgone Thus, the marginal cost of a given quantity x of the commodity A must be regarded as that quantity of B which must be forgone in order that x, instead of x 1 units of A can be produced The exchange ratio on the market between A and B must equal their costs in this sense of the term —Haberler *The Theory of International Trade*, p 177

2 "We must now show the application of this reasoning to a modern money economy Of course we cannot state, for example, that a certain change in the relative prices of wheat and motor cars will cause one additional motor car to be produced in the place of so many bushels of wheat Nevertheless our doctrine can be applied in its essentials, given certain condition to a modern economy......The substitution relations between the conditions are no longer direct, but are indirect, operating through the medium of money cost."—*Ibid*

श्रम लागतों या अवसर लागतों के स्थान में हम 'मौद्रिक लागत' शब्द का प्रयोग उचित रूप से कर सकते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि प्रतिस्थापन लागतें मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था में निम्न दशायें विद्यमान होने पर ही विनिमय अनुपात को निर्धारित कर सकती है —

(१) प्रत्येक वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त (मुद्रा) लागत के बराबर होती है। सीमान्त लागत से तात्पर्य x—1 इकाइयों के बजाय x इकाइयाँ उत्पन्न करने हेतु आवश्यक अतिरिक्त' साधनों की कीमतों के जोड़ का है,

(२) प्रत्येक उत्पत्ति-साधन की विभिन्न इकाइयों का मूल्य (बशर्तें ये साधन गतिशील और एक दूसरे के स्थानापन्न (Substitute) हों सभी प्रयोगों में समान होता है, एवं

(३) उत्पत्ति के प्रत्येक साधन (गतिहीन और विशिष्ट साधनों को सम्मिलित न करते हुए) की इकाइयों का मूल्य इसकी सीमान्त उत्पादकता' के बराबर होता है। (यहां सीमान्त उत्पादकता से आशय उत्पत्ति के साधन की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग द्वारा भौतिक उपज में होने वाली मूल्य-वृद्धि का है।) किन्तु यह आवश्यक है कि साधन इकाइयाँ एक समान और एक दूसरे की स्थानापन्न हों और ये दशायें जैसा कि सब जानते हैं प्रतियोगिता द्वारा स्थापित होती हैं।

(IV) विशिष्ट घटकों पर विशेष बल—

प्रो० हैबरलर ने उस अंश पर, जहां तक उत्पत्ति साधन किसी एक उद्योग की दृष्टि से विशिष्ट (Specific) होते हैं (अथवा यों कहें कि अन्य उद्योगों के लिए बेकार होते हैं) विशेष रूप से बल दिया है। विशिष्ट साधन वह है जो केवल किसी वस्तु विशेष के उत्पादन के लिए उपयुक्त है किन्तु अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिये अनुपयुक्त अथवा बहुत ही व्यय साध्य होते हैं। विशिष्ट साधनों की उपस्थिति सिद्धान्त की वैधता पर प्रभाव नहीं डालती है। हां इनकी वजह से प्रतिस्थापन वक्र का रूप अवश्य बदल जाता है। अविशिष्ट साधनों का अनुपात जितना बड़ा होगा, प्रतिस्थापन वक्र उतना ही अधिक चपटा (Flatter) होगा और जिस अनुपात में दोनों वस्तुयें माँगी जाती हैं उसमें होने वाले परिवर्तन सापेक्षिक लागतों (प्रतिस्थापन लागतों) में उतने ही छोटे परिवर्तन लायेंगे। इसके विपरीत, विशिष्ट साधनों का अनुपात जितना बड़ा होगा, प्रतिस्थापन वक्र में उतनी ही अधिक फुलावट (Bulge) होगी और दोनों वस्तुयें जिस अनुपात में माँगी जाती हैं उसमें होने वाले परिवर्तन सापेक्षिक लागतों में उतने ही बड़े परिवर्तन लायेंगे।
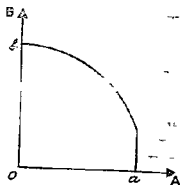
चित्र—विशिष्ट साधनों का अधिक अनुपात होने पर प्रतिस्थापन वक्र

(V) उत्पत्ति ह्रास नियम पर विस्तारपूर्वक विचार—

उन्होंने बढ़ती हुई लागतों की समस्या पर सविस्तार विचार किया और बताया कि "जिस सुगमता से एक वस्तु का प्रतिस्थापन दूसरी वस्तु द्वारा किया जा सकता है, वह दूसरी वस्तु का उत्पादन बढ़ाये जाने के साथ ही साथ कम होती जाती है।"[1] बढ़ती हुई लागत की दशाओं के अन्तर्गत जो उत्पादन होता है वह इस बात को समझाने में सहायक है कि क्यों कोई देश अपनी पूर्ति के एक भाग के लिए अपने घरेलू स्रोतों पर और शेष भाग के लिए विदेशी स्रोतों पर निर्भर रहता है।

स्थिर लागत सम्बन्धी मान्यता का त्याग करने पर विशिष्टीकरण के लाभों से सम्बन्धित कुछ प्रश्न उदय होते है :—

(१) ग्राहम और अन्य विद्वानों ने बताया है कि एक ऐसे देश को जो बढ़ती हुई लागतों वाले उद्योग में विशिष्टीकरण और निर्यात करता है और घटती हुई लागतों के अन्तर्गत उत्पन्न की जाने वाली वस्तुयें आयात करता है, व्यापार के फलस्वरूप हानि ही सकती है।

(२) किन्तु बढ़ती हुई लागतें ही अपूर्ण विशिष्टीकरण का एक मात्र कारण नहीं है। इसका दूसरा कारण है रुचियों म अन्तर होना। यद्यपि अधिकाश अमेरिकन अमेरिका मे बनी हुई कारें ही पसन्द करते है और चाहे यह देश एक दी हुई किस्म की कार का उत्पादन सबसे सस्ती लागत पर कर सकता है, तथापि कुछ अमेरिकन ब्रिटिश कारों को उसी प्रकार से पसन्द करते हैं, जिस प्रकार से कि कुछ लोग फ्रेंच शराब और स्विस घड़ियों को अमरीकी शराब और घड़ियों की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं। ऐसे उत्पादन और विक्रय सम्बन्धी ढांचे उत्पाद-भेद (Product differentiation) के रूप के समझे जाने चाहिए (ब्रिटिश कार एक वस्तु है, अमेरिकन कार दूसरी), बाजारों के विभाजन के रूप नहीं।

अवसर लागत दृष्टिकोण की समीक्षा

अवसर लागत दृष्टिकोण लागत पक्ष की कठिनाइयों से तो बचता है लेकिन माँग पक्ष पर कई कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देता है। प्रमुख कठिनाइयाँ निम्न प्रकार हैं —

(१) व्यक्ति के लिए उदासीनता वक्र इस मान्यता के आधार पर खींचा जाता है कि उसकी आय स्थिर रहती है। लेकिन समाज के लिए एक अकेला उदासीनता वक्र खींचना सम्भव नहीं है भले ही हम की कुल आय को स्थिर मान लें। कारण, कुल आय के स्थिर रहते हुए यदि इसके वितरण में कोई परिवर्तन हुआ, तो वह व्यक्तिगत सदस्यों का अनुराग क्रम को और इस प्रकार समाज के उदा-

---

1 For a full discussion, *see* Viner *Studies in the Theory of International Trade*, pp 470 482

सीनता वक्र को बदल देगा। उदासीनता वक्रो का प्रयोग इस मान्यता पर निर्भर है कि यह एक दूसरे को काटते नही हैं। किन्तु आय के विभिन्न वितरणो को व्यक्त करने वाले कुछ उदासीनता वक्र एक दूसरे को काट सकते है। ऐसी दशा मे यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उनमे से कौन बेहतर स्थिति मे है। एक अकेला समाज उदासीनता वक्र तब ही खीचा जा सकता है जब हम यह मान ले कि समाज की स्थिर कुल आय के वितरण मे भी कोई परिवर्तन नहीं होता। किन्तु ऐसा करने पर अवसर लागत दृष्टिकोण की व्यावहारिक उपयोगिता कम हो जायेगी।

(२) उपभोग उदासीनता वक्र यह कल्पना करता है कि उपभोक्ताओ की रुचियाँ विचाराधीन अवधि पर्यन्त अपरिवर्तित रहती हैं किन्तु व्यवहार मे ऐसा होना जरूरी नही है।

(३) उत्पादन-उदासीनता वक्र यह कल्पना करते हुए बनाये जाते हैं कि (i) उत्पत्ति साधनों की पूर्ति स्थिर है, (ii) बाह्य एव आन्तरिक दोनो प्रकार की मितव्ययितायें अनुपस्थित है, तथा (iii) उत्पाद एव साधन बाजारो मे पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान है। किन्तु व्यवहार मे हम देखते है कि उत्पत्ति साधनो की पूर्ति इनकी कीमतो के परिवर्तनो से प्रभावित होती है। पूर्ण प्रतियोगिता के स्थान मे अपूर्ण प्रतियोगिता ही अधिक प्रचलित दशा है तथा बाह्य एव आन्तरिक मितव्ययितायें प्राप्त हो सकती हैं।

अवसर लागत सिद्धान्त और तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मे कौन बेहतर है ?

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के दो कार्य है—विश्लेषणात्मक एव व्याख्यात्मक कार्य तथा कल्याण या नीति सम्बन्धी कार्य। पहिले कार्य का तात्पर्य व्यापार को जन्म देने वाले कारणो से और दूसरे का तात्पर्य व्यापार के औचित्य से है। विश्लेषण के कार्य के लिए तो अवसर लागत दृष्टिकोण को बेहतर समझा जाता है किन्तु नीति सम्बन्धी कार्य के लिए तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को। हैबरलर को इस बात का सन्देह है कि वास्तविक लागत दृष्टिकोण जो विश्लेषण के लिए उपयुक्त नही है, नीति के लिए कैसे उपयुक्त हो सकती है। सच्चाई यह है कि दोनों प्रकार के दृष्टिकोण अपनी-अपनी दुर्बलतायें रखते हैं।

परीक्षा प्रश्न :

१. हैबरलर द्वारा प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अवसर लागत सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। (आगरा, एम० कॉम०, १९६८)
[Briefly-explain the opportunity-cost doctrine of International trade as propounded by Haberler.]

२ . "अवसर लागत विश्लेषण 'प्रतिष्ठित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त' और पूर्ण विकसित 'सामान्य विश्लेषण सिद्धान्त' के मध्य एक सम्पर्क कड़ी है।" स्पष्ट कीजिए।

["Opportunity cost analysis is a link between the classical theory of comparative costs and the full-blown general equilibrium analysis involving variations in the amount of factors of production." Discuss.]

३ क्या यह कहना सच है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत दृष्टिकोण प्रतिष्ठित दृष्टिकोण का पूरक अधिक है स्थानापन्न कम ? कारण सहित उत्तर दीजिए। (इलाहा०, एम० ए०, १९६६)

[Is it correct to say that the opportunity cost approach to the theory of international trade is more a complement to rather than a substitute for, the classical approach ? Give reasons.]

४ शिशु उद्योगों को संरक्षण देने की औचित्य की अवसर लागत सिद्धान्त के सन्दर्भ में समीक्षा कीजिये। इसे अर्द्ध-विकसित देशों में लागू करने की दृष्टि से आप इसमें क्या परिवर्तन आवश्यक समझते हैं ?

(इलाहा०, एम० कॉम०, १९६६)

[Examine in terms of the opportunity cost theory the plea for protection of infant industries ? What changes would be needed in your view to make it applicable to under developed countries ?]

११

व्यापार शर्तें

(Terms of Trade)

प्रारम्भिक—'व्यापार-शर्तों' से आशय

विभिन्न देशो मे विभिन्न करैंसियाँ होती हैं जिनका कानूनी चलन इनकी अपनी-अपनी क्षेत्रीय सीमाओ के भीतर होता है। परिणामत देशो को अपने आयातो के लिए निर्यातो के रूप मे भुगतान करना पडता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक 'अदल-बदल' (Barter) या 'वस्तुओं के प्रत्यक्ष विनिमय' का रूप धारण कर लेता है। जिस दर पर निर्यात आयातो के बदले दिये जाते है उसे 'व्यापार की शर्तें' (Terms of Trade) कहते हैं।[1] उदाहरण के लिए, यदि भारत को अमेरिका से १००० टन गेहूँ के बदले म १०० टन नारियल भेजना पडता है, तो व्यापार की शर्तें १००० १०० होगी। यह अनुपात हमें इस बात का ज्ञान कराता है कि १ टन नारियल के बदले मे भारत को कितने टन गेहूँ प्राप्त होता है। 'व्यापार-शर्तों' के सम्बन्ध मे विभिन्न धारणाएँ प्रचलित है, जिन्हे आगे समझाया गया है।

'शुद्ध' एव 'कुल' व्यापार शर्तें

प्रो० टॉजिग (Taussig) ने दो प्रकार की व्यापार-शर्तों का उल्लेख किया है—'शुद्ध' एव कुल'।

(१) 'शुद्ध' अदल बदल वाली व्यापार शर्तें (अथवा वस्तुगत व्यापार शर्तें)—किन्ही दो क्रम से आने वाली अवधियो मे आयात कीमतो से निर्यात कीमतो की तुलना के अनुपात को शुद्ध अदल बदल वाली व्यापार शर्तें' (Net Barter Terms of Trade) अथवा 'वस्तुगत व्यापार शर्तें' (Commodity Terms of Trade) कहते है।[2] बीज रूप से इसे निम्नांकित ढग से व्यक्त किया जा सकता है —

---

[1] When the trade between two countries involves only two goods, one on either side, we speak of an 'exchange ratio' or 'exchange-rate,' but when it involves more than two goods, we speak of the 'terms of trade'

[2] The ratio of comparison between export prices to import prices in any two consecutive periods is called the Net Barter Terms of Trade or the Commodity Terms of Trade.

$$\frac{px_1}{pm_1} \quad \frac{px_0}{pm_0}$$

जिसमे, p = कीमत

x = निर्यात

m = आयात और अधोलिखित (Subscripts) का आशय समयावधि से है।

यदि निर्यात कीमत सूचनाक t_0 और t_1 अवधि मे १०० से बढ कर २०० हो गया है और इसी अवधि म आयात कीमत सूचनाक केवल १०० से बढकर १५० हो गया है, तो व्यापार की शर्ते निम्नाकित होगी —

$$\frac{२००}{१५०} \quad \frac{१००}{१००} = १ ३३ : १ ००$$

इसका आशय यह है कि t_1 समय पर व्यापार की शर्तों मे उक्त समयावधि के भीतर ३३% सुधार हो गया है। अन्य शब्दो मे, आयात कीमतो की तुलना मे निर्यात-कीमतो म हुई अधिक वृद्धि व्यापार की शर्तों मे अनुकूल परिवर्तन होने का सूचक है। विपरीत क्रम से, यदि निर्यात कीमतें आयात कीमतो की अपेक्षा कम बढ़े, तो यह व्यापार की शर्तों म प्रतिकूल परिवतन होने का सूचक है।

(२) 'कुल वस्तु विनिमय वाली व्यापार शर्ते'—व्यापार शर्तों से सम्बन्धित शुद्ध अदल बदल धारणा का प्रयोग तब ही वाछनीय होता है जबकि सम्बन्धित देश के भुगतान सतुलन मे वस्तुओ और सेवाओं के आयात सम्बन्धी भुगतानों (Payments) और निर्यात सम्बन्धी प्राप्तियों (Receipts) के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सम्मिलित न हो। लेकिन, जब भुगतान सन्तुलन मे आयातो एव निर्यातो (दृश्य अथवा अदृश्य) के अतिरिक्त अन्य मदो से सम्बन्धित भुगतान भी (जैसे इकतरफा द्रव्य स्थानान्तर (Unilateral transfers) सम्मिलित हो, तो कुल अदल बदल वाली व्यापार शर्तों' (Gross Barter Terms of Trade) को ही विचार मे लेना चाहिए। इस धारणा के अनुसार हम कीमतो से सम्बन्ध स्थापित करने के बजाय अब मात्राओ या परिमाणो (Quantities) स सम्बन्ध रखते है। अत 'कुल अदल बदल वाली व्यापार शर्तों का आशय वास्तविक निर्यात मात्राओ और वास्तविक आयात मात्राओं के मध्य तुलना के अनुपात से है। इसे बीज रूप मे निम्न प्रकार से प्रगट किया जा सकता है —

$$\frac{qx_1/px_1}{qm_1/pm_1} \quad \frac{qx_0/px_0}{qm_0/pm_0}, \text{ or } \frac{qx_1}{qm_1} \cdot \frac{pm_0}{px_1} \quad \frac{qx_0}{qm_0} \cdot \frac{pm_0}{px_0}$$

जिसमें p = सामान्य कीमत स्तर

q = मात्रा

x = निर्यात

m = आयात और Subscripts समयावधियो के सूचक हैं

'एकल' एव 'द्वि-साधनात्मक' व्यापार-शर्तें
(Single and Double Factoral Terms of Trade)

वाइनर ने व्यापार शर्तों को एकल एव द्वि साधनात्मक व्यापार-शर्तों के रूप में स्पष्ट किया है।

(१) एक साधनात्मक व्यापार-शर्तें—चूँकि 'कुल अदल-बदल व्यापार-शर्तों' की धारणा में कीमत तत्त्व, जो कि एक प्रकार का औसत है, सम्मिलित है,] इसलिए यह भी 'शुद्ध अदल-बदल व्यापार शर्तों' की धारणा की भांति अधूरी, त्रुटिपूर्ण है तथा भुगतान-सन्तुलन की वास्तविक दशा को दिखाने में असमर्थ है। यही नहीं 'शुद्ध' और 'कुल' अदल-बदल व्यापार-शर्तों का अर्थ केवल तब ही स्पष्ट हो पाता है जबकि भुगतान-सन्तुलन दोनों अवधियों में साम्यावस्था में बना रहे। यह भी आवश्यक है कि तुलना के लिए चुनी गई अवधियां इतनी निकटतम (Proximate) हों कि उन पर उत्पादकता सम्बन्धी परिवर्तनों का प्रभाव न पड़े। वाइनर (Viner) के अनुसार, 'यदि निर्यात वस्तुओं के उत्पादन के औसत तकनीकी गुणांकों (Coefficients) के रूप में उत्पादन लागत का एक सूचनांक बनाना सम्भव हो और यदि 'वस्तुगत-व्यापार शर्त सूचनांक' को उक्त तकनीकी गुणांक के व्युत्क्रम (Reciprocal) से गुणा किया जाय, तो इसके फलस्वरूप जो सूचनांक प्राप्त होगा वह व्यापार से लाभ की प्रवृत्ति के बारे में वस्तु व्यापार-शर्त सूचनांक की अपेक्षा अधिक अच्छा मार्ग दर्शन प्रदान कर सकता है।" उक्त ऐसी व्यापार शर्तों को 'एकल साधनात्मक व्यापार शर्तें' (Single Factoral Terms of Trade) कहा है।[1]

(२) द्वि साधनात्मक व्यापार शर्तें—किन्तु उत्पादकता दो मुखी होती है, अर्थात् यह न केवल निर्यातों को वरन् आयातों को भी प्रभावित करती है। यदि हम इस बात को विचार में लें, तो इन्हें 'द्वि साधनात्मक व्यापार-शर्तें' (Double Factoral Terms of Trade) कहा है। वाइनर के अनुसार, 'द्वि-साधनात्मक व्यापार शर्तों का आशय विदेशी देश की, जिनके उत्पाद हमारे स्वदेश की उत्पादक-सेवाओं की एक इकाई के उत्पाद से विनिमय होते हैं, उत्पादक सेवाओं की इकाइयों की संख्या से है।"[2]

'आय-गत' और 'बाजार-गत' व्यापार शर्तें
(Income and Market Terms of Trade)

(१) आय गत व्यापार शर्तें—राबर्टसन (Robertson) की सम्मति में 'साधनात्मक व्यापार शर्तें' (इकहरी या दोहरी) एक वास्तविक माप है। उनकी यह धारणा सैद्धान्तिक रूप में सही हो सकती है किन्तु व्यावहारिक रूप से नहीं। व्यवहार में, उत्पादकता तत्त्व को मापना बहुत ही कठिन होता है, क्योंकि जब हम

[1] *Studies in the Theory of International Trade*, p 559.
[2] *Ibid* p 561

उत्पादकता को मापने का प्रयत्न करते हैं तब कई समस्यायें खडी हो जाती हैं, जैसे—उत्पादकता मे अन्तर लाने वाले घटक कौन कौन से है ? निर्यात, आयात अथवा सम्पूर्ण औद्योगिक इनमे से किस क्षेत्र की उत्पादकता को जाँचे ? क्या समय एव गति अध्ययन पर्याप्त सूचना प्रदान कर सकेंगे ? बाह्य घटको (जैसे जलवायु, कारखाने का स्थान, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि) का उत्पादकता पर क्या प्रभाव पड़ता है ? ऐसी ही समस्याओ ने विद्वानों को उक्त धारणाओ मे सशोधनो पर विचार करने हेतु विवश कर दिया है। इन सशोधनो मे से ही एक 'आयगत व्यापार शर्तों' (Income Terms of Trade) की धारणा है। यह 'शुद्ध अदल बदल वाली व्यापारी शर्तों' का एक रूपान्तर है और इसे 'आयात करने की क्षमता' (Capacity to import) के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है। बीज रूप मे इसे निम्न प्रकार प्रस्तुत कर सकते है —

$$qm = \frac{px \quad qx}{pm}$$

जहाँ, qm=आयात करने की क्षमता

p=कीमत

x=निर्यात

m=आयात

आयात करन की क्षमता उस दशा मे अधिक होगी जबकि (i) निर्यातो की कीमत ऊँची हो जाय, (ii) निर्यातो की मात्रा बढ जाय और/अथवा (iii) आयातो की कीमत घट जाय। चूँकि इस दृष्टिकोण मे तुलना के आधार का अभाव है, इसलिये हम आय-गत व्यापार शर्तो को निम्न ढग से पुन प्रस्तुत कर सकते है :—

$$qm_0 \quad qm = \frac{px \quad qx}{pm} \quad \frac{px_0 \quad qx_0}{pm_0}$$

(२) 'बाजार गत' व्यापार शर्तें—उपरोक्त मापक की कठिनाई यह है कि वह शुद्ध व्यापार शर्तों मे केवल निर्यात-मात्राओ की गणना करता है। अत इसे 'व्यापार से निर्यात-लाभ' (Export gain from trade) कहना ठीक होगा। किन्तु हमारी रुचि इससे कहीं अधिक गहरी है, जिस कारण 'शुद्ध' और 'कुल' व्यापार शर्तों का मिश्रण लेना अधिक उपयुक्त जँचता है। "इस मिश्रण को 'बाजारगत व्यापार शर्तें' (Market Terms of Trade) कह सकते है और इसे किन्हीं दो अवधियो मे निर्यात मूल्य और मात्रा तथा आयात मूल्य और मात्रा के मध्य

तुलना के अनुपात के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है ।"[1] बीज रूप में इसे निम्न प्रकार प्रस्तुत कर सकते है —

$$T_t = \frac{px\ qx}{pm\ pm} - \frac{px_0\ qx_0}{mq_0\ qm_0}$$

व्यापार शर्त सम्बन्धी धारणा का व्यावहारिक महत्त्व

व्यापार शर्त सम्बन्धी धारणा का व्यावहारिक महत्त्व बहुत अधिक है । इसे निम्नांकित ढङ्ग से बताया जा सकता है —

(१) व्यापार के लाभ में से मिलने वाले हिस्से का निर्धारण—किसी देश को वस्तुओं और सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय से उदय होने वाले लाभ में से कितना हिस्सा प्राप्त होगा, इसका निर्धारण 'व्यापार-शर्तें' द्वारा ही होता है । 'व्यापार शर्तें' जितनी अनुकूल होगी देश को उतना ही अधिक लाभ मिलेगा । स्मरण रहे कि व्यापार-शर्तें कुल लाभ (Total gain) में केवल देश के हिस्से को ही निर्धारित करती है, किन्तु 'कुल लाभ' स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उदय होता है ।

(२) साधनों के पुरष्कार और रोजगार पर प्रभाव—व्यापार-शर्तें देश मे साधनों के रोजगार और उनके पुरष्कार को भी प्रभावित करती है । जब व्यापार-शर्तों मे सुधार होता है, तो निर्यात वस्तु उद्योगों मे काम करने वाले साधनों के पुरष्कार (मजदूर आदि) मे वृद्धि हो जाती है । अन्य उद्योगों मे भी वैसे ही साधनों के पुरष्कार बढ़ जाते है । शनैः शनैः आय, रोजगार और मजदूरी कई अन्य उद्योगो मे बढ जायेगे । विपरीत क्रम से, जब व्यापार-शर्तें बिगड़ती है, तो आय, रोजगार और मजदूरियो मे गिरावट आ जाती है ।

(३) आर्थिक विकास मे सहायता—व्यापार-शर्तें आर्थिक विकास मे भी बाधक या सहायक हो सकती है । कहा जाता है कि अन्य बातों के साथ-साथ यदि व्यापार-शर्तें भी लाभदायक हो, तो न्यून आय वाले देश भी अधिक तेजी से विकास कर सकते हैं । कारण, अनुकूल व्यापार शर्तें उन्हें अधिक मात्रा मे आयात करने के लिए प्रोत्साहित करती है जिससे प्रसाधनों की उपलब्धता बढ जाती है और इसलिए तेजी से विकास होने लगता है । इसी आधार पर **मोन्ट्रियल के कामनवैल्थ सम्मेलन** तथा दिल्ली मे आयोजित मुद्रा कोष की वार्षिक बैठक (१९५८) मे प्रतिनिधियो ने यह मत प्रकट किया था कि प्राथमिक वस्तुओं (Primary products) की विश्व-कीमतो मे सुधार होना चाहिए ।

(४) विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकता का अनुमान लगाने मे सहायता—व्यापार-शर्त सम्बन्धी धारणा हमें उस मूल्य का ज्ञान कराती है जो आयातो के लिए चुकाये गये मूल्य की तुलना मे, हमारे निर्यातो के बदले में प्राप्त होता है । यह जानकारी हमे विनिमय की सापेक्षिक मात्राओं (Relative volumes of exchange) पर आपेक्षिक कीमतों (Relative prices) के प्रभाव को समझने मे सहा-

---

[1] "Market Terms of Trade may be defined as the ratio of comparison between export volume and value to import volume and value in any two consecutive periods "—**Kersi D Doodha**, *Economic Relations in International Trade*, p. 44-48.

यता देती है। इससे हम अपनी विदेशी मुद्रा सम्बन्धी स्थिति का और इसमे होने वाले सामयिक परिवर्तनो का अनुमान सुगमतापूर्वक लगा सकते हैं।

(५) **विदेशी व्यापार से शुद्ध लाभ और हानि का अनुमान लगाने में सहायता**—व्यापार-शर्तो से इस बात पर स्पष्ट प्रकाश पडता है कि एक देश को अपने विदेशी व्यापार से कितना शुद्ध लाभ (अथवा हानि) हो रहा है। सामान्यत हम देखते है कि व्यापार-शर्तों के प्रतिकूल रहने से कृषक देशो की हानि होती है।

व्यापार की शर्तो पर प्रभाव डालने वाली बात

किसी देश के लिए व्यापार की शर्ते सदा एक ही समान नहीं रहती है। वास्तव म वे समय समय पर बदलती रहती है। इस प्रकार, जिस देश के लिए व्यापार की शर्तें पहले अनुकूल थी, अब प्रतिकूल हो सकती है। व्यापार की शर्तों पर प्रभाव डालने वाली बाते निम्नलिखित है —

(१) **मांग की लोच**—अन्य बाते समान रहते हुए यदि देश के निर्यात-माल के लिए विदेशी माँग की लोच कम है, तो देश अनुकूल व्यापार शर्ते प्राप्त करने की स्थिति म होगा और यदि लोच अधिक है, तो व्यापार शर्ते अनुकूल न हो सकेगी।

(२) **स्थानापन्नो की उपलब्धता**—यदि अन्य देशो द्वारा उपयुक्त स्थानापन्न (Substitutes) निर्माण किये जाते है, तो निर्यातक देश के लिए व्यापार की शर्ते कम अनुकूल (या प्रतिकूल) होगी। यदि स्थानापन्न नही ह तो व्यापार की शर्ते अनुकूल होगी।

(३) **पूर्ति की लोच**—यदि सम्बद्ध देश म आपूर्ति की लोच (Elasticity of supply) ऊँची है तो वह अपनी वस्तुओ की पूर्ति को विदेशी माग मे होने वाली घट बढ के साथ सुगमतापूर्वक समायोजित कर लेगा जिसम व्यापार की शर्ते अनुकूल होगी। विपरीत परिस्थिति म, व्यापार की शर्तें कम अनुकूल (या प्रतिकूल भी) हो सकती है।

(४) **माँग का आकार**—आयातक देश की माग का आकार भी व्यापार की शर्तो को प्रभावित करता है। एक वृहत आकार वाले देश (जैसे कि भारत या अमेरिका) की माँग प्राय विशाल होती है। एक बडा ग्राहक होने के कारण, वह अपने लिए लाभप्रद रूप मे सौदे बाजी कर सकता है, विशेषत जबकि निर्यातक देश छोटा हो और अपने अतिरिक्त उत्पादन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार म दूसरा ग्राहक ढूँढने मे असमर्थ हो।

(५) **विनिमय-दर**—एक देश जानबूझ कर व्यापार की शर्तों को, अपनी करैन्सी के बाह्य मूल्य को बढा कर, अपने पक्ष मे कर सकता है।

(६) **राजनैतिक शर्ते**— व्यापार की शर्ते राजनैतिक दशाओ से भी प्रभावित होती है। यदि विदेशी व्यापार म भाग लेने वाले देश आपस मे मित्र राष्ट्र

है, तो व्यापार की शर्तें अनुकूल और सरल होगी और यदि मित्र राष्ट्र नहीं हैं तो शर्तें कडी हो सकती है।

इस प्रकार, व्यापार की शर्तों पर प्रभाव डालने वाले अनेक घटक है। ऐसे घटकों की उपर्युक्त सूची पूर्ण नही है। उसमे कुछ अन्य घटक भी सम्मिलित किये जा सकते है।

अनुकूल एव प्रतिकूल व्यापार शर्तें

यदि कोई देश एक दी हुई निर्यात-मात्रा के बदले पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे आयात करने मे समर्थ हो जाय या उसे पहले जितनी आयात मात्रा के बदले मे कम मात्रा मे निर्यात करना पडे, तो कहेंगे कि व्यापार की शर्तें उसके 'अनुकूल' (Favourable) हो गई है। इसके विपरीत, जब कोई देश एक दी हुई निर्यात मात्रा के विनिमय मे पहले से कम मात्रा मे आयात कर सकता हो या पहले जितनी मात्रा के आयात के बदले मे उसे अधिक मात्रा मे निर्यात करना पडता हो, तो कहेंगे कि व्यापार की शर्तें उस देश के 'प्रतिकूल' (Unfabourable) हो गई है। चूँकि एक देश का लाभ दूसरे देश की हानि होती है, इसलिये जो व्यापार शर्तें एक देश के 'अनुकूल' है वही दूसरे देश के 'प्रतिकूल' होती है।

व्यापार की शर्तों मे परिवर्तन होने का महत्त्व

व्यापार की शर्तों मे होने वाले परिवर्तन व्यापार के लाभो को तथा देश की उदय होने वाली वास्तविक आय को भी प्रत्यक्ष रूप मे प्रभावित करते है। व्यापार-शर्तें जितनी अधिक अनुकूल होगी, सम्बन्धित देश को लाभ मे से उतना ही बडा हिस्सा मिलेगा। जब व्यापार की शर्तों मे सुधार होता है तो निर्यात-वस्तुएँ बनाने वाले उद्योगो मे साधनो का पुरस्कार बढ जाता है और अर्थ व्यवस्था म आय, रोजगार एव मजदूरियों मे सामान्य वृद्धि होती है। किन्तु कुछ दशाओं मे, व्यापार-शर्तों मे अनुकूल परिवर्तन होने पर भी लाभ न होना सम्भव है। उदाहरणत आर्थिक मन्दी के युग मे, कृषि वस्तुओ की कीमते निर्मित वस्तुओ की अपेक्षा अधिक गिर जाती हैं, जिससे व्यापार-शर्तें निर्मित वस्तुओ का निर्यात करने वाले देश के पक्ष मे सुधर जाती है। नि सन्देह, खाद्यान्नो का सस्ता आयात निर्माणी देशो मे जीवन-स्तर को उठाता है किन्तु कृषक देशो मे लोगो की घटी हुई क्रय-शक्ति उनकी निर्माणी देशो से आयात करने की क्षमता को घटा देती है, जिससे इन देशो मे भी आय और रोजगार को ठेस पहुँचती है।

इसी प्रकार, कुछ दशाओं मे यह आवश्यक नही है कि व्यापार की शर्तों में प्रतिकूल परिवर्तन होने का प्रभाव उस देश के लिए कुल पर अलाभदायक ही हो। उदाहरणार्थ उत्पादन-तकनीक मे सुधार होने से निर्यातों की कीमतें घट सकती हैं। यदि ऐसा हुआ, तो सम्बन्धित देश के लिए व्यापार शर्तें अधिक बिगड जाती हैं। किन्तु कुल पर यह बिगाड देश के लिए लाभदायक ही रहेगा, क्योंकि लागतों में कमी और उत्पादन की वृद्धि के कारण लोगों की वास्तविक आय बढ जाती है।

स्पष्टत अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव को पूर्ण रूप से समझने के लिए व्यापार शर्तों का ही नही, वरन् अन्य घटको की भी जानकारी होनी चाहिए।

शुद्ध और कुल व्यापार शर्तो पर पुन विचार

'शुद्ध' और 'कुल' वस्तुगत व्यापार शर्तों में सम्बन्ध तथा इनकी गणना— अग्रलिखित तालिका से यह पता चलता है कि शुद्ध और कुल वस्तुगत शर्तों मे क्या सम्बन्ध है तथा इनकी गणना करने का ढङ्ग क्या है।

व्यापारिक सांख्यिकी मे दर्ज किए गए वास्तविक मूल्य (उदाहरणार्थ) आयात के लिए सन् १८९० मे ३५६ मिलियन पौंड था किन्तु कालम A यह दिखाता है कि आधार वर्ष सन् १९०० की तुलना मे आयात-कीमतें 7% ऊँची थी। तद्नुसार हम ३५६ के अपरिष्कृत या कच्चे अक (Crude figure) को १०७ से भाग देते हैं, जिससे भागफल ३३३ (कालम F) आता है। तालिका के अन्य अक तो स्वतः स्पष्ट है।

इंगलैण्ड की 'शुद्ध' और 'कुल' व्यापार-शर्तें

	Index of		Net Terms of Trade	Value in £ Millions		Value after correcting for Price changes		Corrected Values expressed as Relatives (1900=100)		Gross Terms of Trade
	Import prices 1900	Export prices 100	A/B	Imports	Exports	Imports D/A	Exports E/B	Imports	Exports	(I/H)
	A	B	C	D	E	F	G	H	I	J
1890	107	95	1 13	356	263	333	278	72·4	98 6	1 36
1900	100	100	1 00	460	291	460	291	100	100	1·00
1910	110	98	1·12	575	430	525	438	114 1	150 3	1·32

१८९० मे १९०० की अवधि मे 'शुद्ध' (Net) व्यापार शर्तों मे सुधार हुआ है, क्योंकि आयात-कीमतें निर्यात-कीमतों की तुलना मे गिर गई हैं। १९०० से १९१० की अवधि मे गति विपरीत दिशा मे हुई है। शुद्ध व्यापार शर्तों की अपेक्षा 'कुल' व्यापार शर्तें, पिछली अवधि मे अधिक सुधार दर्शाती है। इसका कारण है आयात- आधिक्य मे वृद्धि होना, जो स्वय इस कारण है कि पूँजी का निर्यात १८९०

की अपेक्षा १६०० मे कम था । १६१० मे पूँजी का निर्यात कहीं अधिक था जिससे आयातों का आधिक्य अपेक्षत छोटा था तथा कुल व्यापार शर्तें अधिक 'प्रतिकूल' थी । [इसीलिये टॉजिग ने बताया है कि व्यवहार मे सही चित्र पाने के लिये एक लम्बी अवधि के आँकड़ों का अध्ययन करना चाहिये ।]

'शुद्ध व्यापार शर्तों' की अपेक्षा 'कुल व्यापार शर्तों' की श्रेष्ठता—

टॉजिग ने सुझाव दिया था कि जब हम किसी देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उदय होने वाले लाभ की गणना करना चाहते है, तो हमे 'कुल व्यापार शर्तों' की धारणा का प्रयोग करना चाहिये । अर्थात् हमे एक देश जो वस्तुयें भेजता है उनके कुल (समायोजित) मूल्य की तुलना उसे प्राप्त होने वाली वस्तुओं के कुल (समायोजित) मूल्य से करनी चाहिये । शुद्ध व्यापार शर्तों की तुलना मे कुल व्यापार शर्तों की श्रेष्ठता का कारण यह है कि इसमे इकतरफा भुगतानों को भी सम्मिलित किया जाता है । परिणामत शुद्ध व्यापार शर्तें, किसी देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ का सही अनुमान प्रदान करने मे असमर्थ रहती हैं । प्रो० टॉजिग के शब्दों मे—"जब किसी देश को निर्यात-आधिक्य है (क्योंकि वह दूसरे देश को ऋण दे रहा है या अपने पुराने ऋणों को चुका रहा है या ब्याज सम्बन्धी व्ययों का भुगतान कर रहा है), तो 'शुद्ध व्यापार शर्तों' मे उसके केवल ऐसे निर्यात ही सम्मिलित होते है जोकि उसके चालू आयातों का भुगतान करें, और इसलिये उसकी स्थिति की आवश्यकता से कहीं अधिक अनुकूल प्रगट करती है । विपरीत क्रम से, जब किसी देश को आयात-आधिक्य है, तो शुद्ध व्यापार शर्तें उसकी स्थिति को उचित से कहीं अधिक प्रतिकूल दिखाती है ।"[1]

एक सांख्यिकीय धारणा के रूप में 'कुल व्यापार शर्तों' की सीमायें—

हैबरलर ने बताया है कि कुल व्यापार शर्तों की व्याख्या करने मे बड़ी ही सावधानी से काम लेना चाहिये । इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातें स्मरणीय बताई गई हैं —

(१) **विभिन्न कारणों को एक ही श्रेणी मे सम्मिलित करना अनुचित है—** यद्यपि वास्तविक आयात और निर्यात मूल्यों का चिट्ठा बनाना बहुत रोचक और उपयोगी है तथापि आयातों या निर्यातों के आधिक्य का कारण जानना भी बहुत

---

[1] "*When a country has an export surplus (for she may be granting* a loan or repaying her old loans or making payments on account of interest charges to another country), the 'net terms of trade' cover only her those exports which pay for her current imports and hence give too favourable a picture of her position. Conversely, when a country has an import surplus, the 'net terms of trade' give the unfavourable a picture."
—**Taussig.**

जरूरी है। जैसे—यह बात जानना महत्त्वपूर्ण है कि निर्यात आधिक्य क्षति पूर्ति के कारण उत्पन्न हुआ है (जैसा कि जर्मनी की दशा में १६३० से १६३१ तक था) अथवा विदेशों को ऋण देने से हुआ (जैसा कि अमेरिका के साथ युद्धोत्तर अवधि में था) अथवा विदेशी ऋणों पर ब्याज देने और ऋणों की अदायगी के कारण हुआ (जैसा कि १६३२ में जर्मनी के साथ था)। अन्य शब्दों में विभिन्न प्रकार के भुगतानों को एक ही श्रेणी में सम्मिलित करना ठीक नहीं है।

(२) विचाराधीन अवधि इतनी बड़ी होनी चाहिये कि उसमें विदेशी ऋणों से सम्बन्धित सभी भुगतान एवं वापसियाँ सम्मिलित हो जायें। कभी-कभी एक दीर्घकाल ऋणों को साख की स्वीकृति से उदय होने वाले निर्यात आधिक्य और ब्याज अथवा भेंट (Tribute) के देने से उदय होने वाले निर्यात आधिक्य के मध्य तुलना की जाती है और ऐसी तुलना के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि पहला निर्यात आधिक्य उतना ही प्रतिकूल लक्षण है जितना कि बाद का निर्यात आधिक्य, किन्तु ऐसा निष्कर्ष गलत है। इस त्रुटि से बचने का उपाय यह है कि अवधि इतनी लम्बी रखी जाय कि उसमें ऋण की स्वीकृति और इसकी वापसी दोनों ही आ जाय।[1] किन्तु जैसा कि हेबरलर ने बताया है, यदि पूँजी का निर्यात ऐसी अवधि के सर्वांश में जारी रहे तो यह उपाय (दीर्घ अवधि लेने का) भी असफल हो जायेगा।

(३) इकतरफा ब्याज सम्बन्धी भुगतान सन्तुलित करने चाहिये। यदि हम किसी प्रकार से इतनी लम्बी अवधि चुनने में सफल भी हो जायें, जिसमें कि उस अवधि के भीतर दिये गये समस्त विदेशी ऋणों के भुगतान एवं पुनर्भुगतान सम्मिलित रहें और कोई अन्य पूँजी प्रवाह (Capital flow) न भी हो तो भी व्यापार शर्तें सही चित्र प्रस्तुत करने में असफल रहती है, क्योंकि लेनदार देश को पूरी अवधि पर्यन्त आयात-आधिक्य रहता है जिससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि लेनदार देश ने इकतरफा लाभ उठाया है। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जो पूँजी उसने उधार दी थी वह स्वदेश में उचित रूप से प्रयोग में नहीं आ रही थी। यही कारण है कि प्रो॰ वाइनर (Viner) ने कहा है कि— उन मूल्यों का अनुमान लगाते समय जो कि एक देश देता है और प्राप्त करता है, उस पूँजी की सेवाओं के लिये, जोकि वह निर्यात करता है, प्राप्त होने वाले ब्याज के भुगतान को सन्तुलित करने हेतु विपरीत पक्ष में कुछ न कुछ सम्मिलित किया जाना चाहिए।[2]

---

1 "It is true that one could try to correct this by taking a period of time long enough to include the repayment of such credits, as well as the granting of them"—**Haberler** *Theory of International Trade*, p 164

2 (Footnote see on next page)

वाइनर ने यह भी बताया कि 'सेवाओं' (जैसे—जहाजी सेवाओं) और 'पूँजी की सेवाओं' मे अधिक तीव्र भेद करना खतरनाक है, क्योंकि पहली मद मे पूँजी पर कुछ ब्याज सदा ही सम्मिलित होता है। उदाहरणार्थ, एक अमेरिकन तेल कम्पनी एक तेलवाहक जहाजो के ब्रिटिश बेडे का, जिसके निर्माण मे १०,००,००० पौंड व्यय हुए है प्रयोग करती है और इस जहाजी सेवा के लिये वह २,००,००० पौंड वार्षिक देती है, जिसमे से ५०,००० पौंड जहाजो मे विनियोजित ब्रिटिश पूँजी पर ब्याज है, ५०,००० पौंड जहाजो के ह्रास की पूर्ति के लिये भुगतान है (जो कि जहाजो के वार्षिक निर्यात के बराबर है) और १,००,००० पौंड विशुद्ध जहाजी सेवाओ के लिये है। मान लीजिये कि एक अन्य मामले मे, तेलवाहको का एक ब्रिटिश जहाजी बेडा अमेरिकी कम्पनी को १०,००,००० पौंड म बेचा जाता है, जिसका भुगतान २० वर्षों मे ५% ब्याज दर सहित होता है। मान लीजिये कि इस बेडे के सचालन का भार एक ब्रिटिश जहाजी कम्पनी को सौपा जाता है, जो अपनी सेवाओ के लिये १,००,००० पौंड लेती है। पहले की भाँति अब भी इङ्गलैंड के निर्यातों मे २,००,००० पौंड वार्षिक है, जिसमे ५०,००० पौंड तो जहाजो के निर्यात, ५०,००० पौंड ब्रिटिश पूँजी के प्रयोग के लिये ब्याज और १,००,००० पौंड जहाजी सेवाओ के भुगतान के लिये है। यद्यपि इन दोनो दशाओ मे कोई मौलिक भेद नही है, तथापि टॉजिग पहली दशा मे, जहाजी सेवा के निर्यात शीर्षक के अन्तर्गत १०-५० हजार पौंड की दोनो मदे सम्मिलित करेंगे, किन्तु दूसरी दशा मे, उनके अनुसार, पहली मद जहाजो के निर्यात के रूप मे दिखाई जायेगी और दूसरी मद बिल्कुल ही नही दिखाई जायेगी।[1]

(४) **कुल व्यापार शर्तों से केवल प्रतिकूल या अनुकूल परिवर्तनो की जानकारी मिलती है**—हैबरलर ने बताया है कि इस प्रकार के चिह्नों को (अर्थात् कुल व्यापार शर्तों को), जो किसी देश के आयातो और निर्यातो के वास्तविक मूल्यों (Real values) की तुलना से बनाया जाता है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उस देश को उदय होने वाले निरपेक्ष लाभ (या हानि) के मापक के रूप म प्रयोग नही किया जा सकता। वास्तव मे लाभ की गणना करने मे व्यापार-शर्तो की जो भूमिका (Part) थी, वह मूलत भिन्न थी। इस धारणा का प्रयोग यह दिखाने हेतु किया गया था कि कुल लाभ (अर्थात उत्पादन मे वृद्धि) दो देशो के मध्य कैसे वितरित होता है। लाभ का अधिकाश भाग उस देश या इस देश को व्यापार-शर्तें इनकी दो सम्भव

"In evaluating the values which a particular country parts with and receives, something must be included for the services of the capital it exports as contra to the interest payment she receives."—Viner

[1] *Quoted* from Haberler's theory of International Trade, p. 165.

सीमाग्रो मे एक या दूसरी के निकट होने के अनुसार मिलेगा । कुल व्यापार शर्तों से यह पता लगाना कि एक देश अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन से कितना निरपेक्ष लाभ प्राप्त करेगा असम्भव है । हम उनसे माग सम्बन्धी परिवर्तनो के कारण उत्पन्न हुये अनुकूल या प्रतिकूल परिवर्तनों का ही पता लगा सकते है । शायद एक पक्षीय भुगतानो से उदय होने वाले द्वितीयात्मक भार का भी पता लगा सकें। किन्तु इस सम्बन्ध मे कठिनाई यह है कि साख्यिकी आँकडो की विभिन्न व्याख्याये की जा सकती है । कारण, तकनीकी प्रगति आदि से आँकडों मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते है ।

(५) किसी देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जो लाभ (या हानि) होता है उसके मापक के रूप मे कुल व्यापार शर्तों का प्रयोग करते समय हमे सावधान रहना चाहिये । उदाहरणार्थ, क्षति पूर्ति सम्बन्धी भुगतानो (Reparation payments) को हानि नही समझना चाहिए, क्योकि इन्हे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का 'फल' नही कहा जा सकता ।

(६) जैसा कि प्रो० टाजिग ने स्वय भी स्वीकार किया है, जब व्यापार शर्तें विदेशी वस्तुओ के लिये किसी देश की मांग मे वृद्धि होने के कारण उसके विरुद्ध हो जाती हैं, तो हमे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उस देश को हानि है । कारण, अधिक मांग करना एक स्वैच्छिक कार्य (Voluntary act) है । यदि कोई व्यक्ति जो वस्तुए पहले खरीदता आया था उनसे भिन्न और अधिक कीमतो पर खरीदता है, तो स्पष्टत यह ऐसा इस कारण करता है कि उसे अपनी आदते बदलने मे लाभ प्रतीत होता है ।

(७) साख्यिकीय आकडे आय के वितरण मे होने वाले परिवर्तनो की पूर्ण उपेक्षा कर देते है । जैसा कि प्रो० हैबरलर ने बताया है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थिति से उदय होने वाले लाभ के बारे मे किये गये उपरोक्त विवेचन यह भुला देते है कि वृद्धि या सकुचन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने, विघ्न पडने, रुकने या तीव्र होने के कारण वितरण और लाभ या हानि म भी परिवर्तन हो सकते हैं । चूंकि ये विवेचन ऐसे महत्त्वपूर्ण घटकों को भुला देते हैं, इसलिये वे यथार्थता से दूर होते है ।

परीक्षा प्रश्न :

१ 'व्यापार शर्तों' से आप क्या समझते हैं ? किसी देश की व्यापार-शर्तों को प्रभावित करने वाले घटकों की पूर्ण रूप से व्याख्या कीजिये ।

[What do you understand by 'Terms of Trade' ? Discuss fully the factors governing the terms of trade of any country.]

२ टॉजिग ने शुद्ध और कुल व्यापार शर्तों की जो धारणा प्रस्तुत की है उसका विवेचन कीजिये और कुल व्यापार शर्तों के महत्त्व को समझाइये।
[Discuss Taussig's concept of Net and Gross Terms of Trade and estimate the significance of the latter]

३ व्यापार शर्तों से सम्बन्धित विभिन्न धारणाओं को स्पष्ट रूप से समझाइये। व्यापार शर्तों पर तुल्यताओं के प्रभावों का विवेचन भी कीजिये।
[Explain clearly the different concepts of Terms of Trade Also analyse the effects of the parties on terms of trade]

४ वस्तुगत और आयगत व्यापार शर्तों से आप क्या समझते है ? इन धारणाओं के व्यावहारिक महत्त्व पर प्रकाश डालिये।
[Explain fully what do you understand by 'Commodity Terms of Trade' and 'Income Terms of Trade' What is the practical significance of these concepts ?]

५ व्यापार-शर्तों की विभिन्न धारणाओं की परिभाषा कीजिये। किस सीमा तक यह व्यापार से होने वाले लाभ का माप है ?

(इलाह०, एम० कॉम०, १९६९)

[Define various concepts of terms of trade used in the international trade theory How far are they indicative of gains from trade ?]

उत्पत्ति के विशिष्ट साधन एवम् अंतर्राष्ट्रीय व्यापार

(Specific Factors of Production and International Trade)

परिचय—

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त यह मानकर चला था कि देश के भीतर उत्पत्ति के सभी साधन पूर्णत गतिशील है और ऐसी दशा मे, कहा गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप जो समायोजन (Adjustment) आवश्यक हो उन्हे देश कुछ हानि उठाये बिना ही सम्पन्न कर सकता है। अत अब हमे यह देखना है कि यदि गतिरहित एव विशिष्ट साधनो की उपस्थिति को विचार मे लिया जाय, तो इससे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के निष्कर्ष पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

गति-रहित एव विशिष्ट साधनों की उपस्थिति

एक पूर्व विश्लेषण मे हम यह देख चुके है कि वस्तुओ के विनिमय अनुपात, स्थिर लागतो (Constant costs) के अन्तर्गत, प्रतिस्थापन अनुपात (Substitution ratio) के बराबर होते हैं तथा माँग केवल उत्पत्ति की विभिन्न शाखाओं के मध्य उपलब्ध साधनो के वितरण को, और इसके द्वारा, वस्तुओ की उत्पन्न की जाने वाली सापेक्षिक मात्राओ को ही प्रभावित करती है। किन्तु बढती हुई लागतो के आधीन (स्मरण रहे कि घटी हुई लागते अपवादभूत हैं) माँग विनिमय-अनुपात को भी प्रभावित करेगी, क्योंकि सापेक्षिक लागते (=प्रतिस्थापन अनुपात) वस्तुओ के लिये सापेक्षिक माँग (Relative demand) के साथ ही साथ परिवर्तित होती हैं। वस्तुओ के एक दिये हुये सयोग की दशा मे, जिनके लिये माँग की जाती है, इनके मध्य विनिमय-अनुपात उस सयोग वाले बिन्दु पर इनके प्रतिस्थापन अनुपात के बराबर होगा। अर्थात् जिस अनुपात पर वस्तुए बाजार मे परस्पर विनिमय की जायेगी वह इनकी सीमान्त लागतो (Marginal costs) के बराबर होगा। यदि अनुपात इससे भिन्न है, तो यह एक असाम्यावस्था (Desequilibrium) होगी, जिसमे एक वस्तु को अधिक और दूसरी वस्तु को कम मात्रा मे उत्पन्न करने के लिये प्रेरणा उत्पन्न होकर समायोजन की प्रक्रिया आरम्भ हो जायेगी।

चाहे एक समांग साधन श्रम (Homogeneous factor labour) हो या विभिन्न साधन, दोनो ही दशाओ मे वस्तुओ की सापेक्षिक कीमतें (जबकि माँग

सम्बन्धी दशाएं दी हुई है) सीमान्त लागतों द्वारा (अथवा प्रतिस्थापन अनुपात द्वारा) निर्धारित होती है। 'सीमान्त लागत' किसी वस्तु की वह मात्रा है, जिसे एक अन्य दी हुई वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई उत्पादन करने हेतु त्यागना पड़ता है। विभिन्न साधन जिस अनुपात में मिलाये जायेंगे वह उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं की सापेक्षिक मात्राओं के साथ बदलते रहेंगे। यदि B वस्तु की अधिक और A वस्तु की कम मात्रा उत्पन्न की जानी है तो उन उत्पत्ति साधनों का, जिन्हें केवल B के ही उत्पादन में प्रयोग किया जा सकता है अथवा जो B के उत्पादन के लिये A के उत्पादन की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है अधिक प्रयोग किया जायेगा। यदि कोई साधन एक वस्तु के उत्पादन के लिए पूर्णरूप से विशिष्ट है, तो इसका तब तक कुछ भी मूल्य न होगा जब तक कि उस वस्तु की उत्पादित-मात्रा इसकी समस्त उपलब्ध इकाइयों को काम देने हेतु पर्याप्त न हो।

उपलब्ध साधनों का, जिन्हें एक या अन्य वस्तु के उत्पादन में प्रयोग किया जा सकता है, अनुपात जितना बड़ा होगा, प्रतिस्थापन वक्र उतना ही चपटा (Flat) होगा तथा इनके उत्पादक-प्रयोग में किसी परिवर्तन से सम्बद्ध वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन भी उतना ही अल्प होगा। यदि अधिकांश साधन किसी एक वस्तु के लिये विशिष्ट हैं, तो वक्र में फुलाहट (Bulge) अधिक होगी तथा यदि माँग में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पादन में कोई घटा बढ़ी होती है तो सापेक्षिक कीमतों में बड़ा परिवर्तन हो जायेगा। कृषि और औद्योगिक वस्तुओं के मध्य 'श्रम' एक सामान्य साधन है, जिसकी गतिशीलता अल्पकाल में बहुत ही थोड़ी होती है। अतः प्रतिस्थापन वक्र में एक तीव्र मोड़ (Kink) होना है, जो यह सूचित करता है कि यदि औद्योगिक वस्तु का उत्पादन बहुत घटा दिया जाय, तो भी कृषि वस्तु का उत्पादन अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता है। कारण, उपलब्ध साधनों का एक मामूली भाग ही उत्पत्ति की एक शाखा से दूसरी शाखा को ट्रांसफर किया जा सकता है। यदि यह ट्रांसफर बिलकुल भी सम्भव नहीं है, तो प्रतिस्थापन वक्र L—shaped होगा। यही कारण है कि जब माँग में परिवर्तन होता है, तो सापेक्षिक कीमतों में अन्य दशाओं की अपेक्षा अधिक परिवर्तन हो जाते हैं। अन्य शब्दों में, उत्पत्ति-प्रणाली अपने आपको नई माँग परिस्थिति के अनुसार समायोजित नहीं करने पाती है।

हैबरलर ने यह बताया है कि प्रतिस्थापन वक्र का आकार पुरानी स्थिति और नई स्थिति के मध्य व्यतीत होने वाली समयावधि की लम्बाई के अनुसार परिवर्तित होता है। दीर्घकाल में वक्र अधिक चपटा (Flatter) होता है, क्योंकि इस अवधि में साज-सामान घिस जाते हैं अथवा अप्रचलित हो जाते हैं तथा श्रम को नये कार्य के लिये दीक्षित किया जा सकता है, किन्तु अल्पकाल में अधिकांश साधन (जैसे कि साज-सामान, प्लान्ट यहाँ तक कि श्रम भी) विशिष्ट होते हैं। फिर भी यह मानना होगा कि अल्पकाल में भी उत्पत्ति-साधन कुछ सीमा तक गतिशील और अविशिष्ट ही होते हैं। जैसे, प्लान्ट में लगी हुई पूँजी इसके घिसने पर, यदि पहले से ही ह्रास फण्ड

खोला गया था, 'मुक्त' (Free) हो जाती है और यह आवश्यक नहीं है कि इसे पहले वाले प्रयोग मे ही लगाया जाय, उसे अन्य प्रयोगों मे भी सँभाल कर सकते हैं। अत दीर्घकाल मे अल्पकाल की अपेक्षा वक्र अधिक चपटा होता है।

इसका अर्थ है कि यदि माँग मे परिवर्तन होता है, तो प्रारम्भ मे सापेक्षिक कीमतो मे विशेष परिवर्तन होना स्वाभाविक है। कारण, जिस उद्योग मे माँग बढ़ी है उसका उत्पादन एक दम ही नहीं बढ़ेगा, वरन् उद्योग को अनुकूलतम क्षमता प्राप्त करने मे समय लग जायेगा, क्योंकि अतिरिक्त श्रमिकों को नवीन कार्य के लिये प्रशिक्षित होने मे समय लगता है। दूसरी ओर, जिस उद्योग मे माँग कम हुई है वहाँ उत्पादन एक दम ही कम नहीं हो जायेगा, क्योंकि उत्पत्ति के अनेक साधन या तो पूर्णत विशिष्ट होते हैं या गम्भीर हानि सहकर ही अन्य प्रयोगों मे जा सकते हैं। अत जब तक प्राथमिक लागतें (Prime costs) वसूल होती रहें, उत्पादन मे उनका प्रयोग जारी रहेगा। हाँ, उनके मूल्य को अपलिखित (Write off) कर दिया जावेगा। चूँकि माँग की अपेक्षा उत्पत्ति अधिक रहेगी (क्योंकि माग घट गई है), इसलिए उत्पाद के मूल्य मे भारी गिरावट आ जायेगी। कुछ समय व्यतीत होने पर ही सकुचित होने वाले उद्योगों मे उत्पादन कम हो सकेगा, क्योंकि तब तक मशीनें घिस चुकी होंगी और उन्हें प्रतिस्थापित नहीं किया जावेगा। इस प्रकार, सापेक्षिक वस्तुओं की कीमतों मे अन्तर बाद को उतना नहीं रहेगा जितना कि प्रारम्भ मे था।

एक मौद्रिक अर्थ व्यवस्था मे प्रतिस्थापन-अनुपात प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष होते हैं, क्योंकि मुद्रा मध्यस्थ का काम करती है। अत 'लागतें' वास्तव मे 'मौद्रिक लागतें' ही होती है। प्रत्येक उत्पाद की कीमत उसकी सीमान्त मौद्रिक लागत के बराबर होती है, और सीमान्त मौद्रिक लागत किसी वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई उत्पन्न करने मे प्रयोग किये जाने वाली सभी अतिरिक्त साधनों की कीमतो का योग होती है। गतिशील एव स्थानापन्न साधनों की एक इकाई की कीमत सभी प्रयोगों मे समान होती है तथा गतिरहित और विशिष्ट साधनों की एक इकाई की कीमत इसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है।

उपरोक्त परिस्थितियाँ प्रतियोगिता द्वारा सम्भव बनाई जाती है। श्रमिकों और भूस्वामियों तथा सामान्यत उत्पत्ति के सभी साधन अपनी अपनी सेवाओं के लिये अधिकतम पुरस्कार पाना चाहते हैं। साहसी, जो इनकी सेवाओं को किराये पर लेते हैं, इन्हे इस प्रकार से सङ्गठित करते और प्रयोग मे लाते है कि उनकी अपनी आमदनी अधिकतम हो जाय। इस प्रतियोगिता के कारण यदि किसी कारखाने मे एक साधन की सीमान्त उत्पादकता उसकी सामान्य सीमान्त उत्पादकता (=साधन-कीमत) से कम है, तो साहसी उस साधन की कुछ इकाइयाँ को हटाकर प्राप्तियों की अपेक्षा अपनी लागतें अधिक घटा सकेगा। ये इकाइयाँ अन्य संस्थानों या प्रयोगों मे, जिनमे उनकी सीमान्त उत्पादकता अधिक है, चली जायेंगी। यदि किसी उद्योग मे

साधन विशेष की सीमान्त उत्पादकता उसकी सामान्य सीमान्त उत्पादकता (=कीमत) से अधिक है, तो सम्बद्ध साहसी उस साधन की अधिक इकाइयाँ किराये पर लेगा, क्योंकि ऐसा करके वह व्ययों की अपेक्षा अपनी प्राप्तियाँ अधिक बढ़ा लेगा। इस प्रकार, प्रतियोगिता के प्रभावस्वरूप, सीमान्त-उत्पादकता और कीमत उत्पत्ति की प्रत्येक शाखा में समान हो जाती है।

"राष्ट्रीय आय के आकार में नहीं, किन्तु इसके वितरण में परिवर्तन होते हैं"

प्रायः तर्क किया जाता है कि जब गतिरहित और विशिष्ट साधन विद्यमान होते हैं तब प्रत्येक समायोजन, भले ही यह तुलनात्मक लाभ सिद्धान्त द्वारा संकेत की गई दिशा में हो, भारी हानि उठा कर ही सम्पन्न किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, जब किसी आयात-कर को हटाया जाता है, तो उत्पत्ति में हेर फेर करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा करने में उत्पत्ति के उन साधनों (जैसे-भूमि, भवन, मशीनरी, मध्य उत्पाद आदि) का, जो कि संरक्षण से वंचित किये गये उद्योग में काम आते रहे हैं और जिन्हें अन्य प्रयोगों में ट्रासफर नहीं किया जा सकता है, मूल्य कम हो जायेगा तथा इन विशिष्ट साधनों के स्वामियों को अपनी आय में कटौती महनी पड़ेगी।

उपरोक्त तर्क कस्टम यूनियन बनाने अथवा टैरिफ के हटाने या घटाने के प्रत्येक प्रस्ताव के विरुद्ध दिया जाता था। उदाहरणार्थ, कहा जाता था कि आस्ट्रिया व जर्मनी के मध्य कस्टम यूनियन बनने से उत्पत्ति की सभी शाखाओं में भारी समायोजन करने पड़ेंगे, जिनमें पूँजी का इतना भारी विनाश होगा कि यह पूछा जा सकता है कि क्या उत्पत्ति में एक सम्भावित किन्तु दूरस्थ (Probable but remote) वृद्धि बहुत महँगी नहीं खरीदी गई है? वर्तमान पीढ़ी उन लाभों से, जो कि समायोजन सम्पन्न होने पर ही उदय होते हैं कैसे लाभान्वित होगी? जैसा कि कीन्स ने एक बार कहा था, "दीर्घकाल में तो हम सब मर जाते हैं।"

किन्तु इस तर्क में, जो विभिन्न रूपों में सदा प्रस्तुत किया जाता रहा है, एक गम्भीर त्रुटि है—"पूँजी की हानि" का अर्थ "राष्ट्रीय आय में हानि" होना नहीं है। इसमें तो केवल "राष्ट्रीय आय के वितरण" में ही परिवर्तन होना है। समायोजन के संघर्षों के फलस्वरूप जो हानि वास्तव में होती है और जिसे गलती से पूँजी की हानि समझ लिया जाता है वह 'पूँजी की हानि' की अपेक्षा कहीं कम है। इसे प्रमाणित करने के लिए हैबरलर ने एक गणितीय उदाहरण प्रयोग किया है जिसे हम नीचे प्रस्तुत करते हैं।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

मान लीजिए कि देश में लौह-खनिज के भण्डार हैं, जिस पर एक लौह-स्पात उद्योग आधारित है। मान लीजिए कि उद्योग को विदेशों से बढ़ी हुई प्रतियोगिता

का सामना करना पड़ता है जिस कारण लौह एवं स्पात की कीमतें गिरने लगती हैं और अन्त में कुछ या सब कारखाने बन्द होने के लिए विवश हो जाते हैं। विदेशी लौह एवं स्पात की कीमतों में गिरावट किसी भी निम्न कारण से हो सकती है—(i) सम्बद्ध देश ने अपने आयात घटा दिये हों, या (ii) यातायात व्ययों में कमी आ गई हो, या (iii) विदेशी उद्योग को उसकी सरकार ने कोई आर्थिक सहायता दी हो, अथवा (iv) उसने अपनी उत्पादन तकनीक में कोई ऐसे सुधार कर लिए हों जिनका ज्ञान गृह उद्योग को नहीं है, अथवा (v) मौद्रिक-व्यवस्था (Monetary mechanism) की कार्यशीलता के प्रभावस्वरूप भी विदेशी लागतों में सामान्य रूप से कमी (General reduction) आ सकती है (ऐसा तब हो सकता है जबकि विदेशी देश एक-पक्षीय भुगतान कर रहा हो)। विदेशी लागतों में घटौती का कारण कुछ भी रहा हो, हम सुगमता की दृष्टि से यह मान लेते हैं कि कीमतों में जो गिरावट आई है वह स्थाई (Permanent) है। गृह लौह एवं स्पात उद्योग में एक संस्थान की प्राप्तियाँ और व्यय निम्न प्रकार हो सकते हैं —

प्राप्तियाँ (Receipts)

उत्पादों के विक्रय से कुल प्राप्तियाँ (Gross Receipts)		१००
व्यय (Expenditure)—		
(१) **चालू व्यय**—मजदूरियों व वेतनों, सामग्रियों आदि तथा इस चल पूँजी पर ब्याज	५०	
(२) **स्थिर पूँजी सम्बन्धी व्यय**—भवन, मशीनरी आदि में विनियोजित स्थिर पूँजी पर ब्याज और ह्रास	२०	
(३) **विशिष्ट साधन सम्बन्धी व्यय**—संस्था के लौह खनिज के भण्डारों वाली भूमि का लगान	३०	१००

उपरोक्त उदाहरण में चालू व्यय (Current expenses) उत्पत्ति के गतिशील और अविशिष्ट साधनों के लिए भुगतान है, जो किसी भी क्षण अन्यत्र अथवा अन्य प्रयोगों में रोजगार प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी श्रेणी के व्यय स्थिर पूँजी की लागतों (Costs of fixed capital) का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये व्यय उद्योग के लिए "विशिष्ट" हैं। प्राय अपेक्षतः एक लम्बी अवधि के बाद ही पूँजी, जबकि वह घिस जाय और बेची जाय, "मुक्त" (Free) हो सकती है। इसी मद को मार्शल ने 'आभास-लगान' (Quasi rent) कहा है। तीसरी श्रेणी के व्यय पूर्णतः विशिष्ट साधनों की आय का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हें ही हम शब्द के विशुद्ध सैद्धान्तिक अर्थ में लगान कह सकते हैं।

[किन्तु स्मरण रहे कि व्यय की विशेष मदों का उपरोक्त तीन श्रेणियों में वितरण बदल भी सकता है। उदाहरणार्थ, यदि सम्बद्ध संस्था अपने लिए लौह खनिज किसी अन्य फर्म से खरीदती है, तो इसके मूल्य को पहली श्रेणी में दिखाया जायगा और ऐसी दशा में खनिज भण्डार का लगान तीसरी श्रेणी में सम्मिलित न

होगा। किन्तु यह एक ऐसे ही अन्य परिवर्तन भी, जो समस्या हमारे सामने उपस्थित है उस पर प्रभाव नहीं डालते हैं।]

अब मान लीजिए कि लोह एव स्पात की कीमत गिरती है तथा प्राप्तियों मे ३० की कमी हो जाती है। नि सन्देह यह हमारे साहमी के लिए एक भारी हानि है, किन्तु इसके कारण वह अपने उत्पादन मे तनिक भी कमी नहीं करेगा। हाँ उसे अपने विशिष्ट साधनों के मूल्य को विवशतः अपलिखित (Write off) कर देना पड़ेगा, तथा समस्त लगान समाप्त हो जायेगी। किन्तु जब तक चल और अचल पूँजी पर ब्याज अर्जित होता रहे तब तक वह उत्पादन को जारी रखेगा। स्पष्टतः लोह एव स्पात उत्पादकों ने यहाँ जो हानि उठाई है उसकी क्षतिपूर्ति उपभोक्ताओं को मूल्य मे कमी के फलस्वरूप हुए इतने ही लाभ द्वारा हो जाती है। यहाँ राष्ट्रीय आय मे कमी नहीं हुई है, क्योंकि उत्पत्ति की मात्रा यथावत् रहती है।[1]

मान लीजिए कि कुछ समय बाद लोहे व स्पात की कीमत अधिक गिर जाती है, जिससे प्राप्तियों में १० या १५ की अतिरिक्त घटोती होती है। इसमे उत्पादक की हानि बढ जाती है, किन्तु जब तक चल पूँजी, जिसकी आवश्यकता प्रथम श्रेणी के चालू व्ययों के भुगतान के लिए पडती है पुनरुत्पादित (Reproduce) होती रहे तब तक उत्पादन भी जारी रहेगा। इस बार विशिष्ट साधनों (स्थिर पूँजी) के मूल्य की टूट-फूट (Scrap value) तक अपलिखित कर दिया जायेगा। यदि ऐसे साधन पूर्णत विशिष्ट नहीं है किन्तु अन्यत्र प्रयोग किये जा सकते है, तो उनके मूल्य का उस प्रयोग मूल्य तक अपलिखित किया जायगा। यह एक 'पूँजी हानि' (Capital loss) है, और इसे भी सहन कर लिया जायेगा। कारण, उपक्रमी यह तो पसन्द करेगा कि इस हानि को हिसाब की पुस्तकों मे दिखाये तथा उत्पादन जारी रखे किन्तु वह उपक्रम को छोड़ना और इस प्रकार सब कुछ खो देना पसन्द नहीं करेगा। फलत आभास लगान भी लुप्त हो जाता है। किन्तु प्रथम श्रेणी की लागतों मे कोई कमी नहीं की जा सकती है क्योंकि इनमें अवशिष्ट साधनों के लिए भुगतान

---

1 "If the consumers live outside the territory of the national or other community under consideration, this community may of course suffer a loss But there will be no loss from a cosmopolitan standpoint This does not mean, however, that Free Trade is to be advocated in such a case, only from an altruistic cosmopolitan standpoint For, if the industry of one country is displaced by the industry of another from some third market, the country which is injured is powerless to alter the situation by imposing or increasing import duties"

—Haberler : *The Theory of International Trade*, p 185

सम्मिलित हैं। यदि इन्हें इनकी पूर्ण बाजार कीमत न चुकाई गई, तो ये संस्था को छोड़ कर अन्य प्रयोगों में चले जायेंगे।

अब तक हमने विशेष व्यक्तियों के लिए हानि पर विचार किया है, सम्पूर्ण समाज (Community as a whole) की दृष्टि से नहीं, क्योंकि लोहे व स्पात के उपभोक्ताओं को ठीक उतना ही लाभ होना है जितना कि उत्पादकों को खोना पड़ता है। अब एक कदम आगे बढ़ते हैं—मान लीजिए कि लोहे एवं स्पात की कीमतें और अधिक गिर जाती हैं अथवा स्थिर पूँजी का एक भाग इतना घिस गया है कि यदि संस्था को चालू रखना है तो उसे तुरन्त ही बदल देना चाहिए। अब (अन्त में) संस्था बन्द होने के लिए विवश है, क्योंकि वह अपने अविशिष्ट साधनों को बाजार कीमत का भुगतान नहीं कर सकती है। चूँकि वे अन्य प्रयोगों में इतना पर्याप्त उत्पादन कर सकते हैं कि उन्हें अपनी बाजार कीमतें मिल जायें, इसलिए संस्था के बन्द होने से समाज को कोई हानि नहीं होती है। इसके विपरीत, यदि उक्त साधनों को कृत्रिम उपायों (जैसे सरकारी सहायता या कर) द्वारा सम्बद्ध उद्योग में ही, जहाँ कि उनकी उपयोगिता अब कम है, रोक रखा गया, तो अवश्य समाज को हानि पहुँचेगी।

समान्यतः एक उद्योग के अन्तर्गत अनगिनती संस्थायें होती हैं। इनमें वे सीमान्त संस्थायें भी सम्मिलित हैं जिन्हें (उपर्युक्त उदाहरण वाली संस्था के असमान) लगान भी, जो कि हानि के झटकों को सहने में उनके रक्षक का कार्य करता, प्राप्त नहीं होता है। यही नहीं, इनमें से एक या दूसरी संस्था यदि वह उत्पादन जारी रखना चाहे तो किसी भी क्षण अपनी कुछ स्थायी पूँजी बदलने के लिए विवश हो सकती है। इन दशाओं में उत्पाद के मूल्य में प्रत्येक कमी के साथ उद्योग में, सीमान्त संस्थायें एक एक करके बन्द होती जायगी क्योंकि उत्पादन जारी रखने के लिए प्रेरणा का अभाव है। इसके फलस्वरूप उद्योग में संकुचन अवश्य हो जायेगा। किन्तु सिद्धान्त रूप में इसकी प्रक्रिया पहले के समान ही रहती है।

कीमतें जितना अधिक गिर सकती हैं अथवा यों कहें कि विदेशी देश जितना सस्ता बच सकते हैं, गृह-देश को श्रम के अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन से लाभ भी उतना ही अधिक होगा। किन्तु स्मरण रहे कि कीमत में गिरावट को रोकने हेतु कर का आरोपण (Imposition) उन अपवादभूत दशाओं में, जिनमें कि सीमान्त संस्था को लगान मिलता है तथा इसलिए कुछ समय तक वह अपना उत्पादन कार्य कीमत में कमी होने पर भी जारी रख सकती है, राष्ट्रीय आय में कमी कर ही दे ऐसा आवश्यक नहीं है। कारण, ऐसी दशाओं में कर के आरोपण से साधनों के वितरण में कोई बुराई नहीं आती है, जिससे उत्पादन उतना ही होगा जितना कि कर न लगने पर होता रहा था। अब यदि अप्रत्यक्ष प्रभावों को छोड़ दें, तो करों का प्रभाव केवल इतना ही होगा कि राष्ट्रीय आय के वितरण में परिवर्तन हो जायेगा।

उपर्युक्त समस्त विवेचन इस मान्यता पर आधारित है कि प्रतियोगिता के कारण कीमतों में लोच है तथा यदि आवश्यक हुआ तो विशिष्ट साधनों की कीमतें, संस्था द्वारा इनका प्रयोग बन्द होने के पूर्व भी, शून्य तक गिर सकती हैं। यह बात भौतिक उत्पत्ति साधनों के बारे में शायद अधिक सही है। एक भूखण्ड या भवन का स्वामी इसे खाली या निष्क्रिय पड़ा रहने देने की अपेक्षा यह पसन्द करेगा कि उसे अपने ही काम में लाता रहे अथवा दूसरों को किराये पर उठा कर कुछ लाभ कमा ले। क्या हम नहीं देखते कि कुछ संस्थायें 'बन्द' होने की अपेक्षा 'हानि' पर चलती रहती हैं? विशेषत, जब उपक्रमियों को भविष्य उज्ज्वल प्रतीत हो, तो वह मध्यान्तर में भारी हानि सह कर भी उत्पादन कार्य जारी रखते हैं, भले ही प्राथमिक लागतें (Prime costs) भी वसूल न हो सकें। कारण, चलती हुई संस्था को बन्द करने और कुछ समय के बाद उसे पुन खोलने की अपेक्षा मध्यान्तर में उसे खुले रखना कम महँगा (Less costly) प्रतीत होता है।

किन्तु हमारी मान्यता (कि प्रतियोगिता कीमतों में लोच उत्पन्न करती है) एक सबसे महत्वपूर्ण साधन (श्रम) को लागू नहीं होती है। यहां कीमत-यन्त्र आंशिक रूप से मूर्ख की भांति आचरण करने लगता है, क्योंकि श्रमिक मजदूरियों में मामूली कटौती होने पर ही प्राय अपना श्रम बेचने से रोक लेता है। इससे हड़तालों और बेकारी के प्रसार के रूप में जो 'गतिरोध' होते हैं उनसे वास्तविक हानि उदय होती है। किन्तु स्पष्टत ऐसी हानि, जो एक मध्यान्तर अवधि में होती है, स्थिर पूँजी के मूल्य में हुए ह्रास से भिन्न स्वभाव रखती है, क्योंकि अन्तिम प्रकार की हानि अवश्यम्भावी है चाहे कीमत यन्त्र पूर्ण सहजता से ही क्यों न काम करे। हैबरलर की सम्मति है कि "ये संघर्षात्मक हानियां (Frictional losses), जो कि मजदूरी की दरों की अपूर्ण लचक के कारण उदय होती है, उतनी गम्भीर नहीं है जितनी कि प्रथम दृष्टि में इन्हें समझा जाता है। कारण, सभी साधनों में श्रम, कुछ अपवादभूत दशाओं को छोड़ कर, सबसे कम विशिष्ट है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि, विपरीत सम्मतियां प्रगट करने पर भी, उत्पत्ति के अशोषित साधनों की विद्यमानता टैरिफों के पक्ष में कोई तर्क नहीं है। शुलर (Schuller) ने अपना स्पष्टीकरण एक विवाद-रहित तथ्य से प्रारम्भ किया और कहा कि "किसी भी देश में प्राकृतिक साधन-उर्वरा भूमि, जल-शक्ति, कोयला, लोहा एवं अन्य खनिजों के भण्डार पूर्णत' शोषित नहीं किये जा रहे हैं और वे उत्पादन की किसी भी शाखा के लिये, जिसे इनकी आवश्यकता पड़े, उपलब्ध हो सकते हैं।" किन्तु इस तथ्य से उन्होंने यह निष्कर्ष

[1] "We may perhaps add that these frictional losses due to the imperfect flexibility of wage rates are less serious than one might at first suppose, since of all factors labour, apart from a few exceptional cases, is the least specific."—*Ibid*, p. 187.

निकाला कि ऐसे निष्क्रिय साधनों को टेरिफ की प्रेरणा के द्वारा उपयोग में लाया जा सकता है और इससे, कुछ दशाओं में, अर्थव्यवस्था के कुल उत्पादन में वृद्धि हो जाती है। किन्तु हैबरलर के अनुसार यह तर्क, जहां तक वह उत्पत्ति के भौतिक साधनों से सम्बन्धित है, एक असत्यता (Fallacy) पर आधारित है। यह कोई आश्चर्यप्रद या असाधारण बात नहीं है कि उत्पत्ति के समस्त साधन प्रयोग में नहीं आते है। जैसा कि रोपके (Ropke) ने कहा है, आर्थिक शक्तियां 'अधिकतम' (Maximum) को नहीं बरन् 'अनुकूलतम उपयोजन' (Optimum utilisation) को सम्भव बनाती हैं। हम शायद ही कोई ऐसी दशा सोच सकें जिसमें भूमि का प्रत्येक टुकड़ा, समस्त प्लान्ट और साज-सामान जो चाहे कितना ही पुराना हो, प्रयोग में आने लगे और कोयले का प्रत्येक भण्डार चाहे वह कितना ही खराब हो, खनन क्रिया के अन्तर्गत आ जाय। निःसन्देह कहा जा सकता है कि लगभग ऐसी ही स्थिति चीन या भारत में पाई जाती है। यदि ऐसा है, तो साधनों की निष्क्रियता महान् गरीबी की निशानी है, सम्पत्ति की प्रचुरता की नहीं जैसा कि शुलर का सिद्धान्त दर्शाता है।

[सम्भवतः शुलर के मस्तिष्क में जल-शक्ति सम्बन्धी प्रसाधन थे, जो प्रायः पूँजी के अभाव के कारण पूर्ण शोषित नहीं हो पाते है। यदि ऐसा है तो निष्क्रिय प्रसाधन गरीबी की निशानी हो सकते है। किन्तु इससे भी यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि टेरिफ शुद्ध पूँजी के आयात में सहायक हो सकेंगे।]

इस बात से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता कि उत्पत्ति के अशोषित साधन प्राकृतिक है (जैसे—भूमि और खनिज भण्डार) अथवा मनुष्य निर्मित (जैसे—कारखाने व मशीनें) यद्यपि एक साधारण व्यक्ति को मनुष्य निर्मित उत्पत्ति साधनों के अशोषित रहने की ही चिन्ता अधिक होती है। वास्तव में, उत्पत्ति के अशोषित साधन (बशर्ते इनके उत्पादों का मूल्य अन्य साधनों की, जिनका सहयोग उत्पादन कार्य में आवश्यक है, लागतों के लिए पूरा न हो, क्योंकि अन्य साधन अन्यत्र अधिक उत्पादन कर सकते है) न तो पूँजी के विनाश का और न ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की हानि का प्रतिनिधित्व करते है। वे तो आर्थिक उन्नति की अन्तिम मंजिल तक पहुँचाने वाली सड़क के मील के पत्थर सदृश्य है, जिस पर अर्थव्यवस्था तकनीकी प्रगति के अथवा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के प्रभाव के अन्तर्गत चलती चली जा रही है।[1] [स्मरण रहे कि प्रयोग में न आई हुई श्रम शक्ति—बेकारी—एक अलग श्रेणी में गिनी जाती है।]

---

1 "In reality, the non-utilised means of production (provided the value of their products would not cover the costs of the other factors which must be combined with them, since the latter can produce more elsewhere) represent neither a des-

(Contd on next page)

उपसंहार—

नि सन्देह ये हानियां जो इतनी स्पष्ट और प्रभावोत्पादक है, निष्क्रिय साधनों के स्वामियों की दृष्टि से वास्तविक हानियां हो सकती है किन्तु अन्य व्यक्तियों को होने वाले अधिक लाभों से इनकी क्षति पूर्ति हो जाती है। सम्पूर्ण समाज को कुल पर लाभ होता है हानि नहीं। उदाहरणार्थ जब कोई कारखाना उपर्युक्त कारणों से बन्द किया जाता है और इसमें लगी हुई पूँजी का परिशोधन नहीं होने पाता तो यह सत्य रूप से कहा जा सकता है कि मूल विनियोग (चाहे तो त्रुटिपूर्ण गणना के कारण या बाद में हुए अकल्पित परिवर्तनों के कारण) ठीक प्रकार से नहीं किया गया था। किन्तु आर्थिक क्षेत्र में "जो हो गया सो हो गया" वाली बात चरितार्थ होती है। जिन परिस्थितियों की हमने कल्पना की है उनमें समाज के प्रसाधनों का भविष्य में सर्वोत्तम उपयोग तब ही हो सकता है जब कि कारखाना बन्द हो जाय।[1]

परीक्षा प्रश्न :

१ "यह सदा कहा जाता है कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त देश के भीतर सभी साधनों को पूर्णतः गतिशील मानकर चलता है और इस शर्त के पूरा होने पर ही देश के लिये यह सम्भव है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा आवश्यक किये गये समायोजनों को हानि उठाये बिना ही सम्पन्न कर सके।" विवेचन कीजिये।

["It is constantly urged that the Theory of International Trade, as we have presented it assumes the complete mobility of all factors, or means of production, within a country, and that a country can carry out the adaptations required by international trade without loss only if this conditions is fulfilled " Discuss]

२ विशिष्ट साधनों की उपस्थिति को विचार में लेते हुये तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का पुन कथन कीजिये।

[Restate the Theory of Comparative Costs with special reference to specific factors]

---

truction of capital nor a loss to the economy as a whole. They are milestones upon the road of economic progress along which the economy is moving under the influence of technical progress or of the international division of labour."

—*Ibid*, 188.

1 Haberler *The Theory of International Trade*, p. 189.

१३

परिवर्तनशील लागतें एवम् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(Variable Costs and International Trade)

परिचय—

हमने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का विवेचन सर्वप्रथम इस मान्यता के साथ प्रारम्भ किया था कि उत्पत्ति की विभिन्न शाखाओं में स्थिर लागतें (Constant costs) क्रियाशील है। तत्पश्चात् हमने यह दिखाया कि यदि इस मान्यता को छोड़ दें और यह मान लें कि उत्पत्ति की प्रत्येक शाखा में बढ़ती हुई लागतें (Increasing costs) क्रियाशील होती हैं, तो भी तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के इस निष्कर्ष को कोई आंच नहीं आयेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन (और व्यापार) सम्बद्ध पक्षों के लिए लाभदायक है अर्थात् वह इनके कुल उत्पादन को बढ़ाता है। हां इतना अवश्य है कि बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत श्रम विभाजन का क्षेत्र स्थिर लागतों की अपेक्षा कुछ संकुचित हो जाता है। कारण, जैसे जैसे श्रम विभाजन बढ़ाया जाता है देश की (सीमान्त पर) तुलनात्मक हानि घटने लगती है और अन्त में लुप्त हो जाती है। तुलनात्मक हानि में कमी होने के फलस्वरूप दोनों देशों के मध्य 'लागत-अन्तर' भी घटने लगता है और अन्ततः बिल्कुल ही समाप्त हो सकता है। स्पष्टतः इस बिन्दु से आगे श्रम-विभाजन (अतएव व्यापार) करना लाभदायक नहीं होगा, किन्तु इस बिन्दु तक तो वह लाभदायक है ही। प्रस्तुत अध्याय में हम यह देखेंगे कि घटती हुई लागत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के निष्कर्षों को कहाँ तक प्रभावित करती हैं।

घटती हुई लागतें
(Decreasing Costs)

बढ़ती हुई लागतों की परिस्थिति का अध्ययन करना जितना सरल है, घटती हुई लागतों का अध्ययन करना उतना ही कठिन। प्रो० शुम्पीटर (Schumpeter), नाइट (Knight) आदि विद्वान तो घटती हुई लागतें विद्यमान होने की सम्भावना से ही इन्कार करते हैं। किन्तु प्रो० हैबरलर का मत है कि 'ये लागतें अपवादभूत दशाओं (Exceptional cases) में विद्यमान हो सकती हैं और ये दशायें महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु तकनीक और सङ्गठन में प्रगति के फलस्वरूप लागतों में कमी होना, जिसकी

सम्भावना को उक्त विद्वान भी स्वीकार करते है, घटती हुई लागतों की वास्तविक दशा नहीं है भले ही ऐसी कमी उत्पादन में वृद्धि के साथ ऐतिहासिक रूप में सम्बद्ध हो। कारण, ऐसी प्रगति तो आर्थिक सामग्री (Economic data) में ही परिवर्तन होने के समान है और इसे प्रदर्शित करने हेतु सम्पूर्ण लागत वक्र को नीचे की ओर खिसकाना (Shift) पड़ता है। उसे ऐसे लागत वक्र द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता जो कि दाहिनी ओर अधोमुखी ढाल रखे। जब लोग घटती हुई लागतों के नियम की चर्चा करते है, तो उनके मस्तिष्क में प्राय लागत सम्बन्धी ऐसी ऐतिहासिक घटौतियां ही होती हैं, किन्तु हमारे सिद्धान्त की वैधता पर ऐसी दशाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।"[1]

घटती हुई लागते, उचित अर्थ मे, उत्पत्ति के विस्तार का परिणाम है। वे कारखाना के आकार मे वृद्धि के फलस्वरूप उदय होती है। घटती हुई लागतो का कारण बुनियादी रूप से यह है कि उत्पत्ति के अनेक साधन पूर्ण रूप से विभाज्य (Divisible) नहीं है, जिससे एक विशेष तकनीकी अनुकूलतम आकार वाले प्लान्ट के उपयोग के लिए एक निश्चित मात्रा मे उत्पत्ति करना आवश्यक है तथा उसके पूर्णरूप प्रयोग कर सकने हेतु तो इससे भी कहीं अधिक मात्रा मे उत्पत्ति की जानी चाहिए। यदि बाजार इतना विशाल है कि वह अनुकूलतम आकार वाले कई कारखानो की कुल उत्पत्ति को ग्रहण कर सकता है, तो घटती हुई लागतो का नियम क्रियाशील नहीं रहता और हम बढ़ती हुई लागतो के क्षेत्र मे पहुँच जाते है।[2]

यदि किसी प्लान्ट का अनुकूलतम आकार, बाजार के विस्तार की तुलना मे, इतना विशाल है कि उसकी माँग को केवल कुछ ही प्लान्टो अथवा केवल एक ही

---

1 "I believe they can exist in exceptional cases and that these exceptional cases are of importance. Let me hasten to add that a reduction in costs due to progress in technique and organisation (the possibility of which is of course not disputed by the writers in question) does not constitute a true case of decreasing costs even if it is associated historically with an increase in production Such progress is a change in the economic data and is to be represented graphically by a downward shifting of the whole cost curve and not by a cost curve which slopes downwards to the right. When people speak of the Law of Decreasing Costs they frequently have in mind mainly these 'historical' reductions in costs ; but our theory is not invalidated by such cases "—**Haberler :** *The Theory of International Trade*, p 144.

2 (Footnote see on next page)

प्लान्ट के उत्पादन द्वारा पूरा करना सम्भव है, तो घटती हुई लागतें एकाधिकारिक परिस्थिति (Monopolistic situation) को जन्म देती है। अब यदि हम किसी उत्पादन शाखा में स्वतन्त्र प्रतियोगिता से मिलती-जुलती कोई चीज देखें, तो यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि वह बढती हुई लागत के अाधीन है।

फ्रैंक डी० ग्राहम का दृष्टिकोण—

प्रो० फ्रैंक डी० ग्राहम (Frank D. Graham) ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना करते हुए घटती हुई लागतों की क्रियाशीलता पर विचार किया है। उन्होने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के विरुद्ध इतनी आपत्ति नही उठाई है जितनी इसके इस निष्कर्ष के विरुद्ध कि तुलनात्मक लागतों के अनुरूप ही यदि देश वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करें और आयात-निर्यात करें, तो उन्हें लाभ होगा। अर्थात् प्रत्येक देश में उत्पादन की मात्रा बढ जायेगी। वे अपना तर्क एक ऐसी स्थिति से आरम्भ करते हैं, जिसमे तुलनात्मक लागत परिस्थिति के कारण देश उन उद्योगों मे, जिनमे कि लागतें बढ रही है, विशिष्टता प्राप्त करने, तथा उन उद्योगों को जिनमे कि लागतें घट रही है, छोडने के लिए विवश हो जाता है। उनका कहना है कि कृषक देशों की स्थिति सामान्यत ऐसी ही है। पिछली शताब्दी के अन्त तक अमेरिका की और उसी शताब्दी के प्रथमार्ध मे यूरोपीय महाद्वीप की (इङ्गलैंड से सम्बन्धो के सदर्भ मे) स्थिति भी वैसी ही थी। दूसरी ओर, औद्योगिक देश ऐसी सुखद स्थिति मे होते है कि वे उत्पत्ति की उन शाखाओं मे, जिनमे कि घटती हुई लागतें प्रचलित है, काम आरम्भ कर सकते है या बढा सकते हैं।[1]

ग्राहम ने अपने मत के समर्थन मे निम्नलिखित उदाहरण दिया है—मान लीजिए कि गेहूँ कृषि उपजों का तथा घडियाँ औद्योगिक उत्पादों की प्रतिनिधि (Representative) हैं। मान लीजिए कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आरम्भ के पूर्व

"Decreasing costs in the proper sense are the consequence of an expansion of production and not merely phenomena which happen to take place at the same time as such an expansion They come about through an increase in the size of the works. They are due, fundamentally, to the fact that many factors of production are not completely divisible, so that a large output is needed for a plant to be of the technical optimum size and yet to utilise fully all its factors When a market is large enough to absorb the total output of a number of works of optimum size, the law of decreasing costs no longer applies and we are again in the region of increasing costs "—*Ibid*, p 144

1 Graham: "*Some Aspects of Protection Further Considered,*" *Quarterly Journal of Economy*, Vol. 37 (Feb 1923), pp 199

इङ्गलैंड मे विनिमय-अनुपात ४० इकाई गेहूँ=४० घड़ियाँ हैं, और, अमेरिका मे ४० इकाई गेहूँ=३७ घड़ियाँ है। स्पष्टत अमेरिका को गेहूँ के और इङ्गलैंड को घड़ियों के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ है। सुविधा हेतु ग्राहम ने यह भी मान लिया है कि अमेरिका मे कृषि क्षेत्र मे बढ़ती हुई लागते तथा निर्माणी क्षेत्र मे घटती हुई लागते क्रियाशील हैं किन्तु इङ्गलैंड मे औद्योगिक उत्पादन, औसत या सीमान्त लागतो मे किसी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के बिना ही, बढ़ाया जा सकता है तथा उसके कृषि उत्पादन के सम्बन्ध मे भी यही बात है अर्थात् इङ्गलैंड मे कृषि एव औद्योगिक क्षेत्रों पर स्थिर लागते कार्यशील है। इन मान्यताओं के अधीन अमेरिकी उद्योगपतियों के लिए यह लाभदायक है कि वे श्रम और पूँजी को उद्योग से कृषि मे आकर्षित करें। ३७ घड़ियाँ उत्पन्न करने मे पहले जितना श्रम और पूँजी लगता था उसकी सहायता से जब तक गेहूँ की ३७ से अधिक इकाइयाँ उत्पन्न की जाती रहेगी तब तक गेहूँ उद्योग घड़ी उद्योग की अपेक्षा अधिक मजदूरी और अधिक ब्याज दे सकता है।

मान लीजिए कि घड़ियो के उत्पादन को ३७,००० इकाइयों से कम किया जाता है और इससे जो साधन मुक्त हुए वे गेहूं की ३७,५०० इकाइयाँ अतिरिक्त (Additional) उत्पादन करते हैं। अतिरिक्त उत्पादन का यह अक ४०,००० से कम लिया गया है, क्योंकि कृषि में बढ़ती हुई लागते क्रियाशील है। मान लीजिए कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात ४० घड़िया=४० इकाई गेहूँ है। अत ३७,५०० इकाई गेहूँ ३७,५०० आंग्ल घड़ियों मे बदला जा सकता है। "किन्तु अमेरिका मे घड़ियों के उत्पादन मे घटौती होने से घड़ियों की लागत इकाई बढ जाती है ...... जिससे अब केवल ३६ घड़िया ही उतनी लागत पर उपलब्ध है जिसके लिए ट्रान्सफर से पूर्व ३७ घड़ियाँ उपलब्ध थी। गेहूँ के उत्पादन मे परिवर्तन तब तक होता रहेगा जब तक कि उतने श्रम और पूँजी से, जोकि ३६ घड़िया उत्पन्न करने हेतु आवश्यक है, ३६ इकाई गेहूँ उत्पन्न करना सम्भव रहे। मान लीजिए कि श्रम और पूँजी के स्थानान्तरण के फलस्वरूप, जिससे कि घड़ियों के कुल उत्पादन मे ३६,००० इकाइयो की कमी हो जाती है, कुल गेहूँ-पूर्ति मे ३६,२०० इकाइयों की वृद्धि होती है। ये ३६,२०० इकाइयाँ गेहूँ ३६,२०० आंग्ल घड़ियों से बदली जायेगी। इस प्रकार कुल व्यापार का फल यह है कि जितने प्रयत्न से पहले (३७,०००+३७,०००=) ७४,००० घड़ियों का उत्पादन होता था, उससे अब (३७,५००+३६,२००=) ७३,७०० घड़ियाँ ही प्राप्त होती है—अर्थात् ३०० घड़ियों की हानि हुई·······।" यह प्रक्रिया आगे चालू रहेगी और हानि उस समय तक बढती जायेगी जब तक कि अमेरिकन घड़ी उद्योग पूर्णत ब्रिटिश घड़ी उद्योग से प्रतिस्थापित (Replace) न हो जाय।

(टेसरलर ने लिखा है कि इङ्गलैंड की लागत-स्थिति के बारे मे हम क्या मान्यता करते है, यह उपेक्षा का विषय नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि हम यह

कल्पना करते कि इङ्गलैंड में कृषि उत्पादन में स्थिर या बढ़ती हुई लागतें क्रियाशील हैं किन्तु निर्माणियों में घटती हुई लागतें (अथवा, उसके घड़ियों के उत्पादन व्यय, उत्पादन में विस्तार होने पर, गेहूँ के उत्पादन-व्यय की अपेक्षा, जबकि गेहूँ के उत्पादन में कमी की जाय, अधिक तेजी से गिरते हैं), तो अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात अमेरिका के अधिक अनुकूल हो जायेगा तथा उसकी 'हानि' लाभ में परिणित हो सकती है।"[1]]

उपरोक्त उदाहरण द्वारा ग्राहम ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किसी भी देश के लिए, जो कि इस उदाहरण में अमेरिका के सदृश्य दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में है, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का परिणाम लागतों में सामान्य वृद्धि होना है। लागतें विकासोन्मुख उद्योग में तो इसलिए बढ़ती हैं कि वह बढ़ती हुई लागतों के क्षेत्र में हैं किन्तु पतनोन्मुख उद्योग में इसलिए कि वह घटती हुई लागतों के प्रभाव में है। [ऐसी परिस्थितियों में यह सम्भव है कि गेहूँ और घड़ियों का आन्तरिक विनिमय अनुपात' स्थिर (Constant) बना रहे। इसका कारण यह है कि दोनों प्रकार के उद्योगों में लागतें समान दिशा में बदलती हैं। अत दोनों उद्योगों में *सीमान्त लागतों में प्रतिशत वृद्धि समान होना सम्भव है। यदि ऐसा हुआ, तो उनके* मध्य पुराना लागत अनुपात ही कायम रहेगा।]

किन्तु ग्राहम का उपरोक्त निष्कर्ष तब ही सत्य या वैध हो सकता है जबकि उनकी मान्यताओं को स्वीकार कर लिया जाय, विशेषत यह स्वीकार कर लिया जाय कि जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ेगा लागतों में कमी आयेगी और जैसे-जैसे उत्पादन घटेगा, लागतों में वृद्धि होगी। किन्तु वास्तविकता यह है कि उनकी मान्यतायें अत्यन्त संदिग्ध (Precarious) है। केवल उपर्युक्त अर्थ में ही घटती हुई लागतों की कल्पना करना पर्याप्त नहीं है वरन् हमें यह भी देखना चाहिए कि किन परिस्थितियों में उनकी दी हुई कल्पनायें सम्भव या असम्भव हैं। इस हेतु हम आधुनिक लागत सिद्धान्त के संदर्भ में ग्राहम के तर्क की परीक्षा करेंगे।

---

1 "At this point, it becomes clear that the assumption we make about cost conditions in England is not a matter of indifference. Were we to assume, for example, constant or increasing costs in her agriculture and decreasing costs in her manufacturing (or that her cost of producing watches falls faster with an expansion in their output than her cost of producing wheat falls with a contraction in its output), the international exchange ratio must become more favourable to the United States, and her loss may be transformed into a gain."—*Ibid*, p 200.

लागतों में 'ऐतिहासिक' ह्रास (Historical Reduction in Costs)—

किसी उद्योग मे घटती हुई लागतो का नियम उस दशा मे क्रियाशील कहा जाता है जबकि इसके उत्पादन मे विस्तार होने के फलस्वरूप सीमान्त लागतो मे अथवा सीमान्त एव औसत दोनो ही प्रकार की लागतो मे कमी हो जाय। जैसा कि पहले भी बता चुके है, कुछ लेखको का मत है कि इस अर्थ मे घटती हुई लागते असभव हैं तथा स्थैतिक सिद्धान्त (Static theory) मे इनके लिये कोई स्थान नही है। कारण, उनका कहना है कि, लागते केवल तब ही कम हो सकती है जबकि कोई नई तकनीकी विधियाँ प्रयोग की जाये और नई तकनीकी विधियो के प्रयोग का अर्थ है आर्थिक सामग्री (Economic data) मे परिवर्तन होना। उत्पत्ति का विशाल पैमाना लागतो मे केवल एक ढग से कमी ला सकता है जो यह कि विभिन्न तकनीकी विधियो के प्रयोग की अनुमति दी जाय। [यह तर्क इतनी ही दृढता से बढती हुई लागतो के नियम के भी विरुद्ध प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, जब एक खेत को अधिकाधिक पूँजी और श्रम का प्रयोग करते हुए गहन विधि से जोता जाता है, और प्रति इकाई श्रम व पूँजी उत्पत्ति घटती जाती है अथवा जब खराब से खराब भूमि भी जोती जाने लगती है तथा लागते बढने लगती है, तो प्राय इन दशाओ मे भी विभिन्न तकनीकी विधियाँ ही प्रयोग की जाती है। ऐसी दशा मे क्या हम यह तर्क करेंगे कि यदि नई विधि प्रयोग न की जाती, तो लागते बढने का नियम क्रियाशील न हो सकता था?]

हैबरलर की सम्मति मे यह तर्क [कि केवल नई तकनीकी विधियाँ प्रयोग करने से ही लागतें कम हो सकती हैं और चूँकि इसस आर्थिक सामग्री मे परिवर्तन हो जाता है, इसलिए इसे घटती हुई लागतो की दशा नही मानना चाहिये] वैध नही है। कारण, स्थैतिक सिद्धान्त (Static theory) म हम यह मानकर नही चलते हैं कि 'प्रयोग की जाने वाली तकनीकी विधियाँ (Technical methods) स्थिर रहती हैं वरन् केवल यह मानते हैं कि तकनीकी ज्ञान (Technical knowledge) और तकनीकी योग्यता (Technical ability) स्थिर रहती है। हमे 'प्रयोग की जाने वाली तकनीकी विधियो मे माग की वृद्धि के फलस्वरूप हुए परिवर्तन' तथा 'तकनीकी ज्ञान की वृद्धि के फलस्वरूप हुए परिवर्तन' मे भेद करना चाहिए। प्रथम दशा मे नवीन प्रयोग वाली तकनीकी विधियाँ पहले से 'ज्ञात' और 'परीक्षा की हुई' थीं, इनके अब तक प्रयोग न आने का कारण यह था कि उत्पादन की मात्रा इतनी थोड़ी थी कि उनका लाभ सहित प्रयोग नही किया जा सकता था। दूसरी दशा मे, नई विधियाँ पहले से 'ज्ञात' नही थी अथवा 'व्यवहार मे अजमाई' नहीं गई थो, ये ज्ञान मे हुई वास्तविक वृद्धि का सूचक है। यह दूसरी दशा नि सन्देह एक ऐतिहासिक एव प्रावैगिक विषय (Historical and dynamic phenomenon) है और इसके फलस्वरूप आर्थिक सामग्री म परिवर्तन होता है, तथा, जैसा कि पहले ही देख चुके है, जब इसके कारण लागतो मे कमी आती है, तो यह सैद्धान्तिक अर्थ मे, घटती हुई

लागतो के नियम का विषय नही है । यद्यपि घटती हुई लागतों के साथ ही साथ, एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे उत्पत्ति का भी विस्तार होता है तथापि इसे उस नियम का उदाहरण नही समझना चाहिए । "इस प्रावैगिक और ऐतिहासिक स्वभाव के लागत-ह्रास को हमारे विश्लेषण मे कोई स्थान नही है, क्योंकि यह आकडो मे परिवर्तन लाता है जिसे आर्थिक सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट नही किया जा सकता । नि सदेह वह कुछ परिस्थितियो मे, तुलनात्मक लागतो मे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे दूरगामी परिवर्तन ला सकता है किन्तु ऐसे लागत-ह्रास स्वय वस्तुओ के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की विद्यमानता या विस्तार पर निर्भर नही होते ।"[1] (उदाहरणार्थ उत्पादन वृद्धि के द्वारा आविष्कारो को प्रोत्साहन मिलता है किन्तु इसका कोई निश्चित समय नही है इसलिए इन्हे एक नियम के रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सकता ।) ग्राहम ने भी अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते समय लागतो मे होने वाले ऐसे ऐतिहासिक ह्रासो को अपने दिमाग मे नही रखा है ।

विशुद्ध सैद्धान्तिक अर्थ में घटती हुई लागतों का नियम—

हमने यह देखा कि विशुद्ध सैद्धान्तिक अर्थ मे घटती हुई लागते उत्पादन के विस्तार का, जो कि माँग मे हुई वृद्धि का परिणाम है, फल होती है । लागतो मे ह्रास दो प्रकार से सम्पन्न होता है—(I) आन्तरिक या मितव्ययितायें (Internal economies), एव (II) बाह्य मितव्ययितायें (External economies) ।

आन्तरिक मितव्ययिताओ का सम्बन्ध एक व्यक्तिगत फर्म या प्लान्ट के आकार मे होने वाली वृद्धि से है किन्तु बाह्य बचते सम्पूर्ण उद्योग (Industry as a whole) से, जिसके आकार मे सम्भवत कुछ नई फर्मों के प्रवेश द्वारा वृद्धि हो सकती है, सम्बन्धित है । प्रत्येक फर्म चाहे वह अपना आकार न बढावे उत्पादन की दशाये सुधरने से लाभान्वित होती है । **शुम्पीटर** की भांति जो 'अर्थशास्त्री यह समझते हैं कि तकनीकी ज्ञान के स्थिर रहते हुये लागत ह्रास की सम्भावना नही है, उनके मस्तिष्क मे 'स्थिर तकनीकी ज्ञान" और 'स्थिर तकनीकी विधियों" के सम्बन्ध का भ्रम (जिसकी आलोचना हमने ऊपर की है) तो है ही, साथ मे यह धारणा भी है कि उत्पादन के लिए माग बढने के परिणामस्वरूप उद्योग का जो *विस्तार होता है वह विकासशील उद्योग मे अधिक मात्रा मे प्रयोग किये जा रहे*

---

1 "A reduction in costs of this dynamic and historical nature has no place in our analysis, since it represents a change of data not to be explained by economic theory It may indeed cause far reaching alterations, under certain conditions, in comparative costs and in international trade, but such reductions in costs are not themselves dependent of the existence or extent of the international exchange of goods."

—*Ibid*, p 202

साधनों की कीमतों को अवश्य ही बढ़ा देगा। उदाहरणार्थ, यदि कृषि उपजों के लिए माँग बढ़ जाय तो भूमि और कृषि श्रम [जो कि बहुत सीमा तक एक विशिष्ट साधन है क्योंकि अन्य धन्धों से श्रमिक कृषि में आसानी से आकर्षित नहीं होते हैं] की कीमतें बढ़ जायेंगी। प्रयोग किये जा रहे कुछ साधनों की कीमतों में ऐसी वृद्धि होने से, जैसे-जैसे किसी वस्तु का उत्पादन बढ़ता है, उसकी (वस्तु की) मौद्रिक लागत बढ़ती जाती है।[1] यह तर्क कुछ सीमा तक ही ठीक है। किन्तु यह भी असदिग्ध है कि 'बढ़ती हुई लागतों की दिशा में जो प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है उसे स्थायी या अस्थायी रूप से आन्तरिक और बाह्य मितव्ययिताओं द्वारा विजय किया जा सकता है। जब ये मितव्ययितायें लागत वृद्धि की अपेक्षा बढ़ जाती हैं तो घटती हुई लागतें क्रियाशील होने लगती है।'[2]

(१) आन्तरिक मितव्ययितायें और क्रमागत लागत ह्रास नियम—उत्पादन क्षेत्र के अधिकांश भाग में, विशेषतः उद्योगों में, एक फर्म के आकार में वृद्धि होने पर लागत कम होने लगती है। इसका कारण यह है कि अनेक उत्पत्ति साधन पूर्ण विभाजन योग्य नहीं होते। कुछ साधनों (उदाहरणार्थ मोटर कारों के निर्माण के लिए "कन्वेयर सिस्टम (Conveyor system)) का एक न्यूनतम् आकार होता है। इससे कम आकार में उनका प्रयोग लाभदायक नहीं रहता। अतः फर्म की उत्पत्ति एक निश्चित न्यूनतम मात्रा से कम नहीं होनी चाहिए तब ही इन्हें लाभ सहित स्थापित (Instal) किया जा सकता है। किन्तु एक बार स्थापित हो जाने पर वह अन्य सहयोगी घटकों में अधिक विशिष्टीकरण होना सुगम बना देते हैं, क्योंकि उत्पादन विधियाँ अब पहले से भिन्न होंगी। अन्य साधन भी विभिन्न आकारों में उपलब्ध होते हैं और एक सीमा तक इनके बारे में भी यह देखा जाता है कि ये जितने बड़े होंगे उतनी ही कम उनकी लागत प्रति इकाई होगी। उदाहरणार्थ एक इलेक्ट्रिक मोटर की लागत इससे आधी क्षमता के मोटर की लागत से दूनी तो नहीं किन्तु ३०% कम होती है। एक विशाल मात्रा में उत्पत्ति करने से विद्यमान साधनों (उदाहरणार्थ, कार्यालय स्टाफ एवं साज सामान) का पूर्णतम प्रयोग सम्भव हो जाता है। अतः कुछ प्रकार के व्ययों में उत्पत्ति की अपेक्षा कम आनुपातिक वृद्धि होती है, जिससे जब उत्पत्ति बढ़ती है तो उनकी प्रति इकाई लागत घटने लगती है। कुछ उद्योगों में तो अपेक्षतः विशाल संस्थानों के लाभ स्वतः स्पष्ट है।

प्रस्तुत विषय के निम्न पहलुओं पर भी ध्यान देना जरूरी है—यदि एक

---

[1] Haberler *The Theory of International Trade*, p 203

[2] " It is beyond question that the tendency towards increasing costs can be temporarily or permanently offset or more than offset by the internal and external economies When it is more than offset, we have the phenomenon of decreasing costs "—*Ibid*, p 203

दिये हुए समय पर किसी उद्योग मे सस्थानो के आकार को बढा कर उत्पादन लागते घटाना सम्भव है, तो यह स्थिति स्वतन्त्र प्रतियोगिता द्वारा प्राप्त हो जायेगी। कारण प्रतियोगिया पर विजय पाने की इच्छा से प्रत्येक साहसी यह कोशिश करता है कि वह अपनी निजी लागतो को अपनी सस्था का आकार बढा कर घटा ले। सस्थानो के आकार मे वृद्धि होने की प्रक्रिया तब ही रुकेगी जबकि या तो (अ) वह सीमा पहुँच जाये, जिससे अधिक आकार मे वृद्धि होना लागता को घटाने के बजाय बढाये (यह सीमा कृषि उद्योग मे जल्दी ही आ जाती है), अथवा (ब) बाजार को देखते हुए सम्बद्ध सस्थान का आकार इतना बढ चुका हो कि इनी गिनी फर्मे ही पृथक बच रहे जिससे कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता ही समाप्त हो जाय। ऐसी दशा मे, ये फर्मे परस्पर समभौता कर लगी और एकाधिकार उत्पन्न हो जायगा।

उपर्युक्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि घटती हुई लागते, जो कि आन्तरिक मितव्ययिताओ से उदय होती है, दीर्घकाल मे, स्वतन्त्र प्रतियोगिता के साथ असगत होती हैं। इस प्रकार ग्राहम का तर्क त्रुटिपूर्ण है क्योकि वह स्वतन्त्र प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित है। वे यह मान कर चलते है कि अमेरिकन घडी उद्योग, जो कि घटती हुई लागतो के आधीन सचालित हो रहा है, आग्ल प्रतिस्पर्धा के दवाव से शनै शनै सकुचित होने लगता है और यह मान्यता अमेरिकी उद्योग मे स्वतन्त्र प्रतियोगिता की विद्यमानता सम्बन्धी कल्पना पर आधारित है। लेकिन यह कल्पना असम्भव है, यदि उद्योग वास्तव मे ही घटती हुई लागतो के आधीन है, तो उसमे बहुत पहले ही एकाधिकार स्थापित हो चुका होगा।

अब यह देखना शेष है कि यदि घटती हुई लागतो के प्रभावस्वरूप कोई उद्योग पहले से ही एक एकाधिकारी (जैसे ट्रस्ट या कार्टेल) के आधीन है, तो क्या ग्राहम के अथवा इनके जैसे तर्कों म कुछ सत्य है। एक एकाधिकारी अपनी उत्पत्ति को, जब भी उसकी सीमान्त लागत घट सके, बढाने के लिए विवश नही होता। वह अपने उत्पादन म तब ही वृद्धि करेगा जबकि माग इतनी लाचदार हो कि उसकी कुल प्राप्तियो म उसकी कुल लागतो की अपेक्षा अधिक वृद्धि हो जाय। अब मान लीजिये कि इस उद्योग को बढती हुई विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पडता है। क्या इसके वैसे प्रतिकूल परिणाम होगे जो ग्राहम ने बताये है ?

नही, बिल्कुल नही। जैसा कि हैबरलर ने बताया है, विदेशी प्रतियोगिता के कारण कीमतो म आई हुई कमी एकाधिकारी के लाभ को कम कर देगी। किन्तु यह एक ऐसा परिवर्तन है, जो कि केवल राष्ट्रीय आय के वितरण म होता है और शायद इसे अवाछनीय भी नही कहा जायगा। वास्तव म हमे देखना तो यह चाहिये कि इसका उत्पादन पर क्या प्रभाव पडता है ?

एक एकाधिकारी, अनगिनत प्रतियोगी साहसियो (जिनकी कल्पना ग्राहम ने की है) के असमान, परिस्थिति पर सम्पूर्णता के साथ विचार कर सकेगा तथा यह भी निर्णय कर सकेगा कि बदली हुई परिस्थितियो मे कितनी मात्रा मे उत्पत्ति

करना सबसे लाभदायक है । यह हो सकता है कि, यदि घटती हुई लागतें अब भी प्रचलित रहें, उत्पत्ति में वृद्धि करना उसके लिए लाभदायक प्रमाणित हो (इसमें उसकी सीमान्त लागतें कम हो जायेंगी) और देश विदेश में वह मूल्य को और भी घटा कर अपनी बिक्री बढ़ा ले। इससे सम्पूर्ण समाज को तो कोई हानि नहीं है, हाँ, विदेशी बिक्री पर एकाधिकारी के लाभों में कुछ अनिवार्य कमी आती है। यदि वह ऐसा समझे कि विदेशी सप्लायरों की तुलना में उसे अपनी कीमत को घटाने से कोई लाभ नहीं है, तो फिर उसे ऊँची कीमत ही स्वीकार करनी चाहिए। इस दशा में यदि उद्योग की कुल मुद्रा-प्राप्तियाँ कुल मुद्रा लागतों से कम हैं, तो यह 'विशिष्ट घटकों" (Specific factors) की समस्या के तुल्य है। उद्योग के विशिष्ट साधनों के लगान और आभास लगान (Quasi rents) गिरेंगे, और इतने पर भी यदि उद्योग की प्राप्तियाँ इसके अविशिष्ट सहयोगी साधनों के भुगतानों के लिए प्राप्य न हो सकें तो उद्योग ही बन्द कर दिया जावेगा। इसके राष्ट्रीय आय के आकार पर वैसे ही प्रभाव होंगे जैसे विशिष्ट घटकों की दशा में होते हैं। किन्तु किसी भी दशा में उत्पादन शनै-शनैः सकुचित (साथ में लागतों में निरन्तर वृद्धि) न होगा, जिसकी प्रारम्भ में कल्पना की है।

उल्लेखनीय है कि संस्थाना के आकार में वृद्धि के फलस्वरूप घटती हुई लागतों की व्यापकता वस्तुओं के अप्रतिबन्धित अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के विरुद्ध कोई तर्क नहीं है, वरन् इसे पक्ष का ही एक तर्क कहा जा सकता है। कारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक प्रमुख लाभ यह है कि इसके फलस्वरूप बाजार का विस्तार बढ़ जाता है, जिससे बड़े पैमाने के संस्थानों का अधिक अच्छा उपयोग होने लगता है। इसके साथ ही साथ, बाजार के आकार का विस्तार एकाधिकारी द्वारा उपभोक्ताओं के शोषण को कठिन बना देता है। यह लाभ आधुनिक युग में बड़े पैमाने के संस्थानों, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति और एकाधिकार के प्रति जो प्रवृत्ति बढ़ रही है उसके सन्दर्भ में छोटे देशों के लिये बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

(२) बाह्य मितव्ययितायें और घटती हुई लागतें—मार्शल (Marshall) ने दिखाया है कि वस्तु की उत्पादन लागत और उत्पादित-मात्रा के मध्य दुहरा सम्बन्ध होता है—एक ओर तो लागतें उद्योग के विभिन्न संस्थानों के आकार के साथ परिवर्तित होती हैं (जैसे—एक दिए हुए संस्थान की उत्पत्ति में वृद्धि होने पर उसे आन्तरिक मितव्ययितायें सम्भव हो जाती हैं जिस कारण लागतों में कमी आती है) तथा दूसरी ओर, सम्पूर्ण उद्योग के विस्तार द्वारा भी उद्योग में संलग्न प्रत्येक संस्थान की लागतों में कमी आ सकती है। इस प्रकार, एक व्यक्तिगत संस्थान की लागतें न केवल अपनी उत्पादित मात्रा का परन्तु सम्पूर्ण उद्योग की उत्पादित मात्रा का भी फल होती हैं। यह सम्भव है कि अलग अलग रूप से प्लान्ट (या फर्में) बढ़ती हुई लागतों के आधीन क्रियाशील हों, जिससे कि यदि इसकी उत्पत्ति अधिक (larger)

होती है तो औसत लागत ऊँची होगी, किन्तु सम्पूर्ण उद्योग का विकास प्रत्येक व्यक्तिगत संस्थान के ऊपर की ओर चढ़ते हुए सम्पूर्ण लागत वक्र को नीचा कर सकता है।

बाह्य मितव्ययिताओं के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जैसे—निपुण श्रम की पूर्ति विकसित होना, यातायात एवं सन्देशवाहन के साधनों में सुधार, उद्योग में काम आने वाली मशीनों के गुण एवं मूल्य में सुधार आदि। सैद्धान्तिक रूप से यह धारणा की जा सकती है कि यदि उद्योग बढ़ी हुई माँग के प्रत्युत्तर में, नई फर्मों के प्रवेश द्वारा, अपना विस्तार करे, तो दीर्घकाल में (क्योंकि निश्चय रूप से ऐसा विस्तार एक दीर्घकालीन घटना है) वस्तु की लागत एवं मूल्य दोनों ही कम हो सकते हैं यद्यपि प्रत्येक व्यक्तिगत संस्थान की लागतों में, यदि उसने अपनी उत्पत्ति बढ़ाई, वृद्धि हो जायेगी।

आन्तरिक एवं बाह्य बचतों में भेद—आन्तरिक एवं बाह्य बचतों में एक महत्त्वपूर्ण भेद है—आन्तरिक बचतों को, जो कि एक व्यक्तिगत संस्थान के आकार में वृद्धि होने का परिणाम है, साहसीगण अपने लाभ सम्बन्धी अनुमानों में पूर्णतः सम्मिलित कर लेते हैं। अतः ऐसी मितव्ययिताओं को प्राप्त करना व्यक्तिगत उपक्रम और पहल (private enterprise and initiative) पर निर्भर होता है। किन्तु, इसके विपरीत, बाह्य मितव्ययिताएँ उद्योग में सब उपक्रमियों को (केवल उन्हीं उपक्रमियों को नहीं जो कि नये कारखाने स्थापित करते हैं या पुराने कारखानों का विस्तार करते हैं), लाभान्वित करती हैं। ये स्वभावतः अनिश्चित एवं अस्पष्ट होती हैं, जिससे इनकी सीमा या मूल्य का पूर्व अनुमान लगाना कठिन है। यही नहीं, इनका कुछ ऐसे घटकों से भी सम्बन्ध है, जिनमें साहसी की रुचि नहीं होती, जैसे—एक निपुण श्रमिक जनसंख्या की क्षमताएँ। प्रायः साहसी ऐसे आशयों पर व्यय करने में हिचकता है क्योंकि इस बात की कोई गारन्टी नहीं है कि उसके विनियोग का लाभ केवल उसी को मिलेगा, उसके प्रतियोगियों को नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि बाह्य मितव्ययिताओं को प्राप्त करने का भार (जैसे—श्रमिकों की शिक्षा दीक्षा का कार्य) व्यक्तिगत संस्थानों पर नहीं छोड़ा जा सकता।

उपर्युक्त से निम्न निष्कर्ष निकलता है—सम्भव है कि कोई उद्योग पहले से ही बाह्य मितव्ययिताओं का लाभ उठा रहा हो और अधिक विस्तार द्वारा अधिक लाभ उठा सकता हो। किन्तु इसमें प्रतियोगिता बाधक है, जिससे अब अधिक विस्तार नहीं किया जायगा। कारण, प्रत्येक व्यक्तिगत साहसी बढ़ती हुई लागतों के अधीन कार्य कर रहा है, जिससे वह अपनी उत्पत्ति का विस्तार करने में कोई प्रेरणा नहीं पाता। इस प्रकार उद्योग का विस्तार तो होगा ही नहीं, साथ ही, बढ़ती हुई विदेशी प्रतियोगिता के कारण उसकी उत्पत्ति में संकुचन तक हो सकता है। यदि ऐसा संकुचन हुआ तो इससे उद्योग को अब तक जो बाह्य मितव्ययितायें मिली हुई थीं वे भी छिन जायगी और संकुचन के फलस्वरूप बन्द होने से बच रहने

वाले सस्थानों की लागतों में वृद्धि हो जायेगी। ऐसे समय पर ही ग्राहम द्वारा उल्लेखित कुचक्र प्रगट होता है। किन्तु यदि तट करों का सरक्षण अस्थायी रूप से मिल जाय, तो उद्योग अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है तथा विस्तृत होकर बाह्य मितव्ययिताओं का अधिक लाभ उठा सकता है।

किन्तु जैसा कि हैबरलर ने बताया है बाह्य मितव्ययिताओं की निम्न ोमाये है --(अ) उद्योग का विस्तार कुछ बाह्य अमितव्ययिताओं (External Diseconomies) को जन्म दे सकता है, जिनमे प्रत्येक सस्थान की लागते बढ जाती । उदाहरणार्थ, यातायात एव सचार सम्बन्धी साधन अत्यधिक व्यस्त हो सकते : । या, यदि उत्पत्ति साधन बढती हुई लागतो के अधीन उत्पन्न किए जा रहे है ो उनके लिए उद्योग की बढी हुई माँग इनकी कीमते बढा देती है। (ब) ऐसी न्येक मितव्ययिता जोकि एक उद्योग के लिए बाह्य और दूसरे उद्योग के लिए ान्तरिक है, हमारे प्रस्तुत तर्क के क्षेत्र के बाहर है। उदाहरणार्थ, 'अ' उद्योग द्वारा प्रयोग की गई मशीने यदि उन्हे वृहत सस्थानो मे बनाया जाय तो वे अधिक सस्ती उत्पन्न की जा सकती है। मशीन निर्माण उद्योग के साहसी इस सम्भावना से परि-चित होने चाहिए। उन्हे अ उद्योग के विस्तार से ही प्रेरणा लेने की आवश्यकता नही है, क्योंकि वे स्वय अपनी ओर से भी ऐसा कर सकते हैं। (स) यदि उपरोक्त बातें ध्यान मे रखते हुए भी हम यह जोर देकर कहे कि अनगिनत वास्तविक और सम्भावित बाह्य मितव्ययितायें विद्यमान है, तो यह याद रखना चाहिए कि (1) उनमे से अधिकाश, (श्रम बाजार के उन्नत सङ्गठन के समान) एक उद्योग को ही नही वरन् अनेक उद्योगों को साथ ही साथ, अथवा, कृषि की अपेक्षा सम्पूर्ण उद्योग को लाभान्वित करती है।

उपसंहार—

यदि उपरोक्त बातो पर उचित ध्यान दिया जाय, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनिवार्य है कि घटती हुई लागते अपने वास्तविक सैद्धान्तिक अर्थ में शायद ही क्रियाशील हो। यह बहुत ही असाधारण बात होगी कि बाह्य मितव्ययितायें कितनी भी लम्बी अवधि मे बढती हुई लागतो की स्थायी प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर ले। अत यदि हम बढती हुई लागतो को ही क्रियाशील मानते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ का विवेचन करते है, तो कोई गम्भीर गलती नही करते।

परीक्षा प्रश्न :

१. उत्पत्ति ह्रास (या लागत वृद्धि) नियम की क्रियाशीलता का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रभाव दिखाइये। (विक्रम, एम० ए०, १९६६)
[Show the effect of the operation of the Law of Diminishing Returns (Increasing Costs) on international trade]

२ क्या यह उचित होगा कि उत्पत्ति वृद्धि (या लागत ह्रास) नियम के अधीन उत्पन्न की जाने वाली वस्तु के आयात की स्वतन्त्रता दी जाय ?

[Is it advisable to permit free imports of a commodity subject to increasing returns (decreasing costs ?]

३ "स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत विशिष्टीकरण कुछ दशाओं में देश की उत्पादक सम्पत्ति को हानि पहुँचा सकता है।" इस कथन की आधुनिक लागत सिद्धान्त के प्रकाश में समीक्षा कीजिए।

['Specialisation under free trade might in some cases lead to the weakening of a country's productive conditions" (Ohlin) Examine this statement in the light of modern cost doctrine]

४ "यदि इन सब बातों को उचित महत्व दिया जाय, तो वह निष्कर्ष निकलेगा कि घटती हुई लागतें, विशुद्ध सैद्धान्तिक अर्थ में, कभी-कभार और अपवाद भूत दशाओं में ही दिखाई देती है…… अतः हम यह मान कर कोई भारी त्रुटि नहीं करेंगे कि सामान्यतः लागतें वृद्धिशील होती है।" (हैबरलर) आलोचना कीजिए।

["If due weight is given to all these considerations, one will be constrained to the conclusion that decreasing costs, in the true theoretical sense, are phenomena which occur only seldom and in exceptional cases.. . Hence we shall commit no grave error by continuing to assume, in general, that costs are increasing" (Haberler) Comment]

५ "यह दिखाया जा सकता है कि बढती हुई लागतो का नियम अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के क्षेत्र को सीमित करता है, किन्तु घटती हुई लागतों का नियम उसे बढाता है।" स्पष्ट कीजिए। (आगरा, एम० ए०, १९६८)

['It is demonstrable that the law of diminishing returns tends to limit the area of international exchange while that of the law of increasing returns is calculated to increase it" Explain]

१४

राष्ट्रीय आय के वितरण पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रभाव

(Effect of International Trade upon Distribution of National Income)

परिचय—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का राष्ट्रीय आय के वैयक्तिक (Personal) एवं कार्यात्मक (Functional) वितरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कारण अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पत्ति के विभिन्न साधनों की सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन हो जाता है। प्रतिष्ठित एवं नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त में इस महत्त्वपूर्ण विषय पर दो शीर्षकों के आधीन विचार किया गया है —(I) लगान, ब्याज (या लाभ) और मजदूरी पर प्रभाव[1] एवं (II) श्रमिकों के अप्रतिस्पर्धी वर्गों की आय पर प्रभाव।[2]

(I) लगान, मजदूरी और ब्याज (अथवा लाभ) पर प्रभाव

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने सदैव यह माना कि विदेशी व्यापार एक ओर कृषक देशों और दूसरी ओर निर्माणी देशों के मध्य होने वाला व्यापार है। अतः उन दिनों आय के कार्यात्मक वितरण पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रभाव से आशय यह था कि मजदूरी, लगान और ब्याज (या लाभ) किस प्रकार निरपेक्ष रूप से (absolutely) और एक दूसरे के साथ सापेक्षिक रूप में (relatively) परिवर्तित होते हैं।

(१) लगान (Rents)—जब एक कृषक और एक औद्योगिक देश के मध्य व्यापार प्रारम्भ होता है तो कृषक देश से कृषि वस्तुयें औद्योगिक देश को निर्यात की जायगी। निर्यात के लिए कृषि वस्तुओं की माग बढ़ने से कृषि का सीमा तक विस्तृत होना है तथा इसलिए लगान बढ़ने लगते है। आधुनिक भाषा में भूमि अपनी माग की तुलना में अधिक दुर्लभ हो जाती है जिससे लगान बढ़ जाते है। कच्चे मालों का निर्यात होने से खनिज और वन सम्पदा के स्वामियों की आय भी बढ़ जाती है।

---

[1] Bastable *Theory of International Trade* Chap 6

[2] Cairnes *Some Leading Principles of Political Economy*

किन्तु औद्योगिक देश में कृषि का सीमान्त सकुचित होने लगता है तथा भूमि की दुर्लभता पहले से कम हो जाती है। इस प्रकार, उस देश में लगान (और खनिज तथा वन सम्पदा के स्वामियों की आय भी) घटने लगते है।

(२) मजदूरी (Wages)—निर्गाणी देश में खाद्यान्न सस्ते हो जाते हैं, क्योंकि कृषि वस्तुओं का आयात हो रहा है और इस प्रकार, वास्तविक मजदूरियाँ (Real wages) में वृद्धि हो जाती है। सच तो यह है कि औद्योगिक देश के प्रत्येक ऐसे व्यक्ति की, जिसके बजट में आयातित वस्तुओं का समावेश हो, वास्तविक आय बढ जायेगी। किन्तु, सभी व्यक्ति एवं वर्ग एक समान लाभ नहीं उठाते। उदाहरणार्थ, आयातित वस्तुओं का उपभोग अधिक मात्रा में करने वाले व्यक्ति बढ़ी हुई वास्तविक आय के रूप में अधिक लाभान्वित होते हैं दूसरी ओर, कृषक देश में, कृषि वस्तुओं के निर्यात के कारण, भोजन सामग्री मँहगी हो जायेगी, जिससे श्रमिकों एवं अन्य व्यक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, अर्थात् उनकी वास्तविक मजदूरियाँ कम हो जाती है। विदेशों से आयात के फलस्वरूप निर्मित वस्तुयें सस्ती हो जायेगी, जिस कारण श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी में हुई घटौती कुछ सीमा तक पूरी हो सकती है। किन्तु चूँकि उनकी आय का एक बड़ा अनुपात खाद्यान्नों पर व्यय होता है। इसलिए उन्हें विदेशी व्यापार से कुल पर हानि ही रहेगी।

(३) ब्याज (Interest)—यदि किसी देश के विदेशी व्यापार में साम्य की अवस्था है अर्थात् यदि उसके निर्यात उसके आयातों का भुगतान कर देते है, तो स्वर्ण के आवागमन की समस्या खड़ी न होगी। सामान्यत दीर्घ काल में तो साम्यावस्था ही पाई जाती है, किन्तु, अल्पकाल में वह शायद ही देखने में आवे। वास्तव में, अल्पकालीन की साधारणत प्रचलित अवस्था "असाम्यता" ही है। यदि देश को निर्यात-आधिक्य (Export surplus) है, तो स्वर्ण अर्थ-व्यवस्था में आयेगा, जिससे मुद्रा की पूर्ति (Money-supply) बढ़ेगी और इसलिये ब्याज दर घट जायेगी। इसके विपरीत, यदि देश का "आयात आधिक्य" (Import surplus) है, तो अर्थ-व्यवस्था से स्वर्ण बाहर जायेगा, जिससे मुद्रा की पूर्ति घट जायेगी और इसलिये ब्याज-दर बढ जायेगी।

(४) लाभ (Profits)—कृषक और औद्योगिक दोनों ही देशों में लाभ बढ़ते है, क्योंकि निशिष्टीकरण के द्वारा लागतें कम हो जाती है तथा बढ़े हुए बाजार ऊँची कीमतें दिलाते हैं।

कभी-कभी कहा जाता है कि जब एक ऊँची मजदूरी वाला देश (High wages' country) (जैसे अमेरिका) एक न्यून मजदूरी वाले देश (Low wages'-country) (जैसे कि चीन या जापान) से व्यापार करे, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मजदूरी पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। किन्तु यह कथन भ्रमपूर्ण है। प्रो० टॉजिग (Taussig) ने ठीक ही कहा है कि "सम्भवत सबसे अधिक परिचित और सबसे अधिक निराधार विश्वास यह है कि व्यापार में पूर्ण स्वतन्त्रता होने पर विश्व भर

की मौद्रिक मजदूरियों में समानता आ जायेगी''' '। यथार्थ में समानीकरण (Equalisation) की ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं होती है'' मजदूरी की समस्या यथार्थ में उत्पादकता की समस्या है। उद्योग की उत्पादकता जितनी अधिक होगी, मजदूरियों का सामान्य स्तर भी उतना ही ऊँचा होगा।''[1]

सम्पत्ति के वितरण पर विदेशी व्यापार के प्रभावों का अध्ययन करने के उपरोक्त प्रतिष्ठित ढङ्ग में दो दोष उल्लेखनीय हैं—प्रथमत, यह स्थिर आय और स्थिर दायित्व वाले व्यक्तियों की उपेक्षा करता है। दूसरे, यह मान्यता भी वास्तविकता के विपरीत है कि कुछ देशों के आयात पूर्णत 'प्राथमिक वस्तुओं' के और कुछ देशों के निर्यात पूर्णत 'निर्मित वस्तुओं' के होते हैं। हेबरलर की सम्मति में उक्त विश्लेषण महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अपर्याप्त और यथार्थता से दूर है।[2]

(II) प्रतिस्पर्धा रहित समूहों की आय पर प्रभाव

श्रमिकों के 'अप्रतिस्पर्धी या बन्द' समूहों का सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि श्रम अनेक प्रकार का होता है। इसमें एक 'बन्द समूह' से दूसरे 'बन्द समूह' को श्रमिक किसी न किसी बाधा के कारण आ जा नहीं सकते, किन्तु एक ही समूह के भीतर उनमें स्वतन्त्र प्रतियोगिता होती है, जिससे मजदूरियों की समान दर प्रचलित हो जाती है। चूँकि श्रम एक विविधतामय साधन है, समान साधन (Homogenous factor) नहीं, इसलिए सभी श्रमिकों के लिए समान मजदूरी दर प्रचलित होने की कल्पना लुप्त हो जाती है।

अप्रतिस्पर्धी समूहों की विद्यमानता का कीमत मयत्र पर जो प्रभाव पड़ता है उसका विभिन्न लेखकों ने विभिन्न प्रकार से विवेचन किया है। कैर्नेस (Cairnes) ने, जो कि इस धारणा के जन्मदाता है, विभिन्न बन्द समूहों की संख्या एव इनका स्वभाव नियत और दिया हुआ माना है। उन्होंने बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अतर्गत, जो कि यह कल्पना करता है कि देशों के मध्य साधन गतिहीन है, प्रत्येक देश की समाग श्रम-पूर्ति एक तरह से एक भिन्न

---

[1] "Perhaps the most familiar and most unfounded of all is the belief that complete freedom of trade would bring about an equalisation of money wages the world over······There is no such tendency to equalisation ·· · the question of wages is at the bottom one of productivity The greater the productivity of industry at large the higher will be the general level of prices "—**Taussig**

[2] "This analysis is undoubtedly pertinent. At the same time, it is inadequate in that the three fold division of factors into land, labour and capital, and the corresponding three fold classification of incomes, is too great an over simplification of reality "—**Haberler** : *The Theory of International Trade*, p 190.

अप्रतिस्पर्धी समूह हैं। उनका निष्कर्ष है कि यदि किसी देश विशेष के अन्दर अप्रतिस्पर्धी समूह विद्यमान है, तो उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों का सिद्धान्त (Theory of International Value) लागू करके समझाया जा सकता है। एक ही देश के भीतर इन समूहों की एक दूसरे की वस्तुओं के लिए पारस्परिक मांग ही प्रत्येक समूह में मजदूरियों का स्तर निर्धारित करेगी।

केर्नेस की तुलना मे टॉजिग का विश्लेषण अधिक गहरा है। वे समूहों की संख्या और स्वभाव को सदा के लिए निश्चित एवं दिया हुआ नही मानते। उनका मत है कि कम से कम दीर्घकाल में एक विशेष प्रकार के श्रम की मांग को, जो इसके उत्पादों के लिए मांग से उत्पन्न होती है, उस विशेष समूह मे मजदूरियों का स्तर निर्धारित करने वाली नही मान सकते। कारण श्रम की पूर्ति सम्बन्धी दशाओं को भी विचार मे लेना आवश्यक है। वास्तव मे, सम्भव तो यह भी है कि विभिन्न समूहों के मध्य मजदूरियों के सापेक्षिक स्तरों पर मांग का कोई प्रभाव न पड़े।

इसे समझाने हेतु मार्शल (Marshall) ने निम्न उदाहरण दिया है —

"मान लीजिये कि समाज कई समतल श्रेणियों (Horizontal grades) मे विभाजित है और प्रत्येक मे इसके अपने ही सदस्यों के बच्चों मे भरती की जाती है तथा प्रत्येक का अपना एवं निजी जीवन-स्तर है। अब जब आय बढ़ जाती है तब संख्या मे तेजी से वृद्धि होने लगती है तथा जब वह स्तर से गिर जाती है, तब तेजी से कमी होने लगती है। ऐसी दशा मे माता पिता अपने बालकों को अपनी ही श्रेणी के किसी व्यवसाय के लिए तैयार कर सकते हैं किन्तु इससे ऊपर सुगमतापूर्वक नही उठा सकते और नीचे भी नही गिरने दे सकते ...... इन मान्यताओं के अधीन किसी भी व्यापार मे सामान्य मजदूरी (Normal Wage) वह होगी जो कि नियमित रूप से रोजगार सम्पन्न श्रमिक को अपने और अपने सामान्य आकार वाले परिवार के लिए, अपनी श्रेणी के स्तर के अनुसार, भरण-पोषण का समुचित अवसर दे। वह मांग पर निर्भर नहीं होती है। मांग से तो उसका केवल इतना ही सम्बन्ध है कि यदि उस श्रेणी के श्रम के लिए मांग न हो, तो इससे सम्बन्ध व्यवसाय भी बन्द हो जायेगा। अन्य शब्दो मे, सामान्य मजदूरी श्रम के उत्पादन व्यय का प्रतिनिधित्व करती है।"[1]

सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की भाषा मे यह कह सकते हैं कि विभिन्न प्रकार के श्रमों की पूर्ति स्थिर लागत पर की जाती है और उनका पूर्ति वक्र समतल (Horizontal) होता है। जब ऐसा है, तो फिर मांग के परिवर्तन दीर्घकाल मे इनकी कीमतों पर कोई प्रभाव नही डालेंगे, केवल पूर्ति की मात्रा को ही प्रभावित करेंगे। इस प्रकार, हमारे सामने दो परस्पर विरोधी धारणायें है—केर्नेस के अनुसार इन बन्द समूहों के भीतर श्रम की पूर्ति पूर्णतः बेलोच है किन्तु मार्शल के अनुसार (कुछ मान्यताओं के

1 Marshall *Principles of Economics*, p 557-58

अधीन) वह पूर्णत लोचदार है अर्थात् केर्नेस के अनुसार पूर्ति वक्र लम्ब के रूप में (Vertical) होता है जबकि मार्शल के अनुसार वह समतल (Horizontal) होता है। माँग के परिवर्तन प्रथम दशा में केवल कीमत को प्रभावित करते हैं किन्तु बाद की दशा में केवल श्रम की प्रस्तुत मात्रा को स्पष्टत. विभिन्न समूहों की तुलनात्मक स्थिति पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जो प्रभाव पड़ेगा उसका विवेचन दोनों दशाओं में भिन्न-भिन्न होगा।

केर्नेस की कल्पना में 'बन्द समूह' की समस्या—

मान लीजिए कि एक देश में 'बन्द समूह' विद्यमान है। विदेशों में कोई ऐसा परिवर्तन होता है, जिसके फलस्वरूप उस देश को इस समूह के उत्पादों में पहले की अपेक्षा अधिक तुलनात्मक हानि होने लगती है और इसलिये उन्हें अब विदेशी आयातों से अधिक कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। जिस प्रकार से यूरोपीय कृषि में विदेशों से अनाज के बढ़े हुए आयात के दबाव के कारण कृषि-मजदूरों की मजदूरियाँ घट गई थीं, उसी प्रकार, उपर्युक्त उदाहरण वाले देश में उस बन्द समूह के सदस्यों की मजदूरियों में भी गिरावट आ जाती है। किन्तु यदि उनकी मजदूरियाँ तेजी से गिरती हैं, तो श्रमिक इस समूह को कुछ समय के अन्दर छोड़ते जायेंगे तथा इनका स्थान भरा न जायेगा। इस प्रकार केर्नेस का बन्द समूह एक अल्पकालीन उदाहरण है जबकि मार्शल का दीर्घकालीन।

टॉजिग और मार्शल के 'बन्द समूह' की समस्या—

दूसरी ओर, यदि देश को बन्द समूह के उत्पादों में तुलनात्मक लाभ है और इसलिए वह इन्हें निर्यात करता है, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप मजदूरियों में वृद्धि हो जायेगी। यह बिल्कुल सम्भव है कि इस ग्रुप के श्रम-संघ इतने पर्याप्त शक्तिशाली हों कि नये प्रवेशकों को रोक सकें और इस प्रकार, समूह को 'बन्द' रख सकें चाहे इसकी मजदूरियाँ अन्य समूहों से बहुत ही ऊँची हों। यदि यह सोचें कि लोचदार पूर्ति की मान्यता विश्व की वास्तविक परिस्थितियों से बहुत सङ्गत (Consistent) है, तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि दीर्घकाल में विभिन्न समूहों की सापेक्षिक मजदूरियों पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।[1]

---

1 "The lines of social and industrial stratification in a country are determined chiefly by the conditions that prevail within its own limits—by the numbers in the several groups and their demands for each other's services, and in some uncertain degree by their different standards of living An added impact of demands from a foreign country will rarely change the relative rates of wages which have come about from the domestic factors The social stratification that results from the domestic

(Contd on next page)

यदि उक्त परिस्थिति को मार्शल के उदाहरण का संशोधित रूप समझा जाय, तो टाजिग के यह कहने पर भी कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार या विभिन्न श्रमिक-समूहों की सापेक्षिक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है उनकी यह स्वीकारोक्ति कोई विरोधाभास नहीं कि विभिन्न प्रकार की श्रमपूर्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वभाव पर प्रभाव डालती हैं। नि सन्देह वह एक देश में विद्यमान उन सामाजिक स्तरों और बन्द समूहों से बहुत प्रभावित होता है जो कि अन्य देशों में विद्यमान नहीं हैं, बशर्ते इससे कुछ प्रकार के श्रम की पूर्तियाँ प्रचुर और सस्ती हो जायें, इस सम्बन्ध में टाजिग ने जर्मनी का उदाहरण दिया है, जहाँ मुख्यत प्रचुरमात्रा में योग्य रसायन-विशेषज्ञों और दृढ सहायकों की विद्यमानता के कारण यह देश रसायनों और कोलतार उत्पादों का निर्यात करता है। जैसा कि हैबरलर (Haberler) ने कहा है, एक विशेष प्रकार के श्रम की प्रचुर पूर्ति के विद्यमान होने का वही प्रभाव होता है, जो कि किसी अन्य साधन की प्रचुर पूर्ति का होता है—जैसे कृषि भूमि की प्रचुरता वाले देश कृषि के लिए विशेष उपयुक्त होते हैं। किन्तु साधनों की प्रचुरता है या नहीं इसका निर्णय माँग के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है।

टाँजिग की व्याख्या बुद्धिमत्तापूर्ण होते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र म अप्रतिस्पर्धी समूहों की समस्या, उस रूप में भी, जिसमें कि इसे टाँजिग ने प्रस्तुत किया है, सैद्धान्तिक रूप से पूर्ण और व्यवस्थित नहीं है। अत इसे हैबरलर न अपने साम्य सिद्धान्त द्वारा अधिक स्पष्ट करने का यत्न किया है।[1]

हैबरलर द्वारा प्रतिस्पर्धी समूहों की समस्या पर विचार—

"श्रमिकों के बन्द समूह न्यूनाधिक विशिष्ट साधनों की विशेष दशायें है, जो कि तकनीकी या अन्य कारणों से कुछ धन्धों तक ही सीमित हो गये हैं।"[2]

conditions is well established and seems to be deeply rooted, and it is non likely that international trade will impinge on it with such special effect on a particular grade as to warp it noticeably."—Taussig *International Trade*, pp 56-57

1 ". .. the treatment of non competing groups in the classical theory, *even as he* (Taussig) presents it, cannot be termed theoretically complete and systematic It is somewhat of a patchwork, and can be replaced with advantage by a more complete and elegant solution, provided that we substitute our general theory for the simplifying assumptions of the Labour Theory of Value"—**Haberler** : *The Theory of International Trade*, p 193

2 "Closed groups of workers are obviously *only special cases*, in our terminology, of more or less specific factors, limited for technical or other reasons to certain employment"—*Ibid*, p 193.

उत्पत्ति के विभिन्न विशिष्ट और अविशिष्ट साधनों की आपेक्षिक दुर्लभता, सीमान्त उत्पादकता और इसलिए सापेक्षिक कीमतों पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रभाव के बारे में निम्नलिखित कथन प्रस्तुत किये जा सकते हैं —

(१) उत्पत्ति के साधन अल्पकाल में विशिष्ट और गतिहीन होते हैं। जब वस्तुओं का आयात किया जाने लगता है, तो वे साधन, जो अभी तक ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करने में संलग्न थे, अब कम मांगे जायेंगे, जिससे उनकी कीमतें गिरेंगी।

(२) दूसरी ओर, "निर्यात उद्योगों" (Export industries) के लिए जिन विशिष्ट और गतिहीन साधनों की आवश्यकता पड़ती है उनकी मांग विदेशी व्यापार के फलस्वरूप बढ़ जायेगी। चूँकि उनकी सापेक्षिक दुर्लभता में वृद्धि हो गई है, इसलिए उनकी कीमतों में वृद्धि हो जायेगी।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप कुल उत्पत्ति में वृद्धि हो जाने से अनेक विभिन्न प्रयोगों में आ सकने वाले अ-विशिष्ट साधनों की कीमतें बढ़ जायेंगी किन्तु यह वृद्धि वाक्य (२) के अन्तर्गत हुई वृद्धि से कम होगी। अन्य शब्दों में, प्रथम प्रकार के साधनों के स्वामियों की आय (वास्तविक आय), गिरेगी, द्वितीय प्रकार के साधन स्वामियों की आय बढ़ेगी और तृतीय श्रेणी के साधन स्वामियों की आय बढ़ेगी किन्तु कम सीमा तक।

श्रम और उत्पत्ति के भौतिक साधनों में भेद—

हैबरलर ने उत्पत्ति के भौतिक साधनों (Material means of production) एवं श्रम (Labour) में, विशेषतः दीर्घकालीन दृष्टिकोण से, भेद किया है। उन्होंने बताया है कि, दीर्घकाल में, उत्पत्ति के भौतिक साधन जो कि अत्यधिक विशिष्ट होते हैं, प्रमुखतः कृषि में पाये जाते हैं। ऐसे भौतिक साधनों में हम विभिन्न गुणों वाली भूमि तथा सब प्रकार के प्राकृतिक साधन सम्मिलित करते हैं यद्यपि सभी प्रकार के प्राकृतिक उपहार विशिष्ट नहीं होते। अन्य क्षेत्रों में, जैसे कि निर्माण, वाणिज्य एवं यातायात में, अत्यधिक विशिष्ट भौतिक साधन दीर्घकाल में एक अल्प भूमिका रखते हैं किन्तु अल्पकाल में उनका बहुत महत्त्व होता है। कारण, अधिकांश भवन, प्लान्ट और साज-सामान, यातायात-साधन और अन्तरिम उत्पाद, जो कि एक विशेष समय पर विद्यमान होते हैं, विशिष्ट ही होते हैं। अतः विदेशी प्रतियोगिता की तीव्रता में वृद्धि होने से, या टैरिफों में घटा-बढ़ी होने अथवा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन होने से सम्बन्धित उत्पत्ति साधनों को विशाल लाभ-हानियाँ हो सकती हैं।

अब श्रम को लीजिए। दीर्घकाल में और कुछ अपवादभूत दशाओं के अतिरिक्त अन्य सब दशाओं में श्रम सबसे कम विशिष्ट और सबसे अधिक समायोजनीय (Adaptable) साधन होता है। अल्पकाल में वह बहुत विशिष्ट और कम गतिशील होता है। अतः जब आर्थिक पट-परिवर्तन के कारण एक उद्योग या एक फर्म में तो श्रम की मांग अधिक होती है किन्तु दूसरे उद्योगों या दूसरी फर्मों में कम, तो मजदूरियों

मे स्थाई या ग्रस्थाई कमी ग्रा जाती है। कुछ श्रमिको का दुख बहुत बढ जाता है जो फिर विरोध-भाव को जन्म देता है। यह भी निर्विवाद है कि आधुनिक प्रगतियो मे श्रम की गतिशीलता और समायोजनाक्षमता को घटाने की प्रवृत्ति है। एक ग्रोर सङ्गठित श्रम की शक्ति ग्राजकल बहुत बढ गई है, दूसरी ग्रोर जनसख्या की तीव्र वृद्धि का, जिसने कि भूतकाल मे उद्योगो के मध्य श्रम का भारी पुनर्वितरण सम्भव बना दिया था (क्योकि इसके कारण नये प्रवेशक विकासोन्मुख उद्योगो के मुडने सम्भव हो गये थे), स्थान स्थैतिक (Stationary) जनसख्या ने ले लिया है, जिससे ग्रब पुनर्वितरण के ग्रन्तर्गत पतनोन्मुख उद्योगो से श्रमिको का विकासोन्मुख उद्योगो मे वास्तविक ग्रावागमन होने लगा है।

ग्रत हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि दीर्घकाल म सम्पूर्ण श्रमिक वर्ग को ग्रन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से भय का कोई कारण नही है, क्योकि दीघकाल मे समस्त साधनो मे श्रमिक सबसे कम विशिष्ट है। ग्रत. ग्रन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के फलस्वरूप उत्पादकता मे हुई सामान्य वृद्धि से श्रमिको को लाभ होता है तथा उस पर राष्ट्रीय ग्राय के कार्यात्मक वितरण मे परिवर्तन होने का कोई विशेष प्रतिकूल प्रभाव पडने की सम्भावना नही है।[1] यही कारण है कि श्रमिक सघ स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन करते है। किन्तु ग्रल्पकाल मे विशिष्ट एव गतिहीन श्रमिक समूह को, विशिष्ट भौतिक साधनो के स्वामियो की भाति ही, जबकि उन्हे एक न एक कारणवश ग्रधिक तीव्र विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पडे, ग्राय मे गम्भीर ह्रास सहना पडता है। विशेषत जब ग्रन्य कीमतो की ग्रपेक्षा मजदूरिया कम लोचदार हो, तो हानि की गम्भीरता बढ जाती है। एक भौतिक साधन की कीमत इससे पहले कि उसका प्रयोग रोका जाय शून्य तक गिर सकती है किन्तु श्रमिक, जिन्हे सरकार के हस्तक्षप ग्रौर शक्तिशाली श्रम सघो का सहारा प्राप्त है, मजदूरिया एक सीमा से ग्रधिक गिरने की दशा मे, ग्रपना श्रम नही बेचेगे। फलत बदली हुई परिस्थितिया से प्रभावित उद्योगो मे भीषण बेकारी फैल सकती है।

---

1 "In the long run the working class as a whole has nothing to fear from international trade since, in the long run, labour is the least specific of all factors It will gain by the general increase in productivity due to the international division of labour and is not likely to loose at all seriously by a change in the functional distribution of the national income."
—Haberler : *The Theory of International Trade*, p. 195

परीक्षा प्रश्न :

१ आय के वितरण पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्या प्रभाव होते है ?
[What is the effect of international trade on income distribution ?

२. देश मे सम्पत्ति के वितरण पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जो प्रभाव पडते है उन्हे पूर्णरूपेण समझाइये । (आगरा, एम० कॉम०, १९६८)
[Explain fully the effects of international trade on the distribution of wealth in the country]

३ "टाजिग द्वारा दी गई व्याख्या श्रम के अप्रतिस्पर्धी समूहो की बहुत सन्तोषजनक नही है और इसे एक अधिक पूर्ण एव स्पष्ट व्याख्या द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है, बशर्ते श्रम मूल्य सिद्धान्त की सुगम मान्यताओ के बजाय हम अपने सामान्य सिद्धान्त का ही उपयोग करें।" विवेचन करिये।
["It (Taussig's exposition of noncompeting groups of labour) is somewhat of a patchwork, and can be replaced with advantage by a more complete and elegant solution, provided that we substitute our general theory for the simplifying assumptions of the labour theory of value " Discuss]

१५

अन्तक्षेत्रीय साधन और वस्तु-आवागमन

(Interregional Factor and commodity Movements)

प्रारम्भिक—साधन-आवागमन से आशय एवं इसकी बाधायें

भूमि और प्राकृतिक साधन प्रायः अगतिशील (Immobile) होते हैं और इसलिए साधन-आवागमन की समस्या केवल श्रम और पूँजी से ही सम्बन्ध रखती है। श्रम के आवागमन में मुख्य बाधा व्यवसाय, स्थान और वातावरण के परिवर्तन तथा 'ज्ञात और निश्चित' दशा से अज्ञात और अनिश्चित' दशा में परिवर्तन के प्रति मनोवैज्ञानिक अरुचि होना है। इस अरुचि को बढ़ाने वाली अन्य बातें भाषा, प्रथा और सामाजिक संस्थाओं सम्बन्धी भिन्नतायें हैं। जहाँ मनोवैज्ञानिक घटक आवागमन या गतिशीलता के लिए अनुकूल होते हैं वहाँ वित्तीय प्रसाधनों का अभाव श्रम की गतिशीलता में बाधा डाल सकता है। अन्य शब्दों में, आवागमन के व्यय भी साधनों की गतिशीलता में बाधा प्रस्तुत करते हैं। पूँजी की गतिशीलता में भी प्रमुख बाधा मनोवैज्ञानिक ही है। पूँजी के स्वामी अपनी सम्पत्ति एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को भेजने में संकोच करते हैं, क्योंकि उन्हें यह आशंका रहती है कि एक विदेशी राष्ट्र में वे अपनी पूँजी के प्रयोग पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण न रख सकेंगे अथवा उनकी पूँजी का राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है।

उपर्युक्त बाधाओं के होते हुए भी श्रम और पूंजी-साधन एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को आते जाते है। ऐसे आवागमन का कारण ऊँची मजदूरियाँ अथवा ऊँची ब्याज-दरें है। जिस क्षेत्र में श्रम और पूँजी साधन जायें, वहाँ मजदूरी और ब्याज दरें इतनी ऊँची होनी चाहिए कि साधनों को मनोवैज्ञानिक एवं अन्य बाधाओं पर विजय पाने की प्रेरणा मिले। अतः साधन नीचे पुरस्कार वाले क्षेत्र से ऊँचे पुरस्कार वाले क्षेत्र को जाते हैं। अन्य शब्दों में, वे उस क्षेत्र से, जहाँ उनकी पूर्ति प्रचुर मात्रा में है, उस क्षेत्र को जहाँ उनकी न्यूनता होती है, जाते है।

साधनों के आवागमन के परिणामस्वरूप प्रचुरता वाले क्षेत्र में उनकी पूर्ति घटने लगती है और इसलिए वहाँ उनके पुरस्कार में वृद्धि होती है, किन्तु न्यूनता वाले क्षेत्र में पूर्ति बढ़ने से पुरस्कार कम होने लगते हैं। इस प्रकार, साधनों की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता साधन-कीमतों में समानता स्थापित करने की प्रवृत्ति रखती

है। यथार्थ में हमारे सामने दो कथन है —(अ) वस्तुओं का अन्तर्क्षेत्रीय विनिमय न केवल वस्तु कीमतों में वरन् साधन-कीमतों में भी साम्य स्थापित करने की प्रवृत्ति रखता है, और (ब) उत्पत्ति साधनों की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता भी साधन-कीमतों में साम्य स्थापित करने की प्रवृत्ति रखती है। नीचे हमने साधन-आवागमनों और वस्तु-आवागमनों के मध्य सम्बन्ध दिखाया है।

साधन-आवागमनों और वस्तु-आवागमनों के मध्य सम्बन्ध

(१) साधन-आवागमन का स्थान वस्तु आवागमन द्वारा लिया जाना— एक ओर यह सम्भव है कि क्षेत्रों के मध्य व्यापार खुलने से साधनों के आवागमन की कोई आवश्यकता ही न रहे। अन्य शब्दों में, साधन-आवागमन का स्थान वस्तु-आवागमन द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। यदि दो क्षेत्रों के मध्य कोई व्यापार नहीं होता है, तो दोनों वस्तुओं और उत्पत्ति साधनों की कीमतों में विद्यमान भिन्नतायें होंगी। किन्तु जब दो क्षेत्रों के मध्य अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार स्थापित हो जाता है, तो वस्तुओं की और साधनों की भी कीमतों में समानता (Equality) आ जायेगी। वस्तुओं के आवागमन (अर्थात् व्यापार) की मात्रा जितनी अधिक (और व्यापार में बाधायें जितनी कम) होगी वस्तुओं और साधनों की कीमतों का साम्य भी उतना ही पूर्ण होगा। यदि साधन कीमतें में साम्य है तो क्षेत्र के मध्य साधनों का आवागमन नहीं हो सकता है। अतः स्पष्ट है कि व्यापार पूँजी और श्रम के अन्तर्क्षेत्रीय आवागमन को अनावश्यक बनाता है और वस्तु आवागमन साधनों के आवागमन का स्थान ले लेता है।

(२) वस्तु आवागमन का स्थान साधन-आवागमन द्वारा लिया जाना— लेकिन चित्र का दूसरा पहलू भी है। साधनों का आवागमन वस्तु आवागमनों के स्थानापन्न का कार्य कर सकता है। यदि साधन-सम्पत्ति में अन्तर्क्षेत्रीय भिन्नतायें है, तो साधनों का आवागमन होने लगेगा बशर्ते इन क्षेत्रों की साधन-कीमतों का अन्तर इतना विशाल हो कि ऐसा आवागमन आर्थिक (Profitable) हो जाय। साधनों के आवागमन के फलस्वरूप साधन कीमतों में साम्य की स्थापना की प्रवृत्ति होती है और अन्तत: वस्तु-कीमतों के समानीकरण द्वारा (क्योंकि, यदि साधन-कीमतें समान है तो वस्तु कीमतें भी समान होनी चाहिए) वह अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की आवश्यकता और इसके परिमाण (Volume) को घटाता है। इस प्रकार, साधन-आवागमन वस्तुओं के आवागमन का स्थानापन्न बन सकता है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कीमत तुल्यता पर प्रभाव— दोनों 'अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार' और 'अन्तर्क्षेत्रीय साधन आवागमन' अन्तर्राष्ट्रीय कीमत तुल्यता पर एक जैसा ही प्रभाव डालते है। किन्तु **एक की वृद्धि सदा ही दूसरे में कमी लाती है।** यदि (मान लीजिए कि यातायात के साधनों में सुधारों के फलस्वरूप) व्यापार में वृद्धि होती है, तो वस्तुओं और साधनों दोनों की कीमतों में पहले की अपेक्षा अधिक समानता **आ जायेगी,** जिस कारण साधन-आवागमन घट जायेगा। इसके विपरीत, यदि

साधनो की गतिशीलता मे वृद्धि हो जाती है, तो दोनों क्षेत्रो मे उनकी कीमतो के मध्य अधिक समानता आ जायेगी और ऐसा होने पर वस्तुओ के विनिमय में भी कमी हो जायेगी। ओहलिन (Ohlin) के शब्दो में--"सब कुछ जबकि व्यापार में घट बढ होती है, तब इस बात पर निर्भर है कि साधनों की कीमतें और इसलिये उनका आवागमन कितनी गहन प्रतिक्रिया दिखलाता है, और जबकि साधनो के आवागमन मे घट बढ होती है, तब इस बात पर कि वस्तु-कीमतें और इसलिये व्यापार की कितनी गहन प्रतिक्रिया होती है।"[1]

(४) विभिन्न क्षेत्रों के मध्य केवल वस्तुओ का आवागमन या वस्तुओ और सेवाओ दोनो का आवागमन—ओहलिन ने यह भी स्पष्ट किया है कि कुछ दशाओं मे क्षेत्रो के मध्य केवल वस्तुओं का आवागमन देखने मे आता है। वस्तुओं का आवागमन दोनो क्षेत्रो मे कीमतो की एक ऐसी समरूपता (Uniformity) स्थापित कर सकता है कि पूँजी और श्रम के अन्तर्क्षेत्रीय आवागमन के लिये कोई आवश्यकता न रहे। यदि वस्तु और साधन कीमतों में पूर्ण तुल्यता न भी हो, तो साधन कीमतों में अन्तर इतना अल्प हो सकता है कि साधनो की गतिशीलता रुक जाय। ऐसी परिस्थितियों मे साधनो की गतिशीलता कीमतो पर या उत्पादन पर कोई प्रभाव नही डालेगी। दूसरी ओर, एक ऐसी परिस्थिति की कल्पना (कम से कम सिद्धान्तत) की जा सकती है, जिसमे केवल साधनों का ही आवागमन होता है, वस्तुओ का आवागमन नही। किन्तु यह परिस्थिति व्यवहार म देखने मे नही आती है और इसलिए (ओहलिन के अनुसार) विभिन्न क्षेत्रों के मध्य या तो केवल वस्तुओ का अथवा वस्तुओ और सेवाओ दोनों का आवागमन होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिवर्तनो के अध्ययन मे साधन-एव वस्तु-आवागमनो की भूमिका

यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार के परिवर्तनो का अध्ययन करते समय कीमतो मे समानता लाने वाली उपर्युक्त दोनो प्रवृत्तियों को उचित महत्व दिया जाय। जैसा कि ओहलिन ने कहा है, "वे परिवर्तन, जो कीमत भिन्नताओं को बढ़ाने वाले हैं, निम्न दो प्रकार से सतुलित (Counter-balanced) हो जायेंगे: (I) व्यापार मे परिवर्तन के द्वारा, जो वस्तु कीमतो को प्रत्यक्ष और साधन कीमतो को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है, एव (II) साधन-आवागमन के परिवर्तन

---

1 "Everything depends upon the intensity of the reaction of factor prices and, therefore, movements when trade varies; and upon the intensity of the reaction of commodity prices and, therefore, trade when factor movements vary."—Bertil Ohlin. *Interregional and International Trade*, p. 169.

द्वारा, जो द्वितीय श्रेणी की कीमतों को प्रत्यक्ष और प्रथम श्रेणी की कीमतों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। इस प्रकार, कीमत-समानीकरण की प्रवृत्ति दो ढंगों में कार्य करती है।"[1]

(I) साधन-आवागमन में वृद्धि का व्यापार पर प्रभाव—

अब हम यह देखेंगे कि साधन-आवागमनों में वृद्धि का व्यापार के स्वभाव और आकार पर क्या प्रभाव पड़ता है। उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में यह कह सकते हैं कि साधन-आवागमन में वृद्धि होने पर व्यापार का आकार संकुचित हो जायेगा। किन्तु, व्यवहार में, अन्य घटकों पर भी विचार करना पड़ेगा। व्यापार का आकार (Volume) निम्न तीन घटकों पर निर्भर होता है —(१) साधनों की पूर्ति में असमानता, (२) विभिन्न क्षेत्रों में माँग का आकार, जो प्रत्येक क्षेत्र में वहाँ की राष्ट्रीय आय के आकार पर निर्भर होती है, और (३) माँग की दिशा (Direction) इन तीनों ही घटकों पर साधन आवागमनों का प्रभाव पड़ता है।

(१) साधनों की बढ़ी हुई गतिशीलता के फलस्वरूप उत्पादक साधनों की पूर्ति एक क्षेत्र में घट कर दूसरे क्षेत्र में बढ़ जाती है तथा प्रथम क्षेत्र में कुल आय दूसरे क्षेत्र की अपेक्षा बहुत घट जायेगी।

(२) व्यापार का आकार माँग की मात्रा पर भी निर्भर है और माँग की मात्रा आमदनियों पर। साधन सम्बन्धी आवागमन माँग को दो तरह से प्रभावित कर सकते हैं (i) वे विभिन्न क्षेत्रों में कुल आयों के मध्य सम्बन्धों को बदल सकते हैं। सामान्यतः, साधन प्रचुर पूर्ति वाले क्षेत्रों से न्यून पूर्ति वाले क्षेत्रों को जाते हैं। वे दूसरे देश से राष्ट्रीय आय को बढ़ा देते हैं और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आकार में वृद्धि करते हैं। (ii) वे साधनों के उपयोग की कुशलता को बढ़ा सकते हैं और इस प्रकार सर्वत्र आय के सृजन की मात्रा को बढ़ाते हैं और इसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आकार में भी वृद्धि हो जाती है।

(३) साधनों के आवागमन माँग के स्वभाव को भी और इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा को प्रभावित करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से इस बारे में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है कि बढ़ी हुई साधन-गतिशीलता का व्यापार की मात्रा पर जो प्रभाव पड़ता है

---

1 "Variations which would increase price discrepancies will be counteracted both by a change in trade, which directly affects commodity prices and indirectly factor prices, and by a change of factor movements, which affects the latter prices directly and former indirectly The tendency towards price equalisation thus operates in two ways"—*Ibid*, p 170

उसका स्वभाव क्या होगा। सिद्धान्ततः यह साधन कीमतो और वस्तु कीमतों को समान बनावेगी और इस प्रकार व्यापार को समाप्त करने का कार्य करेगी। किन्तु व्यवहार में वह व्यापार की मात्रा को बढा सकती है बशर्ते उसका उपर्युक्त तीनों घटकों पर प्रभाव सकारात्मक (Positive) हो।

(II) व्यापार के परिवर्तनो का साधन-आवागमनो पर प्रभाव—

अब हम इस प्रश्न पर विचार करेगे कि व्यापार मे परिवर्तन होने का साधन सम्बन्धी आवागमनो पर क्या प्रभाव पडेगा। सिद्धान्ततः, वस्तुओ के आवागमन मे (अर्थात् व्यापार की मात्रा) म वृद्धि वस्तु कीमतो और साधन कीमतो को भी समान बनायेगी तथा ऐसी साम्यता स्थापित होने पर साधन आवागमन रुक जायेगा। दूसरी ओर, यह भी सम्भव है कि अनुपयुक्त क्षेत्र यातायात के साधनो मे सुधार के फलस्वरूप उपयुक्त क्षेत्र बन जायें और अधिक श्रम व पूंजी को आकर्षित करने लगें। यदि ऐसा हुआ, तो साधनो के आवागमन बढ जायेगे।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और उत्पत्ति-साधनों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता परस्पर पूरक हैं, स्थानापन्न नहीं

अर्द्ध-विकसित देशो की विशेषतायें एव समस्यायें—

आधुनिक विश्व को मोटे रूप से दो भागो मे बाँटा जा सकता है—विकसित, एव अर्द्ध विकसित। यह विभाजन प्राय प्रति व्यक्ति औसत आय पर आधारित होता है। चूंकि प्रति व्यक्ति आय का कोई निश्चित आकार नहीं होता, इसलिये विभाजन रेखा भी निश्चित और स्पष्ट नहीं होती। सामान्यत सम्पूर्ण पश्चिमी ससार (कुछ पूर्वी यूरोपीय देशो को छोडते हुए), सम्पूर्ण उत्तरी अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, जापान और रूस आदि विकसित क्षेत्र है किन्तु शेष विश्व, जिसमे सभी एशियाई देश (जापान को छोडते हुए), सम्पूर्ण अफ्रीका (द० अफ्रीकी सघ को छोडते हुए) और लगभग सभी लैटिन अमेरिकी देश सम्मिलित है, अर्द्ध-विकसित कहलाता है। स्वय अर्द्ध विकसित देशो मे भी प्रति व्यक्ति आय के सम्बन्ध मे परस्पर महत्वपूर्ण भिन्नताये पायी जाती है। किन्तु इनकी निम्नलिखित सामान्य विशेषतायें (Common features) भी हैं —

(१) इन देशो मे अधिकाश लोग बहुत दरिद्र है और वह जीवन की बुनियादी आवश्यकतायें भी पूरी नहीं कर सकते।

(२) उनकी आय बहुत ही न्यून है और अधिकाश के पास कोई बचत नहीं होती।

(३) राष्ट्रीय आय का एक मामूली अनुपात (लगभग ५% से ७% तक) ही विनियोजन मे स्तेमाल किया जाता है।

(४) अधिकाश श्रमिक, प्राय हाथ पैरा, गे ही, निष्कर्षण उद्योगो (Extractive industries) मे कार्य करते है। उनके औजार, यदि कोई हैं, प्राचीन

और अपर्याप्त होते है। वे जीवन निर्वाह के लिए प्राय अनाज ही उत्पन्न करते है।

(५) उनके प्रसाधन प्राय अज्ञात होते है और जो प्रसाधन ज्ञात (Known) है भी उनका शोषण नही होने पाता है।

(६) चीन के अतिरिक्त सभी अर्द्ध-विकसित देश कुछ वर्ष पूर्व तक पश्चिम के प्रगतिशील देशों के उपनिवेशवादी प्रभाव के अन्तर्गत थे।

अर्द्ध-विकसित देशों की सहायता के दो रूप—

अनेक अर्द्ध-विकसित देशों ने अभी हाल मे ही स्वतन्त्रता प्राप्त की है। अब वे अपनी अर्द्ध-व्यवस्थाओं का शीघ्र से शीघ्र विकास करना चाहते है, जिससे उनकी सर्दैव वृद्धिशील जनसख्या के लिए पर्याप्त जीवन-निर्वाह सामग्री उपलब्ध हो सके और उनका जीवन स्तर ऊँचा हो सके। किन्तु उन्होंने अपने उत्पादन साधनों के भण्डार में एक बात का घोर अभाव अनुभव किया है। यह अभाव है पूँजी का और तकनीकी ज्ञान का। वे अपना औद्योगीकरण करना चाहते हैं और इस सम्बन्ध में प्रगतिशील पश्चिमी देशों से सहायता की अपेक्षा रखते है।

इस सहायता के दो स्वरूप हो सकते हैं—(i) उत्पादक-साधनों का आवास-प्रवास (Factor Movements) इस स्वरूप के अन्तर्गत कुछ उत्पादक साधनों का, जो कि अर्द्ध-विकसित देशों में अपर्याप्त है अथवा बिल्कुल ही अनुपस्थित हे (जैसे—पूँजी, कौशल, बुनियादी कच्चे माल आदि) प्रवास-प्रवास होता है, एव (ii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade or Commodity Movements) इसके द्वारा अर्द्ध-विकसित देश ऐसे साधन, जो कि उनके यहाँ उपलब्ध नही है या अपर्याप्त है, अपने निर्यातों के द्वारा भुगतान करके, प्राप्त कर सकते है। अत हमारे सामने समस्या यह निश्चय करने की है कि किस सीमा तक द्वितीय विकल्प अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार या वस्तु आवागमन पहल विकल्प अर्थात् साधन-आवागमन का स्थानापन्न (Substitute) हो सकता है।

वह सीमा जहाँ तक 'व्यापार' साधनों की गतिशीलता का स्थानापन्न है—

वस्तुओं मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को उत्पत्ति-साधनों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता का स्थानापन्न माना जा सकता है। किन्तु इसकी दो सीमायें हैं—प्रथम, व्यापार की मात्रा इतनी पर्याप्त और अर्द्ध-विकसित देशो के लिए इतनी लाभदायक होनी चाहिए कि वे औद्योगीकरण के लिए आवश्यक आपूर्तियाँ (Essential supplies) प्राप्त कर सकें, और द्वितीय, व्यापार द्वारा यह परिणाम सम्भव होना चाहिए जो कि अमेरिका, कनाडा आदि मे विस्तृत फालतू भू-खण्डो को घेरने के लिए, अर्द्ध-विकसित देशो से अतिरिक्त श्रम (Surplus labour) के बड़े पैमाने पर होने वाले आवास प्रवास द्वारा सम्भव है। स्पष्टत द्वितीय शर्त एक राजनैतिक शर्त है, जिसका पूरा होना सकीर्ण राष्ट्रवाद के वर्तमान युग मे कठिन है। यही नही, यह भी सदेहप्रद है

कि क्या देशों के दो वर्गों के बीच विदेशी व्यापार कभी भी वही परिणाम दिखला सकेगा, जोकि एक देश से दूसरे देश को अतिरिक्त श्रम के आवास-प्रवास द्वारा दिखाया जा सकता है।

उत्पत्ति साधनों का प्रवास कहाँ तक सम्भव है ?

अर्द्ध-विकसित देशों की औद्योगिक देश बनने और इस प्रकार कम से कम समय के भीतर अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठाने की इच्छा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अतिरिक्त एक अन्य ढङ्ग से अर्थात्, उत्पत्ति-साधनों के आवास-प्रवास द्वारा भी पूरी हो सकती है। सर्वप्रथम, निपुण श्रम और साज-सामान को लीजिए। निपुण श्रम (Skilled labour) विकसित देशों से अर्द्ध-विकसित देशों में जा सकता है और वहाँ बहुत ही सहायक प्रमाणित हो सकता है, क्योंकि इसके बल पर पिछड़े हुए देश औद्योगीकरण की लहर प्रारम्भ करने में समर्थ हो जायेंगे तथा कालान्तर में स्थानीय श्रम को इस योग्य बना सकेंगे कि जब विदेशों से आये हुए तकनीकी श्रमिक अपने देशों को लौटकर जाये तब वे उनका स्थान ग्रहण कर लें। किन्तु विदेशों से आने वाली पूँजी अर्द्ध-विकसित देशों में बनी रह सकती है यद्यपि उसे भी आयातक देश के नियमों के अनुसार कार्य करना होगा। हाँ, लाभ को अवश्य ही विदेशियों द्वारा अपने देश को प्रेषित किया जा सकेगा। यह भी सम्भव है कि प्रगतिशील देशों की सरकारें पिछड़े हुए देशों को औजार या बुनियादी उपभोग-वस्तुओं के रूप में पूँजी की ग्रान्ट दें और उनके श्रमिकों को तकनीकी प्रशिक्षण दें। पिछड़े हुए देशों को प्रगतिशील देशों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं (जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद आदि) द्वारा भी ऋण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार, भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी साधन विश्व के प्रायः प्रत्येक भाग में जा सकते हैं।

किन्तु उत्पत्ति-साधनों का एक प्रवास होते रहने की भी एक सीमा है। कारण, व्यावहारिक कठिनाइयाँ साधनों का एक सीमित मात्रा से अधिक प्रवास नहीं होने देती है। फलतः पिछड़े हुए देशों के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे आयात का आश्रय लें। आयातों का मूल्य चुकाने के लिए वे अपने निर्यात बढ़ाने का यत्न करते हैं। विदेशी मुद्रा के अभाव को दृष्टिगत रखते हुए वे आयात को न्यूनतम और निर्यात को अधिकतम रखना चाहते हैं किन्तु उनकी यह इच्छा पूरी नहीं होने पाती है। कारण, विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं का दबाव आयातों को कम नहीं होने देता। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पत्ति साधनों के प्रवास का एक अच्छा स्थानापन्न होता, तो उक्त सङ्कट उत्पन्न ही नहीं हो सकता था। अतः सङ्कट उदय होना इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि वस्तुओं में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पत्ति-साधनों के **अन्तर्राष्ट्रीय आवास प्रवास का एक अच्छा स्थानापन्न नहीं है।**

उपरोक्त परिस्थिति के लिए पर्याप्त कारण विद्यमान हैं। विकसित एवं अर्द्ध-विकसित देशों के मध्य विदेशी व्यापार का परिमाण (Volume) इतना पर्याप्त

नहीं होता कि पिछड़े हुए देश आयातों का भुगतान करने हेतु पर्याप्त विदेशी मुद्रा अर्जित कर सकें। निर्यात-आधिक्य (Exportable surplus) के छोटे होने के दो कारण है—(i) उनकी राष्ट्रीय आय कम है, और, (ii) उनकी उपभोग सम्बन्धी आवश्यकतायें उनकी सदा बढती हुई जनसख्याओ के सदर्भ मे निरन्तर बढ रही है। चूँकि राष्ट्रीय आय का आकार 'निर्यात-आधिक्य' की वृद्धि के लिए एक पूर्व-शर्त है और यह (निर्यात-आधिक्य का आकार) स्वय भी राष्ट्रीय आकार की वृद्धि के लिए एक पूर्व-शर्त होता है, इसलिए अनेक कुचक्र (Vicious circles) बन जाते हैं। नि सन्देह पिछडे हुए देशों की सरकारें निर्यातो की वृद्धि के लिए अधिक से अधिक सम्भव यत्न करती हैं किन्तु इतना होते हुये भी निर्यात धीमे-धीमे बढते हैं।

पूर्ति-पक्ष की कठिनाइयो के लिए तो क्या कहे, मांग पक्ष से भी कठिनाइयाँ उदय होती हैं। पिछडे हुए देशों मे परस्पर इस बात की प्रतियोगिता होती है कि वे अपने लिए अधिक से अधिक निर्यात बाजार प्राप्त करे। इस प्रतियोगिता के फल-स्वरूप व्यापार सम्बन्धी शर्तें (Terms of trade) उनके प्रतिकूल होने लगती हैं। कुछ पिछडे हुये देश तो प्रतियोगिता को सहन नहीं कर पाते और अलग रहने के लिए विवश हो जाते है। दूसरी ओर, प्रगतिशील देश प्राय लाभदायक शर्तें प्राप्त कर लेते हैं। कुछ प्रगतिशील देश अनेक वस्तुओ मे, जो कि पिछडे हुए देश उन्हे दे सकते है, भाग्यवश लगभग आत्म-निर्भर बने हुये हैं।

इस प्रकार, चूँकि मांग दुर्बल और आपूर्ति बेलोच है, इसलिए व्यापार की शर्तें अनिवार्यत प्रगतिशील देशो के पक्ष मे रहती हैं। अनेक दशाओ मे देखा गया है कि विकसित देश पिछडे हुए देशो को जो सहायता देते है उसका अधिकाश भाग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे इनकी हानि के द्वारा निष्प्रभावित हो जाता है। अत. यदि प्रगतिशील देश उदार बन कर अर्द्ध-विकसित देशो के साथ सुगम शर्तों पर व्यापार करने को तत्पर हो जाये, तो यह आशा कर सकते हैं कि इन देशो को जिस विदेशी विनिमय-सकट का सामना करना पडता है उसमे कुछ कमी हो जायेगी।

उपसंहार—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दो देशो के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पत्ति साधनों के आवास-प्रवास का स्थानापन्न नहीं है। यह तो एक दूसरे के पूरक हैं, दोनों ही आवश्यक है और ध्यान देने योग्य हैं।

परीक्षा प्रश्न :

१ 'साधन आवागमनों' से क्या आशय है ? वस्तु आवागमनों से इनका सम्बन्ध दर्शाइये।

[What do you understand by the phrase 'Factor Movements' ?

Demonstrate the relation between factor movements and commodity movements]

२ "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिवर्तनों का अध्ययन करते समय कीमत-तुल्यता स्थापित करने वाली प्रवृत्तियों को उचित महत्त्व देना चाहिए'—इस महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

["The tendencies towards price equalisation should be given proper emphasis in any study of variations of international trade ?" Explain what should be the proper emphasis]

तृतीय खण्ड

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मौद्रिक पहलू

[THE MONETARY ASPECTS OF INTERNATIONAL TRADE]

विद्वानों के विचार—

(१) सैमुअलसन (Semuelson)—' उन्नीसवीं शताब्दी का विदेशी ऋण लेन-देन दोनों प्रकार से कल्याणप्रद था—इससे उसे लाभ हुआ जिसे ऋण मिला और उसको भी लाभ हुआ जिसने ऋण दिया। नि सन्देह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एव वित्त प्रबन्ध सदा ही इतनी सहज गति से नहीं चला क्योकि कुछ विनियोग अविवेकपूर्ण प्रमाणित हुए। उपनिवेशो की राजनैतिक समस्याओ तथा राष्ट्रवाद ने स्थिति को जटिल बना दिया, तथा सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रथम महायुद्ध के बाद मन्द होती हुई अन्तत टूट गई।"

[Nmteenth-century foreign lending was twice blessed : it blessed him who gave and him who received Of course international trade and finance did not always operate quite so smoothly, some investments proved unwise. Political problems of colonies and nationalism complicated the situation And the whole process went away and broke down after World War I "]

(२) नर्कसी (Nurksee)— 'हमारा सामान्य निष्कर्ष यह है कि विनिमय दरो मे कोई परिवर्तन करना उचित है या नही, इसका निर्णय मुख्यत. भुगतान सन्तुलन के सन्दर्भ मे ही करना चाहिए। एक आधिक्य भुगतान सन्तुलन वाले देश को कभी भी अवमूल्यन नही करना चाहिए, उसे तो करैन्सी के मूल्य मे वृद्धि (Appreciation) करनी चाहिए। किन्तु जब भुगतान सन्तुलन निरन्तर घाटा दिखाये केवल तब ही अवमूल्यन के लिये राय दी जानी चाहिए। हाँ, कुछ विशेष दशाओं मे, भुगतान सन्तुलन मे साम्यता होने पर भी, अवमूल्यन को उचित ठहराया जा सकता है।"

["Our general conclusion is that the balance of payments must be the chief criterion for any changes in exchange rates A country with a surplus in its balance of payments should never resort to devaluation, on the country, it might be asked to appreciate its currency Only when a country's balance shows a persistent deficit can devaluation be approved, though in special cases, as we have seen it may be desirable to permit devaluation even if the balance of payments is apparently in equilibrium "]

१६

विदेशी भुगतान के साधन एवं ढङ्ग

(Means and Methods of Foreign Payments)

परिचय —

अन्तर्राष्ट्रीय ऋण ग्रस्तता (अर्थात् एक देश की अन्य देशो के प्रति देयता) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा एक देश से दूसरे देश को विभिन्न प्रकार की सम्पत्तियो के निरन्तर प्रवाहित होने के कारण उदय होती है और यह कार्य मौद्रिक प्रणाली (Monetary Mechanism) का है कि इसे दोनो (लेनदार एव देनदार) देशो के लिए सबसे सुविधाजनक तरीके मे निपटवाय। इस कार्य मे प्रमुख कठिनाई स्पष्टत यह है कि प्रत्येक राष्ट्रजन स्वदेश की करैंसी को प्राथमिकता देता है। ऐसी प्राथमिकता के कई कारण होते है—प्रथम, वे स्वदेशी मुद्रा से भली-भाँति परिचित होते हैं और इसमे खरे-खोटे की पहचान कर सकते है। दूसरे, स्वदेशी करैंसी का मूल्य स्थायी (stable) रहता है, एव तीसरे विधिग्राह्य सम्बन्धी नियमो (legal tender laws) के कारण, जो कि देश के निवासियो को ऋणो के भुगतान मे उनसे स्वदेशी करैंसी लेने पर विवश करते है, उन्हे स्वदेशी मुद्रा मे अधिक विश्वास होता है। प्राथमिकता की इस भावना के फलस्वरूप ही विदेशी विनिमय की समस्या उत्पन्न होती है। प्रस्तुत खण्ड के विभिन्न अध्यायो मे हम यह देखेंगे कि मौद्रिक प्रणाली इस समस्या को कैसे हल करती है।

विदेशी भुगतान की आवश्यकता

विदेशी भुगतान की आवश्यकता स्वाभाविक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो का परिणाम है। इन व्यवहारो के कारण ही एक देश के निवासी दूसरे देश के निवासियो को भुगतान करते है देश के राष्ट्रजनो और सरकार पर विभिन्न खातो मे द्रव्य देने का भार पडता है और इसके निवटारे के लिए उन्हे द्रव्य भेजना (remit) पडता है। ऐसे विप्रेषो के लिये यह आवश्यक है कि एक देश के द्रव्य को दूसरे देशो के द्रव्य से बदलने की व्यवस्था की जाय।

विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार—

देशो के मध्य द्रव्य के विप्रेषण की आवश्यकता जिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो से उदय होती है, उन्हे निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है —

(१) **वस्तुगत व्यवहार** (Merchandise Transactions)—देशो के मध्य होने वाले सबसे स्पष्ट और सामान्य प्रकार के व्यवहार वस्तुओ के आवागमन से सम्बन्धित है। आयातो के लिये विदेशो को भुगतान करने का दायित्व आता है किन्तु निर्यातो के बदले मे विदेशो से भुगतान प्राप्त करने का अधिकार मिलता है। वस्तुओ के अतिरिक्त, बहुमूल्य धातुओ का भी आयात और निर्यात किया जाता है। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के पश्चात् अनेक देशो के मुद्रा अधिकारियो ने सोने और चाँदी के आयात और निर्यात को बहुत ही सीमित कर दिया है। लेकिन, जब कभी इन धातुओ का आयात किया जाता है ता इनके लिए आयातक देश पर भुगतान करने की जिम्मेदारी आती है और जब इनका निर्यात किया जाता है, तो उन भुगतान पाने का अधिकार मिलता है। [उल्लेखनीय है कि जब सोने का आवागमन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली के एक अङ्ग के रूप मे होता है, तो उसे इस श्रेणी मे सम्मिलित नही करते।]

(२) **पूँजीगत व्यवहार** (Capital Transactions)—पूँजी के आवागमनो से भी देशो के मध्य विप्रेष उदय होते है। ऐसे आवागमन दीर्घकालीन हो सकते है या अल्पकालीन। (अ) **दीर्घकालीन आवागमन**—एक देश मे रहने वाले व्यक्ति तथा वहाँ की सस्थायें विदेशी बाड्स, सिक्योरिटीज शेयर्स एव अन्य दीर्घकालीन प्रतिभूतियाँ खरीदती हैं। एक सरकार भी दूसरी सरकार को ऋण देती है। एक देश के निवासी अन्य देशो मे भूमि, भवन एव अन्य सम्पत्तियो का क्रय करते हैं। भूतकाल मे दिये गये ऋणों को लौटाया जाता है। विदेशियो से स्वदेश की सस्थाओ के शेयर आदि पुनर्क्रय किये जाते हैं। इन सब कार्यकलापो के कारण एक देश से दूसरे देश को भुगतान भेजने (अथवा विप्रेष) की आवश्यकता उदय होती है। **(ब) अल्पकालीन आवागमन**—पूँजी के अल्पकालीन आवागमनो मे एक देश के निवासियो द्वारा दूसरे देश मे अल्पकालीन प्रतिभूतियो का क्रय करना सम्मिलित है। एक देश के राष्ट्रजन विदेशी बैंको मे द्रव्य जमा करते है। इस प्रकार के पूँजी-आवागमन विभिन्न देशो मे विभिन्न ब्याज-दरें प्रचलित होने के फलस्वरूप उदय होते है और इनके कारण भी द्रव्य भेजने-मगाने की अर्थात् विप्रेषों की आवश्यकता उत्पन्न होती है।

(३) **सेवायें एवं अन्य व्यवहार** (Services and other transaction)—एक देश के लोग विदेशी एजेन्सियो की विभिन्न प्रकार की सेवाओ का प्रयोग करते हैं। जैसे, एक देश की बैंङ्किग, शिपिंग, इन्श्योरेन्स एव अन्य कम्पनियाँ दूसरे देशो के राष्ट्रजनो को सेवायें प्रदान करती है और इन सेवाओ के लिए पुरस्कार पाने की अधिकारी बनती हैं। पर्यटक एव विद्यार्थी विदेशो को जाते है और वहाँ द्रव्य खर्च करते हैं। एक देश मे रहने वाले विदेशी अपनी आय का कुछ भाग अपने देशो को भेजते हैं। एक देश के राष्ट्रजन (एव सस्थायें) विदेशो को दान एव उपहार देते हैं। इन सब व्यवहारो के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान या विप्रेषो की आवश्यकता उदय

होती है। [इस श्रेणी के व्यवहारो म किये गये विप्रेष प्राय अदृश्य स्वभाव (invisible nature) के होते है, क्योंकि उनका पूरा रिकार्ड नही रखा जाता तथा इनके बारे मे सम्पूर्ण सूचना उपलब्ध नही होती है।]

विदेशी विनिमय की समस्या

जब कोई व्यक्ति एक ही देश म रहने वाले अन्य व्यक्ति को भुगतान करता है, तो वह इसके लिए देश मे ही प्रचलित विभिन्न प्रकार की मुद्राओ मे से किसी का भी प्रयोग कर सकता है। उदाहरणार्थ, जबलपुर म रहने वाला व्यक्ति आगरे मे रहने वाले व्यक्ति को रुपया सिक्को म, करैन्सी नोटो मे या एक भारतीय बैंक पर लिखे गये चैक के रूप म भुगतान कर सकता है। ऐसे भुगतानो म कोई समस्या पैदा नही होती केवल द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने की समस्या ही उठती है।

लेकिन, जब ऋणी और लेनदार अलग अलग देशो मे निवास करते है तब स्थिति कुछ भिन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ जब जबलपुर का व्यापारी लन्दन के व्यापारी से वस्तुये आयात करता है, तो वह रुपयो मे भुगतान कर सकता है लेकिन रुपया लन्दन के व्यापारी के लिए कोई उपयोग नही रखते, क्योंकि यह इगलैंड म विधि ग्राह्य नही हैं। अत दोनो पक्षो के लिए सन्तोषप्रद भुगतान तब ही सम्भव है जबकि रुपयो को पौंडो मे बदलने की कोई व्यवस्था हो। या तो जबलपुर का व्यापारी पहले अपने रुपयों को पौंड मे बदले और फिर लेनदार का भेजे अथवा लन्दन का व्यापारी रुपयो मे भुगतान स्वीकार कर ले और फिर अपने देश की मुद्रा मे परिणत कराले। अन्य शब्दो मे एक सुनियोजित विदेशी विनिमय व्यवस्था (foreign exchange mechanism) होना आवश्यक है। इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों मे द्रव्य के स्थानान्तरण की समस्या के साथ ही साथ द्रव्य परिवर्तन की समस्या भी निहित है।

विदेशों को भुगतान भेजने के ढग

विदेशो को भुगतान भेजने के निम्नलिखित ढङ्ग है —

(१) धातुओं के स्थानान्तरण द्वारा—जैसा कि इस खण्ड के एक आगे अध्याय मे बताया है, स्वर्णमान के अन्तर्गत विदेशी को भुगतान करने मे स्वर्ण पिण्ड या सिक्का प्रयोग किया जा सकता था। किन्तु स्वर्ण भेजने की लागत और असुविधा इतनी अधिक थी कि इस ढग का व्यापक रूप से प्रयोग नही हो सका। प्राय बैंङ्क ही अपनी अभाव ग्रस्त शाखाओ की सहायता के लिए, एक देश से दूसरे देश को अतिरिक्त कोष भेजते समय, स्वर्ण का प्रयोग करते थे। इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो के एक सामान्य साधन के रूप मे स्वर्ण का प्रयोग कभी नही हुआ।

(२) नगदी के स्थानान्तरण द्वारा—कभी-कभी ऋणी अपने देश की मुद्रा मे ही भुगतान कर सकता है और लेनदार उसे किसी बैंक से अपने देश की मुद्रा मे बदलवा सकता है अथवा ऋणी स्वय ही किसी बैंक को अपने देश की मुद्रा देकर विदेशी लेनदार के देश की मुद्रा प्राप्त कर सकता है और फिर लेनदार को भेज

सकता है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान जो अपार राशि मे होते है इस ढग से निबटाये जाने सम्भव नही है।[1]

(२) साख पत्रों के स्थानान्तरण द्वारा—विदेशी भुगतान का सबसे प्रचलित ढग साख पत्रों के प्रयोग का है। जब कोई व्यक्ति किसी बैंक से एक विदेशी करेन्सी खरीदता है तो उसे स्वदेशी मुद्रा के बदले मे एक साख-पत्र प्राप्त होता है। यह साख-पत्र उसे अन्य देश की मुद्रा पाने का अधिकार देता है। साख-पत्र का बचान कर विदेशी लेनदार को भेज दिया जाता है। इस प्रकार, बैंको से उपलब्ध होने वाले साखपत्र जो कि विदेशों मे देय (payable) होते है, **विदेशी करेंसी की पूर्ति'** का प्रतीक है और विदेशी भुगतानों के हेतु इनका क्रय **'विदेशी करेंन्सी के लिए माँग'** का प्रतीक है।

विदेशी भुगतान के साधन

साख-पत्र विभिन्न प्रकार के हो सकते है। विदेशी भुगतान के लिए प्रयोग किए जाने वाले इन साधनों का विवरण नीचे दिया जाता है।

(१) **बिल्स ऑफ एक्सचेन्ज** (Bills of Exchange)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों म भुगतान का सबसे प्राचीन और लोकप्रिय साधन बिल्स ऑफ एक्सचेन्ज है। लेनदार इसे लिखकर ऋणी का देता है और ऋणी इस पर स्वीकृति देकर वापस भेज देत है। तत्पश्चात् लेखक (लेनदार) यह बिल अपने ही देश मे किसी अन्य व्यक्ति को, जिसे उतनी ही रकम ऋणी के देश के किसी व्यक्ति को चुकानी हो बेच देता है। क्रेता उसे (बिल को) अपने लेनदार के पास भेज देता है जो फिर इसका रुपया ऋणी (ड्रायी) से परिपक्वता (due date) पर सग्रह कर लेता है।

प्राय बिलों को इनके देनदार (Drawee) की ओर से सस्थाओ (जैसे बैंक्स नै . नि गृह) द्वारा स्वीकार किया जाता है, क्योंकि इनके हस्ताक्षर विदेशी .ारो को कम परिचित यक्तियो के हस्ताक्षरो की तुलना म, । र सुगमतापूर्वक स्वीकार्य होते है। जब बिल पर स्वीकृति हो जाय और वह लेखक के पास लौटकर आ जाय, तब लेखक उसे किसी अन्य व्यक्ति को बेचने के बजाय किसी बैंक मे भुना सकता है और बैंक इसे या तो अन्य देश म अपनी शाखा को सग्रह के लिए भेज देता है अथवा किसी अन्य व्यक्ति को, जिसे अन्य देश मे भुगतान करने के लिए इसकी आवश्यकता हो, बेच सकता है।

उल्लेखनीय है कि बिल ऑफ एक्सचेन्ज के द्वारा विदेशी भुगतान सम्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय मे एक दिशा मे प्रत्येक भुगतान दूसरी दिशा म उतनी ही रकम के किसी अन्य भुगतान के साथ सन्तुलित हो जाय।

---

[1] Haberler : *The Theory of International Trade*, p 15

(२) बैंक ड्राफ्ट्स और टैलीग्राफिक ट्रान्सफर्स (Bank Drafts and Telegraphic Transfers)—बैंक ड्राफ्ट बिल' के सदृश्य होता है और इसे एक बैंकर द्वारा दूसरे बैंकर पर लिखा जाता है। ऋणी अपने बैंक से यह अनुरोध कर सकता है कि वह उसे ऋण की रकम के लिए एक ड्राफ्ट बेच दे। ड्राफ्ट लेकर वह फिर इसे अपने विदेशी लेनदार को भेज देता है, जो इसकी रकम अपने देश में इस बैंक की शाखा से अथवा अन्य बैंक से जिसके साथ निर्गमित करने वाले बैंक (issuing bank) के व्यापारिक सम्बन्ध हो, संग्रह कर लेता है। भुगतान करने वाला बैंक निर्गमक बैंक (issuing bank) से रकम पाने का अधिकारी हो जाता है और यह रकम उसे एक विपरीत दिशाई ड्राफ्ट या अन्य साधन द्वारा मिल सकती है।

चूंकि बैंक ड्राफ्ट साधारण डाक से मँगाया-भेजा जाता है, जिसमें बहुत समय लग जाता है और इस बीच कोष अटके पड़े रहते है, इसलिए टेलीग्राफिक या केबिल ट्रांसफर द्वारा भुगतान करना अधिक अच्छा साधन समझा जाता है, क्योंकि इसमें समय कम लगता है। ट्रांसफर बेचने वाला बैंक अन्य देश में अपनी शाखा को तार द्वारा यह आदेश देता है कि एक विशेष व्यक्ति को अमुक रकम चुका दी जाय। इस प्रकार प्राय तीन दिन के भीतर ही लेनदार को रकम मिल जाती है।

(३) चैक (Cheque)—अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में चैकों का महत्त्व और प्रयोग बहुत बढ गया है। विदेशों में अच्छी ख्याति रखने वाली एक सुपरिचित फर्म अपने विदेशी लेनदार को चैक भेजकर भुगतान कर सकती है। यह चैक फर्म द्वारा अपने ही बैंक पर लिखा जाता है किन्तु प्राप्तकर्ता (payee) इसका अपने देश की किसी बैंक से अपनी करैंसी में ही भुगतान प्राप्त कर लेता है। क्रयकर्ता बैंक इस रकम को (ऋणी के देश के) ड्रावी बैंक से पाने का अधिकारी हो जाता है और प्राय एक विपरीत दिशाई प्रेषण द्वारा उनका आपस का खाता चुक जाता है। एक देश के बैंकों पर लिखे गये चैक अन्य देश के बैंकों द्वारा जबकि दोनों देशों के मध्य घनिष्ठ आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध हों (जैसे भारत और नेपाल अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा) प्राय स्वतन्त्रतापूर्वक प्रतिष्ठित (honour) किये जाते है।

(४) साख-पत्र (Letter of Credit)—साख पत्र वह प्रलेख है जो एक व्यक्ति को निर्गमक बैंक पर एक निर्दिष्ट रकम का बिल या चैक लिखने का अधिकार देता है। समुचित प्रतिभूति देकर आयातकर्त्ता किसी भी बैंक से अपने पक्ष में साख खुलवा सकता है। जब ऐसा किया जाता है तब बैंक अपने ग्राहक (आयातकर्त्ता) को एक साख-पत्र जारी कर देता है और इसके आधार पर आयातकर्त्ता उस बैंक पर चैक लिखकर (अथवा निर्यातकर्त्ता बिल लिखकर) भुगतान ले-दे सकते है। चूँकि भुगतान की जिम्मेदारी यहाँ बैंक ने स्वीकार की हुई है, इसलिए माल का लदान कराने में निर्यातकर्त्ता को तनिक भी संकोच नहीं होता।

विदेश जाने वाले पर्यटकों के लिए भी लैटर ऑफ क्रैडिट बहुत उपयोगी होते है। पूरा मूल्य और कमीशन मिलने पर बैंक पर्यटक के पक्ष में एक साख-पत्र

जारी कर देता है जिसके आधार पर वह उस बैंक की विदेश स्थित शाखा (या एजेण्ट) पर चैक लिखकर रुपया प्राप्त कर सकता है।

(५) यात्री चैक (Travellers' Cheque)—विदेश जाने व्यक्तियों को बैंक यात्री चैक भी निर्गमित करते हैं। यात्री चैक एक बैंक द्वारा अपने को ही दिया हुआ यह आदेश है कि चैक में उल्लिखित व्यक्ति को एक निर्धारित रकम का भुगतान कर दिया जाय। जब व्यक्ति पूरा मूल्य और कमीशन बैंक में जमा करा देता है, तो बैंक द्वारा उसे यात्री चैक इश्यू कर दिया जाता है जिसे वह अपने विदेश भ्रमण के दौरान उस बैंक की विदेश स्थित शाखा या कारस्पान्डेन्ट बैंक (correspondent bank) में भुना सकता है। पहचान के लिए निर्गमन के समय ही चैक पर क्रेता के हस्ताक्षर ले लिए जाते हैं और भुनाते समय वह जो हस्ताक्षर करे उनसे इनका मिलान कर लिया जाता है। पश्चिमी देशों में यात्री चैक बहुत प्रचलित है।

विदेशी विनिमय बाजार
(*Foreign Exchange Market*)

विदेशी विनिमय बाजार का अर्थ—

जिस व्यक्ति के पास बेचने के लिए एक बिल ऑफ एक्सचेंज हो वह इसे प्रत्यक्ष रूप में नहीं बेचता, वरन् इस कार्य में एक बिल ब्रोकर (जो बिल को उसमें खरीद कराता है) अथवा एक बैंक (जो बिल को भुना देता है) की सहायता लेता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को बिल ऑफ एक्सचेंज खरीदना है वह स्वयं ही ऐसे व्यक्ति को तलाश नहीं करता जिसके पास बिल विक्रयार्थ हो वरन् वह किसी बैंक या बिल ब्रोकर के पास जाता है जो उसे बिल या बैंक ड्राफ्ट बेच देता है। इस प्रकार मध्यस्थों के कारण बिलों या ड्राफ्टों के क्रय विक्रय का कार्य बहुत सुगम हो जाता है। ध्यान रहे कि बिल या ड्राफ्ट स्वयं में विदेशी मुद्रा नहीं होते वरन् विदेशी मुद्रा पर अधिकार दिलाने वाले प्रपत्र होते हैं। विदेशी मुद्रा पर अधिकार दिलाने वाले प्रपत्रों का क्रय करने वालों, बेचने वालों एवं इसके मध्य मध्यस्थता करने वालों को सामूहिक रूप से 'विदेशी विनिमय बाजार' कहते हैं। विदेशी विनिमय बाजार कोई विशेष स्थान (जैसे—स्टाक एक्सचेंज) नहीं होता जहाँ कि क्रेता विक्रेता एक दूसरे के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आते हों और क्रय विक्रय करते हों वरन् यह एक ऐसा सम्पूर्ण क्षेत्र है जिसमें कि क्रेता और विक्रेता फैले हुए हैं कारण यातायात एवं संचार साधनों की प्रगति के फलस्वरूप अब उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क आवश्यक नहीं रह गया है।

स्वतन्त्र एवं प्रतिबन्धित विदेशी विनिमय बाजार—

आजकल विदेशी विनिमय बाजार स्वतन्त्र (free) नहीं है क्योंकि प्रायः सभी देशों में इनके कार्यकलापों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गए हैं। जैसे—मुद्रा अधिकारियों द्वारा विदेशी विनिमय की दरों पर नियन्त्रण रखा जाता है वे ही आयातकों में विदेशी करेंसी या आपूर्तियों (Supplies) का वितरण करते हैं और यह आदेश जारी करते हैं कि जो भी विदेशी करेंसी निर्यातक प्राप्त करें उसे केवल निर्दिष्ट व्यवहारियों (dealers

को ही वेचा जाय। विदेशी देशो मे ऋण लेने या ऋण देने पर भी प्रतिबन्ध लगे हुए है। हां, प्रथम महायुद्ध के पूर्व एव दो महायुद्धो के बीच के कुछ वर्षो मे विदेशी विनिमय बाजार स्वतन्त्ररूप से क्रियाशील थे। [सुगमता के लिए विदेशी विनिमय दरो के सिद्धान्त का अध्ययन एक स्वतन्त्र विनिमय बाजार के सन्दर्भ मे ही किया जायगा।]

विदेशी विनिमय के व्यौहारी—

विदेशी विनिमय बाजार मे व्यवहार करने वालो (dealers) को दो वर्गों मे बाँटा जा सकता है—(अ) सहायक व्यापार के रूप म विदेशी करेन्सी का क्रय और विक्रय करने वाले व्यौहारी एव (व) मुख्य व्यापार के रूप मे विदेशी करेंसी का क्रय विक्रय करने वाले व्यौहारी। प्रथम वर्ग म वस्तुओ के या विदेशी प्रतिभूतियो के क्रेता एव विक्रेता सम्मलित होते है किन्तु दूसरे वर्ग मे बैंक्स डिस्काउन्ट गृह, बिल ब्रोकर आदि आते है।

(१) बैंक्स—विदेशी विनिमय बाजार के सबसे महत्वपूर्ण व्यौहारी बैंक्स (Banks) होते है। विदेशी विनिमय म व्यवहार करने वाले बैंक्स विभिन्न देशो मे अपनी शाखाये रखते हैं। प्रत्यक शाखा पर पर्याप्त कोष रखा जाता है। यदि किसी देश मे बैंक की शाखा नहीं है तो वहा कोष किसी अन्य बैंक के पास, जो उसके एजेंट के रूप मे कार्य करने के लिये तत्पर हो, रखा जाता है। ऐसे बैंको को 'कोरस्पौन्डेन्ट बैंक्स" (correspondent banks) कहा जाता है। इस प्रकार विनिमय व्यवहार करने वाले बैंको की सेवाये अनेक शाखाओ और कोरस्पौन्डेन्ट्स के द्वारा सारे संसार मे उपलब्ध हो जाती है। ये बैंक्स बिलो का बेचने भुनाने तथा इन बिलो की रकमें संग्रह करते है एव बैंक ड्राफ्ट, टेलीग्राफिक ट्रान्सफर तथा अन्य साख-पत्रो का निर्गमन करते है। एक देश मे वहाँ किसी विनिमय बैंक के पास द्रव्य जमा कराके तथा विदेशी लेनदार को इसकी शाखा या कोरस्पौन्डेन्ट के द्वारा भुगतान करने से एक देश से दूसरे देश को द्रव्य का विप्रेषण सम्भव हो जाता है। स्मरण रहे कि विदेशी विप्रेषण के फलस्वरूप यदि एक केन्द्र (देश) मे बैंक के कोष बढते हैं, तो दूसरे केन्द्र (देश) म घटते हैं।

(२) बिलो के दलाल—यह लोग बिलो के क्रेताओं और विक्रेताओं के मध्य सम्पर्क स्थापित करते है। सम्भव है कि किसी व्यक्ति के पास कोई विदेशी बिल हो और उसे विदेशी-विनिमय-बाजार के विषय मे अधिक जानकारी न हो। ऐसी दशा मे वह अनुभवी एव कुशल बिल ब्रोकरो की सेवाओ का लाभ सहित प्रयोग कर सकता है। एक अनुभवी बिल-ब्रोकर उसे अधिक अनुकूल शर्ते दिलाने मे सहायक होता है। वह या तो स्वय ही बिल का क्रय कर लेता है। या इसे किसी बैंक से भुनवा देता है; और बाद मे अन्य व्यापारियो को या बैंको को, जिन्हे विदेशो मे भुगतान भेजना हो, बेच देता है। स्मरण रहे कि बिल-ब्रोकर एक मध्यस्थ मात्र है जो कमीशन पर क्रय-विक्रय करते रहते है, वह बैंको की भांति, जोकि खुद ही ड्राफ्ट और बिल लिखा करते हैं, व्यौहारी नही होते।

(३) स्वीकृति गृह— विदेशी विप्रेषण कार्य मे स्वीकृति गृह (Acceptance House) भी सहायता करते है। एक विप्रेषकर्त्ता, जिसे विदेशी देशों में कोई नहीं जानता या कम जानता है, किसी स्वीकृति-गृह से साख प्राप्त कर सकता है। जब ऐसा करता है, तो सम्बन्धित स्वीकृति गृह उस पर लिखे गये बिल को उसकी ओर से स्वीकृत कर लेता है। स्वाभावत ऐसा बिल सुगमतापूर्वक विपणन-योग्य (readily marketable) होता है।

विदेशी विनिमय बाजार में ग्राहक—

जो लोग अपना व्यापार (विदेशी करेंसी के क्रय अथवा विक्रय का व्यापार) बाजार मे लाते है। इन्हे निम्नलिखित वर्गों मे बाँट सकते है :—

(अ) सबसे महत्त्वपूर्ण ग्राहक-वर्ग वस्तुओं का आयात और निर्यात करने वाले व्यापारियो का है। एक देश मे निर्यात कर्त्ता (exporters) के पास बेचने या भुनाने के लिये बिल्स होते है, जिन्हें उन्होंने अपने विदेशी देनदारों से प्राप्त किया है। इस प्रकार वे विदेशी करेंसी के विक्रेता हैं। दूसरी ओर आयातकर्त्ता (importers) बिलो या ड्राफ्टो का क्रय करते है क्योंकि उन्हे विदेशी लेनदारो को भुगतान करना है। इस तरह यह लोग विदेशी करेंसी के क्रेता है।

(ब) देश में आने वाले और देश से बाहर जाने वाले यात्री भी विदेशी करेंसी मे क्रेता-विक्रेता होते हैं। विदेशी पर्यटक अपने साथ यात्री-चैक, साख-पत्र एव अन्य प्रलेख लाते हैं और इन्हे देश मे बैंकों को बेचते है। किन्तु देश से बाहर जाने वाले पर्यटक विदेशी करेंसी सम्बन्धी ऐसे अधिकार पत्रो को खरीदते है।

(स) विदेशी देशों में ऋण लेने और देने वाले व्यक्ति ग्राहकों के तीसरे वर्ग मे सम्मलित किये जाते है। जो व्यक्ति विदेशी स्टॉक एव प्रतिभूतियाँ खरीदने के इच्छुक हैं या जिनके पास अन्य देशो की बैंको मे जमा कराने हेतु अल्पकालीन कोष होते है वह विनिमय बाजार मे विदेशी करेंसी सम्बन्धी अधिकारो (claims on foreign currency) का क्रय करते है और जो व्यक्ति विदेशी देशो से उधार लेते हैं, उनके पास बेचने के लिये विदेशी करेंसी होती है। व्यक्ति एव संस्थायें (जैसे-बैंक्स, ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनियां), जो विदेशी पूँजी बाजारो मे ऋण प्राप्त करना चाहती है, अपने एजेण्टो के द्वारा वहाँ बॉड्स और शेयर्स बेच कर ऋण प्राप्त करती हैं। इससे उन्हे विदेशी करेंसी पर अधिकार मिल जाता है जिसे बाद मे वह अपने देश के विनिमय बाजार में बेच देती हैं।

(द) सरकारें भी विनिमय बाजार मे व्यापार करती हैं। प्राय एक सरकार अपने निजी प्रयोग के लिये वस्तुओ का आयात करती है और इन वस्तुओं का भुगतान करने के हेतु विदेशी करेंसी खरीदना आवश्यक हो जाता है। यही नही, एक सरकार दूसरी सरकार को ऋण भी देती है। इससे उधार लेने वाली सरकार को उधार देने वाले देश की करेंसी प्राप्त हो जाती है जिसे बाद मे उधार लेने वाले देश के विनिमय बाजार मे बेचने के लिए प्रस्तावित (offer) किया जाता है।

(य) स्वतन्त्र विनिमय बाजार में सटोरिये (speculators) भी उपस्थित होते है और विदेशी करेंसी का क्रय-विक्रय करते है। लेकिन उनका उद्देश्य विदेशी करेंसी का मूल्य घटने-बढ़ने की सम्भावनाओ से लाभ कमाना है, सामान्य ग्राहकों की भाँति, वास्तविक भुगतान लेना-देना नही है। जब विनिमय-दरों मे तेज उतार-चढाव होते है, तो उनके कार्यकलापो मे बहुत तेजी आ जाती है।

विदेशी भुगतान की कार्य विधि

अब हम यह देखेंगे कि विदेशी भुगतानो के सम्बन्ध म वास्तव मे क्या कार्य-विधि अपनाई जाती है। तथा बैंको और अन्य मध्यस्थो की क्या भूमिका होती है।

आयातकर्त्ता की दृष्टि से—

आयातकर्ता निम्नलिखित किसी भी तरीके द्वारा अपने निर्यातकर्त्ता को भुगतान कर सकता है —

(१) **डाक द्वारा करेंसी भेजना**—(अ) वह डाक द्वारा अपने देश की करेंसी भेज सकता है, जिसे निर्यातकर्त्ता अपने बैंक मे डिपोजिट कर देता है और बदले में बैंक उसके खाते में रकम उसके देश की मुद्रा मे क्रेडिट कर देता है। अथवा (ब) वह किसी बैंक या विनिमय-दलाल से निर्यातकर्त्ता के देश की करेंसी प्राप्त करके इसे डाक द्वारा निर्यातकर्त्ता को भेज सकता है। किन्तु इस तरीके द्वारा निपटाये जाने वाले विदेशी भुगतानो की मात्रा बहुत ही थोड़ी होती है।

(२) **चैक भेजना**—वह अपने देश मे किसी बैंक पर लिखे गये चैक को भेज सकता है, जिसे निर्यातकर्त्ता अपने देश मे अपनी बैंक मे जमा करा देता है। यह बैंक भेजने वाले के देश म अपने कोरस्पोन्डेन्ट बैंक को उस चैक को संग्रहार्थ प्रेषित कर देता है तथा इस प्रकार आयातकर्त्ता के देश मे 'क्रेडिट बेलेंस' प्राप्त कर लेता है।

(३) **बैंक ड्राफ्ट या टेलीग्राफिक ट्रान्सफर भेजना**—वह अपने बैंक से एक बैंक ड्राफ्ट क्रय करके डाक द्वारा लेनदार को भेज सकता है। लेनदार इसे अपने देश मे अपने बैंक मे जमा करा देता है और यह बैंक ड्राफ्ट बैंक के कोरस्पोन्डेन्ट बैंक से उस ड्राफ्ट का भुगतान संग्रह कर लेता है। [यदि तुरन्त भुगतान करना हो, तो बैंक ड्राफ्ट के बजाय टेलीग्राफिक ट्रान्सफर खरीदा जा सकता है।]

(४) **बिल क्रय करके भेजना**—निर्यातकर्त्ता के देश मे किसी अन्य व्यक्ति पर लिखा गया एक बिल जो उतनी ही रकम का हो जितनी कि उसे चुकानी है, किसी बैंक या बिल ब्रोकर से खरीद कर वह निर्यातकर्त्ता को भेज सकता है और फिर निर्यातकर्त्ता उस बिल का भुगतान बिल के स्वीकर्त्ता से अपने बैंक के द्वारा प्राप्त कर सकता है।

(५) **बिल पर स्वीकृति देना**—आयातकर्त्ता निर्यातकर्त्ता से स्वय पर एक बिल लिखने का अनुरोध कर सकता है। स्वीकृति के पश्चात निर्यातकर्त्ता उस बिल को अपने बैंक से भुना सकता है। भुनाने वाला बैंक इसे आयातकर्त्ता के देश मे स्थित अपने कोरस्पोन्डेन्ट को भेज देता है जो परिपक्वता पर इसका रुपया आयातकर्त्ता से

संग्रह कर लेता है। अथवा भुनाने वाला बैंक यह भी कर सकता है कि सम्बन्धित बिल उस देश में किसी आयातकर्त्ता को बेच दे। यह आयातकर्ता इसे अपने लेनदार को भेज देता है और लेनदार अपने बैंक से, बिल बेच कर रुपया प्राप्त कर लेता है। परिपक्वता पर यह बैंक इसका रुपया स्वीकर्त्ता से वसूल कर लेता है। इस कार्य विधि से सम्बन्धित बिचौलिये बैंक्स अपना साधारण कमीशन अर्जित कर लेते है और बिल भुनाते समय ब्याज काटकर बिल की रकम चुका देते है।

निर्यातकर्त्ता की दृष्टि से—

(१) साधारण ढङ्ग से बिल लिखना—यदि निर्यातकर्त्ता आयातकर्त्ता से भली-भाँति परिचित है, और उसे इसकी ईमानदारी और शोधक्षमता मे विश्वास है, तो वह वस्तु जहाज द्वारा भेज सकता है और साधारण रूप से उस पर बिल लिख सकता है। बाद मे वह इसे (बिल को) अपने बैंक मे भुना लेता है या स्वीकरण एव संग्रहण हेतु सौंप देता है।

(२) दस्तावेजी बिल लिखना—यदि निर्यातकर्त्ता को आयातकर्त्ता पर पूर्ण विश्वास नही हो, तो वह आयातकर्त्ता पर एक विशेष प्रकार का बिल लिख सकता है, जिसे 'स्वीकृति पर प्रलेखो की सुपुर्दगी वाला बिल' (Documents against Acceptance or D/A Bill) कहते हैं। इस दशा मे माल के अधिकार-पत्रो को, जिनके आधार पर आयातकर्त्ता जहाजी कम्पनी से माल छुडा सकेगा सीधे आयातकर्त्ता को न भेजकर बिल के साथ नत्थी करके किसी बैंक के द्वारा भेजा जाता है। यह बैंक बिल स्वीकार करने पर ही माल के अधिकार पत्र आयातकर्त्ता को देगा अन्यथा नही।

(३) यदि आयातकर्त्ता पर और भी कम विश्वास हो, तो निर्यातकर्त्ता उस पर 'भुगतान करने पर प्रलेखो की सुपुर्दगी वाला बिल' (Documents Against Payment or D/P Bill) लिखता है। ऐसी दशा मे आयातकर्त्ता को बैंक द्वारा माल के अधिकार पत्र तब ही सौंपे जायेंगे जब वह उस बिल का भुगतान कर दे।

(४) बैंक में साख खुलवाना—यदि आयातकर्त्ता पूर्णत अपरिचित व्यक्ति है, तो निर्यातकर्त्ता उससे किसी बैंक मे साख खोलने का आग्रह कर सकता है। यदि ऐसा कर दिया गया है, तो वह साख देने वाले बैंक पर बिल लिखेगा। तत्पश्चात् यह बिल साधारण रूप से भुनाया जाता है और भुनाने वाले बैंक के कोरस्पोण्डेन्ट बैंक द्वारा साख देने वाले बैंक से संग्रह कर लिया जाता है।

स्पष्टत विदेशी भुगतानो की व्यवस्था मे बैंकों की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे देनदारो और लेनदारो के बीच एक सम्पर्क कडी (connecting link) या मध्यस्थ (intermediary) का काम करते हैं। उनकी भूमिका (role) को निम्न प्रकार से सक्षिप्त किया जा सकता है—(अ) वे विदेशी विनिमय बिलो एव विदेशी करैंसी मे भुगतान होने वाले अन्य अधिकार पत्रो का क्रय-विक्रय

करते हैं (ब) ड्राफ्ट, टेलीग्राफिक ट्रान्सफर यात्री चैक आदि के प्रयोग द्वारा एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र को कोषो के स्थानान्तरण मे सहायता करते है, एव (स) विश्व के विदेशी विनिमय बाजारो से निकट सम्पर्क रखते हैं तथा अपने विशिष्ट ज्ञान और अनुभव से व्यापारियो के प्रेषण-कार्य को मितव्ययितापूर्वक सम्पन्न करा देते हैं। कभी-कभी ब्रोकरों और अन्य मध्यस्थों की सेवाओं का भी बिलों का क्रय विक्रय करने मे प्रयोग किया जाता है।

सरकारों तथा संस्थाओं के ऋण सम्बन्धी लेन-देन—

यदि कोई सरकार या सस्था किसी विदेशी देश मे ऋण लेना चाहती है, तो वह उस देश में अपने एजेन्ट द्वारा बाण्ड्स या सिक्यारिटीज बेच सकती है। इनका विक्रय धन विनिमय व्यवहार कराने वाले बैंक मे जमा हो जाता है। जब और जैसे आवश्यकता हो तब और वैसे ही यह धन बिलो या ड्राफ्टो द्वारा ऋणी के देश को स्थानान्तरित कर दिया जाता है। ऋणी चाहे तो उक्त धन को ऋण देने वाले देश से आयात करने मे खर्च कर सकता है। उधार देने वाले देश (lending country) मे किसी बैंक पर लिखे गये ड्राफ्ट प्राय अन्य देशो से व्यापारियो को भी स्वीकार्य होते है।

परीक्षा प्रश्न :

१ 'विदेशी विनिमय बाजार' से आप क्या समझते है? एक विदेशी विनिमय बाजार मे कौन-कौन व्यौहारी और ग्राहक होते है?

[What do you mean by the term 'Foreign Exchange Market'? Who are the dealers and customers in a foreign exchange market?]

२. वह विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार कौन कौन से है जिनमे विदेशी भुगतानो की आवश्यकता उत्पन्न होती है? ऐसे भुगतान करने के ढगो एव साधनों का वर्णन कीजिए।

[What are the different kinds of international transactions which necessitate foreign payments? Describe the means and methods adopted for making such payments]

१७

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान संतुलन

(Balance of International Payments)

परिचय—

एक देश के अनगिनती विदेशी व्यवहार जो उस देश से अन्य देशों को और अन्य देशों से उस देश को भुगतान की आवश्यकता उत्पन्न करते है, प्राय एक तालिका या खाते के रूप मे, जो कि 'अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सतुलन' कहलाता है, प्रस्तुत किये जाते हैं।

भुगतान-सतुलन का अर्थ

किसी देश का भुगतान सतुलन एक दी हुई अवधि के भीतर उसके समस्त आर्थिक व्यवहारो का जो कि देश और शेष विश्व के मध्य हुये हो, एक क्रमबद्ध विवरण है जिसमे इनके मौद्रिक मूल्य दिखाये जाते है। इसमे न केवल द्वि-पक्षी व्यवहार (two sided transactions) वरन एक पक्षी व्यवहार (one sided transactions) भी, जैसे उपहार युद्ध से हुई क्षति की पूर्ति का भुगतान, ऋण, ब्याज सम्बन्धी भुगतान आदि, सम्मिलित होने है।[1] प्रो० हैबरलर (Haberler) ने बताया है कि भुगतान सतुलन शब्द कई विभिन्न अर्थो मे प्रयोग किया जाता है, जिनसे भ्रम होने का भय है। अत इन विभिन्न अर्थों को समझ लेना चाहिए, ताकि कोई अस्पष्टता न रहे।[2]

---

[1] "By 'balance of international payments' we mean the statement that takes into account the values of all goods all gifts and foreign aid, all capital loans (or IOU's) and all gold coming in and going out and the inter-relations among all these items" —Samuelson · *Economics*, p 645-46

[2] "The term balance of payments' is used in a number of different senses, which are apt to be confused with one another It is very important to distinguish between them as the failure to do so has led to serious misconceptions"—Haberler : *The Theory of International Trade*, p 18

(१) **एक अवधि विशेष में विदेशी मुद्रा की खरीदी एवं बेची गई मात्रायें** (Amounts of foreign currency bought and sold)—भुगतान सतुलन शब्द का प्रयोग कभी कभी एक दी हुई समयावधि (प्राय एक वर्ष) के भीतर विदेशी मुद्रा की खरीदी और बेची गई मात्राओ के लिये किया जाता है। इस अर्थ मे भुगतान सन्तुलन नि सन्देह सदा साम्यावस्था मे रहेगा, क्योकि खरीदी गई मात्रा आवश्यक रूप से बेची गई मात्रा के बराबर होती है।

(२) **एक विशेष समयावधि में विदेशो को किये गये और विदेशो से प्राप्त भुगतान** (Payments made, within the period to and from foreign countries)—भुगतान सतुलन से अभिप्राय उन भुगतानो का भी लिया जा सकता है जो कि एक विशेष समयावधि के भीतर देश को विदेशा से प्राप्त हो या विदेशों को करने पडे। यह दूसरा अर्थ पहले अर्थ के समान नही है क्योंकि भुगतान न केवल विदेशी मुद्रा के क्रय द्वारा वरन सचित विदेशी मुद्रा (इसमे यदि प्राप्तकर्ता देश स्वर्ण-मान पर है तो स्वर्ण को भी सम्मिलित करते हुए) के हस्तातरण द्वारा भी किये जा सकते है। वास्तव मे जब दिये जाने वाले भुगतान प्राप्त-भुगतानो से अधिक होते है, तो ऐसी अधिकता को केवल इसी प्रकार से अर्थात् सचित विदेशी मुद्रा के सदर्भ मे ही स्पष्ट किया जा सकता है। प्रस्तुत अर्थ मे भुगतान सन्तुलन निष्क्रिय (passive) हो सकता है। किन्तु यह निष्क्रियता तब तक ही रहती है जब तक कि मुद्रा का स्टॉक समाप्त न हो जाय। यही नही, यदि भुगतान सन्तुलन किसी एक समय पर निष्क्रिय रहे, तो इससे यह प्रमाणित होता है कि वह अवश्य ही किसी अन्य समय पर सक्रिय (active) रहा होगा, अन्यथा मुद्रा का स्टॉक मौजूद न होता। अत इस अर्थ मे भी भुगतान सन्तुलन दीर्घ काल मे साम्यावस्था मे ही रहेगा। [किन्तु एक स्वर्ण-उत्पादक देश का भुगतान सन्तुलन स्थाई रूप से निष्क्रिय रह सकता है।]

(३) **'आय खाते' पर भुगतान सतुलन** (Balance of payments 'on income account'—कभी कभी भुगतान सतुलन का प्रयोग एक सकुचित अर्थ—'आय खाते पर भुगतान सतुलन'—मे किया जाता है। इसमे ब्याज-सतुलन (interest balance) और व्यापार एव सेवाओ का सन्तुलन (balance of trade and services) सम्मिलित होता है। यदि यह निष्क्रिय है, तो या तो पूँजी-सतुलन (capital balance) सक्रिय होता है या फिर स्वर्ण या विदेशी करैंसी का स्थानान्तरण होता है। अन्य शब्दोंमे, प्रतिकूल सन्तुलन 'ऋणता' (indebtedness) मे हुई वृद्धि अथवा स्वर्ण के बहिर्गमन के बराबर होता है।

(४) **अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता का सतुलन** (Balance of indebtedness)—भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी धारणा का प्रयोग कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता के सतुलन के अर्थ मे भी किया जाता है। इस अर्थ मे भुगतान सतुलन एक विशेष समय पर बकाया पावनो (Claims) और दायित्वो (Liabilities) की कुल राशि को दिखलाता है।

(५) विदेशी करेंसी की माँग एवं पूर्ति सम्बन्धी सम्पूर्ण परिस्थिति (The whole demand and supply situation of foreign currency)—भुगतान सन्तुलन का सबसे महत्त्वपूर्ण अर्थ उन प्रभावो म सम्बन्धित है जो वह विनिमय दरो पर डालता है।

विनिमय दर (अर्थात् विदेशी करेंसी या करेन्सियां म स्वदेशी करेंसी का मूल्य) अतर्राष्ट्रीय व्यापार पर महत्वपूर्ण असर डालती है। इसके स्पष्टीकरण के लिए केवल एक दिये हुए समय पर बकाया (outstanding) दायित्वो की कुल राशि को अथवा एक दी हुई समयावधि म देय होने वाले (falling due) दायित्वों की कुल राशि को मापना ही पर्याप्त नही है। दी हुई समयावधि मे वास्तव म किये गये समस्त भुगतानों का लेखा करने से भी विनिमय दर को स्पष्ट करने मे सहायता नही मिलेगी। कारण आर्थिक विश्लेषण किन्ही विद्यमान दायित्वो की रकम से ही प्रारम्भ नहीं किया जा सकता। रिकार्डो (Ricardo) ने भी माल्थस को लिखे गये पत्र मे इसी बात पर जोर दिया था।[1] वास्तव म आर्थिक विश्लेषण मे यह भी विचार किया जाना चाहिये कि ये दायित्व माग और पूर्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया के प्रारम्भ मे किस प्रकार उदय हुए थे। जब हम इस तरह से विश्लेषण करने लगते हैं तो विनिमय दर अपने दोनो निर्धारकों—विदेशी करेंसी के लिये माग एवं इसकी पूर्ति—को स्वय भी निर्धारित करती हुई दिखाई देती है। अत **भुगतान सतुलन' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण 'माँग एवं पूर्ति परिस्थिति के अर्थ में किया जाता है और यह अर्थ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी विवेचनो में सर्वाधिक प्रचलित है।**[2]

भुगतान सतुलन मे सम्मिलित मदें

भुगतान सतुलन के गुणात्मक विश्लेषण (qualitative analysis) से पूर्व इसका परिमाणात्मक विश्लेषण (quantitative analysis) करना आवश्यक है। अन्य शब्दो म हम यह देखना चाहिए कि एक देश के भुगतान सतुलन मे प्राय कौन कौन सी मदें सम्मिलित होती है। इस प्रकार का सबसे व्यापक विश्लेषण जर्मनी की Enquete Ausschuss द्वारा किया गया था और पेरिस सम्मेलन मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार परिषद् (International Chamber of Commerce) द्वारा बनाई गई

---

[1] 'You (Malthus) appear to me not sufficiently to consider the circumstances (which) induce one country to contract a debt to another (In) all cases you bring forward you always suppose the (debt) already contracted' —*Letters of Ricardo to Malthus ed by J Bonar* P 11

[2] 'The term 'balance of payments' is then used in the sense of the whole demand and supply situation and in this sense it will be used in the following pages' —**Haberler** *The Theory of International Trade* P 19

योजना पर आधारित था। प्रो० हेबरलर ने भुगतान सतुलन मे सम्मिलित होने वाली मदो को निम्नलिखित ढङ्ग से वर्णित किया है —

(१) वस्तुओ मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International trade in commodities)—भुगतान सतुलन मे सबसे प्रमुख मद वस्तुओ का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार है। आयातो और निर्यातो के मूल्य की तुलना द्वारा 'व्यापार सतुलन' (balance of trade) प्राप्त होता है। उपरोक्त जर्मन वर्गीकरण के अनुसार निर्यात पक्ष मे निम्न मदो की पृथक-पृथक गणना की जाती है —(i) साधारण रूप से निर्यात की गई वस्तुयें, (ii) विदेशियो को बेचे गये जहाज, (iii) विदेशी बन्दरगाहो पर बेची गई मछलियां, (iv) विदेश स्थित जहाजो मे से बेची गई स्वदेशी वस्तुये, (v) ले जाई गई अन्तर्राष्ट्रीय डाक, (vi) विदेशी को दी गई बिजली एव (vii) चोरी छिपे बाहर भेजी गई वस्तुये। इनमे से कई मदें विदेशी व्यापार सम्बन्धी सरकारी आकडो मे नही दिखाई जाती है। केवल वही मदें दिखाई जाती है जोकि कस्टम विभाग से निकलें।

(२) सेवाओ के लिये भुगतान (Payments for services)—वस्तुओ की भांति सेवाओ के लिये भी भुगतान होते हैं। इन्हे 'अदृश्य आयात और निर्यात' भी कहा जाता है, क्योकि कस्टम विभाग मे इनका पूरा ब्यौरा नही होता (जबकि वस्तुओ के आयात-निर्यात का होता है)। अदृश्य आयात-निर्यात मे निम्न सेवाओ का समावेश किया जाता है—जहाजी सेवायें, यात्री भाडे, बन्दरगाह एव नहर व्यय, डाक, टेली-फोन और तार शुल्क, व्यापारिक सेवायें (फीस एव कमीशन), वित्तीय सेवाये (दलाली आदि) एव पर्यटन कार्यालय की सेवाये। प्राय इस बात का भय रहता है कि कुछ मदें कही दो बार न गिन ली जायें। उदाहरणार्थ, यदि कोई आयात की हुई वस्तु एक ऊँची कीमत पर पुन निर्यात (re-export) की जाती है, तो यह अन्तर (भले ही वह उन सेवाओ के कारण हो जोकि अदृश्य निर्यात मे सम्मिलित की जा चुकी है) आयातो और निर्यातो के कीमत सम्बन्धी आकडो मे भी झलकेगा। अत ऐसी दशा मे उसे पृथक-पृथक नही गिनना चाहिये।

कभी-कभी 'व्यापार के सतुलन' (balance of trade) एवं 'सेवाओ के सतुलन' (balance of services) को एक ही शीर्षक के अन्तर्गत समूहबद्ध किया जा सकता है और फिर इसकी तुलना 'साख संतुलन' (Balance of credit) से की जाती है।

(३) साख संतुलन (Credit Balance)—'साख-सतुलन' मे एक ओर तो 'ब्याज सतुलन' (interest balance) अथवा 'पूँजी विषयक भुगतानो का सतुलन' (balance of payments on capital), और दूसरी ओर, 'पूँजी सन्तुलन' (capital balance) अथवा पूँजी के भुगतानो एव पुनर्भुगतानो का सन्तुलन' (balance of payments and repayments of capital) सम्मिलित होता है।

'ब्याज संतुलन' या 'पूँजी विषयक भुगतानो के सन्तुलन' मे सरकार, स्वायत्त

संस्थाओं और प्राइवेट व्यक्तियों के ऋणों पर व्याज, परिवर्तनीय लाभ एवं लाभांश, किराये आदि तथा संभवत पेटेन्ट कापीराइट की आय भी सम्मिलित होती है।

'पूँजी संतुलन' या 'पूँजी विषयक भुगतानों एवं 'पुनर्भुगतानों के संतुलन' में विनियोगों को सम्मिलित किया जाता है और ये विनियोग अल्पकालीन और दीर्घकालीन विनियोगों में विभक्त किये जा सकते हैं। दीर्घकालीन पूँजी के निर्यात में विदेशी उपक्रमों के शेयरों का क्रय, स्वदेशी प्रतिभूतियों का पुनर्क्रय या विदेशों से लिये गये ऋण की वापिसी, स्वदेश-स्थित सम्पत्ति में विदेशी हिस्से का क्रय करना आदि सम्मिलित है। अल्पकालीन पूँजी के निर्यातों में विदेशों में रखे हुये बैंक बैलेन्सेज में हुई वृद्धि विदेशी बिलों के धारण में वृद्धि तथा विदेशी देशों के प्रति व्यापारिक ऋणग्रस्तता के परिमाण में हुई कमी सम्मिलित है।

किन्तु स्मरण रहे कि दीर्घकालीन पूँजी का प्रवाह अल्पकालीन पूँजी के प्रवाह से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होता है और एक में हुये परिवर्तन कभी-कभी दूसरे में हुये विपरीत परिवर्तनों से निष्प्रभावित हो सकते हैं, जिससे कि दोनों प्रकार के परिवर्तन विदेशी करेंन्सी के लिये मांग या इसकी पूर्ति पर सामूहिक और प्रत्यक्ष रूप में प्रभाव डालते हैं।[1] उदाहरणार्थ, यदि एक जर्मन फर्म न्यूयार्क में १० मि० डालर का ऋण जारी करती है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि विदेशी विनिमय बाजार में डालरों की पूर्ति और मार्क की मांग तुरन्त ही क्रमश १० मि० और २५ मि० से बढ़ जायेगी। वास्तव में होता यह है कि न्यूयार्क बैंक जर्मन फर्म के पक्ष में एक खाता खोल देता है, जिस पर वह शनै शनै. अपनी आवश्यकतानुसार चैक लिखती रहेगी। अत ऐसी दशा में, दीर्घकालीन ऋण एक अल्पकालीन सम्पत्ति के सृजन द्वारा निष्प्रभावित हो जाता है और करेंसी के लिये प्रभावपूर्ण मांग तब ही उदय हो सकेगी जबकि इस सम्पत्ति का प्रयोग किया जाय।

(४) सरकारी व्यवहार (Government transactions)—भुगतान सन्तुलन में सम्मिलित अन्य मदें निम्न हैं —सरकारी व्यवहार (जैसे—कूटनीतिक प्रतिनिधियों के वेतन, क्षतिपूर्ति, आर्थिक सहायता, आदि) एवं द्रव्य के उपहार (जैसे प्रवासियों द्वारा स्वदेश को भेजे गये विप्रेष)।

(५) विविध मदें (Miscelleneous items)—कुछ मदें ऐसी भी होती हैं, जिन्हें भुगतान सन्तुलन में 'अ-स्पष्ट या विविध' शीर्षक के आधीन दिखाया जाता है।

भुगतान संतुलन की मदों का डेबिट्स और क्रेडिट्स में विभाजन—

जिस प्रकार एक व्यापारी के लिए उसके समस्त व्यवहारों का केवल

---

1 "The flow of long term capital is closely connected with the flow of short term capital, and changes in the one tend sometimes to be compensated by opposite changes in the other, so that only fluctuations in both combined affect directly the demand or the supply of foreign currency."—*Ibid*, p 17

सकलन (collection) मात्र ही पर्याप्त नही है (क्योंकि इससे उसे अपने व्यवसाय की आर्थिक स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं लग सकता), उसी प्रकार एक देश के लिए उसकी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति का सही-सही ज्ञान प्राप्त हेतु समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों की एकत्रित सूचना ही पर्याप्त नही होती। उसे एक व्यवसायी की भाति ही अपने व्यवहारों को 'देने' और 'पावनों' मे अथवा 'डेबिट्स' और 'क्रैडिट्स' मे बाटना आवश्यक है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन मे, चाहे इसे खाते के रूप मे बनावे या तालिका के रूप मे दोनों ही दशाओ मे, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो को डेबिट्स और क्रैडिट्स शीर्षको मे विभक्त करके दिखाया जाता है। अत यहाँ प्रश्न उठता है कि किन व्यवहारो (या मदों) को डेबिड शीर्षक मे दिखावे और किन को क्रैडिट शीर्षक मे।

एक देश के राष्ट्रजनो द्वारा विदेशियों को भुगतान आवश्यक बनाने वाले व्यवहार 'आयात' या 'डेबिट' कहलाते है। किन्तु जो व्यवहार विदेशियो द्वारा राष्ट्रजनों के प्रति भुगतान करना आवश्यक बनाते है उन्हे 'निर्यात' या 'क्रैडिट' कहा जाता है।[1] वस्तुओ के आवागमन के सम्बन्ध मे तो आयात निर्यात या डेबिट-क्रैडिट शब्द सुगमतापूर्वक समझ लिए जाते है, क्योंकि वस्तुओं के सभी निर्यात विदेशियो से उस देश को भुगतान दिलवाते है और वस्तुओं के सभी आयात उस देश से विदेशियो को भुगतान करवाते हैं। किन्तु पूंजी और सेवा सम्बन्धी व्यवहारो के सम्बन्ध मे डेबिट-क्रैडिट शब्दो का प्रयोग करते समय सावधानी रखने की आवश्यकता है। ऋण लेने वाले राष्ट्र की दृष्टि मे दूसरे देश मे लिया गया ऋण एक 'निर्यात' या 'क्रैडिट' है, क्योंकि उसे ऋण देने वाले देश से भुगतान मिलता है और ऋणदाता देश की दृष्टि से एक 'आयात' डेबिट' है, क्योंकि उसे भुगतान करना पड़ता है। जब ऋणी देश ब्याज चुकाता है या मूलधन लौटाता है, तो यह व्यवहार उसके लिए 'आयात' और पाने वाले देश के लिये 'निर्यात' के सदृश्य होते है। इसी प्रकार, जब एक देश के राष्ट्रजनो को विदेशियो से सेवाओ का पुरस्कार मिलता है, तो यह उनके लिए निर्यात या क्रैडिट मद है किन्तु देने वाले देश के लिए 'आयात' या डेबिट' मद। सक्षेप मे जब देश भुग-

---

[1] "A good way to decide how any item should be treated is to ask the following question Is the item like one of our merchandise exports providing us with more foreign currencies ? Such an export-type item is called a 'credit item" and gives us a supply of foreign money Or, is the item like one of our merchandise imports, causing us to use up stock of foreign currencies and making it necessary to get more foreign currency ? Such an import-type item is called a 'debit-item' and gives us a demand for foreign money."—**Samuelson** : *Economics*, p 647.

तान पा रहा हो, तो उसकी स्थिति 'लेनदार' (Creditor) और जब भुगतान दे रहा रहा हो, तो उसकी स्थिति 'देनदार' (Debtor) के सदृश्य होती है।

भुगतान सतुलन के दो भाग—चालू खाता एवं पूँजी खाता

भुगतान सन्तुलन को दो भागो मे बाँटा जाता है—(अ) चालू खाता और (ब) पूँजी खाता।
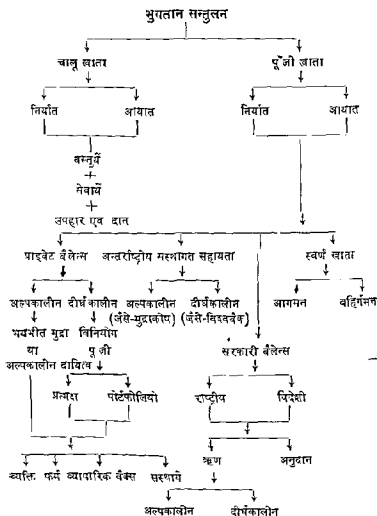
'चालू खाता' (Current Account) भुगतान-सन्तुलन का वह भाग है जिसमे 'वर्तमान' मे स्थानान्तरित की गई वस्तु और सेवाओ के लिए भुगतान सम्मिलित होते है। यहाँ 'वर्तमान से आशय भुगतान सन्तुलन की विचाराधीन अवधि से है। चालू खाते की सबसे बडी मद वस्तुओ का आयात-निर्यात है। किन्तु अ-मौद्रिक स्वर्ण (non-monetary gold) का आवागमन राजकीय प्रतिबन्धो के कारण कम ही होता है। चालू खाते की एक अन्य प्रमुख मद 'सेवायें' है। पूँजी के सम्बन्ध मे भुगतान (ब्याज-लाभांश) भी चालू खाते मे आते है। सरकारो व्यवहार, दान (charities) उपहार (gifts) एव विविध मदें (जैसे फिल्मो का किराया, तकनीशियनो और एजेन्सी सेवायें आदि) भी चालू खाते का ही अग है।

'पूँजी खाता' (Capital Account) मे विदेशो से एव विदेशो को सरकारी रूप से या व्यक्तिगत अथवा बैंकिङ्ग खातो मे ऋणो के लेन-देन सम्मिलित होत है। दीर्घकालीन एव अल्पकालीन दोनो ही प्रकार के पूँजी-आवागमन पूँजी खाते मे आते है। पुराने ऋणो की वापिसी (amortisation), सरकार और केन्द्रीय बैंक की विदेशी विनिमय सम्पत्तियो मे हुये परिवर्तन तथा केन्द्रीय बैंक के स्वर्ण कोष मे हुये परिवर्तन भी पूँजी खाते के अन्तर्गत ही सम्मिलित किये जाते है। स्मरण रहे कि भारत जैसे देश के भुगतान सन्तुलन मे प्राइवेट पूँजी के आवागमन 'पूँजी सन्तुलन' का एक छोटा भाग ही होते है और प्राइवेट व्यक्तियो व सस्थाओ द्वारा दीर्घकाल विनियोग को तथा व्यापार के अर्थप्रबन्धन हेतु दी गई अल्पकालीन साख को सूचित करते है। बैंकिंग खाते के पूँजी सम्बन्धी आवागमन अपेक्षाकृत विशाल (large) होते है। इनमे केन्द्रीय बैंक के अतिरिक्त अन्य बैंको के बैलेन्सेज मे हुये परिवर्तन भी सम्मिलित होते है। सरकारी खाते के ऋणो मे अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ एव विभिन्न विदेशी सरकारो से प्राप्त ऋण सम्मिलित होते है। यदि सरकार ने किन्ही पडौसी देशो को कुछ ऋण दिये हो, तो वे भी इसी शीर्षक के अन्तर्गत दिखाये जाते हैं।

"भुगतान सन्तुलन सदा समतुलित होता है"
(Balance of Payments Always Balances)

इस अर्थ मे कि सभी भुगतान और प्राप्तियाँ समान रहे, भुगतान सन्तुलन मे साम्यता सदा ही विद्यमान होती है। एक देश के सब क्रेडिट्स मिलकर उसके समस्त डेबिट्स के बराबर होने चाहिए। अन्य शब्दो मे भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी विवरण के समस्त धनात्मक (+) एव ऋणात्मक (—) चिन्ह एक साथ विचार मे लिये जाने पर एक दूसरे को काट देते हैं तथा (इसलिये) उनका शुद्ध सामूहिक शेष शून्य (Zero) होता है। यदि चालू खाते के सन्तुलन मे कोई अन्तर है, तो अनिवार्य रूप से उसकी पूर्ति पूँजी खाते मे विपरीत दिशा के अन्तर द्वारा हो जायेगी। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश को अपने चालू खाते मे 'प्राप्तियों' (receipts की अपेक्षा 'देना' (payments) अधिक है, तो यह न्यूनता (deficiency) स्वर्ण के निर्यात द्वारा या विदेशो मे पहिले से सचित कोष पर आहरण (drawing) द्वारा या अन्य देशो म दीर्घ-

कालीन या अल्पकालीन ऋण लेकर पूरी की जा सकती है। अभी हाल मे न्यूनता की पूर्ति का एक नया उपाय प्रगट हुआ है—कुछ देशो ने मित्र देशो के अनुदान (grants) एव उपहार (gifts) के आश्रय पर विदेशो मे अपना ऊँचा व्यय कायम रखा है। उदाहरणार्थ भारत के चालू आयात' 'चालू निर्यातो' से बहुत अधिक रहते हुय भी वह विभिन्न ठहरावो के आधीन अमेरिका कानाडा इगलैंड, जर्मनी और रूस आदि देशो द्वारा प्रदत्त साख के आधार पर, विशाल मात्राओ म पूँजीगत वस्तुयें और खाद्यान्न खरीदने म समर्थ हुआ है। इस प्रकार, उसके चालू खाते की न्यूनता (deficit) पूँजी खाते के उतने ही आधिक्य (surplus) द्वारा सन्तुलित (balanced) हो गई है तथा देश मे' और देश को' कुल भुगतान एक दूसरे को सन्तुलित अर्थात् बराबर कर देते है।

यदि उपरोक्त उपाय (स्वर्ण का आवागमन पिछली अवधियो म सचित एव निर्मित की हुई विदेश स्थित सम्पत्ति पर आहरण और पूँजी या सहायता की प्राप्ति) न भी किये जाये तो भी भुगतान सन्तुलन के डेबिट और क्रैडिट पक्षो का समतुलन हो जायगा क्योकि जिस रकम का भुगतान नही किया जाता, उसे अल्पकालीन विदेशी ऋण शीर्षक के अन्तर्गत सम्बन्धित विदेशो के प्रति राष्ट्र के दायित्व के रूप मे दिखाया जाता है, जिससे भुगतान (credit) पक्ष की 'कमी' पूरी हो जाती है।

प्राय कहा जाता है कि **निर्यात आयातो का भुगतान करते हैं'** (exports pay for imports)। स्पष्टत यह कथन भुगतान सन्तुलन के सम्बन्ध मे है न कि 'व्यापार सन्तुलन' या व्यापार एव सेवाओ के सन्तुलन' (अर्थात चालू खाते) के सम्बन्ध म, क्योकि शायद ही किसी देश के दृश्य (वस्तुगत) निर्यात उसके दृश्य (वस्तुगत) आयातो के बराबर रहते हो। और यदि अदृश्य मदो (सेवाओ) को विचार मे ले लें तो भी केवल यह आशा मात्र रहती है कि देश के निर्यात उसके आयातो का भुगतान कर सकेंगे। किन्तु सम्पूर्ण भुगतान सतुलन के बारे म यह निश्चितता के साथ कहा जा सकता है कि देश के निर्यात आयातो का भुगतान करते है।

भुगतान सन्तुलन मे असाम्यता
(Disequilibrium in the Balance of Payments)

'समतुलन' होते हुये भी 'असाम्यता' विद्यमान हो सकती है—

उपरोक्त ढगो मे कुल क्रेडिट्स और कुल डेबिट्स के मध्य अनिवार्य रूप से समतुलन होने की बात का कोई विश्लेषणात्मक महत्त्व (analytical significance) नही है। यदि महत्त्व है तो इस बात का कि यह समतुलन कैसे सम्भव हुआ। यदि क्रेडिट्स और डेबिट्स के मध्य समतुलन बनाये रखने के लिये विशाल मात्रा मे स्वर्ण का आवागमन हो विदेशो म देश के सचित कोषो पर विशाल मात्राओ मे आहरण करना पडे या अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन ऋण लेने पडे तो समतुलन धोखे म डालने वाला है और भुगतान सन्तुलन मे जो साम्यावस्था दिखाई पडती है वह भ्रामक

है, कारण, ये उपाय सदा इस्तेमाल नहीं किये जा सकते हैं। ऐसी परिस्थिति तो यह बताती है कि देश की अर्थव्यवस्था मे कोई गहरा कुसमायोजन (maladjustment) विद्यमान है जिसके उपचार के लिए आयातो के घटाने तथा निर्यातो के बढाने जैसे सक्रिय कदम (active steps) उठाने की आवश्यकता है। यथार्थ साम्यवस्था वह है जो कि स्वर्ण या पूँजी के आवागमन बिना ही प्राप्त हो जाय। किन्तु ऐसी साम्यता एक पर्याप्त लम्बी अवधि मे ही सम्भव है। इसका कारण यह है कि पर्याप्त लम्बी अवधि म मौसमी न्यूनतायें समाप्त हो जाया करती है और स्वर्ण के असाधारण आवागमन, विदेशी कोषो मे भारी घटा-बढी और विदेशो से निरन्तर विशाल ऋण लिय-दिय बिना ही देश के भुगतान उसकी प्राप्तियो के बराबर हो जाते है। साधारणत अर्थात् अल्पकाल मे देशो के भुगतान सन्तुलन मे असाम्यता' (disequilibrium) ही होती है।

प्रतिकूल एवं अनुकूल भुगतान संतुलन—

जब किसी देश के डेबिट्स उसके क्रेडिट्स की तुलना मे इस सीमा तक अधिक हो कि विशाल मात्राओ मे स्वर्ण भेजना पडे या विदेशो मे रखे हुए कोषो मे से विशाल मात्राओ मे आहरण करना पडे या विदेशो से ऋण लेने पडे, तो कहा जाता है कि भुगतान सन्तुलन देश के प्रतिकूल' (unfavourable) है, भुगतान सन्तुलन निष्क्रिय' (Passive) हो गया है अथवा भुगतान सन्तुलन म 'घाटा' (deficit) है। इनकी विपरीत दशा मे भुगतान को 'अनुकूल' (favourable) 'सक्रिय' (active) या आधिक्य' (surplus) कहा जाता है।

उदाहरणार्थ, भारत को अपने आर्थिक विकास के लिए विदेशो से भारी मात्रा म पूँजीगत वस्तुयें मँगानी पडती हैं एव खाद्य सकट को हल करने के लिए विदेशो से खाद्यान्नो का आयात करना पडता है। किन्तु उसके चालू निर्यात इन विशाल आयातो की तुलना मे बहुत ही कम है। फलत उसे चालू खाते मे भारी घाटा रहता है, जिसकी पूर्ति उसके पूँजी खाते मे, पूँजी के आवागमन द्वारा उत्पन्न हुए, 'आधिक्य' मे होती है। उसे अनेक देशो से सरकारी स्तर पर तथा प्राइवेट नागरिको से ऋण, सहायता और अनुदान के रूप मे विशाल साख मिल रही है और अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सस्थायें भी मदद दे रही है। यद्यपि इन परिस्थितियो मे, उसके 'लेन-देन' तो बराबर हो जाते है किन्तु इस सन्तुलन की ओट मे 'असाम्यता' छिपी हुई है उसमे मुख नही मोडना चाहिए। यह असाम्यता स्पष्ट ही भारत के प्रतिकूल है तथा अर्थव्यवस्था मे कुसमायोजनो के विद्यमान होने की सूचक है। अत इसके उपचार के लिए प्रयत्न करने जरूरी हैं।

भुगतान सन्तुलन का एक उदाहरण—

भुगतान सन्तुलन मे प्रगट की जाने वाली विभिन्न मदो को भली प्रकार से समझने के लिए नीचे हम अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन का एक उदाहरण प्रस्तुत करते है।

अमेरिका का अंतर्राष्ट्रीय भुगतान संतुलन, १९६२

(मि० डालरों में)

क्रम संख्या	मदें (अ)	क्रेडिट्स (ब)	डेबिट्स (स)	शुद्ध क्रेडिट्स (+) अथवा डेबिट्स (—) (द)	
(I)	चालू खाता				
	प्राइवेट				
१	वस्तुयें	२०,४७९	१६,१४५	+४,३३४	
	अदृश्य				
२	यातायात	१७४९	२,०५५	— ३०६	
३	यात्रा-व्यय	९२१	१,९०५	— ९८४	
४	विनयोगों पर आय (ब्याज आदि)	३,८५०	६५६	+३,१९४	
५	प्राइवेट प्रेषण		४९१	— ४९१	
६	विविध सेवायें	१,४७५	४३६	+१,०३९	
७	चालू प्राइवेट सन्तुलन				+६,७८६
	अमेरिकी सरकार				
८	फौजी सामान और सेवाओं का निर्यात(+)	१,५३९			
	मित्र राष्ट्रों को फौजी सहायता सम्बन्धी भुगतान (—)		१,५३९	०	
९	अन्य फौजी व्यवहार	६६०	३,०२८	— २,३६८	
१०	अन्य अनुदान एवं भुगतान		२,१४८	— २,१४८	
११	विविध सरकारी व्यवहार	६५६	७३९	— ८३	
१२	चालू सरकारी व्यवहार				—४,५९९
१३	चालू खाते पर शुद्ध सन्तुलन				+२,१८७
(II)	पूँजी खाता ऋण-पत्रों(IOU's) का शुद्ध निर्यात (+) या आयात (—) दीर्घकालीन ऋण (—) या दायित्व (+)				
१४	प्राइवेट			—२,४९५	
१५.	सरकारी			—१,७६१	
१६.	शुद्ध दीर्घकालीन विदेशी विनियोग				—४,२५६
१७.	चालू खाते पर शुद्ध सन्तुलन +दीर्घकालीन ऋण (अमेरिका) के भुगतानों में बुनियादी घाटा				—२,०६९
	अल्पकालीन ऋण (—) या दायित्व (+)				
१८.	प्राइवेट			+ ३०	
१९.	सरकार			+२१५७	

२०	अल्पकालीन ऋण म शुद्ध विनियोग			+२,१८७
(III)	शुद्ध स्वण निर्यात (+) या आयात (—)			+ ६०७
२१	त्रुटिया एव भूलें			—१,०२५
२२	बुनियादी घाटे' की पूर्ति			+२,०६६
२३	कुल पर अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन का शुद्ध शेष			०

उपरोक्त तालिका म अमेरिका के १९६२ के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सतुलन सम्बन्धी सरकारी आँकडे दिये हुये है। इसके तीन प्रमुख खण्ड है—(I) चालू खाता, (II) पूँजी खाता और (III) स्वर्ण आवागमन। इसके अतिरिक्त सांख्यिकीय त्रुटियो एव भूलों (statistical errors and omissions) के लिए भी एक मद पृथक से दी हुई है।

१९६२ में अमेरिका का वस्तु निर्यात २० ४७९ मि० डालर और वस्तु-आयात १६ १४५ मि० डालर था जिससे शुद्ध अन्तर ४,३३४ मि० डालर आया। (देखिये पहली पंक्ति)। चूँकि क्रेडिट्स (+) अधिक हैं, इसलिये कालम (द) मे राशि के पूर्व (–) चिन्ह लगाया गया है। कुछ लोग ऐसे व्यापार सन्तुलन को अनुकूल बताते है। किन्तु केवल वस्तुओं के आयात निर्यात सन्तुलन को ही अनुकूल या प्रतिकूल मान लेना ठीक नही है। क्योंकि जैसा कि हम इसी अध्याय मे आगे बतायेंगे, *कभी-कभी* व्यापार सतुलन में घाटा भी देश के लिए एक बहुत अनुकूल बात हो सकती है।[1]

जब अमेरिकी नागरिक विदेशो को यात्रा पर जाते है अथवा निजी रूप से उपहार भेजते है तो वह विदेशी करेंन्सियो का प्रयोग करते हैं। अत इन्हे कालम (स) मे डेबिट शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है। [विदेशी देशों के भुगतान सन्तुलन मे वे 'क्रेडिट' शीर्ष के अन्तर्गत दिखाये जायेंगे, क्योंकि उनकी दृष्टि से डालर अधिक मात्रा मे उपलब्ध होते है।] अदृश्य मदो (पंक्ति २ से ६ तक) का अन्तिम प्रभाव यह है कि

[1] 'Centuries ago when merchandise items predominated, writers concentrated on this narrow category alone If merchandise exports were greater in value than merchandise imports, they spoke of 'favourable balance of trade', if imports, exceeded exports they spoke of an 'unfavourable balance of trade' This is not a good choice of terms, since we shall see that a so called 'unfavourable" balance of trade may be a very good thing for a country "—Samuelson : *Encomics*, p 647.

चालू प्राइवेट खाते में अमेरिका के क्रेडिट्स डेबिटस की अपेक्षा पहले से भी अधिक बढ़ गये देखिए पंक्ति ७)।

आगे (पंक्ति ८ से १२ तक) सरकारी मदें दिखाई गई है। इनमे से आठवीं पंक्ति स्वयं में क्षतिपूरक (self-cancelling) है, क्योंकि सरकार द्वारा जो फौजी वस्तुयें और सेवायें निर्यात की गई (मान लीजिये कि जर्मनी को) उनका मूल्य आयात तक देश (जर्मनी) के पास ही उपहार के रूप में ही छोड़ दिया गया। अत इन यदि एक निर्यात क्रेडिट मिले, तो आयात-डेबिट में भी दिखाना चाहिये। अन्य फौजी व्यवहारों में जर्मनी को अमेरिकी फौजो के लिये पेट्रोल आदि की व्यवस्था के सम्बन्ध में किये गये भुगतान सम्मिलित है। अमेरिकी सरकार के अन्य विदेशी कार्यक्रम ११वीं पंक्ति में सम्मिलित है। सरकारी खाते पर वस्तुओ और सेवाओं के आयात-निर्यात का अन्तिम परिणाम १२ वी पंक्ति में दिखाया गया है। अन्तिम परिणाम यह है कि चालू सरकारी खाते पर क्रेडिट्स की अपेक्षा डेबिटस अधिक हैं (=४,५९६ मि० डालर)। चूंकि चालू सरकारी खाते पर ऋणात्मक शेष की अपेक्षा चालू प्राइवेट खाते पर धनात्मक शेष अधिक है, इसलिए चालू खाते मे शुद्ध शेष (=+२,१८७ मि० डालर) निकलता है।

अमेरिका अपने चालू खाते के शुद्ध शेष (Net difference) की पूर्ति कैसे कर सकता है? जैसा कि उक्त तालिका में दिखाया गया है, इसकी पूर्ति या तो स्वर्ण के आवागमन (III) द्वारा अथवा शुद्ध विनियोजन (II) द्वारा की जा सकती है। कारण, जो कुछ एक राष्ट्र प्राप्त करता है उसके लिए या तो उसे भुगतान करना चाहिए अथवा ऋणी बनाना चाहिए। दोहरे लेखे की बुक-कीपिंग के इस तथ्य का अर्थ यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के सन्तुलन की सम्पूर्ण तालिका जो अन्तिम शेष (overall-balance) दिखाये वह शून्य होना चाहिए।[1]

१६ वी पंक्ति यह प्रकट करती है कि अमेरिका एक शुद्ध दीर्घकालीन लेनदार है, अर्थात वह विदेशो मे, अमेरिका में, विदेशियों की अपेक्षा अधिक राशि में विनियोग कर रहा है या ऋण दे रहा है। अन्य शब्दों मे, उसे IOU's (ऋण स्वीकृतियाँ) अधिक प्राप्त हुई है। चूंकि IOU's देना 'निर्यात-क्रेडिट' मद है और IOU's पाना 'आयात-डेबिट' मद है, इसलिए अमेरिका के अतिरिक्त विनियोग (surplus investments) ऋणात्मक शेष (=४,२५६ मि० डालर) रखते हैं।

१७वीं पंक्ति में अमेरिका के समस्त चालू व्यवहारों और दीर्घकालीन पूंजी के

---

[1] "How must a nation offset its net balance on current account? Either by gold, or by net borrowing For it is a tautology that what you get you must either pay for or owe for And this fact of double entry book-keeping means that the whole table of the balance of international payments must show a final perfect balance"—*Ibid*, p 649

आवागमनों का योग दिखाया गया है। चालू सरकारी डेबिटस और दीर्घकालीन विनियोग डेबिटस इतने अधिक थे कि भुगतान सतुलन मे यहाँ तक अमेरिका को एक शुद्ध बुनियादी घाटे (net basic deficit) (=२,०६६ मि० डालर) का सामना करना पड रहा है। ध्यान रहे कि 'भुगतान सतुलन मे घाटा' कथन भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि जैसा कि हम देख चुके है, सम्पूर्ण भुगतान सन्तुलन साम्यावस्था म होता है। अत जब कभी समाचार पत्र भुगतान सन्तुलन म घाटे की चर्चा करत है, तो प्राय उनका आशय १७ वी पक्ति से होता है।

'बुनियादी घाटे' की पूर्ति दो तरह से की जा सकती है—या तो स्वर्ण का निर्यात किया जाय अथवा विदेशियो से यह अनुरोध किया जाय कि वे अमेरिका म अल्पकालीन पूजी खाते पर तरल सम्पत्तियाँ रखना स्वीकार कर ले। किन्तु ध्यान रहे कि विदेशी जब चाहे तब ही इन तरल सम्पत्तिया के बजाय स्वर्ण माँग सकते ह। उदाहरण के लिए, जब वे देखें कि अन्य वित्तीय केन्द्र न्यूयार्क केन्द्र की अपेक्षा अल्पकालीन कोषो पर अधिक ब्याज दे रहे है, तो वे अपने अल्पकालीन कोषो को स्वर्ण म बदलने पर जोर देग। अमेरिका के बुनियादी घाटे की पूर्ति कुछ अश म सोने के निर्यात द्वारा हुई है। [विशेषज्ञा का कहना है कि सारिणी भूल-चूक के शीर्षक मे जो डेबिट दिखाया गया है वह अल्पकालीन पूँजी के बहिर्गमन के कारण है जिसका रिकार्ड नही हो सका। यही कारण है कि विदेशियों द्वारा अमेरिका मे २,१८७ मि० की अल्पकालीन सम्पत्तियाँ रखने पर भी ६०७ मि० डालर का स्वर्ण निर्यात करना पडा।]

उपरोक्त विवेचन से अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सतुलन मे दोहरे लेखे की डेबिड और क्रैडिट मदे सम्मिलित होती है, जिसमे वह सदा सन्तुलित रहता है। सन् १६८६ और १६४६ के मध्य जबकि अमेरिका स्वर्ण और तरल सम्पत्तियाँ प्राप्त कर रहा था, तब भी भुगतान सतुलन मे साम्यता विद्यमान थी और आज भी, जबकि 'डालर अभाव' का स्थान डालर-प्रचुरता ने ले लिया है साम्यता विद्यमान है, क्योकि अमेरिका के चालू और दीर्घकालीन पूँजी के सन्तुलन मे बुनियादी घाटे की पूर्ति स्वर्ण के बहिर्गमन तथा विदेशियो द्वारा देश मे अल्पकालीन सम्पत्तियाँ रखने मे हो रही है।

भुगतान सतुलन की विभिन्न अवस्थाये

किसी देश के भुगतान सतुलन म, उसके आर्थिक विकास के स्तर के ही अनुरूप, विभिन्न अवस्थायें दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ, सयुक्त राज्य अमेरिका को एक युवा कृषक राष्ट्र से एक सुविकसित औद्योगिक राष्ट्र बनने मे चार ऐतिहासिक अवस्थाओं से गुजरना पडा। ये अवस्थायें निम्नलिखित है —

(१) युवा एवं वृद्धिशील ऋणी राष्ट्र—क्रान्तिकारी युद्ध युग से लेकर गृह-युद्ध के तत्काल बाद तक अमेरिका ने करैन्ट अकाउन्ट मे आयात अधिक किया और निर्यात कम। उसे अन्तर की राशि इङ्गलैड और यूरोप से उधार मिली, जिसमे वह

अपना पूँजी-ढाँचा (capital base) बनाने में समर्थ हुआ। इस प्रकार, इन दिनों अमेरिका एक युवा और वृद्धिशील-ऋणी राष्ट्र (a typical young and growing debtor nation) था।

(२) **परिपक्व ऋणी राष्ट्र**—सन् १८७३ से सन् १९१४ तक अमेरिका के व्यापार सन्तुलन में अनुकूलता प्रगट हुई। किन्तु उसे भूतकालीन ऋणों पर लाभांश और ब्याज की जो विशाल रकमें चुकानी पडी उन्होंने अमेरिका के चालू खाते के बैलेन्स को न्यूनाधिक सन्तुलित कर दिया। पूँजी के आवागमन भी प्रायः सन्तुलन में थे क्योंकि नये ऋण पुराने ऋणों का निष्प्रभावित (cancel) कर रहे थे। यह एक परिपक्व ऋणी राष्ट्र (mature debtor nation) की अवस्था थी।

(३) **नव ऋण-दाता-राष्ट्र**—प्रथम महायुद्ध की अवधि में अमेरिका ने अपने निर्यात बहुत अधिक बढा लिये। प्रारम्भ में तो अमेरिकी नागरिकों ने मित्र राष्ट्रों को ऋण दिये, बाद में जब अमेरिका भी युद्ध में प्रविष्ट हो गया, तब अमेरिकी सरकार ने भी युद्ध सम्बन्धी साज-सामान और युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिये इङ्गलैंड और फ्रांस को ऋण दिये। इस प्रकार युद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका आर्थिक संसार में एक लेनदार राष्ट्र के रूप में प्रगट हुआ। किन्तु अभी अमेरिकी जनता की मनोवैज्ञानिक स्थिति इस नई परिस्थिति के अनुरूप समायोजित नहीं हुई थी। अतः १९२० और १९२९ के मध्य ऊँचे प्रशुल्क (high tariffs) लगाये गये। चूँकि अमेरिकावासी आयात करने को तैयार न थे, इसलिये विदेशियों के लिये मूलधन तो क्या ब्याज और लाभांश तक चुकाने के लिये पर्याप्त डालर जुटाना कठिन हो गया। जब तक अमेरिकी नागरिक आयात न करने हुए विदेशियों को नये ऋण देते रहे, तब तक प्रत्येक चीज सतह पर सही प्रतीत हुई। अन्य शब्दों में, अमेरिका जितना आयात करता था उसने कहीं अधिक निर्यात करता था और शेष संसार उसके निर्यात-अतिरेक की पूर्ति के लिए उसे सोना और ऋण-स्वीकृतियाँ (IOU's) भेजता था। जब तक वॉल स्ट्रीट के बैंकर्स मेन स्ट्रीट के विनियोजकों की रुचि को विदेशी बॉण्डों में कायम रख सके, तब तक उनका मार्ग निष्कंटक प्रतीत हुआ। किन्तु १९२९ में और इसके बाद, जब अमेरिकन विनियोजकों ने विदेशों में रुपया लगाना बन्द कर दिया, संकट सहसा ही टूट पडा, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अवरुद्ध हो गया तथा ऋणों के भुगतान में त्रुटि होने लगी। इस दुर्व्यवस्था के लिए शेष विश्व के साथ-साथ अमेरिका खुद भी दोषी था।

(४) **परिपक्व लेनदार राष्ट्र**—आजकल अमेरिका अपने विकास की चौथी अवस्था में है, जिसमें वह अपनी चालू आवश्यकतायें पूरी करने हेतु पिछले विनियोगों पर विदेशों से मिलने वाली आय का प्रयोग कर रहा है।

इङ्गलैंड इस अवस्था में अमेरिका से भी पहले ही प्रवेश कर चुका था। जैसा कि ऐसी अवस्था में सदा होता आया है, उसके आयात उसके निर्यातों की अपेक्षा अधिक हुए। इससे उसका व्यापार सन्तुलन 'प्रतिकूल' हो गया। लेकिन यह

प्रतिकूलता उसके लिये कोई दुःख की बात नहीं थी। अथवा उसके व्यापार सन्तुलन में प्रतिकूलता उसकी गिरी हुई अवस्था का सूचक नहीं थी, वरन् उसकी उन्नत अवस्था का प्रतीक थी। कारण उसके नागरिक एक ऊँचा जीवन-स्तर कायम रखने में समर्थ थे, क्योंकि वे बहुत सस्ता खाद्यान्न आयात कर लेते थे और बदले में कीमती निर्यात वस्तुओं के रूप में कुछ अधिक नहीं देते थे। अन्य शब्दों में अंग्रेज अपने आयात आधिक्य का भुगतान उस ब्याज और लाभांश में से करते थे जो कि भूतकालीन विदेशी विनियोगों पर उन्हें मिल रहा था।

किन्तु शेष विश्व की स्थिति भी खराब नहीं थी। कारण इंगलैण्ड ने जो पूंजीगत वस्तुयें उन्हें पहले उधार दी थीं उनके प्रयोग द्वारा वे सामान्यतः उससे अधिक मूल्य वृद्धि कर रहे थे जो कि वे ब्याज व लाभांश के रूप में इंगलैण्ड को चुकाते थे। इस प्रकार दोनों ही पक्ष प्रसन्न थे। वास्तव में "१९वीं शताब्दी के अंतर्राष्ट्रीय ऋण ऋणी और ऋणदाता दोनों के लिए लाभदायक थे। हाँ, कुछ दशाओं में अवश्य ही वह हानिप्रद प्रमाणित हुए। विशेषतः राजनैतिक भावनाओं से दिए गये ऋणों ने जो कि उपनिवेशवाद पर आधारित थे स्थिति को कष्टपूर्ण बना दिया तथा इन्हीं के कारण प्रथम महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का प्रवाह टूट गया।"[1]

भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार संतुलन

प्रायः लोगों में 'भुगतान सन्तुलन' और 'व्यापार सन्तुलन' सम्बन्धी धारणाओं के अर्थ में भ्रान्ति पाई जाती है। कभी-कभी लोग यह कहते सुने गये हैं कि भुगतान सन्तुलन में तो 'व्यापार सन्तुलन' का भाव सम्मिलित है किन्तु 'व्यापार सन्तुलन' में भुगतान-सन्तुलन का भाव सम्मिलित नहीं है। ऐसे कथनों से प्रचलित भ्रान्ति में और भी वृद्धि हो गई। अतः हमें इन धारणाओं का सही-सही अर्थ जान लेना चाहिए।

व्यापार संतुलन—

जैसा कि हमने पहले भी संकेत किया था कि यदि एक ऐसा विवरण तैयार किया जाय जिसमें एक ओर निर्यात की गई विभिन्न वस्तुओं की 'मात्रायें' एवं 'मूल्य' तथा दूसरी ओर, आयात की गई विभिन्न वस्तुओं की 'मात्रायें' एवं 'मूल्य' दिखाये गए हों तो इसे 'व्यापार सन्तुलन' (Balance of Trade) कहेंगे। यह उल्लेखनीय है कि निर्यात के जो मूल्य गणना में लिए जाते हैं वे F O B (Free on Board) होते हैं किन्तु आयात के जो मूल्य सम्मिलित किए जाते हैं वे C I F (Cost, Insurance and Freight) होते हैं। अन्य शब्दों में आयात मूल्य में हमारे बन्दरगाहों तक यातायात व्यय सम्मिलित होते हैं, किन्तु निर्यात मूल्य में विदेशी बन्दरगाहों तक का यातायात व्यय सम्मिलित नहीं होता। यही कारण है कि व्यापार सन्तुलन में दो खाने बनाए जाते हैं एक निर्यात F O B दिखाने हुए और दूसरा आयात C I F दिखाते हुए।

[1] Samuelson : *Economics* p 625

स्पष्टत व्यापार-सन्तुलन एक समयावधि से, जो प्राय एक वर्ष होती है, सम्बन्धित होता है। किन्तु ये विवरण तिमाही या मासिक आधार पर भी बनाये जा सकते हैं। यदि निर्यातों का कुल मूल्य एक वर्ष में आयातों के कुल मूल्य के बराबर हो जाय, तो व्यापार सन्तुलन 'सम (even) कहा जाता है। यदि आयातों का कुल मूल्य निर्यातों के कुल मूल्य से अधिक हो, तो उसे 'ऋणात्मक' (Negative) या 'निष्क्रिय' (Passive) और यदि निर्यातों का कुल मूल्य आयातों के कुल मूल्य से अधिक हो, तो उसे धनात्मक' (Positive) या सक्रिय' (Active) कहते हैं। कुछ लोग इन्हे क्रमश 'प्रतिकूल' (Unfavourable) और 'अनुकूल' (favourable) विशेषण दे देते है, जो कि ठीक नहीं है।

भुगतान सन्तुलन—

जबकि व्यापार सन्तुलन से आशय केवल वस्तुओं के आयातों और निर्यातों के मूल्य से है, तब भुगतान सन्तुलन कहीं अधिक व्यापक है और इसका आशय दृश्य एव अदृश्य (वस्तुओं और सेवाओं) दोनों ही प्रकार की आयात-निर्यात मदों के कारण उदय हुए कुल डेबिट्स और कुल क्रेडिट्स से है। इस प्रकार, व्यापार सन्तुलन भुगतान सन्तुलन का एक भाग है। वह केवल दृश्य आयातों और दृश्य निर्यातों के मूल्य के अन्तर को सूचित करता है, अत इसका कोई विश्लेषणात्मक महत्त्व नहीं है। किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि व्यापार सन्तुलन भुगतान सन्तुलन का प्राय एक बड़ा भाग होता है। इसके अतिरिक्त भुगतान सन्तुलन के अन्य प्रमुख भाग निम्न हैं- सेवाओं का सन्तुलन (Balance of Services or Balance on Income Account) पूँजी खाते पर सन्तुलन (Balance on Capital Account) तथा स्वर्ण का आवागमन।

स्पष्टत व्यापार सन्तुलन की अपेक्षा भुगतान सन्तुलन का महत्त्व अधिक है, क्योंकि यह 'व्यापार सन्तुलन' से कहीं अधिक व्यापक विचार है। जैसा कि हमने पहले भी बताया है, व्यापार सन्तुलन के सम्बन्ध मे 'प्रतिकूल' और 'अनुकूल' शब्दों का प्रयोग उचित नहीं है। ये शब्द भुगतान सन्तुलन के बारे में उचित रूप से प्रयोग किये जा सकते हैं। किन्तु भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता या अनुकूलता तत्काल ही नहीं जानी जा सकती है। इस हेतु हमें भुगतान-सन्तुलन की मदों का गहरा विश्लेषण करना पड़ता है।

भुगतान सन्तुलन का महत्त्व

भुगतान सन्तुलन किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय वित्त व्यवहारों का जो कि दी हुई अवधि में हुए हैं, एक परिमाणात्मक सारांश (quantitative summary) होता है और देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालता है।

(१) **विदेशी सहायता पर निर्भरता की सीमा का सूचक**—अर्द्ध विकसित

देशों का भुगतान सन्तुलन यह दिखाएगा कि उनका आर्थिक विकास किस सीमा तक पूँजी सप्लाई करने वाले देशों की वित्तीय सहायता पर निर्भर है।

(२) पिछले निर्यातों के प्रभाव का दिग्दर्शक—एक प्राचीन देश, जो कि वित्तीय दृष्टि से अच्छी हालत में है और जिसके विदेशों से भारी विनियोग हैं जिन पर उसे ब्याज, लाभांश आदि के रूप में यथेष्ठ आय हो जाती है, उसका भुगतान सन्तुलन यह दिखाएगा कि उसके नागरिक किस सीमा तक भूतकालीन निर्यातों के सहारे निर्वाह कर रहे हैं।

(३) बदलती हुई आर्थिक परिस्थिति का सूचक—किन्तु भुगतान सन्तुलन के अध्ययन का सबसे महत्वपूर्ण उपयोग इस बात में है कि वह सम्बन्धित देश की बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थिति का सूचक है। जिस प्रकार एक बैरोमीटर वायुमण्डल के प्रति क्षण बदलते हुए दबाव का मापता है, उसी प्रकार भुगतान सन्तुलन देश की बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति का मापक है। यदि इसका सही ढंग से प्रयोग किया जाय, तो इसके द्वारा राष्ट्र की अल्पकालीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्भावनाओं की अमूल्य जानकारी प्राप्त की जा सकती है और फिर ऐसी जानकारी के आधार पर यह कह सकते हैं कि देश अन्तर्राष्ट्रीय शोधक्षमता रखता है या नहीं तथा उसकी विनिमय दर (या मौद्रिक इकाई का मूल्य) उपयुक्त है या नहीं।

वास्तव में, "एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री के लिये भुगतान सन्तुलन का वही महत्त्व है जोकि एक रसायन शास्त्री के लिये आवधिक तत्त्व-तालिका का होता है।"[1]

एक दीर्घकालिक असाम्यता की अवाछनीयता
(Undersirability of a Chronic Imbalance)

भुगतान सन्तुलन की लगातार सक्रियता की हानियाँ

यदि किसी देश का भुगतान सन्तुलन लगातार 'सक्रिय' (active) बना रहे तो सामान्यत इसे उस देश के लिए कोई खतरा नहीं समझा जाता। केवल स्वीडन के मामले में ही भुगतान सन्तुलन की अनुकूलता को अर्थव्यवस्था के हित के विरुद्ध माना गया था और इस सम्बन्ध में निम्न तर्क दिये गए थे —(i) सक्रिय सन्तुलन के फलस्वरूप स्वर्ण का आयात होता है, जिससे देश के प्रसाधन एक ऐसे विनियोग में अटक जाते हैं जिन पर उसे कोई आय नहीं होती। (ii) सक्रिय सन्तुलन देश में मुद्रा प्रसार उत्पन्न कर सकता है। यदि स्वर्ण का आयात होता है तथा देश स्वर्णमान पर है, तो इससे कीमतों में वृद्धि हो जाती है। यदि स्वर्ण का आयात न किया जाय और विदेशों में ही बैलेन्सेज रख लिये जाएँ तो फिर देश के निर्यातकों को भुगतान करने के लिए करेन्सी निर्गमित करनी पड़ती है। दोनों ही दशाओं में,

---

1 "What the Periodic Table of Elements is to the chemist, the Balance of Payments is to the International Economist"

—W. S. Jevons.

यदि सक्रिय सन्तुलन एक दीर्घकालीन विशेषता बन जाय तो, मुद्रा प्रसार हद से बाहर हो सकता है। अत यह कहा गया कि भुगतान सन्तुलन की निरन्तर सक्रियता को सुधारने की आवश्यकता है।

भुगतान संतुलन की दीर्घकालीन निष्क्रियता की हानियाँ—

भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता को विदेशो से ऋण लेकर या अपने विदेश स्थित बैलेन्सज पर आहरण करके पूरा किया जा सकता है। अब स्पष्टत किसी भी देश के बैलेन्सेज या उसकी साख विदेशी देशो म असीमित नही होती है। तीसरा उपाय है स्वर्ण का निर्यात करना, किन्तु देश के स्वर्ण-स्टॉक भी सीमित ही होते है। अत स्पष्ट है कि भुगतान सतुलन की दीर्घकालीन प्रतिकूलता का सुधार किया जाना चाहिए। यह उपचार इसमे पहले ही कि देश के स्वर्ण कोष बहुत ही न्यून रह जायें, कर देना आवश्यक है। आखिरकार स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो का माध्यम है और कुछ देशो मे तो वह करेन्सी के प्रति विश्वास का स्रोत है, अत स्वर्ण का स्टॉक एक न्यूनतम सीमा से कदापि कम नही होने देना चाहिए।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता और अनुकूलता दोनो ही, यदि वे दीर्घकालिक हो, विदेशी व्यापार के लिए हानिप्रद है। अत इनके उपचार के लिए समुचित कदम उठाने चाहिए। उदाहरणार्थ अमेरिका का भुगतान-सतुलन दीर्घकाल से अमेरिका के लिए अनुकूल चला आ रहा है, जिससे शेष विश्व के लिए तो डालर सकट का सिरदर्द पैदा हुआ ही, अमेरिका के लिए भी वह एक समस्या बन गया। अत उसे नॉन-डालर देशो के साथ मिलकर इस समस्या के हल करने पर ध्यान देना पडा।

असाम्यता का उपचार

भुगतान सतुलन की लगातार सक्रियता या निष्क्रियता किसी भी देश के सर्वोत्तम हित मे नही है। अन्य शब्दो म, जब सन्तुलन की असाम्यता के दीर्घकालिक बन जाने का खतरा प्रतीत हो, तब उसका अविलम्ब उपचार करना चाहिये।

असाम्यता के उपचार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त—

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की धारणा थी कि यदि भुगतान सतुलन मे कोई असाम्यता उदय हो जाय, तो उसका उपचार स्वचालित रूप से (automatically) हो जाता है। सर्वप्रथम, ह्यूम ने 'व्यापार सन्तुलन के स्वकीय नियमन का सिद्धान्त' (Theory of Automatic Regulation of Balance of Trade) प्रस्तुत किया। उन्होने कहा कि मान लीजिये ग्रेट ब्रिटेन की समस्त मुद्रा एक ही रात मे पाँच गुनी कर दी जाती है तब क्या समस्त श्रम एव पूँजी की कीमतें इतनी ऊँचाई तक न पहुँच जायेगी कि कोई भी पडोसी राष्ट्र हमसे खरीदने मे समर्थ न रहे और विदेशी वस्तुयें इतनी सस्ती न हो जायेगी कि हम उन्हे खरीदने ही चले जायें ? ऐसी दशा मे हमे बडी हानि उठानी पडेगी तथा हमारे स्वर्ण कोष रिक्त होने लगेगे। अन्तत हमारी कीमतें घट कर विदेशियो के स्तर पर आ जायेगी। इस

प्रकार, हम अपनी उस महान श्रेष्ठता को खो देते है जिसने हमे उपरोक्त अलाभ-दायक स्थिति मे पहुँचाया था।"[1]

रिकार्डो का दृष्टिकोण—

लेकिन यह रिकार्डो ही थे, जिन्होने एक सिद्धान्त की बुनियाद डाली। उन्होंने एक देश से दूसरे देश को वस्तुओ के आवागमन तथा, इनकी विपरीत दिशा मे, द्रव्य के आवागमन को शासित करने वाले सिद्धान्तो का पता लगाया और बताया कि "धात्विक करैन्सी वाले देश को धातु की वह राशि स्वत ही प्राप्त हो जायेगी जिसकी उसे, अपनी कीमतो को, विदेशो म प्रचलित कीमतो की तुलना मे एक ऐसे स्तर पर जिससे कि उसके आयातो और निर्यातो के मध्य साम्य बना रहे, कायम रखने के हेतु आवश्यकता है।"[2]

इस प्रकार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने यह मत प्रकट किया कि जब एक विशेष देश के भुगतान सतुलन म चले आ रहे साम्य (equilibrium) मे कोई विघ्न पडता है, तो स्वचालित शक्तियाँ (automatic forces) सक्रिय हो जाती हैं तथा साम्य को पुन स्थापित कर देती हैं। एक प्रकार से इन अर्थशास्त्रियो ने व्यापारवादी युग की प्रचलित उम कट्टर धारणा मे (कि देश को एक अनुकूल व्यापार सतुलन द्वारा अधिक से अधिक मात्रा म स्वर्ण का आयात करने की चेष्टा करनी चाहिये) परिवर्तन ला दिया।

साम्य की पुनः स्थापना की चार दशायें—

मान लीजिय कि एक नियत वार्षिक दर से क्षतिपूरक भुगतान करते रहने म किसी देश के भुगतानो के सतुलन मे विघ्न पड जाता है। प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार, चार स्पष्ट अवस्थाओ के द्वारा, जिनमे से कि प्रत्येक मे पाने वाले और देने वाले देशो मे विपरीत दिखाई गतियाँ होती है, समायोजन सम्भव हो जाता है। ये अवस्थाएँ (steps) निम्नलिखित है—

---

[1] "Suppose that all the money of Great Britan were multiplied five fold in a night ... Must not the price of all labour and capital rise to such an exhorbitant height that no neighbouring nation could afford to buy from us, while their commodities, on the other hand, become comparatively cheap that inspite of all the loss which would be run in upon us and money flow out, till we fall to the level with foreigners and lose that great superiority of riches which layed us under such disadvantages?"
—Hume

[2] "A country with a metallic currency will automatically get the amount of bullion it needs to maintain its prices at such a level relative to the prices prevailing abroad as to maintain an even balance between its exports and imports "—Ricardo

(१) देने वाले देश की करेंसी का विनिमय मूल्य (exchange value) स्वर्ण निर्यात बिन्दु तक गिर जावेगा।

(२) देने वाले देश' से स्वर्ण पाने वाले देश' म आवेगा। 'देने वाले' देश के धातु कोष मे घटौती के परिणामस्वरूप उसकी 'मुद्रा-पूर्ति' मे कमी होने लगेगी।

(३) मुद्रा पूर्ति (money supply) म कमी के फलस्वरूप निर्यात वस्तुओ और स्वदेशी बाजार म बिकने वाली वस्तुओ की कीमतो म गिरावट आवेगी।

(४) स्वदेशी बाजार और निर्यात की वस्तुओ की कीमते (आयात वस्तुओ की कीमतो की तुलना म) घटने के फलस्वरूप आयातो म कमी हो जावेगी तथा निर्यात बढ जायगे।

स्वर्ण का प्रवाह, विदेशी कीमतो की तुलना मे गृह कीमतो म कमी होने और राष्ट्रीय आय म गिरावट की प्रक्रियाये तब तक जारी रहेगी जब तक कि वार्षिक निर्यात का आधिक्य क्षतिपूरक भुगतानो की वार्षिक दर के बराबर न हो जाय। तत्पश्चात्, शेष अवधि म, अन्य बाते समान रहते हुये स्वर्ण प्रवाह 'शून्य' रहेगा तथा कीमतो व आय म और अधिक परिवर्तन नहीं होगे। अन्य प्रकार के असाम्य (जैसे नि निर्यातो की तुलना म अधिक आयात करने से उत्पन्न हुआ असाम्य) भी इसी ढङ्ग म सुधर जायेंगे।

नव-परम्परावादियो द्वारा किये गये सशोधन—

नव परम्परावादियो (neo-classicists) ने स्वर्ण प्रवाहो द्वारा भुगतानो के सन्तुलन की असाम्यता के स्वकीय सुधार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त म कुछ सशोधन किये। सर्व प्रथम, उन्होने यह बताया कि साम्य केवल स्वर्ण के आवागमन के फलस्वरूप ही नहीं, वरन पूंजी के आवागमनो के फलस्वरूप भी बना रह सकता है। कारण, स्वर्ण प्रसाधन देश के बाह्य प्रसाधनो (external resources) का एक अङ्ग मात्र है। अत असाम्य की दशा म यदि देश बाह्य-कोष एव सम्पत्तियाँ खोता है, तो इसका यह अर्थ नही है कि उसने स्वर्ण खोया। दूसरे नव-परम्परावादियो ने परिमाण सिद्धान्त की अपरिष्कृत व्याख्या (crude version) के बजाय, जो कि रिकार्डो के सिद्धान्त का आधार थी, इसके परिष्कृत रूप (refined version) को अपने सिद्धान्त का आधार बनाया। आजकल देशो मे मुद्रा-पूर्ति पर आनुपातिक कोष प्रणाली द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है अर्थात वहाँ केन्द्रीय बैंको के लिये यह आवश्यक है कि वे चलन म करेंसी के कुल मूल्य का एक आनुपातिक भाग (जैसे ४०%) स्वर्ण मे या स्वर्ण म परिवर्तनशील किन्ही अन्य चीजो म रखे। ऐसी दशा मे केन्द्रीय बैंक द्वारा सुरक्षित कोष मे रखी गई प्रत्येक एक स्वर्ण इकाई के बदले मुद्रा के परिमाण मे दो इकाइयो की वृद्धि होगी न कि केवल एक इकाई की, जिसकी कल्पना अपरिष्कृत व्याख्या मे की गई थी।

असाम्यता के सुधार संबंधी प्रतिष्ठित सिद्धान्त के निष्कर्ष—

स्वर्णमान देशों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रगति मे उदय होने वाली असाम्यता के सुधार का जो सिद्धान्त प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने प्रस्तुत किया था उससे कुछ रोचक निष्कर्ष निकाले गये। ये निष्कर्ष इस प्रकार है —

(१) **विनिमय दर एक निश्चित टकसाली समता पर स्थिर हो जाने की प्रवृत्ति रखती है**—यह कल्पना की गई है कि स्वर्ण के आवागमन के फलस्वरूप विनिमय दर एक नियत टकसाली समता (mint par) पर स्थिर हो जाने की प्रवृत्ति रखेगी। अत किसी देश के भुगतान सन्तुलन मे साम्यावस्था बनी हुई है या एक बार टूट कर पुन स्थापित हो गई है इसका पता व्यापार करने वाले देशों के मध्य एक नियत स्वर्ण समता पर विनिमय दर के स्थिर हो जाने से लग सकता है। रिकार्डो ने तो एक 'आदर्श' विनिमय दर की धारणा करली थी। आन्तरिक कीमता, उत्पादन, मजदूरियो और आय के स्तर यह सभी इस 'आदर्श' (norm) (अर्थात् वह स्वर्ण समता जो कि क्रयशक्ति समता भी है) के निकटतम आने का यत्न करते है। समायोजन प्रक्रिया के लिये यह आवश्यक है कि कीमते, मजदूरिया और आये तीनो ही क्रय शक्ति मानक (norm) की अनुसारता मे समायोजित हो जाये। [इस हेतु आर्थिक प्रणाली म पूर्ण लोच होने की कल्पना करनी पडती है।]

(२) **विश्व का स्वर्ण भण्डार देशो में समान रूप से वितरित हो जाता है**—रिकार्डो की दृष्टि मे स्वर्ण एक वस्तु मात्र है जो समस्त ससार मे तुरन्त ही विनिमय की जा सकती है। सर्वव्यापी माग होने के कारण इसकी कीमत सर्वत्र समानता की प्रवृत्ति रखती है। अत रिकार्डो ने यह निष्कर्ष निकाला कि एक देश में न तो अति-अधिक स्वर्ण रह सकता है और न अति कम। कारण, जब किसी देश की मौद्रिक प्रणाली म बहुत अधिक स्वर्ण होता है, तो वहाँ कीमतें बढ जाती है जिससे निर्यात हतोत्साहित और आयात प्रो साहित होते है भुगतान-सतुलन निष्क्रिय बन जाता है तथा आयात-अतिरेक (import surplus) के भुगतान हेतु स्वर्ण का निर्यात करना पडता है। इस प्रकार स्वर्ण की मात्रा कोष मे उचित स्तर तक घटने लगती है। दूसरी ओर जब किसी देश म स्वर्ण की बहुत ही कमी हो, तो विपरीत दिशाई घटनायें होंगी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देशों के मध्य स्वर्ण का न्यायोचित वितरण कराने म एक माध्यम का कार्य करता है।

(३) **स्वर्णमान का सघर्ष रहित कार्यवाहन**—रिकार्डो ने एक सरल अप्रबन्धित मौद्रिक प्रणाली की धारणा की हुई थी, जो आन्तरिक और बाह्य दशाओ तथा आने-जाने वाले स्वर्ण की मात्रा पर निर्भर है। जब किसी देश को स्वर्ण प्राप्त होता है, तो वह केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली मे प्रवेश कर लेता है, जिससे कि चलन मे मुद्रा की मात्रा बढ जाती है। [यह मान लिया गया था कि जब कभी स्वर्ण कोष मे वृद्धि होगी, तब ही केन्द्रीय बैंक्स मुद्रा की पूर्ति बढा देंगे।]

अति कल्पनात्मक दशाओ में ही सिद्धान्त वैध होना—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे असाम्यता के सुधार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त केवल बहुत ही कल्पनात्मक (hypothetical) दशाओ के अन्तर्गत, जोकि हमारे आधुनिक जगत मे कठिनता से ही विद्यमान हैं वैध होता है।

(१) **१६वीं शताब्दी के असमान, आधुनिक विश्व में बाह्य स्थायित्व की अपेक्षा आन्तरिक स्थायित्व को अधिक महत्व दिया जाता है**—उन्नीसवी शताब्दी म यह विश्वास किया जाता था कि यदि केवल बाह्य स्थायित्व (external stability) का ध्यान रखा जाय, तो आन्तरिक स्थायित्व (internal stability) अपना ध्यान खुद कर लेगा, लेकिन, प्रोफेसर कीन्स (Keynes) के प्रभाव के अन्तर्गत आधुनिक जगत म आन्तरिक स्थायित्व को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। अब यह कहा जाता है कि लागत कीमत स्थायित्व या आन्तरिक स्थायित्व को बिगडने नहीं देना चाहिये अन्यथा अर्थव्यवस्था मे विभिन्न प्रकार के सघर्ष तथा दबाव उत्पन्न हो जायेंगे। इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि स्फीतिक (inflationary) एव विस्फीतिक (deflationary) दोनों ही प्रकार के दबाव से बचा जाय, क्योंकि दोनों के बुरे प्रभाव पडते है। [स्मरण रहे कि उन्नीसवी शताब्दी मे विनिमय समता को टकसाली समता के बराबर स्थिर रखा जाता था। यदि किसी तरह मे इनमे भिन्नता हो भी जाती थी तो उसे स्वर्ण पाने वाले देश मे मुद्रा प्रसारिक परिस्थिति द्वारा एव स्वर्ण खोने वाले देश में मुद्रा विस्फीति परिस्थिति द्वारा सुधार लिया जाता था।]

(२) **आधुनिक अर्थ-व्यवस्थाओ की विशेषता उनकी बेलोचता है**—देश मे पूर्ण प्रतियोगिता और उत्पत्ति के साधनो को पूर्ण गतिशील मानते हुये प्रतिष्ठित सिद्धान्त ने अर्थ-व्यवस्थाओ को पूर्णत लोचदार (flexible) समझ लिया। लेकिन, हमारे आधुनिक विश्व मे, अपूर्ण एव एकाधिकारिक प्रतियोगितायें विभिन्न अशो मे विद्यमान है। अत इस सीमा तक वर्तमान अर्थ-व्यवस्थायें बेलोच है और स्वय को शीघ्रतापूर्वक तथा स्वचालित रूप से समायोजित करने मे असमर्थ हैं। उदाहरणार्थ, श्रम सघो के उदय के कारण मजदूरी-ढाँचे कठोर और बेलोच हो गये है।

(३) **स्वर्ण के एक न्यायानुकूल वितरण की कल्पना सच नहीं है?**—प्रतिष्ठित सिद्धान्त ने यह मान लिया था कि विभिन्न देशो मे स्वर्ण न्यायोचित रूप से वितरित हो जाता है। लेकिन यह मान्यता आज सही नहा है। यदि रिकार्डो की कल्पना के अनुसार चला जाय तो व्यापारिक देशों द्वारा स्वर्ण की अत्यधिक प्राप्तियाँ या अत्यधिक भुगतान स्वचालित रूप से समाप्त हो जाने चाहिये, किन्तु १६३० मे ऐसा नही हुआ था। कारण, अमेरिका ने स्वर्णमान का खेल ठीक तरह से नही खेला। उसने देश मे आने वाले स्वर्ण को मौद्रिक चलन मे प्रवेश नही करने दिया। परिणामत समायोजन की क्रिया रुक गई तथा अमेरिका मे स्वर्ण के अम्बार लग गये।

(४) **राजकीय हस्तक्षेप** आज का एक **फैशन बन गया है**—रिकार्डो ने यह सोचा कि यदि हमारे पास एक ऐसी चलन प्रणाली हो जो स्वचालित रूप से साम्य' में आने की सामर्थ्य रखे तो सरकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु आजकल हम यह देखते है कि न केवल मौद्रिक प्रणाली के क्षेत्र मे वरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे भी सरकार का हस्तक्षेप बढ गया है। पूँजीवादी दशा तक मे नियोजित विकास की योजनाएँ चलाई हुई है। इस प्रकार आज असाम्यता ऐसी चीज नहीं रह गई है जो कि अर्थव्यवस्था द्वारा स्वचालित रूप से प्राप्त हो जाय वरन् ऐसी चीज है जिसके लिए योजनाबद्ध प्रयास करने पडते है।

चूँकि प्रतिष्ठित सिद्धान्त द्वारा मानी गई दशाये वास्तविक जगत मे विद्यमान नहीं है इसलिए व्यापारिक देशो के भुगतान सन्तुलनों में असाम्यता का स्वचालित सुधार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त लागू नहीं होता।

असाम्यता के सुधार के लिए आधुनिक युग में अपनाये गये उपाय—

आजकल भुगतान सन्तुलन की साम्यता को कायम रखने के लिए (और यदि वह टूट गई है तो उसकी पुन स्थापना के लिए) सचेत एव पूर्व नियोजित प्रयत्न किय जाते है। इन उपायों का अध्ययन हम प्रतिकूल असाम्यता के सन्दर्भ मे करेगे। कारण, प्रतिकूल असाम्यता' 'अनुकूल असाम्यता' की अपेक्षा अधिक हानिप्रद है। इसके अतिरिक्त एक सक्रिय सन्तुलन को सही करने के उपाय उन उपायो के ठीक विपरीत है जो कि भुगतान सन्तुलन की निष्क्रियता के उपचार के लिए अपनाये जाते है। विभिन्न उपायो को दो वर्गों म विभक्त किया जा सकता है —(I) मौद्रिक उपाय (monetary Methods) एव (II) अ मौद्रिक उपाय (Non Monetary Methods)।

(I) मौद्रिक उपाय

मौद्रिक उपायो मे निम्नांकित उपाय सम्मिलित है —

(१) **स्वदेशी मुद्रा के बाह्य मूल्य का ह्रास**—मूल्य ह्रास में सरकार या कानून के हस्तक्षेप के बिना ही, देश की आर्थिक परिस्थति के स्वाभाविक परिणाम स्वरूप, स्वदेशी मुद्रा का बाह्य मूल्य (external value) कम हो जाता है। यह बात तब ही सम्भव है जबकि विनिमय दर को स्वतन्त्र (free) छोड दिया जाय। जब भुगतान सन्तुलन मे प्रतिकूल असाम्यता होती है, तो स्वदेशी करेंसी के लिए माँग इसकी पूर्ति की तुलना म कम होगी, अर्थात् बैंको मे विदेशी करेंसी विनिमय खरीदने वाले लोग बेचने वालो की अपेक्षा अधिक आयेगे। फलत बैंकस अपना विदेशी मुद्रा का भाव ऊँचा बताने लगेंगे। इससे विदेशी करेंन्सिया म स्वदेशी करेंसी का मूल्य गिर जाता है। यही स्थिति मूल्य ह्रास (depreciation) कहलाती है। इसके कारण स्वदेशी मुद्रा विदेशियो के लिए सस्ती हो जाती है और (यदि स्वदेशी बाजार म कीमत स्तर पूर्ववत रहे तो) स्वदेशी वस्तुयें विदेशियो को सस्ती मिलने लगती है इससे निर्यात प्रोत्साहित होते है।

दूसरी ओर चूँकि स्वदेशी मुद्रा के बाह्य मूल्य मे गिरावट आती है जबकि विदेशी करेन्सी के मूल्य म वृद्धि होती है, इसलिए, विदेशी वस्तुयें देशवासियों का महँगी पडने लगती है। इससे आयात निरुत्साहित होते है। निर्यात-प्रोत्साहन और आयात हतोत्साहन दोनो के सामूहिक प्रभाव स्वरूप भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता का सुधार हो जाता है।

(२) **मुद्रा का अवमूल्यन करना**—प्राय सभी देशो म विनिमय-दरो पर नियन्त्रण रखा जाता है। एसी दशा म जब भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करन हेतु स्वदेशी मुद्रा के बाह्य मूल्य म कमी होना आवश्यक समझा जाय तो सरकार जानबूझकर विनिमय दर को एक घटे हुए स्तर पर निश्चित कर देती है। स्वदेशी मुद्रा के बाह्य मूल्य को सरकार द्वारा जानबूझकर घटाना ही मुद्रा का 'अवमूल्यन' (Devaluation) कहलाता है। यदि देश स्वर्णमान पर हो और अन्य देश भी स्वर्णमान अपनाये हुए हो, तो अवमूल्यन के लिये स्वदेशी करन्सी की धातु-मात्रा (metallic contents) को कम कर दिया जाता है। अन्य दशाओ म जिस दर पर मुद्रा अधिकारी द्वारा विदेशी करैन्सी खरीदी और बेची जाती है उसे ऊंचा करके अवमूल्यन किया जाता है। अवमूल्यन का प्रभाव भी मूल्य ह्रास के सदृश होता है क्योकि दोनो म ही विनिमय दर म गिरावट आती है। फलत निर्यात प्रोत्साहित और आयात हतोत्साहित होते है जिससे भुगतान सन्तुलन के डेबिट और क्रेडिट खानो के मध्य खाई पटने लगती है।

किन्तु स्मरण रहे कि मूल्य ह्रास और मुद्रा अवमूल्यन दोनो ही उपायो की सफलता **विदेशियो की अनुकूल प्रतिक्रिया** (favourable reaction) और उनकी माग सम्बन्धी लोच पर निर्भर होती है। यदि विदेशी सरकारें किसी देश विशेष की विनिमय दर मे गिरावट को सहन न करें और प्रतिक्रिया स्वरूप अपनी विनिमय-दरो मे भी कमी कर दें, तो उक्त दशा को मूल्य ह्रास या अवमूल्यन से आशा किया गया लाभ प्राप्त न हो सकेगा। सन् १६३० की मन्दी के समय मे ऐसा हो देखा गया था। इसी तरह अवमूल्यन की नीति ग्रहण करते समय अन्य देशों की स्वदेशी वस्तुओ के लिए माँग की लोच पर भी ध्यान देना आवश्यक है। यदि निर्यात वस्तुओ के प्रति विदेशियो की माँग लोचदार है तो अवमूल्यन के फलस्वरूप मूल्य मे कमी होने से आय की हानि इतनी न होगी जितनी कि निर्यातो के बढने से लाभ। अर्थात् कुल पर, देश को अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त हो सकेगा। दूसरी ओर, यदि देश की निर्यात वस्तुओ के प्रति विदेशियों की माँग बेलोच है तो अवमूल्यन करने से देश को कोई विशेष लाभ न होगा।

(३) **मुद्रा का सकुचन करना**—उपरोक्त दोनो उपाय (मूल्य ह्रास एव अवमूल्यन) स्वदेश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम करने से सम्बन्धित हैं। किन्तु तीसरा उपाय स्वदेशी मुद्रा के आन्तरिक मूल्य को ऊँचा उठाने से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार से स्वदेशी करैंसी का बाह्य मूल्य गिरने से भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता

से सुधार की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार स्वदेशी करेंसी का आन्तरिक मूल्य बढने से भी असाम्यता का सुधार सम्भव हो जाता है। करेंसी का आन्तरिक मूल्य ऊँचा करने हेतु चलन माध्यम का सकुचन करके सामान्य कीमत स्तर को गिराया जाता है। इसे मुद्रा-सकुचन (currency deflation) कहते है। जब देश मे वस्तुओ की कीमतें घट जाती है, तो वह क्रय के लिये 'अच्छा' और विक्रय के लिये 'बुरा' बाजार बन जाता है। अर्थात्, विदेशी हम से अधिक खरीदते है और देशवासी भी, विदेशो मे खरीद कम करके, स्वदेशी वस्तुओ पर ध्यान देते है। इससे निर्यात बढते हैं और आयात घटते हैं तथा अन्तत दोनो ही एक दूसरे के साथ समायोजित हो जाते है।

किन्तु मुद्रा के सकुचन द्वारा भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता का उपचार कोई अच्छा उपाय नही है, क्योकि देश मे कीमतो का जानबूझकर गिराने से आर्थिक सकट उपस्थित होने का भय रहता है। कारण, जब कीमते घट जाती है, तो उत्पादको को हानि होने लगती है, वे उत्पादन घटाने लगते है, जिससे बेकारी एव मदी फैलती है यह यदि कभी यह उपाय अपनाया ही जाय, तो बडी सावधानी की आवश्यकता होगी।

(II) अ-मौद्रिक उपाय—

मौद्रिक उपायो के अन्तर्गत आयात-निर्यात को अप्रत्यक्ष रूप से (मुद्रा के द्वारा) प्रभावित करके भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता को सुधारने का यत्न किया जाता है, किन्तु अ मौद्रिक उपायो के अन्तर्गत आयात-निर्यात को प्रत्यक्ष रूप मे प्रभावित किया जाता है। ये उपाय आयातो को प्रतिबन्धित तथा निर्यातो को प्रोत्साहित करने मे सम्बन्धित हैं। निर्यात प्रोत्साहन की अपेक्षा आयात-प्रतिबन्धो की भूमिका अधिक महत्व-पूर्ण है।

(१) आयातो में कटौती—प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को सुधारने के हेतु सर्वप्रथम देश की आयात सूची की सावधानी से परीक्षा करके यह पता लगाना चाहिए कि किन अनावश्यक आयातो को, देश की अर्थ-व्यवस्था को हानि पहुँचाये बिना, घटाया या समाप्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध म निम्नलिखित बातो को ध्यान म रखना चाहिए —

(i) अनेक वस्तुये ऐसी होती है, जिनका आयात प्राय धनी वर्गो की इच्छाओ को सन्तुष्ट करने हेतु किया जाता है और यह लोग उन वस्तुओ को इसलिए प्रयोग मे लाते है कि एक विलासपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें। अत इनके आयात को सहज ही कम किया जा सकता है।

(ii) ऐसे आयात-स्थानापन्नो को, जिनका उत्पादन स्थानीय रूप मे उप-लब्ध उत्पत्ति साधनो की सहायता से तुरन्त ही आरम्भ किया जा सकता है, देश मे ही उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए।

(iii) ऐसी वस्तुयें आयात करनी चाहिए जो कि भविष्य मे आयातो को घटाने मे सहायक हो। उदाहरणार्थ, आयात स्थानापन्नो (Import substitutes) के उत्पादन का सगठन करने हेतु विदेशो से आयात किये जाने वाले उत्पत्ति साधन निम्न प्रकार सहायक हो सकते है :—(अ) कालान्तर म आयातो मे कटौती को सुविधाजनक बनाना, (ब) कुछ आवश्यक आयात स्थानापन्नो का देशी उत्पादन सम्भव बनाना, एव (स) आयात रचना मे इस प्रकार सशोधन करना कि जिससे अतिम उपभोग के लिए निर्मित्त वस्तुओ के बजाय दुर्लभ उत्पत्ति-साधनो के आयात को बढावा मिले।

अवाछनीय आयात को घटाने या समाप्त करने के हेतु निम्नलिखित उपाय किये जा सकते है —

(अ) आयात निषेध (Import prohibition)—जिन वस्तुओ को अनावश्यक या कम महत्त्वपूर्ण समझा जाय, उनके आयात का निषेध किया जा सकता है। इनके कच्चे मालो के निर्यात का भी देश म इनकी कीमते गिराने के लिए, निषेध किया जा सकता है।

(ब) आयात कर (Import duties)—आयातो को कम करने का एक अन्य ढग यह है कि आयात वस्तुओ पर कर लगाये जायें या जब यह पहले से ही लगे हुये हो तो उनमे वृद्धि कर दी जाय। यह कर वस्तु की प्रति इकाई के अनुसार या कीमत के एक प्रतिशत के रूप मे लगाये जा सकते है। इकाई की परिभाषा विभिन्न प्रकार से (जैसे—तौल लम्बाई, आयतन या अन्य विशिष्ट विवरण के रूप मे) की जा सकती है। वस्तु की कीमत के एक निश्चित प्रतिशत के रूप मे लगाये गये करो को 'मूल्यानुसार चुगी' (advalorem duties) कहते है। आयात कर लगने या बढने से क्रेताओ को ऊँची कीमत देनी पडती है और विक्रेताओ को कम कीमत मिलती है तथा अन्तर की राशि सरकार के खजाने मे पहुँच जाती है। इस प्रकार, विदेशो से पूर्ति और स्वदेश मे माँग दोनो मे ही कमी हो जाती है। अत यह कहा जाता है कि आयात-कर भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को सुधारने का एक प्रभावशाली उपाय है।

किन्तु, अनेक दशाओ मे प्रभावशाली होने हुये भी, आयात कर सभी दशाओं मे और सर्वदा प्रभावशाली होंगे ऐसा नही कहा जा सकता। उदाहरण के लिए, आयातो पर खर्च करने से जो आय बचे उसे निर्यात की जाने वाली वस्तुओ पर व्यय करने मे प्रयोग किया जा सकता है। यदि ऐसा हुआ, तो निर्यात भी घट जायेंगे जिससे आयातो को घटाने से हुआ लाभ बेकार हो जायेगा। अथवा यह भी हो सकता है कि बचाई हुई आय को कर-मुक्त या कम कर लगी हुई विदेशी वस्तुओं पर व्यय किया जाय। ऐसी दशा मे भी 'कुल आयात' मे कोई कमी न हो सकेगी।

(स) प्रशासनिक उपाय—इन उपायों का सम्बन्ध कस्टम सम्बन्धी नियमों की व्याख्या करने से है। नियमों की व्याख्या इस प्रकार से की जा सकती है जोकि आयातकों को परेशानी में डालने वाली तथा निरुत्साहित करने वाली हो उदाहरणार्थ, यदि कोई आयात कर मूल्यानुसार लगाया गया है तो चुङ्गी अधिकारी बीजक की वैधता को अस्वीकार करते हुए वास्तविक से अधिक कीमत नियत करके अधिक कर वसूल कर सकते हैं। लेकिन इस उपचार म अनैतिकता की पुट होने के कारण इसका व्यापक समर्थन नहीं किया गया है।

(द) कोटा प्रणाली—आयातों को सीमित करने का एक अन्य उपाय कोटा प्रणाली (Quota System) है। कोटा प्रणाली के रूप कई है जैसे —

(i) लाइसेंस कोटा प्रणाली, जिसके अन्तर्गत सरकार कुछ गिने-चुने व्यापारियों को ही वस्तुओं के आयात करने की अनुज्ञा (licence) देती है। ये व्यापारी भी केवल निर्दिष्ट वस्तुये और निर्दिष्ट मात्राओं मे ही मँगा सकते है। किन वस्तुओं का और कितनी मात्राओं मे आयात किया जाय इसका निर्णय समय-समय पर देश की परिस्थितियों के सदर्भ मे सरकार करती है।

(ii) एक पक्षीय कोटा प्रणाली, जिसमे देश अपने ही आयातो पर प्रतिबन्ध लगाता है। इसके आधीन या तो प्रत्येक वस्तु की अधिकतम आयात-मात्रा निश्चित कर दी जाती है और इसे विश्व के किसी भी देश से मँगाया जा सकता है, जिस दशा मे इसे 'सासारिक कोटा' (Global Quota) कहते हैं, अथवा, सरकार द्वारा वस्तु के आयात के लिये निश्चित की गई अधिकतम् मात्रा उन्ही देशो से एव उतनी ही मात्राओं मे मँगाई जा सकती हैं, जिन्हे सरकार ने नियत कर दिया हो, जिस दशा मे इसे 'विभाजित कोटा' (Allocated Quota) कहते हैं।

(iii) द्विपक्षीय कोटा प्रणाली, जिसमे सरकार किसी देश से केवल एक निश्चित मात्रा तक आयात करने की अनुमति देती है और इस मात्रा तक आयातको से केवल रियायती आयात कर ही वसूल किये जाते है किन्तु अधिक आयात करने पर वे दण्डस्वरूप ऊँची दर से वसूल किये जायेंगे।

कोटा वस्तु की मात्रा (Quantity) के सदर्भ मे निश्चित किया जा सकता है अथवा मूल्य (Value) के सदर्भ में। अधिकारीगण यह निश्चित कर सकते हैं कि अमुक वस्तु का आयात अमुक मूल्य से अधिक नही होना चाहिये। मात्रा के बजाय मूल्य-सीमा को कोटा प्रणाली का आधार बनाना अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि हमारा उद्देश्य कुल आयात मूल्य म कमी करना है न कि आयात-मात्रा म कमी करना।

स्मरण रहे कि आयातों में कटौती करने की एक सीमा होती है। देश की प्रगति और सम्पन्नता के हित में कुछ आयात करने अति आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त विदेशी देशों द्वारा बदले की कार्यवाही (retaliation) की भी आशङ्का है, क्योंकि वे भी अपने यहाँ हमारे देश से आने वाली वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगा सकते हैं। यदि उन्होंने ऐसा किया तो हमारे द्वारा आयातों में कटौती के प्रयत्न भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को सुधारने की दृष्टि से, प्रभावशाली न होंगे, इस प्रकार, एक न्यूनतम् सीमा तक आयात किये ही जायेंगे।

(२) **निर्यात वृद्धि**—निर्यात वृद्धि (Enlargement of Exports) सम्बन्धी उपाय भी भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता का एक अच्छा उपचार हो सकते हैं, क्योंकि आयात अतिरेक का भुगतान निर्यात वृद्धि द्वारा किया जा सकता है। निर्यातों में वृद्धि करने हेतु निम्न कदम उठाये जा सकते हैं —(अ) कुछ मदें केवल निर्यात के लिए ही सुरक्षित रखकर निर्यात वस्तुओं के लिए स्थानीय माँग कम किया जा सकता है। (ब) देश के बाहर नये बाजारों की खोज की जाय और विभिन्न वस्तुओं की निर्यात सम्भावनाओं का पता लगाया जाय। (स) समुचित वार्ता द्वारा व्यापार की अधिक अनुकूल शर्तें प्राप्त की जायें। इसका प्रभाव उतना ही महत्वपूर्ण होता है जितना कि निर्यात के भौतिक आकार में वृद्धि होने का। (द) बहु-पक्षीय व्यापार समझौते किये जायें। (य) निर्यात-कर घटाये जायें। (र) उत्पादन लागतें घटाई जायें। (ल) एक सीमा से अधिक निर्यात करने वाले व्यापारियों को विशेष सुविधायें दी जायें। (व) निर्यात वस्तुओं के प्रयोग में आने वाले कच्चे मालों पर वसूल की गई चुङ्गी लौटाई जाय। (ह) कुछ वस्तुओं के निर्यात को आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित किया जाय।

(३) **विनिमय नियन्त्रण**—इस उपाय का आशय निर्यात-आय पर कड़ी निगाह रखने तथा जो विदेशी मुद्रा प्राप्त हो उसके व्यय पर कड़ा नियन्त्रण रखने से है। सब व्यापारियों को, जिन्हें विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है, यह आदेश दिया जा सकता है कि वे उसे एक केन्द्रीय कोष में जमा करा दें। बाद में अधिकारीगण इसे विभिन्न मदों पर, सरकार द्वारा निर्धारित प्राथमिकता क्रम के अनुसार, वितरित कर सकते हैं।

ऊपर वर्णित मौद्रिक एवं अमौद्रिक उपाय विभिन्न देशों द्वारा विभिन्न समयों पर अपनाये गये हैं। ये उपाय एक दूसरे के पूरक हैं विरोधी नहीं। इनमें परस्पर उचित समन्वय होना चाहिए। वैसे आयात कर लगाना सबसे प्रचलित ढङ्ग है। आर्थिक सहायता का ढङ्ग कभी-कभी ही प्रयोग किया जाता है। अवमूल्यन, मूल्य ह्रास, कोटा और विनिमय-नियन्त्रण असाधारण उपाय हैं, जो तब ही अपनाये जाते हैं जबकि साधारण उपाय सफल न हो।

आधुनिक वर्षों में असाम्यता के सुधार में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भी सहायता मिलने लगी है। इस संस्था ने भुगतान सन्तुलन की असाम्यताओं को दो वर्गों

मे बाँटा है—मौलिक असाम्यता (Fundamental disequilibrium) एव अस्थाई असाम्यता (Temporary disequilibrium)। प्रत्येक दशा मे उपचार के अलग अलग उपाय किये जाने चाहिए। इस विषय मे कोष के विशेषज्ञो का बहुमूल्य परामर्श सदा उपलब्ध रहता है तथा कोष से अस्थाई ऋण भी मिल सकते है।

उल्लेखनीय है कि भुगतान सन्तुलन की अल्पकालिक असाम्यता अधिक चिन्ता की बात नही है किन्तु दीर्घकालिक असाम्यता नि सन्देह चिन्ता का विषय होती है। देखा जाय तो कोई देश अपने भुगतान सन्तुलन को निरन्तर और दीर्घकाल तक अनुकूल बनाये नही रह सकता है। भुगतान सन्तुलन को अनुकूल रखने के लिए निर्यातो को प्रोत्साहन देना और आयातो पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है किन्तु जब एक देश ऐसी स्वार्थपूर्ण नीति अपनाता है तो अन्य देश भी अपने हितो की रक्षा के लिये, वैसी ही नीति अपनाने लगते है। इससे विश्व व्यापार मे कमी आ जाती है। भुगतान सन्तुलन को निरन्तर अनुकूल बनाये रखना केवल ऐसी असाधारण दशाओ मे ही सम्भव है जिनमे कि देश अधिकाँश वस्तुओ के उत्पादन मे आत्मनिर्भर हो और उसके निर्यातो के प्रति विदेशियो की माँग बेलोच हो। लेकिन ऐसे देश भी जल्दी ही राजनैतिक झगडो मे फस जाते है और उन्हे अपनी नीति बदलनी पडती है। उदाहरणार्थ मध्य पूर्व के देशो मे जनसख्या कम है और वहा अधिक तादाद मे तेल मिलता है, जिसमे वहाँ उद्योग धन्धे विकसित न होते हुए भी उनका भुगतान सन्तुलन निरन्तर अनुकूल रहता है। किन्तु इसी से विश्व के शक्तिशाली देश वहाँ अपने राजनैतिक दाँव-पेच दिखाते रहते है। कुल पर, यह कह सकते है कि विश्व व्यापार सब देशो के सहयोग पर निर्भर है। सामूहिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन की प्रवृत्ति यथासम्भव सन्तुलित और स्थिर ही रहनी चाहिए।

आन्तरिक एव बाह्य सन्तुलन का परस्पर समायोजन
(Reconciliation of Internal and External Balance)

जब किसी देश का भुगतान सन्तुलन उसके प्रतिकूल हो गया है तो अधिकारियो को आन्तरिक एव बाह्य दोनो ही प्रकार के सन्तुलनो पर एक दी हुई नीति के प्रभावो को समझना पडता है। उदाहरणार्थ देश A को विदेशो मे आई हुई मन्दी के फलस्वरूप अपनी विदेशी बिक्री मे कमी आने से भुगतान सन्तुलन मे प्रतिकूलता का सामना करना पड सकता है। प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन के उपचार का प्रतिष्ठित उपाय तो यह था कि मजदूरी सकुचन (wage deflation) या (बाद मे) विनिमय ह्रास द्वारा लागतो को कम किया जाय। किन्तु अभी हाल मे 'आय नीति' (Income policy) पर अधिक बल दिया गया है।

आय नीति (Income policy)—

'आय नीति' के आधीन प्रशुल्क उपायो (जैसे-करो मे वृद्धि या सार्वजनिक व्ययो मे कमी) के द्वारा साथ मे मौद्रिक नीति मुद्रा पूर्ति मे कमी एव ऊची ब्याज दर) की सहायता लेते हुए, आय पर नियन्त्रण किया जाता है। एक प्रतिकूल-भुगतान-

सन्तुलन वाली अवधि में आय की गिरावट के साथ सम्बन्धित आयातों में कमी हो जाती है। किन्तु वित्तीय नीति (प्रशुल्क नीति+मौद्रिक नीति) का सहारा लेते समय, अधिकारियों को चाहिए कि इसके आन्तरिक सन्तुलन पर जो प्रभाव पड़े में उनको भी विचार में रखें। उदाहरणार्थ, सकुचन की नीति A देश के लिए बाह्य-सन्तुलन की समस्या का तो सुलझा देती है किन्तु आन्तरिक सन्तुलन की समस्या को उलझा देती है। जैसे—A देश में बेरोजगारी पहले से ही थी, किन्तु अब वह अधिक उग्र हो जाती है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

जब दो देशों के समक्ष अपने आन्तरिक एवं बाह्य सन्तुलनों के मध्य सामजस्य रखने की समस्यायें हों तो उनके समन्वित समाधान का तरीका प्रोफेसर मीड (Meade) ने अपनी पुस्तक Balance Payments में सुझाया है। यह तरीका निम्नलिखित तालिका के रूप में संक्षिप्त किया जा सकता है—

Conflicts of Criteria for Inflationary and Deflationary Financial Policies[1]

National Income in the Surplus Country	National Income in the Deficit Country	In the interests of external balance	internal balance in the Surplus Country	internal balance in the Deficit Country	
is too low (L) Or too high (H)		there should be an inflation (S+) or deflation (S—) of domestic expenditure in the surplus country and an inflation (D+) or deflation (D—) of domestic expenditure in the deficit country			
(a)	(b)	(c)	(d)	(e)	
L	L	S+ D—	S+ D+	S+ D+	(1)
	H	S+ D—	S+ D+	S— D—	(2)
H	L	S+ D—	S— D—	S+ D+	(3)
	H	S+ D—	S— D—	S— D—	(4)

1 Reproduced from *International and Interregional Economics*
—Harris, p. 77.

उपरोक्त तालिका मे चार पंक्तियाँ है जिन से प्रथम उन वैकल्पिक नीतियो का सकेत करती है जो कि दोनों देशो मे राष्ट्रीय आय बहुत ही नीची (L) होने की दशा म आन्तरिक एव बाह्य सन्तुलन प्राप्त करने हेतु अपनाई जानी चाहिए। स्पष्टत बाह्य सन्तुलन प्राप्त करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय खाते म अतिरेक (surplus) रखने वाले देश को अपनी आय मे घाटे की वित्त व्यवस्था (deficit financing) द्वारा, वृद्धि करने (inflate) का यत्न करना चाहिए। आधिक्य वाले देश की यह नीति भुगतान सन्तुलन म इसके आधिक्य को घटा देगी या समाप्त कर देगी, जिससे आधिक्य वाला देश एव घाटे वाला देश दोनो ही अपने-अपने अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन मे साम्य के अधिक निकट पहुँच जायेंगे। आधिक्य देश (S) के लिए इसका प्रभाव आन्तरिक आवश्यकता के अनुरूप ही होता है—आय म वृद्धि होना, रोजगार म वृद्धि होना और बेकारी मे कमी आना। अत न केवल S+ (अर्थात्, आधिक्य वाले देश म आन्तरिक व्यय को बढाने की नीति) आन्तरिक एव बाह्य दोनो सतुलन के लिए एक सही नीति है (इसीलिए (S+) 1c, 1d और 1e मे है), वरन् आधिक्य (S) देश के लिए आन्तरिक एव बाह्य सतुलन की प्राप्ति के लिए आवश्यक नीतियो मे सङ्गति (consistency) भी पाई जाती है।

किन्तु अब घाटे वाले देश (D) की दृष्टि से विचार कीजिए। बाह्य सन्तुलन की ओर बढने के लिए D को अपनी आय का सकुचन करना चाहिए जिससे कि आय मे और इसलिए आयातो म कमी होकर सतुलन की प्रतिकूलता सुधरने लगे। किन्तु दुर्भाग्यवश बाह्य सन्तुलन के लिए प्रस्तावित नीति आन्तरिक सन्तुलन की दृष्टि मे गलत नीति है। चूँकि D मन्दी के चक्कर मे फँसा हुआ है, इसलिए सकुचन उसके लिए लाभप्रद दवा नही है। अत D के सामने एक विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है और इसलिए उसे बहुत सीमा तक S की सही नीतियो पर निर्भर रहना पडता है। यदि S की सही नीतियो के द्वारा बाह्य और आन्तरिक सन्तुलन प्राप्त न हो सके, तो फिर D को अपनी आन्तरिक स्थिति की आवश्यकताओ के अनुसार चलना होगा, अर्थात् विस्तारमूलक नीति चलाने हेतु विदेशी ऋणों और नियन्त्रणों पर निर्भर रहना पडेगा, जिससे कि यह नीति उसके अन्तर्राष्ट्रीय खाते मे सङ्कट की स्थिति पैदा न कर सके, क्योकि आयात अत्यधिक बढ जायेंगे।

तीन अन्य दशायें (अर्थात् S मे निम्न राष्ट्रीय आय + D मे ऊँची राष्ट्रीय आय, S मे ऊँची राष्ट्रीय आय + D मे नीची राष्ट्रीय आय, एवं S मे ऊँची राष्ट्रीय आय + D मे ऊँची राष्ट्रीय आय) भी गम्भीर समस्यायें उत्पन्न करती है। ये समस्यायें दो दशाओ मे यथोचित रूप से हल हो जाती है किन्तु तीसरी दशा (S मे ऊँची राष्ट्रीय आय + D मे नीची राष्ट्रीय आय) मे नही। बाह्य सतुलन की प्राप्ति के लिए आतरिक व्यय को S मे बढाना और D मे घटाना चाहिए (जैसा कि प्रथम पंक्ति मे है। किन्तु S मे आन्तरिक सतुलन स्थापित करने के लिए S और D दोनो को ही आन्तरिक व्यय घटाने चाहिए, घाटे वाले देश मे, जोकि अर्द्ध-नियोजित अर्थ-

व्यवस्था (under employed economy) है. आन्तरिक सतुलन की प्राप्ति के लिए, दोनों देशों को व्यय बढ़ाने चाहिए। अतः S की बाह्य आवश्यकताओं के लिए जो नीति सही है वह उसकी आन्तरिक स्थिति के लिए गलत नीति है, कारण, आन्तरिक व्यय की वृद्धि, जो सक्रिय सन्तुलन को सुधारेगी, आन्तरिक स्थिति को और भी स्फीतिक बना देगा तथा D भी यह पायेगा कि बाह्य नीति के लिए आतरिक व्यय में जिस घटौती की आवश्यकता है उसे कार्यान्वित करने में उसकी पहले से ही अर्द्ध नियोजित व्यवस्था और भी सकुचित हो जायेगी। प्रोफेसर मीड ने अपनी पुस्तक के एक अगले अध्याय में इन्हीं चार दशाओं के लिए, जबकि अधिकारियों को प्रशुल्क एवं मौद्रिक नीतियों के द्वारा आतरिक व्यय में घटा बढ़ी करने के आधुनिक हथियारों के साथ कीमत सम्बन्धी हथियार (जैसे—मजदूरी में कटौती, मूल्य ह्रास) भी उपलब्ध हों, वैकल्पिक नीतियों पर विचार किया है। घाटे वाले देश के लिए बाह्य सतुलन की प्राप्ति हेतु सर्वोत्तम उपाय मजदूरियों में कमी करना या विनिमय ह्रास करना है, किन्तु यहाँ भी बाह्य एवं आतरिक उद्देश्यों में संघर्ष पर निगाह रखनी चाहिए। यह सम्भव है कि आन्तरिक सन्तुलन रखने हेतु वित्तीय नीति और बाह्य सतुलन के लिए कीमत नीति अपनाई जाय अथवा विपरीत क्रम में बाह्य सन्तुलन के लिए वित्तीय नीति तथा आन्तरिक सतुलन के लिए कीमत नीति अपनाई जाय।

डालर-सङ्कट

'डालर सङ्कट' का अर्थ डालरों की पूर्ति इनकी माँग की तुलना में कम हो जाना है। डालरों की पूर्ति का स्रोत अमेरिका द्वारा विश्व के अन्य देशों से खरीद करना या उन्हें ऋण देना है और डालरों की माग तब उदय होती है जबकि अन्य देश उससे आयात करते हैं या उसे मूलधन, ब्याज अथवा लाभांश चुकाते है। नीचे हम जिस 'डालर सङ्कट' की चर्चा करने जा रहे है वह इस तथ्य का कथन मात्र है कि विश्व-बाजार में डालरों की पूर्ति विभिन्न देशों में इनकी माँग में कम है। अन्य शब्दों में आधुनिक वर्षों में अमेरिका शेष विश्व से जितना क्रय कर रहा है या उसे उधार दे रहा है उससे कहीं अधिक मात्रा में शेष विश्व अमेरिका में खरीद रहा है।

डालर संकट के कारण—

डालर के अभाव की समस्या का अध्ययन स्टर्लिङ्ग एरिया की पृष्ठिभूमि में सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के देशों को डालरों की कोई कमी अनुभव नहीं हुई थी। दुर्लभ करेन्सी (डालर) में उन्हें जितना भुगतान करना पड़ता था उतना उन्हें उपलब्ध था। चालू खाते में, डालर देशों के साथ स्टर्लिङ्ग देशों को जो घाटा (deficit) था उसकी पूर्ति नई खानों से निकले हुए स्वर्ण के निर्यात से हो जाती थी। किन्तु युद्ध के बाद स्थिति बिल्कुल ही बदल गई। स्टर्लिङ्ग देशों की दुर्लभ करेंसी की प्राप्तियों और भुगतानों के मध्य अन्तर रहने लगा, जो १६४७ में ४,१०० मि० डालर तक आ पहुँचा। इस न्यूनता (gap) के निम्नलिखित कारण थे —

(१) **प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन**—डालर संकट के लिए दायी सबसे प्रमुख घटक स्टर्लिङ्ग देशों के व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता थी। डालर क्षेत्र के साथ स्टर्लिङ्ग देशों का व्यापारिक घाटा सन् १९४७ में २७०० मि० तक पहुँच गया था।

(२) **कीमतों में वृद्धि**—युद्ध काल में कीमतें बहुत बढ़ गई थी। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन द्वारा अमेरिका को बेची जाने वाली वस्तुओं की कीमतें दूनी से भी अधिक हो गई थी। किन्तु अमेरिका से आयातों की कीमतें निर्यात-कीमतों की अपेक्षा अधिक (लगभग १०% अधिक) बढ़ गई।

(३) **पुनर्निर्यात पर ब्रिटेन की आय में कमी**—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ब्रिटेन से अमेरिका को जो चाँदी जाया करती थी उस पर उसे प्रति वर्ष १०० मि० डालर की आय होती थी। किन्तु सन् १९४७ में यह प्रवाह बहुत ही घट गया। इसी प्रकार, अन्य वस्तुये जो कि इङ्गलैंड से होकर अमेरिका और कनाडा जाया करती थी अब उनका जाना बन्द हो गया। जबकि पहले ब्रिटेन के निर्यात और पुनर्निर्यात उत्तरी और मध्य अमेरिका से देश के आयातों का लगभग आधा (५०%) भुगतान कर दिया करते थे, १९४७ में वह केवल एक चौथाई (२५%) या इससे भी कम कर सके।

(४) **डालर देशों से आयातों में वृद्धि**—स्टर्लिङ्ग एरिया के सभी सदस्य (केवल यू० के० के अतिरिक्त) डालर क्षेत्र को युद्ध-पूर्व वर्षों की तुलना में ड्योढ़ा निर्यात कर रहे थे, किन्तु वे आयात भी तीन गुना कर रहे थे। युद्ध-पूर्व अवधि में डालर-आयातों का भुगतान करने के लिये जितनी राशि चाहिये थी उससे निर्यातों का मूल्य १५% अधिक ही बैठता था, किन्तु १९४७ में वह आयातों के मूल्य का केवल आधा ही था। बढ़े हुये आयातों के कारण स्पष्ट है—अन्य देशों ने युद्ध काल में अपने पूँजीगत सामान के सम्बन्ध में बहुत हानि उठाई तथा अपने विदेश स्थित विनियोग एवं सम्पत्तियां बेचने के लिये भी विवश हो गये। किन्तु दूसरी ओर, अमेरिका ने युद्धकाल में अपनी उत्पादक शक्ति इतनी बढ़ाली थी कि जब युद्ध समाप्त हुआ तो उसने अपने को शेष विश्व से आगे पाया। अत वह विश्व को अपने क्रय की अपेक्षा कहीं अधिक बेचने में समर्थ था।

(५) **स्वर्ण एवं रबड़ निर्यातों का महत्त्व कम होना**—स्वर्ण और रबड़ की कीमतों का स्तर पहले की अपेक्षा नीचा होने से स्टर्लिङ्ग-डालर-सन्तुलन पर गहरा प्रभाव पड़ा, क्योंकि ये दो वस्तुयें सबसे महत्त्वपूर्ण डालर-निर्यात थी। यदि इनकी कीमतें भी अन्य कीमतों की भांति बढ़ जातीं, तो उनके निर्यात से स्टर्लिङ्ग एरिया को ३,५०० मि० डालर की अतिरिक्त आय हो सकती थी।

(६) **अदृश्य मदों पर घाटा**—डालर संकट को बढ़ाने वाला एक अन्य घटक यह था कि अदृश्य मदों में शुद्ध आय की अपेक्षा घाटा रहने लगा। इस हेर-फेर के प्रमुख कारण निम्न थे ब्रिटिश आयल कम्पनियों के सचालन में डालर-लागतें अधिक होना और ब्रिटेन को शिपिंग में डालर-आय में कमी होना।

उपरोक्त समस्त परिस्थितियों का परिणाम यह हुआ कि अमेरिका विश्व में जितना खरीद रहा था उससे अधिक उसे बेच रहा था। किन्तु यह केवल अल्प-अवधि के लिए ही सम्भव था। अतः जैसे ही डालर अभाव अधिक कष्टदायक बना, इसे दूर करने के उपाय निम्न तीन दशाओं में आरम्भ किये गये —(i) अमेरिका ने विश्व के अन्य भागों को उदारतापूर्वक ऋण देना प्रारम्भ किया। इस कदम का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि डालरों की सप्लाई में वृद्धि हुई (मार्शल सहायता एवं पुनर्वास कार्यक्रम इसी श्रेणी में आते हैं), (ii) विश्व के अन्य देशों ने अमेरिकी वस्तुओं के आयात में कटौती का यत्न किया, एवं (iii) नॉन-डालर देशों ने अपने डालर-दायित्वों के भुगतान के लिये अपने संचित डालर और स्वर्ण कोषों से विशाल राशियों का आहरण किया।

दुर्भाग्यवश परिस्थिति अधिकाधिक बिगड़ती चली गई, क्योंकि अमरिकन अर्थव्यवस्था में मंदी ने अपना दुर्मुख उठाना आरम्भ कर दिया था। फलतः वहाँ व्यावसायिक दशायें तेजी से बिगड़ने लगीं, औद्योगिक उत्पादन धीमा पड़ गया तथा अन्य देशों की वस्तुओं के लिये अमेरिकी माँग कम हो गई। दूसरी ओर, शेष विश्व में, जहाँ युद्ध जर्जरित अर्थव्यवस्थाओं का पुनर्निर्माण तेजी से किया जा रहा था, अमेरिकी माल की माँग पूर्ववत् बनी रही। फलतः 'डालर-अभाव' बढ़ गया और इसमें डालर और नॉन-डालर देशों के व्यापारिक सम्बन्धों के टूटने तक का अवसर आ गया। कारण, नॉन-डालर देश अमेरिका से वस्तुयें नहीं खरीद पा रहे थे और वे आपस में ही व्यापार करने लगे थे। इस प्रकार, विश्व पृथक् पृथक् व्यापारिक गुटों में तेजी से बटने लगा जो आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से अवांछनीय था।

परिस्थिति के सुधार-हेतु किये गये प्रयत्न—

अतः इङ्गलैंड, अमरिका और कनाडा का एक त्रिपक्षीय सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में हुए विचार विमर्शों के फलस्वरूप अमेरिका यह अनुभव करने लगा कि डालर-सङ्कट केवल नॉन-डालर देशों के लिये ही नहीं, वरन् डालर देशों के लिये भी सिर-दर्द है अतः अमेरिका को इसके निवारण में सक्रिय योग देना चाहिये।

डालरों की पूर्ति बढ़ाने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि अमेरिका अपने आयात प्रशुल्कों में कमी करके तथा कस्टम प्रशासन को सुगम बनाकर अधिक विदेशी वस्तुयें खरीदे और विदेशी विनियोजन का एक स्थायी कार्यक्रम बनाये। तब से अमेरिका एक पक्षीय हस्तान्तरों, उपहारों और सहायता-अनुदानों के द्वारा डालर के अभाव को कम करने के लिए प्रयत्न करता रहता है। किन्तु याद रहे कि बेकारी-अनुदान (doles) स्वभावतः अरुचिकर लगते हैं। यही नहीं, अल्प अवधियों वाले ऋण भी प्राप्तकर्ता देशों के दीर्घकालीन आर्थिक विकास का स्थाई आधार नहीं बन सकते।

१९५७ के अंत तक अमेरिका ने ६,००० मि० डालर से भी अधिक के ऋण

दिये और ६,००० मि० डालर से भी अधिक के अनुदान स्वीकार किये। मार्शल-सहायता-कार्यक्रम ने यूरोपीय देशों को पुनर्जीवन प्राप्त करने में बड़ी सहायता पहुँचाई। इस पर १९४८ और १९५२ के मध्य १७,००० मि० डालर व्यय हुए। इन सब उपायों के फलस्वरूप अब डालर अभाव बहुत सीमा तक सुलझ गया।

परीक्षा प्रश्न :

१ 'भुगतान सन्तुलन' वाक्यांश से सम्बन्धित विभिन्न व्याख्यायें क्या हैं? इस धारणा के आर्थिक महत्त्व का विवेचन कीजिए।

२ भुगतान सन्तुलन' से आप क्या समझते हैं? जब यह देश के प्रतिकूल होता है तो इसे सुधारने हेतु जो उपाय प्राय अपनाये जाते हैं उनका संक्षिप्त विवेचन करिये। (आगरा एम० कॉम० १९६९)

३ अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के सन्तुलन म साम्यावस्था बनी रहने के प्रतिष्ठित सिद्धान्त का विवेचन कीजिये।

[Discuss the classical theory of mechanism whereby international balances of payments are maintained in or restored to equilibrium]

४ किसी देश के आयात एव निर्यात अतत स्वय को सन्तुलित कर लेते है।" इस कथन की समीक्षा करिये और यह समझाइये कि क्या इसके कोई अपवाद हैं।

५. भुगतानों के सन्तुलन में डालर-घाटे को पाटने की समस्या आज भी विश्व की प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं म से एक है।" समीक्षा कीजिये।

६ उन मदों की जोकि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के सन्तुलन के क्रेडिट पक्ष में प्रगट की जाती हैं एक सूची तैयार कीजिये। डेबिट पक्ष की मदों के लिये भी सूची बनाइये। अनुकूल व्यापार सन्तुलन से क्या आशय है? चालू खाते के सन्तुलन से एव बुनियादी घाटे से आप क्या समझते हैं? अदृश्य मद से क्या आशय है? अल्पकालीन एव दीर्घकालीन पूँजी आवागमनों में भेद बताइये।

७ एक नव ऋणी देश एव परिपक्व ऋणी देश, एक नव ऋण-दाता देश एव एक परिपक्व ऋणदाता देश के लिए काल्पनिक भुगतान सन्तुलन बनाइये।

[Construct hypothetical balance sheets of a young debtor country, a mature debtor country, a new creditor country and a mature creditor country]

८ अनुकूल भुगतान सन्तुलन की प्राप्ति म एक विकासोन्मुख देश को जिन कठिनाइयों को भुगतना पड़ता है उनका वर्णन कीजिये।

[Describe the difficulties which an economically underdeveloped country experiences in achieving a favourable balance of payments] (आगरा, एम० ए० १९६६)

'किसी देश का भुगतान सन्तुलन सदा सन्तुलित रहता है।" यदि ऐसा है, तो फिर भुगतान सन्तुलन में असाम्यता का क्या अर्थ है ?

[The balance of payment of a country is always in balance " What then is the precise meaning of disequilibrium in balance of payments ?] (इलाह०, एम० कॉम०, १९६६)

किसी देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता के क्या कारण है ? अर्द्ध-विकसित देशों के विशेष सदर्भ सहित यह बताइये कि ऐसी असाम्यता को कैसे सुधारा जा सकता है ?

[What are the causes of disequilibrium in the balance of payments of a country ? Discuss the correctives of such disequilibrium with special reference to under-developed countries] (इलाह०, एम० कॉम०, १९६७)

१८

विनिमय दरों का सिद्धान्त

(Theory of Exchange Rates)

परिचय

आन्तरिक व्यापार की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे जटिलताये अधिक होने का एक प्रमुख कारण इसमे विदेशी विनिमय की समस्या उपस्थित होना है। एक देश के व्यापारी विदेशियो से अपनी मुद्रा मे ही भुगतान लेना चाहते है क्योकि उनके देश मे वही विधि ग्राह्य होती है। इसी के फलस्वरूप एक करेन्सी को दूसरी करेन्सी मे परिवर्तन कराने की आवश्यकता पडती है। यह कार्य विदेशी-विनिमय बाजारो द्वारा सम्पन्न होता है, जहाँ की विदेशी मुद्रा के बिल खरीदे और बेचे जाते है। प्रस्तुत अध्याय मे हम यह देखेंगे कि विनिमय दरें, जिन पर एक करेन्सी के बदले अन्य करैंसियो का क्रय विक्रय होता है कैसे निर्धारित होती है तथा समय-समय पर इनमे परिवर्तन क्यो होते रहते है। सुगमता की दृष्टि से यह विवेचन स्वतन्त्र विनिमय बाजार के सन्दर्भ मे किया गया है। किन्तु वास्तव मे आजकल किसी भी देश मे विनिमय बाजार स्वतन्त्र नही हैं।

'विदेशी विनिमय' से आशय

मौद्रिक विशेषज्ञो ने विदेशी विनिमय' वाक्यांश का प्रयोग निम्न अर्थो मे किया है —(i) सकुचित अर्थ मे कुछ लेखको ने विदेशी विनिमय' वाक्यांश का प्रयोग उस दर के लिये किया है जिस पर एक देश की मुद्रा-इकाई दूसरे देश की मुद्रा इकाई मे बदल जाती है और, कुछ अन्य लेखको ने इसका प्रयोग उन सुविधाओ के लिए किया है जो कि विदेशी भुगतानो के सम्बन्ध मे उपलब्ध हो। ऐसे भी लेखक है जिन्होने इसका आशय विदेशी विनिमय बिलो से लगाया है। (ii) विस्तृत अर्थ में विदेशी विनिमय' वाक्यांश का प्रयोग उस प्रणाली (mechanism) के हेतु किया गया है जिसके अनुसार विदेशी दायित्वो को निपटाया जाता है। डा० टामस के शब्दो मे— विदेशी विनिमय अर्थशास्त्र की वह शाखा है जिसमे हम उन सिद्धान्तो का, जिनके अनुसार विश्व के विभिन्न देशो मे निवास करने वाले लोग एक दूसरे के प्रति

अपने ऋणों को चुकाते हैं, ज्ञान प्राप्त करते हैं।"[1] हार्टले विदर्स के अनुसार—"विदेशी विनिमय वह प्रणाली है जिसके द्वारा दो देशों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का निपटारा किया जाता है।"[2]

स्पष्टत, विदेशी विनिमय' शब्दों के अर्थ के बारे मे लेखकों मे बहुत मतभेद है। वास्तव मे इसका तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसके द्वारा व्यापार करने वाले राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान करते है। इसमे भुगतान के साधन नियम, नियन्त्रण एव ऐसे भुगतानो म सहायता देने वाली सस्थायें भी सम्मिलित होती है।

'विनिमय-दर' का अर्थ

प्रत्येक देश की अपनी विशेष मुद्रा होती है, जो कि उसकी सीमाओ (frontiers) के अन्दर ही विधि ग्राह्य है। उदाहरणार्थ, भारतीय रुपया किसी विदेशी देश म प्रत्यक्ष रूप से वस्तुयें नही खरीद सकता, वह एक विदेशी मुद्रा के माध्यम से ही ऐसा करता है। इस हेतु एक करेंसी को दूसरी करेंसी मे बदलना आवश्यक है। जिस दर पर एक करेंसी दूसरी करेंसी का क्रय करती है उस 'विनिमय दर' कहते है। इस प्रकार, किसी करेंसी की विनिमय दर केवल उसकी बाह्य कीमत या बाह्य क्रय-शक्ति का सूचक होती है। मान लीजिये कि एक रुपया अग्रेजी करेंसी मे १८ पेंस खरीद सकता है तो इसका अर्थ हुआ कि भारत मे एक रुपया जितनी वस्तुयें खरीदता है उतनी वस्तुयें इङ्गलैण्ड म १८ पेंस व्यय करके खरीदी जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी साहित्य म विनिमय दर को परिभाषित करने का सर्वाधिक प्रचलित आदर्श ढङ्ग यह है— जिस दर पर करेंसियो का एक दूसरे मे परिवर्तन होता है उसे 'विदेशी विनिमय दर' कहते हैं। यह दर वह कीमत है जो कि विदेशी करेंसी की एक इकाई के लिए स्थानीय करेंसी मे चुकाई जाती है।"[3]

'प्रत्यक्ष' एव 'अप्रत्यक्ष' दरें

विनिमय दर किस प्रकार सूचित की जाय यह एक सुविधा का विषय है।

---

1 "Foreign exchange is that branch of the science of economics in which we seek to determine the principles on which the peop'es of the world settle their debts one to the other"
—Thomas.

2 "Foreign exchange are a mechanism by which international indebtedness is settled between one country and another"
—Hartley Withers

3 "The rate at which this exchange (between national and foreign currencies) is performed is called the foreign exchange rate, which may hence be defined as the price that must be paid in local currency for a unit of foreign currency"—Kesari D. Doodha : *Economic Relations in International Trade* p 116

सामान्यत गणना की सुविधा के लिए राष्ट्रीय करेंसी का मूल्य किसी महत्त्वपूर्ण (Key) करेंसी की एक इकाई के रूप मे प्रगट किया जाता है। उदाहरणार्थ, हम यह कह सकते हैं कि विनिमय दर £ 1=Rs 13 33 or $ 1=Rs. 4 76 किन्तु, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के दृष्टिकोण मे आन्तरिक करेंसी की इकाई को ही अन्त र्राष्ट्रीय-विनिमय-तुलना का आधार बनाया जा सकता है। ऐसी दशा मे हम विनिमय दर इस प्रकार बनाते है—Re 1=1 sh 6 d अथवा Re 1=U S 21 cents । प्रथम प्रकार मे सूचित की गई दरों को 'अप्रत्यक्ष दरें (Indirect Rates) और द्वितीय प्रकार से सूचित की गई दरो को प्रत्यक्ष दरें' (Direct Rates) कहा जाता है। विनिमय दर सूचित करने का कोई भी तरीका अपनाया जा सकता है क्योंकि दोनो का भाव एक ही है। किन्तु विनिमय दर के अनुकूल या प्रतिकूल होने का विचार करते समय सावधानी रखना आवश्यक होगा।

'हाजिर दर', मुद्दती दर' एव 'वायदा दर'

यह सोचना भ्रमपूर्ण है कि विदेशी विनिमय बाजार मे एक दिए हुए समय-बिन्दु पर कोई एक अनन्य दर प्रचलित होती है। वास्तव म वहां अनेक विनिमय दरे उद्धृत (quote) की जाती हैं, जिनमे से तीन दरें मुख्य हैं —हाजिर दर मुद्दती दर एव वायदा-दर।

(१) हाजिर दर (Spot rate)—हाजिर दर वह है जो बाजार मे इसी समय उद्धृत (currently quoted) की जा रही है। अन्य शब्दो मे, यह दर विदेशी मुद्रा की तत्काल खरीद-बिक्री के लिए है। क्रेता और विक्रता के लिए, यह मानते हुए कि कोषों का स्थानान्तरण नही करना है, अलग-अलग विनिमय दरें उद्धृत की जाती हैं। उदाहरणार्थ $ 2 78=£ 1 sellers एव $ 2 82=£ 1 buyers, इन दोनो दरो मे जो अन्तर विद्यमान है वह स्वर्ण को अमेरिका से इंगलैण्ड या इङ्गलैंड से अमेरिका भेजने के यातायात व्ययो का सूचक है। किन्तु यातायात व्यय ही एक मात्र व्यय नही है जो कि कोषो के स्थानान्तरण मे होते है वरन अन्य व्यय भी हो सकते हैं। अत इन्हें भी दर उद्धृत करते समय विचार मे लिया जाता है । उदाहरण, मुद्रा-परिवर्तक (money changer) अपना कमीशन लेगा। इसके अतिरिक्त बीमे का व्यय आदि भी है।

क्रेताओं अथवा विक्रेताओ के प्रतिनिधि के रूप मे बैंक्स ग्राहकों के निर्देश सम्बन्धित विदेशी केन्द्र मे अपने प्रधानो (या प्रतिनिधियों) को केबिल द्वारा भेजते है। इसके परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय शीघ्र ही क्रेता से विक्रेता को अन्तरणित (transfer) हो जाता है। यह बैंक जिस दर पर व्यवहार करता है उसे 'केबिल-दर' (cable rate) कहते है। इसे 'टेलि० ट्रॉ० दर' (T T Rate) भी कह सकते है, क्योंकि केबिल का टेलीग्राफिक ट्रान्सफर प्रेषित किया जाता है।

प्रथानुसार एक टे० ट्रा० व्यवहार उस दिन से जिस दिन कि व्यवहार म प्रविष्ट किया गया था, दो या तीन दिन के भीतर पूर्ण हो जाना चाहिए। इस अवधि

के अन्त में विक्रेता के लिए यह आवश्यक है कि वह क्रेता को विदेशी विनिमय की सुपुर्दगी दे दे तथा इसका भुगतान क्रेता के बैंक को करना पड़ता है।

युद्ध-पूर्व कुछ अन्य दरें भी प्रचलित थीं, जैसे—'चैक दर' (Cheque rate) वह दर थी जिस पर एक भारतीय बैंक अपने किसी ग्राहक से किसी विदेशी केन्द्र में अपने एजेन्ट पर एक चैक या ड्राफ्ट खरीदेगा (या उसे बेचेगा)। 'मेल-ट्रान्सफर' (Mail Transfer or M T) या 'मेल दर' (Mail Rates or M R) के अधीन विदेशी विनिमय किसी ग्राहक को इस धारणा के साथ बेचा (या खरीदा) जाता था कि विदेशी बैंक या एजेण्ट को आवश्यक निर्देश डाक द्वारा भेजे जायेंगे, तार द्वारा नहीं यद्यपि 'डाक-दर' सस्ती होती है। तथापि इसे कम पसन्द किया जाता है, क्योंकि मध्यान्तर (interval) में ब्याज की हानि होती है तथा सौदा रद्द (cancel) होने का भय भी रहता है।

(२) मुद्दती दर (Long Rate)—जैसा कि हमने पहले भी बताया था, विदेशी दायित्व नगदी (cash) में नहीं निपटाये जाते, वरन आन्तरिक बाजार की भांति विदेशी विनिमय बाजार में भी प्राय लेख्य-साक्ष्यों (documentary evidences) का ही प्रयोग किया जाता है। सबसे लोकप्रिय लेख्य-साक्ष्य 'बिल ऑफ एक्सचेंज' है जो कि आयातकर्त्ता अथवा निर्यातकर्त्ता पर लिखा गया होता है। ये बिल 'दर्शनी' (sight) हो सकते है और मियादी (tenure) भी। अत इनके लिए विनिमय दरें भी इसी प्रकार से पृथक-पृथक बताई जा सकती है। यथा—'दर्शनी विनिमय दर' (sight rate of exchange) वह है, जिस पर बैंक विदेशी करैंसी के बिलो को, जो कि प्रस्तुति पर (on presentation) ही देय होते है, खरीदता है। 'दर्शनी दर' और 'टी० टी० दर' में बहुत ही मामूली अन्तर होता है।

'मियादी विनिमय-दर' (usance rate of exchange), जिसे मुद्दती विनिमय दर (long exchange rate) भी कहते है, वह दर है जिस पर एक बैंक एक निश्चत अवधि वाले विदेशी करैंसी के बिलो को खरीदता-बेचता है। मियादी दर और टी०टी० दर में ब्याज की हानि के बराबर अन्तर रखा जाता है।[1] जिस अवधि के लिए ब्याज की गणना की जाती है वह ३० दिन से १८० दिन (+३ दिन अनुग्रह सम्बन्धी) तक होती है। यहाँ नहीं कोषो के विनियोजन की अवसर लागत (opportunity cost) और स्टाम्प ड्यूटी भी विचार मे ली जाती है। इस प्रकार, जब दिनों की संख्या 'शून्य' (zero) से आगे बढ़ाई जाती है, तो 'दर्शनी-दर' एक 'मुद्दती दर' मे परिणत हो जाती है। मुद्दती व्यवहारों की बुनियादी धारणा यह है कि क्रेता एक करैंसी अभी, दूसरी करैंसी को एक नियत भावी तिथि पर प्राप्त करने के अधिकार के बदले में, चुकाता है।

---

1 "The basis of the long rate of exchange is the rate of interest."
—Norman Crump : *The ABC of the Foreign Exchange*.

(३) वायदा दर (Forward Rate)—मुद्दती दरों का प्रयोग समय-मूल्य' (Time worth) के माप-हेतु किया जाता है। इस प्रकार, यह दरें एक विनियोजन प्रक्रिया (process of investment) की सूचक है क्योंकि बिल का क्रेता एक दी हुई अवधि के लिये अपने द्रव्य को अटका रहा है। केबिल और मुद्दती दरों में अन्तर सामान्यत 'विनियोग की आय' अर्थात् व्याज-दर के बराबर होता है।

यदि बिल न खरीदते हुए, कोई व्यक्ति कुछ अवधि बाद के लिये विदेशी करेन्सी खरीदे तो उसे उस करेन्सी के लिए तब ही भुगतान करना पड़ेगा जबकि यह उसे नियत अवधि के बाद प्राप्त हो जाय। इसे एक 'वायदा विनिमय व्यवहार' (Forward exchange transaction , और जिस दर पर भविष्य में सुपुर्दगी दी जाती है उसे 'वायदा विनिमय दर' (Forward exchange rate) कहते है। ठह-राव की शर्तें ठीक-ठीक एक वायदा अनुबन्ध' (futures of forward contract) मे उल्लेख की जाती है। विदेशी विनिमय की भावी सुपुर्दगी के लिये जब अनेक व्या-पारी नियमित रूप से अनुबन्ध करने लगते है तो करेन्सियों के सम्बन्ध मे एक सगठित वायदा बाजार विकसित हो जाता है।

जिन दिनो विनिमय बाजार स्वतन्त्र थे उन दिनो वायदा विनिमय व्यवहार बहुत लोकप्रिय थे। कारण स्वतन्त्र करेन्सी प्रणालियो के आधीन, विशेषत अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का चलन होने पर विनिमय दरो म विभिन्न देशो की बैंकिग और मुद्रा सम्बन्धी दशाओ के अनुसार बहुत घटा-बढी हो जाया करती थी, जिससे वे बडी अनिश्चित रहती थी। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म बहुत बाधा पडने लगी, क्योंकि व्यापारियों के लिये किसी समय विशेष पर यह निर्णय करना कठिन होता था कि एक निश्चित मात्रा मे विदेशी करेन्सी के लिये कितनी स्वदेशी मुद्रा देनी पडेगी अथवा जो विदेशी मुद्रा उसे प्राप्त होने वाली है उसका स्थानीय करेन्सी मे कितना मूल्य रह जायेगा। किन्तु यह अनिश्चितता एक उपयुक्त वायदा विनिमय व्यवहार मे प्रविष्ट होकर दूर की जा सकती है।

उदाहरणार्थ मान लीजिये कि किसी निर्यातकर्त्ता को भविष्य मे, निर्यात किये गये माल के मूल्य स्वरूप एक निर्धारित राशि मिलने वाली है। उसने अपने लाभ (या हानि) का अनुमान इस राशि के आधार पर और इस राशि का अनुमान प्रचलित विनिमय दर के आधार पर लगाया है। चूँकि विनिमय दर मे कुछ भी और किसी भी समय परिवर्तन हो सकते है, इसलिये यह कहना कठिन है कि वास्तव मे भुगतान की प्राप्ति के समय विदेशी करेन्सी का मूल्य स्वदेशी करेन्सी मे कितना होगा। अत यह सम्भव है कि विनिमय दर के परिवर्तन के फलस्वरूप उसका लाभ सम्बन्धी अनुमान घट बढ़ जाय। यदि वह विनिमय उतार-चढाव की इस जोखिम को अपने ऊपर न लेना चाहे तो अपनी आशा की गई विदेशी मुद्रा की कमाई (expected foreign earnings) का, पहले से ही ज्ञात कीमत पर, वायदा-विक्रय (forward sale) करके अनिश्चितता को दूर कर सकता है।

यह उल्लेखनीय है कि 'वायदा दरें' सदा 'हाजिर दर' के सदर्भ उद्धृत की जाती हैं। इसके अतिरिक्त पहली प्रकार की दरें दूसरी प्रकार की दरो की तुलना मे 'प्रब्याजि पर' (at a premium) अथवा 'डिस्काउन्ट पर' (at a discount) हो सकती है। उदाहरणार्थ, लन्दन बाजार मे १ माह बाद डालरो के लिये वायदा दर हाजिर से ½ cent नीचे' उद्धृत की जाती है। ऐसी दशा मे यदि, हाजिर दर ४ ८६ डालर है तो एक माह बाद की वायदा दर ४ ८५½ डालर प्रति पौंड होगी, और यदि वायदा दर हाजिर से ½ cent ऊँचे' पर उद्धृत की जाय, तो वायदा दर ४ ८६½ डालर प्रति पौंड होगी। जब तक वायदा दर हाजिर दर से नीचे रहे तब तक यह कहेंगे कि वायदा दर प्रब्याजि पर है (इसका अर्थ हुआ कि वायदा-डालर हाजिर डालरो की अपेक्षा महँगे हैं) और जब वह हाजिर दर से ऊपर हो जाय तो कहेंगे कि वायदा दर डिस्काउन्ट पर है (अर्थात् वायदा डालर हाजिर डालरो की अपेक्षा सस्ते हैं)।

व्योहारी का रक्षावरण
(Dealer's Cover)

प्राय साधन-सम्पन्न बैंक्स ही वायदा व्यापार करते है। एक व्यापारी तो अपनी जोखिम को वायदा अनुबन्ध के द्वारा बैंक पर टाल देता है। किन्तु प्रश्न यह है कि बैंक अपनी रक्षा किस प्रकार करेगा? इसका एक सुगम उपाय यह है कि वह अपनी खरीद और बिक्री का सन्तुलन कर ले। किन्तु पूरा पूरा सन्तुलन होना एक दुर्लभ सयोग की बात है। इसके अतिरिक्त जब व्योहार अल्प राशियो म होते हैं, तो यह स्पष्टत मितव्ययितापूर्ण होगा कि कोई कार्यवाही करने से पूर्व इन्हे इकट्ठा' होने दिया जाय। यह इस प्रकार किया जाता है कि व्योहारी (बैंक अपनी 'स्थिति' (position) को दिन भर 'खुला' open) रखता है और फिर उन्हे 'खरा' (square-up) कर लेता है।

मान लीजिये कि एक बैंक ३ माह के वायदा डालर प्रति पौंड ४ ८५½ डालर की दर से बेचता है और इस दर पर वह एक लाख डालर देने का आश्वासन देता है। अब, यदि बैंक यह निर्णय करे कि उपरोक्त अवधि बीतने पर ही वह हाजिर दर से, जो भी उस समय प्रचलित हो, डालर क्रय करके अपना एक लाख डालर देने का आश्वासन पूरा कर देगा, तो वह अपने को एक जोखिम मे डाल रहा है, जिससे उसे हानि सहन करनी पड सकती है। कारण, यदि तीन महीने बाद हाजिर-दर प्रति पौंड ४ ८५ डालर हुई, तो उसे एक लाख डालर के क्रय के लिये २०,६१८ पौंड ११ शि० ५ पैं० देने पडेंगे, जबकि वायदा-विक्रय द्वारा केवल २०,५९७ पौंड ६ शि० ५ पैं० मिलेंगे, जिससे उसे २१ पौंड १३ शि० की हानि उठानी पडेगी। हाँ, यदि हाजिर दर प्रति पौंड ४ ८६ डालर होती, तो उसे इतने का ही लाभ हो जाता।

किन्तु बैंक्स सटोरिया के समान जोखिम नहीं उठा सकते, क्योंकि वे दूसरो के धन को सुरक्षित रखने के जिम्मेदार होते हैं। अत वे एक अनिश्चित मार्ग नहीं

अपनायेंगे, वरन् अपनी रक्षा के लिये उपाय अवश्य करते हैं। उपाय यह है कि बैंक अपनी 'स्थिति' को तुरन्त ही 'खरा' बना लेता है। यदि एक ओर विनिमय बाजार में कुछ लोग वायदा क्रय के सौदे करते है तो दूसरी ओर कुछ लोग वायदा-बिक्री के सौदे करते है। अत, जैसे ही बैंक ने उक्त वायदा-बिक्री का सौदा किया, वह उतनी ही रकम के लिए डालरों के वायदा क्रय का सौदा भी, जो ३ महीने का ही हो, कर लेता है। इससे उसकी जोखिम समाप्त हो जायगी अर्थात् वह न तो लाभ उठायेगा न हानि किन्तु सामान्य कमीशन जो कि वह क्रेता और विक्रेता दोनो ही ग्राहकों से चार्ज करता है, अवश्य अर्जित कर लेगा। तीन महीने के बाद वह अपने वायदा क्रय सम्बन्धी सौदे के अन्तर्गत एक लाख डालर प्राप्त करके अपने वायदा विक्रय सम्बन्धी सौदे के अन्तर्गत सुपुर्दगी में दे देगा।

किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उपर्युक्त प्रकार के सौदे (वायदा बिक्री और वायदा क्रय) परस्पर मिलाप (match) कर ही जायें। उदाहरणार्थ जिस दिन बैंक ने ३ माह के एक लाख वायदा-डालर बेचे है उसी दिन वह ठीक उतनी ही रकम का और ठीक उतनी ही अवधि के वायदा डालर खरीदने में असमर्थ रह सकता है। मान लीजिए कि वह ४-५ दिन के बाद उतनी रकम और उतनी अवधि के वायदा-डालर खरीदने में समर्थ होता है। लेकिन तब वायदा दर उस दर से कुछ भिन्न हो सकती है जिस पर कि पहला सौदा हुआ था तथा इस भिन्नता के फलस्वरूप बैंक को हानि हो सकती है। इस हानि से बचने के लिए जो तरीका व्यौहारी प्राय अपनाया करते हैं वह इस प्रकार है कि वे उतनी ही रकम का एक हाजिर सौदा खरीदे और फिर हाजिर बिक्री के द्वारा एक वायदा सौदा खरीदें। उदाहरणार्थ यदि बैंक ने ३ माह बाद एक लाख डालर की वायदा-बिक्री की है, तो वह तुरन्त ही प्रचलित स्टलिङ्ग-डालर हाजिर-दर पर एक लाख डालर का हाजिर क्रय कर लेता है। तीन महीने के बाद, जब बैंक द्वारा अपने ग्राहक को एक लाख डालर देने होंगे तब यह राशि उसे हाजिर-सौदे से प्राप्त हो जायेगी।

वायदा-दर को प्रभावित करने वाले घटक

अन्य सभी कीमतों की भाँति वायदा-दर (अर्थात् वायदा-विनिमय की कीमत) की माँग-पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। जब किसी करेन्सी के वायदा विनिमय के लिये माँग इसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो जाय, तो इसकी कीमत स्थानीय करेंसी में बढ़ जाती है, अर्थात् वायदा-करेंसी प्रव्याजि पर उपलब्ध होती है। इसके विपरीत, यदि वायदा विनिमय के लिये माग इसकी पूर्ति से कम है तो उसकी कीमत स्थानीय करेंसी में घट जायेगी, अर्थात्, वायदा-करेंसी डिस्काउन्ट पर उपलब्ध हो सकेगी। चूँकि वायदा-विनिमय सामान्यत आयातकों द्वारा खरीदा और निर्यातकों द्वारा बेचा जाता है इसलिए यों भी कह सकते है कि जब देश के आयात निर्यातों की अपेक्षा अधिक होते हैं, तो वायदा विनिमय के लिए माँग इसकी

आपूर्तियों से अधिक होती है, जिससे इसकी कीमत बढ़ जाती है तथा वायदा विनिमय प्रव्याजि पर उपलब्ध होती है, और, जब निर्यात आयातों की अपेक्षा अधिक होते हैं, तो वह डिस्काउन्ट पर उपलब्ध होती है।

वायदा-दर और हाजिर-दर में सम्बन्ध—

सामान्यत, वायदा दर में हाजिर दर के बराबर रहने की प्रवृत्ति होती है। यदि इन दोनो में कोई अन्तर है, तो वह दो मुद्रा बाजारों में प्रचलित ब्याज दरों में भिन्नता रहने का परिणाम होता है। अत वायदा-दर और हाजिर दर के मध्य जितना अन्तर होगा, इसकी गणना प्रचलित ब्याज-दरों को विचार में लेकर की जा सकती है।

जब कोई बैंक लन्दन में एक वायदा विक्रय के लिए रक्षावरण (cover) के रूप में फ्रान्सिसी करेंसी (F Francs) का, हाजिर क्रय करता है, तो उसके कोष लदन में घट जाते है किन्तु पेरिस में बढ़ जाते है। अब, यदि पेरिस में अल्पकालीन विनियोग पर ब्याज दर लदन की अपेक्षा ऊँची है, तो हाजिर फ्रैंक्स के क्रय द्वारा उसे लाभ होता है। अत वह वायदा फ्रैंक्स डिस्काउन्ट पर भी बेच सकता है, किंतु यह डिस्काउन्ट (हानि) उसके ब्याज सम्बन्धी लाभ से अधिक नही होना चाहिए। सच तो यह कि प्रतियोगिता बैंक को अपने ब्याज सम्बन्धी लाभ की सम्पूर्ण सीमा तक डिस्काउन्ट देने के लिए विवश कर देती है। किंतु जब अधिक डिस्काउन्ट माँगा जाय, तो बैंक वायदा बिक्री करना बद करके वायदा खरीद करना पसद करेगा।

यदि पेरिस म अल्पकालीन विनियोग पर ब्याज दर लदन की अपेक्षा कम हो, तो उक्त तर्क को विपरीत रूप से लागू करते हुए यह दिखाया जा सकता है कि बैंक अपने वायदा फ्रैंक्स प्रव्याजि पर बेचेगा और यह प्रव्याजि उसकी ब्याज सम्बन्धी हानि से अधिक नही हो सकती है। यदि सबन्धित मुद्रा बाजारों में प्रचलित ब्याज-दरों में अतर बढ जाय तो हाजिर और वायदा-दरों के मध्य अतर में भी वृद्धि हो जायगी।

वायदा दरों को प्रभावित करने वाली ब्याज-दरों के अतिरिक्त अन्य दशायें निम्नलिखित हैं —(i) प्रचलित राजनैनिक दशायें, (ii) मौद्रिक मान का स्थायित्व, एवं (iii) बाजार सगठन एवं प्रतियोगिता सम्बन्धी दशायें।

विनिमय दरों का महत्त्व

अन्तराष्ट्रीय व्यापार मे विनिमय दरें कई प्रकार से महत्त्वपूर्ण हैं —(i) वे स्वदेशी और विदेशी बाजारों में वस्तुओं और उत्पत्ति-साधनों की प्रचलित कीमतों के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध (direct link)) स्थापित करती है, (ii) इनके उतार-चढाव द्वारा भुगतान सन्तुलन में असाम्यतायें उत्पन्न हो जाती है। नीची विनिमय दर (देशी मुद्रा में विदेशी मुद्रा का नीचा मूल्य) आयातों को प्रोत्साहित और निर्यातों को अप्रोत्साहित करके भुगतान सन्तुलन में घाटा' (deficit) उत्पन्न कर देती है, जबकि ऊँची विनिमय दर (अर्थात् स्वदेशी मुद्रा मे विदेशी मुद्रा का ऊँचा मूल्य)

आयातों को हतोत्साहित और निर्यातों को प्रोत्साहित करके भुगतान सन्तुलन में 'आधिक्य' (surplus) उत्पन्न करती है, (iii) विनिमय दरें ही अन्तर्राष्ट्रीय ऋण सम्बन्धी व्यवहारों को सहज या कठिन बनाती हैं। संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्ध विनिमय दरों से बहुत प्रभावित होते हैं।[1]

विनिमय दर का निर्धारण

'स्वाभाविक' एवं 'वास्तविक' विनिमय दरें—

जिस प्रकार से एक वस्तु की दशा में हम 'सामान्य मूल्य' (Normal price) और 'बाजार-मूल्य' की चर्चा करते हैं और कहते हैं कि बाजार-मूल्य सामान्य-मूल्य के इर्द-गिर्द मँडराता है, उसी प्रकार विदेशी विनिमय बाजार में भी 'सामान्य', 'स्वाभाविक' या 'साम्य' विनिमय दर और 'बाजार' या 'वास्तविक' विनिमय दर होती है तथा 'बाजार' या 'वास्तविक' विनिमय दर 'सामान्य' विनिमय दर के इर्द-गिर्द मँडराती रहती है।

स्वाभाविक विनिमय दर का निर्धारण—

एक साधारण वस्तु की भाँति विदेशी-विनिमय-दर भी माँग एवं पूर्ति की शक्तियों के सन्तुलन द्वारा निश्चित होती है।[2] विदेशी विनिमय की माँग उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जो विदेशों से प्राप्त वस्तुओं व सेवाओं का भुगतान करना चाहते हैं जबकि इसकी पूर्ति उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जिन्होंने वस्तुओं एवं सेवाओं के निर्यात द्वारा अथवा विदेशी पूँजी के आयात द्वारा विदेशी मुद्रा पर अधिकार प्राप्त कर लिया है। जब विदेशी विनिमय या विदेशी मुद्रा की माँग इसकी पूर्ति के बराबर हो जाय, तो विनिमय-दर में समता होती है। इस दर को ही **विनिमय समता** (Parity of Exchange) कहा जाता है। यदि विदेशी मुद्रा (या इसके बिलों) की माँग इसकी पूर्ति से अधिक हो जाय (अथवा देशी मुद्रा या इसके बिलों की पूर्ति इसकी माँग से अधिक हो जाय), तो विदेशी मुद्रा का मूल्य समता से ऊँचा हो जायगा। अतः विदेशी मुद्रा खरीदने के लिए हमें पहले से अधिक देशी मुद्रा देनी पड़ेगी। यदि विदेशी मुद्रा (या इसके बिलों) की माँग इसकी पूर्ति से कम हो जाय, तो विदेशी मुद्रा का मूल्य समता से कम हो जायेगा। अतएव, अब विदेशी मुद्रा या इसके बिलों को खरीदने के लिए हमें पहले की अपेक्षा कम देशी मुद्रा देनी पड़ेगी।

चूँकि एक करेंसी की पूर्ति दूसरी करेंसी के लिए माँग होती है, इसलिए हम इनमें से किसी एक को भी 'वस्तु' और दूसरी को 'मुद्रा मान सकते हैं। उदा-

---

1 P. T Ellsworth : *The International Economy*, pp. 262-263

2 'The exchange rate between the means of payment of two countries is determined, like all other prices, by supply and demand "—Haberler : *The Theory of International Trade*, p 19.

अ० श्या, १६

हरणार्थ, यदि विदेशी करैन्सी को एक वस्तु मानें, जिसके लिए मौद्रिक माँग है, तो इसकी कीमत स्वदेश करैन्सी में प्रगट की जा सकती है। नीचे के चित्र में कीमतें (अर्थात्, विनिमय-दरें जो कि स्वदेशी करैन्सी की इकाइयों की संख्या में विदेशी करैन्सी की एक इकाई की कीमतें है) Y-axis पर, एवं विदेशी मुद्रा की खरीदी और बेची हुई मात्रायें X-axis पर दिखाई गई है। माँग वक्र DD बाईं से दाँई ओर
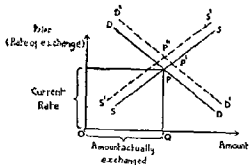
चित्र—विनिमय दरों के निर्धारण का माँग पूर्ति सिद्धान्त

अधोमुखी (downwards) ढालू है। इससे यह सूचित होता है कि लोग कम कीमतों पर अधिक मात्राओं में विदेशी करैन्सी खरीदने के लिए तैयार है। इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी करैन्सी सस्ती होने के परिणामस्वरूप विदेशी वस्तुयें सस्ती हो जाती है तथा अधिक मात्राओं में आयात की जाने लगती है।

पूर्ति वक्र (SS) बाँई से दाँयी ओर उर्ध्वमुखी (upwards) ढालू है, जो इस तथ्य का सूचक है कि लोग ऊँची कीमत पर अधिक मात्रायें बेचने को तैयार हैं। कारण विदेशी करैन्सी में स्वदेश वस्तुओं की कीमतें गिरने के कारण निर्यात प्रोत्साहित होते हैं।

दोनों वक्र एक दूसरे को P बिन्दु पर काटते है। इसका अर्थ यह है कि सम्बन्धित विनिमय दर ऐसी है, जिस पर विदेशी करैन्सी के लिए माँग इसकी पूर्ति के बराबर है। यदि यही कीमत प्रचलित हो जाय, तो बाजार में साम्यावस्था होती है।

अब मान लीजिए कि भुगतान-सन्तुलन (सम्पत्ति-दायित्व के अर्थ में) के प्रतिकूल परिवर्तन के कारण माँग बढ जाती है। अर्थात्, विद्यमान माँग में उन लोगों की माग भी जुड़ जाती है, जोकि विदेशियों को अतिरिक्त ऋण चुकाना चाहते हैं। इसे माँग वक्र के DD से D'D' की स्थिति में 'शिफ्ट' (Shift) द्वारा दर्शाया गया है। नया माँग वक्र पूर्ति वक्र को P' पर काटता है। इससे प्रकट होता है कि अब विनिमय दर बढ गई है और बेची गई विदेशी मुद्रा मात्रा में भी वृद्धि हो गई है। स्मरण रहे कि विनिमय दर में वृद्धि पूर्ति में कमी आने के कारण (उदाहरणार्थ निर्यातों में गिरावट के कारण) भी हो सकती है। यदि पूर्ति वक्र SS से S'S' तक खिसक जाय,

तो कीमत P से बढ़ कर P' हो जायगी तथा बची गई विदेशी मुद्रा की मात्रा भी बढ़ जायेगी।

यहाँ भुगतान सन्तुलन के अध्याय १७ में दिये गये अर्थ २ और ५ में भेद को स्मरण कीजिए। अर्थ १ का आशय OQ (वास्तव में खरीदी और बची गई विदेशी मुद्रा की मात्रा) से है किन्तु अर्थ ५ का आशय इन वक्रों द्वारा प्रदर्शित सम्पूर्ण माँग पूर्ति सम्बन्धी परिस्थिति से है। प्रथम अर्थ में भुगतान सन्तुलन के दोनों पक्ष, परिभाषा-अनुसार ही, बराबर होते है और यह कथन कि 'वे बराबर है' शब्दों का प्रयोग करना अनावश्यक है, यदि ऐसा न करें, तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। किन्तु, जब हम यह कह सकते है एक दिए हुए समय पर भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल है, तो हमारा आशय यह है कि तत्कालीन प्रचलित-दर पर (अथवा उस दर पर जो कि सामान्य (normal) समझी जाती है) पूर्ति की अपेक्षा माग अधिक है, क्योंकि माँग अथवा पूर्ति वक्र अथवा दोनो ही 'शिफ्ट' हो गये है। किन्तु विनिमय-दर में परिवर्तन करके साम्य की स्थापना की जाती है।

इस तथ्य के सन्दर्भ मे, कि भुगतान सन्तुलन की अनगिनती मदो मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते है, यह कल्पना की जा सकती है कि विनिमय-दर, वस्तुओं की (जिसके माग व पूर्ति वक्रो मे शिफ्ट हो सकता है) कीमतो की भाँति, शिफ्ट होती रहती है। किन्तु अनुभव से पता चला है कि सामान्य दशाओ (normal conditions) के अन्तर्गत विनिमय दर लगभग स्थायी रहती है। अत कोई ऐसा मिकेनिज्म होना चाहिए जो कि माग-पूर्ति का नियमन करता है। माग और पूर्ति सम्बन्धी उक्त वक्रो के सन्दर्भ मे मिकेनिज्म की क्रियाशीलता इस तरह समझी जानी चाहिए—पूर्ति को समान करने वाला (equalising) स्रोत केन्द्रीय बैंक का स्वर्ण कोष या विनिमय समानीकरण कोष है। अत कुछ सीमा तक कुल पूर्ति का वक्र समतल होता है। स्वर्ण कोष को समाप्त होने से बचाने के लिए, ऐसी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हो जाती है, जो माग और पूर्ति वक्रो को एक उचित तरीके मे 'शिफ्ट' करने का यत्न करती है, कीमतें परिवर्तित हो जाती हैं और पूँजी का प्रवाह भी ब्याज-दर के परिवर्तनो द्वारा प्रभावित होता है। इस मिकेनिज्म की चर्चा अगले अध्यायों में की गई है। अध्याय १६ मे स्वर्णमान के अधीन और अध्याय २० मे अपरिवर्तनशील चलन के अधीन क्रियाशील होने वाले मिकेनिज्म पर प्रकाश डाला गया है।

दो से अधिक देशो के सम्बन्ध मे विचार—

अभी तक हमने यह कल्पना की थी कि विनिमय केवल दो ही देशों के मध्य की समस्या है। किन्तु एक आधुनिक देश का सम्बन्ध अनेक विभिन्न देशो से होता है। प्रत्येक देश अन्य अनेक देशो से व्यापार करता है। अत यह आशा नहीं करनी चाहिये कि देश का भुगतान सन्तुलन अलग-अलग प्रत्येक देश के साथ साम्यावस्था मे होगा। वास्तव मे उपरोक्त विश्लेषण अन्य सब देशो को मिलाकर इनके (समूह के) साथ देश के भुगतान सन्तुलन पर लागू होता है। किन्तु समायोजन-यन्त्र त्रिकोणीय

व्यापार (triangular trade) के द्वारा क्रियाशील होता है। साम्यावस्था में स्थिति कुछ इस तरह से होती है—उदाहरणार्थ, जर्मनी अमेरिका से किये गये आयात का मूल्य अशत दक्षिणी अमेरिका को यन्त्र बेच कर चुकाता है जबकि दक्षिणी अमेरिकी देश अमेरिका को कच्चा माल निर्यात करते है। मौद्रिक पक्ष पर, हम यह कल्पना कर सकते है कि अमेरिकन निर्यातकर्त्ता को इसके जर्मन ग्राहक से एक बिल ब्राजिल पर प्राप्त होता है जिसे वह ब्राजील में कहवा मँगाने वाले आयातकर्त्ता को बेच देता है। वास्तव में ये सभी व्यवहार-शृङ्खलायें बैंकों द्वारा लन्दन बाजार के माध्यम से फाइनेन्स की जाती है। किन्तु इससे कोई विशेष अन्तर नही पडता है। कारण, आधुनिक बैंकिग प्रणाली अशत एक विकेन्द्रित निकासी गृह का कार्य करती है।

जब दो से अधिक देश है, तो इनके मध्य एक से अधिक विनिमय-दरें प्रचलित होंगी। उदाहरणार्थ, तीन देशों के मध्य तीन अनुपात (जैसे १ : २, १ ३ और २ ३) होंगे, चार देशोंकि मध्य ६ अनुपात (जैसे १ . २; १ ३, १ . ४, २ . ३; २ :४; ३ ४) और n देशो के मध्य $\frac{n(n-1)}{2}$ अनुपात होंगे। चूँकि तार और टेलीफोन द्वारा विभिन्न विदेशी बाजार आपस में सम्बन्धित होते है, इसलिये विभिन्न अनुपातो का आपस मे एक न एक निर्धारण योग्य सम्बन्ध होना चाहिये। उदाहरणार्थ, यदि मार्क्स के लिये डालर दर में वृद्धि होती है, जबकि पौण्ड के लिये डालर दर और मार्क्स के लिये स्टर्लिंग-दर-स्थायी (stable) बनी रहे, तो मार्क्स को डालरों मे, डालरो को पौण्ड मे और पौण्ड को मार्क्स मे परिणित करना तब तक लाभदायक रहेगा जब तक—यह मानते हुए कि डालर-पौण्ड दर साम्यावस्था मे है—मार्क्स के लिये स्टर्लिंग-दर अनुपाततः न बढ जाय। निःसन्देह यदि सम्पर्क साधन नष्ट करके (जैसे कि युद्धकाल मे होता है) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार को टुकडो मे बाँट दिया जाय, तो उनमें भिन्नतायें अस्थायी रूप से उदय हो सकती हैं [यही बात एक विनिमय अनुपात के बारे मे, जबकि दो देश प्रत्यक्ष सम्पर्क मे होते हैं, लागू होती है] किन्तु अनुभव से यह पता चलता है कि अत्यधिक उतार-चढाव होते हुये भी ये भिन्नतायें (discrepancies) शीघ्र ही समाप्त हो जाया करती है। हाँ, विभिन्न भुगतान साधनों के लिये एक ही करैंसी मे विभिन्न दरें विद्यमान हो सकती हैं।

उपसंहार—

विभिन्न मौद्रिक परिस्थितियो मे विनिमय-समता विभिन्न प्रकार से लागू होती है। जब दो देश धातुमान पर नही हैं तथा वहाँ की सरकारें विनिमय दर का नियमन भी नही करती है, तब बाजार-दर का निर्धारण 'भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त' द्वारा और समता-दर (अथवा स्वाभाविक विनिमय दर) का निर्धारण 'क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त' द्वारा होता है। लेकिन जब दो देश धातु-मान पर हो, तो स्वाभाविक विनिमय दर का निर्धारण 'टकसाली समता सिद्धान्त' द्वारा होता है। इन विभिन्न सिद्धान्तो पर अगले अध्यायो मे प्रकाश डाला गया है।

परीक्षा प्रश्न

१ विनिमय दर क्या है ? यह किसी विनिमय बाजार मे किस प्रकार उद्धृत (quote) की जाती है ?

[What is Rate of Exchange ? How is it quoted in an exchange market ?]

२ हाजिर मुद्दती एव वायदा विनिमय दरो म भेद कीजिये और प्रत्येक को उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिये।

[Distinguish between spot, long and forward rates of exchange giving examples of each ?]

३ वायदा विनिमय दर का निर्धारण कैसे होता है ? इसका हाजिर दर से क्या सम्बन्ध है।

[How is the forward rate of exchange determined ? What relation does it bear to spot rate ?]

४ साम्य विनिमय दर कैसे निर्धारित की जाती है।

[How is the equilibrium rate of exchage determined ?]

(आगरा, एम० ए०, १९६६)

१६

स्वर्णमान एवं सुधार प्रक्रिया

(टकसाली समता सिद्धान्त)

(The Gold Standard and Process of Adjustment)

परिचय—

एक पिछले अध्याय मे हमने यह देखा था कि देश के भुगतान सतुलन मे असाम्यता, विशेषत जबकि वह दीर्घकालिक हो, अच्छी नही होती है। इसका उपचार विनिमय-दर के परिवर्तन द्वारा सम्भव है। विनिमय-दरो मे परिवर्तन विभिन्न मौद्रिक मानों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार से और विभिन्न सीमाओ तक होते है। कुछ समय पूर्व तक स्वर्णमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र मे बहुत प्रचलित रहा और आज भी कुछ (जैसे फ्रास) इसकी पुन स्थापना के इच्छुक है। अत प्रस्तुत अध्याय मे हम यह देखेंगे कि स्वर्णमान की क्या विशेषतायें है, इसके अन्तर्गत विनिमय-दरो का क्या आचरण रहता है तथा भुगतान-सन्तुलन मे समायोजन किस प्रकार सम्भव होते हैं।

स्वर्णमान का अर्थ

स्वर्णमान कोई जानबूझकर बनाई गई व्यवस्था नही है, वरन् यह एक दीर्घकालीन विकास का फल है। इसके विकास की विभिन्न अवस्थाओ के सन्दर्भ मे विभिन्न अर्थशास्त्रियो द्वारा स्वर्णमान की विभिन्न परिभाषायें दी गई है। प्रमुख परिभाषायें निम्नांकित है —

(१) राबर्टसन (Robertson)—'स्वर्णमान वह मौद्रिक परिस्थिति है जिसमे एक देश अपनी मुद्रा-इकाई का मूल्य और एक निश्चित तौल वाले स्वर्ण का मूल्य समान-स्तर पर रखता है।"[1]

(२) कैमरर (Kemmerer)—"स्वर्णमान वह मुद्रा प्रणाली है, जिसके अन्तर्गत कीमतें और मजदूरियाँ और ऋण उस मुद्रा म व्यक्त किये

---

1 "Gold standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and the value of a difined weight of gold at an equality with one another"—Robertson : *Money*, p 7

जाते हैं जिसका मूल्य स्वर्ण की एक नियत मात्रा के बराबर रखा जाता है।"[1]

(३) क्राउथर (Crowther)—"स्वर्णमान विनिमय दरों के स्थायित्व को बनाये रखने की युक्ति है।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण 'मूल्य मान' (standard of value) का काम करता है। करेन्सी की इकाई या तो स्वर्ण की होती है अथवा उसका मूल्य एक विशेष तौल और शुद्धता वाले स्वर्ण में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष (किन्तु स्पष्ट) रूप में परिभाषित होती है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण का आयात निर्यात स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाता है और स्वर्ण मान देश में मुद्रा अधिकारी नियत कीमतों पर किसी भी सीमा तक स्वर्ण का क्रय या विक्रय करने के लिये बाध्य होते हैं। हैबरलर के शब्दों में—"स्वर्णमान शब्द का प्रयोग एक संकुचित अर्थ में किया जा सकता है या व्यापक अर्थ में। संकुचित अर्थ में इसका आशय उस मौद्रिक प्रणाली से है जिसमें एक आदर्श विवरण के स्वर्ण सिक्के या स्वर्ण सर्टिफिकेट्स (१००% गोल्ड सहित) चलन माध्यम होते हैं। व्यापक अर्थ में, इसके अन्तर्गत एक ऐसी दशा भी सम्मिलित है जिसमें नोट अथवा चाँदी के सिक्के भी विधि ग्राह्य होते हैं किन्तु ये स्वर्ण में एक निश्चित दर से परिवर्तित कराये जा सकते हैं। निःसन्देह यह भी आवश्यक है कि स्वर्ण के सिक्कों के गलाने पर कोई प्रतिबन्ध न हो।"[3]

स्वर्णमान के विभिन्न रूप

विभिन्न समयों पर विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार स्वर्णमान के विभिन्न रूपान्तर अपनाये गये हैं:—

---

1 A gold standard is a monetary system where the unit of value in which prices and wages are customarily expressed and in which the debts are usually contracted, consists of the value of a fixed quantity of gold in essentially free gold market."
— Kemmerer *The Gold Standard—Its Nature and Future*, p 5

2 The gold standard is "a device for maintaining the stability of exchange rates"—Crowther *An Outline of Money*, p 277

3 "The term 'gold standard' may be used in a narrower or in a wider sense. In the narrower sense, it signifies a monetary system under which gold coins of standard specification, or gold certificates with 100% gold backing from the circulating medium. In the wider sense, it covers also the case where notes or silver coins are legal tender, provided they are convertible into gold at a fixed rate. There must of course, be no prohibition of the melting down of gold coins."—Haberler *The Theory of International Trade*, p 23

(१) **स्वर्णचलन मान** (Gold Currency Standard)—यह प्रथम महायुद्ध के पहले अधिकांश देशो द्वारा अपनाया गया था। इस मान मे स्वर्ण-सिक्के चलन का प्रमुख रूप होते है, पूर्ण-काय (full bodied) होते है तथा उनकी ढलाई स्वतन्त्र होती है, अन्य प्रकार की करैन्सी स्वर्ण-मुद्रा मे परिवर्तनीय होती है, स्वर्ण के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नही होते एव देश मे चलन की मात्रा स्वर्ण कोष पर आधारित होती है।

(२) **स्वर्ण धातु मान** (Gold Bullion Standard)—इसे प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अमेरिका को छोडकर अन्य सब स्वर्णमान देशो ने अपनाया था, क्योकि उनके पास समस्त चलन को १००% आड देने के हेतु पर्याप्त मात्रा मे सोना नही था। इस मान म सोने के सिक्को का प्रचलन नही होता, किन्तु स्वर्ण मूल्यमान का कार्य करता है, साकेतिक मुद्राओ की कीमत स्वर्ण मे सूचित की जाती है, कागजी नोटो के पीछे ३०-४०% स्वर्ण की आड होती है। किन्तु वे एक निश्चित कीमत पर स्वर्ण मे परिवर्तनीय होते है, सरकार द्वारा नियत दरो पर असीमित मात्रा मे स्वर्ण के क्रय-विक्रय की व्यवस्था होती है, विदेशी भुगतानो के हेतु स्वर्ण देने के लिए सरकार पर्याप्त स्वर्ण कोष रखती है और स्वर्ण की ढलाई स्वतन्त्र नही होती।

(३) **स्वर्ण विनिमय मान** (Gold Exchange Standard)—इसका प्रचलन भी प्रथम महायुद्ध के बाद ही अधिक रहा। वह स्वर्ण धातुमान की तुलना मे अधिक मितव्ययी होता है। इस मान की विशेषतायें निम्नलिखित है—इसमे स्वर्ण सिक्के या परिवर्तनशील कागजी द्रव्य का चलन नही होता, केवल साकेतिक सिक्के एव अपरिवर्तनशील कागजी द्रव्य ही चलन मे होता है, देश की प्रामाणिक मुद्रा का सम्बन्ध सोने से अप्रत्यक्ष (किसी स्वर्ण चलन मान या स्वर्ण धातमान वाले देश की करैन्सी के द्वारा) होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से मुद्रा अधिकारी देश की मुद्रा के बदले मे स्वर्ण या विदेशी मुद्रा देने के लिए दायी होता है किन्तु व्यवहार मे यह सुविधा केवल विदेशी भुगतानो के लिये ही दी जाती है। विदेशी भुगतान स्वर्ण मे या स्वीकृत विदेशी मुद्रा मे लिए जाते है। स्वर्ण प्रत्यक्ष रूप से न तो मूल्याकन का कार्य करता है, न विनिमय-माध्यम का, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से सभी कीमते स्वर्ण कीमतो द्वारा ही निश्चित होती है। देशी मुद्रा के पीछे सबसे बडी आड विदेशी मुद्रा की होती है। विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय के द्वारा करैन्सी की मात्रा का प्रसार और सकुचन होता रहता है।

स्वर्णमान के आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय पहलू

स्वर्णमान का कोई भी रूप अपनाया जाय वह दो महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यो को पूरा करने मे अवश्य ही समर्थ होना चाहिये। प्रथमत वह देश मे करैन्सी के परिमाण का नियन्त्रण (regulation of the volume of currency) करे, और दूसरे, विनिमय दरो मे स्थायित्व (exchange stability) बनाये रखे। जबकि पहला कर्त्तव्य स्वर्ण-मान देश मे करैन्सी के आन्तरिक मूल्य को स्थायी रखने से सम्बन्धित

है, दूसरा कर्त्तव्य करेंसी के बाह्य मूल्य को स्थिर रखने से सम्बन्ध रखता है। पहले कर्त्तव्य को हम 'स्वर्णमान का आन्तरिक पहलू' (Domestic Aspect of the Gold Standard) और दूसरे को 'स्वर्णमान का अन्तर्राष्ट्रीय पहलू' (International Aspect of the Gold Standard) कहते है। स्वर्णमान के इन दोनों पहलुओं में भेद बतलाते हुए क्राउथर ने लिखा है कि "आन्तरिक स्वर्णमान में मुख्य बात स्पष्टत: यह है कि स्वर्ण कोष और चलन के मध्य कानून द्वारा मात्रा-अनुपात (proportion of volume) कायम रखा जाता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की मुख्य बात यह है कि स्वर्ण में करेंसी की परिवर्तनशीलता कायम रखी जाती है, अर्थात्, एक स्वर्ण इकाई और चलन इकाई के मध्य मूल्य-अनुपात (proportion of value) को बनाये रखा जाता है।[1]

सामान्यत: ये दोनों पहलू स्वर्णमान के प्रत्येक रूप में सह रूप से विद्यमान रहते हैं किन्तु असाधारण परिस्थितियों में स्वर्णमान में केवल एक ही पहलू ही बचता है। उदाहरणार्थ, सन् १९३१ में इङ्गलैंड स्वर्णमान से हट गया और बैंक ऑफ इङ्गलैंड ने सरकारी नियत दर पर करेंसी को स्वर्ण में बदलना या स्वर्ण का विक्रय करना बन्द कर दिया। किन्तु वह करेंसी की मात्रा (Volume) का स्वर्ण कोष के आधार पर नियमन करता रहा। इसका अर्थ यह है कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को तो छोड़ दिया किन्तु आन्तरिक स्वर्णमान को बनाये रखा।

आन्तरिक स्वर्णमान के गुण-दोष—

गुण—आन्तरिक स्वर्णमान के कई गुण हैं —

(१) चूँकि करेंसी की मात्रा का नियमन स्वर्ण कोष के आधार पर किया जाता है, इसलिए करेंसी के अत्यधिक निर्गमन का भय नहीं है।

(२) जनता को भी इसमें अधिक विश्वास होता है क्योंकि करेंसी का स्वर्ण से, जोकि विश्व मान्य है, प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।

(३) इसका सचालन सरकार के न्यूनतम हस्तक्षेप द्वारा ही, स्वचालित रूप से, होता है। स्वर्ण का आवागमन करेंसी की मात्रा में वृद्धि और सकुचन उत्पन्न करके स्वर्ण के मूल्य और करेंसी की मात्रा में एक पूर्व निश्चित अनुपात को बनाये रखता है।

(४) स्वर्णमान में मूल्य स्तर अपेक्षाकृत अधिक स्थाई रहता है। कारण, *करेंसी का आधार स्वर्ण है, जिसका वार्षिक उत्पादन विद्यमान मौद्रिक स्वर्ण के कुल*

[1] "The cardinal point in the Domestic Gold Standard is clearly the proportion of volume enforced by the law between the gold reserve and the currency The essence of the International Gold Standard is the convertibility of the currency into gold, i e, the fixed proportion of value between a unit of gold and a unit of currency"—**Crowther** *An Outline of Money* p. 284,

स्टॉक का एक बहुत ही अल्प भाग होता है। अत स्वर्ण-मात्रा में और, इसलिये चलन की मात्रा में, अस्थिरता का अभाव होता है। चूँकि, मूल्य प्रणाली अपेक्षत एक स्थायी स्वर्ण-बुनियाद (gold base) पर टिकी होती है, इसलिये वह स्वय भी किसी अन्य मान की अपेक्षा अधिक स्थायी रहती है।

दोष—जहां आन्तरिक स्वर्णमान में उक्त लाभ है वहाँ इसके कुछ दोष भी हैं, जिन्हें निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है —

(१) आन्तरिक स्वर्णमान के अन्तर्गत चलन व्यवस्था लोच रहित हो जाती है। राष्ट्रीय सङ्कट (जैसे कि युद्ध अथवा आर्थिक सङ्कट) के समय में अथवा नियोजित आर्थिक विकास की अवधि में सरकार स्वर्ण कोषों में वृद्धि हुए बिना, चलन में वृद्धि नहीं कर सकती है, जिससे राष्ट्रीय सुरक्षा अथवा विकास में बाधा पडने लगती है। वास्तव में आन्तरिक स्वर्णमान तो सामान्य समय में ही साथ देता है और असाधारण समय में जबकि उसके सहयोग की नितान्त आवश्यकता पडती है वह साथ छोड देता है। इसी कारण इसे एक अच्छे मौसम का मान (a fair weather standard) कहा गया है।

(२) आन्तरिक स्वर्णमान कीमत स्थायित्व की कठिन समस्या उत्पन्न करता है। देश की करेंसी इकाई के मूल्य को स्वर्ण की एक निर्दिष्ट मात्रा से सम्बन्धित करके इसने कीमत स्तर को स्वर्ण मात्रा में नई खानों का पता लगने, पुरानी खानों के खत्म होने, स्वर्ण खनन की टेक्नीक सुधरने, विभिन्न देशों में विश्व के स्वर्ण-स्टॉक का वितरण बदलने आदि के फलस्वरूप जो उतार-चढ़ाव होते रहते हैं उन पर निर्भर या परिवर्तनीय बना दिया है। यह सच है कि विश्व का मौद्रिक स्वर्ण सम्बन्धी स्टॉक अपेक्षत स्थायी है, क्योंकि स्वर्ण का वार्षिक उत्पादन विद्यमान स्टॉक का एक बहुत ही अल्प भाग है किन्तु इसका आशय यह तो नहीं है कि व्यक्तिगत देशों के मौद्रिक स्वर्ण सम्बन्धी स्टॉक सदा स्थिर ही बने रहेंगे। यदि विश्व के विभिन्न देशों के मध्य मौद्रिक स्वर्ण की कुल मात्रा के वितरण में कुसमायोजन (maladjustment) उत्पन्न हो जाय, तो उन देशों में कीमतें बहुत घट-बढ सकती है। विश्व का मौद्रिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि आन्तरिक स्वर्णमान करेंसी की मात्रा और कीमत स्तर को स्थायी नहीं बनाता वरन् उन्हें निरन्तर परिवर्तित होते रहने के लिये विवश कर देता है। वास्तव में वह करेंसी की मात्रा और स्वर्ण की मात्रा के पारस्परिक सम्बन्ध को ही स्थायी करता है।[1]

(३) यदि आन्तरिक स्वर्णमान का स्वचालित कार्यवाहन, सम्भव भी हो, तो वह देश की आर्थिक समृद्धि के लिए खतरा है। कारण, इसके अन्तर्गत, स्वर्ण कोष की

---

1 The domestic gold standard does not stabilise the volume of currency, but forces it to fluctuate It merely stabilises the volume of gold and the volume of currency.

मात्रा मे घटा-बढी होने पर करैंसी की मात्रा मे घट बढ हो जाती है चाहे देश को करैंसी की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि की आवश्यकता हो या नहीं। फलत अर्थ-व्यवस्था मे जब-तब मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-सकुचन की हलचलें उत्पन्न होकर नुकसान पहुँचाती रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के गुण-दोष—

'अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान' से आशय ऐसी मौद्रिक व्यवस्था का है जिसमे विश्व के अनेक देश अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा मे घोषित कर देते हैं, वहाँ स्थानीय करैंसी का स्वर्ण मे और स्वर्ण को स्थानीय करैंसी मे परिणित कराया जा सकता है। तथा उनमे परस्पर स्वर्ण का आवागमन निर्बाध रूप से होता है।[1]

गुण—जब स्वर्णमान एक ही साथ अनेक देशों द्वारा अपनाया जाता है, तो इससे निम्न लाभ होते हैं —

(१) यह स्वर्णमान देशो को एक अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय माध्यम और मूल्य प्रमाप उपलब्ध करता है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों मे बहुत सुविधा हो जाती है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की कार्यशीलता के अन्तर्गत विनिमय-दरो मे स्थायित्व रहता है। कारण, विभिन्न देशों की मौद्रिक इकाइयो का मूल्य स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा मे प्रगट किया जाता है एव सरकारें एक पूर्व निश्चित दर पर स्वर्ण के असीमित मात्राओ मे क्रय-विक्रय का आश्वासन देती हैं। इन परिस्थितियों मे विभिन्न स्वर्णमान देशों की करैंसियों की इकाइयो के मध्य स्थायी सम्बन्ध स्थापित हो जाते है। विनिमय-स्थायित्व के कारण ही विभिन्न देशो के लोग अन्तर्राष्ट्रीय ऋण लेने-देने मे कोई सकोच या भय नही करते।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत विभिन्न देशों की कीमतें परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हो जाती है। यदि किसी समय पर कीमते एक देश मे नीची और अन्य देशो मे ऊँची हों तो यह भिन्नता स्वर्ण-आवागमन के मिकेनिज्म द्वारा सुधर जाती है।

(४) स्वर्णमान अविवेकी सरकारो की त्रुटियो से देश की रक्षा करता है। स्वर्णमान के नियम सरकार को स्वर्ण-कोष के उचित अनुपात से अधिक करैंसी और

---

1 "The only intelligible meaning to be assigned, to the phrase the International Gold Standard is the simultaneous presence, in a group of countries, of arrangements by which, in each of them, gold is convertible at a fixed rate into the local currency and the local currency into gold, and by which gold movements from any one of these to any of the others are freely permitted by all of them."—**Gregory.**

साख का विस्तार करने से रोकते है। इनका विस्तार या सकुचन तो सम्भव हैं लेकिन अत्यधिक मुद्रा-प्रसार या मुद्रा-सकुचन नही किया जा सकता हैं।

दोष—जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के इतने लाभ है वहाँ इसके कुछ दोष भी है —

(१) स्वर्णमान का कार्य सम्पादन **मुद्रा-संकुचन से प्रभावित तथा एक पक्षीय** होता है। जबकि स्वर्ण खोने वाले देश के लिये यह अनिवार्य हैं कि अपने यहाँ साख को सकुचित करे और सकुचन के दुष्परिणामो को भोगे, तब स्वर्ण पाने वाला देश अपने यहाँ साख को बढ़ाने और मुद्रा प्रसार का अनुभव करने के लिए विवश नही हैं। उदाहरणार्थ, इङ्गलैंड मे स्वर्ण के निर्यात के कारण वहाँ आय कम हो गई और बेकारी बढ गई किन्तु अमेरिका मे स्वर्ण का आयात करेंसी का विस्तार नहीं करा सका जिसमे वहा मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न न हुई। स्वर्णमान के इस पक्षपात पूर्ण व्यवहार के दो कारण है —(i) इङ्गलैंड की अपेक्षा अमेरिका एक विशाल देश है जिससे कि एक विशाल निर्यात आधिक्य या पुराने ऋण की वापसी के फलस्वरूप वहाँ विशाल मात्रा मे प्रवाहित होने वाले स्वर्ण का अर्थव्यवस्था पर विस्तारात्मक प्रभाव अल्प ही पड़ता है, और (ii) विदेशी व्यापार की मात्रा देशी व्यापार की अपेक्षा अमेरिका मे बहुत ही अल्प किन्तु इङ्गलैंड से बहुत अधिक हैं।[1]

(२) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान **अन्तर्राष्ट्रीय समायोजन का** प्राय एक कुशल साधन सिद्ध नहीं हुआ है। इसके विपरीत, वह **मन्दी और कभी-कभी तेजी के एक देश से दूसरे देश मे फैलने का** साधन रहा हैं।[2] इसका अर्थ यह हैं कि एक देश की

---

1 Among the causes responsible for the deflationary bias of the *gold standard*, 'one is *the unequal* importance of *the balance* of payments as between countries whose foreign trade and other payments are large relative to the home economy and countries for which foreign trade is less important The other is the unequal size of countries Gold standard theory was based on the principle of interaction between homageneous countries of approximately equal size "—**John H. Williams** . 'The Adequacy of Existing Currency Mechanism under Varying Circumstances,"- *American Economic Review, March, 1937*, p. 154.

2 'The gold standard has frequently not been efficient instrument of two sided compensatory international adjustment it was meant to be It has been a means of spreading depressions and sometimes booms from one country to another," - **John H. Williams** : "The Post War Monetary Plan,"—*American Economic Review, March, 1944*, p 373

कठिनाइयों में अन्य देशों को भी भागी होना पड़ता था भले ही वे इसके लिये तैयार न हों।

(३) स्वर्णमान का स्वचालित स्वभाव कई शर्तों पर निर्भर होता है। प्रथम, तो स्वर्ण-आवागमन मिकेनिज्म (Gold flow-mechanism) के स्वचालित कार्यवाहन के फलस्वरूप साख के जो सकुचन और फैलाव होते है वे देशों की आर्थिक स्थिरता के लिए खतरनाक है। दूसरे स्वर्णमान देशों मे केन्द्रीय बैंक्स इच्छा रखते हुए भी लागतों और कीमतों को साख सकुचन की दशा मे नीचे की ओर तथा साख-प्रसार की दशा म ऊपर की ओर समायोजित करने मे असमर्थ हो सकते है।[1]

(४) युद्धोत्तरकाल के मौद्रिक इतिहास के पृष्ठ पलटने से यह पता चलता है कि स्वर्णमान देश को विनिमय स्थायित्व के लिए कीमत स्थायित्व का परित्याग करने को विवश करता है। वास्तव मे स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय स्थायित्व और कीमत स्थायित्व दोनो एक ही साथ सम्भव नही हैं। एक वर्णमान देश अपने आन्तरिक मामलो मे स्वतन्त्र मौद्रिक नीति का अनुसरण नही करने पाता है।

स्वर्णमान व्यवहार मे

स्वर्णमान के इतिहास का शुभारम्भ सन् १८१६ मे होता है जबकि यह इङ्गलैंड म कानून द्वारा स्थापित किया गया था। जर्मनी ने इसे सन् १८७३ म अपनाया। फ्रान्स ने सन् १८७८ मे और अमेरिका ने सन् १९०० म स्वर्णमान को ग्रहण किया। रूस, जावा हालैंड, डेन्मार्क, आस्ट्रिया आदि (जिनके पास स्वर्ण का स्टॉक बहुत कम था) ने अपने यहा स्वर्ण विनिमय मान प्रचलित किया। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध शुरू होने के पहले ही स्वर्णमान व्यापक रूप स प्रचलित हो चुका था। अधिकाशत यह एक महत्त्वपूर्ण स्वर्णमान (Full gold standard) था। न केवल मुद्रा-व्यवस्था (Monetary system) मे से वरन् देश म से भी स्वर्ण का स्वतन्त्रतापूर्वक आवागमन होता था। यह इसलिए सम्भव हुआ क्योंकि उन दिनों स्वर्ण की असीमित व स्वतन्त्र सिक्का ढलाई प्रचलित थी, सरकारो द्वारा स्वर्ण का नियत दरो पर क्रय विक्रय किया जाता था तथा अन्य प्रकार की मुद्रायें भी स्वर्ण मे स्वतन्त्र और असीमित रूप मे परिवर्तनशील थी।

स्वर्ण चलन मान (Gold Coin Standard) सन् १९१४ मे पहला विश्व

---

[1] "In the modern world where on the one hand, inflows of gold are liable to be sterlised and prevented from causing an expan sion of credit, whilst on the other hand the deflation of credit set up elsewhere is prevented by social causes from transmitting its full effect to money-wages and other costs it may be that the whole machine will crack before the reaction back to the equilibrium has been brought about " — *Committee on Finance a d Industry Report. 1931.* p 108

युद्ध प्रारम्भ होने तक सहजतापूर्वक (smoothly) कार्य करता रहा। किन्तु युद्ध-काल में, स्वर्ण के स्वतन्त्र आयात-निर्यात को रोक दिया गया। परिणामत अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान टूट गया तथा अपरिवर्तनशील पत्र चलन (Inconvertible paper currencies) ही सर्वत्र प्रचलित हो गये। युद्ध की समाप्ति के बाद, विश्व के अग्रणी राष्ट्रों का ध्यान पुन स्वर्णमान की स्थापना पर गया।

लेकिन स्वर्णमान के पुनर्संस्थापन की समस्या कुछ सरल नहीं थी, क्योंकि युद्ध ने अपने पीछे उत्तराधिकार के रूप में अनेक जटिल समस्यायें छोड़ी थीं। ये समस्यायें निम्न थी —(i) युद्धकाल में तथा युद्धोत्तर वर्षों में विभिन्न देशों में मुद्रा-प्रसार विभिन्न मात्राओं में छाया हुआ था। मुद्रा प्रसार की असमानता के कारण ही आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-स्तर-सम्बन्ध अस्त व्यस्त हो गये। (ii) युद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका विश्व क्षितिज पर एक लेनदार राष्ट्र के रूप में प्रगट हुआ, जबकि अभी तक वह एक देनदार देश था। दूसरी ओर इङ्गलैंड की स्थिति बहुत दुर्बल हो गई। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय वित्त प्रबन्ध का केन्द्र लन्दन से हट कर न्यूयार्क में आ गया। (iii) अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में, विशेषत मुद्रा एवं अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के क्षेत्र में, सरकार व्यापक रूप से हस्तक्षेप करने लगी थी। और (iv) विश्व के मौद्रिक स्वर्ण कोष केन्द्रीय बैंकों व सरकारी खजानों में केन्द्रित हो गये तथा सिक्का ढलाई (Coinage) के लिए उपलब्ध नहीं रहे।

इस प्रकार, युद्धोत्तर विश्व की रचना युद्ध-पूर्व के विश्व से बिल्कुल भिन्न हो गई थी तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्वार्थ टकराने लगे थे। यह अनुभव किया गया कि यदि वास्तविक चलन-इकाई सोने की न बनाई जाय, तो स्वर्ण के प्रयोग में मितव्ययिता (economy) हो सकती है। इधर जनता भी पत्र मुद्रा का प्रयोग करने की आदी हो चुकी थी। यहाँ तक कि कई देशों में स्वर्ण सिक्के पुन प्रचलित करने का प्रयत्न असफल हो गया था। इससे स्पष्ट है कि इन बदलती हुई परिस्थितियों में युद्ध पूर्व नमूने का स्वर्णमान स्थापित करना सम्भव न था। अत सन् १९२० में जनेवा कान्फ्रेंस हुई, जिसमें स्वर्णपाटमान (Gold Bullion Standard) अथवा स्वर्ण विनिमयमान (Gold Exchange Standard) अपनाने का निर्णय हुआ। सर्वप्रथम अमेरिका स्वर्णमान पर लौटा। तत्पश्चात्, तीन देशों ने उसका अनुसरण किया। सन् १९२८ में, जबकि फ्रान्स ने भी स्वर्णमान अपना लिया, स्वर्णमान की पुन स्थापना का कार्य सम्पूर्ण हो गया।

युद्धोत्तर स्वर्णमान का खण्डन—

यद्यपि स्वर्णमान सन् १९२८ में पूर्णत पुन स्थापित हो गया था तथापि व्यवहार में वह सहज गति से कार्य कभी न करने पाया। वह कठिनाई से तीन वर्ष ही चला और इन तीनों वर्षों में भी उसका कार्य सम्पादन काटों से परिपूर्ण रहा। इसके अन्तिम रूप में खण्डन के लिए निम्नलिखित कारण दायी थे—

(१) स्वर्ण-स्टॉकों का असमान रूप से वितरण होना (Unequal distri-

bution of gold stocks)—युद्ध मे भाग लेने वाले देशो ने अमरिका व फ्रान्स से अपार मात्रा मे युद्ध सामग्री का क्रय किया था। किन्तु लेनदार राष्ट्रो ने उनसे वस्तुओ मे भुगतान लेना स्वीकार नही किया। उन्होंने स्वर्ण म ही भुगतान करने की माँग की जिससे इन दोना देशो म स्वर्ण सचित होने लगा। चूँकि अन्य देशो के स्वर्ण कोष बहुत घट गये थे इसलिए उनके लिये स्वर्णमान पर डटे रहना कठिन हो गया।

(२) स्वर्णमान खेल के नियमों का उल्लघन (Defiance of the rules of the gold standard game)—स्वर्णमान की असफलता का कारण यह भी था कि इसके खेल के नियमो का पूर्ण रूप म पालन नही किया गया। उदाहरण के लिए जब किसी देश मे स्वर्ण आया, तो वहा साख का प्रसार न होने दिया गया और स्वर्ण आवागमन के प्रभावो को व्यर्थ करने मे खुले बाजार के कार्य-कलापो (open market operations) का प्रयोग किया गया। इस प्रकार, सामान्य कीमत स्तर स्वर्ण के आवागमन से अप्रभावित ही रहा। फल यह हुआ कि स्वर्ण अपने नियमन सम्बन्धी कर्त्तव्य (regulatory function) को पूरा करने मे असमर्थ हो गया।

(३) दोषपूर्ण साख सरचना (Defective credit structure)—स्वर्ण प्रवाहों (Gold flows) के वाछित गुप्रभाव प्राप्त करने हेतु यह बहुत ही वाछनीय था कि साख मुद्रा का नियन्त्रण किया जाय। लेकिन अनेक देशो की साख सरचना दोष पूर्ण होने के कारण बैंक दरो मे बीच-बीच मे घटा-बढी करने का परिणाम यह हुआ कि द्रव्य-कोष एक देश से दूसरे देश को, सुरक्षाप्रद विनियोग के लिए, जल्दी-जल्दी आने-जाने लगे।

(४) क्षति भुगतान एव युद्ध ऋण (Reparations and war debts)—जर्मनी द्वारा युद्ध सम्बन्धी क्षति के भुगतानो तथा युद्ध जनित ऋणो ने स्वर्णमान की कार्य-प्रणाली पर भारी बोझ (Strain) डाला। क्षति व ऋणो के भुगतान मे अमरिका और फ्रास को स्वर्ण की विशाल मात्रायें प्राप्त हुई, जिनसे वहाँ स्वर्ण-भण्डार भरपूर हो गये किन्तु अन्य देशो मे इनकी कमी हो गई।

(५) अर्थ-व्यवस्थाओ की बेलोचता में वृद्धि (Growing inelasticity in economic system)—विभिन्न देशो की अर्थ-व्यवस्थाओ की बढती हुई बेलोचता के कारण स्वर्णमान के सहज रूप मे कार्य-सम्पादन मे, बडी बाधा पडने लगी थी। स्वर्ण खोने वाले देश मे कीमतें गिरनी चाहिए थी जबकि स्वर्ण प्राप्त करने वाले देश मे कीमतें बढनी चाहिए थी। किन्तु यह सब नही हो सका, क्योकि देशो की अर्थ-व्यवस्थायें पहले के समान लोचदार नही थी। उदाहरण के लिए, सामाजिक सेवाओ पर व्यय मे कोई कमी नही की जा सकती थी। सुदृढ श्रम-संघो के कटु विरोध के कारण मजदूरियो मे कटौती करना भी सम्भव नहीं था। एकाधिकारों व कार्टेलो की शक्ति के कारण कच्चे मालो व निर्मित मालो की कीमते भी नही घटाई जा सकती थी।

(६) राजनैतिक अस्थिरता एवं मन्दी (Political instability and depression)—कुछ देशो मे प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद जो राजनैतिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई थी उसके कारण फ्रास ने वहाँ से अपने विनियोजित कोष लौटाने प्रारम्भ किये। यही नही, अमेरिका मे औद्योगिक सम्पन्नता (prosperity) और स्टॉक विनिमय प्रतिभूतिया (stock exchange securities) की ऊँची कीमतो के कारण कुख्यात 'वाल स्ट्रीट सक्ट' (Wall Street Crash) टूट पडा, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण विश्व मे रोजगार, कीमत व उत्पत्ति स्तर गिरने लगे। इस तरह महान् मंदी का सूत्रपात हुआ, जिसने स्वर्णमान को भी अपनी चपेट मे ले लिया।

(७) त्रुटिपूर्ण समता-स्तर (Incorrect parity levels)—ब्रिटिश पौण्ड १०% से अधिमूल्यित (over-valued) था। इसके विपरीत, फ्रेंच फ्राक इतना ही अवमूल्यित (under-valued) था। इस दोषपूर्ण समता के कारण भी इङ्गलैंड से सोने का लगातार बहिर्गमन होता रहा।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि युद्ध के बाद आर्थिक दशायें धीरे-धीरे इतनी प्रतिकूल हो गई कि स्वर्णमान सन् १९३१ मे अन्तत टूट ही गया। स्वर्णमान के खण्डन के पश्चात् इङ्गलैंड, अमेरिका और फ्रास ने विनिमय-दरो के उतार चढ़ावो का नियन्त्रण करने हेतु 'विनिमय समानीकरण कोष' (Exchange Equalisation Funds) स्थापित किए। सन् १९३९ म जब द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तब सभी देशो ने विनिमय नियन्त्रण कठोरतापूर्वक लागू किये और स्वर्णमान पर लौटने का विचार सदा के लिए त्याग दिया। सन् १९४५ मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना हुई। इसकी योजना के अनुसार विनिमय दरो के निर्धारणो म स्वर्ण की भूमिका अब पहले जितनी महत्त्वपूर्ण नही रही है।

स्वर्ण के आवागमन का सिद्धान्त
(Theory of Gold Movements)

भुगतान सतुलन में साम्यता लाने वाली सुधार प्रक्रिया—

स्वर्णमान देशो के भुगतान सतुलन मे असाम्यता का सुधार या साम्य की स्थापना स्वर्ण के आवागमन के द्वारा, अर्थात्, स्वर्णमान देशो के मध्य स्वर्ण के आगमन (inflow) और बहिर्गमन (outflow) द्वारा होती है। 'स्वर्ण के आवागमन के सिद्धान्त' के अनुसार, नीची लागत-कीमत सरचना वाले देश मे स्वर्ण का आगमन होता है किन्तु अपेक्षत ऊँची लागत-कीमत सरचना वाले देश से स्वर्ण का बहिर्गमन।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—सुधार प्रक्रिया को समझाने के लिये हम दो देशो का उदाहरण लेते हैं। मान लीजिये कि A और B दो स्वर्णमान देश हैं। यह भी मान लीजिये कि A देश का भुगतान सतुलन B देश के भुगतान सतुलन के सदर्भ मे 'निष्क्रिय' (passive) हो गया है, अर्थात्, A जितना माल B को निर्यात करता है उससे कही अधिक माल का आयात कर रहा है। ऐसी परिस्थिति मे A को

B के प्रति कुछ शुद्ध रकम का (जो कि भुगतान-सतुलन मे घाटे के बराबर है) भुगतान करना है जो स्वर्ण के निर्यात द्वारा किया जायेगा। स्वर्ण के इस बहिर्गमन का तात्कालिक प्रभाव यह होगा कि A मे करेन्सी का सकुचन और B मे करेन्सी का प्रसार होगा। मुद्रा परिणाम सिद्धान्त की परिष्कृत व्याख्या (refined version) के अनुसार A म करेन्सी का सकुचन होने से वस्तुओं की कीमतें गिर जायेंगी आय और रोजगार मे भी कमी हो जायेगी और चूँकि समस्त वस्तुओ की कीमतें गिर गई हैं इसलिये A देश विदेशियो द्वारा क्रय के लिये एक अच्छा किन्तु विक्रय के लिए बुरा बाजार बन जाता है, जिससे A देश से B देश को निर्यात प्रोत्साहित होने है।

दूसरी ओर, स्वर्ण के आगमन के फलस्वरूप जब B देश मे करेन्सी का प्रसार होता है, तो वहाँ वस्तुओ की कीमतें बढ जाती हैं एव आय और रोजगार म भी वृद्धि होती हैं। चूँकि सब कीमतें बढ गई है, इसलिये वह बिक्री के लिये एक अच्छा किन्तु क्रय के लिये खराब बाजार हो जाता है, जिससे वहाँ आयात प्रोत्साहित और निर्यात अ-प्रोत्साहित होते है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दोनो देशो मे कीमत सम्बन्धी परिवर्तनो का प्रभाव इस प्रकार होता है कि A के आयात घट जाते है किन्तु निर्यात बढ जाते हैं, B के आयात बढ जाते है किन्तु निर्यात घट जाते है और इन प्रवृत्तियो के सम्मिलित प्रभाव इस प्रभावस्वरूप दोनो देशो के भुगतान सतुलनो म साम्य शनै शनै स्थापित होने लगता है।

A देश के आयात (अथवा B देश के निर्यात) एक अन्य कारण से भी घटते है। चूँकि A देश म रोजगार और आय घट गई हैं, इसलिए वहाँ सभी प्रकार की (देशी + विदेशी) वस्तुओ के उपभोग म कमी हो जायेगी और देश के आयातो मे घटौती के रूप मे प्रतिबिंबित होगी। दूसरी ओर, B देश मे आयात (अथवा A देश के निर्यात) बढ जायेंगे, क्योकि B देश म आय व रोजगार मे वृद्धि हो गई है जिसके फलस्वरूप वहाँ देशी विदेशी सभी वस्तुओ का उपभोग बढ जायेगा। यह उपभोग-वृद्धि A से B को बढे हुये आयातो के रूप म प्रतिबिम्बित होगी।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि स्वर्ण के आवागमन एक देश मे मुद्रा-प्रसारिक प्रक्रिया को और दूसरे देश म मुद्रा विस्फीतिक प्रक्रिया को जन्म देकर स्वर्णमान देशो के भुगतान सतुलनो मे साम्य की स्थापना मे सहायक होते है। यह सुधार प्रक्रिया स्वचालित रूप से (automatically) चलती रही है और स्वर्ण के आवा-गमनों मे किसी का भी हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकती है। किन्तु सुधार प्रक्रिया के बारे मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि समायोजन दोनो देशो मे सापेक्षिक कीमतो और आयो के परिवर्तनो द्वारा, जोकि स्वय सम्बद्ध देशो की आर्थिक क्रिया के स्तर मे परिवर्तन का परिणाम हैं, सम्भव होता है। इस स्वचालित प्रक्रिया को केन्द्रीय

बैंकों की नीति से बहुत बल मिलता है। उदाहरणार्थ, यदि वे स्वर्ण खोने वाले देश में बैंक-दर बढ़ा दें, तो वहाँ समस्त व्यापारिक बैंकों द्वारा भी ब्याज दरें बढ़ा दी जायेंगी, जिससे विनियोग, रोजगार और आय में और भी अधिक कमी हो जायेगी तथा विदेशों से कोष विनियोग के लिए आने लगेंगे, जिससे स्वर्ण जाना रुक जायगा। किन्तु स्वर्ण पाने वाले देश में, बैंक दर में कमी होने पर, व्यापारिक बैंकों भी ब्याज दर घटा देंगे इससे विनियोजन आय व रोजगार बढ़ेगा। ये प्रवृत्तियाँ सुधार प्रक्रिया को गति प्रदान कर देती हैं, जिससे वह जल्दी ही पूर्ण हो जाती है।

स्वर्ण के आवागमन को सम्भव बनाने वाली दशायें—

स्वर्ण के आवागमन और इसके द्वारा सुधार की प्रक्रिया सम्भव होने के लिए यह आवश्यक है कि निम्नलिखित शर्तों का पालन किया जाय —

(१) **सभी स्वर्णमान देश स्वर्णमान के नियमों का सच्चाई से पालन करें।** इसका अभिप्राय यह है कि स्वर्णमान देशों के मुद्रा अधिकारी स्वर्ण-प्रवाह-मिकेनिज्म को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने दें। प्रत्येक देश स्वर्ण-गुट के औसत व्यवहार को ही अपनी बैंकिंग नीति का लक्ष्य बनाये स्वयं उसका स्वतन्त्र एवं ऐच्छिक योगदान बहुत ही अल्प हो।[1] अत करैन्सी और साख का स्वर्ण खोने वाले देश में सकुचन तथा स्वर्ण पाने वाले देश में विस्तार होना चाहिये।

(२) **स्वर्णमान देशों की अर्थ-व्यवस्था लचकदार होनी चाहिये।** तब ही स्वर्ण कोषों में हुई तनिक भी घटा-बढ़ी सम्बद्ध देशों की लागत-कीमत सरचना में प्रतिबिम्बित हो सकेगी और तब ही स्वर्ण खोने वाले देश में सकुचन और स्वर्ण पाने वाले देश में मुद्रा प्रसार स्वाभाविक रूप से सम्भव होगा। इस हेतु स्वर्णमान देशों में एक विशेष प्रकार का व्यापारगत वातावरण होना चाहिये। उदाहरणार्थ, मजदूरी सम्बन्धी नीति लचीली होनी चाहिये। जब स्वर्ण के बाहर जाने पर आय का सकुचन होने लगे तथा मजदूरी में कटौती करनी पड़े, तब इसमें श्रमसघों को बाधक नहीं बनना चाहिए।

(३) **विघ्नकारक पूँजी-आवागमन नहीं होने चाहिये।** जब पूँजी बड़े पैमाने पर सहसा ही एक देश से दूसरे देश को प्रयाण करती है, तो भुगतान सतुलन सम्बन्धी स्थिति में अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है, स्वर्ण के विशाल आवागमन होने लगते हैं और इससे स्वर्ण-प्रवाह-मिकेनिज्म काम करने में असमर्थ हो जाता है।

(४) **माँग की कीमत सम्बन्धी लोच ऊँची होनी चाहिये।** यदि देशी और विदेशी माँग की कीमत लोचें (price elasticities) ऊँची होंगी, तो कीमत में अत्यन्त एक अल्प परिवर्तन ही सम्बद्ध देशों में निर्यात और आयात के लिये माँग में

---

1 The main criterion of the banking policy of each country should be the average behaviour of all the other members, its own voluntary and independent contribution being a modest one".—Keynes : *A Treatise on Money*, Vol II, p 303.

बड़े परिवर्तन उत्पन्न कर सकेगा और इस तरह समायोजन-क्रिया सहज ही सम्पन्न हो सकेगी।

(५) स्वर्ण समताओं में स्थायित्व होना भी आवश्यक है। यदि लोगों को यह शंका रहती है कि स्वर्णमान देश अपनी विनिमय दर में स्थिरता कायम न रख सकेगा, तो सट्टा व्यवहारों का जोर बढ़ जाता है।

(६) राजनैतिक स्थायित्व भी स्वर्णमान के सहज रूप से कार्य करते रहने के लिए आवश्यक है।

स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर का निर्धारण

(टकसाल-समता सिद्धान्त)

'टकसाली समता' क्या है ?

स्वर्णमान विश्व में सबसे प्रचलित एक धातुमान रहा है। अतः हम दो स्वर्ण-मान देशों के बीच स्वाभाविक विनिमय दर के निर्धारण पर प्रकाश डालेंगे। प्रायः देश के विधान द्वारा यह निश्चित कर दिया जाता है कि उसकी मुद्रा में अमुक मात्रा में विशुद्ध स्वर्ण रहेगा। दो मुद्राओं के स्वर्ण मूल्यों की समानता स्थापित करते समय विधान द्वारा उल्लिखित विशुद्ध स्वर्ण-मूल्य को ही ध्यान में रखा जाता है न कि मुद्रा के अंकित मूल्य का, क्योंकि उसमें शुद्ध स्वर्ण के साथ मिलावट भी हो सकती है।[1] विधान द्वारा निर्धारित विशुद्ध स्वर्ण के आधार पर दो देशों के बीच जो समानता स्थापित होती है उसे 'विनिमय की टकसाली समता' (Mint Par of Exchange) या 'विनिमय की स्वर्ण-मूल्य समता' (Gold Par of Exchange) कहते हैं।[2] हेबरलर के शब्दों में — "यदि दो या अधिक व्यापारी देशों में स्वर्णमान हो और यदि स्वर्ण के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध न हो, तो विभिन्न करेंसियों का गठबन्धन बहुत दृढ़ होता है। उदाहरण के लिए, यदि एक औंस स्वर्ण से एक निश्चित मात्रा में पौंड के सिक्के या इसमें बीस गुने मार्क्स बनाए जा सकते हैं, तो (यदि यह मान लिया जाय कि मुद्रा ढालने का कोई व्यय नहीं है) कोई भी व्यक्ति २० मार्क्स के बदले एक पौंड या एक पौंड के बदले २० मार्क्स प्राप्त कर सकता है।"[3]

---

[1] 'The Mint Par depends, in short not on the coin itself but on the legal definition of it, not on the sovereign defacto but on the sovereign dejure unless and until the law is altered the Mint Par can not alter" — Clare and Crump

[2] "Mint Par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents of the standard monetary units of two countries on the same monetary standards" — Thomas

[3] ' If two or more trading countries are on the gold standard, and if there are no obstacles to the import and export of gold,

(Contd on next page)

टकसाली समता पर आधारित विनिमय दर—

प्रथम विश्व युद्ध के पहले और इसके बाद युद्धोत्तरकाल म भी कई वर्षो तक अमेरिका और इगलैंड दोनों ही पूर्णरूपेण स्वर्णमान पर थे। स्वर्ण-सावरेन मे ११३.००१६ ग्रेन और स्वर्ण डालर म २३.२२०० ग्रेन स्वर्ण (स्टेण्डर्ड विशुद्धता) था। चूँकि टकसाली समता दोनो करैंसियो मे निहित स्वर्ण के अनुपात मे होती है, इसलिए डालर और पौंड म विनिमय दर, टकसाली समता के आधार पर, ११३.००१६ २३.२२०० अर्थात् १ ४.८६६५ थी, जिसका आशय है कि ४.८६६५ अमेरिकी स्वर्ण डालर १ पौंड के बराबर थे।

उपरोक्त ढङ्ग से जो विनिमय दर निकाली गई हैं वह एक 'आदर्श' (norm) है, जो कि दीर्घकाल म प्रचलित होगी। 'दैनिक' अथवा 'बाजार विनिमय दर' इस आदर्श से कुछ निश्चित सीमाओ के भीतर भिन्न हो सकती है और होती है। ये सीमायें एक देश से दूसरे देश को स्वर्ण के यातायात मे हुए वास्तविक व्यय. (जिसमे बीमा, पैकिंग व्यय आदि सम्मिलित है) द्वारा नियत होती है।

स्वर्ण बिन्दुओ का महत्व—

स्वर्णमान देशो मे लोगो को यह विकल्प होता है कि वे अन्य देशों को या तो टेलीग्राफिक ट्रासफर और विनिमय बिलो द्वारा अथवा स्वर्ण भेजकर भुगतान करे। जब स्वर्ण भेजकर भुगतान किया जाता है, तो सरकारी कीमत के अतिरिक्त भाड़े, बीमा, पैकिंग और स्थानान्तरण की अवधि के लिए व्याज की हानि के रूप मे अन्य व्यय भी करने पडते है। अत अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय माध्यम हेतु जब स्वर्ण का प्रयोग किया जाय, तो इन व्ययो को भी ध्यान म रखना चाहिए।

मान लीजिए कि पौड और फ्रैंक के मध्य टकसाली समता दर १ पौड= १२४.२१ फ्रैंक है और अन्य व्यय दोनो दिशाओ मे ५० फ्रैंक है। फ्रासीसियों द्वारा अँग्रेजो को स्वर्ण मे भुगतान करने के लिए प्रत्येक पौड ऋण के सम्बन्ध मे कुल व्यय १२४.२१+.५० अर्थात् १२४.७१ फ्रैंक करना पडेगा। इसी तरह, जब इगलैंड से फ्रास को भुगतान स्वर्ण म किये जाते है, जो अँग्रेज ऋणी द्वारा चुकाये गये प्रत्येक पौड के लिए उसके फ्रासीसी ऋणदाता का (१२४.२१—.५०=) १२३.७१ फ्रैंक प्राप्त होत है।

जब तक दोनो करैंसियो के मध्य विनिमय दर १ पौड=१२४.७१ फ्रैंक से

---

then the different currencies are rigidly linked together For instance, if an ounce of gold can be coined into a definite number of pounds sterling and into twenty times as many marks then—still under the provisional assumption that no costs are involved – one can convert at will twenty marks into one pound and vice versa "—Haberler : *The Theory of International Trade*

बना रहे तब तक फ्रांसीसी ऋणियों के लिए सामान्य ढङ्ग से (अर्थात् साख पत्रों के प्रयोग द्वारा) भुगतान करना ठीक होगा, लेकिन जब विनिमय दर १२४·७१ फ्रैंक से अधिक हो जाय, तो स्वर्ण भेजकर भुगतान करना ही लाभदायक होगा। फलत स्वर्ण फ्रांस से इङ्गलैंड को निर्यात होने लगेगा। अत इसे फ्रांस के लिए 'स्वर्ण निर्यात बिन्दु' (Gold Export Point) या 'उच्चतम स्वर्ण बिन्दु' (Upper gold point) कहेंगे। इङ्गलैंड की दृष्टि से इसे 'स्वर्ण आयात बिन्दु' या 'निम्नतम स्वर्ण बिन्दु' कहते हैं।

इसी प्रकार, जब तक विनिमय दर १२३·७१ फ्रैंक से अधिक रहे, तब तक अँग्रेज ऋणियों द्वारा भुगतान सामान्य ढङ्ग से (साख पत्रों के प्रयोग द्वारा) किये जायेंगे। लेकिन, यदि विनिमय दर १२३·७१ फ्रैंक से नीचे गिर जाये, तो इङ्गलैंड से फ्रांस का भुगतान स्वर्ण भेज कर किया जायेगा क्योंकि अब ऐसा करना ही लाभप्रद है। चूँकि इस बिन्दु पर स्वर्ण इङ्गलैण्ड से फ्रांस को निर्यात होने लगता है, इसलिए इसे इङ्गलैंड की दृष्टि से, स्वर्ण निर्यात बिन्दु' या 'उच्चतम स्वर्ण बिन्दु' और, फ्रांस की दृष्टि से, 'स्वर्ण आयात बिन्दु' या 'निम्नतम स्वर्ण बिन्दु' कहेंगे।

दो देशों के मध्य विनिमय-दर उक्त 'उच्चतम' एवं 'निम्नतम' स्वर्ण बिन्दुओं की सीमा से अधिक परिवर्तित नहीं हो सकती, क्योंकि, जैसे ही विनिमय दर इनमे से किसी भी बिन्दु को पार करती है, वैसे ही स्वर्ण का आवागमन होने लगता है। स्वर्ण खोने वाले देश मे करेंसी का सकुचन और स्वर्ण पाने वाले देश मे करेंसी का प्रसार होकर विनिमय दर पुन स्वर्ण-बिन्दुओं की परिधि मे लौट आती है।

इस प्रकार, स्वर्ण (या रजत) मान के अधीन विदेशी विनिमय दर के निर्धारण के सम्पूर्ण विवेचन मे स्वर्ण-बिन्दुओ का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इनसे यह पता चलता है कि विदेशी विनिमय बाजार मे दैनिक विनिमय दर मे कितना अधिकतम उतार चढाव हो सकता है। ये बिन्दु हमे यह भी बताते हैं कि विनिमय दर टकसाली विनिमय दर से जो विदेशी विनिमय दर के टकसाली सिद्धान्त पर आधारित है, क्यों भिन्न होती है।

सुधार प्रक्रिया—

मान लीजिए कि लगातार फसलें खराब रहने से या एक दीर्घ अवधि तक क्षतिपूर्ति सम्बन्धी भुगतान करने की आवश्यकता के कारण व्यापार सन्तुलन बुद्ध स्थायी रूप से निष्क्रिय हो जाता है और विदेशी मुद्रा की दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु से ऊँची हो जाती है। ऐसी दशा मे स्वर्ण का बहिर्गमन कब तक जारी रह सकता है? क्या कोई ऐसी सीमा है जिससे अधिक स्वर्ण को चलन मे से न निकाला जायेगा? क्या करेंसी पर असुविधाजनक दबाव को रोकने के लिए सरकार को हस्तक्षेप करना चाहिए? अथवा, क्या विभिन्न देशो मे स्वर्ण का वितरण स्वत ही हो जायगा?

व्यापारवादियों का दृष्टिकोण—इस पुस्तक के प्रारम्भ मे ही हम यह बता चुके हैं कि व्यापारवादियों ने सक्रिय सन्तुलन और स्वर्ण के आगमन को बढ़ाने

की दृष्टि से आयातों पर प्रतिबन्ध तथा निर्यातों को प्रोत्साहन देने का समर्थन किया था। व्यापारवादियों की यह आलोचना की जाती है कि उन्होंने कुल भुगतान सन्तुलन के बजाय केवल व्यापार सन्तुलन पर ही ध्यान दिया। किन्तु यह आलोचना सही नहीं है, क्योंकि अनेक व्यापारवादियों ने व्यापार सन्तुलन के अतिरिक्त भुगतान सतुलन की मदों की भी स्पष्ट रूप से चर्चा की है। कुछ मदें जो आज महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं उन दिनों नगण्य थी या विद्यमान नहीं थी। अत इन्हे विचार में न लेना कोई त्रुटि नहीं थी।

व्यापारवादियों की नीति इस विचार पर आधारित थी कि स्वर्ण का सचय होना देश की वास्तविक सम्पत्ति म वृद्धि होना है। किन्तु उनका यह विचार त्रुटिपूर्ण था और यदि वह ठीक भी होता, तो जो ढङ्ग (सरकारी हस्तक्षेप) उन्होंने सुझाया वह लक्ष्य की प्राप्ति नहीं करा सकता था। यह डर भी निराधार था कि यदि सरकार द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया गया, तो स्वर्ण का असीमित बहिर्गमन हो सकता है। उनका सम्पूर्ण सिद्धान्त भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी अपरिष्कृत विचारों पर आधारित था। अन्त में, ह्यूम ने १७५२ में प्रकाशित अपनी पुस्तक Poltical Discourses मे व्यापारवादियों के सिद्धान्त के स्थान पर एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया। यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त का प्रारम्भिक रूप था, जिसे बाद मे एडम स्मिथ, थार्नटन, रिकार्डो, सीनियर, मिल, कैर्नेस, बेस्टेबल, टॉजिग आदि ने सुधारा और विस्तृत किया।

प्रतिष्ठित सिद्धान्त—हमारी समस्या यह समझाना है कि व्यापार सतुलन के निष्क्रिय होने तथा स्वर्ण के बाहर जाने लगने के बाद साम्य की पुन स्थापना कैसे होता है? प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के अनुसार इसका समाधान यह है स्वर्ण का बहिर्गमन चलन मे मुद्रा के परिमाण को घटा देता है, जिसके फलस्वरूप कीमतें गिरती हैं, निर्यात प्रोत्साहित और आयात हतोत्साहित होते है। किन्तु विदेशी देश मे, जहाँ कि भुगतान सन्तुलन सक्रिय हो गया है, विपरीत घटनायें होती है—स्वर्ण अन्दर आने लगता है, चलन मे करैन्सी की मात्रा बढ जाती है, कीमतें चढ़ती है, आयात प्रोत्साहित और निर्यात हतोत्साहित होते है। स्वर्ण का आवागमन, जो कि व्यापार सन्तुलन की निष्क्रियता के कारण आवश्यक नगदी का भुगतान करने के सदृश्य हैं, दोनो देशो के कीमत स्तरों म एक भिन्नता पैदा कर देते है। इससे वस्तुओं का प्रवाह उस दिशा म होने लगता है, जिसमे कि स्वर्ण का प्रवाह मूलत हो रहा था और वस्तुओ का प्रवाह स्वर्ण के प्रभाव को विपरीत दिशा मे घटाता है। परिणामत ये दोनो स्वर्ण आवागमन आपस म चुक (cancel) जाते है तथा वस्तुओं के आवागमन द्वारा भुगतान सतुलन में साम्य स्थापित हो जाता है।

इस प्रकार, भुगतान अस्थाई रूप से तो स्वर्ण मे किन्तु अतिम रूप मे वस्तुओं मे किया जाता है। अन्य शब्दो मे, यदि किसी देश पर अतिरिक्त भुगतान करने का दायित्व सहसा ही आ पड़े, तो उसके निर्यातों की मात्रा एव इसके परिणामस्वरूप

विदेशी बिलों की पूर्ति बढ़ जायेगी। साथ ही इन बिलों के लिये माँग कम हो जायेगी, क्योंकि आयात सकुचित होने लगते है। अतः बिल बाजार पुनः साम्यावस्था में आ जाता है तथा विनिमय दर पुनः स्वर्ण-बिन्दु से नीचे गिर जाती है।

यही मिकेनिज्म है जो कि भुगतान सन्तुलन में साम्य बनाये रखता है और किसी भी देश के स्वर्ण स्टॉक को पूर्णतः खत्म नहीं होने देता है तथा विश्व-व्यापार मे भाग लेन वाले स्वर्णमान देशों में स्वर्ण के उचित वितरण को प्रोत्साहित करता है। यह मिकेनिज्म स्वर्ण के आवागमन को स्वचालित रूप से नियमित करता रहता है। अतः इसमें सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है।

प्रतिष्ठित सिद्धांत की आलोचनायें-

प्रतिष्ठित सिद्धान्त यूरोपीय महाद्वीप में कभी लोकप्रिय नहीं हो सका।

(१) दोषपूर्ण आधार—इसके सम्बन्ध में आलोचना का लक्ष्य मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त रहा जिस पर कि वह आधारित है। लेकिन यहाँ हमे मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त के दो रूपों में भेद करना चाहिये। अपरिष्कृत व्याख्या के अनुसार, मुद्रा के परिमाण मे एक दिये हुये प्रतिशत से घटा-बढ़ी, उसी अनुपात में कीमतों में भी घटा-बढ़ी उत्पन्न कर देती है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त इतनी कठोर कल्पना नहीं करता। वह तो केवल इतनी कल्पना करता है कि मुद्रा-मात्रा की वृद्धि कीमतो मे वृद्धि और मुद्रा-मात्रा की कमी कीमतों में कमी कर देती है। कीमतों में यह घटा-बढ़ी कितनी हो जायेगी इस बारे मे वह कुछ नहीं कह सकता। निःसन्देह परिष्कृत मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की वैधता से इन्कार करना सम्भव नहीं है। स्वाभाविक है कि मुद्रा मात्रा कीमतों पर तब ही प्रभाव डालेगी जबकि वह वास्तव मे खर्च की जायेगी और इस प्रकार यह वस्तुओं के लिये प्रभावपूर्ण माँग का प्रतीक है। यह कहने के बजाय कि मुद्रा मात्रा मे कमी होती है या स्वर्ण बाहर जा रहा है, हम प्रतिष्ठित सिद्धान्त का अर्थ बदले बिना, यह भी कह सकते है कि कुल मौद्रिक आय गिरती है, मुद्रा की पूर्ति घटती है वस्तुओं के लिये माँग कम हो जाती है, अथवा (प्रो० ओहलिन का अनुसरण करते हुये) क्रय शक्ति में बदलाव (shift) हुआ है।

(२) विशाल विघ्नों का सुधार सम्भव नहीं—यह आपत्ति भी उठाई गई है कि व्यवहार मे जो स्वर्ण-आवागमन होते है उनकी मात्रा भुगतान-सन्तुलन मे प्रायः उदय होने वाले विशाल विघ्नों को जीतने के लिये नगण्य है। किन्तु इस सम्बन्ध मे यह नहीं भुलाना चाहिये कि आधुनिक दशाओं के अन्तर्गत प्रत्येक मौद्रिक प्रणाली केन्द्रीय बैंक की सचेत नीति (deliberate policy) और अन्तर्राष्ट्रीय साख के मिकेनिज्म द्वारा प्रभावित होती है। दूसरे, स्वर्ण के आवागमन, क्रय शक्ति के परिमाण मे, अपनी अपेक्षा, अनेक गुना परिवर्तन कर देते है। हाँ, विशुद्ध स्वर्णमान के अधीन, जबकि चलन माध्यम केवल स्वर्ण का ही होता है, ऐसे आवागमन अधिक बड़े पैमाने पर होने आवश्यक हैं।

(३) कीमतों में भिन्नता पर्याप्त समय के लिये नहीं—प्रो० लाफ्लिन (Laughlin) ने यह आपत्ति उठाई है कि आधुनिक बाजारों में रेल, तार, टेलीफोन आदि से इतना घनिष्ठ सम्पर्क बन गया है कि कीमत-भिन्नतायें इतने समय तक नहीं बनी रहती है कि वस्तुओ के पर्याप्त विशाल आवागमन हो सके। किन्तु इस आलोचना को यह कह कर रद्द किया जा सकता है कि इससे तो यह प्रमाणित होता है कि मिकेनिज्म कितनी शीघ्रता से कार्य आरम्भ कर देता है।

(४) स्वणमान युग की समाप्ति—आजकल स्वर्णमान प्रचलित नही है। अत विदेशी विनिमय दर के टकसाली सिद्धान्त के लागू होने के लिए कोई क्षेत्र (scope) नही है।

(५) आन्तरिक कीमत-स्थायित्व का बलिदान—प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अन्तर्गत विनिमय-स्थायित्व आन्तरिक कीमतो के स्तर मे अस्थिरता उत्पन्न होकर ही सम्भव है, जोकि जनता पर बहुत बलिदान थोपती है।

(६) सुधार का क्रम अस्पष्ट—नि सन्देह यह सच है कि भुगतान सन्तुलन की असाम्यता विनिमय दर पर प्रतिक्रिया दिखलाती है किन्तु यह स्पष्ट नही है कि सुधार उसी तरीके से होता है जिसमे कि प्रतिष्ठित विद्वानो ने बताया था। कारण — (i) अब वस्तुयें ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक मात्र महत्वपूर्ण मद नही है, वरन पूँजी-आवागमन और सेवायें भी कुल व्यवहारो मे एक महत्वपूर्ण भाग रखने लगी है; (ii) स्वर्ण ही सर्वप्रथम 'गति' (moveme*u*t) नही दिखलाता वरन् इससे भी पहले अल्पकालीन कोषो, प्रतिभूतियो आदि का आवागमन होने लगता है, जिससे यदि इनसे ही साम्य स्थापित हो जाय, तो फिर कीमतें बिल्कुल भी प्रभावित नही होती है। पुन जो स्वर्ण देश मे आता भी है, वह केन्द्रीय बैंक के ही पास जाता है और यह बैंक इसे चलन मे प्रवेश करने से रोक सकता है।

(७) लागत कीमत सरचनाओं में आवश्यक लोच का अभाव—स्वर्ण के आवागमन के सिद्धान्त की कार्यशीलता स्वर्णमान देशो मे लागत-कीमत सरचनाओ की लोच पर बहुत अधिक निर्भर है, जबकि आजकल के बदले हुए सस्थागत वातावरण मे यह लोच कहीं नही रह गई है। उदाहरणार्थ, जब इङ्गलैण्ड में स्वर्णमान १९२५ मे पुन कायम किया गया, तो वहाँ पुरानी समता (parity) को ही अपनाया गया था, क्योकि अधिकारियों को यह विश्वास था कि ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था लोचदार है तथा इसलिये मजदूरियाँ गिरेंगी। किन्तु श्रम सघो ने मजदूरियो मे कटौती का, जो कि भुगतान सन्तुलन की असाम्यता के सुधार के लिए आवश्यक थी, घोर विरोध किया। इस प्रकार, आजकल, चूँकि *अर्थ-व्यवस्थाओ मे लोच का अभाव हो गया है,* इसलिए स्वर्ण के आवागमन का सिद्धान्त कार्यशील नही हो सकता है।

(८) देशों पर सुधार का भार असमान रूप से पड़ना—यही नही, स्वर्ण के आवागमन का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधरित है कि सुधार का भार दोनो देशो पर बराबर-बराबर पडता है। लेकिन ऐसा तब ही होता है जबकि व्यापार

करने वाले दोनों देश आर्थिक दृष्टि से समान आकार वाले हों। यदि एक छोटे देश (जैसे कि डेन्मार्क) से स्वर्ण जाय, तो वहाँ कीमतें बहुत अधिक गिर सकती है जबकि उतना ही स्वर्ण जब एक बड़े देश (जैसे अमेरिका) में जाय, तो वहाँ कीमतों मे एक अल्प वृद्धि ही होगी, कारण, आने वाला स्वर्ण अमेरिका के कुल स्वर्ण कोष का एक छोटा-सा ही भाग है।

परीक्षा प्रश्न :

१ अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के सफल कार्यचालन के लिये आवश्यक शर्तें बताइए। स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर क्यों परिवर्तित हो जाती है ? ऐसे परिवर्तनों की सीमायें समझाइए।

[State the conditions necessary for the working of international gold standard Why does the rate of exchange fluctuate under gold standard ? State the limits to its fluctuations] (विक्रम, एम० ए० १६६६)

२ द्वितीय महायुद्ध से पहले की अवधि मे स्वर्णमान की असफलता इस तथ्य के कारण थी कि राष्ट्रों ने स्वर्णमान के खेल के नियमों का पालन नहीं किया था।" इस कथन का विवेचन कोजिये। यह भी दिखाइये कि स्वर्ण पक्ष से उदय होने वाले प्रभाव किस सीमा तक स्वर्णमान की असफलता के लिये दायी रहे।

["The failure of the Gold Standard in the period before World War II was due to the fact that the nations concerned did not observe the rules of the Gold Standard Game" Discuss this statement Also indicate how far the influences emanating from the side of gold as such were responsible for the failure of the Gold Standard "]

३ जब दोनों देश स्वर्णमान पर हों, तो उनके मध्य विनिमय दर कैसे निर्धारित होती है ? विनिमय दर जिन सीमाओं के भीतर परिवर्तित हो सकती है उनको समझाइए।

[How is the rate of exchange determined when both the countries are on Gold Standard ? Also explain the limits within which the rate of exchange fluctuates]

२०

अपरिवर्तनशील पत्र-चलन

[क्रय शक्ति समता सिद्धान्त]

(Inconvertible Paper Currencies)

परिचय—

पिछले अध्याय मे उन करेन्सियो का विवेचन किया गया था जो कि स्वर्ण की परिवर्तनशीलता के द्वारा एक दूसरे से कठोरतापूर्वक सम्बन्धित थी। प्रस्तुत अध्याय अपरिवर्तनशील पत्र-करेंसियो से सम्बन्ध रखता है। इसमे यह बताया गया है कि जब देशो म अपरिवर्तनशील पत्र-करेंसियाँ प्रचलित हैं (अर्थात् आजकल की भाति प्रबन्धित पत्र चलन है), तो विनिमय-दरें किस प्रकार निर्धारित होती है।

प्रबन्धित चलन
(Managed Currency)

प्रबन्धित चलन के आशय—

'प्रबन्धित चलन' का आशय उस मुद्रा मान से है जिसके आधीन मुद्रा मूल्य का नियमन केन्द्रीय बैंक द्वारा एक विशेष योजना के अनुसार किया जाता है। अर्थात्, जब सरकार देश की मौद्रिक प्रणाली के सम्बन्ध मे किसी निश्चित उद्देश्य को दृष्टि मे रखते हुए एक निश्चित *मौद्रिक नीति अपनाती है, तो ऐसी करेंसी 'प्रबन्धित'* कहलाती है। इस प्रकार, एक प्रबन्धित चलन की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं —(i) करेंसी-यूनिट किसी धातु या अन्य करेंसी म परिवर्तनीय (convertible) नहीं होती है, (ii) करेंसी नोट किस मात्रा मे जारी किये जायें यह देश की क्रय शक्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं के बारे में सरकार के अनुमान पर निर्भर है। अन्य शब्दो म, करेंसी को इश्यू करने की कोई न्यूनतम या अधिकतम राशियाँ निर्धारित नही होती है वरन् यह पूर्णत सरकार के निर्णय पर छोड दी जाती हैं।

प्रबन्धित चलन के गुण—

प्रबन्धित चलन के निम्नलिखित गुणो का सकेत किया जाता है —

(१) **इसका प्रयोग देश में आर्थिक दशाओ पर प्रभाव डालने हेतु एक साधन के रूप मे किया जा सकता है।** यदि सरकार एक विशेष नीति (जैसे—पूर्ण

रोजगार की नीति) का पालन करना चाहे तो वह उक्त नीति का इस बात की चिन्ता किये बिना कि अन्य देशों पर अथवा स्वदेश में ही करेंसी के परिमाण और मूल्य पर इसके क्या प्रभाव होंगे पालन कर सकती है। वास्तव में पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए सरकारें आजकल अन्य नीतियों के साथ ही साथ मौद्रिक नीति का भी प्रयोग करने लगी हैं।

(२) इसमें मौद्रिक स्वतन्त्रता रहती है—अत्यधिक राष्ट्रवाद (Extreme nationalism) के वर्तमान युग में मौद्रिक स्वतन्त्रता का बहुत महत्व है और इसके कई आर्थिक लाभ भी हैं।

प्रबन्धित चलन के दोष—

प्रबन्धित चलन का सबसे गम्भीर दोष यह है कि इस पर शासक दल के राजनैतिक दृष्टिकोण का गहरा असर पड़ता है। यद्यपि इसका प्रबन्ध एक केन्द्रीय बैंक के जिसे सरकार के प्रभाव से स्वतन्त्र माना जाता है हाथ में होता है तथापि यह आशा कदापि नहीं की जा सकती कि मौद्रिक नीति राजनैतिक प्रभावों से मुक्त रह सकेगी। उदाहरण के लिए युद्धकाल में करेंसी का विस्तार करने के लिए सरकारें प्रायः प्रलोभित हो जाया करती हैं। ऐसे करेंसी विस्तारों के कारण ही 'कुदकने वाले मुद्रा प्रसार' (Galloping inflations) उत्पन्न हो गये थे, और इन्होंने समाज के सभी वर्गों को तबाह (ruin) कर दिया था। सभी प्रबन्धित चलनों (managed currencies) में मुद्रा प्रसार का बीज छिपा होता है।

स्वर्णमान की तुलना में श्रेष्ठता —

इस दोष के होने पर भी प्रबन्धित चलन स्वर्णमान की तुलना में अधिक स्वीकार्य है क्योंकि (i) प्रबन्धित चलन अपेक्षतः अधिक लोचपूर्ण होता है, जिससे वह एक आधुनिक गतिशील देश की आवश्यकताओं को पूरा करने में अधिक समर्थ है (ii) नागरिकों के कल्याण की भावना से ओत-प्रोत एक आधुनिक सरकार प्रबन्धित चलन प्रणाली का पूर्ण रोजगार की प्राप्ति तथा निर्धनता के उन्मूलन के लिए प्रयोग कर सकती है, एवं (iii) एक बहु उल्लेखित दोष इसका स्वभाव मुद्रा प्रसारिक (inflationary) होना है, किन्तु यह दोष वास्तविक खतरे का स्रोत तब ही बन पाता है जबकि इसका प्रयोग अविवेकी सरकार के हाथों में हो और अविवेकी सरकार के अन्तर्गत तो स्वर्णमान भी सही उपचार नहीं हो सकता, क्योंकि वह इसे क्षणिक-सी कठिनाई उत्पन्न होने पर स्थगित कर सकती है।

अतः हम एक प्रबन्धित चलन के पक्ष में हैं। साथ ही हमारा यह भी सुझाव है कि मौद्रिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के तत्वावधान में अधिक से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग होना चाहिए।

प्रबन्धित चलन के अन्तर्गत विनिमय दरों का निर्धारण

अपरिवर्तनशील पत्र चलनों के सापेक्षिक मूल्य खुले बाजार में माँग एवं पूर्ति के द्वारा निर्धारित होते हैं। "एक का दूसरे में मूल्य उसी प्रकार घटता बढ़ता रहता

है, जिस प्रकार कि साधारण वस्तुओं की कीमतें घटती बढ़ती हैं। इसमें कोई नियत समतायें (fixed parities) या स्वर्ण बिंदु (gold point) नहीं होते, और यदि भुगतान सतुलन निष्क्रिय है, तो स्वर्ण का बहिर्गमन नहीं होगा, किन्तु करैंसी का मूल्य ह्रास (depreciation) हो जायेगा। इसमें ऐसी कोई सीमा या निश्चित बिंदु नहीं है जहाँ कि मूल्य ह्रास रुक सकता हो जैसा कि स्वर्णमान करैंसियों के अन्तर्गत होता था। दूसरी ओर, यह भी सही है कि मूल्य ह्रास एक अनिश्चित समय तक नहीं चल सकता। हाँ, जब मुद्रा-प्रसार निरन्तर बढ रहा हो, तो बात दूसरी है। कारण, सापेक्षिक *कीमत-परिवर्तन, जो आयातों को घटाने, निर्यातों को बढ़ाने तथा इस प्रकार* साम्य की पुनः स्थापना करने के लिए आवश्यक हैं तथा जो स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के बहिर्गमन द्वारा उत्पन्न किये जाते है, यहाँ विनिमय दर के परिवर्तन द्वारा उत्पन्न किये जाते है।[1] अब समस्या यह मालूम करना है कि कौन से सामान्य सिद्धान्त यह निश्चित करेंगे कि मूल्य में ह्रास किस सीमा तक हो सकता है।

भुगतान सतुलन सिद्धान्त बनाम मुद्रा प्रसार सिद्धान्त—युद्ध-काल में, जबकि स्वर्णमान को देशो द्वारा एक एक करके स्थगित किया गया करैंसियो के मूल्य ह्रास का प्रश्न व्यावहारिक राजनीति का प्रश्न बन गया और सम्पूर्ण जर्मनी में इस पर उग्र विवाद चलने लगा। विदेशी करैंसियों में मार्क का तेजी से मूल्य ह्रास होने के दो स्पष्टीकरण प्रस्तुत किये गये —(i) सरकारी दृष्टिकोण जिसकी भावना व्यापारवादी थी। यह भुगतान सतुलन को निष्क्रियता को दोषी ठहराता था एव (ii) आलोचकों का दृष्टिकोण, जिसके अनुसार सब दोष मुद्रा प्रसार का ही था।

भुगतान सतुलन सिद्धान्त
(Balance of Payments Theory)

अपने सरल रूप में (in naive form) भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त यह कहता

---

1 "The value of one in terms of the other is subject to variations like the price of ordinary commodities There are no fixed parities or gold points and a passive balance of payments will cause, not an outflow of gold, but a depreciation of the exchange There is no fixed point at which depreciation will cease, corresponding to the gold export point .. on *the other* hand, depreciation cannot go on indefinitely, except under a progressive inflation For the relative price changes which are necessary to reduce imports, *stimulate exports and restore* equilibrium—and which under the gold standard are induced by the outflow of gold—are here produced by variations in the rate of exchange "—**Haberler** : *The Theory of International Trade*, p 30

है कि विनिमय दर भुगतान सन्तुलन (माँग एवं पूर्ति के अर्थ में) के द्वारा निर्धारित होती है। निःसन्देह इस सिद्धान्त के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती है किन्तु प्रश्न तो यह है कि वे क्या चीजें हैं जो माँग और पूर्ति को निर्धारित करती हैं?

परिष्कृत (refined) भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त इस अतिरिक्त प्रश्न का भी उत्तर देने का यत्न करता है। इसके अनुसार भुगतान सन्तुलन मुख्यतः उन घटकों द्वारा निर्धारित होता है जो कि विनिमय दर के परिवर्तनों से स्वतन्त्र है। निश्चित एवं नियत भुगतानों (जैसे क्षति-पूर्ति एवं विदेशी ऋणों पर ब्याज) के अतिरिक्त, अनेक आयातिक कच्चे मालों के लिए माँग बेलोच होती है क्योंकि वे केवल विदेशों से ही प्राप्त हो सकते हैं।

आलोचना—उक्त सिद्धान्तों की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि इसने भुगतान सन्तुलन का एक निश्चित मात्रा (fixed quantity) समझ लिया है। कीन्स (Keynes) ने एक बहुत उपयुक्त उपमा देते हुए बताया है कि यह सिद्धान्त ठोस वस्तुओं के नियम को वहाँ लागू करता है जहाँ कि द्रव्यों का नियम अधिक उपयुक्त है। व्यापार सन्तुलन (एवं कुछ अदृश्य आयात निर्यात भी) देश और विदेशों के कीमत-स्तरों के पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर है। आयातित खाद्य पदार्थों के लिये माँग भी कुछ सीमा तक लोचदार होती है। कारण, वही मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें या तो सस्ती वस्तुयें (जैसे—रोटी और आलू) द्वारा अथवा महँगी वस्तुयें (जैसे—माँस और फल) द्वारा सन्तुष्ट की जा सकती है। संक्षेप में, भुगतान सन्तुलन कुछ सीमा तक ही विनिमयों पर निर्भर है। अतः इसका प्रयोग इन्हें स्पष्ट करने हेतु नहीं किया जा सकता।

यह आपत्ति मुद्रा-प्रसार सम्प्रदाय (Inflation School) के विद्वानों द्वारा उठाई गई थी। उन्होंने बताया कि यदि करेंसी का परिमाण लगातार न बढ़ाया गया होता, तो मार्क के मूल्य में ह्रास कभी नहीं हो सकता था। यह तो आन्तरिक कीमतों की वृद्धि ही थी, जिसने आयातों के संकुचन और निर्यातों के विस्तार में बाधा डाली। अन्यथा, सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन होकर साम्य की पुनः स्थापना हो सकती थी। यही बात सौ से अधिक वर्ष पूर्व रिकार्डो ने बताई थी। उन्होंने कहा था कि—"करेंसी में हुए ह्रास का सही माप विनिमय है।"[1] सन् १९१४ से १९२० तक जर्मनी में जैसी दशा हुई वैसी ही इङ्गलैंड में नैपोलियन- युद्धों के समय में थी। बीसवीं शताब्दी ने इन घटनाओं के बारे में हमारा ज्ञान कुछ अधिक नहीं बढ़ाया है।

---

1 "The exchange accurately measures the depreciation of the currency"

क्रय शक्ति समता सिद्धान्त
(The Purchasing Power Parity Theory)

यह दृष्टिकोण कि विनिमय में गिरावट के लिये मुद्रा प्रसार दायी है, क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त पर आधारित है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का प्रतिपादन जॉन व्हीटले ने सन् १८०२ में किया था। सन् १८१० में विलियम ब्लेक ने इसे स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया। डेविड रिकार्डो ने इसका पुनकथन किया और अन्त में स्वीडन के अर्थशास्त्री प्रो० कैसल को इसके विकास का श्रेय मिला। इन्होंने ही इस सिद्धान्त की कार्य प्रणाली को समझाने के लिये 'क्रय शक्ति समता' वाक्यांश का प्रयोग किया था। इस सिद्धान्त के दो रूप हैं—पहला रूप, धनात्मक पहलू (Positive aspect) जिसके अन्तर्गत दो अपरिवर्तनशील करैंसियों के मध्य विनिमय दर का निर्धारण किया जाता है और, दूसरा रूप विनिमय दरों में होने वाले उतार चढ़ाव के कारणों व इनकी सीमाओं से सम्बन्धित है।

क्रय शक्ति समता सिद्धांत क्या है ?

प्रो० कैसल ने सिद्धान्त की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—"जो देश अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा मान अपनाये हुये हैं उनके मध्य विनिमय की बुनियादी दर क्रय शक्ति समता द्वारा जो कि दो करैंसियों के अपने अपने गृह बाजारों में क्रय शक्तियों के मध्य अनुपात का सूचक है निर्धारित होती है। किसी समय विशेष पर विनिमय की वास्तविक दर विदेशी करैंसी के लिये माँग और पूर्ति के प्रभावों के कारण, क्रय शक्ति समता से भिन्न हो सकती है किन्तु इसमें क्रय शक्ति समता बिन्दु के इर्द गिर्द मँडराने की प्रवृत्ति पाई जाती है और कुछ समय तक मँडराने के बाद अन्त में वह इस समता पर ही स्थिर होने लगती है।"[1]

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

उक्त सिद्धान्त को एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये किसी दिये हुये समय पर इङ्गलैंड में एक पौंड द्वारा एक दी हुई वस्तु सूची में से प्रत्येक वस्तु की एक निश्चित मात्रा खरीदी जा सकती है और इन्हीं वस्तुओं की

---

1 In the case of countries on inconvertible paper currency standard the basic rate of exchange between them is determined by the purchasing power—the ratio between the purchasing powers of two currencies in their respective home markets *The actual rate of exchange at any time may move* from the purchasing power parity due to influences of demand and supply for foreign currency but the purchasing power par is the point towards which the rate will constantly tend to move, and at which it must ultimately come to rest "– Cassel.

इतनी ही मात्रायें अमेरिका में ५ डालरों से खरीदी जा सकती है। ऐसी परिस्थितियों में 'पौंड स्टर्लिङ्ग' और 'डालर' की क्रय-शक्ति इंगलैंड व अमेरिका में एक समान होगी और इस समानता के अनुरूप ही विनिमय दर भी १ पौंड=५ डालर होगी। यदि किसी कारणवश विनिमय-बाजार में १ पौंड का मूल्य ५.१० डालर हो जाय किन्तु दोनों करैंसियों की क्रय-शक्ति पूर्ववत् रहे तो इंगलैंड-निवासी को अमेरिका में वस्तुयें खरीदना वहीं वस्तुयें अपने देश में खरीदने की अपेक्षा लाभदायक हो जायगा क्योंकि १ पौंड के बदले में ५.१० डालर प्राप्त करके और फिर इनमें से केवल ५ डालर व्यय करके उतनी ही वस्तुयें खरीदी जा सकती हैं जितनी कि इंगलैंड में १ पौंड से। इस प्रकार उसे लाभ के रूप में ०.१० डालर बच रहेंगे।[1] दूसरी ओर, अमेरिकावासी इंगलैंड की अपेक्षा अपने ही देश में वस्तुयें खरीदना लाभदायक पायगा। इस प्रकार, 'अमेरिका से इंगलैंड को' वस्तुओं का प्रवाह 'इंगलैंड से अमरिका को' वस्तुओं के प्रवाह की अपेक्षा बढ़ जायेगा। फलतः डालरों की मांग बढ़ जायगी और पौण्ड की मांग घट जायेगी और इस तरह विनिमय दर घटकर पुनः १ पौंड=५ डालर स्तर पर आ जाती है।

इसके विपरीत, यदि किसी कारण १ पौंड का विनिमय मूल्य घटकर ४.९३ डालर रह जाय, (किन्तु करैंसियों की आन्तरिक क्रय शक्तियां पूर्ववत् बनी रहें) तो अमेरिकनों को अपने देश की अपेक्षा इंगलैंड में तथा इंगलैंडवासियों को अमेरिका की अपेक्षा अपने ही देश में वस्तुयें खरीदना लाभदायक होगा। फलतः इंगलैंड के आयात घट जायेंगे किन्तु निर्यात बढ़ जायेंगे। इसका प्रभाव पौंड की मांग-पूर्ति पर पड़ेगा अर्थात् पौंड की मांग बढ़ जायेगी और पूर्ति घट जायगी, अथवा, यों कहें कि डालरों की पूर्ति बढ़ जायगी और मांग घट जायेगी। 'डालरों की मांग' की अपेक्षा 'पौंड की मांग' बढ़ने से पौंड का मूल्य बढ़ने लगेगा और अन्ततः विनिमय दर पुनः १ पौंड=५ डालर पर ही स्थिर हो जायगी। इस प्रकार दोनों करैंसियों के मध्य १ पौंड=५ डालर की दर को 'स्वाभाविक विनिमय दर' कहा जा सकता है।

हमें यहां एक महत्वपूर्ण बात पर ध्यान देना चाहिए। किसी देश (मान लीजिए A) के विनिमय बाजार में एक विदेशी करैंसी (b) की मांग इस तथ्य से उदय होती है कि यह करैंसी (b) अपने गृह बाजार (देश B) में क्रय-शक्ति है। A देश के निवासी उस करैंसी (b) को इसलिए खरीदना चाहते हैं क्योंकि उन्हें B देश से खरीदी जाने वाली वस्तुओं का भुगतान उक्त करैंसी (b) में करना है। दूसरी ओर, जब एक निश्चित राशि में विदेशी करैंसी (b) के लिए स्वदेशी करैंसी (a) की निश्चित रकम देनी पड़ती है, तब इसका मतलब यह है कि स्वदेशी (A) में इतनी क्रय शक्ति B देश को दे दी गई है। स्पष्टतः वह विदेशी करैंसी (b) के क्रय का अर्थ

[1] Transport costs have been ignored.

है B देश की क्रय-शक्ति के बदले A देश मे क्रय-शक्ति देना। साम्य की स्थिति में विनिमय दर इन क्रय शक्तियो के अनुपात मे ही होनी चाहिये।

मान लीजिये, A देश की करेंसी (a) की आन्तरिक क्रय-शक्ति X है जबकि B देश की करेंसी (b) की आन्तरिक क्रय-शक्ति Y है। यदि A देश की करेंसी (a) की एक इकाई के बदले मे B देश की करेंसी (b) की r इकाइयाँ उपलब्ध हैं, अर्थात यदि विनिमय दर a=r (b), तो B देश मे A देश की करेंसी (a) की क्रय शक्ति r Y होगी।

चूँकि साम्य की अवस्था मे A देश की करेंसी (a) की आन्तरिक एव बाह्य क्रय-शक्ति एक समान होती है, इसलिये X=rY, अत r=X/Y इससे भी यह प्रगट होता है कि विनिमय दर दो करेंसियो की क्रय-शक्तियो का अनुपात होती है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त हमे दो देशो के मध्य, जो कि अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा (Inconvertible paper currency) अपनाये हुये हैं, विनिमय-दरो में होने वाले परिवर्तनो का स्पष्टीकरण प्रदान करता है। किन्हीं दो देशो के बीच व्यापार की सामान्य दशाओ के अनुरूप ही एक उपयुक्त विनिमय-दर प्रचलित हो जाती है और 'क्रय शक्ति समता' के बराबर होती है। कुछ छोटे-मोटे उतार-चढावो को छोड कर, वह प्राय अपरिवर्तित ही रहती है तथा तब बदलती है जबकि दोनो करेंसियो की क्रय शक्तियो मे परिवर्तन हो जाय। यदि किसी भी करेंसी की क्रय शक्ति मे परिवर्तन हो जाय तो इसका असर सम्बद्ध देशों के मध्य विनिमय-दर पर भी पडता है, अर्थात्, अन्य करेंसियो के सन्दर्भ में स्वदेशी करेंसी का बाह्य मूल्य उसी अनुपात में बदल जायेगा।

क्रय शक्ति समता सिद्धांत की आलोचनाएँ तथा सीमाएँ—

वास्तविक विनिमय दरें क्रय शक्ति समताओं के आधार पर गणना की गई विनिमय दरो से प्राय भिन्न हुआ करती हैं। कुछ विद्वान इन भिन्नताओं के आधार पर ही क्रय शक्ति समता सिद्धान्त को अस्वीकार करते है। ऐसी भिन्नतायें निम्न कारणों से हो सकती है —

(१) **सूचक अको की त्रुटियाँ एव विभिन्न देशो में इनका विभिन्न होना—** विनिमय दर दो देशो मे इनके कीमत सूचनाको की तुलना पर आधारित होती हैं। किन्तु विभिन्न देशो म निर्देशाक तुलना के योग्य नहीं होते। कारण, इनकी रचना अलग अलग आधार वर्षों के सन्दर्भ मे की जाती है। प्रतिनिधि वस्तुयें, इन्हे दिये गये भार (weights) तथा औसत निकालने के ढग भी देश मे भिन्न-भिन्न होते है। अत ऐसे निर्देशाको की पारस्परिक तुलना करने से वास्तविक क्रय शक्ति समता का पता नहो चल पाता।

(२) **निर्देशांको में आन्तरिक व्यापार की वस्तुएँ सम्मिलित करना—** आन्तरिक कीमतों के सूचनाक उन वस्तुओ की कीमतें लेकर बनाये जाते हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे प्रवेश नही करती। ऐसी वस्तुएँ (*domestically*

traded goods) विदेशी विनिमय सौदो को जन्म नहीं देती है । अत सम्भव है कि एक देश के कीमत सूचनाको मे परिवर्तन पूर्णत उन परिवर्तनों के कारण हो जाय जो कि आन्तरिक व्यापार की वस्तुओं की कीमतो मे हुये हैं, भले ही ऐसे परिवर्तन से विनिमय बाजार मे करैंसियों की मांग और पूर्ति अप्रभावित रहे। निसन्देह किसी देश को ऐसे असम्बद्ध क्षेत्रो मे विभाजित नहीं किया जा सकता, जिनमे एक क्षेत्र का कीमत स्तर दूसरे क्षेत्रो के कीमत-स्तरो पर कोई प्रभाव न डाले। अन्य शब्दो मे आन्तरिक व्यापार वाली वस्तुओ की कीमतों मे, होने वाला परिवर्तन सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर फैल सकता है और इस प्रकार वह अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओ की कीमतों को भी प्रभावित कर सकता है। लेकिन ऐसा तब ही सम्भव है जबकि उत्पत्ति-साधन विभिन्न उद्योगो के मध्य गतिशील (mobile) हो। चूँकि व्यावहारिक जीवन मे ऐसी गतिशीलता अनुपस्थित होती है इसलिए किसी देश मे आन्तरिक व्यापार की वस्तुओ की कीमतो मे हुए परिवर्तनो के फलस्वरूप जो परिवर्तन कीमतों—निर्देशांकों मे होता है वह गणना की गई क्रय शक्ति समता मे, वास्तविक विनिमय दर को बहुत प्रभावित किये बिना ही, परिवर्तन उत्पन्न कर देता है। इससे वास्तविक विनिमय दर गणना की हुई क्रय-शक्ति समता से भिन्न हो जाती है।

(३) **विदेशी विनिमय सम्बन्धी मांग और पूर्ति पर अन्य घटको का प्रभाव**—विनिमय बाजार मे करैंसियो की दीर्घकालीन मांग एव पूर्ति सम्बन्धी दशायें केवल कीमत परिवर्तनो से ही प्रभावित नहीं होती, वरन् अन्य घटको से भी प्रभावित होती है, जैसे—एक देश मे दूसरे देश को पूंजी का आवागमन, सरकारो की परस्पर ऋण प्रभागता, एव सट्टा व्यवहार। ये सभी घटक विनिमय बाजार मे माग-पूर्ति सम्बन्धी दशाओं को बदल देते है चाहे कीमतों म परिवर्तन हुवे हो या नहीं। इस प्रकार यद्यपि क्रय शक्ति समता पूर्ववत् रहती है तथापि दो करैंसियो के मध्य वास्तविक विनिमय दर उक्त एक या अधिक घटको म हुए परिवर्तनो के कारण, भिन्न हो सकती है।

(४) **सरक्षण करो, कोटा और अन्य प्रतिबन्धो द्वारा व्यापार में हस्तक्षेप**—वस्तुओ के व्यापार म एक दिशा की अपेक्षा दूसरी दिशा म अधिक हस्तक्षेप हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई देश अपने आयातो पर सरक्षण कर (Tariff duties) लगा दे, जबकि अन्य देश ऐसा न करें, तो इसकी अपनी करैंसी के लिए मांग अपरिवर्तित रहेगी किन्तु विदेशी करैंन्सी के लिए मांग घट जायगी। सरक्षण-कर लगाने वाले देश की करैंसी के मूल्य का पता नहीं लग पायेगा।

(५) **यह कहना असत्य है कि विनिमय दर सम्बन्धी परिवर्तन कीमत स्तर पर कोई प्रभाव नहीं डालते**—क्रय शक्ति सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि कीमत स्तर सम्बन्धी परिवर्तन विनिमय-दरो मे तो परिवर्तन ला देते है किन्तु विनिमय दर के परिवर्तनो का कीमत स्तर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु यह कथन सदा ही सत्य नहीं है। ऐसी अनेक परिस्थितियों का उल्लेख किया जा सकता है, जिनमे

विनिमय दर पहले कुछ कारणा से परिवर्तित हो गई और फिर इसने कीमत स्तरो म भी परिवर्तन ला दिया। मान लीजिए, रुपये की विनिमय दर २० सेंट है अथवा ५ रुपये एक डालर के बराबर है। मान लीजिए कि अमेरिका से भारत को पूँजी के आगमन के फलस्वरूप रुपयों की माँग बढ़ जाती है, जिससे विनिमय दर रुपये के पक्ष में ऊँची उठ जाती है अथवा वह प्रति रुपया २५ सेंट हो जाती है। ऐसी दशा मे अमेरिकनो के लिए भारतीय करेंसी और (इसलिए) भारतीय वस्तुये भी महँगी पड़ेगी। अत भारतीय निर्यात कम हो जायेगे। चूँकि निर्यात कम हो गये है, इसलिए देश म वस्तुओ की माग घटने और (इसलिय) सस्ता होने के कारण (प्रति रुपया २० सेंट के बजाय २५ सेंट), भारतीयो के लिये अमेरिकन माल सस्ता पडने लगता है। परिणामत अमेरिकन वस्तुओं के लिये भारतीय माग अमेरिकन कीमतो को बढाती हुई बढ़ेगी। इस तरह, हम देखते है कि राष्ट्रीय कीमत स्तर विनिमय दर सम्बन्धी परिवर्तनो का अनुसरण करता है।

(६) **एक उपयुक्त सूचनाक के चुनाव में कठिनाई**—*चूँकि सामान्य कीमतो* के निर्देशाक काम में लाये जाते है इसलिए यह समस्या उठती है कि कौन सा निर्देशाक लिया जाय। क्या यह थोक विक्रय कीमत सूचनाक हो या कृषि एव कच्चे मालो का सूचनाक या रहन सहन लागत का सूचनाक हो। यदि हम थोक सूचनाक को चुनें, तो अनेक अन्य वस्तुयें तथा प्राय सभी सेवायें विचार मे नही आ सकेगी। यदि हम रहन सहन लागत के सूचनाक का चयन करें, तो इसमे अनेक ऐसी वस्तुयें सम्मिलित हो जायेंगी जिनका *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रभाव नही* पडता।

(७) **फैशन एव आदतो में परिवर्तन**—ऐसे परिवर्तनो के कारण विनिमय दर अस्त-व्यस्त हो जाती है। किन्तु क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त इन परिवर्तनो पर कोई ध्यान नही देता है।

(८) **एक गतिशील ससार के सन्दर्भ में सिद्धान्त की अनुपयुक्तता**—*यह* सिद्धान्त तब ही वैध हो सकता है जबकि *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दशाये अपरिवर्तित* रहे। लेकिन प्रावैगिक ससार मे यह दशाये (अर्थात् विदेशी वस्तुओ के लिए माँग अथवा आन्तरिक वस्तुओ की पूर्ति) प्राय बदलती रहती है और इनके साथ ही साथ व्यापार की शर्तो मे परिवर्तन होता रहता है।

(९) **वह सिद्धान्त निरपेक्ष कीमत-स्तरो को लागू नहीं होता**—*यह* सिद्धान्त *कीमत स्तरो के परिवर्तनो को ही लागू होता है निरपेक्ष कीमत-स्तरो को* नही। प्रो० बेंसल के शब्दो मे 'इसका कारण यह है कि दोनो देशो की आर्थिक परिस्थिति म, विशेषत निर्यात यातायात और कस्टम के बारे मे भेद होता है। यह

भिन्नतायें सामान्य विनिमय-दर में करेंसियों की निहित क्रय-शक्तियों के अनुपात की तुलना में कुछ विचलन (deviations) ला देती हैं।"[1]

(१०) **यातायात-व्ययों की उपेक्षा**—क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त यातायात व्ययों की उपेक्षा करता है। लेकिन प्रो० जेकब वाइनर ने बताया है कि यदि यातायात व्यय एक दिशा में बढ़ जायें और दूसरी दिशा में कम हो जायें, तो वस्तुओं की कीमतें भी एक देश में बढ़ जायेंगी और दूसरे में घट जायेंगी। किन्तु केवल एक दिशा में ऐसी बाधाएँ पड़ने से क्रय शक्ति समता अस्त-व्यस्त हो जाती है।

(११) **दो देशों के मध्य आर्थिक सम्बन्धों के परिवर्तनों की उपेक्षा**—क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त दो देशों के मध्य आर्थिक सम्बन्धों में समय समय पर होते रहने वाले आर्थिक परिवर्तनों को विचार में नहीं लेता, यद्यपि ऐसे परिवर्तनों के कारण उनकी साम्य दर (Equilibrium rate) में परिवर्तन हो जाया करते हैं। उदाहरण के लिए, जब कोई तीसरा देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में प्रतियोगी बनकर प्रकट होता है, तो दोनों मूल देशों के मध्य व्यापार के प्रवाह पर असर पड़ता है तथा इनके मध्य विनिमय-दर भी बदल जाती है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त और प्रतिष्ठित सिद्धान्त—एक तुलना

प्रतिष्ठित सिद्धान्त ने विनिमय-दरों का विश्लेषण तुलनात्मक लागत सिद्धान्त (Comparative Cost Principle) के आधार पर किया। इसने एक समय पर दो देशों और दो वस्तुओं पर ही विचार किया और यह माना कि लागत के जिस तत्त्व पर विचार करना चाहिए यह केवल श्रम लागत ही है। इसने यह भी कल्पना की थी कि सम्बद्ध वस्तुओं के उत्पादन क्षेत्र में 'उत्पत्ति स्थिर नियम' (Law of Constant Returns) ही लागू हो रहा है। इस प्रकार प्रतिष्ठित सिद्धान्त ने एक अति सरल (simplified) परिस्थिति चुन ली थी जो कि व्यावहारिक विश्व में अनुपलब्ध है। वास्तविकता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक देश और अनेक वस्तुएँ एक ही साथ व एक ही समय में प्रविष्ट होती हैं तथा कई प्रकार की करेंसियों से सामना करना पड़ता है। यही नहीं, विभिन्न देशों के उत्पत्ति साधन सम्बन्धी भण्डार भी भिन्न-भिन्न होते हैं। और उनके आर्थिक विकास के स्तरों (stages of economic development) में बहुत भिन्नता पाई जाती है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त ऐसी व्यर्थ कल्पनायें नहीं करता, और यही कारण है कि इसे प्रतिष्ठित विद्वानों के स्पष्टीकरण पर एक सुधार माना गया है। इसने एक देश की करेंसी में दूसरे देश की करेंसी के मूल्य निर्धारण की समस्या को

---

[1] "Differences in the two countries' economic situation, particularly in regard to export, transport and customs, cause the normal exchange rate to deviate to a certain extent from the quotient of the currencies intrinsic purchasing powers."

सामान्य कीमत सिद्धान्त (General Theory of Pricing) का ही एक अङ्ग बना दिया है।

विनिमय-दरों के निर्धारण में क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का व्यावहारिक मार्ग दर्शन

दोष होते हुए भी क्रय शक्ति समता सिद्धान्त सभी मौद्रिक दशाओं के अन्तर्गत विनिमय दरों में होने वाले दीर्घकालीन (Long term) परिवर्तनों का एक मात्र विवेक युक्त स्पष्टीकरण है। सम्बद्ध देशों में कीमतों के परिवर्तित हो जाने पर करेन्सियों का मूल्य भी घटता बढ़ता है। यह कहना केवल अपूर्ण (superficial) है कि प्रचलित विनिमय दर में परिवर्तन ऋणता सन्तुलन (Balance of Indebtedness) में परिवर्तन होने के कारण होते हैं। क्रय शक्ति समता इससे भी आगे बढ़कर वह स्पष्ट करती है कि स्वयं भुगतान सन्तुलन किस प्रकार से निर्धारित होता है। वह दिखलाती है कि देशों के मध्य व्यापार और भुगतान मुख्यतः उनके सापेक्षिक कीमत-स्तरों के परिवर्तनों के कारण घटते-बढ़ते हैं। अतः दीर्घकालीन में विनिमय दर कीमतों और कीमत परिवर्तनों पर निर्भर होती है।

क्रय-शक्ति सिद्धान्त की वैधता (validity) का अनुमान निम्नलिखित वास्तविक उदाहरणों से लगाया जा सकता है —

(१) सन् १९२५ में इङ्गलैण्ड ने स्वर्णमान (Gold Standard) पुनः अपनाया और अपने पौंड की स्वर्ण समता स्वाभाविक दर से काफी ऊँची नियत की जिससे कि पौंड अधि मूल्यित (over valued) हो गया। इसका फल यह हुआ कि इङ्गलैण्ड में कीमतें और लागतें विश्व स्तर की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गईं। परिणामतः भुगतान तुला उसके बहुत प्रतिकूल हो गई। वहाँ से स्वर्ण का निर्यात होने लगा। इस प्रवृत्ति को निष्प्रभावित ((counteract) करने के लिए अधिकारियों ने विदेशों से भारी ऋण लेना शुरु किये। लेकिन ऐसा करना भी उक्त ज्वार (tide) को न रोक सका। अन्ततः स्वर्ण के निर्यात पर रोक लगाई गई। ऐसा करने से चूँकि स्वर्ण निर्यात बिन्दु (*gold export point*) निष्क्रिय (*inoperative*) हो गया इसलिए पौंड का मूल्य गिरने लगा और शीघ्र ही वह अपने स्वाभाविक स्तर पर जो कि सापेक्षिक कीमत-स्तरों के अनुरूप हुआ करता है पहुँच गया।

(२) द्वितीय महायुद्ध की अवधि में डालर स्टर्लिंग और रुपया-डालर दरें क्रय शक्ति समता से बहुत भिन्न हो गई थीं और इन दरों को विनिमय नियन्त्रण के द्वारा कृत्रिम स्तरों (artificial levels) पर स्थिर रखा गया था। चूँकि डालर की तुलना में स्टर्लिंग, रुपया व अन्य करेंसियां अधिमूल्यित थीं, इसलिए सम्बद्ध देशों को अपने भुगतान सन्तुलन में बड़ी कठिनाइयां उठानी पड़ रही थीं। इन कठिनाइयों के निवारण के लिये, यह आवश्यक था कि या तो सम्बद्ध देशों में कीमतें और लागतें घटाकर क्रय शक्ति समताओं (parities) को बढ़ाया जाय, अथवा, नियन्त्रित दरों (controlled rates) को घटाते हुए उन्हें वास्तविक समताओं के स्तर पर ले

आया जाय। व्यवहार में दूसरा तरीका ही अपनाया गया था, अर्थात् इङ्गलैण्ड, भारत व अन्य देशों ने अपनी करेन्सियों का डालर-मूल्य घटाकर निर्यन्त्रित दरों व स्वाभाविक दरों में समानता स्थापित की।

क्रय शक्ति समता सिद्धान्त अस्थिर और परिवर्तनशील विनिमय-दरों के युग में मोटे रूप में उस सीमा का मापक (measure) है, जिसके भीतर वास्तविक दरें साम्य दर से भिन्न हो सकती है। इसके अतिरिक्त, विनिमय दरों में स्थायित्व लाने के हेतु क्रय शक्ति समता की गणना करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि अपनाई जाने वाली दरों के औचित्य का निर्णय क्रय शक्ति समता के सदर्भ में ही किया जा सकता है।

क्रय-शक्ति समता और टकसाली समता

क्रय शक्ति समता का प्रयोग प्राय अपरिवर्तनशील करेंसियों के मध्य विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट करने हेतु किया जाता है। लेकिन वैसे यह किसी भी मौद्रिक परिस्थिति में लागू किया जा सकता है। अर्थात्, यदि दो देश स्वर्णमान पर है, अथवा रजतमान या पत्र मान पर, तो भी यह सिद्धान्त इस बात को, कि विनिमय दर किसी विशेष स्तर पर ही क्यों निर्धारित होती है, स्पष्ट करने में समर्थ है। सच तो यह है कि 'विनिमय की टकसाली समता' (mint par of exchange) भी स्वर्ण में व्यक्त की गई एक विशेष प्रकार की क्रय शक्ति समता ही है। स्वर्णमान के अधीन, दो देशों में कीमतें स्वर्ण में निर्धारित की जाती हैं और करेंसी की स्वर्ण-समता इसकी क्रय-शक्ति का सूचक होती है। अत, टकसाली समता ही दो करेंसियों के मध्य क्रय शक्ति समता भी होती है।

जिन दिनों विश्व में स्वर्णमान प्रचलित था, घटना क्रम क्रय-शक्ति समता की तरह से ही चला। अर्थात, स्वर्णमान के आधीन भी कीमतें विभिन्न देशों के मध्य समानता की प्रवृत्ति दिखलाती है। यदि किसी देश को स्वर्ण का अभाव अनुभव हुआ और इससे उसके मुद्रा चलन की अपर्याप्तता के कारण कीमतों में गिरावट आई, तो सम्बद्ध करेंसी की क्रय शक्ति अपने मूल स्तर पर लौटने की प्रवृत्ति दिखलाती थी। कारण विचाराधीन देश में कीमतें गिरने से इसके निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है तथा अन्य करेंसियों का सापेक्षिक अधिमूल्यांकन (relative over valuation) इसके आयातों को हतोत्साहित करता है। ऐसा होने से धीरे-धीरे एक 'अनुकूल व्यापार सन्तुलन' ((favourable balance of trade) का उदय होने लगता है। आयातों की अपेक्षा निर्यातों का यह आधिक्य प्राय स्वर्ण में चुकता किया जाता है। अत अनुकूल व्यापार सन्तुलन वाला देश स्वर्ण प्राप्त करेगा। इस प्रकार, उसके कब्जे (possession) में सोने की मात्रा बढ़ जायेगी, और, चूँकि स्वर्ण कोष बढ़ने से मुद्रा-परिमाण बढ़ जाता है इसलिये वहाँ कीमतों में पुन वृद्धि होने लगेगी। दूसरी ओर, उस देश में, जिसने स्वर्ण खोया है, मुद्रा-परिमाण घटने से कीमतें गिरने लगेंगी। इस प्रकार कीमत समता पुन स्थापित हो जाती है।

दो स्वर्णमान देशों के मध्य 'टकसाली समता' और दो अपरिवर्तनीय पत्र करैंसियों वाले देशों के मध्य 'क्रय शक्ति समता' में एक स्पष्ट भेद यह है कि जबकि टकसाली समता एक 'स्थिर समता' (Fixed par) है तब क्रय शक्ति समता 'चल समता' (Moving par) है। दूसरे, स्वर्णमान के अधीन वास्तविक दर स्वर्ण-बिन्दुओं के मध्य ही परिवर्तित होती रहती है, किन्तु जब देश अपरिवर्तनशील पत्र मान पर है, तो विनिमय दरों के घटने-बढ़ने की कोई सीमायें नहीं होती है। कारण, इस परिस्थिति में स्वर्ण के आवागमन तो होते नहीं जो कि उतार-चढ़ावों को सीमित कर दे।

अब टकसाली समता एक भूतकाल की चीज बन गई है, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया है। फिर, 'टकसाली समता तब ही लागू होती है जबकि स्वर्ण का आयात और निर्यात स्वतन्त्रता पूर्वक हो, लेकिन न केवल स्वर्णमान आज प्रचलित नहीं है, वरन् स्वर्ण के आयात-निर्यात पर भी प्रतिबन्ध लगे हुये है। अतः विदेशी विनिमय का टकसाली समता सिद्धान्त अब पहले जितना महत्वपूर्ण नहीं रह गया है।

फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि यह विनिमय दरों की स्थिरता पर अधिक ध्यान देता है, जबकि क्रय-शक्ति समता के अधीन विनिमय दरों के स्थायित्व का कोई प्रश्न ही नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने विनिमय दरों के स्थायित्व पर समुचित ध्यान दिया है और इस हेतु वह सब सदस्य देशों से यह आशा करता है कि वे अपनी-अपनी करैंसियों का मूल्य स्वर्ण के रूप में घोषित कर देंगे। प्रायः सभी सदस्यों ने ऐसा कर भी दिया है। अब घोषित स्वर्ण मूल्यों के आधार पर किन्हीं दो करैंसियों की विनिमय दर ज्ञात करना बहुत सरल है। इस नियत दर से विनिमय दर के परिवर्तन के लिये वह विशेष परिस्थितियों में ही अनुमति देता है।

लोचदार एवं स्थिर विनिमय दरों के गुण-दोष

विनिमय दरों में स्थायित्व (stability) रखना सभी समयों में सभी देशों का एक वाछनीय उद्देश्य रहा है। सन् १६२०—३० की अवधि में विनिमय दरों में जब तब परिवर्तन होते रहे थे, जिससे प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन (competitive devaluation) को बढ़ावा मिला और विश्व व्यापार के लिये इसके परिणाम बुरे हुये। विश्व व्यापार की मात्रा, रचना और दिशा (direction) सभी पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के चरण में भी राष्ट्रों को यह भय रहने लगा था कि ऐसी ही स्थिति युद्ध के बाद फिर उत्पन्न हो जायगी। अतः पुनरावृत्ति रोकने के लिये उनके हृदय में जो उत्कट इच्छा थी उसने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (*International Monetary Fund*) के तत्वावधान में सगठित होने के लिए प्रेरित किया। जब से यह स्थापित हुआ है, वह विनिमय स्थायित्व के लिये तथा सभी विनिमय नियन्त्रणों को हटवाने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा है।

लेकिन अनेक सदस्य देशों के लिये कुछ कारणों से वैसा विनिमय-स्थायित्व बनाये रखना सम्भव नहीं हुआ जैसा कि मुद्रा कोष के संविधान में आवश्यक बताया गया है और उन्हें अपनी विनिमय दरों में समय-समय पर परिवर्तन करने पड़े हैं। किन्तु ऐसा परिवर्तन प्रायः कोष के परामर्श से और इसकी पूर्व अनुमति से ही किया गया है। सन् १६४६ में २२ देशों ने सहसा ही एक साथ अवमूल्यन का जो कदम उठाया, उससे प्रभावित होकर प्रेक्षकों (observers) ने यह मत प्रगट करना आरम्भ किया कि करेन्सियों के मध्य नियत विनिमय दरें कायम रखना असम्भव है। आधुनिक वर्षों में भी ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है जो कि 'समायोजनीय विनिमय दरों' (adjustable exchange rates) अथवा स्थायी दरों (stable rates) की प्रणाली को वांछनीय नहीं समझते तथा 'स्वतन्त्र' (free) अथवा 'उतार-चढ़ाव' वाली (fluctuating) विनिमय दरों को अधिक उपयोगी बताते हैं। हमें इस वाद-विवाद में कोई मत प्रकट करने से पूर्व दोनों प्रकार की विनिमय दरों के गुण-दोषों का तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

स्थायी दर रखने के पक्ष में—

स्थायी विनिमय दरों के पक्ष में निम्नलिखित लाभ बताये जाते हैं —

(१) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा**—यदि विनिमय दरें स्थायी रहें, तो विदेशियों को और जो लोग उन्हें माल बेचा करते हैं उन्हें भी यह मालूम करने में, कि अपनी देशी करेन्सी के हिसाब से उन्हें कितना मिलेगा या कितना देना पड़ेगा, कोई कठिनाई न होगी। प्राप्ति या भुगतान की राशि निश्चित होने से विश्व व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। वह तेजी से तथा अधिक परिमाण से होने लगता है।

(२) **विकास योजनाओं की पूर्ति में सहायता**—विकास योजनाओं की प्रगति में विनिमय दरों की स्थिरता से बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि ऐसी परिस्थिति में विदेशों से विकास पूँजी मिलना सुगम हो जाता है।

(३) **विदेशी व्यापार पर निर्भरता वाली अर्थ-व्यवस्था के लिए उपयुक्त**—विनिमय दरों का स्थायीकरण उन देशों के लिये, जिनकी अर्थ-व्यवस्था में विदेशी व्यापार की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है (जैसे कि इगलैंड या डेन्मार्क), एकमात्र विवेक सगत नीति कही जाती है। जितना कम वे इस नीति से हटेंगे उतना ही उनके लिये अच्छा होगा, क्योंकि यदि वे नीति से बारम्बार हटते हैं तो उनका विदेशी व्यापार अस्त-व्यस्त होने लगेगा तथा ऐसा होने से देश की आन्तरिक समृद्धि भी कुप्रभावित हो जायेगी।

(४) **पूँजी की 'दौड़' के विरुद्ध सुरक्षा**—विदेशी पूँजी पर निर्भरता वाले देशों को तो किसी भी कीमत पर विनिमय दर के स्थायित्व में विघ्न नहीं पड़ने देना चाहिये, क्योंकि विश्व के प्रमुख देशों के मौद्रिक मान जब तक उचित रूप में स्थिर रहते हैं, वे अपनी करेंसी का मूल्य उनकी करेंसी के सन्दर्भ में अपरिवर्तित रख कर 'पूँजी की दौड़' के विरुद्ध सुरक्षित हो जाते हैं।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग बाजार के व्यवस्थित विकास के लिए आवश्यक—जब विदेशी विनिमय दरें साधारण रूप से घटती-बढ़ती हैं, तो विनियोगकगण विनिमय दरों के प्रतिकूल परिवर्तनों के फलस्वरूप होने वाली हानियों के भय से विदेशी देशों को उधार देने में घबड़ाते हैं। मौद्रिक इतिहास को देखने से पता चलता है कि जब तक स्वर्णमान के अधीन स्थायी विनिमय दर प्रणाली विद्यमान रही, अन्तर्राष्ट्रीय-ऋण लेन-देन सहज गति से सम्पन्न होते रहे, लेकिन स्वर्णमान का खण्डन होते ही, प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय ह्रास (exchange depreciation) प्रारम्भ हो गया और ऋणों के लेन-देन में बाधा पड़ने लगी।

(६) मौद्रिक गुटों वाले विश्व के लिए उपयुक्त—एक स्थायी विनिमय दर एक करेंसी-क्षेत्र (जैसे कि स्टर्लिङ्ग एरिया) वाले विश्व के लिये बहुत ही उपयुक्त होती है। यदि एक महत्वपूर्ण देश (जैसे कि इंगलैंड) जिसकी करेंसी उस क्षेत्र की एक प्रमुख (major) करेंसी है, अपनी विनिमय दर को घटने बढ़ने के लिए, छोड़ देता है, तो इसका न केवल उसकी करेंसी पर वरन् अन्य सम्बद्ध करेंसियों पर भी प्रभाव पड़ेगा और इस प्रकार सभी देशों के लिए अनेक जटिल समस्यायें उत्पन्न हो जायेंगी।

(७) सट्टा जनित कुप्रभावों में कमी होना—पिछला अनुभव यह बताता है कि विनिमय दरें पूँजी के विशाल (large) हस्तान्तरों से बहुत प्रभावित होती हैं। अत सम्बद्ध देश यह पसन्द करते हैं कि अपनी विनिमय दरों में इस प्रकार से समायोजन कर लें कि सट्टा व्यवहारों के द्वारा उन्हें कम से कम हानि हो।

निःसन्देह, कोई भी देश वही विनिमय दर अनेक वर्षों तक कायम नहीं रख सकता। यदि किसी देश के भुगतान-सन्तुलन में कोई मौलिक परिवर्तन (Fundamental change) हो जाय (क्योंकि आन्तरिक अथवा वाह्य परिस्थितियाँ बहुत बदल गई है), तो परम्परागत विनिमय दर अनुपयुक्त हो जाती है और वह देश इसे बदलने के लिए विवश हो जाता है। ऐसे अनिवार्य परिवर्तन की सम्भावना को मुद्रा कोष ने भी स्वीकार किया है तथा उसके विधान में इसके लिये छूट भी दी गई है।

स्वतन्त्र विनिमय दर के पक्ष में (The case for a Free Exchange Rate)—

लोचदार या स्वतन्त्र विनिमय दरों के पक्ष वाले तर्क प्रायः उन तर्कों के खण्डन के रूप में हैं जो कि स्थिर विनिमय दर के पक्ष में दिए गए हैं:—

(१) लोचदार विनिमय दरों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इतना नुकसान नहीं जितना कि स्थिर विनिमय दर से—महायुद्धों के बीच की अवधियों अथवा युद्धोत्तर अवधियों के इतिहास से इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि स्थिर विनिमय दरों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को लाभ पहुँचाया हो। जब तक व्यापारियों को प्रचलित विनिमय दरों में तथा इन्हें कायम रखने में सरकारों की क्षमताओं में विश्वास है, उन्हें कोई कठिनाई नहीं होगी। लेकिन सम्भव है कि व्यापारियों को महीनों तक अनिश्चित दशा में रहना पड़े तथा पुनर्मूल्यन (Revaluation) की, जो किया भी जा सकता है

और नही भी, प्रतीक्षा करनी पड़े । इसके अतिरिक्त, यदि पुनर्मूल्यन के समय का अनुमान लगाना सम्भव हो, तो भी यह परिवर्तन कितना होगा इसका अनुमान लगाना कदापि सम्भव नहीं है। अत परिवर्तन के बारे मे अनिश्चितता के कारण व्यापार और भुगतान अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। इसके विपरीत, स्वतन्त्र विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत, विनिमय दर की भावी प्रवृत्ति (future trend) का अनुमान लगाना प्राय सम्भव होता है। जैसे, जबकि सम्बद्ध देश का भुगतान सन्तुलन साम्यावस्था (equilibrium) मे है, तो विनिमय दर मे कोई बड़ा परिवर्तन नहीं होगा, और, जब वह असाम्य की अवस्था मे है, तब बाजार के रुख का अनुमान लगाया जा सकेगा। यही नही, अग्रिम विनिमय बाजार (forward exchange markets) भी आयातकों और निर्यातकों को संरक्षण दे सकते हैं। इस प्रकार, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि लोचदार विनिमय दरें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए इतनी हानिप्रद नहीं है जितनी कि स्थिर विनिमय दरें।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्यवहारों पर लाभदायक प्रभाव—स्थायी विनिमय दरो के समर्थक प्राय इस बात पर बल देते है कि अन्तर्राष्ट्रीय ऋण-व्यवहारो को प्रोत्साहित करने के लिए स्थायित्व वाछनीय है । किन्तु, यह एक प्रगट रहस्य (open secret) है कि ऋणदाता या ऋणी कोई भी यह आशा नहीं करता कि प्रचलित दर ही दशाब्दियों तक चलेगी अत यह असम्भावित (not probable) है कि ऋण लेने देने के निर्णयों पर स्थिर विनिमय दर का तो अनुकूल प्रभाव पड़े किन्तु लोचदार विनिमय दर का प्रतिकूल। यही नहीं, बाह्य सतुलन को समायोजित करने तथा भुगतान सतुलन सम्बन्धी सकटो को रोकने मे लोचदार दरें स्थिर दरो की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो सकती हैं। अत यह कह सकते है कि लोचयुक्त विनिमय दरें अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्यवहारो पर अच्छा प्रभाव डालती हैं।

(३) करेंसी गुटो में दुर्बलता नहीं—किसी करेन्सी क्षेत्र का अस्तित्व स्थिर विनिमय दरो पर ही निर्भर हो ऐसा नहीं है। जहा तक स्टर्लिंग गुट का सम्बन्ध है, यह एक विशेष प्रकार का क्षेत्रीय भुगतान समूह (Regional Payment Group) है, जिसका ढाँचा सन् १६२०-३० की अवधि मे, जबकि स्टर्लिंग बाजार परिस्थितियों के अनुसार घटने-बढ़ने के लिए स्वतन्त्र था तैयार किया गया था। यथार्थ मे, विभिन्न देशों को किसी विशेष करेंसी ब्लाक से बाँधने वाले कारण राजनैतिक व सामाजिक होते हैं। अत गुट के प्रमुख देश को, अन्य सदस्य देशों से पूर्व परामर्श करने के पश्चात् करेंसी के मूल्य मे परिवर्तन करने दिया जाय, तो इससे गुट कमजोर नहीं पड़ेगा।

इस प्रकार स्थिर विनिमय के पक्ष में (या यो कहे कि स्वतन्त्र विनिमय प्रणाली के विरोध मे) दिए जाने वाले कुछ प्रचलित तर्क (stock arguments) वास्तव मे उतने महत्त्वपूर्ण नहीं जितने कि ऊपर से दिखाई पड़ते है। इसके अतिरिक्त, स्थिर विनिमय दरो के विरोध मे कुछ ऐसे तर्क हैं जिनसे लोचदार विनिमय दरो का पक्ष अधिक सुदृढ बनता है। ये तर्क निम्नलिखित है :—

(i) स्थिर विनिमय दरें सट्टे को प्रोत्साहित करती हैं। यदि जनता को यह आशंका हो जाय कि करेन्सी का अवमूल्यन (devaluation) किया जाने वाला है, तो सरकार के लिए किसी भी दर को बनाये रखना कठिन हो जाता है क्योंकि यह गिरती ही चली जाती है। परिणामत विनिमय-नियन्त्रण होने पर भी करेन्सी का स्थायित्व खतरे में पड़ जाता है।

(ii) स्थिर दर देशों के मध्य प्रचलित वास्तविक लागत-कीमत सम्बन्ध को नहीं दिखाती है वरन् वह सम्बन्ध को दिखाती है जो कि पहले कभी विद्यमान रह चुका है। वास्तव में लागत-कीमत सम्बन्ध प्राय परिवर्तित होते रहते है, क्योंकि विभिन्न देशों द्वारा विभिन्न आर्थिक नीतियों का अनुसरण किया जाता है।

(iii) स्थिर दरें एक देश की आर्थिक कठिनाइयों को दूसरे देश पर विस्तृत कर देती हैं। उदाहरणार्थ, डालर के साथ स्टर्लिंग का कठोर गठबन्धन होने के कारण ही सन् १९४५ के बाद पश्चिमी यूरोप के देशों की अर्थव्यवस्थायें अस्थिर हो गई थीं।

निष्कर्ष— किसी न किसी प्रकार का स्थायित्व अति आवश्यक है

उपरोक्त सैद्धान्तिक तर्क, पिछली दो शताब्दियों का अनुभव और मुद्रा कोष को विभिन्न दरों के स्थाई रखने में अपर्याप्त सफलता मिलना ये सब बातें हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती हैं कि स्थिर दरों के स्थान में स्वतन्त्रतापूर्वक घटने बढ़ने वाली विनिमय दरें अपनानी चाहिए। किन्तु, केवल अल्पकालीन समयान्तरों (short intervals) को छोड़ कर कोई भी देश अपनी विनिमय दर को, बाह्य एवं आन्तरिक आर्थिक दशाओं में होने वाले दिन प्रतिदिन के परिवर्तनों के अनुसार निरन्तर बदलते रहने के लिए स्वतन्त्र नहीं छोड़ सकता। सच तो यह है कि अत्यधिक स्वतन्त्रता देने के गम्भीर परिणाम हो सकते हैं, जैसे —(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सहज प्रवाह में बाधा पड़ना, *(ii) अर्थव्यवस्था में विभिन्न उद्योगों के मध्य उत्पत्ति-साधनों* के समुचित विभाजन में अस्त-व्यस्तता उत्पन्न होना, (iii) पूँजी का विदेशों को भागना, (iv) विदेशी विनिमय में सट्टे को प्रोत्साहन मिलना, (v) असाधारण रूप से अधिक द्रवता पसन्दगी उत्पन्न होकर संचय (hoarding) की वृद्धि होना, (vi) ब्याज दरों में वृद्धि होना तथा इसमें विनियोग, रोजगार और आय में गिरावट आना, (vii) दीर्घकालीन विदेशी विनियोजन के प्रवाह में बाधा पड़ना। इस प्रकार, कुछ न कुछ प्रकार, का स्थायित्व होना नितान्त आवश्यक है। हमारी सम्मति में सर्वोत्तम स्थिति न तो यह है कि विनिमय दरें निरन्तर बदलती रहें, और न यह है कि वे कठोरतापूर्वक बिल्कुल ही स्थायी रहें, वरन् ऐसी स्थिति सर्वोत्तम है जिसमें प्रत्येक देश विनिमय दर को अपनी आवश्यकतानुसार निर्धारित या परिवर्तित कर सके।

परीक्षा प्रश्न :

१ क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा करिये ?
[Critically examine the purchasing power parity theory]
(जीवाजी, एम० ए०, १९६७, गोरख०, एम० ए०, १९६८)

२ विदेशी विनिमय के क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचना करिये। अनेक विकासोन्मुख देशों में जो मुद्रा प्रसारिक दशायें आजकल देखने में आती है उसम उसका क्या विशेष महत्त्व है ?
[Explain critically the purchasing power parity theory of foreign exchanges What special significance does it have in the inflationary conditions that charaterise many developing countries today ?]
(इलाहा० एम० ए०, १९६९)

३ समतादारो को गणना के लिए घरेलू व्यापार की वस्तुओं की कीमतो को विचार मे लेना असम्बद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वाली वस्तुओ की कीमतो को विचार मे लेना अनावश्यक है।" समीक्षा कीजिये।
["For calculation of parity rate prices of domestically traded goods are irrelevant and prices of internationally traded goods are unnecessary." Comment]
(इलाहा०, एम० कॉम० १९६६)

४ क्रय शक्ति समता सिद्धान्त का विवेचन कीजिये और विनिमय दर के निर्धारण मे इसके महत्त्व को समझाइये।
[Discuss the Purchasing power parity theory and explain its importance in determining the rate of exchange]
(विक्रम, एम० ए० १९६६)

५. क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचना करिये। यह आधुनिक दशाओ मे कहाँ तक लागू होता है ?
[Critically examine the purchsing power parity theory How far is it applicable under modern conditions ?]
(आगरा एम० कॉम०, १९६८)

६ विदेशी विनिमय के क्रय शक्ति समता सिद्धान्त को सक्षेप मे समझाइए। यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त से किस प्रकार भिन्न है ?
[Explain briefly the purchsing power parity theory of foreign exchange How does it differ from the classical theory ?]
(आगरा, एम० ए०, १९६८)

२१

मुद्रा प्रसार के युग में विनिमय

(Exchange During Inflation)

परिचय—

पिछले अध्यायों म हमने विनिमय दरों के स्थैतिक सिद्धान्त (static theory of foreign exchanges) का विवेचन किया था। देशों के मध्य कीमत विनिमय (price exchange relationships) सम्बन्ध इसी साम्य की दिशा मे बढने की प्रवृत्ति रखते है। अब हम प्रावैगिक (dynamic) या अस्थिर (unstable विनिमय दरों का विवेचन करेंगे जो साम्य मे अस्थाई विचलनों (temporary divergences) का प्रतिनिधित्व करती है तथा जिनमें और अधिक विचलन के बीज मौजूद होते है। किन्तु यह समझना भूल है कि स्थैतिक सिद्धान्त ने परिवर्तनों की बिल्कुल ही उपेक्षा कर दी थी। सच तो यह है कि इसने भी 'साम्य मे विघ्न पडने के पूर्व की दशाओं' और 'नये साम्य की स्थापना के बाद की दशाओं' के मध्य तुलना करके परिवर्तनों को विचार मे लिया है। यदि इन दोनों प्रकार की दशाओं में कोई भिन्नतायें है, तो उन्हे एक 'कारण' के 'प्रभाव' के रूप मे स्पष्ट कर दिया जाता है। इस विश्लेषण विधि को तुलनात्मक स्थैतिकी' (Comparative Static) कहते हैं।

उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि एक अपरिवर्तनशील पत्र चलन के अन्तर्गत मुद्रा की माता को २०% बढा दिया जाता है। ऐसी दशा मे साम्य विश्लेषण (equilibrium analysis) यह दिखलाता है कि जब अतिरिक्त द्रव्य को सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे परिभ्रमण (circulate) करने का अवसर मिल जाय, तो वहा कीमतें पहले की अपेक्षा ऊँची हो जायेगी। यह कल्पना करते हुये कि इस सामग्री-परिवर्तन (change of data) मे कीमत-समायोजनों के अतिरिक्त कोई अन्य स्थाई परिवर्तन नहीं होते हैं, तो नवीन साम्यावस्था मे कीमतें २०% ऊँची हो जायेंगी और विनिमय दर २०% नीची। किन्तु मुद्रा प्रसार की प्रक्रिया वास्तविक जगत मे, व्यापार की माला तथा उद्योग की सरचना पर सदा ही कुछ स्थायी या दीर्घकालीन प्रभाव डालती है, जिस कारण माँग की दिशा मे परिवर्तन हो जाता है। उस बिन्दु पर, जहाँ अतिरिक्त मुद्रा चलन मे पहली बार प्रवेश करती है, क्रय शक्ति बढती है, अन्यत्र वह कुछ समय तक अपरिवर्तित (unchanged) रहती है। किन्तु जब वृद्धि अन्य

बिन्दुओं पर भी फैल जाती है तो, पूर्ति, जिसने कि स्वयं को मूल परिवर्तन के साथ समायोजित करना आरम्भ कर दिया था सदा ही पुनः समायोजित नहीं की जा सकती है, क्योंकि इस आशा में कि क्रय शक्ति में स्थाई निपट (परिवर्तन) हुआ है, पूँजी का विनियोग किया जा चुकता है। यही नहीं मुद्रा प्रसार के आरम्भ के समय जिन पर ऋण था वे, लेनदारों की हानि पर स्थायी रूप से लाभान्वित हो जाते हैं। अतः यह बहुत ही दुर्लभ सम्भावना (rare possibility) है कि सभी कीमतें समान रूप से बढ़ जायेंगी अथवा औसत कीमत स्तर ठीक २०% ही ऊँचा हो जायगा और विदेशी विनिमय दर पहले की अपेक्षा ठीक २०% ही नीची हो जायगी।

इस उदाहरण से जहाँ यह स्पष्ट है कि विशुद्ध मात्रा सिद्धान्त (pure quantity theory) कीमत परिवर्तनों को स्पष्ट करने में अपर्याप्त है वहाँ यह इस बात को भी दिखाता है कि उक्त जटिल घटकों (स्थायी परिवर्तनों) को विचार में लेने पर भी स्थैतिक विश्लेषण लागू किया जा सकता है।

एक साम्य से दूसरे साम्य में संक्रमण
(Transition from One Equilibrium to Another)

स्थैतिक विश्लेषण की कमी की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि दो साम्यों में मध्यवर्ती अवस्थाओं (intermediate stages) की परीक्षा की जाय। स्थैतिक दशाओं में भी समायोजन-यन्त्र (mechanism of adjustment) एक ऐसी कीमत विषमता (price discrepancy) प्रस्तुत करता है जो कि स्थैतिक दशाओं में स्थापित नहीं रहती। उदाहरणार्थ, जब किसी देश का भुगतान सतुलन निष्क्रिय हो जाता है, तो वहाँ कीमतें गिरती हैं किन्तु अन्य देशों में बढ़ती हैं, जिससे निर्यात प्रोत्साहित होते हैं आयात निरुत्साहित और इस प्रकार साम्य पुनः स्थापित हो जाता है। किन्तु प्रावैगिक दशायें कुछ कम अस्थाई कीमत विषमताओं से सम्बन्धित होती हैं, और ये विषमतायें मुद्रा प्रसार के समय में समायोजन-यन्त्र द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं।

मुद्रा प्रसार की अवधि में कीमत स्तर एवं विनिमय दरें—

ये कीमत विषमतायें मुद्रा प्रसार के समय में उत्पन्न होती हैं। यदि विस्तार की उत्तरोत्तर लहर इतनी तेजी से एक दूसरे का अनुसरण करे कि अर्थ व्यवस्था को एक के समा लेने का अवसर नहीं मिलता कि दूसरी उस पर आ धमकती है, तो कीमतें और विनिमय दर कुछ समय तक एक दूसरे से साम्य के बाहर (out of equilibrium) रह सकती हैं।

मुद्रा प्रसार जिस बिन्दु पर अतिरिक्त मुद्रा प्रवेश कराई जाती है उस बिन्दु के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है। उदाहरण के लिये, स्वर्ण मुद्रा प्रसार (gold inflation) में स्वर्ण के उत्पादकों को ही सर्वप्रथम इसके फल भोगने पड़ते हैं किन्तु साख प्रसार (credit inflation) में साहसियों को। यहाँ पर हम बजट मुद्रा प्रसार (budget inflation) की स्थिति लेंगे, क्योंकि अन्य प्रकार के मुद्रा प्रसारों में

कीमतें इतनी परिवर्तित नहीं होती है कि वे विनिमय की तुलना में कोई विशेष भिन्नता प्रदर्शित कर सकें।

बजट-मुद्रा प्रसार में अतिरिक्त मुद्रा सर्व प्रथम सरकारी अधिकारियो और सरकारी ठेकेदारो द्वारा व्यय की जाती है। ये लोग जो वस्तुयें खरीदते है उनकी कीमते बढ जाती है, जिससे इन वस्तुओ का उत्पादन करने वाली फर्मे अपना व्यय बढाती है और इस प्रकार कीमतो की वृद्धि धीरे-धीरे अर्थव्यवस्था के अन्य हिस्सो मे भी फैल जाती है। देर-सबेर मे विनिमय का भी ह्रास होना चाहिऐ। यदि अतिरिक्त मुद्रा की उत्तरोत्तर मात्रायें प्रारम्भ मे स्वदेशी वस्तुओं पर ही व्यय की जाती हैं तो विनिमय मे ह्रास होने की अपेक्षा औसत कीमतो के बढने की गति अधिक होती है। इसके विपरीत यदि वे आयात पर व्यय की जायें तो विनिमय मे ह्रास की गति औसत कीमतों मे वृद्धि की गति से अधिक होगी।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण —

जर्मनी का १९१४-२३ की अवधि का मुद्रा प्रसार बुनियादी सिद्धान्तो को स्पष्ट करने मे बहुत ही सहायक है। इसे हम चार अवस्थाओ मे बाँट सकते है —

(१) युद्ध काल—युद्ध के दिनो में घेराबन्दी के कारण जर्मनी का विदेशी व्यापार लगभग रुक सा गया था। अत निर्यात (और विशेषत आयात) का परिमाण (volume) कीमतो मे परिवर्तनो के प्रति सामान्य गति से प्रतिक्रिया नहीं दिखला सका, जिससे मार्क का बाह्य मूल्य इसके आन्तरिक मूल्य की अपेक्षा कम तेजी से गिरा। अन्य शब्दो में, मुद्रा का मूल्य ह्रास उतनी गति से नहीं हुआ, जितनी गति से कि देश मे कीमतें बढ गई थी।

(२) युद्ध के तत्काल बाद—सन् १९१९ मे, जबकि घेराबन्दी उठा ली गई थी आयातों का परिमाण बढ गया और भुगतान सतुलन निष्क्रिय बन गया तथा कीमतो मे वृद्धि की अपेक्षा विनिमय मे अनुपात से अधिक ह्रास हुआ। यदि मुद्रा मात्रा को उत्तरोत्तर न बढाया जाता, तो निर्यातो के विस्तार और आयातों के सकुचन द्वारा साम्य की शीघ्र ही प्राप्ति हो जाती। किन्तु, हुआ यह कि युद्ध की क्षतिपूर्ति का भुगतान करने के लिये कुछ अतिरिक्त मुद्रा विदेशी विनिमय बाजार मे प्रत्यक्ष रूप से प्रवेश कराई गई।

उल्लेखनीय है कि कीमतो की वृद्धि की तुलना से विनिमय के अधिक ह्रासित (depreciate) होने का कारण मनोवैज्ञानिक था। जब मुद्रा प्रसार एक सीमा को पार कर जाता है, तो लोग यह आशा करने लगते हैं कि देर-सबेर मे कीमतें बढती ही जायेंगी। इससे सटोरिये विदेशी विनिमय बाजार पर प्रभुत्व जमा लेते है और विनिमय-ह्रास की गति बढ जाती है। सटोरियो के प्रभाव को बाद मे जनता द्वारा भी बल मिलने लगता है, क्योंकि वह भी विदेशी मुद्रा का सचय करने लगती है।

किन्तु बढती हुई गति से होने वाला विदेशी विनिमय ह्रास (exchange depreciation) तो एक व्यापक प्रक्रिया (wider process) का अङ्ग मात्र है।

जिस तरह विदेशी विनिमय दर में कीमत वृद्धि की अपेक्षा तेज गति से ह्रास होता है उसी प्रकार से कीमत वृद्धि एवं विनिमय-ह्रास दोनों ही प्रक्रियाओं की गति मुद्रा-मात्रा में वृद्धि की गति से तेज होती है। कारण जब लोगों को कीमतों में नई वृद्धि की आशा होती है तो वे अपनी मुद्रा को शीघ्रातिशीघ्र व्यय करने की इच्छा से प्रभावित हो कुछ ऊँची कीमतें देने को तैयार हो जाते हैं मजदूरियों एवं वेतनों के भुगतान की बारम्बारता (frequency) बढ जाती है और अन्त में लोग अदल-बदल अपना लेते हैं या विदेशी मुद्रा को विनिमय माध्यम के रूप में प्रयोग करते हैं। ऐसे समय में कानूनी मुद्रा की चलन गति बहुत बढ जाती है और उस कार्य का परिमाण जो कि मुद्रा को करना है घट जाता है। मुद्रा-परिमाण के परिवर्तनों और इसके मूल्य के परिवर्तनों में भिन्नता जिस सीमा तक बढ सकती है उसका अनुमान जर्मन मार्क के उदाहरण से लगाया जा सकता है। नव० १९२२ में मुद्रा का कुल चलन-परिमाण चालू दर पर स्वर्ण में सन् १९१६ की अपेक्षा ३८ वां भाग था।

(३) **१९२३ के लगभग**—जर्मन मुद्रा प्रसार की अन्तिम अवस्थाओं में परिस्थिति में एक बार पुन परिवर्तन हुआ। वस्तु के प्रति दौड' सामान्य बन गई और कीमतों की वृद्धि ने विनिमय ह्रास के स्तर को स्पर्श कर लिया। १९२३ तक, जबकि मुद्रा प्रसार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था, भिन्नता (discrepancy) बहुत अधिक नहीं रह गई थी, क्योंकि दोनों हलचलें (movements) समान विद्युत सदृश्य तीव्र गति से हो रही थी। मुद्रा-परिमाण सम्बन्धी वृद्धि तो इस बीच इनसे बहुत पीछे छूट गई थी।

(४) **करेन्सी का स्थायीकरण**—इस अन्तिम तथ्य ने करेन्सी के स्थायीकरण की समस्या को अति सुगम बना दिया। एक बार विश्वास लौटा कि चलन गति अपनी सामान्य दर पर लौट आती है तथा विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ जाती है। इसका यह अर्थ है कि यदि केन्द्रीय बैंक स्थायीकरण के तत्काल पहले चलन में मुद्रा की मात्रा के साथ साम्यता की अनुसारता में एक स्वर्ण समता स्थापित कर दे, तो विनिमय में तत्काल ही वृद्धि हो जायेगी और कीमतों को गिरना पड़ेगा। किन्तु ऐसी दशा में बैंक स्वर्ण-कोष एकत्र न कर सकेंगे।[1]

अत युद्धोत्तर काल में अधिकांश स्थायीकरण एक ऐसी समता (parity) पर सम्पन्न किये गये, जो विनिमय की वास्तविक दर से कुछ ऊँची किन्तु उस विनि-

---

1 "Once confidence has been restored the velocity of circulation falls to its normal rate, and the supply of foreign currency increases This means that if the central bank were to establish a gold parity corresponding in equilibrium to the amount of money in circulation just before stabilisation then the exchange would immediately appreciate and prices would have to fall."—Haberler : *The Theory of International Trade*, p. 57.

मय दर से जो कि प्रचलित कीमत स्तर की साम्यता में होनी चाहिये, कुछ नीची थी। इससे केन्द्रीय बैंक्स स्वर्ण कोष एकत्र करने में तथा साथ ही चलन में मुद्रा-मात्रा को बढ़ाने में समर्थ हो गये। किन्तु यह स्मरणीय है कि मुद्रा मात्रा में वृद्धि करने और कीमतों को बढ़ाने की सम्भावना या आवश्यकता जहाँ एक और स्थायीकरण को सुगम बनाने का प्रभाव रखती है, वहाँ दूसरी ओर मुद्रा प्रसारिक तेजी (और इसके परिणामस्वरूप बाद में मंदी) भी उत्पन्न कर सकती है।

ह्रास की व्याख्या भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त एवं प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार

भुगतान सतुलन सिद्धांत और प्रतिष्ठित सिद्धांत की व्याख्याओं में तुलना—उपरोक्त विश्लेषण प्रतिष्ठित सिद्धान्त का पूरक है, विरोधी नहीं। यहाँ प्रतिष्ठित सिद्धान्त और भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त की तुलना लाभ सहित की जा सकती है। हेल्फेरिच (Helfferich) ने भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त के दृष्टिकोण से प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना की है।[1] उन्होंने विनिमय दर कीमत स्तर और मुद्रा मात्रा के बीच में पड़ने वाले समय विलम्ब (time-lag) का विशेष उल्लेख किया और लिखा है कि "जर्मनी की मौद्रिक दशाओं पर विचार करने में प्रचलित दृष्टिकोण (अर्थात् प्रतिष्ठित सिद्धान्त) विशुद्ध मुद्रा परिमाण सिद्धान्त पर आधारित है और तदनुसार वह पत्र चलन में हुई वृद्धि को जर्मन कीमतों की वृद्धि और करेंसी के ह्रास का कारण मानता है। किन्तु निकटता से परीक्षा करने पर हम यह देखेंगे कि यहाँ 'कारण' और परिणाम' का स्थान आपस में बदल गया है और जर्मनी के पत्र-चलन में वृद्धि जर्मन विनिमय की गिरावट का तथा इसके परिणामस्वरूप मजदूरियों और कीमतों में हुई वृद्धि का वरन् प्रभाव' है, 'कारण' नहीं।

यदि मुद्रा प्रसार कारण' और जर्मन विनिमय का ह्रास इसका 'प्रभाव' होता तो अंग्रेज अर्थशास्त्रियों के प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार, घटना क्रम निम्न प्रकार चलता—पत्र चलन में वृद्धि स्वदेश कीमतों के स्तर में 'अनुपातिक' वृद्धि उत्पन्न कर देती, ये ऊँची कीमतें आयातों को प्रोत्साहित करती तथा निर्यात को कठिन बना देती जिससे व्यापार सतुलन और इसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय ऋणता का सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता। जब ऋणता-सन्तुलन निष्क्रिय होता है, तो विदेशी मुद्रा के लिये माग बढ़ जाती है और विनिमय दरें ऊँची हो जाती हैं। किन्तु सांख्यिकी आकड़ो (जर्मनी के केन्द्रीय बैंक द्वारा पत्र-निर्गमन २३ गुना और स्वदेशी वस्तुओं का थोक-कीमत-सूचनांक २२६ गुना हो गया था तथा डालर दर ३४६ गुनी हो गई थी) पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि उक्त तर्क-क्रम लागू नहीं होता है। स्पष्ट है कि जर्मनी की दशा में नोट चलन में वृद्धि कीमतों में वृद्धि से पूर्व की घटना नहीं है और यह भी कि करेन्सी के ह्रास ने इसका अनुसरण तो किया किन्तु

[1] Helfferich : *Money*, pp 598-601.

कुछ विलम्ब के साथ तथा धीरे-धीरे । नोट चलन की २३ गुनी वृद्धि, स्वदेशी कीमतों मे १० गुनी और डालर-दर मे १५ गुनी अधिक वृद्धि का कारण नही हो सकती है । इन घटनाओ के वास्तविक कारणों की विशद् और सामान्य व्याख्या तब ही सम्भव है जबकि हम केवल विदेशी विनिमय को ही प्रारम्भ बिन्दु बतायें ।[1]

इसका कारण यह है कि जर्मनी के विनिमय का पतन किसी भी तरह नोट चलन मे वृद्धि से सम्बन्धित नही है । २५ जनवरी १९२३ को उल्लेखित डालर दर (=२१,५८६) पर एक स्वर्ण-मार्क लगभग ५,००० कागजी मार्क के बराबर था । रीश बैंक के नोटो का चलन उस समय १,६५४ मिलियार्ड था, जिसका मूल्य केवल ३३० मिलियन स्वर्ण फ्रेंक होता है । यह युद्ध छिड़ने के पूर्व जर्मनी की प्रचलित करेन्सी के स्वर्ण मूल्य के बीसवें भाग से ज्यादा अधिक नही है ।

वह सिद्धान्त, जिसने जर्मन करेंसी के पतन के लिए मुद्रा प्रसार को कारण बताया था, इस सिद्ध-साधन पर आधारित है कि मुद्रा का विदेशी मूल्य, जिसे विनिमय दरो के रूप मे व्यक्त किया जाता है, केवल पत्र चलन से परिमाणात्मक घटक द्वारा ही निर्धारित हो सकता है । किन्तु उपरोक्त दशा में, जिसमे अभी-अभी यह दिखाया जा चुका है कि पत्र चलन मे वृद्धि करेंसी ह्रास की अपेक्षा बहुत पिछड़ गई थी, विदेशी विनिमय के पतन के कारण, जोकि पत्र चलन की वृद्धि से स्वतन्त्र हैं, पूर्णरूपेण स्पष्ट हैं । हम एक ऐसे देश के बारे मे विचार कर रहे है जिसकी अन्तर्राष्ट्रीय ऋणता, वार्सेलीज की संधि के अन्तर्गत देय भुगतानो और सुपुर्दगी से पृथक, ३ मिलीयार्ड स्वर्ण मार्क्स की सीमा तक निष्क्रिय थी तथा लन्दन के अल्टीमेटम ने देश को ऋणग्रस्तता मे ३·३ मिलियार्ड स्वर्ण मार्क्स के बराबर वार्षिक क्षतिपूर्ति भुगतान की वृद्धि करदी थी । इसमे वह भुगतान भी जुड गये जोकि जर्मनी पर युद्ध पूर्व के ऋणो के निपटारे के लिए थे । इस प्रकार, जर्मनी के अन्तर्राष्ट्रीय ऋणता सन्तुलन की वार्षिक निष्क्रियता ७ मिलियार्ड स्वर्ण मार्क्स से भी अधिक बढ गई, अतः 'कारण-परिणाम क्रम' इस प्रकार है —

(१) सर्वप्रथम, अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता के अत्यधिक भार तथा फ्रास की हिंसात्मक नीति के कारण जर्मनी की करेंसी का ह्रास हुआ
(२) तत्पश्चात समस्त आयातित वस्तुओं की कीमतो मे वृद्धि हुई,
(३) जिसमे फिर कीमतों और मजदूरियो मे सामान्य वृद्धि हो गई

---

1 "A conception of the general and comprehensive outline of the interplay of causes in these developments can, in fact, be obtained only if the foreign exchange is made the st rting point "—Helfferich

(४) जिसने करेंसी के लिए जनता की और रीश बैंक के वित्तीय अधिकारियों की माँग को बढा दिया

(५) अन्तत रीश बैंक पर जनता द्वारा अधिक माँग की गई, तथा

(६) इससे विवश होकर रीश के वित्तीय अधिकारियों को नोटों के निर्गमन म वृद्धि करनी पडी।

इस प्रकार हैल्फरिच लिखते है 'सामान्यत प्रचलित दृष्टिकोण के विपरीत, यह करेंसी का ह्रास है जो कि कारण परिणाम क्रम को प्रारम्भ करता है, मुद्रा प्रसार नहीं। मुद्रा प्रसार कीमतो म वृद्धि का और करेंसी के ह्रास का कारण नहीं है वरन् करेंसी का ह्रास ही ऊँची कीमतों का तथा नोट चलन की मात्रा मे अधिक वृद्धि का कारण है।"

प्रो० हैबरलर की सम्मति म 'हैल्फेरिच का उपरोक्त विश्लेषण प्रतिष्ठित सिद्धान्त की पूर्ण जानकारी पर आधारित नहीं है। कारण, प्रतिष्ठित सिद्धान्त स्थैतिक है जबकि हैल्फेरिच ने जिस घटना का उदाहरण दिया है वह साम्य दशाओ के बिल्कुल विपरीत (opposite) है। वास्तव म प्रतिष्ठित सिद्धान्त की व्याख्या साम्या के सिद्धान्त के रूप म करनी चाहिए। अत मुद्रा प्रसार विषयक घटनायें स्पष्टत सक्रमण काल की अनियमिततायें है जिन्हे इस सिद्धान्त की आलोचना के लिए प्रयोग नही किया जा सकता"[1]

प्रतिष्ठित सिद्धान्त ने इस बात पर बल दिया है कि दीर्घकाल मे (जो बहुत दीर्घ न हो) कीमतो और विनिमय दरो के मध्य फलनात्मक सम्बन्ध (functional relations) होते है और मुद्रा परिमाण की वृद्धि कीमतो म वृद्धि और विनिमय मे ह्रास दोनो को ही बढावा देगी। किन्तु यह आवश्यक नही है कि पहली घटना दूसरी घटना से पहले ही हो, वह बाद भी हो सकती है। यदि कीमतें पिछड जायें, तो निर्यातो पर प्रीमियम उत्पन्न हो जाता है तथा विनिमय राशिपतन (exchange dumping) होने लगता है। किन्तु इसी कारण साम्य की पुन स्थापना शीघ्र हो जायेगी, बशर्ते नई मुद्रा के इन्जैक्शनो से लगातार बाधा न डाली जाय। अत यह नही कहना चाहिये (किन्तु क्रय शक्ति समता सिद्धान्त के समर्थक ऐसा कहते है) कि कीमतों मे वृद्धि होना मूल कारण' तथा विनिमय मे ह्रास होना इसका 'प्रभाव' है। यथार्थ मे ये दोनो परिवर्तन आपस म फलनात्मक सम्बन्ध (functional relations) रखते हैं तथा एक ही कारण के प्रभाव है और यह कारण है मुद्रा मात्रा मे वृद्धि होना, जो स्वय बजट-घाटे का प्रभाव होती है।

सदेह नही कि ह्रास और कीमत-वृद्धि बजट के सतुलन को कठिन बना देती है और इसलिए मुद्रा का अधिक प्रसार, कीमतो म नई वृद्धि तथा नया ह्रास होता है। (यह बात आजकल भारत मे घटित हो रही है) किन्तु, जैसा कि अनुभवो से

1 Haberler : *The Theory of International Trade*, p 60

पता चला है इस कुचक्र को तोडा जा सकता है, और, यदि बजट के घाटे को पूरा करना असम्भव हो, क्योंकि एक ठोस वित्त नीति कार्यान्वित करना सम्भव नही है, अथवा, क्योंकि बाहर से राष्ट्रीय खजाने पर जो भार जैसे—(क्षति पूर्ति का भुगतान) डाले गये है वह अर्थव्यवस्था की करदान क्षमता से कही अधिक है, तो भी इसग इस प्रस्ताव का विरोध नही होता कि यदि मुद्रा के परिमाण को स्थिर रखा जाय, तो ऐसी शक्तियाँ क्रियाशील हो जाती है जोकि कीमतो तथा विनिमय के परिवर्तनो को यथास्थिर कर देती है तथा कीमतो और विनिमय दरो को परस्पर समायोजित कर देती है। यही बात सशोधित क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त भी कहता है।

नि सन्देह मुद्रा-परिमाण मे वृद्धि मुद्रा मूल्य की गिरावट की अपेक्षा पिछड जाती है, जिससे चलन मे मुद्रा-मात्रा (स्वर्ण के रूप मे) कम हो जाती है। यदि इस तथ्य की ठीक ठीक व्याख्या की जाय तो हम देखेंगे कि यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त के विरोध मे नही है क्योकि इस तथ्य को चलन गति की वृद्धि एव व्यापार की मात्रा मे सकुचन द्वारा पूर्णत स्पष्ट किया जा सकता है। अशत कारण यह भी है कि अधिकाश व्यवहार अन्य विनिमय-साधनो द्वारा भी किये जाते है। अत हेल्फेरिच द्वारा केवल इसी तथ्य के आधार पर परिमाण सिद्धान्त को रद्द करना यह प्रमाणित करता है कि वह साम्य की दशाओ तथा सक्रमण-काल की घटनाओ मे भिन्नता नही देख सके थे।

स्वाभाविक विनिमय दर मे परिवर्तन या अल्पकालीन विनिमय दर

[भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त]

टकसाली समता या विनिमय समता की युक्ति से जो विनिमय दर मालूम की जाती है वह केवल एक दीर्घकालीन प्रवृति है। लेकिन दैनिक, अल्पकालीन अथवा बाजार दर (जिस पर कि विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय के सौदे वास्तव मे किये जायेंगे) उक्त दर से कुछ भिन्न होती है। इस भिन्नता का कारण उस पर माँग और पूर्ति की शक्तियो का प्रभाव पडना है। चूँकि इन शक्तियो मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए वास्तविक विनिमय दर भी परिवर्तित होती रहती है।

परिवर्तन का मूल कारण—भुगतान-सन्तुलन में परिवर्तन होना

दो देशो A और B की कल्पना कीजिए। इनकी मुद्रायें क्रमश a और b है। a और b की पारस्परिक विनिमय दर पर प्रभाव डालने वाले चार घटक हुये—a की माँग व a की पूर्ति और b की माँग एव b की पूर्ति। किन्तु a की माँग और b की पूर्ति पर्यायवाची है। इसी प्रकार, a की पूर्ति एव b की माँग पर्यायवाची है। जैसे, b का क्रेता इसके (b) बदले मे स्वदेशी करेंसी (a) देता है, अत b की माँग के साथ a की पूर्ति स्वत उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार, यह भी दिखाया जा सकता है कि a की माँग के साथ b की पूर्ति स्वत उत्पन्न हो जाती है। अत विनिमय दर को प्रभावित करने वाले घटक वास्तव मे दो ही है—करेंसी की माँग और

इसकी पूर्ति। इनकी समानता (equilibrium) के द्वारा विनिमय दर (विदेशी मुद्रा की कीमत) का निर्धारण होता है।

किसी विदेशी मुद्रा b की माग देश (A) के निवासियो द्वारा इस कारण से की जाती है कि उन्होने विदेश (B) से वस्तुओ, सेवाओ व प्रतिभूतियो का क्रय किया है जिनका अब वे भुगतान करना चाहते है अथवा वे विदेश (B) म विनियोजन के लिए अपने अल्पकालीन कोषो का हस्तान्तरण करना चाहते है। अत जब कभी ऐसे भुगतानो की मात्रा म कमी या अधिकता होती है तब ही विदेशी मुद्रा (b) की माँग घट बढ जाती है। इसी प्रकार, देश (A) मे विदेशी मुद्रा (b) की पूर्ति किसी विशेष समय पर इस कारण से घटती बढती है कि देशवासियो ने वस्तुओ और सेवाओ का निर्यात अथवा अल्पकालीन कोषो का हस्तान्तरण घटा-बढा दिया है।

अन्य शब्दो मे **किसी विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति सम्बन्धी दशाओ में परिवर्तन होने का कारण देश के निवासियो द्वारा विदेशियो को किये जाने वाले और उनसे विदेशियो को प्राप्त होने वाले भुगतानों में परिवर्तन होते रहना है।**

भुगतान-सन्तुलन पर प्रभाव डालने वाले कारण—

भुगतान सन्तुलन' (अथवा सरल बोलचाल की भाषा मे, विदेशो से लेनी देनी का विवरण) के प्रमुख अग व्यापार, सेवायें, पूँजी के आवागमन आदि हैं। इन अगों मे से किसी से भी कोई परिवर्तन होने पर विनिमय बाजार म माग पूर्ति सम्बन्धी दशायें प्रभावित हो जाती है। भुगतान सन्तुलन पर प्रभाव डालने वाले कारणो पर नीचे प्रकाश डाला गया है।

(I) व्यापारिक कारण (Trade Conditions)—

यदि किसी देश की वस्तुओं के लिये विदेशो मे अधिक माग है तो स्वदेश की मुद्रा की माँग इसकी पूर्ति की अपेक्षा बढ जायेगी और फलत विनिमय दर देश के पक्ष में हो जायेगी, अर्थात, देशी मुद्रा अपने बदले मे अधिक विदेशी मुद्रा प्राप्त करने लगेगी। इसके विपरीत, यदि आयात देश के निर्यात से अधिक हों तो विदेशी मुद्रा की माग इसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक होगी, विनिमय दर देश के प्रतिकूल हो जाएगी और देशी मुद्रा अपने बदले म कम विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकेगी।

(II) स्टॉक विनिमय सम्बन्धी कारण (Stock Exchange Conditions)—

भुगतान सन्तुलन पर प्रभाव डालने वाली स्टॉक विनिमय सम्बन्धी दशाओ के अन्तर्गत ऋण सम्बन्धी व्यवहार तथा विदेशी प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय सम्मिलित किया जाता है।

(१) ऋण सम्बन्धी लेन-देन (Loan Operations)—जब देशवासी विदेशो से ऋण लेते हैं अथवा अपने दिए हुए ऋणो पर उनसे व्याज प्राप्त करते हैं, तो विदेश मे स्वदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ जाएगी और ऐसा होने पर विनिमय दर हमारे पक्ष मे हो जायेगी। इसके विपरीत, यदि देशवासी विदेशो को ऋण दे रहे हैं अथवा उनसे प्राप्त ऋणो पर ब्याज चुका रहे है, तो स्वदेश के विनिमय बाजार मे

विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ने लगती है, जिससे विनिमय दर स्वदेश के प्रतिकूल होने लगती है। [स्मरणीय है कि यदि ऋण का प्रयोग ऋणी द्वारा ऋणदाता देश से ही वस्तुएँ क्रय करने मे किया जाता है, तो इस प्रकार के ऋण का विनिमय दर पर प्रभाव नही पड़ेगा। हाँ, यदि ऋण का प्रयोग अन्य देशो मे किया जाय, तो प्रभाव पड़ेगा।]

(२) प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय—जब स्वदेशी विनियोक्ता विदेश मे स्टॉक, शेयर्स और सिक्योरिटीज आदि खरीदते है, तो इनके लिए विदेशी मुद्रा मे भुगतान करना पड़ता है, जिससे स्वदेश मे विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है और विनिमय दर विपक्ष मे हो जाती है, क्योंकि अब हम अपनी मुद्रा के बदले मे विदेश की मुद्रा पहले से कम मात्रा मे क्रय कर पाते है। इसके विपरीत, जब विदेशी विनियोक्ता हमारे देश मे स्टॉक आदि खरीदते है, तो उन्हे इनका भुगतान हमारी मुद्रा मे करना पड़ता है। फलतः स्वदेश मे विदेशी मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग से अधिक हो जायेगी और इसमे विनिमय दर हमारे पक्ष मे परिवर्तित हो जायेगी, अर्थात् अब हम अपनी मुद्रा के बदले मे पहले से अधिक विदेशी मुद्रा खरीद सकेंगे।

(III) बैंकिंग कारण (Banking Conditions)—

बैंकिङ्ग सम्बन्धी कारणो के अन्तर्गत हम बैंङ्क दर के परिवर्तनो, विदेशी व्यापार मे प्रयोग किये जाने वाले साख-पत्रो की घटा-बढ़ी, और मध्यस्थो की क्रियाओ को सम्मिलित करते हैं —

(१) बैंक-दर—जब स्वदेश मे बैंङ्क-दर विदेशो की अपेक्षा ऊँची होती है, तो विदेशियों के लिए हमारे देश मे विनियोग करना लाभदायक होता है, जिससे देश मे विदेशो से पूँजी आने लगती है। ऐसी दशा मे स्वदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है और फलस्वरूप इसका मूल्य बढ़ जाता है। इसके विपरीत, जब बैंक-दर स्वदेश मे अन्य देशो की अपेक्षा कम होती है, तब स्वदेशी विनियोक्ताओ के लिए विदेशो मे विनियोग करना अ-लाभदायक हो जाता है, अतः वे पूँजी बाहर भेजने लगते है। विदेशी भी स्वदेश मे लगी हुई पूँजी निकालने लगते है। फलस्वरूप देश मे विदेशी मुद्रा की माँग (एवं इसका मूल्य) बढ़ जाती है।

(२) साख पत्रो का क्रय-विक्रय—जब स्वदेश के बैंङ्क विदेशी साख-पत्रो मे रुपया लगाते है, तो देश की पूँजी का विदेशो को हस्तान्तरण होता है, और जब वे विदेशियो को स्वदेशी साख-पत्रो का विक्रय करते है, तब विदेशी पूँजी देश मे आती है। यदि बिलो, साख-पत्रो आदि के क्रय-विक्रय का सामूहिक प्रभाव यह है कि देश मे विदेशो से अधिक पूँजी का हस्तान्तरण होता है, तो देशी मुद्रा की अधिक माँग होने के कारण इसका मूल्य विदेशी मुद्रा मे बढ़ जाता है, अर्थात् विनिमय दर हमारे पक्ष मे परिवर्तित हो जाती है। यदि देश से विदेशो को अधिक पूँजी का हस्तान्तरण होता है, तो विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ने से विदेशी मुद्रा का मूल्य बढ़ जायेगा और फलत विनिमय दर हमारे विपक्ष मे परिवर्तित हो जायेगी।

(३) 'अन्तर पणन' या मध्यस्थो की क्रियायें—'अन्तर पणन' अथवा मध्यस्थो की क्रियाओं का आशय मुद्रा के क्रय विक्रय सम्बन्धी उन कार्य-कलापों से है जोकि बैंकों द्वारा विभिन्न वित्त केन्द्रों म दरो की भिन्नता से लाभ उठाने की इच्छा से किए जाते है।

मान लीजिए कि लन्दन में न्यूयार्क पर केबिल रेट किसी समय पर ४ ८६ डालर प्रति पौंड है, लेकिन किसी कारण से न्यूयार्क मे लन्दन पर केबिल रेट ४ ८५½ डालर प्रति पौण्ड है। अब मध्यस्थगण न्यूयार्क में लन्दन पर और लन्दन में न्यूयार्क पर टी० टी० (टेलीग्राफिक ट्रान्सफर) क्रय करना प्रारम्भ कर देंगे। ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि एक व्यवहारी लन्दन पर एक लाख पौंड का केबिल न्यूयार्क में ४८५,५०० डालर का भुगतान करके खरीदता है तथा साथ-साथ लन्दन में एक लाख पौंड व्यय करके डालर खरीदे जाते है। प्रचलित विनिमय दर पर एक लाख पौंड द्वारा ४८६,००० डालर खरीदे जायेंगे। यह क्रय-विक्रय टेलीफोन पर हो जाता है। इस प्रकार कुछ ही क्षणों में उक्त व्यवहारी ५०० डालर का लाभ कमा लेता है।

विभिन्न व्यवहारियो द्वारा किये जाने वाले उक्त कार्य-कलापों का सामूहिक प्रभाव यह होगा कि पौंड का मूल्य न्यूयार्क में बढने लगेगा (क्योंकि वहां पौंड की मांग बढ गई है) तथा लन्दन में गिरने लगेगा (क्योंकि वहाँ पौंड की पूर्ति बढ गई है)। इस प्रकार दोनो वित्त-केन्द्रों की दरें एक दूसरे के निकट होती जायेंगी। अन्तर-पणन का महत्व वस्तुत इसी बात मे है कि वह विभिन्न केन्द्रों में दो करैंसियो के मध्य दरो को समान रखता है। [उल्लेखनीय है कि आजकल विनिमय बाजार नियन्त्रित होते हैं, अत अन्तर पणन के लिए अवसर उपलब्ध नहीं है।]

(IV) मौद्रिक दशायें (Monetary Conditions)—

मुद्रा सम्बन्धी निम्न दशाएँ भी विनिमय दर को प्रभावित करती है —

(१) मुद्रा प्रसार (Inflation)—जब किसी देश मे मुद्रा प्रसार हो गया है अथवा जब इसकी सम्भावना मान है, तब पूँजी विदेशो को जाने लगती है। यहाँ तक कि विदेशी भी अपनी पूँजी लौटाने लगते है। कारण, मुद्रा प्रसार स मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाती है। परिणामत देश की विनिमय दर इसके प्रतिकूल होने लगती है, अर्थात् देश की मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा पहले से कम मात्रा में खरीदी जा सकती है।

(२) मुद्रा सकुचन (Deflation)—जब मुद्रा सकुचन की स्थिति विद्यमान हो अथवा लोग यह आशा करते है कि करैंसी की मात्रा कम होने से इसका मूल्य बढ जायेगा, तो वे करैंसी का क्रय करने लगेंगे। इससे स्वदेशी मुद्रा के लिए विशाल मांग उत्पन्न हो जायेगी तथा फलस्वरूप विनिमय दर स्वदेश के पक्ष में परिवर्तित होने लगेगी।

(V) राजनैतिक एवं औद्योगिक परिस्थितियाँ—

देश की राजनैतिक एवं औद्योगिक परिस्थितियां भी विनिमय दर पर प्रभाव डालती हैं। इनमे निम्न का समावेश है —

(१) संरक्षण नीति—प्राय सरकारें देशी उद्योगो को सरक्षण देकर आयात मे कमी और निर्यात मे वृद्धि करती हैं। इससे भुगतान-सन्तुलन देश के अनुकूल होने लगता है और विनिमय-दर देश के पक्ष मे हो जाती है।

(२) युद्ध व शान्ति—जब देश मे शान्तिपूर्ण वातावरण होता है, तब विदेशियों का विश्वास जमता है और वे अपनी पूँजी स्वदेशी उद्योगों के विकास म लगाते है। इससे विनिमय-दर पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

(३) वित्त नीति—यदि सरकार घाटे की अर्थ-व्यवस्था अपनाती है, तो विनिमय-दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, क्योंकि देश मे मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(४) विनिमय नियन्त्रण—केन्द्रीय बैंक विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न साधन अपनाकर विनिमय दर को प्रभावित करता रहता है।

भुगतान संतुलन सिद्धान्त के गुण-दोष—

भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त के निम्न गुण हैं —(i) यह अन्य वस्तुओं को लागू होने वाले इस सामान्य तर्क का ही अनुसरण करता है कि विनिमय-दर के निर्धारण में करेंसियों की माग-पूर्ति का बहुत भाग है, (ii) इसने विनिमय-दर के निर्धारण की समस्या को 'सामान्य साम्य विश्लेषण' (general equilibrium analysis) का ही एक अंग बना दिया है, (iii) इसने विनिमय-दर को प्रभावित करने वाले सभी कारणों को विचार म लिया है, एव (iv) यह एक रचनात्मक सुझाव भी देता है, जो यह कि मुद्रा प्रसार या मुद्रा सकुचन के बिना ही, भुगतान सतुलन म, विनिमय दर का समायोजन करके (अर्थात् अवमूल्यन अथवा अधिमूल्यन द्वारा), साम्य लाया जा सकता है।

किन्तु उक्त सिद्धान्त मे निम्न दोष भी हैं —(i) इसने (जैसा की कीन्स ने बताया है) 'ठोसता के नियम' को लागू किया जबकि 'द्रव्यों का नियम' लागू करना चाहिए था, अर्थात्, डेबिट और क्रेडिट मदों को 'दी हुई मात्रायें' मान लिया है जबकि वास्तव म ये 'घटने बढ़ने वाली मात्रायें' हैं, एव (ii) अनेक कच्चे मालों के लिये माँग पूर्णत बेलोच नहीं है जैसा कि सामान्यत माना जाता है। खाद्यान्नों की माँग भी पूर्णत बेलोच नहीं होती है, क्योंकि इन्हे भी कुछ सीमा तक अन्य (भले ही मँहगी) वस्तुओं (जैसे अंगूर आदि) से प्रतिस्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार कीमत-परिवर्तनों का अति आवश्यक वस्तुओं की माँग पर भी न्यूनाधिक असर पड़ता है। अत भुगतान-सतुलन स्वय भी विनिमय-दरों के परिवर्तनों पर निर्भर होता है। जिस सीमा तक वह इस प्रकार निर्भर है उस सीमा तक उसे विनिमय-दरों के निर्धारण का सन्तोषजनक स्पष्टीकरण नहीं कहा जा सकता।

विनिमय दरो मे उच्चावचनो की सीमाये

वास्तविक विनिमय दर विदेशी मुद्रा की माँग-पूर्ति सम्बन्धी दशाओ मे परिवर्तनो के कारण, स्वाभाविक विनिमय दर से जब तब ऊँची-नीची होती रहती है। यह कितनी ऊपर उठ सकती है अथवा कितनी नीचे गिर सकती है ? अथवा, क्या विनिमय-दरो के उतार-चढाव की कोई सीमाये है ? इन प्रश्नो का उत्तर हमे विभिन्न मौद्रिक परिस्थितिया के सदर्भ म देना होगा, जोकि निम्नलिखित हैं —

(१) **जब दो देशो मे स्वर्णमान हो**—स्वर्णमान देशो मे विनिमय-दर के उतार-चढाव असीमित नही होते, वरन् स्वर्ण-बिन्दुओ (Specie Points) से मर्यादित होते है, क्योकि स्वर्णमान के अन्तगत व्यापारियों को स्वर्ण का आयात अथवा निर्यात करने की स्वतन्त्रता रहती है। एक ओर, विनिमय-दर **'स्वर्ण निर्यात बिन्दु'** (Upper Specie Points) से अधिक ऊँची नही जा सकती है, क्योंकि यदि ऐसा हुआ, तो व्यापारीगण विदेशी मुद्रा (या इसके बिल) खरीदने के बजाय सोना खरीद कर विदेशो को भेजना पसन्द करेंगे। दूसरी ओर विनिमय-दर **'स्वर्ण आयात बिन्दु'** (Lower Specie Points) से नीचे नहीं गिर सकती है, क्योकि यदि ऐसा हुआ तो विदेशी देनदार हमे हमारी मुद्रा (अथवा इसके बिल) भेजने के बजाय सोना खरीद कर भेजने लगेंगे।

(२) **जब दो देशो में रजतमान हो**—साम्बन्धित देशो मे रजतमान विद्यमान होने की परिस्थितियो मे स्वर्णमान की भाति ही विनिमय दरो के उतार-चढाव **'रजत बिन्दुओ'** से सीमित होते है। हाँ, असाधारण, समय मे, जबकि सोने चाँदी का आयात-निर्यात नही होने पाता, विनिमय दरें सीमाओ का उल्लघन कर सकती है।

(३) **स्वर्णमान एव रजतमान देशो के मध्य**—जबकि एक देश स्वर्णमान पर और दूसरा रजतमान पर हो, तब भी विनिमय-दर के उतार-चढाव उच्चतम एव निम्नतम स्वर्ण बिन्दुओ के बीच ही सीमित रहते हैं।

(४) **स्वर्णमान (अथवा रजतमान) एव पत्र-मुद्रा मान देशो के बीच**—स्वर्णमान (अथवा रजतमान) देश म स्वर्ण की कीमत सरकार द्वारा निश्चित होती है किन्तु पत्र-मुद्रा मान देश मे वह बाजार मे समय समय पर बदलती रहती है। अत, स्वर्णमान देश के लिए एक उच्चतम सीमा (स्वर्ण निर्यात बिन्दु) तो होती है, किन्तु निम्नतम सीमा (स्वर्ण आयात बिन्दु) नही होती। इसी प्रकार पत्र मुद्रामान देश के लिए एक निम्नतम सीमा तो है लेकिन कोई उच्चतम सीमा नहीं होती है।

(५) **पत्र मुद्रामान वाले देशो के बीच**—दो पत्र-मुद्रामान देशो के मध्य विनिमय-दर उक्त परिस्थितियो की तरह स्वर्ण बिन्दुओ से मर्यादित नहीं होती है, क्योकि इनकी मुद्राओ का सम्बन्ध किसी धातु से नही होता। अत पत्र मुद्रामान मे विनिमय-दरो के परिवर्तन की कोई सीमायें नही है। केवल यह कह सकते हैं कि विनिमय-दर मे क्रय शक्ति समता के निकट रहने की प्रवृत्ति होती है। वह समता के कितनी निकट रहेगी यह सरकार की मौद्रिक नीति पर निर्भर है।

परीक्षा प्रश्न :

१. स्थैतिक विश्लेषण का क्या महत्त्व है ? इसकी अनुपूर्ति प्रावैगिक विश्लेषण द्वारा करना क्यों आवश्यक है ?

[What is the significance of static analysis ? Why is it necessary to supplement it by dynamic analysis ?]

२. 'प्रतिष्ठित सिद्धान्त की सम्पूर्ण प्रवृत्ति यह सकेत करती है कि विनिमय दरो के निर्धारण को साम्यो के सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।" इस कथन को मुद्रा प्रसार के युग मे विनिमयो के सन्दर्भ मे स्पष्ट कीजिये ।

["The whole tendency of the classical doctrine shows that it must be interpreted as a theory of equilibria" Explain this statement in context of exchanges during inflation]

३ विदेशी विनिमय दरो के भुगतान सतुलन सिद्धान्त से आप क्या समझते है ? यह विनिमय दरो मे नित्य प्रति होने वाले परिवर्तनो को किस सीमा तक स्पष्ट करता है ?

[What do you mean by the Balance of Payments Theory of Foreign Exchanges ? How far is it an adequate explanation of day to day changes in exchange rates ?]

४ विनिमय दर मे उतार चढाव के क्या कारण है प्रबन्धित चलने के अन्तर्गत उतार चढाव कैसे सीमित होते है ?

[What are the causes of fluctuations in the rate of exchange ? How are fluctuations limited under the managed currencies ?] (जीवाजी एम० ए०, १९६७)

२२

अवमूल्यन एवं अधिमूल्यन

(Undervaluation and Overvaluation)

अवमूल्यन (Undervaluation)

अवमूल्यन से आशय—

'अवमूल्यन' का आशय किसी देश की करेंसी के बाह्य मूल्य (external value) को कम करने से है। करेन्सियों के बाह्य मूल्य में कमी या तो सभी करेंसियों के सन्दर्भ में सामान्य रूप से, या कुछ चुनी हुई करेंसियों के सन्दर्भ में ही विशेष रूप में, की जा सकती है। यहाँ पर हमें 'अवमूल्यन' और 'ह्रास' में भेद समझ लेना चाहिए। परिणाम की दृष्टि से तो इन दोनों में कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों ही दशाओं में स्थानीय करेन्सी का मूल्य विदेशी मुद्रा के रूप में नीचा होता है। इनमें एकमात्र भेद यह है कि जबकि अवमूल्यन में करेंसी का मूल्य सरकार द्वारा कम किया जाता है तब ह्रास की दशा में करेंसी का मूल्य बाजार-शक्तियों (markt forces) के प्रभाव से कम हो जाता है। उदाहरण के लिये सन् १९४९ में, भारत ने, स्टर्लिङ्ग गुट के अन्य सदस्यों के साथ-साथ, रुपये का डालर मूल्य ३३ सेंट से घटा कर २२ सेंट कर दिया था। इस प्रकार रुपये के मूल्य में ३३% कमी हो गई और डालर का रुपया मूल्य ३३% से बढ़ गया। यह रुपये का अवमूल्यन है ह्रास नहीं।

अवमूल्यन के उद्देश्य

अवमूल्यन के लिये उचित आधार—

एक देश अपनी करेंसी का अवमूल्यन निम्न उद्देश्यों से कर सकता है—(i) उन देशों के साथ, जिन्होंने अपनी करेंसियों का अवमूल्यन कर दिया है, व्यापार में अपनी प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति को बनाये रखने के लिये, (ii) अन्य महत्त्वपूर्ण करेंसियों की तुलना में, विनिमय दर को, अपनी करेंसी की क्रय शक्ति में हुए परिवर्तन की अनुसारता में (in accordance with), यथोचित रूप से समायोजित करने के लिए, (iii) जबकि विदेशी सहायता मिलनी बन्द हो गई है तब उसने भुगतान सन्तुलन को साम्यावस्था में रखने के लिए, (iv) विदेशी देशों को, जिन्होंने अपनी करेंसी का मूल्य नहीं घटाया है, निर्यात बढ़ाने के लिए, तथा वहाँ से आयात घटाने के लिए, जिसमें कि देश की विदेशी विनिमय कमाने की शक्ति बढ़ जाय। (v) देश के भीतर ही उत्पत्ति को

बढ़ावा देने तथा विदेशी बाजार मे बिक्री बढाने की दृष्टि से देश के उत्पादन की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता बढाने के लिए।

इन सब उद्देश्यो मे से सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य भुगतान तुला की प्रतिकूल असाम्यता को, जो कि बहुत दीर्घकालिक (Chronic) हो गई है, सुधारना है। यदि भुगतान तुला की प्रतिकूल असाम्यता एक लम्बे समय तक जारी रहे, तो इससे देश के स्वर्ण एवं विदेशी विनिमय कोष खाली हो जाने का डर है। यह ऐसी चीज है जिसे कोई भी सरकार उपेक्षा से नहो देख सकती। सामान्य अवधियो मे एक प्रतिकूल सतुलन स्वर्ण के निर्यात द्वारा अपने आप सुधर जाता है। लेकिन, जब विनिमय बाजार मे स्वतन्त्र विनिमय-व्यवहारो का स्थान सरकारी एजेन्सियो द्वारा विनिमय व्यवहार ग्रहण कर लेते है, अथवा जब विनमय बाजार का नियन्त्रण कठोरतापूर्वक किया जाता है, तब यह उपचार सफल नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी दशाओ मे स्वर्ण का निर्यात प्रतिबन्धित होता है। अतः निम्नलिखित अन्य उपाय प्रयोग किये जाते हैं —

(१) निर्यातो को प्रोत्साहन देना—यदि भुगतान तुला मे असाम्यता या प्रतिकूलता देश की निर्यात आमदनियो मे गिरावट आने से है, तो निर्यातो को, इनकी उत्पादन लागते घटाने की युक्तियो द्वारा, सस्ता बनाकर, निर्यात बढाने के प्रयत्न किये जा सकते है। किन्तु, इससे उत्पत्ति-साधन के पुरस्कारो को कम करने की समस्या उदय होती है। यदि पुरस्कार कम किए गए तो साधनो की ओर से घोर विरोध होने का भय है।

(२) आयातो को निरुत्साहित करना—असाम्यता की बढती हुई दरार (gap) को पाटने के लिए आयातो को कम करने की नीति अपनाई जा सकती है। इस नीति के अधीन या तो आयातो का पूर्ण निषेध किया जा सकता है अथवा आयात-कोटे या आयात-कर निर्धारित करके आयातो को काफी सीमा तक घटाया जा सकता है। किन्तु, इस सम्बन्ध मे यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि आयातो मे कोई भारी कटौती की गई, तो अन्य देशो द्वारा बदले की कार्यवाही (retaliation) की जा सकती है, जिससे देश के निर्यात कम हो जायेंगे और फलत:, आयातो मे काफी कमी कर देने पर भी असाम्यता दूर न होगी। यही नहीं, विदेशी व्यापार कम होने से देश उन लाभो से भी वंचित हो जाता है जोकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उदय होते है। अतः आयात प्रतिबन्ध एक सीमा तक ही अपनाये जा सकते है।

(३) करेंसी का संकुचन—जबकि असाम्यता का कारण देश मे मुद्रा प्रसार फैलना है, तो उसका एक उपयुक्त उपचार यह होगा कि करेंसी का सकुचन किया जाय। सकुचन का मतलब है स्वदेशी करेंसी के परिमाण म कमी करना। इस कमी के फलस्वरूप स्वदेश मे लागतें और कीमतें घटने लगती है। इसका प्रभाव देश को एक 'अच्छा' क्रय बाजार (market for buying) किन्तु 'बुरा' विक्रय बाजार बना देना है। फलत निर्यात प्रोत्साहित और आयात हतोत्साहित होते हैं। किन्तु इस नीति मे भी निम्न तीन दुर्बलतायें है —(i) चूँकि इस ढङ्ग मे मजदूरियो की कटौती

और बकारी बढ़ने का प्रश्न जुटा हुआ है, इसलिए इनका श्रमिक संघों द्वारा बहुत विरोध किया जाता है। (ii) कभी-कभी आय कीमत सरचना इतनी बेलोच होती है कि मुद्रा सकुचन भुगतान तुला की विषमता के सुधार का एक उपयुक्त ढग नहीं होता। (iii) यदि प्रचलित मुद्रा-प्रसार पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए अपनाई गई एक विस्तार नीति (Expansionary policy) का भाग है, तो मुद्रा सकुचन इस नीति के प्रभ व को ही बेकाम कर देती है।

(४) **विनिमय-नियन्त्रण**—भुगतान तुला की असाम्यता के सुधार का एक अधिक कारगर (surer) उपाय विनिमय नियन्त्रण है। इस विधि के अन्तर्गत मुद्रा अधिकारी सभी निर्यातकों को यह आदेश देता है कि वे अपनी विदेशी विनिमय सम्बन्धी समस्त आय सरकार के हवाले कर दें, जिसका फिर बाद म लाइसेन्स प्राप्त आयातकों के मध्य आवश्यकतानुसार वितरण (rationing) कर दिया जायेगा। कोई भी व्यक्ति लाइसेन्स के बिना वस्तुओं का आयात नहीं कर सकता। इस प्रकार, आयातो को निर्यातो की सीमाओ के भीतर रखकर भुगतान तुला को सुधारा जाता है।

(५) **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सहायता**—भुगतान तुला मे असमता का शिकार बने हुए देश के लिए एक उपाय यह भी है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण लेकर असाम्यता को दूर करने का प्रयत्न करे। लेकिन यह भी एक अस्थाई और सीमित उपाय है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भुगतान तुला की प्रतिकूलता के जो भी सुधार बताये गये हैं उनमे से कोई भी एक अचूक और पूर्ण इलाज नहीं है। सम्भवत भुगतान सतुलन की असमता के सुधार का एक मात्र उपचार, जबकि सकुचन के फलस्वरूप बेकारी उत्पन्न होने का डर हो, तथा आयातो को पहले ही अधिकतम सीमा तक घटाया जा चुका हो, यह है कि देश की करेंसी का अवमूल्यन कर दिया जाय।

विदेशी व्यापार पर अवमूल्यन का प्रभाव—

विदेशी व्यापार पर अवमूल्यन का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि आयातो मे कमी और निर्यातो मे वृद्धि होने लगती है। ऐसा होना बिल्कुल स्वाभाविक ही है, क्योंकि अवमूल्यन के कारण स्वदेशी करेंसी विदेशी केताओ के लिए सस्ती हो जाती है जबकि विदेशी करेंसी हमारे लिए मँहगी पडने लगती है। इस प्रकार, अवमूल्यन एक 'अनुकूल' भुगतान सतुलन उत्पन्न कर देता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अवमूल्यन के अच्छे प्रभाव सामान्यत तीन या चार वर्ष तक जारी रहते हैं। कारण, कुछ समय के बाद ही 'लागत-कीमत सरचनायें' (Cost-price structures) आन्तरिक एव बाह्य दोनो ही बाजारो मे अपने आपको नई विनिमय समता (exchange parity) के अनुरूप ढाल लेती हैं, जिससे अवमूल्यन का अनुकूल प्रभाव समाप्त हो जाता है। स्पष्टत, अवमूल्यन केवल 'सांस लेने भर की मोहलत' (brea-

thing space) देता है, जिसके भीतर ही करेंसी का अवमूल्यन करने वाले देश को चाहिये कि अपनी लागत-कीमत सरचना को शेष विश्व के सन्दर्भ मे इस प्रकार से सुधार ले कि उसके भुगतान सन्तुलन मे न्यूनता के अवसर उत्पन्न न हो।

अवमूल्यन की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें—

अवमूल्यन अस्थाई रूप से भी तब ही सफल हो सकता है जबकि निम्नलिखित शर्तें पूरी हो जायें —

(१) यदि अवमूल्यन किया जाय, तो लागत-कीमत सरचना पर इसकी अनुकूल प्रतिक्रिया होनी चाहिये—उस देश मे, जिसने करेंसी का अवमूल्यन किया है, कीमतें नही बढनी चाहिए अन्यथा जिस सीमा तक ये बढती है उस सीमा तक अवमूल्यन के सुप्रभाव व्यर्थ चले जायेंगे। कीमतो को बढने से रोकने के लिए सरकार द्वारा मूल्य नियन्त्रणो की आवश्यकता होगी। विशेषत निर्यात वस्तुओ की कीमतें सीमाबद्ध ही रखनी चाहिए।

(२) विदेशी देश को चाहिए कि अवमूल्यन करने वाले देश के साथ सहयोग करे—उसे प्रतिरोधी-उपाय (counter measures), जैसे—सरक्षण करो म वृद्धि करना, अपना कर अवमूल्यन के प्रभावो को व्यर्थ बनाने की चेष्टा नही करनी चाहिए।

(३) आयातो और निर्यातो के लिए माँग लोचदार होनी चाहिए—यदि माँग बेलोच है, तो अवमूल्यन करने से भुगतान सन्तुलन मे साम्यता की स्थापना नही हो सकेगी। उदाहरण के लिए, यदि विदेशी वस्तुओ के लिए भारतीय माँग बेलोच है, तो इनकी कीमत चाहे कुछ भी हो भारत को न्यूनाधिक पहले जितनी मात्रा मे ही ये वस्तुयें खरीदनी पडेंगी, जिससे आयातो मे कमी की आशा अपूर्ण रह जायेगी। साथ ही, यदि भारतीय वस्तुओ के लिए विदेशी माँग बेलोच है, तो अवमूल्यन करने पर भी भारतीय निर्यात कुछ विशेष सीमा तक न बढ सकेंगे, क्योंकि कीमतें चाहे कुछ भी हो, वही मात्रा, जो कि अब तक विदेशियो द्वारा ली जा रही थी, भविष्य मे भी ली जायेगी। इस प्रकार यदि आयातो और निर्यातो के लिए माँग बेलोच है, तो अवमूल्यन द्वारा साम्य की स्थापना सम्भव नही है वरन डर इस बात का है कि कही असाम्यता म अधिक वृद्धि न हो जाय। अवमूल्यन तब ही सफल हो सकता है जबकि दोनो देशो की माँगें लोचदार हो। ऐसी दशा मे ही आयातो मे कटौती की जा सकेगी तथा निर्यात भी बढाये जा सकेंगे।

निष्कर्ष के रूप मे हम यह कह सकते हैं कि भुगतान तुला की प्रतिकूल असाम्यता के सुधार के एक ढग के रूप मे अवमूल्यन का पर्याप्त औचित्य है। इसमे 'ह्रास' और 'स्थिर विनिमय' दोनो के ही लाभ सम्मिलित हैं। किन्तु इसकी सफलता के लिए कई अनुकूल घटको की उपस्थिति आवश्यक होती है। विशेषत अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के वातावरण मे ही यह सफल हो सकता है।

पौंड-स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन

मैकमिलन कमेटी, अथवा कमेटी ऑन फाइनेन्स एण्ड ट्रेड (Macmillan Committee or Committee on Finance & Trade) ने अपनी रिपोर्ट (१९३१) में महान् मन्दी के कारणों व उपचारों का विश्लेषण किया गया था। तब कमेटी ने मन्दी की समस्या के एक उपचार के रूप में अवमूल्यन के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया था। उसका यह कार्य सन् १९४९ में ब्रिटिश सरकार के कार्य से, जबकि स्टर्लिंग का ३०% अवमूल्यन किया गया था, बिल्कुल भिन्न था। नीचे हमने यह दिखाया है कि किस प्रकार अलग-अलग समयों पर, भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ होने से अलग-अलग कदम उठाने आवश्यक हो जाते हैं।

सन् १९३०-३१ की परिस्थिति—

सन् १९३०-३१ में कमेटी ने अवमूल्यन का सुझाव बिना संकोच अमान्य कर दिया था और यह मत प्रगट किया था कि 'समता मूल्य पर स्थिर चली आ रही किसी करैन्सी का सरकार द्वारा अचानक ही, बिना पूर्व सूचना दिये (जिससे कि विदेशी ऋणदाता अपनी सम्पत्ति हटा न सकें) अवमूल्यन करना एक अबुद्धिमत्तापूर्ण कार्य है।'[1] अपने मत के समर्थन में कमेटी ने निम्नलिखित तर्क दिये थे —

(१) यह उस विश्वास को, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, वाणिज्य और **वित्त का आधार है, चोट पहुँचायेगा**—अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास की एक आधार शिला यह सामान्य धारणा होती है कि सभी देश अपनी राष्ट्रीय करैंसियों का मूल्य स्थिर [illegible]ने का यत्न करेंगे और इसके ह्रास को तब ही मान्यता देंगे जबकि ऐसा ह्रास [illegible] रूप से हो जाय। उन दिनों अनेक देशों की करैंसियों का मूल्य समता (Par) से इतना नीचे गिर चुका था कि उन्हें पूर्व स्तर पर लौटाना एक महान् सामाजिक अन्याय होता अथवा इसके लिए अथक राष्ट्रीय प्रयत्न और बलिदान की आवश्यकता पड़ती। सन् १९२५ में इङ्गलैंड की दशा भी ऐसी ही थी। ब्रिटिश करैंसी के मूल्य में सन् १९२५ से पूर्व ही ह्रास हो गया था। यदि ऐसे समय में इङ्गलैंड स्टर्लिङ्ग के सम-मूल्य को घटाकर एक निचले स्तर पर स्थापित कर देता, तो उसका यह कदम तब उचित होता। किन्तु, कमेटी की राय में ब्रिटेन यदि सन् १९३१ में अवमूल्यन का निर्णय करता है, तो यह एक बिल्कुल ही भिन्न नीति अपनाने के सदृश्य होगा और इससे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-जगत को बहुत ठेस पहुँचेगी। कारण, जब विश्व के सबसे बड़े ऋणदाता देश की सरकार जान-बूझकर और एक नीति के

---

1 "Devaluation by any Government of a currency standing at its par value suddenly and without notice (as must be the case to prevent foreign creditors removing their property) is emphatically one of those things which are not expedient."

—*Macmillan Committee Report.*

परिपालन के रूप मे एक प्रात यह घोषणा करती है कि उसने अपनी करैंसी के मूल्य को 'समता' से, जिस पर वह अभी तक स्थिर था, कानून द्वारा, कम कर दिया है तो यह एक ऐसी घटना है, जो अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास को समाप्त कर देती है।

(२) सन् १९३०-३१ में जो समस्या प्रस्तुत थी वह व्यावसायिक संकटो और मूल्यो की विश्वव्यापी गिरावट से सम्बन्धित थी—यह सकट मौद्रिक एव अमौद्रिक दोनो ही प्रकार के घटको का परिणाम था। मुद्रा के मूल्य म परिवर्तन होना तो यथार्थ मे एक मामूली (minor) घटक था। व्यावसायिक मन्दी के अधिक महत्वपूर्ण (major) घटक निम्न थे—टेक्नोलॉजीकल परिवर्तनो (technological changes) के कारण लागत-स्थिति मे परिवर्तन होना, ऊचे सरक्षण कर लगाया जाना, जिनके कारण व्यापार के सहज प्रवाह मे बाधा पडने लगी थी, पूँजी के विशाल आवागमन, आदि। यदि ब्रिटेन ने, अन्य अनेक देशो की तुलना मे, अधिक हानि उठाई, तो इसका कारण उस देश मे कुछ अतिरिक्त घटको का विद्यमान होना था। अत उस समय सही उपचार (remedy) ऐसे कदम उठाना था जिनसे कि आन्तरिक एव अन्तराष्ट्रीय कीमतो म दृढता आये, किन्तु अवमूल्यन करना उचित कदम नही था, क्योकि इससे अन्य देश भी बदले के रूप मे अपनी करैंसियो का अवमूल्यन कर सकते थे।

(३) प्रस्तावित अवमूल्यन एक पर्याप्त उपचार नहीं था—विश्व मे कीमतें तेजी मे गिर रही थी और विश्व-मांग न्यूनतम बिन्दु तक घट गई थी। अत ब्रिटिश मुद्रा का अवमूल्यन कमेटी की राय मे, ब्रिटिश निर्यात उद्योगो की सहायता करने मे या बेकारी को किसी उचित सीमा तक दूर करने मे अधिक उपयोगी नही हो सकता था।

अत. कमेटी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि स्टर्लिंग का अवमूल्यन करने जैसा असाधारण उपाय कदम उठाने के तत्काल बाद ही जो स्थिति उदय होगी वह पूर्व स्थिति से भी कही अधिक खराब होगी।

सन् १९४९ की भिन्न परिस्थितियाँ—

सन् १९४९ की परिस्थितियाँ सन् १९३१ की परिस्थितियो से बिल्कुल भिन्न थी और यही कारण है कि जो उपचार सन् १९३१ मे अमान्य कर दिया गया था वही सन् १९४९ मे स्वीकार किया गया। ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित थी :—

(१) कीमतें ऊँचे स्तर पर थीं—अनेक देशो मे कीमतें वस्तुओ और सेवाओ की अत्यधिक कमी के कारण अधिक बढने की प्रवृत्ति दिखला रही थी।

(२) इङ्गलैंड का भुगतान-सन्तुलन इसके बहुत प्रतिकूल था—अन्य अनेक देशो के साथ ही साथ इगलैंड का भुगतान-सन्तुलन भी उत्तरी और मध्य अमेरिका के साथ भारी प्रतिकूल था और डालर की न्यूनता (Dollar scarcity) चरम सीमा पर पहुँच गई थी। सितम्बर १९४९ के पूर्व विनिमय दर १ पौंड=४·०३ डालर थी।

इस दर पर अमेरिकी वस्तुओं के लिये अंग्रेजी माँग वास्तव में बहुत अधिक थी और इसका भुगतान करना सम्भव नहीं था।

(३) **नियन्त्रण के प्रयोग के विरुद्ध आपत्तियाँ**—केवल नियन्त्रणों का प्रयोग करके ही चालू घाटे (current deficit) के बढ़ते हुए आकार को सीमित रखा जा सकता था। किन्तु आवश्यक नियन्त्रणों को ठीक से लागू करने में जो कठिनाइयाँ पैदा हुई वह बहुत अधिक थी क्योंकि बाजार शक्तियाँ विरोधी दिशा में सक्रिय थीं।

(४) **अन्य देशों ने भी स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन उचित बताया**—सन् १९४८ के अन्तिम दिनों में अमेरिका और कनाडा में अनेक व्यक्तियों को यह विश्वास हो गया था कि स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन करना आवश्यक है। उनकी राय में स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन होने से व्यापार को बढ़ावा मिलेगा एवं इसका स्तर और ढाँचा सुधर जायगा।

(५) **स्वर्ण कोषों में कमी होना**—सितम्बर १९४९ में ब्रिटेन के स्वर्ण व डालर कोष घटकर १३४० मि० डालर रह गये थे, जोकि अगस्त १९४८ की तुलना में लगभग एक तिहाई थे। अतः कोषों की स्थिति इतनी नाजुक थी कि ब्रिटिश सरकार के लिए अपनी स्थिति को सुधारने के हेतु कुछ ठोस उपाय करने का अवसर नहीं रह गया था।

संक्षेप में सन् १९४९ की डालर कठिनाइयों ने यह अभूतपूर्व मौद्रिक संकट उत्पन्न कर दिया कि सरकार को पौंड का ३०% अवमूल्यन करना ही पड़ा। अन्य देशों ने भी ब्रिटिश कार्यवाही के एक सप्ताह के भीतर ही अपनी करेन्सियों का अवमूल्यन कर दिया।

निष्कर्ष—अतः सन् १९३१ और सन् १९४९ की परिस्थितियाँ बुनियादी रूप से (basically) एक दूसरे से भिन्न थी। कमेटी ने सन् १९३१ की परिस्थितियों के सन्दर्भ में केवल यह मत प्रगट किया था कि उन दिनों अवमूल्यन करना कानूनी होते हुये भी विवेक सङ्गत नहीं था। वास्तव में, सन् १९३१ में, इङ्गलैंड ने विदेशियों द्वारा अपने स्वर्ण कोषों के विशाल आहरणों से विवश होकर स्वर्णमान का परित्याग कर दिया तथा पौंड-स्टर्लिङ्ग को अपना उचित स्तर खोजने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया। अन्य शब्दों में, पौंड स्टर्लिङ्ग का मूल्य ह्रास होने दिया गया। लेकिन, जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं अवमूल्यन और ह्रास आपस में बहुत मिलते जुलते है। इनमें अन्तर केवल यह है कि एक तो कानूनी कार्यवाही द्वारा लागू किया जाता है जबकि दूसरा विनिमय बाजार की माँग एवं पूर्ति सम्बन्धी शक्तियों की पारस्परिक प्रतिक्रिया द्वारा लागू होता है।

अधिमूल्यन
(Overvaluation)

जब किसी देश का मौद्रिक अधिकारी अपनी करेन्सी इकाई (currency unit)

का मूल्य उस स्तर से, जो कि अन्यथा स्वतन्त्र बाजार में प्रचलित होता, ऊँचा रखता है, तो ऐसी स्थिति को 'करेंसी का अधिमूल्यन' कहा जाता है।

करेन्सी के अधिमूल्यन को उचित ठहराने वाले कारण—

कोई देश अपनी करेन्सी का अधिमूल्यन क्यों करता है? इसके कई कारण हैं। प्रायः सभी कारण एक ही मुख्य परिस्थिति से उदय होते हैं, जो यह कि देश के व्यापारिक सम्बन्ध इस भाँति अस्त-व्यस्त अथवा असन्तुलित हो जाते हैं कि स्वतन्त्र बाजार में राष्ट्रीय करेंसी बहुत अधिक मात्रा में विक्रय के लिए प्रस्तुत की जावेगी जबकि इसके क्रय के लिए माँग इतनी नहीं होती। अब हम विभिन्न कारणों पर विस्तार से विचार करेंगे।

(१) अधिमूल्यन उस देश के लिए एक वाछनीय नीति है जिसे कि **अचानक ही विदेशों से भारी मात्रा में क्रय करना पड़े**। जब देश युद्ध में संलग्न होता है, तो उसके लिए निर्यात करना सम्भव नहीं रहता। इसके विपरीत, उसे बहुत अनिवार्य आयात करने पड़ते हैं। ऐसी दशा में, यदि विदेशी करेंसी के क्रय का अधिकार कठोरतापूर्वक प्रतिबन्धित न किया गया, तो विनिमय-दर में गम्भीर गिरावट आ जायेगी। इसी प्रकार, जब युद्ध खत्म होता है, तब युद्ध जर्जरित अर्थ-व्यवस्थाओं (economies) को अपने पुनर्निर्माण (reconstruction) सम्बन्धी कार्यों के लिए आयातों की बहुत आवश्यकता पड़ती है किन्तु साथ ही उनमें यह सामर्थ्य नहीं होती है कि वे निर्यात उत्पन्न करके इनका भुगतान कर सकें। ऐसी परिस्थितियों में, करेंसी का बाह्य मूल्य गिरने से दशा में कोई सुधार न होगा। न तो आयातों की आवश्यकता में कमी आ सकेगी और न निर्यात-क्षमता में वृद्धि हो सकेगी। केवल इतना होगा कि आयात अधिक मँहगे (costlier) हो जायेंगे तथा निर्यातों द्वारा इन्हें चुकता करना पहले से भी कठिन हो जावेगा। ऐसी दशाओं में, अधिमूल्यन की नीति अपनाना सरकार के लिये उचित है, क्योंकि इससे करेन्सी के बाह्य मूल्य में कोई तेज गिरावट (sharp fall) न आ सकेगी।

(२) **जब किसी देश को विशाल ऋण और ब्याज चुकाने हों तब भी अधिमूल्यन करना उचित है**। इसके प्रमाण में भारत का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में भारत ने अपनी विकास योजनाओं के अर्थ प्रबन्धन के हेतु इङ्गलैंड से कई ऋण लिये थे। इन पर उसे ब्याज तो देना ही पड़ता था, इसके अतिरिक्त प्रति वर्ष भारत सचिव के कार्यालय के व्यय भी, जो कि होम चार्जेज (Home charges) के नाम से प्रसिद्ध हैं, चुकाने पड़ते थे। ये भुगतान स्टर्लिङ्ग में किये जाते थे। अतः उन दिनों रुपये को पौंड में अधिमूल्यित रख कर भारत लाभान्वित हो सकता था।

(३) **आन्तरिक मुद्रा प्रसार का सामना करने के लिये भी एक देश अपनी करेंसी को अधिमूल्यित कर सकता है**। कारण, एक अधिमूल्यित करेंसी मुद्रा प्रसार

को तोड़ती है। इसके निम्न तीन कारण है —(i) इसका निर्यातो पर अप्रोत्साहन-कारी (discouraging) प्रभाव पड़ता है और इससे आन्तरिक आय स्तर भी कुप्रभावित होता है। (ii) यह आयातो को प्रोत्साहित करती है, और, इसलिये, व्ययो मे भी वृद्धि हो जाती है, एवं (iii) यह उन विदेशी सामग्रियो की कीमतो को, जो कि उत्पादन-लागत मे प्रवेश करती हैं, सस्ता कर देती है। फलत लागत-कीमत चक्र के ऊपर उठने पर रोक लगती है।

किन्तु, जब उसी समय पर अन्य देश भी मुद्रा प्रसार का अनुभव कर रहे हो, तो सम्बन्धित आयातक देश के लिये अपनी करैंसी का मूल्य बढाना (appreciation) आवश्यक हो जाता है। अर्थात्, उसे चाहिये कि स्वदेशी करैंसी को विदेशी करैंसियों मे और अधिक महगा बना दे, अन्यथा, अधिमूल्यन के मुद्रा विस्फीतिक प्रभाव (disinflationary effects) आयातो की बढती हुई लागतो से बेकार (offset) हो जायेंगे।

(४) जब किसी देश का व्यापार मुख्यत एक विदेश से हो और वह विदेशी देश प्रथम देश के निर्यातो पर अत्यधिक निर्भर रहता हो, तो भी उस देश के लिये करैंसी का अधिमूल्यन करना उचित कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध मे हम पाकिस्तान का उदाहरण दे सकते हैं। जिस समय सन् १९४९ मे स्टर्लिङ्ग गुट के अन्य सब देशो ने अपनी करैंसियो का अवमूल्यन कर दिया था तब वह अकेला ही आड़ा रहा और उसने अपनी करैंसी का अवमूल्यन नही किया। उसका यह एकाकी कार्य इस परिस्थिति की कल्पना पर आधारित था कि पाकिस्तानी जूट के लिये भारतीय माँग बेलोच (inelastic) है, जिससे पाकिस्तानी रुपये को अधिमूल्यित रखकर भारत को उसी माल के लिये पहले की अपेक्षा अधिक मूल्य चुकाने के लिए विवश किया जा सकता है। दूसरी ओर, इसके आयात मुख्यत भारत और स्टर्लिङ्ग गुट के अन्य देशो मे थे। अत उसने यह विचार किया कि पाकिस्तानी रुपये का अधिमूल्यन होने से उसके आयात सस्ते (cheaper) हो जायेंगे। किन्तु पाकिस्तान अपने उद्देश्यो मे सफल नही हुआ। इसका कारण यह नही था कि उसकी नीति गलत थी वरन् यह था कि जिस परिस्थिति को उसने अपनी नीति का आधार बनाया था वह यथार्थ मे विद्यमान नही थी, अर्थात् पाकिस्तानी जूट के लिये भारतीय माँग उतनी लोचदार प्रमाणित नही हुई जितनी कि उसने समझ ली थी।

निष्कर्ष—भुगतान संतुलन मे प्रतिकूलता अधिमूल्यन के कारण कभी कभी और भी गहरी (chronic) हो जाती है, क्योंकि कीमतें स्वदेश मे विदेशो की अपेक्षा ऊँची होने के कारण स्वदेश के निर्यात तो घट जाते है किन्तु आयातो मे वृद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त युद्ध और दुर्लभता (scarcity) के समयो मे करैंसी का अधिमूल्यन उसी प्रकार मे आवश्यक होता है जिस प्रकार से मदी और बाहुल्यता (plentitude) के समयो मे करैंसी का अल्पमूल्यन (undervaluation) आवश्यक है।

परीक्षा प्रश्न :

१ उन कारणो को बताइये जिनके आधार पर किसी देश की करैन्सी का अधिमूल्यन करना उचित ठहराया जा सकता है ?

२ उन कारणों की बताइये जिनके आधार पर करैन्सी के अवमूल्यन को उचित' कहा जा सकता है।

३ बाह्य करैन्सी के ह्रास द्वारा जो लाभ देश को होते हैं उनके स्वभाव की समीक्षा कीजिय ऐसे ह्रास से उसकी देनदार या लेनदार राष्ट्र के रूप मे स्थिति कैसे प्रभावित होती है ?

[Examine the nature of the advantages accruing to a country by the depreciation of the external currency How is her position as a debtor or a creditor nation effected by such depreciartion ?]

४ "स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन करने के समान अति उत्तेजनापूर्ण कदम उठाने के फलस्वरूप सकट की जो परिस्थिति अनिवार्य रूप से उत्पन्न हो जायेगी उसमे हम यह देखेंगे कि समस्या पहिले की अपेक्षा अधिक उलझ गई है।" १९४९ मे हुये पौड के अवमूल्यन के सन्दर्भ म इस कथन की आलोचना कीजिये ।

२३

विनिमय नियन्त्रण

(Exchange Control)

परिचय—

प्रथम महायुद्ध काल मे आर्थिक मामलो मे अधिकाधिक राज्य-हस्तक्षेप के पक्ष मे एक शक्तिशाली आन्दोलन विकसित हुआ, जिसने युद्ध की समाप्ति के बाद एक अधिक उग्र रूप धारण कर लिया। समाजवादी एव फासिस्ट नेता यह प्रचार कर रहे थे कि यह उनके राजनैतिक एव आर्थिक हित मे है कि कोषो के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन पर पूर्ण नियन्त्रण कर दिया जाय।[1] युद्धकाल मे और १६२६ तक युद्ध सलग्न राष्ट्रो तथा तटस्थ राष्ट्रो ने भी विनिमय का नियन्त्रण किया था। बाद मे जब विभिन्न देशो ने अपनी करैसियो मे स्थायित्व प्राप्त कर लिया, विनिमय नियन्त्रणो मे कुछ कमी आई। सन् १६२६ से १६३१ तक विनिमय सम्बन्धी अधिकाँश नियन्त्रण हटाये जा चुके थे किन्तु-युद्ध-पूर्व के समान विनिमय-स्वतन्त्रता नही लौट सकी। १६३१ की मदी मे तो विनिमय नियन्त्रणो को पुन. लागू कर दिया गया तथा इसके बाद जो घटनायें हुई और जो अन्तत द्वितीय महायुद्ध मे परिणित हो गई उन्होने तो विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी आन्दोलन को बहुत ही उग्र बना दिया। द्वितीय महा-युद्ध की अवधि मे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की स्वतन्त्रता पूर्णत समाप्त हो गई। इन वर्षो मे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध लगभग 'नही' के तुल्य थे। सरकारी नियन्त्रण को कुछ तो राजनैतिक कारणो से एव कुछ युद्ध विषयक कारणो से, उचित ठहराया जाता था। युद्धकाल मे यह आवश्यक हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय-भुगतान-स्थिति पर कठोर नियन्त्रण रखा जाय। इन दिनो भुगतान-प्रतिबन्ध आर्थिक कल्याण के सहायक बन गये थे।

युद्ध की समाप्ति के बाद विश्व के विभिन्न राष्ट्रो ने इस आवश्यकता का अनु-भव किया कि टूटे हुए आर्थिक सम्बन्ध पुन जोडे जायें। किन्तु, इसी समय कई देशो ने

---

1 The movement toward exchange control was "the dream of Socialists and Fascists in various countries to secure complete control over the international movement of funds in the interest of their political and econmic plans."—Paul Einzig : *Exchange Control*, p. 8.

सरकार नियन्त्रित आर्थिक-पुनर्निर्माण की नीति अपनाई। अधिकांश अर्द्ध-विकसित देश 'बलात् पूँजी निर्माण' की प्रक्रिया द्वारा अपनी अर्थव्यवस्था का शीघ्रातिशीघ्र निर्माण करने के लिए उत्सुक थे। उन्होंने विनिमय-भुगतानों पर नियन्त्रण लगाये। युद्ध के तत्काल बाद जो मुद्रा-प्रसारिक प्रवृत्तियाँ बलवती हुई उन्होंने भी सरकारों को विनिमय पर नियन्त्रण लगाने हेतु विवश किया। इस प्रकार, सन् १९४५ से १९५० तक तृतीय अवधि में प्रतिबन्ध एक सामान्य बात हो गई और विनिमय की स्वतन्त्रता एक अपवाद (exception) मात्र रह गई।

सन् १९५० से प्रारम्भ होने वाली चौथी अवधि में शनैः शनैः विनिमय प्रतिबन्ध ढीले किये जाने लगे। यद्यपि अनेक विकसित देशों ने विनिमय प्रतिबन्ध हटा लिए हैं तथापि अब हम भी प्रथम महायुद्ध के पूर्व के प्रतिबन्ध रहित युग में जैसा कि स्वर्णमान के समय में था नहीं पहुँच पाये हैं।[1]

विनिमय नियन्त्रण का अर्थ

हैबरलर (Haberler) के अनुसार, "विनिमय नियन्त्रण का आशय विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों के स्वतन्त्र कार्यकलाप को समाप्त करके वहाँ राजकीय नियमन की स्थापना करना है।"[2] पूर्ण विनिमय नियन्त्रण (full-fledged system of exchange control) के द्वारा विदेशी विनिमय बाजारों पर पूर्ण सरकारी नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। निर्यातों एवं अन्य स्रोतों से जो विदेशी विनिमय प्राप्त हो वह सब विनिमय-नियन्त्रण-अधिकारियों के सुपुर्द कर देना पड़ता है। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान लेने-देने के कार्य सरकारी हाथों में केन्द्रित हो जाते हैं। बाद में, विदेशी विनिमय की उपलब्ध पूर्ति का, राष्ट्रीय आवश्यकताओं में एक प्राथमिकता क्रम (scheme of priority) के अनुसार, विभिन्न लाइसेंस, प्राप्त आयातकों में, विभाजन कर दिया जाता है। पूँजी के निर्यात प्रायः निषिद्ध (prohibited) होते हैं तथा केवल आवश्यक वस्तुओं के आयात की ही अनुमति दी जाती है। विलास एवं अनावश्यक वस्तुयें देश की आयात सूची में स्थान नहीं पाती है।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य

सरकारों ने विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनाई है। प्रमुख उद्देश्य नीचे समझाये गये हैं —

(१) पूँजी की 'दौड़' को रोकने के लिए—यदि पूँजी की, अचानक ही एक देश से दूसरे देशों में, विशाल मात्राओं में, जाने की छूट दी जाय, तो इससे उस देश के स्वर्ण व विदेशी-विनिमय-कोष एक बहुत ही अल्पकाल में खत्म हो जायेंगे।

---

1 IMF, 1964 Report.

2 Exchange controll "is the state regulation excluding the free play of economic forces from the foreign exchange market" —Haberler : *The Thoery of International Trade*, p 83

अत ऐसे आवागमनो को विनिमय नियन्त्रण द्वारा रोकना आवश्यक है। सोशलिस्ट व फासिस्ट सरकारो ने भी इसी उद्देश्य से विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनाई थी।

(२) **पर्याप्त विदेशी मुद्रा उपलब्ध करना**—विभिन्न देश, द्वितीय महायुद्ध की अवधि की भाँति, विनिमय नियन्त्रण इस उद्देश्य से भी लागू करते है कि उनका विदेशी-मुद्रा कोष पर्याप्त बना रहे जिससे कि विदेशो से आवश्यक वस्तुये खरीदने मे कभी कोई कठिनाई न हो।

(३) **विभिन्न करेंन्सियो के मध्य सम्बन्धो को स्थायी रखने के लिये**—कुछ सरकारों ने अपनी इस इच्छा के कारण, कि उनकी और अन्य देशो की करेंसियों के मध्य सम्बन्ध स्थायी बन रहे, विनिमय नियन्त्रण प्रचलित किया है। उदाहरणार्थ, सन् १९३१ म, जब इङ्गलैंड ने स्वर्णमान का खण्डन कर दिया था तब, स्टर्लिङ्ग-गुट के सदस्य देशो ने पौंड-स्टर्लिङ्ग मे अपनी करेंसियो के मूल्य स्थायी रखने की दृष्टि से ही विनिमय नियन्त्रण लागू किये थे।

(४) **शत्रु राष्ट्रों द्वारा क्रय शक्ति का प्रयोग रोकने के लिये**—युद्धकाल मे विनिमय नियन्त्रण इस दृष्टि से किया जाता था कि शत्रु देश को अथवा उसके एजेंटो को, जो कि तटस्थ देशो मे या स्वय कन्ट्रोल लगाने वाले देशो म ही छिप कर रहते है, क्रय शक्ति का प्रयोग करने मे रोका जाय। इस हेतु देश की बैंको मे शत्रु राष्ट्र के निवासियों की जमा सम्पत्तियाँ जब्त कर ली जाती थी।

(५) **मूलधन और ब्याज के भुगतान के लिये विदेशी करेंन्सियां प्राप्त करना**—इस उद्देश्य ने भी अनेक ऋणी सरकारो को सन् १९२० और सन् १९३० की मध्यावधि मे विनिमय नियन्त्रण लागू करने के लिये प्रेरित किया। चूँकि उन्हे पुराने बकाया ऋण चुकाने हेतु नये ऋण नही मिल पाते थे। अत वे अपने निर्यात-आधिक्य (export surplus) पर निर्भर थे, जोकि विनिमय नियन्त्रण द्वारा ही उत्पन्न किया जा सकता था।

(६) **अपनी करेंसियों का अधिमूल्यन करने के लिए**—एक देश अपनी करेंसी का अधिमूल्यन करने के उद्देश्य से भी विनिमय नियन्त्रण की नीति अपना सकता है। करेंन्सी का अधिमूल्यन करने पर युद्ध कार्य अथवा नागरिक उपभोग के हेतु आवश्यक वस्तुयें विदेशो से, सस्ती कीमत पर आयात की जा सकेंगी। विदेशी ऋण को अधिक सस्ते ढग से चुकाने के लिए भी देश अपनी करेंसी का अधिमूल्यन कर सकता है।

(७) **स्वदेशी करेंसी का अवमूल्यन करने के लिये**—एक देश अपनी करेंसी का अवमूल्यन करने के उद्देश्य से भी विनिमय नियन्त्रणो को लागू करने पर विवश हो सकता है, जिससे उसके निर्यात बढ सकें तथा आयातों म कमी आ सके। उदाहरणार्थ सन् १९२०-३० के मध्य, इसी उद्देश्य को सामने रखकर जर्मनी और अन्य देशों ने अपने यहाँ विनिमय नियन्त्रण प्रचलित किये थे।

(८)**विनिमय दरो में अस्थायी उतार-चढाव रोकने के लिये**—इस उद्देश्य

से विनिमय नियन्त्रण की नीति को विनिमय समीकरण कोष की स्थापना करने के साथ ही साथ, ब्रिटेन ने सन् १९३२ व सन् १९३९ की मध्यावधि में अपनाया था।

विनिमय नियन्त्रण के शान्तिकालीन एवं युद्धकालीन उद्देश्य—

युद्धकाल में विनिमय नियन्त्रण लागू करने का उद्देश्य देश के विदेशी मुद्रा सम्बन्धी साधनों को मुख्यतः युद्ध सामग्री के क्रय की सुविधा के लिये सुरक्षित रखना है। शत्रु द्वारा क्रय शक्ति का प्रयोग रोकने के लिये भी विनिमय नियन्त्रण लगाये जाते हैं। इसके विपरीत शान्तिकाल में विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य देश के आर्थिक विकास एवं पुनर्वास के लिये अति आवश्यक मशीनें व अन्य साज सामान खरीदने के लिए विदेशी मुद्रा का प्रयोग मितव्ययिता से करना है। निर्यात वृद्धि के लिये भी विनिमय नियन्त्रण किया जाता है। देशी पूँजी को बाहर जाने से रोकने तथा विदेशी पूँजी को आकर्षित करने हेतु भी विनिमय नियन्त्रण प्रचलित किये जाते हैं। हाँ, विनिमय नियन्त्रण का विस्तार युद्धकाल में तो अधिक होता है, शान्तिकाल में उतना नहीं।

विनिमय नियन्त्रण के ढङ्ग

विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न ढङ्गों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(I) प्रत्यक्ष एवं (II) अप्रत्यक्ष।

(I) विनिमय नियन्त्रण के प्रत्यक्ष ढंग—

विनिमय नियन्त्रण के प्रत्यक्ष ढंग (direct methods) वह है जोकि सरकारों के द्वारा, विनिमय दर पर सप्रभाविक नियन्त्रण रखने के हेतु अपनाये जाते हैं। वे ढंग निम्नलिखित हैं —

(१) हस्तक्षेप (Intervention)—हस्तक्षेप का ढंग स्वदेश की करेन्सी के क्रय और विक्रय के रूप में होता है। यह क्रय विक्रय कार्य सरकार या इससे अधिकार प्राप्त संस्था (जैसे केन्द्रीय बैंक) द्वारा किया जाता है। इसका उद्देश्य विदेशी विनिमय बाजार में, विदेशी करेन्सी के विरुद्ध, स्वदेशी करेन्सी की विनिमय-दर को दृढ़ बनाना या गिराना है। हस्तक्षेप में प्रायः विनिमय दर को ऊँचा या नीचा टाँकने के कार्यकलाप भी सम्मिलित होते हैं। यदि किसी विशेष बिन्दु पर विनिमय दर का बाँधा (या टाँका) न जाय, तो विनिमय दर कुछ भिन्न होगी, वह नहीं जो कि टाँकने पर होती है। विनिमय दरों को किसी बिन्दु पर टाँकने (peg) का आशय दरों को स्थायी रखने से है।

जब सरकार विनिमय दर को एक ऐसे ऊँचे (या नीचे) स्तर पर टाँकना (peg) चाहती है जो कि हस्तक्षेप के अभाव में, माँग और पूर्ति की शक्तियों के आधार पर, सम्भव नहीं है, तो यह आवश्यक है कि वह अपनी करेन्सी के बदले में विदेशी करेन्सी (या विदेशी करेन्सियों के बदले में अपनी करेन्सी) अनिश्चित समय तक देते रहने में समर्थ हो। सरकार की यह सामर्थ्य इसके विदेशी करेन्सियों के कोष

अत ऐसे आवागमनो को विनिमय-नियन्त्रण द्वारा रोकना आवश्यक है। सोशलिस्ट व फासिस्ट सरकारो ने भी इसी उद्देश्य से विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनाई थी।

(२) **पर्याप्त विदेशी मुद्रा उपलब्ध करना**—विभिन्न देश, द्वितीय महायुद्ध की अवधि की भाँति, विनिमय नियन्त्रण इस उद्देश्य से भी लागू करते है कि उनका विदेशी-मुद्रा कोष पर्याप्त बना रहे जिससे कि विदेशो से आवश्यक वस्तुयें खरीदने में कभी कोई कठिनाई न हो।

(३) **विभिन्न करैन्सियों के मध्य सम्बन्धो को स्थायी रखने के लिये**—कुछ सरकारो ने अपनी इस इच्छा के कारण, कि उनकी और अन्य देशो की करैंसियो के मध्य सम्बन्ध स्थायी बने रहे, विनिमय-नियन्त्रण प्रचलित किया है। उदाहरणार्थ, सन् १६३१ म, जब इङ्गलैंड ने स्वर्णमान का खण्डन कर दिया था तब, स्टर्लिङ्ग-गुट के सदस्य देशो ने पौंड-स्टर्लिङ्ग मे अपनी करैंसियो के मूल्य स्थायी रखने की दृष्टि से ही विनिमय नियन्त्रण लागू किये थे।

(४) **शत्रु राष्ट्रो द्वारा क्रय शक्ति का प्रयोग रोकने के लिये**—युद्धकाल मे विनिमय नियन्त्रण इस दृष्टि से किया जाता था कि शत्रु देश को अथवा उसके एजेंटो को, जो कि तटस्थ देशो मे या स्वय कन्ट्रोल लगाने वाले देशो मे ही छिप कर रहते है, क्रय शक्ति का प्रयोग करने से रोका जाय। इस हेतु देश की बैंको मे शत्रु राष्ट्र के निवासियो की जमा सम्पत्तियाँ जब्त कर ली जाती थी।

(५) **मूलधन और ब्याज के भुगतान के लिये विदेशी करैन्सियाँ प्राप्त करना**—इस उद्देश्य ने भी अनेक ऋणी सरकारो को सन् १६२० और सन् १६३० की मध्यावधि मे विनिमय नियन्त्रण लागू करने के लिये प्रेरित किया। चूँकि उन्हे पुराने बकाया ऋण चुकाने हेतु नये ऋण नही मिल पाते थे। अत वे अपने निर्यात-आधिक्य (export surplus) पर निर्भर थे, जोकि विनिमय नियन्त्रण द्वारा ही उत्पन्न किया जा सकता था।

(६) **अपनी करैंसियो का अधिमूल्यन करने के लिए**—एक देश अपनी करैंसी का अधिमूल्यन करने के उद्देश्य से भी विनिमय नियन्त्रण की नीति अपना सकता है। करैन्सी का अधिमूल्यन करने पर युद्ध कार्य अथवा नागरिक उपभोग के हेतु आवश्यक वस्तुयें विदेशो से, सस्ती कीमत पर आयात की जा सकेंगी। विदेशी ऋण को अधिक सस्ते ढग से चुकाने के लिए भी देश अपनी करैंसी का अधिमूल्यन कर सकता है।

(७) **स्वदेशी करैंसी का अवमूल्यन करने के लिये**—एक देश अपनी करैंसी का अवमूल्यन करने के उद्देश्य से भी विनिमय नियन्त्रणों को लागू करने पर विवश हो सकता है, जिससे उसके निर्यात बढ सके तथा आयातो मे कमी आ सके। उदाहरणार्थ सन् १६२०-३० के मध्य, इसी उद्देश्य को सामने रखकर जर्मनी और अन्य देशो ने अपने यहाँ विनिमय नियन्त्रण प्रचलित किये थे।

(८) **विनिमय दरो में अस्थायी उतार-चढाव रोकने के लिये**—इस उद्देश्य

से विनिमय नियन्त्रण की नीति, जो, विनिमय समीकरण कोष की स्थापना करने के साथ ही साथ, ब्रिटेन ने सन् १९३२ व सन् १९३९ की मध्यावधि में अपनाया था।

विनिमय नियन्त्रण के शान्तिकालीन एवं युद्धकालीन उद्देश्य—

युद्धकाल में विनिमय नियन्त्रण लागू करने का उद्देश्य देश के विदेशी मुद्रा सम्बन्धी साधनों को मुख्यतः युद्ध सामग्री के क्रय की सुविधा के लिये सुरक्षित रखना है। शत्रु द्वारा क्रय शक्ति का प्रयोग रोकने के लिये भी विनिमय नियन्त्रण लगाये जाते हैं। इसके विपरीत शान्तिकाल में विनिमय नियन्त्रणों का उद्देश्य देश के आर्थिक विकास एवं पुनर्वास के लिये अति आवश्यक मशीनें व अन्य साज-सामान खरीदने के लिए विदेशी मुद्रा का प्रयोग मितव्ययिता से करना है। निर्यात वृद्धि के लिये भी विनिमय नियन्त्रण किया जाता है। देशी पूँजी को बाहर जाने से रोकने तथा विदेशी पूँजी का आकर्षित करने हेतु भी विनिमय नियन्त्रण प्रचलित किये जाते हैं। हाँ, विनिमय नियन्त्रण का विस्तार युद्धकाल में तो अधिक होता है, शान्तिकाल में उतना नहीं।

विनिमय नियन्त्रण के ढङ्ग

विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न ढङ्गों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(I) प्रत्यक्ष एवं (II) अप्रत्यक्ष।

(I) विनिमय नियन्त्रण के प्रत्यक्ष ढंग—

विनिमय नियन्त्रण के प्रत्यक्ष ढंग (direct methods) वह हैं जोकि सरकारों के द्वारा, विनिमय दर पर सुप्रभाविक नियन्त्रण रखने के हेतु अपनाये जाते हैं। ये ढंग निम्नलिखित हैं —

(१) हस्तक्षेप (Intervention)—हस्तक्षेप का ढंग स्वदेश की करेंसी के क्रय और विक्रय के रूप में होता है। यह क्रय-विक्रय कार्य सरकार या इसकी अधिकार प्राप्त संस्था (जैसे केन्द्रीय बैंक) द्वारा किया जाता है। इसका उद्देश्य विदेशी विनिमय बाजार में, विदेशी करेंसी के विरुद्ध, स्वदेशी करेंसी की विनिमय-दर को दृढ़ बनाना या गिराना है। हस्तक्षेप में प्रायः विनिमय दर को ऊँचा या नीचा टाँकने के कार्यकलाप भी सम्मिलित होते हैं। यदि किसी विशेष बिन्दु पर विनिमय दर को बाँधा (या टाँका) न जाय, तो विनिमय दर कुछ भिन्न होगी, वह नहीं जो कि टाँकने पर होती है। विनिमय दरों को किसी बिन्दु पर टाकने (peg) का आशय दरों को स्थायी रखने से है।

जब सरकार विनिमय दर को एक ऐसे ऊँचे (या नीचे) स्तर पर टाकना (peg) चाहती है जो कि हस्तक्षेप के अभाव में, माग और पूर्ति की शक्तियों के आधार पर, सम्भव नहीं है, तो यह आवश्यक है कि वह अपनी करेंसी के बदले में विदेशी करेंसी (या विदेशी करेंसियों के बदले में अपनी करेंसी) अनिश्चित समय तक देते रहने में समर्थ हो। सरकार की यह सामर्थ्य इसके विदेशी करेंसियों के कोष

पर निर्भर है।[1] जबकि सरकार की विदेशी करैंसी देने की शक्ति उपलब्ध कोष की मात्रा से सीमित होती है, स्वदेशी करैंसी देने की शक्ति इस तरह सीमित नहीं होती। यही कारण है कि सरकार स्वदेशी करैंसी का मूल्य नीचा टाँकने में, ऊँचा टाँकने की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ स्थिति रखती है।

सन् १९३२ में जो विनिमय स्थायीकरण कोष (*Exchange Stabilisation* Funds) इङ्गलैण्ड में स्थापित किए गए थे, उनका उद्देश्य पौण्ड स्टर्लिङ्ग के मूल्य को, स्वदेशी और विदेशी करैंसियों के क्रय-विक्रय कार्यकलापों द्वारा, एक स्थिर दर पर टाँकना था। इन कोषों के बारे में विस्तृत विवरण इसी अध्याय में आगे दिया गया है।

(२) विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restriction)—'विनिमय प्रतिबन्ध' का आशय विनिमय बाजार में स्वदेशी करैंसी की सप्लाई को अनिवार्य रूप से कम करना है। ऐसा कई तरीकों से किया जा सकता है, जैसे—अवरुद्ध खातों द्वारा बहुमुखी विनिमय दरों द्वारा, आदि। ऋणदाता देशों के **'खातों को अवरुद्ध करने का ढङ्ग'** (blocking the accounts) कुछ देनदार देशों (जैसे जर्मनी) द्वारा सन् १९३१ के वित्तीय सङ्कट में अपनाया गया था। इनका उद्देश्य अपने दुर्बल विदेशी विनिमय कोषों की, जो कि विदेशी ऋणों का, यकायक ही विशाल मात्रा में, भुगतान करने से शीघ्रतापूर्वक खाली होते जा रहे थे, रक्षा करना था। अत उन्हें पूँजी के निकालने पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। इन देशों में देनदारों ने अपने विदेशी ऋणों का भुगतान, केन्द्रीय बैंक में विदेशी देश के नाम से खोले गये खाते में, चुका दिया। जो धन इस प्रकार से चुकाया गया वह अवरुद्ध कर दिया गया अर्थात् उसे विदेशी लेनदार अपने देश की करैंसियों में परिणित नहीं कर सकते थे। इस प्रकार विदेशी लेनदारों को बहुत कठिनाई हुई, क्योंकि वे अपने द्रव्य का इच्छानुसार प्रयोग नहीं कर सकते थे।

बहुमुखी विनिमय दरें (Multiple exchange rates) के अन्तर्गत, विभिन्न वस्तुओं के आयात और निर्यात के लिए पृथक-पृथक विनिमय दरें नियत करदी जाती है। इसका उद्देश्य दुर्लभ विदेशी मुद्रा की आय को अधिक से अधिक बढ़ाना है,

---

1 "A government that is pegging' its currency must be in a position to pay out foreign currencies and receive its own currency; a government that is 'pegging down' its currency must be in a position to pay out its own currency and receive foreign currencies, and both must be prepared to go indefinitely unless they want either to resort to restriction or to fail in their purpose of controlling the rate of exchange."

—**Geoffrey Crowther : *An Outline of Money*, p 249**

जो निर्यात को बढ़ाकर तथा आयात घटाकर ही सम्भव है। लगभग ५० देशों ने एक या दूसरे ढंग से बहुमुखी विनिमय दरों का प्रयोग किया है।

(३) विनिमय निकासी समझौते (Exchange Clearing Agreements)—इस युक्ति का प्रयोग सन् १९२०-३० के मध्य अनेक योरोपीय देशों ने अपनी भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी स्थिति पर पड़ने वाले अत्यधिक दबाव को घटाने के हेतु किया था। विनिमय नियन्त्रण के इस ढंग में विभिन्न देशों के व्यापारियों के पारस्परिक भुगतानों के आदान-प्रदानों का सन्तुलन करना उन देशों के केन्द्रीय बैंकों की जिम्मेदारी बन जाता है। A देश का केन्द्रीय बैंक B देश के केन्द्रीय बैंक के नाम से अपने यहां खाता खोल देता है। A देश में कुछ व्यक्ति B देश के लेनदार और कुछ व्यक्ति B देश के देनदार होते हैं। A देश के देनदार (अर्थात् आयात कर्त्ता) अपने विदेशी भुगतान अपने केन्द्रीय बैंक में जमा करा देंगे, जो फिर A देश में लेनदारों (निर्यात-कर्त्ताओं) को स्वदेशी करैंसी में ही भुगतान कर देगा। इसी प्रकार B देश में केन्द्रीय बैंक A देश के केन्द्रीय बैंक के नाम से अपने यहाँ एक खाता खोलता है। B देश में देनदार (आयात-कर्त्ता) अपने विदेशी दायित्वों का भुगतान केन्द्रीय बैंक में जमा करा देंगे जो फिर इसमें से B देश में लेनदारों (निर्यात कर्त्ताओं) को स्वदेशी करैन्सी में भुगतान कर देगा। संक्षेप में आयातकर्त्ता अपने आयातों का मूल्य एक केन्द्रीय खाते में जमा कराते हैं और फिर इन रकमों का प्रयोग स्वदेश के निर्यातकर्त्ताओं को चुकाने हेतु किया जाता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समझौते दुर्लभ विदेशी विनिमय की चिन्ता किये बिना ही पूर्ण होते रहते हैं।

स्पष्टतः, प्रस्तुत, योजना के अन्तर्गत, आयात और निर्यात व्यापार के सचालन का कार्य पूर्णतः केन्द्रीय बैंकिंग अधिकारी के हाथों में दे दिया जाता है और उस पर राज्य का कठोर नियन्त्रण होता है। यही नहीं, उक्त योजना में यह मानकर चला जाता है कि सम्बद्ध देश अपने व्यापारिक कार्य-कलापों को इस ढंग से सचालित करेंगे कि उनके कुल आयात मूल्य और कुल निर्यात मूल्य आपस में सन्तुलित हो जाये ताकि भुगतानों के लेने-देने की आवश्यकता ही न पड़े।

यद्यपि विशुद्ध विनिमय हस्तक्षेप की तुलना में विनिमय निकासी की टेकनीक श्रेष्ठ है क्योंकि यह विश्व व्यापार के प्रसार को उत्साहित करती है तथापि इसकी निम्न प्रमुख दुर्बलतायें भी हैं —(i) चूँकि इसमें एक देश को अन्य देशों से वस्तुयें खरीदने की छूट नहीं होती, वरन् वह दूसरे देश से, जोकि समझौते का पक्ष है, खरीदने के लिए विवश होता है इसलिए इनमें जो देश आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ होते हैं वे उन देशों का जो आर्थिक दृष्टि से दुर्बल हैं, शोषण करने लगते हैं (ii) अपने द्विपक्षी स्वभाव के कारण विनिमय निकासी समझौते व्यापार को असाधारण दिशाओं में मोड़ देते हैं तथा समझौते वाले देशों को, उन देशों के हितों को बलिदान पर, जो कि समझौते में सम्मिलित नहीं हैं लाभ पहुँचाते हैं, (iii) वे विदेशी व्यापार की मात्रा को भी घटा देते हैं और विदेशी-विनिमय में हस्तक्षेप करते हैं, (iv) निर्यातकों को

भुगतान मिलने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, क्योंकि उनके देश का केन्द्रीय बैंक उन्हे तब ही भुगतान देता है जबकि उसे विदेशी आयातकर्त्ताओं से, निर्यातकर्त्ताओं के लिए भुगतान मिल जाय, एवं (v) सभी प्रकार के विदेशी विनिमय सम्बन्धी भुगतान 'केन्द्रित' रखने पड़ते हैं अन्यथा यह योजना सफल नहीं हो सकती है।

(४) भुगतान समझौते (Payment Agreements)—विनिमय नियन्त्रण का यह ढग विनिमय निकासी समझौते की योजना के अन्तर्गत अनुभव की गई कुछ कठिनाइयों के निवारणार्थ प्रचलित किया गया था। उदाहरणार्थ, भुगतान विषयक विलम्ब का दोष इस नवीन रीति के अन्तर्गत सहज ही खत्म हो जाता है, क्योंकि दोनों देश परस्पर साख-सुविधायें स्थापित कर लेते है। किन्तु भुगतान समझौतों की निम्न दो दुर्बलतायें भी हैं —(i) लाइसेन्स-प्राप्त भुगतानों के सम्बन्ध में समझौता-खाता को केवल डेबिट या क्रेडिट ही किया जा सकता है, (ii) खातों में यदि कोई शेष अदत्त रह जाय, तो उसका प्रयोग एक ही साझेदार द्वारा दूसरे साझेदार से वस्तुये क्रय करने में ही किया जा सकता है।

(५) अन्तरण विलम्ब काल (Transfer Moratoria)—विनिमय नियत्रण के इस ढग मे विलम्बकाल में विदेशी लेनदारों या निर्यातकों को भुगतान करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। इस उपाय का प्रयोग करके सरकार भुगतानों की समस्या का एक अस्थाई समाधान खोजने में समर्थ हो जाती है। आयातक और ऋणी अपने देश की करेंन्सी में भुगतान करते है, जो एक अधिकृत बैंक के पास डिपॉजिट रहते हे। विलम्बकाल की समाप्ति के बाद, जिसमे सरकार विदेशी विनिमय की समस्या को हल करके अपनी स्थिति सुधार लेती है, ये डिपाजिटस विदेशी निर्यातकों और लेनदारों के प्रति मुक्त कर दिये जाते हैं। महान मन्दी के युग मे यूरोप के अनेक देशों ने अपने राष्ट्रजनों द्वारा विदेशी लेनदारों और नियातकों को भुगतान भेजने पर विलम्बकाल सम्बन्धी आदेश जारी किये थे।

(६) स्वर्ण नीति (Gold Policy)—स्वर्ण के क्रय और विक्रय की कीमतों में छल (Manipulate) करके भी विनिमय नियन्त्रण प्रचलित किया जा सकता है। ऐसे उपाय विनिमय दरों को स्वर्ण-बिन्दुओं के माध्यम से प्रभावित करते है। उदाहरणार्थ, सन् १९३६ में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका ने स्वर्ण के क्रय विक्रय की कीमतों को एक लक्ष्य स्तर पर नियत करते हुए विनिमय दरों के नियन्त्रण का प्रयास किया।

(II) विनिमय नियन्त्रण के अप्रत्यक्ष ढङ्ग—

विनिमय नियन्त्रण के अप्रत्यक्ष ढग वे हैं जो कि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन को नियमित करने हेतु अपनाये जाते हैं। ऐसे ढग निम्नलिखित हैं —

(१) ब्याज दरों में परिवर्तन—किसी देश मे ब्याज दर बढने से वहाँ विदेशों से बैंकिंग कोष खिचने लगने हैं और स्वदेशी विनियोजक भी देश मे ही अपनी पूँजी लगाते है। इसमे स्वदेशी करेंसी के लिए माँग बढ जाती है और परिणाम-

स्वरूप विनिमय दर इसके पक्ष में हो जाती है। सन् १६२४ और सन् १६३० के मध्य जर्मनी ने इसी तरह से विशाल कोष आकर्षित किये थे।

(२) आयात कर—सरक्षण कर तथा कोटा-निर्धारण अप्रत्यक्ष विनिमय नियन्त्रण के प्रमुख साधन है। किन्तु, आयात कर विनिमय दरो का नियन्त्रण करने तथा घरेलू उद्योगों को सरक्षण (Protecion) प्रदान करके इन्हे प्रोत्साहित करने हेतु भी लगाये जा सकते है। केवल पहली दशा मे ही, जबकि इन्हे विनमय दरो पर नियन्त्रण रखने की दृष्टि से लगाया जाय, विनिमय नियन्त्रण का ढग मानना चाहिए।

(३) निर्यात सहायता—निर्यात सहायता भी विनिमय नियन्त्रण का एक ढग है। आयात करो के सदृश्य इसे भी विनिमय नियन्त्रण का ढग तब ही समझा जाना चाहिए जब कि यह विदेशी विनिमय की दृष्टि से दी जाय। यदि केवल निर्यातो को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से ही दी जा रही है तो इसे विनिमय नियन्त्रण का साधन नही मानना चाहिए।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विनिमय नियन्त्रण के प्रत्येक ढङ्ग मे अपने-अपने गुण-दोष है। अत किसी विशेष परिस्थिति मे कौनसा या कौन से ढङ्ग अपनाये जायें इसका उत्तर उस परिस्थिति की समस्त विशेषताओं का विचार करने के बाद ही दिया जा सकता है। वास्तविकता यह है कि विनिमय दरो पर प्रभावशाली नियन्त्रण करने के हेतु प्राय एक से अधिक ढङ्गो के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है।

विनिमय समानीकरण कोष

विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Equalisation Fund or Account)) सम्पत्तियो का यह सग्रह है जो कि विनिमय दरो के अवाछनीय परिवर्तनो को रोकने हेतु विनिमय बाजार मे हस्तक्षेप करने के लिए एक केन्द्रीय सत्ता नियन्त्रण के अधीन रखा जाता है।

कोष के उद्देश्य—

प्रथम महायुद्ध के बाद स्वर्णमान की पुन स्थापना तो हो गई लेकिन वह पहले की भांति सहज ढङ्ग से कार्य न कर सका। कारण, प्रथम महायुद्ध के बाद की परिस्थितियां युद्ध पूर्व परिस्थितियो से बहुत भिन्न हो गई थी तथा देशों द्वारा स्वर्णमान के खेल के नियमो का पालन नही किया गया था। फलत इङ्गलैंड ने सितम्बर १६३१ मे इसका परित्याग कर दिया। स्वर्णमानो के परित्याग के बाद स्टर्लिङ्ग की विनिमय दरो मे बहुत उतार-चढाव होने लगे, जिन्हे रोकने हेतु इङ्गलैंड ने ब्रिटिश ट्रेजरी के सचालन प्रबन्ध मे एक विनिमय समानीकरण कोष स्थापित किया।

कोष का संचालन—

कोष के साधनो मे सरकार द्वारा प्रचलित ट्रेजरी बिल्स और खुले बाजार व अन्य देशो की केन्द्रीय बैंको से खरीदा गया सोना सम्मिलित था। प्रारम्भ मे

सरकार ने कोप को १७ ५ करोड पौंड के बिल्स दिए (जिनकी राशि सन् १६३७ तक ५७ ५ करोड पौंड हो गई)। इन्हे प्रति तीन माह के बाद रिन्यू कराया जाता था।

जिन दिनो व्यापार सन्तुलन की अनुकूलता के कारण लन्दन मे विदेशी कोषो (स्वर्ण सहित) के विशाल आगमन होते थे, उन दिनो 'कोष' स्टर्लिङ्ग देकर इन्हे खरीद लिया करता था, और भविष्य मे, जब अदृश्य या दृश्य निर्यातो के भुगतान मे लन्दन पहुँचने वाले विदेशी कोषो (मुद्रा व स्वर्ण) की चालू पूर्ति की तुलना मे इनकी माँग अधिक होने लगती थी (जिससे स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर मे गिरावट का खतरा पैदा हो जाता था) तो कोष सचित विदेशी मुद्रा का विक्रय करके स्टर्लिङ्ग मूल्य को गिरने से बचाता था।

आरम्भ मे कोष स्टर्लिङ्ग के बदले मे डालर खरीदता था क्योकि सन् १६३३ तक यह स्वर्ण मे परिवर्तनशील थे। सन् १६३३ मे अमेरिका ने भी स्वर्णमान छोड दिया। तब कोष फासीसी फ्रैंक खरीदने लगा। किन्तु फ्रास भी सन् १६३६ मे स्वर्णमान से हट गया। तत्पश्चात् इङ्गलैड, फ्रास एव अमेरिका ने आपस मे एक मौद्रिक समझौता किया जिसके आधीन प्रत्येक सदस्य देश को यह अधिकार प्राप्त हुआ कि वह दूसरे देश की प्राप्त-मुद्रा को, २४ घण्टे के अन्दर, उस देश की केन्द्रीय बैंक से सोने म बदल ले।

कोष की सीमायें—

कोष के साधन सीमित होते थे। अत वह स्वदेशी और विदेशी करैंसियो की सापेक्षिक कीमतो को केवल कुछ सीमाओ के अन्दर ही प्रभावित कर सकता था। उदाहरण के लिए यदि विदेशी मुद्रा के लिए माँग, इसकी पूर्ति की तुलना मे, लगातार अधिक बनी रहे, तो कोष बहुत दिनो तक विनिमय दर को गिरने से नही बचा सकता था क्योकि दीर्घकाल मे उसके स्वर्ण एव विदेशी मुद्रा कोष खाली हो जायेगे तथा केवल स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतिया ही सग्रह मे शेष रह जायेगी। [हाँ, विपरीत दिशाई गतियो का सामना करने की कोष की क्षमता अधिक थी, क्योकि विदेशी मुद्रा का क्रय करने के लिए सरकार कोष को स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतिया अधिकाधिक मात्रा मे दे सकती थी।] दूसरे कोष की कार्यप्रणाली को बहुत गुप्त रखा जाता था तथा यह जटिल भी थी। तीसरे, इससे सटोरियो के कार्यकलापो को बहुत ठेस पहुँची।

बहु विनिमय दरे
(Multiple Exchange Rates)

बहुमुखी विनिमय दर प्रणाली का प्रयोग सर्व-प्रथम जर्मनी मे किया गया था। इसके बाद चिली, अर्जेन्टाइना, ब्राजिल, पीरू इक्वेडर आदि देश आते है। विनिमय प्रतिबन्ध के इस रूपान्तर के अन्तर्गत विभिन्न श्रेणियो के व्यवहारो और विभिन्न देशो से व्यवहारो के लिए पृथक्-पृथक् विनियम दरें निर्धारित की जाती है।

दो प्रकार की बहु दरें -

इस प्रकार, बहु दरें दो प्रकार की होती है—एक तो वे बहु दरें जो कि आयात

और निर्यात व्यवहारों के विभिन्न समूहों के लिये होती है, और, दूसरी वे बहु दरें जो कि एक देश की अपेक्षा दूसरे देशों को लागू होती है।

(१) व्यवहारों के विभिन्न समूहों के लिये पृथक-पृथक दरें—अनेक देशों में विभिन्न समूहों के व्यवहारों के लिये पृथक पृथक दरों का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ १९३६ में अर्जेन्टाइना में निम्न चार पृथक दरें मान्य थीं—सरकारी निर्यात दर १ पौंड = १५ पिसास, रेलवे प्रेषण दर १ पौंड = १५.७५ पिसोस, सरकारी आयात दर १ पौंड १७.०२ पिसोस तथा स्वतन्त्र दर १ पौंड = २८ पिसोस। विभिन्न व्यवहारों के लिये विभिन्न दरें नियत करके अधिकारीगण लागतों और कीमतों को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। जैसे गेहूँ के आयात के लिये ऊँची दर निश्चित करके स्वदेशी रोटी की कीमत को नीचा रखा जा सकता है। इस प्रकार, गेहूं की लागत को नीचा कर डबल रोटी के उत्पादकों को प्रोत्साहन दिया जाता है।

(२) विभिन्न देशों के लिये पृथक-पृथक दरें—विभिन्न देशों की करैंसियों के सम्बन्ध में भी बहु विनिमय दरों की व्यवस्था की जा सकती है, जिससे देश एक करैन्सी के साथ ऐसी विनिमय दर रख सके जो दूसरी करैंसी के साथ विनिमय दर से जो कि इन करैंसियों के मध्य सरकारी दर द्वारा निर्धारित होती है, भिन्न हो। उदाहरणार्थ, जब डालर स्टर्लिङ्ग दर १ पौंड = ४ डालर है, और भारत स्टर्लिङ्ग के साथ २० रु० = १ पौंड दर रखता है तो डालर और स्टर्लिङ्ग के मध्य निर्धारित सरकारी दर की अनुसारता में रुपये और डालर के मध्य साधारणत ५ रु० - १ डालर की दर होनी चाहिए थी। किन्तु बहु दर प्रणाली के अन्तर्गत यह ६ रुपये = १ डालर रखी जा सकती है। इसका अर्थ यह है कि भारतीय करैंसी पौण्ड की अपेक्षा डालर में अवमूल्यित (undervalued) है। यह स्थिति इस प्रकार उदय हो सकती है कि कुछ करैन्सियों के साथ विनिमय दरें नियन्त्रित रखी जायें, जब कि अन्य करैन्सियों में बाजार को स्वतन्त्र रहने दिया जाय। ऐसी पद्धति देश के आयात निर्यात व्यापार की दिशा को नियन्त्रित करने हेतु अपनाई जा सकती है। अत, जब भारतीय रुपया पौण्ड की अपेक्षा डालर में अवमूल्यित होता है, तब देश के निर्यात डालर देशों को मुड जाते हैं किन्तु अधिकांश आयात स्टर्लिङ्ग देशों से प्राप्त होते हैं।

बहु विनिमय दरों के उद्देश्य—

बहु विनिमय दरों के निम्न उद्देश्य होते हैं —

(१) विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्यों की पूर्णरूपेण प्राप्ति के लिये—प्राय बहु दर, जिस पर विदेशी विनिमय अधिकारियों के सुपुर्द किया जाता है, उस दर से, जिस पर कि यह उनसे उपलब्ध होता है, नीची रखी जाती है। इससे देश के विदेशी विनिमय प्रसाधनों का अपव्यय नहीं होता।

(२) सरकार को यथेष्ठ आय—बहु विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत, चूँकि

मुद्रा अधिकारी द्वारा विदेशी विनिमय की क्रय और विक्रय दरो म मार्जिन रखा जाता है इसलिए सरकार को यथेष्ट लाभ होता है। यह लाभ तब और भी महत्वपूर्ण होता है जबकि विदेशी कम्पनियां अपने मूल देश को लाभ राशियां प्रेषित करने के हेतु विदेशी विनिमय खरीदती हैं।

(३) संरक्षण देने के लिए—बहु दरो का एक सरक्षणात्मक पहलू भी है—कुछ वस्तुओ के आयात के लिए अन्य वस्तुओं की अपेक्षा विदेशी विनिमय को महँगा बना कर कुछ उद्योगो को सरक्षण दिया जा सकता है। [किन्तु याद रहे कि इस उपाय से मुद्रा प्रसारिक प्रभाव बन सकता है क्योंकि आयातो पर प्रतिबंध लगने से कीमतों में वृद्धि हो जाती है।] इसके विपरीत आवश्यक वस्तुओं के आयात को प्रोत्साहन देने हेतु इनके लिए दरें नीची रखी जाती है। बहु दरो के सरक्षणात्मक प्रभाव के कारण देश में अनावश्यक और विलास वस्तुओ के उद्योगो का विकास होने लगता है। क्योंकि सामान्यत इन्ही वस्तुओ के आयात के लिए विनिमय दरें सबसे ऊँची रखी जाती हैं।

(४) विभिन्न देशों के मध्य भेद भाव बरतने के लिये—बहु विनिमय दरो का प्रयोग विभिन्न देशो के प्रति इनके साथ देश के भुगतान सन्तुलन की स्थिति की भिन्नता के अनुसार भेदात्मक व्यवहार करने के लिए भी किया जाता है। उन देशो से आयातो को जिनके साथ देश का अनुकूल सन्तुलन है, उनकी करैंसियों के लिए नीची दरो की अनुमति देकर प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके विपरीत, जिन देशो के साथ देश का प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन है उनसे ऊँची दरें रखकर आयातो को निरुत्साहित किया जाता है।

(५) कुछ वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए—आयातो की भांति निर्यातों के सम्बन्ध में भी बहु दरों का प्रयोग कुछ वस्तुओ के निर्यात को प्रोत्साहित और कुछ वस्तुओ के निर्यात को निरुत्साहित करने हेतु किया जा सकता है। यह युक्ति कुछ देशो को निर्यातो के प्रोत्साहन एव अन्य देशो को निर्यातो के अप्रोत्साहन द्वारा निर्यातो को वाछनीय दिशा प्रदान करने के लिए भी प्रयोग की जा सकती है।

(६) स्वदेश की करैंसी का अवमूल्यन करने के लिए—कभी-कभी देश की करैंसी का अवमूल्यन करने के एक ढङ्ग के रूप में भी बहु विनिमय दरें प्रयोग की जा सकती हैं। जब ऊँचे विनिमय दर की श्रेणियो में वस्तुओ की संख्या बढाई जाती है, तो एक प्रकार से रेंगता हुआ अवमूल्यन दृष्टिगोचर होता है। इसका उद्देश्य स्पष्टत भुगतान सतुलन सम्बन्धी स्थिति को सुधारना है।

(७) अदृश्य निर्यातों को प्रोत्साहित और अदृश्य आयातों को निरुत्साहित करने के लिये—बहुमुखी दरें प्रयोग करने वाले अनेक देशो में अदृश्य निर्यात और आयात स्वतन्त्र बाजार दरो पर जोकि सबसे ऊँची होती हैं, होने दिए जाते हैं। इससे विदेशी पर्यटक प्रोत्साहित होते हैं क्योंकि उन्हे अपनी करैन्सियां के बदले में

देश की अधिकतम मात्रा मे करेंसी मिल सकती है, किन्तु देश से राष्ट्रजनो का जाना हतोत्साहित होता है, जिससे विदेशी विनिमय की बचत होती है।

बहु विनिमय दरो के गुण-दोष—

बहु विनिमय दरो का लाभ इन्हे अपनाने वाले देश के दृष्टिकोण से यह है कि इसमे परिमाणात्मक प्रतिबन्ध और लाइसेन्स पद्धति नही अपनानी पडती है। अन्य शब्दो मे, पूर्ति पर परिमाणात्मक प्रतिबन्धो द्वारा आयातो का राशनिङ्ग करने के बजाय, लागत या कीमत द्वारा माग का राशनिङ्ग किया जाता है। ऐसी दर देश मे आयातो को निरुत्साहित और निर्यातो को प्रोत्साहित करती हैं। तथा, इस प्रकार देश के लिए एक अनुकूल भुगतान सतुलन प्राप्त करना सुगम हो जाता है।

किन्तु बहु विनिमय दरो के दोष भी है जोकि निम्न प्रकार है—

(१) **अनिश्चितता उत्पन्न करना**—बहु विनिमय दरो के कारण विदेशी व्यापार मे अतिरिक्त जटिलता उत्पन्न हो जाती है और यदि ये दरें स्वय ही, या आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओ की सूची मे परिवर्तन होता रहे तो, फिर अनिश्चितता भी उत्पन्न हो जाती है।

(२) **प्रसाधनो का अनार्थिक शोषण**—विश्व की आर्थिक सम्पन्नता की दृष्टि से बहु विनिमय दर प्रणाली के अन्तगत देश के और शेष विश्व के प्रसाधनो का अनार्थिक (uneconomic) शोषण होता है, क्योंकि इन दरो के प्रयोग के कारण विश्व व्यापार अ-प्राकृतिक (unnatural) दिशाओ मे प्रवाहित होने लगता है।

(३) **नियोजित विकास में बाधा**—बहु विनिमय दरें देश के नियोजित आर्थिक विकास मे बाधा डालती है तथा अनेक वस्तुओ के लिए, जो कि देश मे ही सुगमतापूर्वक उत्पन्न की जा सकती थी, देश को विदेशी आपूर्तियो पर निर्भर बना देती है। उदाहरणार्थ, चिली १६३० मे कृषि-वस्तुओ के एक शुद्ध निर्यातक से १६४० मे शुद्ध आयातक मे परिणत हो गया। कारण, बहु दरो की प्रणाली के अन्तर्गत वहाँ नीची दरो पर आवश्यक खाद्यान्नो के आयात को प्रोत्साहित किया गया, जिससे स्वय देश के अन्दर कृषि के विकास पर से ध्यान हट गया और अन्तत वह विदेशो से आयात पर ही निर्भर रहने लगा।

यद्यपि बहु विनिमय दरें अनेक देशो की आर्थिक नीतियो मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रखती हैं तथापि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इनका दृढ विरोधी है। वह सदस्य देशो को इन्हे न अपनाने का परामर्श देता रहता है। उसने ऐसे सदस्य-देशो को, जो पहले से ही बहु दरें अपनाये हुए थे, केवल सक्रमण काल के लिए ही ऐसी दरें जारी रखने की अनुमति दी है।

विनिमय नियन्त्रण के सुप्रभाव

विनिमय नियन्त्रण का समर्थन उन परिस्थितियो के आधार पर किया जाता

है जिन्होंने इसे अपनाने के लिए प्रेरणा दी थी। ये परिस्थितियां अथवा विनिमय नियन्त्रण के सुप्रभाव निम्नलिखित हैं —

(१) **पूँजी की दौड़ पर नियन्त्रण**—विनिमय नियन्त्रण पूँजी के निष्क्रमण (flight of capital) की समस्या के हल के लिये विशेष रूप से उपयुक्त है। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने यह आपत्ति उठाई है कि विनिमय नियत्रण पूँजी के आयात को भी तो रोक देते है। लेकिन हमारी सम्मतिमे यह आपत्ति ठीक नही है, क्योंकि विचाराधीन परिस्थितियो मे, जबकि पूँजी देश से भाग रही है, नई पूँजी पाने की आशा कदापि नहीं की जा सकती है। कोई मूर्ख विदेशी ही वहां इन परिस्थितियों मे नया विनियोग करना पसन्द करेगा।

(२) **मन्दी की अवधि में दीर्घकालिक निष्क्रिय भुगतान-सतुलन का उपचार**—यदि किसी देश का भुगतान सन्तुलन मन्दी काल मे एक दीर्घकाल से निष्क्रिय चला आ रहा है, तो विनिमय-नियन्त्रण ही इसका एक मात्र प्रभावशाली उपचार है। कारण, इसके अन्तर्गत देश अपने यहाँ फैली हुई बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए स्वतन्त्र नीतियां अपना सकता है।

(३) *नियोजित विकास में सहायक*—जो देश युद्ध म सलग्न हैं या जिन्होंने अपनी अर्थव्यवस्थाओं का विकास करने हेतु नियोजन विधि अपनाई है, उनके लिये विनिमय-नियन्त्रण एक ऐसा प्रभावशाली तरीका है जिसके द्वारा वे अपने सीमित विदेशी विनिमय साधनो का सर्वोत्तम प्रयोग कर सकते है। यही नही, विनिमय नियन्त्रण अनेक उद्योगों को सरक्षण प्रदान करता है, व्यापारिक सौदेबाजी मे देश की स्थिति को सुदृढ बनाता है और सरकार को भी विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय से अतिरिक्त आय हो जाती है।

विनिमय नियन्त्रण के कुप्रभाव

किसी देश के हितो को प्रतिकूल भुगतान सतुलन के प्रभावो से सुरक्षित रखने के एक उपाय के रूप मे विनिमय-नियन्त्रण की पद्धति का पुनर्विचार करने से हम इस अकाट्य निष्कर्ष पर पहुँचते कि इसे अपनाने वाले देश की अर्थव्यवस्था के लिए और सम्पूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था के लिए भी विनिमय नियन्त्रण के परिणाम हानिकारक होते है और ये निम्नलिखित हैं—

(१) **देश के उत्पादन और उपभोग का स्वरूप बदल जाता है।** विनिमय नियन्त्रण अपनाने वाले प्रत्यक देश को आयातको, पर्यटको और ऋणियो मे विदेशी मुद्रा का वितरण करना पडता है। कौनसी और कितने परिमाण मे वस्तुएँ आयात की जायेंगी इस सम्बन्ध मे निर्णय लेने पडते हैं और ऐसे निर्णय उत्पादन और उपभोग सम्बन्धी योजनाओ को बहुत प्रभावित करते है।

(२) **घूँसखोरी और पक्षपात को बढ़ावा मिलता है।** अन्य सभी प्रकार के नियन्त्रणो की भांति विनिमय नियन्त्रण भी नौकरशाही के लिए 'स्वर्ग' है। यह घूस-खोरी और पक्षपात के लिए अवसर प्रस्तुत करता है तथा जनता के नैतिक स्तर को

गिराता है। व्यापारियो के लिए यह अनेक असुविधाओं का स्रोत है, क्योंकि लाइसेन्स प्राप्त करने की कार्यविधि प्राय जटिल और समय व शक्ति का अप-व्यय कराने वाली होती है।

(३) व्यापार स्वाभाविक दिशा से मोड़ कर कृत्रिम दिशाओ में सचालित किया जाता है। यदि विनिमय नियन्त्रण को अनेक देश अपनाते हैं तो देश-क्रम से राशनिंग (country-wise rationing) करना भी आवश्यक हो जाता है, क्योंकि विनिमय नियन्त्रण वाले देश की करैंसी स्वतन्त्रतापूर्वक उपलब्ध नही होती है। उदाहरणार्थ, देश 'अ' एक अन्य देश 'ब' से जहाँ कि विनिमय नियत्रण प्रचलित है, अपने व करैंसी के कोष की सीमा तक ही आयात कर सकता है। मान लीजिए देश अ को एक वस्तु देश ब से आयात करनी है, किन्तु ब की करैंसी अ देश के केन्द्रीय कोष मे उपलब्ध नहीं है। ऐसी दशा मे अ देश ब देश पर इस बात के लिए जोर देगा कि वह अ देश की करैंसी मे ही उस वस्तु का भुगतान स्वीकार कर ले। सम्भव है कि बाजारों के सकुचन के भय से ब देश उक्त अनुरोध को मान ले। चू कि ब देश मे अ देश की वस्तुओं के लिए माँग कम है (तब ही तो अ देश को व करैंसी का अभाव प्रतीत हुआ), इसलिए ब देश के केन्द्रीय कोष म एक अवरुद्ध शेष (blocked balance) उदय हो जाता है। अत वह इस बैलेन्स को प्रयोग करने के लिए अ देश मे क्रय करने की चेष्टा करता है चाहे वस्तुयें महँगी ही क्यो न मिलें। इस प्रकार, 'तुलनात्मक लागतें' नही वरन् 'अवरुद्ध शेष' ही विदेशो व्यापार की दिशा को निर्धारित करने लगते है जिससे कि व्यापार सर्वाधिक लाभ वाली दिशाओ मे प्रवाहित होने मे वचित हो जाता है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कमी आ जाती है। कभी-कभी कहा जाता है कि विनिमय नियन्त्रण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म कमी आ जाती है। कारण, प्रत्यक विनिमय नियन्त्रक देश अपने आयातो को घटाता है तथा आन्तरिक कीमतो का स्तर ऊँचा होने के कारण उसके निर्यात भी कम हो जाते है। इसके विरुद्ध यह मत प्रगट किया गया है कि समझौतों, प्राइवेट क्षतिपूर्ति बहुमुखी विनिमय दरो, निर्यातो को आर्थिक सहायता आदि के द्वारा व्यापार को बढ़ाने का यत्न किया जाता है। स्पष्टत हम विनिमय नियन्त्रण के विषय मे कोई कठोर दृष्टिकोण नही अपना सकते, किन्तु यह निश्चिततापूर्वक कह सकते हैं कि व्यापार अपने स्वाभाविक मार्ग से मोड कर कृत्रिम मार्ग पर चलाया जाता है। सन्तुलन के अतिरिक्त अन्य घटक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। चाहे 'परिमाण' मे कमी आवे या नही, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का 'गुण' अवश्य ही खराब हो जाता है तथा इस सीमा तक व्यापार के लाभ मे कमी आ जाती है।

(५) विनिमय नियन्त्रण सम्पर्कता से विस्तृत होता है। एक बार कुछ देशो द्वारा अपनाये जाने पर इसमे फैलने की प्रवृत्ति रहती है क्योंकि विनिमय-नियत्रक देश अपनी सौदा शक्ति का, जो कि उन्हे विनिमय नियन्त्रण ने प्रदान की है, अधिकतम

लाभ उठाना चाहते है। दूसरे, विनिमय-नियन्त्रक-देश की करेंसी का विनिमय मूल्य ऊँचा हो जाता है और जब अन्य करेंसियाँ ऊँची हो रही हो, तब ऊँची विनिमय दर के साथ व्यापार करना अधिक आसान होता है। तीसरे, विनिमय नियन्त्रण वाले देशों मे आपस मे व्यापार बढ जाता है, क्योंकि वे अपने व्यापार को स्वतन्त्र विनिमय वाले देशों से विनिमय नियन्त्रण वाले देशो की ओर मोड लेते है। इसीलिये स्वतन्त्र विनिमय देश भी अन्त मे अपने प्रमुख बाजारो को खोने की बजाय नियन्त्रण-गुट मे सम्मिलित होना पसन्द करते है।

(६) **एक बार अपना लेने पर यह फिर छूटने का नाम नही लेता।** उदाहरणार्थ जर्मनी ने १९३१ मे पूँजी के निष्क्रमण को रोकने के लिए विनिमय नियन्त्रण अपनाया था। बाद मे इसने व्यापार पर नियन्त्रण का रूप ले लिया।

(७) *अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगो के सहज प्रभाव पर रोक।* *अन्तर्राष्ट्रीय* विनियोग विश्व के आर्थिक प्रसाधनों के नियोजित विकास के लिए बहुत ही आवश्यक है। किन्तु विनिमय नियन्त्रण इनके मार्ग मे बाधायें उत्पन्न करके इनके प्रवाह को अवरुद्ध कर देता है।

(८) **आर्थिक राष्ट्रवाद का विस्तार**—विश्व के आर्थिक कार्यकलापो पर आर्थिक राष्ट्रवाद (economic nationalism) का प्रभाव बढ़ने लगता है, जिससे अन्तत युद्ध तक हो जाते है, क्योंकि प्रत्येक देश अपने ही राष्ट्रीय हित को सुरक्षित रखने का यत्न करता है।

(९) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का गला घुटना**—विनिमय नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का गला घोटता है, क्योंकि बहु पक्षी व्यापार प्रणाली और करेंसियो की स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता समाप्त होकर द्विपक्षी व्यापार व्यवस्थाओ और करेंसियो की अपरिवर्तनशीलता का उदय होता है। इससे व्यापार का लाभ भी कम हो जाता है।

उपसंहार—

निःसदेह विनिमय-नियन्त्रण स्वतन्त्र व्यापार और अधिकतम विश्व सम्पन्नता के अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श से हटने के सूचक है। किन्तु जिस प्रकार एक देश के अन्दर प्राइवेट और सामाजिक हितो मे विरोध पाया जाता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भी यह बिल्कुल सम्भव है कि अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्यो के लिए प्रयत्नशील होना राष्ट्रीय हित के विपरीत हो। ऐसी दशा म यह स्वाभाविक है कि विनिमय नियन्त्रण मौद्रिक यन्त्र का एक ऐसा हिस्सा बन जाय, जिसके द्वारा राष्ट्रीय हित की पूर्ति हो सके। किन्तु राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय हितो के विरोध को घटाने के लिए यह आवश्यक है कि विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी उचित नियमो की एक सहिता बनाई जाय। यथार्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इसी उद्देश्य से बनाया गया था। अन्य बातो के अतिरिक्त, वह प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय ह्रासो को रोकता है तथा केवल समायोजन काल मे ही विनिमय-नियन्त्रण (चाहे उसका कुछ भी रूप हो) के लिए छूट देता

है। इसी आशय से वह आवश्यकता वाले देशों को ऋण भी देने को तत्पर रहता है, जिससे कि वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाये बिना ही अपनी भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी अस्थाई कठिनाइयों पर विजय पा सके। समय समय पर वह विभिन्न देशों के विनिमय प्रतिबन्धों की जांच करता रहता है और उनको यह सलाह देता रहता है कि ये शनै शनै कैसे हटाय जा सकते है।

विनिमय दरों के परिवर्तन एवं व्यापार सतुलन
(Exchange Rate Changes and the Balance of Trade)

प्रो० ए० सी० एल० डे (A C L. Day) ने अपनी पुस्तक Outlines of Monetary Economics मे विनिमय दर के परिवर्तनों और व्यापार-सतुलन के मध्य सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। उन्होंने इस सम्बन्ध को वस्तुओं के लिए मांग की लोच के विचार के सन्दर्भ मे स्पष्ट किया है। यदि मांग का परिवर्तन कीमत के परिवर्तन से अधिक है, तो लोच 'इकाई से अधिक', और यदि कम है, तो लोच इकाई से कम' होगी। यदि दोनो प्रकार के परिवर्तन समानुपात में है, तो लोच इकाई के बराबर होगी।[1] विनिमय-दर के परिवर्तन उन वस्तुओं के कीमत-परिवर्तनों मे प्रतिबिम्बित होते है जोकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे प्रवेश करती हैं। कीमतों में परिवर्तनों के फलस्वरूप वस्तुओं के लिए मांग (अर्थात् आयात और निर्यात) परिवर्तित हो जाती है और इसलिये व्यापार सतुलन भी बदल जाता है। इस सम्बन्ध को निम्न चार्ट के रूप मे सक्षिप्त किया जा सकता है —

विनिमय दर मे परिवर्तन
↓
वस्तुओं की कीमत मे परिवर्तन
↓
आयात और निर्यात मे परिवर्तन होना
↓
निर्यात आधिक्य — आयात आधिक्य
↓ — ↓
आय की वृद्धि — आय की कमी
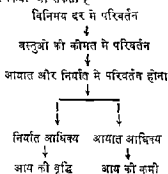
उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

विनिमय दर मे होने वाले परिवर्तनों के प्रभावों को एक सुगम उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये कि सरकार ने १ रु०=२० सेंट्स

---

[1] The formula for elasticity of demand is

$$e = \frac{\text{Proportionate Change in Demand}}{\text{Proportionate Change in Price}}$$

(अमेरिकी) अथवा, १ $= ५ रु० विनिमय-दर निर्धारित की है । मान लीजिये कि बाजारू विनिमय दर १ रु० = २२ सेंट्स है । स्पष्टतः रुपये का डालर में मूल्य ऊँचा है। रुपये का मूल्य बढ़ रहा है किन्तु डालर का मूल्य घट रहा है, क्योंकि पहले २० सेंट्स देकर १ रुपया मिल सकता था किन्तु अब १ रुपया पाने के लिए २२ सेंट्स देने पड़ते हैं।

चूँकि रुपये का मूल्य डालर के सन्दर्भ में बढ़ रहा है इसलिये वह अमेरिका में पहले की अपेक्षा अधिक माल खरीद सकता है। अन्य शब्दों में, अमेरिकी करैन्सी, पहले की अपेक्षा सस्ती है और इसलिये अमेरिकी माल भी पहले की अपेक्षा सस्ता है। पहले १ रुपये के द्वारा २० सेंट्स मूल्य की अमेरिकी वस्तुयें खरीदी जाती थीं लेकिन अब २२ सेंट्स मूल्य की अमेरिकी वस्तुयें खरीदी जाती हैं। साथ ही, अमेरिकनों के लिये भारतीय करैंसी पहले की अपेक्षा महँगी हो गई है और इसलिये उनको भारतीय माल भी पहले की अपेक्षा महँगा पड़ेगा। विनिमय दरों में हुए इस परिवर्तन का व्यापार सन्तुलन पर क्या शुद्ध प्रभाव पड़ेगा? यह प्रभाव माँग की लोच की पारस्परिकता (mutual elasticities of demand) पर निर्भर है।

भारत—यदि अमेरिकी माल के लिये भारतीय माँग बेलोच है (अर्थात् लोच 'इकाई से कम' है), तो अमेरिकी माल के पहले की अपेक्षा सस्ता होने पर भी आयातों में अधिक वृद्धि न होगी। कुल आयात मूल्य बढ़ना तो दूर वरन् वास्तव में घट सकता है। दूसरी ओर, यदि अमेरिकी माल के लिये भारतीय माँग लोचदार है तो अमेरिकी माल का सस्तापन आयातों में वृद्धि लायेगा तथा कुल आयात मूल्य बढ़ जायगा।

अमेरिका—यदि भारतीय माल के लिये अमरीकी माँग बेलोच है, तो भारतीय करैन्सी का और इसलिए भारतीय माल का महँगापन अमेरिकी आयातों (अर्थात् भारत के निर्यातों) को प्रभावित नहीं करेगा। अमेरिकी आयातों का परिमाण और कुल मूल्य दोनों ही बढ़ जायेंगे। दूसरी ओर, यदि भारतीय माल के लिये अमेरिकी माँग लोचदार है तो भारतीय करैंसी का और इसलिये भारतीय माल का महँगापन अमेरिकी आयातों (अर्थात् भारत के निर्यातों) को प्रभावित करेगा तथा तदनुसार निर्यातों का परिमाण व कुल मूल्य दोनों ही घट जायेंगे।

अभी तक हमने दोनों देशों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् रूप में एक दूसरे के आयातों और निर्यातों के लिये माँग की लोच पर पड़ने वाले विनिमय दरों के प्रभावों को समझाया था। अब हम इन प्रभावों को सम्मिलित रूप से समझायेंगे।

(१) मान लीजिये कि अमेरिकी माल के लिये भारतीय माँग (अर्थात् भारत के आयातों) और भारतीय माल के लिये अमेरिकी माँग (अर्थात् भारत के निर्यातों) का जोड़ 'इकाई से कम' अर्थात् 'बेलोच' है। ऐसी दशा में व्यापार सन्तुलन भारत के पक्ष में परिवर्तित होने लगेगा, क्योंकि इसकी करैंसी की विनिमय दर में वृद्धि हो रही है। (जब भारतीय आयात बेलोच हैं, तो आयातों का मूल्य घट जायेगा

लेकिन जब भारतीय निर्यात बेलोच हो, तो निर्यातो का मूल्य बढ़ेगा। अत: भारत, जिसकी करेन्सी का मूल्य बढ रहा है, व्यापार संतुलन मे अनुकूलता अनुभव करेगा।) अनुकूल व्यापार-संतुलन वाले देश मे आय और रोजगार मे गुणक-विस्तार (multiple expansion) होता है। चूंकि अमेरिका की करेंसी का मूल्य घट रहा है इसलिये वहाँ पर उपर्युक्त का विपरीत प्रभाव देखने मे आयेगा।

(२) यदि दोनो लोच का जोड 'इकाई से अधिक' है (अर्थात् लोचदार है,) तो रुपये की विनिमय दर मे वृद्धि भारत के व्यापार सतुलन को प्रतिकूलता की दिशा मे ले जायेगी। विदेशी माल के लिए लोचदार माग का अभिप्राय है कि विदेशी माल की कीमत मे कमी होने पर (क्योंकि रुपये के सदर्भ मे विदेशी करेन्सी सस्ती है), भारतीय आयात बढने लगेंगे तथा आयातो का कुल मूल्य भी बढ़ेगा। साथ ही, भारतीय माल के लिये लोचदार विदेशी माँग (अर्थात् भारतीय निर्यात) के फलस्वरूप भारतीय निर्यात मे कमी होगी क्योंकि भारतीय कीमते बढ गई है। फलत भारतीय निर्यात का कुल मूल्य भी घट जायेगा। ये दोनो विरोधी प्रक्रियायें—आयातों मे वृद्धि और निर्यातो म कमी—व्यापार सतुलन को प्रतिकूल भारत के लिये बना देगी। प्रतिकूल व्यापार संतुलन भारत मे आय और रोजगार मे गुणक-सकुचन (multiple contraction) लायेगा। किन्तु अमेरिका मे, जिसकी करेंसी का ह्रास हो रहा है, विपरीत प्रभाव दिखाई देंगे।

(३) मान लीजिये कि दोनो लोच का जोड 'इकाई के बराबर' है (अर्थात्, लोच 'इकाई' है)। ऐसी दशा मे व्यापार सतुलन पूर्ववत् बना रहेगा। तदनुसार आय और रोजगार पर कोई शुद्ध प्रभाव नहीं होगा। किन्तु प्रो० हे ने यह दिखाया है कि क्रियाकलाप का कुल स्तर अपरिवर्तित रहते हुये भी कुछ उद्योगों मे विस्तार तथा कुछ मे सकुचन हो सकता है, जिसके परिणामस्वरूप, विभिन्न वर्गों के मध्य आय का वितरण बदल जायगा। यदि ऐसा हुआ, तो बचत और विनियोग मे और तदनुसार आर्थिकक्रकलाप के सामान्य स्तर मे भी परिवर्तित हो जायेंगे।

निष्कर्ष यह है कि विनिमय दरो के परिवर्तन आयात-और निर्यात वस्तुओ की कीमतो को परिवर्तित कर देंगे। आयातो और निर्यातो के मूल्यो मे कितना परिवर्तन होगा यह आयात-और निर्यात-लोच के स्वभाव पर निर्भर है। जो देश अनुकूल व्यापार सतुलन अनुभव करेगा वहाँ आय और आर्थिक क्रियाकलाप मे गुणक वृद्धि होगी। प्रतिकूल व्यापार सतुलन का अनुभव करने वाले देश मे आय और आर्थिक क्रिया मे गुणक-ह्रास होगा। विनिमय-दर सम्बन्धी परिवर्तनो के तात्कालिक एवं प्रेरित प्रभावो को निम्नलिखित चार्ट के रूप मे सक्षिप्त किया जा सकता है :—

विनिमय-वृद्धि वाला देश

↓

विदेशी माल सस्ता है (आयात सस्ते हो जाते हैं)
स्वदेशी माल विदेशियों के लिए महँगा है (निर्यात महँगे)

↓

(अ) यदि लोच इकाई से कम (या बेलोच) है, तो → [कम आयात, अधिक निर्यात] → अनुकूल सन्तुलन → [आय व रोजगार में गुणक वृद्धि]

(ब) यदि लोच इकाई से अधिक (या लोचदार) है, तो → [अधिक आयात, कम निर्यात] → प्रतिकूल सन्तुलन → [आय व रोजगार में गुणक ह्रास]

(स) यदि लोच इकाई के बराबर है, तो → [व्यापार सन्तुलन में कोई परिवर्तन नहीं] → आय व रोजगार में गुणक कमी या वृद्धि नहीं

परीक्षा प्रश्न

१ विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्यों को समझाइये। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये अपनाये जाने वाले ढगों की समीक्षा कीजिये।

[Explain the objectives of exchange control Examine the method adopted to achieve these objectives]

(जीवाजी, एम० ए०, १९६७)

२ भारत में विनिमय नियन्त्रण की प्रणाली को समझाइये। इसकी क्या दुर्बलतायें हैं? इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है?

[Explain the system of exchange control in India What are its short comings ? How can they be removed ?]

(गोरख०, एम० ए०, १९६६)

३ उन परिस्थितियों पर प्रकाश डालिये जो विनिमय नियन्त्रण का आवश्यक बनाती हैं। साथ ही विनिमय नियन्त्रण के प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष ढगों का विश्लेषण करिये।

[Throw light on the circumstances which necessitate exchange control Also analyse the direct and indirect method of exchange control] (आगरा, एम० ए० १९६८)

४ 'एक प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन से देश की रक्षा के साधन के रूप में विनि-

मय नियन्त्रण की व्यवस्था सम्बद्ध देश के लिये ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व के लिये गम्भीर परिणाम रखती है।" इस कथन की समीक्षा करिये।

["The system of exchange control as a method of safeguarding a country against an adverse balance of payments has serious consequences both for the economy of the country practising it as well as for the world's economy as a whole" Comment]

२ बहु विनिमय दरों के गुण दोषों का विवेचन करिये।

[Discuss the merits and demerits of multiple exchange rates]

२४

अन्तरण समस्या

(The Transfer Problem)

परिचय—

विशाल एक-पक्षी अन्तरणो की समस्या इतिहास में बहुत पुरानी है। सन् १८७१ में फ्रास द्वारा जर्मनी को युद्ध सम्बन्धी क्षतिपूर्ति का भुगतान, १९००-१४ की अवधि में कनाडा द्वारा पूँजी का आयात और जर्मनी द्वारा मित्रराष्ट्रों को क्षति-पूरक भुगतान ऐसे ही अन्तरणों के ज्वलन्त उदाहरण है। जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति के भुगतान के सन्दर्भ में विशाल एकपक्षीय अन्तरण की समस्या बहुत उग्र वाद-विवाद का विषय बन गई थी। सबसे महत्वपूर्ण विवाद कीन्स और ओहलिन के मध्य हुआ और कीन्स-ओहलिन विवाद' के नाम से प्रसिद्ध है।

'एक पक्षी अन्तरण' से आशय
(Meaning of Unilateral Transfer)

'एक पक्षी अन्तरण' से आशय, एक विशेष समयावधि को दृष्टिगत रखते हुए उन व्यवहारो का है जिनमे मूल्य एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को दिया जाता है किन्तु बदले में कुछ प्राप्त नही होता। इसके विपरीत, द्विपक्षी अन्तरण वे है जिनमे मूल्य एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को दिया जाता है और साथ ही, एक विशेष समया-वधि के भीतर ही, उसका प्रतिफल भी प्राप्त हो जाता है। एक पक्षी और द्विपक्षी अन्तरणो का अन्तर न केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे वरन् आन्तरिक व्यापार में भी लागू होता है। इसे हम न केवल द्रव्य के अन्तरण के सम्बन्ध मे वरन् वस्तुओ के सम्बन्ध मे भी देख सकते है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

द्रव्य के बदले वस्तुओं का अन्तरण द्विपक्षी अन्तरण (Bilateral Transfer) का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ विनिमय के दोनो पहलू प्रत्यक्ष रूप मे एक दूसरे के सामने आते हैं। किन्तु उपहार-स्वरूप वस्तुयें देना, राजनैतिक-कर (जैसे क्षतिपूर्ति) एक पक्षी अन्तरण (Unilateral Transfer) के उदाहरण है।

पर्यटकों द्वारा यातायात पर किये जाने वाले व्यय आदि द्विपक्षीय अन्तरण का प्रतिनिधित्व करते हैं, क्योंकि इनमे द्रव्य का वास्तविक सेवाओ से विनिमय

किया जाता है। किन्तु ऋण देना या ऋण वापस करना एक मध्यम स्थिति रखता है। यदि विचाराधीन समयावधि में 'ऋण की स्वीकृति' और 'ऋण की वापसी' दोनों ही सम्मिलित हो जायें, तो 'ऋण व्यवहार' को द्विपक्षी अन्तर माना जायेगा, और, यदि विचाराधीन समयावधि में दोनों बातें (ऋण देना और ऋण लौटाना) घटित न हों, केवल एक ही बात (ऋण देना या ऋण लौटाना) घटित हो, तो इन्हें 'एक पक्षी अन्तरण' कहेंगे। यह उल्लेखनीय है कि **ब्याज सम्बन्धी भुगतान एक तरह से 'द्विपक्षी अन्तरण' है, क्योंकि पूँजी का प्रयोग एक वास्तविक सेवा है। किन्तु चूँकि यह मद पूँजी की सेवा व्यापार और सेवाओं के सन्तुलन में दिखाई नहीं जाती है, इसलिए इन्हें एक पक्षी अन्तरण ही समझना चाहिए।**

एक पक्षी अन्तरण में निहित विशेष समस्या
(Special Problem involved in Unilateral Transfer)

द्विपक्षी भुगतानों के अन्तरण की तुलना में एक पक्षी भुगतानों का अन्तरण कुछ जटिलतायें उत्पन्न करता है। अतः इन पर पृथक् से ध्यान देने की आवश्यकता है। वास्तव में द्विपक्षी भुगतानों के अन्तरण का जो विश्लेषण है, वही एक पक्षी भुगतानों के लिए भी है। केवल कुछ संशोधन ही कर देने पड़ते हैं।[1]

एक देश और शेष विश्व के मध्य हुए आर्थिक व्यवहारों का एक दोहरा विवरण (double balance sheet) बनाया जा सकता है जिसमें एक ओर तो वास्तविक (अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं के) मूल्यों का सन्तुलन हो, और दूसरी ओर, भुगतानों के साधनों (अर्थात् विदेशों को वास्तव में किये गए अथवा वहाँ से वास्तव में प्राप्त हुए द्राव्यिक भुगतानों) का सन्तुलन दिखाया गया है। इस बात के अर्थ में, जैसा कि हमने *भुगतान सन्तुलन वाले अध्याय में बताया था, भुगतान-सन्तुलन सदा* ही साम्य में रहता है जब तक कि भुगतान विदेशी मुद्रा के किसी विद्यमान स्टॉक में से न किया गया हो अथवा विदेशी देश आन्तरिक मुद्रा का स्टॉक बढ़ाने के इच्छुक न हों। [उदाहरणार्थ, जर्मनी में मुद्रा प्रसार के युग में, विदेशियों ने यह सोचते हुए कि मार्क का मूल्य भविष्य में अधिक बढ़ेगा, जर्मनी को मार्क के निर्यात की अनुमति दे दी ताकि उनके पास जर्मन मार्क का संचय बन जाय और भविष्य में इसका प्रयोग करके वह भारी लाभ उठा सकें।] किन्तु ऐसी दशाओं में सम्बन्धित रकमें सदा ही अल्प होती हैं। मौद्रिक नीति के दृष्टिकोण से तो इनका बहुत ही महत्त्व है, क्योंकि

1 This (unilateral payment of large sums) is in reality only a special case of the phenomena (bilateral payments, already analysed But it nevertheless deserves separate treatment because this case has always attracted a great deal of attention and in discussing it a number of refinements will be added to the analysis given in relation to bilateral transfer"

— Haberler : *The Theory of International Trade*, p. 63.

ये करैंसी में विश्वास के सूचक हैं, किन्तु इनका कुल अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-सन्तुलन में परिमाणात्मक रूप से अधिक महत्त्व नहीं होता।

यदि किसी देश की आर्थिक प्रणाली शेष विश्व के साथ केवल द्विपक्षी अन्तरणों (अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रयों) द्वारा सम्बन्धित हो, तो भुगतानों का सन्तुलन और वास्तविक मूल्यों के अन्तरण का सन्तुलन दोनों ही साम्यावस्था में रहेंगे। किन्तु, जब एक पक्षी अन्तरण (जैसे क्षतिपूरक भुगतान) भी हों, तो व्यापार और सेवाओं के सन्तुलन में आधिक्य (surplus) होना चाहिए, क्योंकि भुगतान-सन्तुलन दीर्घकाल में असाम्यता की स्थिति में नहीं रह सकता। अन्य शब्दों में, एक पक्षी अन्तरण जिन्स में (in kind) किये जाने चाहिए अर्थात्, पूँजी के आवागमन अतत वस्तुओं और सेवाओं के अन्तरण का रूप ले लेंगे। हाँ, यदि भुगतान की रकम अल्प है और विदेशी मुद्रा के स्टॉक से सुगमतापूर्वक भुगतान किया जा सकता है, तो एक पक्षी अन्तरण जिन्स में किये जाने आवश्यक नहीं हैं। ऐसे एक पक्षी अन्तरण कोई समस्या भी प्रस्तुत नहीं करते हैं। किन्तु जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति के भुगतान के समान विशाल रकमों के एक पक्षी अन्तरण तब ही सम्भव है जबकि निर्यात आधिक्य उत्पन्न किया जाय। यदि इनके लिये विदेशी मुद्रा के संचित स्टॉक का प्रयोग किया जाय, तो वह बहुत शीघ्र ही खाली हो जायेगा।

इस सम्बन्ध में भी आन्तरिक और विदेशी व्यापार में वास्तव में कोई भेद नहीं होता। प्रायः इस बात पर बल दिया जाता है कि दीर्घकाल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक भुगतान वस्तुओं में ही किये जाने चाहिए जबकि आन्तरिक व्यापारिक भुगतान द्रव्य में ही किये जाते हैं। निःसन्देह यह सच है कि आन्तरिक व्यापार के भुगतान प्रथमत द्रव्य में ही किये जाते हैं किन्तु, भुगतान पाने वाला व्यक्ति भी सामान्यत, इस द्रव्य से कुछ खरीदना ही चाहता है। ऐसे एक-पक्षी भुगतानों के होते हुए भी व्यक्तियों के भुगतान सन्तुलन साम्य में रहते हैं, क्योंकि व्यक्ति, एक देश की भाँति, दीर्घकाल में अपनी प्राप्तियों की अपेक्षा अधिक व्यय नहीं कर सकता जब तक कि वह पिछली बचत का प्रयोग न करे। इस प्रकार, आन्तरिक व्यापार में भी एक पक्षी अन्तरण अन्तत वस्तुओं और सेवाओं में ही सम्पन्न किये जाते हैं। किन्तु वहाँ वस्तुओं के प्रवाह पर ध्यान नहीं जाने पाता, क्योंकि वे किसी राजनैतिक सीमान्त को पार नहीं करते और इसलिए उनका रिकार्ड नहीं रखा जाता है।[1]

अन्तरण समस्या के पहलू
(Aspects of the Transfer Problem)

प्रो० हैबरलर के अनुसार, एक देश से दूसरे देश को एक-पक्षी भुगतानों

---

1 "Thus, even in domestic trade unilateral transfers are carried out finally in goods or services But the flow of goods goes unnoticed, because it does not pass a political boundary, and is therefore not recorded "—*Ibid*, p 64.

की समस्या के दो पहलू हैं —(I) स्वदेश में एक निश्चित द्रव्य राशि जुटानी पड़ती है। क्षतिपूर्ति की दशा में यह समस्या राष्ट्रीय खजाने की है किन्तु प्राइवेट पूँजी के निर्यात की दशा मे व्यक्ति विशेष। (II) इस प्रकार एकत्र की गई देशी मुद्रा की राशि को भुगतान पाने वाले देश की मुद्रा मे बदलना पड़ता है। अन्तरण को तब ही सफल माना जा सकता है जबकि आवश्यक निर्यात-आधिक्य, विनिमय के स्थाई ह्रास (depreciation) बिना ही उत्पन्न कर लिया जाय।

निर्यात आधिक्य का सृजन --

निर्यात-आधिक्य के सृजन का अभिप्राय निम्नलिखित तीन बातो मे या इनमे किसी एक ही बात मे है —(i) आयातों के पूर्ववत् रहते हुये एक निर्यात आधिक्य उत्पन्न हो जाय, या (ii) एक विद्यमान निर्यात-आधिक्य पहले की अपेक्षा बड़ा हो जाय, या (iii) आयात आधिक्य छोटा हो जाय। अन्य शब्दों में, एक निर्यात आधिक्य का सृजन या तो भुगतान पाने वाले देश को निर्यात बढ़ाकर, अथवा वहाँ से आयात घटा कर किया जा सकता है, या आंशिक रूप से निर्यात बढ़ाकर और आंशिक रूप से आयात घटाकर (अर्थात् दोनों ही प्रकार से) निर्यात-आधिक्य उत्पन्न किया जा सकता है।

अभी भी लोकप्रिय बने हुये भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त की यह मान्यता है कि अन्तरण तब ही सम्भव है जबकि व्यापार या भुगतान सन्तुलन मे पहले से ही सक्रियता मौजूद हो। लेकिन ऐसी बात नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि वस्तुओं द्वारा निर्यात आधिक्य के सृजन की प्रतीक्षा की जाय, क्योंकि जब भुगतान मिकेनिज्म कार्यशील हो जाता है तो निर्यात-आधिक्य स्वत उत्पन्न हो जायेगा।[1]

अन्तरण मिकेनिज्म—

जब अन्तरण के लिए आवश्यक राशि देश मे करारोपण द्वारा एकत्र की जाती है, तो इसका तर्क सम्मत परिणाम यह होता है कि उस देश के लोगों की आय (और इसलिए उनकी क्रय शक्ति) घट जाती है, द्रव्य का प्रचलन सकुचित हो जाता है और परिणामत कीमते गिर जाती है। इन्ही कारणो से, जो कि विपरीत दिशा मे काम करने लगते है, भुगतान पाने वाले देशों के लोगों की राष्ट्रीय आय और क्रय शक्ति बढ़ जाती है तथा कीमतें बढ़ने लगती है। इस प्रकार, एक ओर भुगतान करने वाले देश मे कीमतों के गिरने की प्रक्रिया, और दूसरी ओर भुगतान पाने वाले देश

---

[1] "*It is therefore, not the case, as the still popular* balance of payments theory supposes that the possibility of transfer depends on an already existing active balance of trade or payments It is not necessary to wait till the goods present one with an export surplus. On the contrary, the export surplus arises *automatically when the mechanism of payments is set in* motion"—*Ibid*, p 66

की कीमतें बढने की प्रक्रिया, दोनो मिलकर उन देशों के मध्य मूल्य-भिन्नता (gap in prices) उत्पन्न कर देते है। परिणामत, भुगतान करने वाले देशों में निर्यात प्रोत्साहित होते है किन्तु वहाँ आयात घटते है और भुगतान पाने वाले देश मे आयात बढते है किन्तु वहाँ से निर्यात कम होते है। प्रोत्साहन एव हतोत्साहन अथवा वृद्धि एव कमी की प्रक्रियाये अन्तरण को सम्भव बना देती है।

कीमत-परिवर्तनों की भूमिका
(Role of Price Changes)

अन्तरण मिकेनिज्म मे कीमत-परिवर्तनो की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण होती है। कीमतें इस स्तर तक भुगतान करने वाले देश मे गिरती है और भुगतान पाने वाले देश म बढती हैं कि भुगतान करने वाले देश मे एक निर्यात-आधिक्य उत्पन्न हो जाय किन्तु यदि कीमतो पर दबाव इतना नही पड रहा है कि जो आवश्यक आकार मे निर्यात अतिरेक उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हो, तो भुगतान करने वाले देश के विदेशी विनिमय कोषो पर दबाव अनुभव किया जायेगा। यदि यह दबाव अल्प हो, तो इसकी चिन्ता नही की जावेगी, किन्तु यदि वह लगातार और विशाल हो (और प्राय ऐसा ही होता है), तो देश के केन्द्रीय बैंक को सावधानी से काम लेने की जरूरत है। ऐसी दशा मे वह प्राय बैंक दर मे वृद्धि कर देता है। बैंक दर मे वृद्धि होने के वैसे ही प्रभाव होते है जो कि कीमतें गिराने से उत्पन्न होते हैं। सर्वप्रथम, कुछ विदेशी विनिमय तो देश मे विनियोजन के रूप मे लौट आवेगा, और, दूसरे अर्थ-व्यवस्था म विनियोजन-क्रिया मन्द पड जायेगी, जिससे बेकारी फैलेगी तथा कीमतें गिरेंगी। स्पष्टत बैंक-दर नीति का उद्देश्य भी कीमतो मे कमी लाना है।

किन्तु १९३० से १९३९ के मध्य एक पक्षी अन्तरण की समस्या नियन्त्रण से बाहर हो गई थी। अमेरिका को लेटिन अमेरिकी देशो और पूर्वी यूरोप के छोटे-छोटे देशा से एक पक्षी भुगतान लेने थे। न तो कीमते अमेरिका मे इस स्तर तक बढ सकी (क्योकि वहाँ स्वर्ण को निष्प्रभावित कर दिया था और कीमतो पर प्रभाव डालने से रोक दिया गया था) और न व यूरोपीय देशो मे इस स्तर तक गिर सकी (क्योकि देनदार देशो मे शक्तिशाली श्रम सघो के प्रभाव के कारण मजदूरी ढांचा कठोर हो गया था) कि आवश्यक मात्रा मे निर्यात अतिरेक उत्पन्न हो सके। अत केवल यह विकल्प ही बचा था कि बैंक दर को बढा दिया जाय। किन्तु देनदार देशो ने इस उपाय को पसन्द नही किया जिससे ट्रान्सफर सम्भव नही हुआ।

अन्तरण-मिकेनिज्म मे कीमत-परिवर्तनो के महत्व के सम्बन्ध मे मतभेद

एक ओर तो ऐसे अर्थशास्त्री हैं जो अन्तरण-मिकेनिज्म मे कीमत परिवर्तनो की भूमिका को कोई विशेष महत्त्व नही देते और दूसरी ओर ऐसे अर्थशास्त्री हैं जो ऐसे परिवर्तनो की भूमिका को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। प्रो० कीन्स (Keynes) द्वितीय वर्ग के अर्थशास्त्री है किन्तु प्रो० ओहलिन (Ohlin) प्रथम वर्ग मे है। कीन्स का मत है कि कीमत स्तरो मे परिवर्तन अन्तरण मिकेनिज्म

की क्रियाशीलता के लिए अति-आवश्यक है। इसके विपरीत, ओहलिन ने इस बात पर बल दिया है कि अन्तरण मिकेनिज्म मे कीमतो का कोई सम्बन्ध नही है। कीमत परिवर्तनों की भूमिका के विषय मे यह विख्यात कीन्स-ओहलिन विवाद प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी द्वारा क्षतिपूरक भुगतानो के सम्बन्ध मे उदय हुआ था। इस विवाद के कारण अन्तरण समस्या के जटिल पहलुओ पर पर्याप्त प्रकाश पडा है।

१ *कीन्स का दृष्टिकोण*—

कीन्स का कहना था कि जर्मनी को चाहिए कि अपने निर्यातो मे वृद्धि करे, तब ही उसे निर्यात अतिरेक उत्पन्न हो सकेगा। निर्यातो मे वृद्धि करने के लिए निर्यात मे सम्बन्धित वस्तुओ की कीमतो को गिराना होगा। किन्तु इन कीमतो मे किस सीमा तक कमी की जा सकेगी यह जर्मन वस्तुओ और सेवाओ के लिए विदेशी माग की दशाओ पर निर्भर है। यदि विदेशी माग की लोच (elasticity) इकाई (unity) से अधिक है तो कीमतो म एक दी हुई कमी के फलस्वरूप उसके निर्यातो मे अनुपात से ज्यादा विस्तार हो जायेगा और इससे निर्यात अतिरेक सहज ही उत्पन्न हो सकेगा। किन्तु, जब विदेशी माँग की लोच 'इकाई' के बराबर हो तो निर्यातो मे कितनी भी वृद्धि हो जाय आवश्यक मात्रा म निर्यात अतिरेक कभी उत्पन्न नही हो सकेगा, क्योंकि जिस तेजी से निर्यातो के परिमाण म वृद्धि होती है उसी तेजी से इनकी कीमतो म गिरावट आती है। दुर्भाग्यवश जर्मन वस्तुओ और सेवाओ के लिए विदेशी माँग की दशायें बहुत हितकर नही थी। य इतनी अ-अनुपातिक थी कि जर्मनी की निर्यात कीमतो मे बहुत अधिक कमी होने पर ही वाछनीय आकार का निर्यात अतिरेक उत्पन्न हो सकता था। इसका अर्थ था कि जर्मनी को सग्रहित करो के रूप मे हुई प्रत्यक्ष या प्राथमिक हानि के अतिरिक्त एक अप्रत्यक्ष या द्वितीयात्मक हानि भी होना। कारण, एक दिये हुए कुल मूल्य के जर्मन निर्यातो मे, कीमतो की कमी के कारण पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे वस्तुये सम्मिलित होगी। इसी बात को निम्न कथन द्वारा भी प्रगट कर सकते है कि वस्तुगत व्यापार शर्तें जर्मनी के लिये और भी अधिक खराब हो जायेगी।

वस्तु पक्ष पर उपरोक्त परिणाम मौद्रिक यन्त्र द्वारा निम्न तरीके से उत्पन्न किया जाता है—सर्वप्रथम, जर्मनी मे करो को सग्रह किया जाता है। यह जर्मनी पर प्रत्यक्ष या प्राथमिक भार (direct or primary burden) है। यदि आवश्यक निर्यात अतिरेक उत्पन्न न हो सके, तो जर्मनी के सेंट्रल बैंक के नगद एव स्वर्ण कोष घटेंगे तथा साख का सकुचन होगा। इससे कीमतें और आय पहले से भी अधिक घटेंगी और इस तरह से जर्मनी पर एक द्वितीयात्मक या अप्रत्यक्ष या अतिरिक्त भार (secondary, indirect or extra burden) पडेगा।

[यहाँ पर यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि श्रम सम्बन्धी झगडो के कारण

हुई अस्थाई हानियों के अतिरिक्त मौद्रिक यन्त्र की क्रियाशीलता के फलस्वरूप कोई अतिरिक्त भार नहीं पड़ता, क्योंकि आय और कीमतें दोनों ही गिरी हैं। किन्तु यह आपत्ति वैध नहीं है, कारण केवल आन्तरिक वस्तुओं की ही कीमतें तो गिरती हैं, आयातित वस्तुओं की कीमतें नहीं। अतः वास्तविक मजदूरियाँ घट जाती हैं। इस प्रकार साख का सकुचन द्वितीयात्मक भार अवश्य ही डालता है।]

उक्त द्वितीयात्मक भार ही 'अन्तरण-हानि' (transfer loss) है। अतः जब इस अतिरिक्त भार के कारण स्वर्ण का बहिर्गमन होने लगे तो अन्तरण कठिनाइयों का उल्लेख करना उपयुक्त ही है। यह आवश्यक नहीं है कि अन्तरण कठिनाइयाँ सदा इसी रूप में हों कि उस दिन को जिस पर भुगतान किया जाना है आवश्यक विदेशी विनिमय उपलब्ध नहीं हो रहा है। वे अन्य रूपों में भी अनुभव की जा सकती हैं जैसे—साख का सकुचन करने में जो समायोजन आवश्यक होते हैं उन्हें करने की असमर्थता, श्रम सम्बन्धी झगड़े, व्यापक रूप से बेकारी का फैलाव, आदि। इन परिस्थितियों में अन्तर्गत सरकार के लिए करों द्वारा आवश्यक द्रव्य एकत्र करना भी कठिन हो जाता है। ऐसी दशा में अन्तरण कठिनाइयाँ बजट के घाटे के रूप में प्रगट होती हैं।

यदि आवश्यक वित्तीय कदम नहीं उठाये गये हैं या उठाये नहीं जा सकते, तो स्वर्ण बाहर जाने लगेगा और ऐसी दशा में अन्तरण कठिनाइयाँ विदेशी मुद्रा के अभाव के रूप में प्रगट होंगी। ऐसा तब होता देखा गया है जबकि भुगतानों के मुद्रा-विस्फीतिक प्रभावों (deflationary influence) को एक उदार साख नीति अपनाकर व्यर्थ कर दिया जाय, जबकि बाहर जाने वाले स्वर्ण को नवीन उत्पादित बैंक मुद्रा से प्रतिस्थापित कर दिया जाय या जब साख का सकुचन करने की आवश्यकता की या तो स्वयं भुगतानों के ही कारण या अन्य कारणों से उपेक्षा कर दी जाय। किन्तु 'अन्तरण कठिनाइयाँ' वाक्यांश का इस दशा में कोई बहुत निश्चित महत्त्व नहीं है। साख प्रसार की नीति सदा ही स्वर्ण के बहिर्गमन को बढ़ावा देती है चाहे एक पक्षी भुगतान किये जा रहे हों या नहीं।

अतः सदा ही यह कहना सम्भव नहीं है कि एक विशेष दशा में इस तरह की कठिनाइयाँ प्राथमिक भार के कारण उत्पन्न हुई हैं या द्वितीयात्मक भार के कारण, अथवा कुछ अन्य कारणों से हुई हैं। निःसन्देह इस आशय का कोई आर्थिक नियम नहीं है कि अन्तरण होने पर विस्तार की नीति अपनाई जानी चाहिए या पर्याप्त विस्फीति पैदा नहीं की जा सकेगी। अतः कठिनाइयों का स्रोत वास्तव में वह मौद्रिक नीति है जो कि अपनाई जाती है, विदेशों को विशाल रकमें अन्तरणित करने का दायित्व कठिनाइयों का स्रोत नहीं होती है। द्वितीयात्मक भार पड़ा है या नहीं इसका एक अच्छा चिन्ह सामान्यतः व्यापार शर्तों में परिवर्तन होना है। किन्तु याद रखना चाहिए कि व्यापार शर्तें किसी अन्य कारण से भी बदल सकती हैं। उदाहरणार्थ १९२८ और १९३१ के मध्य व्यापार शर्तें जर्मनी के पक्ष में परिवर्तित हो गई थीं, क्योंकि कच्चे

मालो की (जो कि जर्मनी के आयात का एक बड़ा भाग था) कीमतें निर्मित वस्तुओं की, (जिन्हें कि जर्मनी निर्यात करता था) अपेक्षा गिर गई थी। स्पष्टत ऐसा क्षति-पूरक भुगतानो के फलस्वरूप नही हुआ था।

इस प्रकार कीन्स ने यह दिखाया कि एक पक्षी भुगतान कीमतो तथा व्यापार की शर्तों म परिवर्तन आवश्यक बनाते है और ऐसे परिवर्तन प्राय भुगतान करने वाले राष्ट्र के लिए हानिकारक होते हैं।

ओहलिन का दृष्टिकोण—

ओहलिन ने कीन्स की विचारधारा के विरुद्ध इस आधार पर आपत्ति उठाई है कि इसने माग पक्ष के परिवर्तनो की भूमिका का दृष्टिगत नहीं रखा है। उदाहरणार्थ, जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति के भुगतान की समस्या को ही लीजिए। तथ्यत इसम क्रय शक्ति का जर्मनी से भुगतान पाने वाले देशो को अन्तरण किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि भुगतान पाने वाले देशो की माँग बढ गई है और जर्मनी की माँग कम हो गई है। अत हम अपरिवर्तित माँग के आधार पर तर्क नहीं कर सकते।[1] प्रोफेसर ओहलिन के तर्क के अनुसार यद्यपि जर्मनी की माँग कम और विदेशो की माँग बढ गई है तथापि वे सामूहिक रूप से पहले के बराबर मात्रा में क्रय करते है। ऐसे जेक्वस रियूफ (Jacques Rueff) ने क्रय-शक्ति की अविनाशिता का सिद्धान्त' (Principle of the Conservation of Purchasing Power) कहा है। यह सिद्धान्त बताता है कि विभिन्न आर्थिक परिवर्तनो के समय म क्रय-शक्ति न तो नष्ट होती है और न पैदा ही की जाती है, किन्तु वह सदा स्थिर रहती है।[2] एक

[1] 'We can, therefore, least of all argue on the basis of unaltered demand The decisive point for the machinery of capital movements is, on the contrary, that demand has undergone a radical change.. ... There is thus a market in A for more of B's goods than formerly On the other hand the market in B for A's goods is not as big as it was before The local distribution of demand has changed Prior to the beginning of the movement of capital the two countries were buying so much of all kinds of goods that their value equalled that of the goods produced at home On the other hand, after the capital movement started A buys more and B less of their combined production than before "—Ohlin : *requoted from The Theory of International Trade by Haberler*, p 70

[2] 'Never in the course of the various economic transformations that occur is purchasing power lost or created, but that it always remains constant "

पक्ष की हानि दूसरे पक्ष के लाभ मे सतुलित हो जाती है। हमारे विचाराधीन उदाहरण मे इसका अर्थ यह है कि भुगतान देने वाले देश की क्रय शक्ति घटने के रूप मे ही भुगतानों की राशि की अधिक से हानि कदापि न होगी। अत भुगतान करने वाले देश पर कोई द्वितीयात्मक भार (जिसकी कल्पना कीन्स ने की थी) नही पड़ता।

सही दृष्टिकोण—

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कीन्स और ओहलिन के सिद्धान्त परस्पर विरोधी तथा एक पक्षी है और सत्य दोनों के मध्य है। वास्तविक जगत मे अनेक प्रकार की दशायें देखने को मिल सकती हैं—ऐसी दशायें, जिनमें अन्तरण के लिए सामान्य कीमत स्तर मे परिवर्तनो की आवश्यकता पड़ती है तथा व्यापार शर्तों मे प्रतिकूल या अनुकूल परिवर्तन होता है, तथा, ऐसी दशायें भी, जिनमे अन्तरण के लिए कीमत परिवर्तन होना आवश्यक नही है तथा व्यापार शर्तें अपरिवर्तित रहती हैं। इस प्रकार एक ओर अन्तरण के फलस्वरूप हानि हो सकती है, किन्तु, दूसरी ओर, लाभ की सम्भावना भी है।

प्रो० ओहलिन का यह कहना निःसदेह सही है की कीन्स ने मॉग पक्ष सम्बन्धी उन परिवर्तनों पर, जो कि स्वय भुगतानो के कारण उत्पन्न होते है, ध्यान नहीं दिया है। हम अपरिवर्तित मॉग वक्रो के आधार पर तर्क नही कर सकते, क्योंकि भुगतान पाने वाले देशा के मॉग-वक्र (demand curves) दाहिनी ओर खिसक (shift) जाते हैं।[1] इसका अर्थ यह है कि मौद्रिक आयों मे वृद्धि के कारण पुरानी कीमतों पर ही पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे खरीद की जायेगी। यहाँ तक भी सम्भव है कि जर्मन निर्यातों की कीमतो म कोई भी कमी हुए बिना ही अन्तरण सम्पन्न हो जाय। [ऐसा तब सम्भव है जबकि (मान लीजिए) क्षतिपूर्ति-कर लगाने से राष्ट्रीय आय म हुई घटौती उन्हो वस्तुओ के लिए विदेशी मॉग मे हुई वृद्धि के कारण निष्प्रभावित (offset) हो जाय। इस बात से कोई अन्तर नहीं पडेगा कि ये जर्मन वस्तुयें हैं जिनका निर्यात अब बढ जाता है, या वे विदेशी वस्तुयें है जो अब पहले की तुलना मे कम आयात की जाती हैं।]

किन्तु, सामान्यत, मॉग मे कमी और मॉग म वृद्धि भिन्न-भिन्न वस्तुओ को प्रभावित करती है, जिसके परिणामस्वरूप कीमतो और उत्पादन मे परिवर्तन होने

---

1 "Prof Ohlin is undoubtedly correct in maintaining that Mr. Keynes ignores the shifts on the demand side produced by the payments themselves One can not operate with unchanged demand curves of given elasticity, since the demand curves of the countries receiving payment will have shifted to the right."—Haberler *The Theory of International Trade*, p. 73.

अनिवार्य है। प्रो० ओहलिन ने भी यह स्वीकार किया है कि माँग मे कमी क्षति-पूर्ति का भुगतान करने वाले देश मे उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओ को ही मुख्यत प्रभावित करेगी और माग मे वृद्धि भुगतान पाने वाले देश मे उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओ को ही प्रमुख रूप से प्रभावित करती है। किन्तु उन्होने यह तर्क किया कि प्रथम प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन सीमित किया जायेगा और उत्पत्ति साधन निर्यात उद्योगो मे प्रयोग के लिए मुक्त (release) होने लगेगे। यही तर्क उन वस्तुओ को भी लागू होता है जिनकी माग बढ गई है। उनका उत्पादन निर्यातो के बलिदान पर भी बढाया जायेगा जिससे व्यापार सतुलन पर प्रभाव पडेगा।

यह तो सब ही स्वीकार करेंगे कि या तो भुगतान पाने वाले देश के निर्यातो म कमी होनी चाहिये अथवा भुगतान देने वाले देश के निर्यातो म वृद्धि, क्योकि किसी तीसरे तरीके मे निर्यात-आधिक्य उत्पन्न होना सम्भव नही है। किन्तु प्रश्न यह है कि उत्पत्ति के इस हेरफेर द्वारा कीमतो मे क्या परिवर्तन हो जाते है ?

दो प्रकार के कीमत-परिवर्तन—यहा हमे निम्न दो प्रकार के कीमत परिवर्तनो मे भेद करना चाहिये—(अ) पुराने से नये साम्य मे परिणित होने के सक्रमण काल म अस्थाई कीमत भेद (temporary price discrepancies) एव (ब) नये और पुराने साम्य के मध्य व्यापार शर्तो का स्थाई रूप से परिवर्तन (permanent shift of terms of trade)। एक बार फसल बिगडने या एक मुश्त रकम का भुगतान करने से कीमत भेद उदय हो सकता है जिसमे निर्यात प्रोत्साहित एव आयात हतोत्साहित होते हैं तथा साम्य पुन स्थापित हो जाता है। किन्तु कीमतो मे देशो के बीच यातायात व्यय की राशि से अधिक अन्तर होना साम्य के साथ सगति नही रखता, अत वह अधिक समय तक बना नही रह सकता। एक सघर्ष मुक्त (frictionless) बाजार मे तत्काल ही समायोजन हो जायेगा और जबकि 'कीमत परिवर्तन' (price changes) तो हो सकते है किन्तु कीमत भिन्नतायें (price discrepancies) नही हो सकती हैं।

'कीमत भिन्नतायें बहुत समय तक नही रह सकती है'—इस तथ्य का यह अर्थ नही होता कि व्यापार की शर्तें अपरिवर्तित रहेगी। जर्मन निर्यातो की कीमतो मे कमी तथा जर्मन आयातो की कीमतो मे वृद्धि होना सम्भव है। किन्तु इससे इस नियम की कि 'कीमतें विभिन्न देशो मे समानता की प्रवृत्ति रखती हैं' सत्यता पर आँच नही आती है क्योकि जर्मनी की निर्यात वस्तुओ की कीमतें जर्मनी मे और अन्य देशो मे भी गिर जाती है और यही बात आयातो के सम्बन्ध मे भी है। अर्थात् आयातित वस्तुओ की कीमतें देश विदेश दोनो मे बढ जाती हैं। कीमतो मे ऐसा परिवर्तन एक ऐसी सामान्य (normal) दशा मे हो सकता है, जिसमे व्यापार सन्तुलन पर माँग के परिवर्तनो का प्रत्यक्ष प्रभाव आवश्यक निर्यात अतिरेक उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त नही है, क्योकि विदेशी देश जर्मन निर्यातो के क्रय प अपनी

(क्षतिपूर्ति के कारण) बढ़ी हुई आय का केवल एक अल्प भाग ही व्यय करते हैं। आखिर को निर्यात आयात किसी भी देश के कुल उत्पादन की तुलना म एक अल्प भाग ही होता है। अत बढ़ी हुई आय का एक बड़ा भाग स्वदेशी उत्पादन पर व्यय किया जा सकता है।

जर्मन निर्यातों की कीमतो म कितनी कमी आयेगी यह प्रथमत विदेशी माग की लोच पर निर्भर है। हैबरलर का कहना है कि माग साधारणत बहुत लोचदार होती है, क्योंकि विश्व बाजार किसी एक अकेले देश से निर्यातों के परिमाण की तुलना म कहीं अधिक विशाल है। इसके अतिरिक्त यह बात भी, कि जर्मनी को एकाधिकार प्राप्त नहीं है वरन् अन्य देशों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है उसी दिशा म कार्यशील होती है। कीमतो म कमी न केवल माँग को समग्र रूप म, प्रोत्साहित करेगी वरन् कुछ विदेशी प्रतियोगियों को भी बाजार से निकाल देगी।[1] यह इसलिये और आसान हो जाता है कि भुगतान पाने वाले देशों म स्वदेशी वस्तुओं के लिये माँग बढ़ जाती है तथा परिणामस्वरूप, आवश्यक समायोजन वहाँ पहले से ही किया जाने लगता है।

द्वितीय, कीमतों मे कमी की मात्रा जर्मनी म तथा, यथोचित परिवर्तन सहित, दशी प्रतियोगी उद्योगों मे पूर्ति सम्बन्धी दशाओं पर भी निर्भर होती है।[2] उदाहरणार्थ, यदि जर्मन निर्यातों का उत्पादन घटती हुई लागत के आधीन बढ़ाया जा रहा है तो जर्मनी की कठिनाइयाँ नि सदेह कम हो जायेगी। यदि स्थिर लागते क्रियाशील है, तो कीमतो म कोई परिवर्तन (shift) न होगा।

सैद्धान्तिक दृष्टि से यह भविष्यवाणी करना कठिन है कि ये घटक किस प्रकार क्रियाशील होगे। यही नहीं, 'परिणाम इस बात पर भी निर्भर है कि पूर्ति को समायोजन के लिय हम कितना समय देते हैं। सामान्यत जितनी लम्बी यह अवधि होगी उतनी ही कम कीमत परिवर्तन की आवश्यकता होगी। कारण, जब एक बार

---

[1] "By how much the price of German exports must fall depends, first on the elasticity of demand abroad demand is as a rule very elastic since the world market is, after all large compared with the volume of exports from any single country. Moreover, the fact that Germany has no monopoly but competes with other countries also works in the same direction. A fall of prices does not only stimulate demand as a whole but will also drive some foreign competitors out of the market"—*Ibid*, p 75

[2] The extent of the fall in price depends, secondly, on the conditions of supply .. and also mutatis mutandis, in the competing industries abroad"—*Ibid*, p 75

निर्यात के विस्तार में आने वाली बाधाओं को शक्तिशाली कीमत कटौतियों द्वारा दूर कर दिया जाता है, तब इस प्रकार से खोली हुई दिशाओं में निर्यात पहले की अपेक्षा ऊँची कीमतों पर भी जारी रह सकता है।''[1]

यद्यपि इन सब अन्तर्सम्बन्धों को सही-सही संक्षिप्त करना कठिन है तथापि सैद्धान्तिक रूप से व्यापार शर्तें जर्मनी के पक्ष में इस प्रकार से परिवर्तित हो सकती हैं जिसस कि जर्मन निर्यातों की कीमत बढ़ जायें और जर्मन आयातों की कीमतें घट जायें। इसका यह विरोधाभासीय फल होता है कि स्वर्ण जर्मनी में प्रवाहित होने लगता है तथा अन्तरण मिकेनिज्म भुगतान करने वाले देश की स्थिति को सुगम बना देता है। निःसंदेह यह कोई बहुत सम्भव दशा नहीं है।

स्मरण रहे कि ये सब बातें केवल सैद्धान्तिक महत्व की हैं। इनमें व्यावहारिक उपयोगिता कम है। वास्तविक उदाहरणों में सम्बन्धित घटक एवं इनकी सम्भावित प्रतिक्रियायें इतनी जटिल होती हैं कि अन्तरण प्रक्रिया में सन्निहित कीमत परिवर्तनों को मालूम करना बहुत ही कठिन होता है। इस पर भी हैबरलर की सम्मति में, आहलिन का यह कहना ठीक है कि 'भुगतान करने वाले देश में कीमतों के गिरने और भुगतान पाने वाले देश में कीमतों के बढ़ने की धारणा अत्यधिक सरलीकरण (over simplification) है। यह विश्लेषण खण्डीय कीमत स्तरों (sectional price levels) के बारे में होना चाहिये, सामान्य कीमत स्तर (general price level) के बारे में नहीं।'[2]

एकपक्षीय भुगतान एवं पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन
(Unilateral payments and International Movements of Capital)

एकपक्षीय भुगतानों का वस्तुओं और सेवाओं के आयात निर्यात पर तथा कीमत-

---

[1] "The result depends on how long one allows for supply to adjust itself In general it holds true that the longer one allows, the smaller will be the necessary price changes For once the obstacles to an expansion of exports have been swept aside by energetic under cutting exports can afterwards be maintained in the channels thus opened even at a rather higher price than before"—Haberler : *The Theory of International Trade*, p 75

[2] But in any case as pointed out by Prof Ohlin, it is an over simplification to say that prices fall in the country paying reparations and rise in the country receiving them The analysis must be in terms not of general but of sectional price levels"

—*Ibid*, p 76.

स्तर पर जो प्रभाव पड़ता है वह सामान्यत पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमनो पर इनके गहरे प्रभाव के कारण एक अल्प या दीर्घ अवधि के लिये दृष्टि मे ओझल हो जाता है।

एकपक्षीय भुगतानो का पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन पर प्रभाव—

विशाल एकपक्षीय भुगतान करने वाला देश किसी न किसी रूप मे पूँजी का आयात अवश्य करने लगता है। यही कारण है कि व्यापार एव सेवाओ के सन्तुलन पर इन भुगताना का प्रत्यक्ष प्रभाव स्थगित हो जाता है या दुर्बल पड जाता है। प्रारम्भ मे, भुगतान चालू उत्पादन म से नही वरन विदेशी लेनदारो द्वारा किये जायेंगे। अतः अन्तरण स्थगित हो जाता है और यदि नई साख वास्तव म लौटा दी जाय तो यह कई वर्षो की अवधि मे किश्तो मे किया जाता है।

उपरोक्त अन्तरण ऋण (Transfer Credits) जिस रूप म दिये जायेंगे वह तथा इन्हे एक पक्षीय भुगतानो से सम्बन्धित करने वाला मिकेनिज्म बहुत विभिन्न हो सकने है। जब ऋण स्वय ऋणी को ही दिये जाते है तो यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष और स्पष्ट होता है। टिकाऊ सम्पत्ति के अधिकार पत्रो का अन्तरण भी ऐसे ही प्रभाव रखता है।[1] उदाहरणाथ जमनी के व्यापारिक जहाजो और विदेश स्थित जमन सम्पत्ति के हस्तान्तरण ने व्यापार सतुलन को तत्काल ही प्रभावित नही किया, वरन उस अवधि के बीतने पर किया जिसमे कि इनकी आय प्राप्य होती थी।

यह धारणा कि पूँजी के आयातो बिना अन्तरण सम्भव नही होता प्रत्यक्ष ऋणो से इतनी सम्बन्धित नही है जितनी की भुगतानो के उन प्रभावो मे जो ऋणी के अतिरिक्त अन्य लोगो का पूँजी के आयात की प्रेरणा देते है।

वास्तव मे किये जा चुके भुगतान, आवश्यक द्रव्य राशियो का एकत्रण एव अन्तरण सम्भव बनाने के हेतु आवश्यक साख नियमन ये सब बातें मुद्रा-और पूँजी बाजारो मे अभाव की स्थिति उत्पन्न कर देती है, जिससे कि वहाँ ब्याज दर विदेशी बाजारो की अपेक्षा बढ जाती है। इससे अल्पकालीन पूँजी देश मे आक र्षित होने लगती है, अथवा, यदि देश अभी तक पूँजी का निर्यात करता आया था, तो वह ऐसा अब कम मात्रा मे करता है। यदि भुगतान इतने विशाल हैं कि पूँजी के सचय मे बाधा पड जाय (जैसा कि जर्मनी मे हुआ था), तो न केवल अल्पकालीन वरन दीर्घकालीन पूँजी भी आयात की जाने लगती है। अर्थात डिबेंचर,

---

[1] "The form in which these transfer credits are granted and the mechanism connecting them with the unilateral payments may vary considerably A direct and obvious connection exists where the loan is made to the debtor himself The transfer of titles to durable property has similar effects"

—*Ibid* p 76

शेयर आदि विदेशियों को बेचे जाते है, विदेशी बाजार में नये इश्यू निकाले जाते हैं, आदि आदि।

किन्तु इन सब दशाओं में 'अन्तरण समस्या' सुलझती नहीं है वरन् स्थगित मात्र होती है। जब अन्तरण अन्त में किया जाय तो वह ऊपर वर्णित सिद्धांतों के अनुसार होता है। हां, 'स्थगन' बिलकुल 'समाप्ति' में भी परिणित हो सकता है। यह उस दशा में होता है जबकि देनदारों के दिवालिया होने में अन्तरण-साख (transfer credit) मूल्य रहित हो जाय। किन्तु उल्लेखनीय है कि जिन लेनदारों का रुपया मारा जाय, जरूरी नहीं है कि वे एकपक्षीय भुगतान पाने वाले देशों के ही राष्ट्रजन हों वे किन्हीं अन्य देशों के राष्ट्रजन भी हो सकते है।

यह भी आवश्यक नहीं है कि भुगतान करने वाला देश विदेशों से जो साख प्राप्त करे वह सब एक पक्षीय भुगतान के कारण ही प्राप्त हो। अर्थात्, साख अन्य कारणों से भी प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणार्थ जर्मनी को जो कुल साख प्राप्त हुई उसका अधिकांश भाग उसे हर हालत में प्राप्त होता, चाहे उसे एकपक्षीय भुगतान करने थे या नहीं। कारण, उन दिनों विदेशी लेनदारों को जर्मन के उज्ज्वल औद्योगिक भविष्य में विश्वास था। विदेशियों के इसी विश्वास के कारण जर्मनी बड़े पैमाने पर पूँजी का आयात कर सका था। निःसन्देह यह कहना कठिन है कि कितनी पूँजी एकपक्षीय भुगतान की आवश्यकता के कारण आयात की गई थी, क्योंकि वह अनेक बातों पर निर्भर थी, जैसे—क्षतिपूर्ति सम्बन्धी करों ने उपभोग घटाया या पूँजी के सचय को कम किया, अन्तरण हानि की विद्यमानता और उसका आकार, साख सकुचन की सीमा आदि।

सभावित अन्तरण की सीमाये
(Limits of the Possible Transfer)

यह विचार करना भी आवश्यक है कि अन्तरण किस दशा में सम्भव है और किस दशा में नहीं। जैसा कि हम पहले भी बता चुके है, अन्तरण के लिए सर्वप्रथम तो आवश्यक राशि जुटानी पड़ती है तथा, दूसरे, कीमतों में परिवर्तन होने भी आवश्यक है। ये कीमत-परिवर्तन उत्पन्न किये जा सकते हैं या नहीं, यह एक अलग बात है तथा अनेक घटकों पर निर्भर करती है, जिनका विवेचन नीचे किया जाता है। [मान लीजिये कि आवश्यक द्रव्य राशि एकत्र की जा चुकी है। यह भी मान लीजिये कि अर्थव्यवस्था में न्यूनतम लोच, जिसके बिना अन्तरण कदापि सम्भव नहीं होगा, मौजूद है। अन्य शब्दों में, उत्पत्ति साधनों की कीमतें (विशेषतः मजदूरियाँ) पूर्णतः बेलोच नहीं है] —

(१) चलन में आनुपातिक वृद्धि—आवश्यक समायोजन होने के लिए यह जरूरी है कि भुगतान देने वाला देश साख को प्रतिबन्धित (control) करे। उसे उन प्रभावों के लिए तैयार रहना चाहिए जो कि स्वचालित स्वर्णमान के अन्तर्गत उत्पन्न होते है। जैसे, जब स्वर्ण देश में आवे, तो उसे चलन में वृद्धि करनी चाहिए। यदि

वह चलन में अनुपातिक वृद्धि नहीं होने देता, तो अन्तरण मिकेनिज्म का वह भाग, जोकि लेनदार देशो मे आयों और कीमतों मे वृद्धि करने से सम्बन्धित है, निष्क्रिय हो जाता है, अर्थात् काम करना बन्द कर देता है। तब समायोजन का सम्पूर्ण भार देनदार देश पर पड़ता है, जिससे वहाँ कीमतों और मजदूरियो में उससे कहीं अधिक गिरावट की आवश्यकता पड़ती है जो कि अन्यथा दशा मे होती।

(२) **मुद्रा कोष का चलन के साथ अनुपात**—यदि चलन मे वृद्धि प्राप्त हुए अतिरिक्त कोष की सम्पूर्ण रकम के बराबर है, तो कोष का चलन के साथ अनुपात ऊँचा हो जाता है। यदि बैंक अपने 'कोष-अनुपात' को बढाना नही चाहता है तो फिर मुद्रा-मात्रा मे अन्तरण-धनराशि की अपेक्षा अधिक वृद्धि करनी चाहिए। यही बात यथोचित परिवर्तन के साथ भुगतान करने वाले देश मे सकुचन के सम्बन्ध मे भी लागू होती है। ध्यान रहे कि कीमत भिन्नता केवल एक बार उदय मान हो जानी चाहिए, बाद म इसे, जबकि अन्तरण प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी है, घटाया भी जा सकता है। अर्थात् प्रत्येक वार्षिक किश्त को चुकाने के लिए प्रगतिशील (या अधिकाधिक) दर से सकुचन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

(३) **व्यापार चक्र की अवस्था**—सम्बद्ध देश व्यापार चक्र की जिस अवस्था मे से गुजर रहे हो उसका भी अन्तरण विषयक नीति की अनुकूलता पर प्रभाव पड़ता है। जबकि साख का विस्तार किया जा रहा है तब आवश्यक समायोजनो के लिये केवल इतना ही पर्याप्त होगा कि विस्तार की गति भुगतान पाने वाले देश म बढ जाय और भुगतान करने वाले देश मे कम हो जाय। लेकिन मन्दीकाल में भुगतान करने वाले देश को चाहिए कि विस्फीति प्रक्रिया को, जो कि व्यापार चक्र की इस अवस्था की एक अपरिहार्य विशेषता है उग्रता प्रदान करे। किन्तु इस अवस्था मे भुगतान पाने वाले देशों के मौद्रिक अधिकारियो से केवल अल्प सहयोग की ही आशा की जा सकती है।

(४) **टैरिफ स्तर और अतर्राष्ट्रीय व्यापार का परिमाण**—अतरण सम्बन्धी कठिनाइयाँ व्यापार मे रुकावटें खडी करने मे बढ जाती है। यदि टैरिफो के विद्यमान स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परिमाण (volume) यथेष्ठ है तो एकपक्षीय भुगतानो के अन्तरण म कोई विशेष कठिनाई नही होगी। कारण टैरिफ होते हुए भी, अनेक वस्तुओ की कीमत निर्यात बिन्दु से कुछ ही ऊपर तथा अनेक वस्तुओ की कीमत आयात बिन्दु से कुछ ही ऊपर होगी जिससे थोडा प्रयत्न करके ही निर्यातो को बढाया और आयातो को घटाया जा सकता है। अत विद्यमान टैरिफ किसी भी बडी रकम (जब तक कि वह बहुत ही असाधारण रूप से बडी न हो) के अन्तरण में कोई गम्भीर अडचन उत्पन्न नहीं करते। और यदि टैरिफो के कारण निर्यातो म वृद्धि करना कठिन भी हो तो कम से कम आयात तो घटाए ही जा सकते है।

किन्तु, जब टैरिफ निरन्तर बढाये जाते रहे, तो भुगतान करने वाले देश मे कीमतें भी निरन्तर कम होती जानी चाहिये। यदि वही देश, जो भुगतान करने पर

जोर देते हैं, साथ ही आयातों का प्रत्येक सम्भव उपाय से (अपने व्यापार सतुलन के सुधार अथवा विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा के लिए) सीमित रखने की चेष्टा करते है तो उनकी नीति बलात्कारपूर्ण कही जायेगी। इस बात से कोई अन्तर नही पडेगा कि उनकी आयात प्रतिबन्ध नीति सभी देशो के विरुद्ध है या इसमे भुगतान करने वाले देश को प्राथमिकता प्रदान की गई है। कारण वस्तु के रूप मे, भुगतानों का अन्तरण प्रत्यक्ष रूप मे नहीं वरन् अप्रत्यक्ष रूप से, त्रिकोणीय व्यापार (triangular trade) द्वारा सम्पन्न होता है।[1]

सङ्कटकाल मे अन्तरण मिकेनिज्म की क्रियाशीलता
(Operation of the Transfer Mechanism in Times of Crisis)

यह विचारणीय है कि सङ्कटकाल मे (जैसे १९३१ की महान मन्दी म) अतरण मिकेनिज्म, जिसका विवेचन हमने ऊपर किया है, किस सीमा तक कार्यशील रहता है। इन परिस्थितियों म अन्तर्राष्ट्रीय ऋण मिलने की, और इसके साथ ही साथ डिस्काउन्ट नीति द्वारा अल्पकालीन पूँजी के आवागमनो को नियत्रित करने की सम्भावनाये बिल्कुल ही समाप्त हो जाती है। यदि किसी देश के लेनदार उसकी शोधक्षमता और उसकी करैंसी मे विश्वास खो द, तो वे अपने हितो की रक्षा के लिय कटिबद्ध हो जायेंगे। ऐसी दशा मे बैंक दर मे कितनी भी बडी वृद्धि कर देने से पूँजी को आकर्षित नही किया जा सकेगा। यही 'बस' नही है। पतन की लहर अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी बाजार से प्रारम्भ होकर स्वय 'करैंसी' का भी अपनी चपेट मे ले सकती है। कारण ज्वाइन्ट स्टॉक बैंक्स अपनी स्थिति को सुरक्षित करने के लिये उस रिक्तता को जो कि विदेशी साख वापिस लिये जाने से हुई है, केन्द्रीय बैंक को बिल बेच कर पूरा करने का यत्न करते है, जिससे केन्द्रीय बैंक के कोष कम होने लगते है तथा विनिमय के ह्रास का खतरा उपस्थित हो जाता है। फलत केन्द्रीय बैंक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को नियत्रित करने के लिए प्रेरित होता है किन्तु इस पर भी उसे समता को कायम रखने मे सफलता मिलना बहुत कठिन है।

वित्तीय सकट का कारण व्यापार चक्र हो सकता है या युद्ध अथवा अन्य। कारण कुछ भी हो, साख का प्रवाह अचानक सूख जाने से वित्तीय सङ्कट और भी उग्र हो जाता है। चाहे देश मे ही साख का विस्तार रुक गया हो या विदेशी लेनदारों द्वारा साख देना बन्द कर दिया गया हो इनमे कोई अन्तर नहीं पडता। दोनो ही दशाओं मे अनगिनत व्यक्ति, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूँजी के प्रवाह पर निर्भर होते है, कठिनाई म पड जाते है। जब चक्र 'तेजी' से 'मन्दी' मे परिवर्तित हो जाता है, तब पूँजीगत वस्तुयें बनाने वाले उद्योग, जिनमे साख के विस्तार के दिनो मे सबसे भारी विनियोजन किया गया था, सर्वाधिक नुकसान उठाते है। यह दबाव शीघ्र हो उन बैंकों तक जिन्होने इन उद्योगो को वित्त दिया था, पहुँचने लगता है। ये बैंक्स

---

[1] Haberler *The Theory of International Trade*, p. 80

अपनी रक्षा के लिये केन्द्रीय बैंक से अधिक संख्या में बिल रीडिस्काउन्ट (Re-discount) कराने लगते हैं। कुछ बैंकों के दिवालिया होने से जो आतंक उत्पन्न होता है वह शीघ्र ही सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली पर फैल सकता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपना द्रव्य सुरक्षित स्थान में हटाने के लिये बेचैन हो जाता है। यदि आतंक विस्तृत हो जाय, तो ठोस से ठोस बैंक भी अपने द्वार बन्द करने को विवश हो जाते हैं, क्योंकि कोई भी बैंक एक ही साथ अपने समस्त दायित्वों को निपटाने में समर्थ नहीं होता।

ऐसी परिस्थिति में प्रायः केन्द्रीय बैंक मदद के लिये आगे बढ़ता है। यदि द्रवता का अभाव अस्थाई है तो (जैसा कि मौद्रिक इतिहास बताता है) विश्वास पुनः स्थापित करने में केन्द्रीय बैंक सफल हो जायेगा। किन्तु जब साख की रुकावट विदेशों से है, स्वदेशी पूँजी भी भाग रही है और विदेशों से केन्द्रीय बैंक को विशाल ऋण नहीं मिल रहे हैं, तो वह अपने कोषों में कमी सहन करके ही हस्तक्षेप कर सकता है। किन्तु, स्मरण रहे कि कोष-अनुपात में गिरावट होने से विश्वास को और भी अधिक चोट पहुँचती है और साख के लौटाने (withdrawal of credit) की गति बढ़ जाती है जिस कारण इस नीति का क्षेत्र सीमित ही है।

ऐसी दशा में केन्द्रीय बैंक को यह निर्णय करना पड़ता है कि क्या उसे सङ्कट-ग्रस्त बैंकों से समर्थन हटा लेना चाहिये अथवा अपनी साख को क्षति पहुँचने देकर विनिमय को अस्त व्यस्त होने देना चाहिए। यदि उसने पहली नीति अपनाई, तो सम्भव है कि विदेशी लेनदार, इस भय से कि कहीं उनके देनदार दिवालिया न हो जायें अपनी पूँजी निकालना रोक दें। प्रायः करेंसी में अविश्वास इस कारण से उत्पन्न होता है कि केन्द्रीय सरकार ने अत्यधिक उदार साख-नीति अपनाई थी या लोगों को यह आशा थी कि वह ऐसी नीति अपनायेगी।

विनिमय नियन्त्रण और अन्तरण मिकेनिज्म
(Exchange Control and Transfer Mechanism)

सङ्कटकाल में, स्वर्ण के बाहर जाने लगने से, मौद्रिक मिकेनिज्म कार्य करना बन्द कर देता है। स्वर्णमान के अन्तिम दिनों में ऐसा ही हुआ था जिससे वह अन्ततः टूट गया। आजकल, स्वतन्त्र विनिमय का स्थान विनिमय नियन्त्रण ने ले लिया है। विनिमय नियन्त्रण का प्राथमिक उद्देश्य स्वर्ण खोये बिना ही विदेशी विनिमय की दर को उस दर से, जो कि स्वतन्त्र बाजार में प्रचलित होती, ऊँचे स्तर पर कायम रखना है। इस हेतु ऐसे प्रयत्न किए जाते हैं जो कि विदेशी मुद्रा की पूर्ति और इसके लिए माँग दोनों को प्रभावित करें। इसके लिए यह भी आवश्यक होता है कि विदेशी मुद्रा के लेन-देनों पर एक केन्द्रीय अधिकारी का नियन्त्रण स्थापित किया जाय।

पूर्ति को वश करने के लिए मुद्रा अधिकारी एक विनिमय फण्ड में से बिलों का विक्रय कर सकते हैं, विदेशी मुद्रा की समस्त चालू प्राप्तियों को अपने अधिकार में ले सकते हैं। वस्तुओं और सेवाओं के निर्यातकों और ब्याज व मूलधन सम्बन्धी सम्भुगतान पाने वालों को यह प्राप्त-धन विदेशों में विनियोग करने की अनुमति नहीं

दी जाती है और उन्हे इसे स्वदेशी मुद्रा मे ही एक निश्चित दर पर बदलने को कहा जाता है। विदेशी देशों में जो ऋण प्रतिभूतियाँ, सम्पत्तियाँ, आदि हों उन पर भी अधिकार किया जा सकता है।

विदेशी बिलों के लिए माँग को कम करने के हेतु कुछ विशेष प्रकार के भुगतान विदेशो को भेजने का निषेध किया जा सकता है, आवश्यक एव अनावश्यक आयातो मे भेद किया जा सकता है विशेष पर्यटन को अप्रोत्साहित किया जाता है, देनदारो को यह आदेश दिया जा सकता है कि वे अपने लेनदारो को भुगतान न भेजें यथास्थिति समझौते (standstill agreements) किये जा सकते है, आदि-आदि।

विनिमय नियन्त्रण के उपरोक्त उपायो पर एक पिछले अध्याय म प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ पर जो ध्यान देने की बात यह है कि कुछ दशाओ म विनिमय नियन्त्रण अन्य दशाओं की अपेक्षा अधिक सफल हो सकता है। ऐसी दो प्रमुख दशायें हैं —(i) **विनिमय की दुर्बलता, स्वर्ण का बहिर्गमन तथा भुगतान सन्तुलन का सकट देशी और विदेशी पूँजी के भागने** (flight of capital) **के कारण हो सकता है।** यह पूँजी निष्क्रमण पूँजी के निर्यात से भिन्न है, क्योंकि वह 'जोखिम' घटक के कारण होता है, 'लाभ' घटक के कारण नही। पूँजी उन देशो में प्रवाहित नही होती है जिनमे कि ब्याज दर ऊँची है वरन उन देशो में प्रवाहित होती है जिनमे जोखिम कम है भले ही वहा ब्याज दर कम हो। (ii) **विनिमय की दुर्बलता और स्वर्ण के बहिर्गमन का इससे भी गम्भीर कारण यह हो सकता है कि आय खाते का भुगतान सन्तुलन एक दी हुई विनिमय दर पर निरन्तर निष्क्रिय बना हुआ है।** यदि कीमतें और आय देश में अन्य देशो की तुलना मे साम्य बिन्दु से ऊँची है, तो आयात (सेवायें, ब्याज सम्बन्धी भुगतान, पूँजी की वापिसी और अधिकतम लाभ की तलाश मे होने वाले पूँजी के सामान्य आवागमन) निर्यात की अपेक्षा बढ़े हुए होगे। इसे स्वदेशी और विदेशी कीमतो के मध्य साम्य की पुन स्थापना द्वारा ही सुधारा जा सकता है। इस हेतु या तो विनिमय मे ह्रास हो देना चाहिए या कीमतों को बलात् गिराना चाहिए।

ये दोनों दशायें शायद ही कभी पृथक-पृथक उत्पन्न होती हो और एक दशा दूसरी दशा को उत्पन्न करने वाली है। उदाहरणार्थ, पूँजी का निष्क्रमण साख प्रसार को सुगमता से जन्म दे सकता है और, दूसरी ओर, स्वर्ण का दीर्घकालिक बहिर्गमन, जोकि कीमतो को अधोमुखी समायोजित (downward adjustment) न करने का परिणाम है, विश्वास को नष्ट करके पूँजी के निष्क्रमण को प्रोत्साहित कर देता है। किन्तु सैद्धान्तिक विश्लेषण के लिए इन दशाओं पर पृथक-पृथक विचार किया जा सकता है।

पहली दशा मे पूँजी का निष्क्रमण (flight) तो होता है किन्तु आय खाते पर भुगतान सन्तुलन साम्यावस्था मे ही बना रहता है। अत कीमतें दीर्घकालीन

साम्य स्थिति से ऊँची नहीं होती है, किन्तु फिर भी पूँजी के अस्थाई निष्क्रमण के सन्दर्भ में काफी ऊँची रहती है। अन्तरण के लिए या तो चलन माध्यम को संकुचित करने की तकलीफ झेलनी पड़ेगी, या (यदि पूँजी की कमी बैंक साख द्वारा दूर हो जाय तो) विनिमय दर को गिरना होगा। विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य, पूँजी के निष्क्रमण को रोक कर, अधिकारियों को इस दुविधा (dilemma) से बचाना है।

जर्मनी के अनुभव से यह पता चला है कि कुछ सीमाओं के भीतर, आर्य (?) स्थान पर व्यावसायिक भुगतानों को नुकसान पहुँचाये बिना, पूँजी का निष्क्रमण रोका जा सकता है। किन्तु ये सीमायें क्या दशायें, जो इस नीति की सफलता में सहायक हैं सावधानी से याद रखी जानी चाहिए। इन्हें निम्न प्रकार से संक्षिप्त किया जा सकता है —(i) करेंसी को स्थायित्व प्रदान किया जाय, (ii) यदि आय खाते पर भुगतान सन्तुलन विपरीत हो, तो कीमतों और आयों को, साख के सकुचन द्वारा गिराया जाय, (iii) अपरिहार्य पूँजी निर्यातों के लिए आय खाते में यथेष्ठ आधिक्य उत्पन्न किया जाय, अन्यथा स्वर्ण बाहर जाने लगेगा या विनिमय दर गिरेगी। इन दोनों ही दशाओं में पूँजी के निष्क्रमण की गति बढ़ जायेगी। उल्लेखनीय है कि जिस तरह से लोग बैंक से रुपया निकालने के लिए तब नहीं दौड़ेंगे जबकि वे यह अनुभव करें कि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें रुपया मिल जायेगा, उसी प्रकार से देश में पूँजी का निष्क्रमण तब नहीं होगा, अर्थात्, लेनदार अपनी पूँजी तब वापस नहीं मांगेंगे जबकि इसकी वापिसी की समुचित व्यवस्था कर दी जायेगी।

एक बार जब पूँजी के निष्क्रमण का बढ़ावा देने वाले कारण दूर हो जायें, तब नियन्त्रण को, विनिमय दर को ठेस पहुँचाये बिना भी, हटाया जा सकता है। किन्तु व्यवहार में देखा गया है कि एक प्रकार के विनिमय नियन्त्रण दूसरे प्रकार के विनिमय नियन्त्रणों को जन्म दे देते हैं।

इस प्रकार, भुगतान रोकने या स्थगित करने के लिए तथा आयातों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित करने के लिए अनगिनती उपाय अपनाये जा सकते हैं किन्तु सामान्य सिद्धान्त सबका एक ही है और यह है कि यदि कीमत यन्त्र कार्य नहीं कर सकता है तो फिर मांग की पूर्ति के साथ किसी अन्य उपाय द्वारा समायोजित किया जाय। इस हेतु या तो सामान्य नियम बनाये जा सकते हैं या विशेष दशाओं के लिए विशेष नियम बनाये जा सकते हैं।

देश के ऋणी और ऋणदाता होने के चिन्ह

किसी देश का भुगतान-सन्तुलन या तो साम्यावस्था में (in equilibrium) होता है अथवा असाम्यावस्था में (in disequilibrium)। प्रायः भुगतान सन्तुलन असाम्यावस्था में ही होते हैं, साम्यावस्था तो एक अपवादभूत (exceptional) दशा है। जब वह असाम्यावस्था में है, तो या तो देश अन्य देशों के प्रति ऋणी होता है [ऐसी दशा में उसे एक 'ऋणी देश' और उसके भुगतान सन्तुलन को 'निष्क्रिय' कहते हैं] या अन्य देश उसके प्रति ऋणी होते हैं। [ऐसी दशा में उसे एक 'लेनदार देश'

और उसके भुगतान-सन्तुलन को 'सक्रिय' कहते हैं।] इसी प्रकार, जब किसी देश के भुगतान सन्तुलन में साम्यता है (यद्यपि ऐसा बहुत ही कम होता है), तो भी वह अन्य देशों को ऋण देकर एक लेनदार राष्ट्र बन सकता है, अथवा, अन्य देशों से ऋण लेकर एक देनदार राष्ट्र हो सकता है।

किसी राष्ट्र के ऋणी होने के कई कारण हो सकते हैं, जैसे—उसे युद्ध की क्षतिपूर्ति देनी पड़ती हो, अथवा उसे पिछले ऋण पर ब्याज सम्बन्धी भुगतान करने पड़ते हों। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दीर्घकाल में एक वस्तु विनिमय व्यापार ही तो है, मुद्रा एवं विनिमय सम्बन्धी व्यवहार तो व्यापार के मार्ग को सहज बनाते हैं। अतः एक देश अन्य देशों से वस्तुओं और सेवाओं के रूप में अधिक ले लेने के कारण भी ऋणी बन सकता है और अन्य देशों को वस्तुओं और सेवाओं के रूप में अधिक देकर एक लेनदार राष्ट्र बन सकता है। **संक्षेप में, किसी देश को ऋण-ग्रस्तता व्यापार सम्बन्धी व्यवहारों से भी उदय हो सकती है।**

जब किसी देश को अन्य देशों से वस्तुओं और सेवाओं के रूप में अधिक मूल्य प्राप्त होता है, तो कहा जायेगा कि उसका व्यापार सन्तुलन 'निष्क्रिय' (passive) है। इसके विपरीत, यदि वह विश्व के देशों को वस्तुओं और सेवाओं के रूप में जितना प्राप्त हुआ है उससे अधिक देता है, तो उसका भुगतान-सन्तुलन 'सक्रिय' (active) कहलाता है। एक सक्रिय (अर्थात् अनुकूल) व्यापार सन्तुलन की विद्यमानता इस तथ्य का सूचक है कि जिस देश का भुगतान-सन्तुलन इस प्रकार का है वह एक लेनदार राष्ट्र है। इसी तरह, एक निष्क्रिय (अर्थात् प्रतिकूल) व्यापार सन्तुलन देश के देनदार राष्ट्र होने का सूचक है।

किन्तु, यह नहीं भूलना चाहिए कि व्यापार सन्तुलन की सक्रियता और निष्क्रियता इस बात का अकाट्य प्रमाण नहीं है कि देश लेनदार या देनदार राष्ट्र है। अन्य शब्दों में, पाठ्य-पुस्तकों में दिया गया यह कथन कि "सक्रिय भुगतान-सन्तुलन रखने वाला देश एक लेनदार और निष्क्रिय भुगतान-सन्तुलन रखने वाला देश एक देनदार राष्ट्र होता है।" कुछ मर्यादाओं के अन्तर्गत ही सत्य माना जा सकता है।[1] सच तो यह है कि एक लेनदार राष्ट्र के लिए निष्क्रिय और एक देनदार राष्ट्र के लिए सक्रिय व्यापार सन्तुलन रखना बिल्कुल सम्भव है।

इस प्रकार, यदि किसी देश के व्यापार सन्तुलन में साम्यावस्था हो और वह एक नियमित दर से पूँजी का आयात करना आरम्भ कर दे, तो उसका व्यापार-सन्तुलन निष्क्रिय हो जाता है। किन्तु, कुछ समय के बाद, यह आयात की हुई पूँजी ब्याज सहित लौटानी पड़ती है (हाँ, यदि वह उपहार के रूप में मिली हो, तो नहीं)। देर-सबेर में ब्याज और मूलधन की वापिसी सम्बन्धी भुगतान आयात की जाने वाली

1 Haberler : *The Theory of International Trade*, p 64.

नई पूँजी की अपेक्षा बहुत बढ़ जायेंगे जिससे उसका व्यापार सन्तुलन सक्रिय हो। जायगा। अन्य बातें समान होने पर यही बात पूँजी का निर्यात करने वाले देश के बारे में है।

उदाहरणार्थ, जब प्रथम महायुद्ध समाप्त हो गया (और सन् १६२६ तक), तो जर्मनी का व्यापार-सन्तुलन निष्क्रिय रहता था। क्योंकि वह विश्व के देशों को जितना चुका रहा था उससे कहीं अधिक ऋण ले रहा था। किन्तु १६२६ में जब पूँजी का प्रवाह सूख गया, तब उसका व्यापार सन्तुलन लगभग रातों रात सक्रिय बन गया। क्या हम यह कह सकते है कि जर्मनी लेनदार राष्ट्र हो गया ? नहीं, वह तो असंदिग्ध रूप से देनदार राष्ट्र ही था और उसका व्यापार सन्तुलन इस कारण से सक्रिय हो गया था कि वह अपने पुराने ऋण चुका रहा था किन्तु नये ऋण नहीं ले रहा था। इसी प्रकार प्रथम महायुद्ध के पूर्व अमेरिका एक देनदार राष्ट्र था और उसका व्यापार सन्तुलन 'सक्रिय था, क्योंकि उसके निर्यात आयातों से बढ़ रहे थे। यह आधिक्य इस कारण था कि वह यूरोपीय लेनदारों को ब्याज और मूलधन चुका रहा था। किन्तु युद्धकाल में वह रातों रात एक लेनदार देश हो गया और १६१६ के बाद उसका व्यापार सन्तुलन 'सक्रिय' ही बना रहा क्योंकि ब्याज और मूलधन की प्राप्तियों की अपेक्षा पूँजी का निर्यात अधिक होता था। इस प्रकार अमेरिका का व्यापार सन्तुलन तब भी सक्रिय था जबकि (युद्ध के पूर्व) वह एक देनदार देश था और तब भी सक्रिय रहा जबकि (युद्ध के बाद) वह एक लेनदार देश हो गया।

अतः यह धारणा कि एक देनदार देश का व्यापार सन्तुलन सक्रिय और एक लेनदार देश का व्यापार सन्तुलन निष्क्रिय होता है केवल एक अल्पकाल में ही सम्भव है जो कि ऋणता के सन्तुलन की दशा की केवल एक लघु अवधि मात्र है। एक दीर्घकाल पर्यन्त विस्तृत पूँजी आवागमनों की दशा में (अवधि इतनी दीर्घ होनी चाहिए कि उसमें ऋण की स्वीकृति और इसकी ब्याज सहित वापसी दोनों ही सम्पूर्ण हो जायें।) व्यापार सन्तुलन की दशा ऋणता की प्रक्रिया द्वारा पहुँची हुई विशेष दशा पर निर्भर है। यही कारण है कि हम केवल देश के व्यापार सन्तुलन पर दृष्टि डाल कर ऋणता की प्रक्रिया की अवस्था को समझे बिना ही, निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि अमुक देश लेनदार है या देनदार।

परीक्षा प्रश्न :

१. विशाल एक पक्षीय भुगतानों के सम्बन्ध में जो अन्तरण-समस्या उत्पन्न होती है, वह क्या है ? ऐसे अन्तरण के मिकेनिज्म में कीमत परिवर्तनों की भूमिका का विवेचन कीजिए।

[What is the transfer problem involved in large unilateral payments ? Discuss the role of price changes in the mechanism of such transfers]

चतुर्थ खण्ड

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीति

[INTERNATIONAL COMMERCIAL POLICY]

विद्वानों के विचार—

(१) हैबरलर (Haberler)—"स्वतन्त्र व्यापार से आशय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का है जिसमे आर्थिक शक्तिया स्वतन्त्र रूप से आचरण करती है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि एक ओर तो अप्रतिबन्धित स्वतन व्यापार का समर्थन करना और दूसरी ओर (उदाहरणार्थ) श्रम बाजार मे आर्थिक शक्तियो के स्वतन्त्र आचरण मे हस्तक्षेप का सुझाव देना एक दूसरे से असगत है।"

["Free Trade is the external trade system with the free play of economic forces But it by no means follows from this that it is inconsistent to advocate, on the one hand unrestricted Free Trade and, on the other hand, certain interferences with the free play of economic forces for example on the labour market "]

(२) सैमुअलसन (Samuelson)—"नि सदेह, स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष मे केवल एक ही किन्तु बहुत ही शक्तिशाली तर्क है जो यह कि अप्रतिबन्धित व्यापार एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को बढावा देता है जो कि परस्पर लाभदायक है, सभी देशो की वास्तविक राष्ट्रीय उत्पत्ति को बढाता है तथा समस्त ससार मे जीवन स्तरो को ऊँचा करता है।"

[Indeed, there is essentially only one argument for free or freer trade, but it is an exceedingly powerful one—namely unhampered trade promotes a mutually profitable international division of labour, greathy enhances the potential real national product of all countries, and makes possible higher standards of living all over the globe "]

(३) मिरडंल (Myrdal)—"हितो की समरूपता केवल उन लोगो के लिए ही एक बहुत सुगम धारणा हो सकती है, जिन्होने भाग्यवश जीवन के जूए मे इनाम जीत लिया हो।"

["Harmony of interests must be a very convenient idea for those who have drawn a lucky lot in the lottery of life "]

२५

विदेशी व्यापार के प्रति उचित नीति की समस्या

(The Problem of an Appropriate Policy towards Foreign Trade)

परिचय—व्यापारिक नीति से आशय

प्रो० हैबरलर के शब्दों में— "व्यापारिक नीति या वाणिज्य नीति से आशय उन सब उपायों का है जो कि किसी देश के बाह्य आर्थिक सम्बन्धों का नियमन करते हैं। ये उपाय एक क्षेत्रीय सरकार द्वारा जिसे कि वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात या आयात में बाधा डालने या सहायता पहुँचाने की शक्ति होती है, किये जाते हैं।"[1] ऐसे उपायों में ड्यूटीज, आर्थिक सहायता और निषेध सम्मिलित हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य उपाय भी प्रयोग में लाये जा सकते हैं, जैसे—भाड़ा दरों का नियमन करना, आयातित माल के लिये एक महँगी पैकिङ्ग विधि अपनाने पर बल देना छिपी हुई आर्थिक सहायता, आदि। इन विभिन्न उपायों में सबसे अधिक महत्व आयात करों का है। यह वास्तव में व्यापारिक नीति के सबसे विवेक-सम्मत हथियार है।

राजनैतिक विचार विमर्शों में 'लक्ष्य' एवं 'साधन' प्रायः एक अपवित्र ढङ्ग से मिश्रित कर दिये जाते हैं जिससे यह कहना कठिन हो जाता है कि लोग लक्ष्य के चुनाव के बारे में मतभेद रखते हैं या एक दिये हुये लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम उपाय के चुनाव के विषय में अथवा कुछ विशेष उपायों के अपनाने से जो परिणाम उदय होंगे उनके बारे में मत भेद रखते हैं।[2] अतः हमें यह देखना चाहिए कि वे

---

1 "We understand by commercial policy or trade policy all measures regulating the external economic relations of a country, that is, measures taken by a territorial government which has the power of assisting or hindering the export or import of goods and services."—Haberler : *The Theory of International Trade*, p 212

2 "In political discussions ends and means are often mixed up in a quite unholy manner, so that it is often difficult to be sure whether people disagree in their social philosophy as to which end is desirable or whether they disagree as to the consequences which would follow from particular measures or a to the best means of achieving a given end."—*Ibid*, p 214

कौन से लक्ष्य हैं, जिन्हे प्राप्त करने के लिए व्यापारिक नीति को प्रयत्नशील होना चाहिए। अन्य शब्दो म, हमें मूल्यो का पैमाना' (scale of values) निर्धारित कर लेना चाहिये, जिसके सदर्भ मे हम किसी व्यापारिक नीति की उपयुक्तता को परख सकें।

आर्थिक एव अनार्थिक लक्ष्य
(Economic and Non-economic Ends)

इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम आर्थिक' एव 'अनार्थिक' लक्ष्यो का भेद विचारणीय है। हम अनार्थिक मूल्यो या लक्ष्यो की एक सूची सरलतापूर्वक बना सकते है और फिर आर्थिक घटनाओ को इस सूची के सदर्भ मे परख सकते है। अनार्थिक लक्ष्य या मूल्य निम्न है —राष्ट्रीय सुरक्षा का लक्ष्य सामाजिक न्याय का लक्ष्य अविवेकपूर्ण लक्ष्य (जैसे धार्मिक स्वभाव के लक्ष्य), पृथकता का लक्ष्य आदि। ये लक्ष्य विशुद्ध मूल्याकन सम्बन्धी हैं, किन्तु उनका 'अन्तिम' होना आवश्यक नही। कारण, प्रत्येक लक्ष्य किसी अन्य बडे लक्ष्य की प्राप्ति का अग हो सकता है। उदहारणार्थ, अनेक लोग सामरिक तैयारी को एक साधन या माध्यमिक लक्ष्य ही मानते हैं, स्वय मे एक पूर्ण लक्ष्य नही। स्पष्टत आर्थिक घटनाओ के बारे मे उक्त किसी भी लक्ष्य (मूल्य या दृष्टिकोण) के सदर्भ म निर्णय किया जा सकता है। विभिन्न लक्ष्यो को अपनाने से विभिन्न निर्णय सम्भव होगे तथा यह आर्थिक' लक्ष्यो के सदर्भ मे किये गये निर्णयो के साथ सघर्ष (clash) म भी आ सक्ते है।

अनार्थिक लक्ष्यों के विश्लेषण से भी अधिक कठिन और महत्वपूर्ण कार्य है आर्थिक लक्ष्यो (मूल्यो या दृष्टिकोणो) का विश्लेषण करना। अमुक उपाय आर्थिक दृष्टि से ठीक है', ऐसा कहने मे हमारा क्या आशय है? क्या कोई ऐसा विशेष आर्थिक लक्ष्य है जो कि अर्थ-विज्ञान द्वारा, अनार्थिक कल्पनाये किय बिना, या, अ-वैज्ञानिक स्वभाव के लक्ष्य दृष्टिगत रखे बिना ही स्पष्टत परिभाषित किया जा सके तथा जिसकी प्राप्ति समस्त आर्थिक नीति का एक पुनीत कर्तव्य निश्चित हो जाय? स्पष्टत इस प्रश्न का उत्तर है— नही'। कोई एक सर्वोपरि आदर्श आर्थिक लक्ष्य नही फिर भी इस दिशा म किय जाने वाले प्रयत्नो का अभाव नही है। समय-समय पर 'उत्पादक शक्ति का विकास' उत्पादकता मे वृद्धि', आर्थिक कल्याण की वृद्धि' और अन्य लक्ष्य प्रस्तुत किये जाते रहे है। उन्हे इस आधार पर कि ये (लक्ष्य) अर्थ-व्यवस्था के मौलिक स्वभाव म निहित हैं, आर्थिक नीति को परखने के लिए प्रयोग किया गया है। इन शब्दो की सही-सही परिभाषा करने तथा आवश्यक नियम देने के लिये यह जरूरी हो जाता है कि मौतिक लक्ष्यो को निर्धारित किया जाय। किन्तु मौतिक लक्ष्य ऐसे होते हैं कि इन्हे वैज्ञानिक रूप से 'वाँछनीय' प्रमाणित नही किया जा सकता या आर्थिक सिद्धान्तो पर आधारित नही किया जा सकता, वरन् केवल 'दिया हुआ' ही स्वीकार करना पड़ता है।

इस प्रकार, लक्ष्यो का 'आर्थिक' एव 'अनार्थिक' वर्गो मे विभाजन केवल

पारिभाषिक सुगमता के लिये है। किन्तु साधारण बोलचाल में यह विभाजन बिल्कुल भी स्पष्ट नहीं है तथा दोनों के मध्य विभाजक-रेखा बदलती रहती है।

सार्वाधिक मान्य लक्ष्य राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित है

कहा जा सकता है कि जब राष्ट्रीय आय को अधिकतम् करना ही वाञ्छनीय है तब हम एक विशुद्ध (pure) आर्थिक लक्ष्य को ही तो अपनाये हुए है। अत कोई भी उपाय जो राष्ट्रीय आय के आकार में वृद्धि करता है आर्थिक दृष्टिकोण से वाञ्छनीय कहा जा सकता है। किन्तु ऐसी धारणाओं का (जैसे—राष्ट्रीय आय, अर्थात् सामाजिक उत्पत्ति) विश्लेषण करने मे अनेक कठिनाइयाँ है। यह राष्ट्रीय आय के निरपेक्ष आकार (absolute size) का ही नहीं वरन् विभिन्न वर्गों और व्यक्तियों के मध्य सामाजिक उत्पत्ति के वितरण का भी प्रश्न है। यदि हम केवल कुल राष्ट्रीय आय के निरपेक्ष आकार पर भी ध्यान दें तो सामान्यत यह कहेंगे कि हमारा मापक आर्थिक' है। किन्तु जब वितरण सम्बन्धी कल्पनाएँ भी विचार में ली जाती है (जैसे—वितरण में समानता होनी चाहिये या, अमुक-अमुक वर्ग के पक्ष मे वितरण मे परिवर्तन होना चाहिये), तो यह हमारी रुचि है कि इसे आर्थिक मापक माने या सामाजिक मापक। कुछ भी हो हमारे पास अब दो मापक है—(i) राष्ट्रीय आय के आकार मे वृद्धि का और (ii) इसके वितरण के ढग का—एव इनमे से प्रत्येक के एक दूसरे से भिन्न परिणाम निकल सकते हैं।[1] उदाहरणार्थ, यह सम्भव है कि स्वतन्त्र व्यापार सरक्षण की अपेक्षा राष्ट्रीय आय मे अधिक वृद्धि कर दे किन्तु इसके साथ ही वह आय का एक अवाञ्छनीय ढग से वितरण होने में योग दे सकता है।

वितरण के पाँच प्रकार—

जब हम राष्ट्रीय आय के वितरण की चर्चा करें तो हमे इसके विभिन्न प्रकारो पर अवश्य ध्यान देना चाहिये, क्योंकि, जबकि एक आधार पर राष्ट्रीय आय का वितरण वाञ्छनीय माना जा सकता है दूसरे आधार पर अवाञ्छनीय। वितरण के निम्नलिखित पाच प्रकार हैं —

(१) प्रदेश की कुल आय का विभिन्न क्षेत्रों में वितरण—हमें इस बात का स्पष्ट निर्णय करना होगा कि किन प्रादेशिक सीमाओ की आय को अधिकतम् करना है। अन्य शब्दो मे, हमारे सम्मुख राष्ट्रवादी एव विश्ववादी लक्ष्यों मे चुनाव करने की समस्या उदय होती है। सरक्षणवादियों पर स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों द्वारा यह आरोप लगाया जाता है कि वे जहाँ दो देशो के मध्य व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना लाभदायक समझते है वहाँ अपने ही देश के भीतर विभिन्न भागो के मध्य होने वाले व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध लगाना ठीक नहीं समझते। यह आरोप लगाते समय वास्तव मे दृष्टिकोण सम्बन्धी भेद की, जिसकी चर्चा हमने ऊपर की है उपेक्षा

---

[1] *Ibid*, pp 215-216

कर दी गई और इसलिए यह ठीक नहीं है। संरक्षणवादियों की इस घोषणा में, कि टैरिफ (tariff) दोनों ही देशों के लिए—जो इसे लगावे और जिसके विरुद्ध लगाया जाय—उपयोगी है, असंगति हो सकती है किन्तु तब नहीं जबकि वे यह स्वीकार करते हों कि विदेशी देश हानि उठावेंगे। कारण, उनके राष्ट्रीय दृष्टिकोण में विदेशों की हानि सम्मिलित नहीं है। दूसरी ओर, जब वे अपने देश के विभिन्न भागों के मध्य व्यापार पर विचार कर रहे होते हैं तब वे एक भाग की हानि को दूसरे भाग के लाभ से तौलते हैं और इस तुलना के फलस्वरूप यदि वे इस निष्कर्ष पर पहुँचें कि हानि की अपेक्षा लाभ कम है तो उनकी दृष्टि में ऐसा टैरिफ अवांछनीय होगा।

(२) वर्गों और धन्धों में 'कार्यात्मक' वितरण—इस प्रकार के वितरण का सम्बन्ध धनिकों और निर्धनों के मध्य, देहात और शहर के मध्य, अर्जित एवं अनार्जित के मध्य तथा मजदूरियां ब्याज, लगान और लाभ के मध्य राष्ट्रीय आय के वितरण से है।

(३) वर्ग-विशेष के भीतर पृथक-पृथक व्यक्तियों के मध्य वितरण—इस प्रकार के वितरण में, वर्गों और धन्धों के मध्य वितरण में कोई परिवर्तन हुए बिना ही, परिवर्तन हो सकता है। कुछ उदार विद्वानों की यह इच्छा है कि उत्पादन में कोई परिवर्तन न किया जाय, क्योंकि इससे व्यक्तियों के मध्य आय का वितरण बदल जाता है, जिसके फलस्वरूप कुछ लोगों की आय उस स्तर से, जिसके कि वे आदी हो चुके है, नीचे गिर जाती है।

(४) दो समयावधियों में सामाजिक उत्पत्ति का वितरण—प्राय यह तर्क किया जाता है कि एक दी हुई नीति, जैसे—स्वतन्त्र व्यापार, वर्तमान में तो अधिक सामाजिक उत्पत्ति सम्भव बनायेगी किन्तु भविष्य में इसके घटने का कारण बनेगी। [illegible], 'शिशु उद्योग टैरिफ' (infant industry tariffs) के समर्थन का आधार यही दृष्टिकोण है।

(५) आय का स्थायित्व एवं उसकी सुरक्षा—यह भी विचारणीय है कि आय अवधि-पर्यन्त में नियमित रूप में प्राप्त होती है, अथवा, कभी अधिक मात्रा में तो कभी कम मात्रा में। कुछ लोगों की सम्मति में एक छोटी किन्तु नियमित आय एक बड़ी किन्तु अनियमित आय की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है।

परीक्षा प्रश्न :

१. 'व्यापारिक नीति' शब्द से आप क्या समझते है ? आप यह कैसे निर्णय करेंगे कि एक विशिष्ट व्यापारिक नीति वांछनीय है अथवा नहीं ?
[What do you understand by the term 'trade policy' ? How

will you decide whether a particular trade policy is desirable or not ?]

२ 'कुछ भी हो, अब हमारे सामने दो पैमाने है—राष्ट्रीय आय का निरपेक्ष आकार और इसके वितरण का ढग, इनके अलग-अलग परिणाम निकलते है।" (हैबरलर) विवेचन कीजिये।

["In any case there are now two yardsticks, the absolute size of the national income and its mode of distribution—and one may lead to a different conclusion from the other" (Haberler) Discuss]

३ वे कौन से लक्ष्य है जिनकी प्राप्ति के लिये एक व्यापारिक नीति को प्रयत्नशील होना चाहिये ? विज्ञान की सीमा मे रहते हुए यह कहना कहाँ तक सम्भव है कि अमुक उपाय 'वाञ्छनीय' अथवा 'सही' है ?

[What are the ends which a trade policy should achieve ? How far is it possible, while remaining within the realm of science, to assert that particular measures are 'desirable' or 'correct' ?]

/२६

स्वतन्त्र व्यापार

(Free Trade)

परिचय—'स्वतन्त्र व्यापार' से आशय

स्वतन्त्र व्यापार वह नीति है जिसके अन्तर्गत देशों के मध्य आयातों और निर्यातों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। एडम स्मिथ (Adam Smith) के शब्दों में—
"स्वतन्त्र व्यापार नीति वह व्यापारिक नीति है जिसके अधीन स्वदेशी और विदेशी वस्तुओं के साथ एक समान व्यवहार किया जाता है तथा इनमें से किसी को भी प्राथमिकता नहीं दी जाती है।"[1] इस प्रकार, एक स्वतन्त्र-व्यापार-व्यवस्था (Free Trade Economy) में कोई कर नहीं लगाये जाते और यदि कभी कोई कर लगाया जाता है तो राज्य की आय को बढ़ाने के लिए, स्वदेश निर्मित वस्तुओं को संरक्षण देने के लिये नहीं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री (एडम स्मिथ, रिकार्डो और अन्य) स्वतन्त्र व्यापार के प्रबल समर्थक थे। वास्तव में, लगभग एक सौ वर्ष तक इस सिद्धांत का बोलबाला रहा। आजकल भी अनेक अर्थशास्त्री स्वतन्त्र व्यापार प्रणाली की पुनर्स्थापना का प्रबल समर्थन कर रहे हैं। प्रो० रॉबिन्सन, हैबरलर और अन्य अर्थशास्त्रियों ने स्वतन्त्र व्यापार नीति को ही संरक्षण की अपेक्षा उत्तम बताया है।

स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में तर्क

सोलहवीं शताब्दी में बहु-प्रचलित व्यापारवादी विचारधारा के अनुसार सोना चाँदी प्राप्त करना ही राष्ट्र की शक्ति का आधार था। जिन देशों में सोना चाँदी की खानें नहीं हैं उन्हें ये धातुएँ केवल विदेशी व्यापार में अनुकूल सन्तुलन रख कर ही प्राप्त हो सकती थीं। अतः अनुकूल-व्यापार-सन्तुलन की प्राप्ति के लिये कठोर

---

1 "Free trade is that system of Commercial policy which draws no distinction between domestic and foreign commodities and, therefore neither imposes additional burdens on the latter nor grants any special favours to the former"—Adam Smith: *quoted by Palgrave in Dictionary of Political Economy, Vol II, p* 143.

प्रतिबन्धात्मक नीति अपनाई गई थी। किन्तु सन् १७७६ में एडम स्मिथ की पुस्तक Wealth of Nations के प्रकाशन ने संरक्षणवाद या प्रतिबन्धात्मक नीति के विरुद्ध एक कठोर वातावरण उत्पन्न कर दिया। शनै शनै जनमत स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष मे प्रबल हो गया और इङ्गलैंड के नेतृत्व मे, जिसे स्वतन्त्र व्यापार से विशेष लाभ था, व्यापारिक प्रतिबन्ध हटाया जाने लगा। किन्तु 'पूर्ण' स्वतन्त्र व्यापार कभी भी स्थापित न हो सका। २० वी शताब्दी मे, विशेषत आर्थिक मन्दी के युग मे, व्यापारिक प्रतिबन्धो की एक बाढ़-सी आ गई। आशा की गई कि इनसे सम्बद्ध देशो की आन्तरिक दशा सुधर जायेगी, किन्तु ऐसा नही हो सका। अत इन प्रतिबन्धो को दूर करने के उपाय खोजे जाने लगे। इस प्रयत्न मे द्वितीय महायुद्ध बाधक हुआ। युद्धोत्तर काल मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और गैट आदि संगठनों की सहायता से प्रतिबन्धो को न्यूनतम करने के प्रयत्न सफलतापूर्वक जारी है। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थन मे प्राय निम्नलिखित तर्क दिये जाते है —

(१) **सामाजिक शुद्ध उत्पत्ति का अधिकतम् होना** –एडम स्मिथ ने स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन इस आधार पर किया था कि यह श्रम के विभाजन को प्रोत्साहित करता है तथा आय बढाने मे सहायक होता है। श्रम विभाजन के विस्तार मे भी स्वतन्त्र व्यापार बडी सहायता करता है। कारण, इस नीति के अन्तर्गत प्रत्येक देश केवल उन्ही वस्तुओ का उत्पादन करने पर अपना समस्त ध्यान केन्द्रित करता है। जिनमे कि उसे विशेष सुविधायें प्राप्त होने से वह सस्ता ही उत्पन्न कर सकता है। वास्तव मे, एडम स्मिथ ने बडे ही परिश्रमपूर्वक यह दिखाया था कि स्काटलैण्ड मे अंगूर उत्पन्न करने मे गम्भीर हानियाँ उठानी पडेंगी जबकि इन्हे आयात करने मे तथा बदले मे कम श्रम और पूँजी वाले उद्योगो द्वारा उत्पादित वस्तुये देने मे लाभ है।

'सामाजिक शुद्ध उत्पत्ति' (social net product) तीन तरह से अधिकतम् होती है —(अ) कटु प्रतियोगिता असावधान और अकुशल उत्पादको को उत्पादन क्षेत्र मे से निरन्तर बाहर निकालती रहती है, जिससे कि केवल अति कुशल फर्में ही उत्पादन-क्षेत्र मे रह जाती है, (ब) उपलब्ध साधनो को अधिक से अधिक विवेक सम्मत प्रयोगो मे इस्तेमाल किया जाता है, एव (स) श्रम विभाजन द्वारा भी अधिक उत्पत्ति करना सम्भव हो जाता है। श्रम-विभाजन मे प्रति श्रमिक-उत्पादकता मे तीन तरह से वृद्धि होती है—(i) कार्य कुशलता मे वृद्धि, (ii) समय की बचत, और (iii) यन्त्रो का प्रयोग।

प्रो० हैबरलर (Haberler) की सम्मति मे सामाजिक उत्पत्ति का अधिकतम् होना ही स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष का मुख्य तर्क है। वह लिखते हैं कि—"यदि यह मान कर चलें कि सामाजिक उत्पत्ति का अधिकतम् होना एक वाछनीय उद्देश्य है, तो हम यह देखेंगे कि स्वतन्त्र व्यापार के फलस्वरूप सामाजिक उत्पत्ति अधिकतम् सीमा तक

बढ जाती है । अत यही स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक का आधार है, जो विज्ञान सम्मत है भले ही इसके समर्थन मे अन्य तर्क क्यो न प्रस्तुत किये जाये ।"[1]

(२) **वास्तविक विश्व शान्ति की पूर्व शर्त**—जब तक विश्व विभिन्न पृथक-पृथक आर्थिक गुटो मे बँटा रहेगा (जिनमे से प्रत्येक गुट विश्व के व्यापक हितो की उपेक्षा करते हुये एक स्वार्थपूर्ण नीति अपनाता है), विश्व-शान्ति की आशा बेकार है। स्पष्टत , यदि हम विश्व म स्थाई शान्ति चाहते है, तो राष्ट्रो के लिए यह आवश्यक है कि वे अपनी प्रतिबन्धात्मक नीतियो को शीघ्रातिशीघ्र छोड दें और एक दूसरे के प्रति (चाहे देश छोटा हो या बडा, धनी हो या गरीब, विकसित हो या अविकसित, निकट हो या दूर का) समानता का व्यवहार करें ।

(३) **चक्र विरोधी उपाय**—स्वतन्त्र व्यापार की नीति व्यापार चक्रो के विस्तार को घटाने म सहायक होती है, क्योंकि आन्तरिक विस्तार के फलस्वरूप व्यापार सन्तुलन मे प्रतिकूलता आती है, जिससे कोष घटने लगते है और परिणाम-स्वरूप करेंसी का सकुचन होता है । इस प्रकार, अर्थ-व्यवस्था पर एक मुद्रा विस्फीतिक दबाव (deflationary pressure) पडने लगता है जो इससे पूर्व चले आ रहे मुद्रा प्रसारिक प्रभाव को सन्तुलित करता है । एक विपरीत दशा मे अनुकूल व्यापार सन्तुलन मुद्रा प्रसारिक दबावो को प्रोत्साहित करता है । इससे यह प्रगट है कि स्वतन्त्र-व्यापार एक चक्र विरोधी हथियार का काम करता है तथा इसलिए बडा ही उपयोगी है ।

(४) **सस्ती से सस्ती कीमतो पर वस्तुओ को अधिक से अधिक पूर्ति** - श्रम-विभाजन के द्वारा विशिष्टीकरण को प्रोत्साहित करके स्वतन्त्र व्यापार सम्पूर्ण विश्व मे वस्तुओ की कीमतें घटने मे सहायक होता है । यही नहीं, लोग विश्व मे कहीं से भी वस्तुयें खरीद सकते हैं । इस प्रकार, वे वस्तुओ की निम्नतम् कीमतो पर अधिकतम् पूर्ति प्राप्त कर सकते हैं । इसमे उनकी वास्तविक आय बढ जाती है एव उनका जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है ।

(५) **सभी देशो को कच्चे माल तक पहुँच के समान अवसर**—चूँकि स्वतन्त्र व्यापार किसी दश के विरुद्ध या पक्ष म भेद-भाव को रोकता है, इसलिए विश्व के सभी देशो को कच्चे माल तक पहुँचने के समान अवसर मिलते है । सन १९३० और सन १९३९ के मध्य स्वतन्त्र भारत अस्त-व्यस्त हो गया था और द्विपक्षीय व्यापार म समझौते उत्पन्न किये जाने लगे थे । इससे सम्पूर्ण विश्व व्यापार की सरचना मे बडे

---

1 "Only upon this basis, and of course under the assumption that the desired end is the maximisation of the social product, can a liberal trade policy be scientifically justified although it may be that for reasons of political propaganda other arguments are placed more in the fore-ground "—Haberler : *The Theory of International Trade*, p 222

उलट-फेर हुए। यही कारण था कि, जर्मनी इटली और जापान ने, जिनके पास कच्चे माल का अभाव था, उपनिवेशों के पुनर्वितरण की माँग की। जापान ने तो चीन पर आक्रमण करके मचूरिया छीन लिया था, जो कि अनेक कच्चे मालों का भण्डार है। किन्तु स्वतन्त्र व्यापार व्यवस्था के अधीन कच्चे मालों के भण्डार किसी एक देश विशेष की बपौती नहीं होते। बहुपक्षीय व्यापार की प्रक्रिया द्वारा इनका प्रयोग उन सब देशों द्वारा जिनके पास कच्चे मालों की कमी है किया जा सकता है।

(६) भुगतानों के हस्तान्तरण में सुविधा—स्वतन्त्र व्यापार वस्तुओं के आवागमन द्वारा अर्थात् देनदार देशों से निर्यात और लेनदार देशों को आयात की व्यवस्था करके देनदार देशों से लेनदार देशों को भुगतानों का हस्तान्तरण सुविधाजनक बनाता है।

(७) करेंसियों की बहुमुखी परिवर्तनशीलता का आधार—करेंसियों की बहुमुखी परिवर्तनशीलता तब तक सम्भव नहीं हो सकती है जब तक कि स्वतन्त्र व्यापार न अपनाया जाय। अन्य शब्दों में, राष्ट्रीय करेंसियों की बहुमुखी परिवर्तनशीलता (multilateral convertibility) स्वतन्त्र व्यापार व्यवस्था से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। चूँकि यह व्यवस्था चतुर्थ-दशक में भङ्ग हो गई, इसलिए स्वर्णमान भी टूट गया था।

(८) हानिकारक एकाधिकारों की स्थापना पर रोक—स्वतन्त्र व्यापारियों (Free Traders) द्वारा यह तर्क भी दिया जाता है कि आयात-निर्यात की स्वतन्त्रता सभी भाग लेने वाले देशों को इसलिए भी लाभप्रद है कि वे हानिप्रद एकाधिकारों की स्थापना को रोकते या कठिन बनाते हैं। हैबरलर का कहना है कि इस तथ्य पर दो दृष्टिकोण से विचार करना चाहिये—(अ) सामाजिक उत्पत्ति को बढाने की दृष्टि से, एव (ब) इसके वितरण पर प्रभाव की दृष्टि से।

जब कि उत्पादन घटती हुई लागतों के अन्तर्गत किया जा रहा है, तब आयात करों द्वारा पृथक बनाये गये छोटे-छोटे क्षेत्रों में यह खतरा है कि उद्योग की अनेक शाखाओं में, जिनमें वृहत उत्पादन बहुत लाभप्रद है, बाजार के अत्यधिक छोटा होने के कारण, उत्पादन-इकाई का अनुकूलतम आकार प्राप्त न हो सके। इसी का पूरक है एकाधिकारों का निर्माण। इससे (प्रतिबन्ध से) अर्थ-व्यवस्था को तीन हानियां होती है —

(१) चूँकि स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत प्रत्येक देश उत्पादन की कुछ ही शाखाओं में विशिष्टीकरण करता है, इसलिये उत्पत्ति का अनुकूलतम् आकार प्राप्त किया जा सकता है तथा लागतें सर्वत्र ही कम हो सकती हैं। किन्तु व्यापार पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्ध न केवल देश को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के इन लाभों से वंचित कर देते, वरन् नीचे की दो हानियाँ भी उठाने के लिये विवश कर देते हैं।

(ii) प्रतिबन्धों की आड़ मे एकाधिकार बन जाते है और एकाधिकारी उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की कीमतें उत्पादन लागतों की अपेक्षा, जो कि सीमित बाजार के लिये सीमित ही उत्पत्ति करने के कारण पहले से ही ऊँचे स्तर पर हैं, अधिक बढ़ जाती है, एवं,

(iii) अनुभव से यह भी पता चलता है कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर प्रतिबन्ध लगाने से आर्थिक मामलों के सचालन मे कुशलता की कमी हो जाती है।

किन्तु, यह स्वीकार करना होगा कि स्वतन्त्र व्यापार भी एकाधिकारों के निर्माण के विरुद्ध एक 'पूर्ण' बचाव नहीं है। अर्थात् स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत भी अन्तर्राष्ट्रीय एवं स्थानीय एकाधिकार बन सकते है। विशेषत स्थानीय एकाधिकारों को ही लीजिये। इनके उदय के लिये यातायात व्यय, जिनका प्रभाव टैरिफ के सदृश्य ही पड़ता है, दायी होते है।[1] उत्पत्ति की उन शाखाओं मे, जिनके उत्पादों को केवल ऊँचा व्यय उठाकर ही यातायात किया जा सकता है, एक वृहत उत्पादन-इकाई के फलस्वरूप सम्भव हुई नीची उत्पादन-लागतें, उत्पादों को एक विस्तृत क्षेत्र मे विपणन करने की बढ़ी हुई लागतों से, निष्प्रभावित हो जाती हैं। जब ऐसा हो, तो एक मूल्य वाले एक बाजार के बजाय एकाधिकारी जिलो की एक शृङ्खला बन जाती है, जो एक-दूसरे मे कुछ सीमा तक विस्तृत होते है। इन जिलो के एक दूसरे पर विस्तृत भागो मे तो प्रतियोगी कीमतें प्रचलित होती हैं किन्तु प्रत्येक जिले के आतरिक भाग मे एकाधिकारी कीमतों का ही बोलबाला रहता है। ये एकाधिकारी कीमतें प्रतियोगी कीमतों मे केवल यातायात व्यय की राशि से ही अधिक होती है।

यदि ऐसे उत्पादन जिलों की शृङ्खला के बीच से एक प्रशुल्क दीवार खड़ी कर दी जाय, तो साधनों और उत्पादो की यातायात व्यय सम्बन्धी स्थिति द्वारा निर्धारित उत्पादन इकाइयों की विद्यमान एवं विवेक समस्त व्यवस्था मे विघ्न पड़ जायगा, और साथ ही एकाधिकारों की शक्ति भी बढ़ जायेगी। ये दोनों प्रभाव जिलो के सीमान्त पर विशेष रूप से दृष्टिगोचर होंगे। उदाहरण के लिये, दो एकाधिकारी जो किसी क्षेत्र मे पहले प्रतियोगिता करते थे, अब यह देखेंगे कि उस क्षेत्र मे एक प्रशुल्क दीवार बनी हुई है जो उन्हे एक दूसरे की प्रतियोगिता के प्रभाव

---

[1] "Nevertheless, Free Trade does not provide a complete safeguard against the formation of monopolies Even under Free Trade there may emerge international monopolies, and local monopolies. These local monopolies owe their existence in the absence of a tariff, to transport costs which have much the same effect as tariffs "—*Ibid*, 224

से सुरक्षित रखती है। परिणामत प्रशुल्क दीवार की ओट म वे अपनी कीमतें पहले से कहीं अधिक बढा सकेंगे।[1]

इस प्रकार, स्वतन्त्र-व्यापार-सम्प्रदाय (Free Trade School) के अर्थ शास्त्रियों द्वारा यह तर्क दिया गया कि देशों के मध्य व्यापार पूर्णत स्वतन्त्र होना चाहिए, राजकीय हस्तक्षेप बिल्कुल भी न हो। प्रो० सैमुअलसन (Samuelson) के शब्दों मे—'अप्रतिबन्धित व्यापार एक परस्पर लाभदायक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को बढावा देता है समस्त देशों के सम्भाव्य वास्तविक राष्ट्रीय उत्पत्ति म बहुत ही अधिक वृद्धि कर देता है तथा विश्व भर मे ऊँचे जीवन स्तर सम्भव बनाता है।'[2] प्रो० हैबरलर (Haberler) ने भी स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन करते हुये इस बात पर बहुत ही जोर दिया है कि यह सामाजिक उत्पत्ति को अधिकतम् सीमा तक बढा देता है।[3]

"स्वतन्त्र व्यापार के लिये तर्क की वैधता अन्य देशों द्वारा वैसी ही नीति अपनाये जाने पर निर्भर नहीं"

स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों ने एक स्वतन्त्र व्यापार नीति को अपनाने के अनेक लाभ, जिनका हमने ऊपर वर्णन किया है गिनाये है। किन्तु इनम से सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ सामाजिक शुद्ध उत्पत्ति (social net product) और सामाजिक कल्याण (social welfare) का अधिकतम् हो जाना है। यदि विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाया जाय तो व्यापार के इन लाभों (gains of trade) म कमी आ

---

1 "If a tariff wall is erected which cuts across such a network of production districts first the existing and rational, arrangement of production units over space determined by the freight situation of factors and products will be disturbed and secondly, the power of the monopolies will be strengthened Both these effects will be especially obvious in the neighbourhood of the tariff wall"—*Ibid* p 224

2 Unhampered trade promotes a mutually profitable international division of labour, greatly enhances the potential real national product of all countries and makes possible higher standards of living all over the globe"—Samuelson

3 "Only upon this basis and of course, under the assumption that the desired end is maximisation of the social product can a liberal trade policy be scientifically justified although it may be that for reasons of political propaganda other arguments are placed more in the fore ground"—Haberler *The Theory of International Trade*, p. 222

जावेगी क्योंकि प्रतिबन्धों के कारण विश्व के विभिन्न देशों में प्रसाधनों का वितरण और प्रयोग अनार्थिक ढङ्ग में होने लगता है।

प्रतिष्ठित अर्थ-शास्त्रियों ने स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में एक और भी तर्क दिया था। उन्होंने कहा था कि एक व्यक्तिगत देश को व्यापार विषयक मामलों में एक खुले द्वार की नीति' (Open door policy) अपनानी चाहिए, क्योंकि विश्व के अन्य देश भी वैसा ही कर रहे हैं। यदि एक देश विशेष शेष विश्व के विरुद्ध प्रतिबन्धात्मक नीति (Restrictionist Policy) अपनाये, जबकि अन्य सब देश स्वतन्त्र व्यापार नीति पर चल रहे है, तो प्रतिबन्ध लगाने वाले देश की नीति अन्य देशों को भी प्रतिब-धात्मक नीति ग्रहण करने के लिए प्रेरित करेगी। इस प्रकार, शनै-शनै प्रशुल्क दीवारें सब देशों में खड़ी हो जायेंगी, जिससे विदेशी व्यापार की मात्रा (Volume नगण्य रह जायेगी।

अर्द्ध विकसित अर्थ-व्यवस्थायें एवं स्वतन्त्र व्यापार नीति
(Backward Economies and Free Trade Policy)

नि सन्देह, जैसा कि हमने अभी ऊपर देखा है, स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में अनेक तर्क दिए जा सकते हैं। किन्तु ये तर्क कुछ मान्यताओं के अधीन ही वैध है, जो कि निम्न हैं —(i) कि उत्पत्ति के साधन पूर्ण रूप से रोजगार संलग्न है, (ii) कि स्वतन्त्र गतिशीलता पाई जाती है, तथा (iii) पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान है। इन मान्यताओं को पूरा करने वाली अर्थ-व्यवस्था में प्रसाधन उत्पत्ति की विभिन्न शाखाओं में विवेकयुक्त ढंग से लगे होते हैं। ऐसी दशा में, यदि प्रतिबन्धात्मक नीति अपनाई गई, तो प्रसाधन अधिक लाभदायक उपयोगों (Uses) से हटने के लिए विवश हो जायेंगे तथा उन्हें कम लाभदायक उपयोजनों में लगाना पड़ेगा। इससे उनमें बेकारी फैलेगी तथा सामाजिक शुद्ध उपज और सामाजिक कल्याण में भी कमी आवेगी।

किन्तु कीन्स ने अपनी विख्यात पुस्तक, 'सामान्य सिद्धान्त' (General Theory) में स्वतन्त्र व्यापार बनाम संरक्षण वाद-विवाद पर एक नये ढंग से प्रकाश डाला है। उनके तर्कों का कुल पर, सार यह है कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश संरक्षण की नीति अपना सकते है।

कीन्स का कहना है कि एक ऐसी अर्थव्यवस्था के लिए, जिसमें पूर्ण और निरन्तर रोजगार मिल रहा है, स्वतन्त्र व्यापार का औचित्य सन्देह रहित है। एक पूर्ण रोजगार वाली अर्थव्यवस्था (अर्थात् अति विकसित देश) में वास्तविक राष्ट्रीय आय को अधिकतम् करने हेतु उत्पादन व्यय न्यूनतम करने पड़ते है। यदि वहाँ संरक्षण की नीति अपनाई जाय, तो उत्पत्ति प्रसाधन कुशल प्रयोग वाले उद्योग में लगने के बजाय कम कुशल प्रयोग वाले उद्योग में रुकने के लिए विवश हो जायेंगे, जिसमें उत्पादन लागत में वृद्धि होकर सामाजिक शुद्ध उपज (वास्तविक राष्ट्रीय आय) बढ़ने के बजाय घट जायेगी। अतः पूर्ण रोजगार वाले देशों के लिए संरक्षण की नीति उचित नहीं है।

किन्तु अर्धविकसित अर्थव्यवस्थाओ मे पूर्ण रोजगार का स्तर कोसो ऊपर होता है । वहाँ विशाल मात्रा में प्रसाधन (मानव एव सामग्री) निष्क्रिय पडे होते है । क्या इन परिस्थितियो मे एक प्रतिबन्धात्मक नीति अपनाने से सामाजिक शुद्ध उपज म कमी आयेगी और, इस प्रकार, स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्तो का उल्लघन होगा ?

इसका उत्तर है— नहीं' । यदि उत्पत्ति साधन (मानवीय + भौतिक) पहले से ही बेकार है और यदि सरक्षण के द्वारा अब तक बेकार पडे हुए प्रसाधनो को लाभदायक काम देना सम्भव है, तो समाज की शुद्ध उत्पत्ति मे, स्वतन्त्र व्यापार का उल्लघन करने पर भी कोई कमी नही आयगी । कारण, सरक्षण के अन्तर्गत, प्रभावपूर्ण माँग का स्तर ऊँचा हो जाता है, जिससे अधिक उत्पादन किया जाने लगता है तथा अधिक रोजगार मिलना सम्भव हो जाता है । चूँकि रोजगार मे वृद्धि हो जाती है, इसलिए राष्ट्रीय आय मे भी वृद्धि होती है । यदि देश स्वतन्त्र व्यापार की नीति पर अडा रहता, तो राष्ट्रीय आय मे वृद्धि नही हो सकती थी ।

इस प्रकार, स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त केवल पूर्ण नियोजन (full employment) सम्बन्धी दशाओ की मान्यता के अधीन सत्य है किन्तु पूर्ण से कम रोजगार वाली दशाओ मे सरक्षण का सिद्धात सत्य होता है । इस प्रकार, इन दोनो सिद्धान्तो मे परस्पर कोई असगति नही है क्योकि वे अलग-अलग परिस्थितियो के लिए बनाये गये है ।

"अर्थव्यवस्था जो न तो साम्य मे है और न साम्य की ओर बढती हुई प्रतीत होती है"

मैकमिलन कमेटी रिपोर्ट (१६३०) के परिशिष्ट मे लार्ड कीन्स ने यह दिखाया था कि एक ऐसी अर्थव्यवस्था मे, जोकि न तो साम्य मे है और न साम्य की दिशा मे बढती हुई प्रतीत होती है, विशाल मानवीय एव भौतिक प्रसाधन बेकार एव निष्क्रिय पडे होते है, जिससे वहाँ सरक्षण, न कि स्वतन्त्र व्यापार, इन प्रसाधनो को पूर्ण रोजगार दिलाने मे सहायक हो सकता है । नि सदेह अर्थव्यवस्था म स्थायी बेकारी की विद्यमानता स्वतन्त्र व्यापार को उस अर्थव्यवस्था के लिए अनुपयुक्त बना देती है ।

स्वतन्त्र व्यापारियो का उद्देश्य
(The Aim of Free Traders)

स्वतन्त्र व्यापार के लिए समर्थन जिस लक्ष्य की पूर्ति पर आधारित है वह सामाजिक उत्पत्ति या राष्ट्रीय आय का अधिकतम् होना है । यहा प्रश्न उदय होता है कि किस वर्ग के व्यक्तियो की आय अधिकतम् होना उद्देश्य है ?

यह निरन्तर कहा जाता है कि स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक एक विश्ववादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, वे सम्पूर्ण विश्व की हानि को विचार मे लेते है और सघर्ष की दशाओ मे अपने निज के देश के हितो की बलि देने को तैयार रहते है । किन्तु यह धारणा सही नही है, स्वतन्त्र व्यापार की धारणा के लिए विश्ववादी उद्देश्य

बिल्कुल भी आवश्यक नहीं है यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि किसी विशेष देश के हितों के बजाय यदि समस्त विश्व को विचार में रखें तो अप्रतिबंधित व्यापार के लाभों को अधिक सुगमता के साथ स्पष्ट किया जा सकता है।[1] इसके अतिरिक्त स्वतंत्र व्यापार एवं अन्तर्राष्ट्रीयवाद में एक मनोवैज्ञानिक सहानुभूति सम्बन्ध है किंतु वे एक दूसरे से अनिवार्यतः बंधे हुए नहीं हैं। स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में आर्थिक तर्क यह दिखलाता है कि सभी भाग लेने वाले देश इसमें लाभ उठाते हैं किन्तु वह इस बात को नहीं दिखलाता कि एक का लाभ दूसरे की हानि है। इस प्रकार एक राष्ट्रवादी एक दृढ़ विश्वास वाला स्वतंत्र व्यापारी हो सकता है।

एक ओर स्वतन्त्र व्यापार एवं आर्थिक उदारतावाद में और दूसरी ओर समाजवाद अथवा हस्तक्षेपवाद में क्या अंतर है? इस विषय में याद रहे कि स्वतन्त्र व्यापार उदारवादी बाह्य व्यापार प्रणाली है जो राज्य द्वारा आर्थिक शक्तियों के स्वतन्त्र कार्यकलाप में प्रत्येक हस्तक्षेप का विरोध करती है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि एक ओर अप्रतिबंधित स्वतंत्र व्यापार का समर्थन करना और दूसरी ओर (उदाहरणार्थ) श्रम बाजार में आर्थिक शक्तियों के स्वतन्त्र कार्यकलाप में हस्तक्षेप का सुझाव देना परस्पर असंगत है।

असंगत हुए बिना कोई व्यक्ति एक ओर आयात करों का विरोधी और दूसरी ओर श्रमिकों के हितार्थ राज्य हस्तक्षेप का समर्थक कैसे हो सकता है? इसका कारण यह है कि स्वतन्त्र व्यापार कम से कम दीर्घकाल में राष्ट्रीय आय के कार्यात्मक वितरण (functional distribution) को तनिक भी प्रभावित नहीं करता। अतः वह श्रम की सापेक्षिक आय (relative income) को नहीं घटाता और उसकी निरपेक्ष आय (absolute income) को तो घटा नहीं सकता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रीय आय के वितरण से सम्बन्धित धारणायें स्वतन्त्र व्यापार की लाभदायकता को ठेस नहीं पहुँचाती है। हाँ यह सच है कि चूँकि स्वतन्त्र व्यापार सिद्धान्त श्रम मूल्य सिद्धान्त पर जो कि श्रमिक वर्ग में राष्ट्रीय आय के परिवर्तित वितरण की सम्भावना पर स्पष्ट रूप में विचार नहीं करता है आधारित है इसलिए इस सीमा तक वह अपर्याप्त है। किन्तु उपरोक्त अपर्याप्तता के फलस्वरूप आधुनिक सिद्धान्त के दृष्टिकोण से तथा राष्ट्रीय आय के वितरण में स्वतंत्र व्यापार के फलस्वरूप कोई परिवर्तन होने की सम्भावना की दृष्टि से सिद्धान्त की वैधता पर कोई चोट नहीं आती है।

---

1 a cosmopolitan aim is in no way essential to the Free Trade postulate although it must be admitted that it is easier to explain the advantage of unrestricted exchange of goods if one takes account of the whole world rather than considers only the interests of the particular country — Haberler *The Theo y of International Trade* p 225

परीक्षा प्रश्न :

१ स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में दिये जाने वाले प्रमुख तर्क क्या है ? आधुनिक आर्थिक विचारधारा के सदर्भ म उनकी समीक्षा करिये ।

[What are the chief arguments advanced in favour of Free Trade ? Examine them critically in the light of modern economic thought]

२ 'एक देश को स्वतन्त्र व्यापार की नीति केवल इसलिए अपनानी चाहिये क्योंकि अन्य देश भी वैसी ही नीति अपनाये हुये है ।' इस तर्क की वैधता पर प्रकाश डालिये ।

["The validity of the argument for a free trade policy in any country does not depend upon the adoption of the same policy in other countries" Discuss]

३ क्या आप कीन्स के इस मत से सहमत है कि देश मे विशाल और स्थाई बरोजगारी की विद्यमानता स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष को उलट देती है ? यह समझाइये कि क्या सरक्षण एक ऐसी अर्थव्यवस्था के लिए उचित है जो कि न तो साम्यावस्था मे है और न साम्य की दिशा मे बढ रही है ।

[Do you agree with Keynes in holding that a permanent mass of unemployment alters the case for free trade ? Discuss whether protection suits an economic system which is neither in equilibrium nor in the sight of equilibrium ?]

४ आप इस दृष्टिकोण से कहाँ तक सहमत है कि जबकि स्वतन्त्र व्यापार विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए सर्वोत्तम है तब अल्प विकसित अर्थ व्यवस्थाओं के लिए वह हानिप्रद है ? उत्तर के लिए कारण दीजिये ।

[How far do you agree with the view that whereas free trade might be in the best interests of developed economies it is always harmful to under developed economies ? Give reasons for your answer]

(आगरा, एम० ए०, १९६६)

५ क्या स्वतंत्र व्यापार विकासोन्मुख देश के लिये एक पर्याप्त वृद्धि दर के साथ समायोजनीय है ? आप विभेदात्मक प्रतिबंध को क्या महत्व देंगे ?

[Is free trade compatible with an adequate rate of growth for a developing economy ? What place would you assign to discriminating restriction ?]

(जीवाजी, एम० ए०, १९६७)

६ स्वतंत्र व्यापार को महत्ता स्पष्ट कीजिये । किन दशाओ मे वह एक अर्द्धविकसित देश के लिये एक उपयुक्त नीति हो सकती है ? उदाहरण सहित उत्तर दीजिये ।

[Explain the significance of free trade Under what conditions could free trade be a suitable policy for an under developed country ? Give your answer with examples]

(विक्रम, एम० ए०, १९६६)

७ किन परिस्थितियों में स्वतन्त्र व्यापार एक अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था की दृष्टि से उचित हो सकता है ? क्या ऐसी परिस्थितियां कुछ नीति संबंधी निर्णयों द्वारा उत्पन्न की जा सकती है ?

[Under what conditions would free trade be justified from the point of veiw of under developed economies ? Is it possible to bring about such conditions by some policy decisions ?]

(इलाह०, एम० ए०, १९६६)

२७

संरक्षण
(Protection)

परिचय—

स्वतन्त्र व्यापार के समर्थन मे दिये जाने वाले तर्क स्पष्ट हैं तथा इन्हे व्यापारिक नीति पर लागू करना सुगम भी है। किन्तु टैरिफ या सरक्षण के बारे मे ऐसा नही है। इसका समर्थन करने वाले तर्क एक ओर तो परस्पर विरोधी है, और, दूसरी ओर, यदि इन्हे स्वीकार भी कर लिया जाय तो, व्यावहारिक दृष्टि से उनका कार्य और प्रभाव स्पष्ट नही है। स्वतन्त्र व्यापार के सम्बन्ध मे जिस सुगमता से यह कह सकते है कि आन्तरिक और बाह्य व्यापार मे कोई भेद-भाव नहीं होना चाहिये उस प्रकार से सरक्षण के बारे मे नही कहा जा सकता। यदि कहे कि टैरिफ आर्थिक दृष्टि से लाभदायक है, तो इसके साथ ही साथ यह भी बताना पडेगा कि वह किन परिस्थितियो के अन्तर्गत लाभदायक है और किन मे नही, तथा टैरिफ को कितना ऊँचा रखा जाय। अत प्रत्येक तर्क पर विभिन्न परिस्थितियो के सदर्भ मे विचार करना होगा। ध्यान रहे कि कुछ ऐसे तर्क हैं जो विज्ञान सम्मत नही हैं तथा मामूली तर्क द्वारा रद्द किये जा सकते हैं व्यवहार मे, ससद, राजनैतिक दलो के विवेचनो तथा समाचार पत्रो मे सबसे अधिक महत्व पाते हैं।

सरक्षण के गुण-दोष

सरक्षण की नीति के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वतन्त्र प्रवाह पर प्राय कुछ प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। अत व्यापार के लाभो मे कमी हो जाती है। यह एक ऐसी हानि है, जिसे तब ही उचित ठहराया जा सकता है जबकि इसके लिए पर्याप्त कारण हो। नीचे उन परिस्थितियो या तर्कों का उल्लेख किया गया है, जिनमे या जिनके आधार पर सरक्षण उचित माना जा सकता है।

सरक्षण के पक्ष मे तर्क (गुण)—

सरक्षण के पक्ष मे जो तर्क दिए जाते हैं उन्हे गैर-आर्थिक (Non-economic) एव आर्थिक (Economic) तर्कों मे विभक्त किया जा सकता है।

(I) संरक्षण के पक्ष में गैर आर्थिक तर्क—

गैर-आर्थिक दृष्टिकोण से, जिस पर कोई विशेष ध्यान न भी दिया जाय, तो कोई हर्ज नहीं है, *सरक्षण के पक्ष म निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं* :—

(१) सुरक्षा उद्योग तर्क (Defence Industries' Argument) यह आवश्यक है कि देश की रक्षा व्यवस्था को सुदृढ किया जाय, चाहे ऐसा करने मे कुछ आर्थिक नुकसान ही उठाना पडे। प्राय सङ्कट के समय मे विदेशो से सहायता मिलना सदा ही सम्भव एव सुगम नही होता। अत जैसा कि भारत को चीन और विशेषत पाकिस्तान के आक्रमण से अनुभव हुआ है, किसी विदेशी देश पर अपनी रक्षा के लिए निर्भर रहना खतरनाक है। देश के पास अपने रक्षा उद्योग होने चाहिए चाहे इसके लिए उसे भूखो मरना पडे।

(२) राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता का तर्क (National Self Sufficiency Argument)—सरक्षण के पक्ष मे एक अन्य गैर-आर्थिक तर्क यह है कि कुछ आवश्यक वस्तुओ के सम्बन्ध मे देश को आत्मनिर्भर होना चाहिए तथा अन्य देशो पर निर्भर नही रहना चाहिए, क्योकि ऐसी निर्भरता युद्धकाल मे, जबकि विदेशी व्यापार सीमित हो जाता है, हानिकारक प्रमाणित होती है। यही नही, सङ्कट के समय विदेशो मे सहायता मिलने के साथ प्राय राजनैतिक शर्तें भी जुडी होती हैं।

उपरोक्त दशाओ मे लोग जानबूझ कर सरक्षण की नीति को अपनाते हैं, जिसमे उन्ह कुछ गैर-आर्थिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए कुछ आर्थिक लाभो का परित्याग करना पड़ता है। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थको का कहना है कि गैर-आर्थिक दृष्टिकोण से सरक्षण एक सीमा तक वाछनीय हो सकता है, किन्तु आर्थिक दृष्टिकोण से स्वतन्त्र व्यापार ही सर्वश्रेष्ठ नीति है।

(II) सरक्षण के पक्ष में आर्थिक तर्क—

सरक्षण के पक्ष मे दिए जाने वाले आर्थिक तर्कों का बुनियादी भाव (basic idea) यह है कि सरक्षण के कारण सामाजिक उत्पत्ति मे वृद्धि होती है, यह भाव *स्वतन्त्र व्यापार के भाव से उल्टा है। अन्य शब्दो मे, संरक्षण के पक्ष के* तर्कों को स्वतन्त्र व्यापार के विपक्ष वाले तर्क कहा जा सकता है। सरक्षण के पक्ष मे आर्थिक तर्क निम्नलिखित हैं —

(१) रेवेन्यू बढाने का तर्क (The Revenue Argument)—सरक्षण की नीति का सरकार की आय बढाने के लिए समर्थन किया जाता है। विशेषत अविकसित देशो मे पूँजी की बहुत कमी होती है, क्योकि लोगो की आय नीची होने से बचत कम होती है। अत. सरकार पर ही यह भार पडता है कि वह आर्थिक विकास के लिए सामाजिक पूँजी का निर्माण करे। इस दृष्टि से सरक्षण करो को ठीक समझा जाता है क्योकि वे सरकार की आय मे वृद्धि करते हैं। किन्तु, जैसाकि हैबरलर का कहना है, सरक्षण और आय प्राप्त करने के उद्देश्य परस्पर असगत हैं। कारण, जो कर अच्छी आय प्रदान करते हैं वे 'सरक्षण' नही दे सकते और जो

संरक्षण दे सकते हैं उनसे आय बहुत कम होती है। अत संरक्षण का समर्थन करने वाले रेवेन्यू-तर्क मे कोई विशेष बल नही है।[1]

(२) गृह बाजार के सृजन एव विकास का तर्क (Creating and expanding a home market argument)—कहा जाता है कि संरक्षण देश मे गृह बाजार का विस्तार करने मे सहायक होगा। किन्तु यह भी सच है कि यदि एक ओर गृह-बाजार बढता है तो दूसरी ओर निर्यात बाजार सकुचित होता है क्योंकि आयात कम होने के फलस्वरूप निर्यातो मे कमी आ जाती है। प्राय कहा जाता है कि जब देश मे ही एक विस्तृत बाजार मौजूद है तो विदेशो मे निर्यात बाजार ढूँढने की क्या आवश्यकता ? नि सदेह यह तर्क तब तक ठीक है जबकि देश ने आत्मनिर्भरता प्राप्त करली हो। चूँकि कोई देश सब वस्तुओ मे आत्मनिर्भर नही है इसलिए कुछ वस्तुयें विदेशो से मँगाना अनिवाय है और इस हेतु आयातो का भुगतान करने के लिए निर्यात करने की भी आवश्यकता है। फिर उद्योगो का सङ्गठन अन्तर्राष्ट्रीय आधार के बजाय राष्ट्रीय आधार पर करने से कुल उत्पत्ति म कमी आ जाती है। कीन्स (keynes) ने गृह बाजार के विकास के तर्क का उत्तर निम्न रोचक शब्दो मे दिया है—'संरक्षण के अ तर्गत लोगो को अधिक परिश्रम करना पडेगा। आयातो पर प्रतिबन्ध द्वारा हम अपने करने के लिए उपलब्ध काय की मात्रा तो बढा लेते है किन्तु हमारी आय कम हो जाती है। आयात हमारी प्राप्तियाँ और निर्यात हमारे भुगतान हैं। ऐसी दशा म अपनी प्राप्तियां घटाकर हम अपनी दशा कैसे सुधार सकते है ? क्या ऐसी भी कोई चीज है जो कि एक भूकम्प कर सकता है लेकिन संरक्षण नहीं कर सकता ?"[2]

---

1. 'The duty which affords the maximum of protection is a prohibitive one which yields no revenue to the state On the other hand the revenue yielded by a duty will be the greater the less the import of the goods falls off, that is to say the less the duty fulfils, its protective function"—Haberler · *The Theory of International Trade*, p 239

2. "If protectionists merely mean that under their system men will have to sweat and labour more, I grant their case By cutting off imports we increase the aggregate of work, but should be diminishing the aggregate of wages The protectionist has to prove not merely that he has made work, but that he has increased the national income Imports are receipts and exports are payments How, as a nation can we expect to better ourselves by diminishing our receipts ? Is there anything better than a tariff could do, which an earth quake could not do better"—Keynes *The Nation and Athenaeum*

(३) व्यापार की शर्तों के सुधार का तर्क (The Terms of Trade Agrument)—यदि संरक्षण कर लगाये जाये, तो कुछ परिस्थितियों में विदेशी व्यापार की शर्तों में सुधार होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई देश किसी आयातित वस्तु का एक प्रमुख आयातक है तो संरक्षण-कर लगाने से इसकी कीमत में कमी की जा सकती है। इससे देश के लिए व्यापार की शर्तों में सुधार हो जायेगा। [किन्तु यह लाभ सामान्यत उचित नहीं समझा जाता, क्योंकि वह एक अन्य देश के हित को ठेस पहुँचा कर उपलब्ध होता है। साथ ही, यह डर भी है कि वही अन्य देश प्रतिरोधात्मक कार्यवाही न करे।]

(४) शोषित श्रम तर्क (Sweated Labour Argument)—विश्व के प्रगतिशील देशों द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि संरक्षण के अभाव मे इन देशों में ऊँची मजदूरी पाने वाले श्रमिकों को सस्ते विदेशी श्रम के कारण खतरा उत्पन्न हो जाता है। अत श्रम के हितों की रक्षा के लिए संरक्षण की नीति अपनाई जानी चाहिए। [यह तर्क भी सही नहीं है क्योंकि इसका आधार यह भ्रान्त धारणा है कि स्वतन्त्र व्यापार से समस्त विश्व में मजदूरियों का समानीकरण हो जाता है। वास्तव में, जैसाकि प्रो० हैबरलर ने बताया है, स्वतन्त्र व्यापार होते हुए भी मजदूरियों का समान होना सम्भव नहीं है, क्योंकि देशों के मध्य श्रम अ-गतिशील (Immobile) होता है। प्रो० बाइनर ने भी कहा है कि स्वतन्त्र व्यापार से श्रम के हितों पर बुरा प्रभाव नहीं पड सकता।]

(५) बदले की कार्यवाही का तर्क (Retaliation Argument)—यह कहा जाता है कि चूँकि हम एक 'ले-दे' की प्रवृत्ति वाले विश्व में रहते है और चूँकि एक स्वतन्त्र व्यापार वाले देश के पास संरक्षण की नीति पर चलने वाले देश को देने के लिए कोई प्रलोभन नहीं होता, इसलिए उसकी सौदा करने की शक्ति बहुत दुर्बल होती है। इसके अतिरिक्त एकपक्षीय स्वतन्त्र व्यापार हानिप्रद होता है। स्वतन्त्र-व्यापार देश अपने आपको विदेशी प्रतियोगियों के चंगुल मे फँसने देता है। अत संरक्षण के पक्ष मे यह तर्क दिया जाता है कि प्रतिरोधी संरक्षण अन्य देशों द्वारा संरक्षण कर लगाने के कुप्रभावों का सामना करने मे सहायक होगा। [किन्तु यह तर्क भी बहुत ठोस नहीं है, क्योंकि, कुछ देशों की संरक्षण नीति के परिणाम-स्वरूप विश्व व्यापार के लाभ पहले ही कम हो गये है, प्रतिरोधी संरक्षण इन लाभों में और भी कमी कर देगा।]

(६) रोजगार बढ़ाने का तर्क (The Employment Argument)—प्राय संरक्षण के पक्ष मे यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि इस नीति को अपनाने से रोजगार बढ़ता है। इसे बेकारी की समस्या को सुलझाने का सबसे प्रभावशाली साधन बताया जाता है। [यदि गहराई से इस तर्क की परीक्षा करें, तो हमे पता चलेगा कि संरक्षण से अल्पकाल मे बेकारी में कुछ कमी अवश्य आवेगी किन्तु दीर्घकाल मे नहीं। विस्तृत विवेचन इसी अध्याय म आगे दिया गया है।]

(७) आर्थिक स्थायित्व का तर्क (Economic Stability Argument)—कभी-कभी संरक्षण का समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि यह संरक्षित अर्थ-व्यवस्था को अनार्थिक अस्थिरता एवं विश्व के अन्य भागों में उपस्थित होने वाले व्यापार चक्रों के कुप्रभावों से सुरक्षित रखेगा। [लेकिन अनुभव से यह तर्क ठीक प्रमाणित नहीं होता। संरक्षित देशों को भी व्यापार चक्रों का सामना करना पड़ा है। वास्तव में, नीचे ऊँचे संरक्षण करों से व्यापार चक्र के मार्ग में कोई बाधा नहीं पड़ती है। फिर व्यापार चक्र का समाधान केवल संरक्षण नीति ही तो नहीं है। उसके अन्य उपचार भी तो उपलब्ध हैं जो कि संरक्षण की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली होते हैं।]

(८) व्यापार सन्तुलन तर्क (Balance of Trade Argument)—व्यापार-वादियों का कहना था कि देश में स्वर्ण के प्रवाह को आकर्षित करने के लिए अनुकूल सन्तुलन बनाये रखना चाहिए। इस हेतु आयातों की अपेक्षा निर्यातों की अधिकता होनी आवश्यक है और निर्यात आधिक्य तब ही उपलब्ध हो सकता है जबकि एक उचित संरक्षण-नीति अपनाई जाय। [अन्य तर्कों की भाँति यह तर्क भी भ्रमात्मक है क्योंकि (i) यदि सभी देश इस नीति को अपना लें, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत कमी हो जावेगी, (ii) किसी देश के लिए अपना निर्यात-आधिक्य स्थायी रूप से बनाये रखना सम्भव नहीं है क्योंकि निर्यात आधिक्य के फलस्वरूप देश में आने वाला स्वर्ण कीमतों में वृद्धि करके आयातों को बढ़ा देता है, और (iii) यदि किसी देश के पास विशाल स्वर्ण कोष एकत्र हो भी जायें, तो अन्य देशों से माल क्रय करने के अतिरिक्त और उसका क्या उपयोग किया जायेगा?]

(९) क्रय शक्ति का तर्क (Purchasing Power Argument)—जैसा कि अब्राहम लिंकन कहा करते थे, आयातों में कमी होने से क्रय-शक्ति की बचत होती है क्योंकि देश का धन बाहर कम जाता है। [लेकिन यह तर्क भी भ्रम पूर्ण है, क्योंकि लोगों को वस्तुओं की, न कि द्रव्य की, आवश्यकता होती है, और, फिर आयातों का भुगतान निर्यातों द्वारा होता है, अतः यदि हम विदेशों से माल न मँगावें, तो विदेशी भी हमसे माल नहीं खरीद सकेंगे।]

(१०) वैज्ञानिक प्रशुल्क तर्क (The Scientific Tariffs Argument)—कुछ देशों में (जैसे कि जापान) उत्पत्ति की नीची लागतों के भय से, जोकि वहाँ मजदूरी की नीची दरें प्रचलित होने के कारण सम्भव है ऊँची लागत वाले देश (जैसे कि अमेरिका) यह तर्क देते हैं कि देश और विदेश में उत्पत्ति-लागतों में समानता की स्थापना के लिए प्रशुल्क कर लगाये जाने चाहिए। ऐसा होने पर ही उचित प्रतियोगिता हो सकेगी। [किन्तु यह तर्क भी सर्वथा भ्रमात्मक है, क्योंकि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बिल्कुल ही न हो सकेगा, क्योंकि वस्तु व्यापार लागत-भिन्नताओं के कारण उदय होता है।]

(११) राशिपातन रोकने का तर्क (Prevention of Dumping Argu-

ment)—कभी-कभी विदेशी उद्योगपति स्वदेश के विकासोन्मुख उद्योगों को समाप्त करने के लिए अपनी वस्तु को लागत से भी कम मूल्य पर बेचते हैं, जिससे जब बाजार उनके अधिकार में आ जाय, तो वे मनमाना कीमत वसूल करके लाभ उठावें। इस कार्यवाही को 'राशि पतन' कहते हैं। ऐसी दशा में गृह उद्योग को सरक्षण देना उचित है।

(१२) उद्योगों की विविधता का तर्क (Diversification of Industries Argument)—प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार देशों को उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करना चाहिए, जिसमें उन्हें प्रतियोगितात्मक लाभ हो। इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए विश्व अर्थ-व्यवस्थाओं को 'विकसित' एव 'अविकसित' दो वर्गों में बाँटा गया है। विकसित देश औद्योगिक वस्तुओं और अल्प-विकसित देश प्राथमिक वस्तुओं (जैसे कच्चा माल, अर्द्ध निर्मित माल, खाद्यान्न) के उत्पादन में विशिष्टता रखते हैं। अब यह कहा जाने लगा है कि अपने प्रसाधनों को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक देश को चाहिए कि वह अपनी अर्थव्यवस्था को विविधीकृत बनायें। ऐसे विविधीकरण के पक्ष में निम्न कारण दिये जाते हैं —(i) विशिष्टीकरण के अन्तर्गत देश की अर्थव्यवस्था कुछ उद्योगों पर निर्भर हो जाती है। यह निर्भरता मन्दी व युद्धकाल में हानिकारक हो सकती है, (ii) व्यापार की शर्तें प्राथमिक उत्पादकों के लिए अधिकाधिक प्रतिकूल होती जा रही हैं। अत उन्हें अन्य साधनों से अपनी आय बढ़ानी चाहिए, (iii) रोजगार बढ़ाने की दृष्टि से भी अनेक प्रकार के धन्धे होना आवश्यक है, एव (iv) औद्योगिक देशों की हालत भी भविष्य में बिगड़ जावेगी, क्योंकि जैसे जैसे कृषक देशों में औद्योगीकरण बढ़ेगा, उन्हें वहाँ से कच्चा माल या खाद्यान्न मिलना कठिन होता जायेगा। अत इन समस्याओं का समाधान सरक्षण की सहायता लेकर अर्थव्यवस्था को विविधमुखी बनाना है। [विविधीकृत अर्थ-व्यवस्था के पक्ष में रखे गये तर्क अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए, कच्चे माल व खाद्यान्न के स्रोत रातो-रात तो सूख नहीं जायेंगे। इनके सूखने में कुछ समय लगेगा और इस बीच उपचार किये जा सकते हैं।]

(१३) राष्ट्रीय साधनों के सदुपयोग का तर्क (Convscrvation of National Resources Argument)—केरे और पैटन ने तर्क दिया है कि स्वतन्त्र व्यापार से राष्ट्र के प्रसाधन जल्दी खत्म होने लगते हैं। अत राष्ट्रीय साधनों की रक्षा के लिए सरक्षण की नीति अपनाना आवश्यक है। [इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यदि सीमित सामग्री का निर्यात 'कच्ची दशा' में किया जायेगा, तो निर्माण सम्बन्धी लाभ देश से बाहर चला जायगा। अत देश को पक्के माल के रूप में सामग्री का निर्यात करने से लाभ होगा।]

(१४) बुनियादी उद्योग तर्क (Key Industry's Argument)—लौह एव स्पात जैसे बुनियादी उद्योग स्वदेश की अर्थ-व्यवस्था को बहुत दृढ़ता प्रदान करते हैं।

अतः इनमे देश को यदि तुलनात्मक लाभ न भी हो, तो भी इनका विकास करना जरूरी है। सरक्षण की सहायता से उद्देश्य सहज ही पूरा हो सकता है।

(१५) शिशु उद्योग तर्क (Infant Industry Argument)—इस तर्क को सबसे अधिक लोकप्रियता मिली है। इसके अनुसार विकसित देशों के मजबूत वयस्क उद्योगों की प्रतियोगिता के विरुद्ध एक विकासोन्मुख देश के शिशु उद्योगों को सरक्षण देना चाहिए अन्यथा उनकी अकाल मृत्यु का डर है। नि सन्देह, यह बात सही है। [परन्तु इस सम्बन्ध मे यह नही भूलना चाहिए कि शिशु उद्योग 'वयस्क' होने पर भी शिशु बने रहना चाहते हैं जिससे देश पर अनावश्यक सरक्षण का बोझ पड़ने लगता है।]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सरक्षण के पक्ष मे दिये जाने वाले अनेक तर्क गहराई से परीक्षा करने पर, थोथे निकलते है।

सरक्षण के विरोध में तर्क (दोष)—

इसके अतिरिक्त, सरक्षण की नीति के निम्नलिखित सकरात्मक दोष (Positive Drawbacks) भी है —(i) निहित स्वार्थ स्थापित हो जाते है, जो एक बार सरक्षण मिलने पर, इसे फिर एक अधिकार के रूप म जारी रखने की माँग करते हैं। (ii) यह उद्योगपतियो मे निष्क्रियता एव आलस्य की वृद्धि करता है। (iii) इसमे भ्रष्टाचार के लिए बहुत अवसर है। (iv) एकाधिकार स्थापित होने की भी आशका है। (v) इसके अन्तर्गत धनिकों का पक्षपात किया जाता है—वे अधिकाधिक धनी बनते जाते है किन्तु निर्धन वर्ग उत्तरोत्तर निर्धन होने लगता है। (vi) कीमतें बढने से उपभोक्ताओं को भी हानि होती है। (vii) सरक्षण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो मे सघर्ष और प्रतिकार की भावनाओ को बढावा मिलता है। (viii) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को ठेस पहुँचती है तथा उत्पादक साधन सर्वोत्तम प्रयोग मे न लाये जाने के कारण विश्व उत्पादन घटने लगता है।

उपसहार—कुल पर सैद्धान्तिक दृष्टि मे स्वतन्त्र व्यापार सर्वोत्तम है, किन्तु व्यवहार म सरक्षण की नीति अपनाना आवश्यक हो जाता है। विशेषत अल्प-विकसित देशों के लिए सरक्षण की नीति बहुत ही उपयोगी है। इसी बात को दृष्टि-गत रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने अल्प-विकसित देशो को अस्थाई रूप से सरक्षण बनाये रखने की अनुमति दे दी है। अधिक सही शब्दो म, विशेष परिस्थितियों मे सरक्षण की नीति ही, स्वतन्त्र व्यापार की अपेक्षा, अधिक लाभदायक प्रमाणित होती है।

सरक्षण और रोजगार

प्राय सरक्षण का समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि यह रोजगार बढाने म सहायक है। कहते है कि प्रशुल्क-सरक्षण देश मे बेकारी की सामाजिक समस्या का सामना करने का सबसे प्रभावशाली अस्त्र है। इस कथन के औचित्य

की परीक्षा (बेकारी के आकार पर संरक्षण के अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन प्रभाव इन दो शीर्षकों के अन्तर्गत) की गई है।

(I) अल्पकालीन प्रभाव—

यदि प्रशुल्क कर लगान से संरक्षित उद्योग की वस्तु वैसी ही आयातित वस्तु के साथ प्रतियोगिता कर सकती है और यदि ऐसी वस्तु के लिए माँग पूर्णतः लोचदार नहीं है तो निःसन्देह अकेले उद्योग में बेकारी घट जायेगी, क्योंकि आयात कर लगने से देशी उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा तथा बढ़े हुए उद्योग में कुछ बेकारों को काम उपलब्ध हो जायेगा।

इस तर्क के विरुद्ध स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों का कहना है कि प्रशुल्क-कर कुल बेकारी को घटाने में सहायक नहीं हो सकेंगे। हम सब यह जानते हैं कि 'आयात निर्यातों का भुगतान करते हैं।' अतः आयातों के परिमाण में कमी आने का फल यह होगा कि विदेशी भी हमसे अपने आयातों को घटाने के लिए विवश हो जायेंगे। इस प्रकार, आयातों में कमी आने से जो अतिरिक्त रोजगार उत्पन्न होता है वह घटते हुए निर्यात-उद्योगों में उत्पन्न बेकारी से निष्प्रभावित हो जायेगा।

संरक्षणवादियों ने स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों की उक्त आलोचना को निम्न आधारों पर त्रुटिपूर्ण बताया है —(1) यह आवश्यक नहीं है कि आयातों में कमी निर्यातों में भी उतनी ही आनुपातिक कमी लावे, और (11) देशी वस्तुओं के लिए नवीन घरेलू माँग (जो कि संरक्षित घरेलू उद्योग के विकास के कारण नये लोगों को काम मिलने से उत्पन्न होती है) हमारे निर्यात उद्योगों की वस्तुओं के लिए विदेशी माँग में आती हुई कमी को पूरा कर देगी। फलतः निर्यातों के घटने का मतलब यह नहीं है कि निर्यात उद्योगों में रोजगार कम हो जायेगा।

हमारी सम्मति में उपरोक्त आलोचना व प्रत्यालोचना अंशतः सत्य है। हम नहीं कह सकते कि नये रोजगार पाने वालों की माँग बिल्कुल उन्हीं वस्तुओं के लिए होगी जो कि पहले निर्यात की जाती थी अतः संरक्षण लगने के परिणामस्वरूप निर्यात उद्योगों में कुछ न कुछ बेकारी फैलना अनिवार्य है। लेकिन यह भी स्वीकार करना होगा कि नई घरेलू माँग अपने आपको किसी न किसी वस्तु के लिए बढ़ी हुई माँग के रूप में व्यक्त करेगी। जिस सीमा तक ऐसा होगा उस सीमा तक निर्यात उद्योगों में होने वाली बेकारी बढ़ने वाले रोजगार से निष्प्रभावित हो जायगी। फिर, चूँकि संरक्षित उद्योगों में रोजगार बढ़ता है, इसलिए कुल पर बेकारी में कमी अवश्य आवेगी।

(II) दीर्घकालीन प्रभाव—

किन्तु प्रशुल्क संरक्षण के अनुकूल प्रभाव केवल अल्पकाल तक ही सीमित हैं। दीर्घकाल में रोजगार प्रोत्साहक के रूप में इनकी उपयोगिता बहुत कुछ समाप्त हो जाती है। अन्य शब्दों में, संरक्षण बेकारी की समस्या का एक अस्थायी उपचार है। अर्थ-व्यवस्था में प्रायः तीन प्रकार की बेकारी पाई जाती है, यथा —

(१) सघर्षात्मक बेकारी (Frictional Employment)—एक जॉब के छूटने पर श्रमिक को दूसरा जॉब तुरन्त ही नही मिलता, वरन् इसमे कुछ समय लगता है। ऐसे समयान्तर की बेकारी को 'सघर्षात्मक बेकारी' कहते है। जब किसी उद्योग पर विदेशी प्रतियोगिता का दबाव बढ रहा हो, तो उसे सरक्षण देकर सभावित सघर्षात्मक बेकारी को कुछ समय के लिए घटाया अथवा समाप्त किया जा सकता है। लेकिन ऐसा करने मे राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कुछ लाभ से हाथ धोना पडता है। चूंकि सघर्षात्मक बेकारी जब-तब उत्पन्न होती रहती है, इसलिए हर बार जब कि इसके उत्पन्न होने का खतरा हो, प्रशुल्क सरक्षण द्वारा इसे रोकने का प्रयत्न करने मे राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के महान लाभ से वचित होना पडता है।[1]

(२) चक्राकार बेकारी (Cyclical Unemployment)—चक्राकार बेकारी का आशय उस बेकारी से है जो व्यापार चक्र के कारण उदय होती है। प्राय सभी पूंजीवादी देशो को ऐसी बेकारी का सामना करना पडता है। प्रत्येक मन्दी अपने साथ बेकारी की लहर लाती है। कहा जाता है कि सरक्षण-कर लगाकर देश को शेष विश्व से पृथक रखते हुए मन्दी के सकट से सुरक्षित किया जा सकता है। सभवत इसी कारण सन् १९३१ की मन्दी के समय एक के बाद एक देश ने बेकारी के खतरे से बचने के लिए प्रशुल्क कर लगाए। किन्तु अनुभव यह दर्शाता है कि अति सरक्षणवादी देश भी स्वतन्त्र व्यापार देशो की तुलना म मदी काल मे कम सकट-ग्रस्त नही रहे।

(३) स्थायी बेकारी (Permanent Unemployment)—स्थायी बेकारी प्राय वास्तविक मजदूरियां बहुत ऊँची होने के कारण उदय होती हैं। ऐसी बेकारी को हल करने मे सरक्षण बहुत ही कम सहायक हो सकता है वह भी तब जब कि बहुत ऊँचे आयात कर लगाये जाएं। किन्तु, ऊँचे आयात कर लगाने से उपभोक्ताओ को बहुत त्याग करना पडता है जो कि न्यायोचित नहीं है। फिर, निर्यात उद्योगो मे फैली हुई बेकारी के सम्बन्ध मे सरक्षण की युक्ति बेकार है। वस्तुत वह ऐसी बेकारी को कम करने के बजाय बढा देता है क्योकि सरक्षण के फलस्वरूप आयात घटने से जिसमे निर्यात म कमी आती है तथा बेकारी उत्पन्न होती है।

उपरोक्त विश्लेषण से निम्न बातें स्पष्ट हो जाती है —(1) यदि बेकारी स्थायी है, तो इसका उपचार यह होगा कि या तो मजदूरी-स्तरो को नीचा किया

---

[1] "If one were to raise the tariff every time unemployment appeared anywhere, one would incur lasting loss for the sake of a doubtful and temporary gain One would forgo the immense gains of international division of the labour and of technical progress for a mass of pottage"—Haberler *The Theory of International Trade*, p. 226

जाय या देश अपने यहा इतनी टेक्नीकल प्रगति हो जाने की प्रतीक्षा करे जिससे कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता बढकर प्रचलित मजदूरी के बराबर हो जाय, (ii) यदि बेकारी चक्र स्वभाव की है, तो वह पुन उठान (recovery) की अवस्था के आगमन पर स्वत ठीक हो जायेगी। हाँ, यदि मजदूरियो मे कटौतियो की नीति भी अपनाई जाय, तो इससे उक्त अवस्था जल्दी ही आ सकती है, एव (iii) आशिक (किसी एक उद्योग मे) बेकारी की दशा म देश के पूर्ण रोजगार स्तर तक स्वाभाविक रूप से पहुँचने की प्रतीक्षा करनी चाहिये। हाँ, बेकार व्यक्तियो को अन्य उद्योगो के काम की ट्रेनिंग दी जा सकती है।

सरक्षण देने की विधियाँ

देश की सरकार अनेक तरीको से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वाभाविक गति मे बाधा डाल सकती है और इसके प्रभावस्वरूप देश के उद्योगो को सरक्षण मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लगाय जाने वाले विभिन्न व्यापार के प्रतिबन्ध या सरक्षण देने की विभिन्न रीतिया इस प्रकार हैं —(१) **वैधानिक निषेध** (Legal Prohibition) जिसमे सरकार कानून बना कर किसी वस्तु के आयात या निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देती है। (२) **प्रशुल्क कर** (Tariffs or Duties), जिनम आयात और निर्यात कर सम्मिलित है। इनमे भी आयात कर अधिक लोकप्रिय है। (३) **आर्थिक सहायता** (Bounties and Subsidies), जिसके अन्तर्गत अनुदान विशेष छूट और ऋण आदि सम्मिलित हैं, जो कि सरकार उद्योग विशेष को आर्थिक सहायता के रूप मे देती है। (४) **परिमाणात्मक प्रतिबन्ध** (Quantitative Restrictions) जिनमे आयात की जाने वाली वस्तु के लिए कोटे निश्चित कर दिये जाते है। एव (५) **विनिमय नियन्त्रण** (Exchange Restrictions) जिसमे विदेशी विनिमय का राशनिंग सम्मिलित है आजकल **विनिमय नियन्त्रण की रीतियाँ** आयातो को प्रतिबन्धित करने की विधि के रूप मे भी बहुत प्रभावशाली मानी जाने लगी है। इनके अधीन न केवल विदेशी मुद्रा कोष ही सुरक्षित रहता है वरन विदेशी वस्तुओ को भी देश के बाहर रखने मे सहायता मिलती है। इन रीतियो का राजनैतिक प्रभाव भी होता है। यद्यपि व्यापार को प्रतिबन्धित करने मे विनिमय नियन्त्रण के लाभ स्पष्टता स दृष्टिगोचर होते है तथापि यह अनुभव किया जाता है कि इनके कारण उत्पादन एव व्यापार की रचना का स्वरूप बिगड जाता है तथा भ्रष्टाचार व मनमानी नीति को बढावा मिलता है।

कोटा प्रणाली
(Quota System)

सक्षिप्त इतिहास—

परिमाणात्मक प्रतिबन्ध, जिनमे से कोटा प्रणाली एक है, सबस पहले प्रथम विश्व-युद्ध से समय म लगाय गय थे। सन् १९१४ और सन् १९१८ के बीच ऐसे नियन्त्रण युद्ध अर्थ-व्यवस्थाओ का अभिन्न अग बन हुय थे। युद्ध सलग्न देशो ने

निर्यातो पर प्रतिबन्ध लगाये, जिससे कि (1) फौजी महत्त्व का सामान शत्रुओ के हाथ न लग सके, (ii) वे स्वय अपनी सीमाओ के भीतर दुर्लभ साधनो का विवेकपूर्ण प्रयोग कर सकें तथा (iii) तटस्थ यूरोपीय राष्ट्रो के माध्यम से उनके पुनर्नियात की प्रत्येक सम्भावना खत्म हो जाय। उन दिनो जहाजी सुविधाओ का न मिलना भी वस्तुओ के आवागमन मे बहुत बाधक बना हुआ था।

युद्ध के बाद, अच्छे दिनो की आशा रखते हुये भी, नियन्त्रण पुन एक अल्प अवधि के स्वतन्त्र व्यापार के पश्चात्, लगा दिए गय । किन्तु विश्व का जनमत इन नियन्त्रणों के बहुत ही विरुद्ध था। अत बहुपक्षी व्यापार प्रणाली (multilateral trading system) को सहज मार्ग पर पुन लाने हेतु प्रयास किये गये। कई सम्मेलन हुए। यद्यपि इन सम्मेलनो का वास्तविक परिणाम बहुत ही मामूली निकला तथापि इनके फलस्वरूप परिमाणात्मक प्रतिबन्धो के हटाने की दिशा मे कार्यवाही शुरू हो गई।

किन्तु १६२६ मे कृषि मे भयकर मदी आई, जिससे विश्वास की बुनियाद को पुन हिला दिया और जिस प्रकार मोतीझरा का बुखार एक बार उतर कर पुन चढ जाता है उसी प्रकार व्यापार के प्रति उदारता की प्रवृत्ति बढते-बढते पुन रुक गई अन्यथा प्रतिबन्धो म वृद्धि होने लगी। शनै शनै प्रतिबन्धो की कठोरता बढती ही चली गई। जब इङ्गलैंड स्वर्णमान से हट गया, तब इन्होने अधिक बुरा रूप धारण कर लिया। केवल एक वर्ष के अति-अल्प काल मे ही समस्त यूरोप नियन्त्रणो और परिमाणात्मक प्रतिबन्धो के जाल मे फँस गया। जैसाकि मिसेज जोन रोबिन्सन (Mrs Joan Robinson) ने ठीक ही कहा है, प्रत्येक देश, 'मैं दरिद्र तो मेरा पडोसी भी दरिद्र' वाली नीति (Beggar my neighbour policy) का अनुसरण करने मे पागल हो रहा था । वह निर्यात करने के लिए तो बहुत ही उत्सुक प्रतीत होता था किन्तु आयात करने मे सबसे पीछे रहना चाहता था, जिससे बहुपक्षी व्यापार प्रणाली के सचालन के ठोस आधार की एक पूर्व शर्त भग हो गई।

कोटा प्रणाली के भेद—

कोटे (quotas) जो स्वय ही परिमाणात्मक प्रतिबन्धो का एक रूप है, स्वय भी कई प्रकार के होते हैं, जैसे—टैरिफ कोटे, एकपक्षीय आयात कोटे, आयात अनुज्ञापन द्विपक्षीय कोटे एव मिश्रित कोटे । नीचे इन पर सूक्ष्म मे प्रकाश डाला गया है।

(१) टैरिफ कोटे (Tariff Quotas)—टैरिफ कोटे का आशय एक विशेष वस्तु की निर्दिष्ट मात्रा मे है, जिसे कर की एक रियायती दर पर आयात करने की अनुमति दी गई है। इस नियत मात्रा से अधिक वस्तु का आयात करने पर दण्ड के रूप मे ऊँची दर से आयात कर चुकाना पडता है। इस युक्ति का प्रयोग १६ वीं शताब्दी के मध्य मे कई यूरोपीय देशो द्वारा, एक अल्प किन्तु निश्चित मात्रा मे सीमान्त व्यापार को प्रोत्साहन देने के हेतु, किया गया था। आजकल भी पडौसी

देशों से कुछ निर्दिष्ट वस्तुओं का आयात प्रोत्साहित करने के लिए इस विधि का ही प्रयोग किया जा रहा है।

(२) एकपक्षीय आयात कोटे (Unilateral Import Quotas)—इस प्रकार के कोटे के अन्तर्गत एक दी हुई अवधि के भीतर वस्तु के आयात पर सरकार द्वारा विदेशी सरकारों से पूर्व वार्त्ता बिना ही, एक निरपेक्ष सीमा (absolute limit) बाँध दी जाती है। ऐसे कोटे विश्व व्यापी (global quota) हो सकते हैं या देश क्रम में (country wise) निर्धारित किये जा सकते हैं। विश्वव्यापी कोटे की विशेषता यह है कि नियत की हुई सीमा तक सम्बद्ध वस्तु किसी भी देश से आयात की जा सकती है जबकि देश क्रम वाले कोटे में कुछ मात्रा पहले से ही कुछ देशों पर वितरित कर दी जाती है और फिर उन्हीं से नियत सीमाओं तक वस्तु का आयात किया जा सकता है।

(३) आयात अनुज्ञापन (Import licensing)—आयात अनुज्ञापन द्वारा बाजारों को अस्त-व्यस्त किए बिना ही विभिन्न सप्लायरों के मध्य कोटे का समान रूप से वितरण किया जाता है। अनुज्ञापन विधि कोटे की घोषणा करने की विधि से श्रेष्ठ है। कारण चूँकि कुल कोटे की मात्रा सार्वजनिक रूप से नहीं खोली जाती है इसलिए सटोरियों को प्रोत्साहन नहीं मिलने पाता है। इसके अतिरिक्त अनुज्ञापन विधि के अन्तर्गत सप्लाई थोड़ी थोड़ी मात्राओं में नियमित रूप से होती रहती है, एक बारगी कुल मात्रा नहीं मँगा ली जाती है।

(४) द्विपक्षीय कोटे (Bilateral Quotas)—द्विपक्षीय कोटा प्रणाली के अन्तर्गत आयातकर्ता देश निर्यातक देशों से इस आशय की वार्त्ता (negotiation) करता है कि उसमें से प्रत्येक कितनी कितनी मात्रा सप्लाई करेगा। अतः इस प्रकार के कोटे से विभिन्न सप्लायरों में पूर्तियों का नियमित रूप से वितरण हो जाता है, जिससे आयातित सप्लाई में अत्यधिक उतार-चढ़ाव नहीं हो सकते और ठहराव द्वारा एकाधिकार भी स्थापित नहीं हो पाते हैं।

(५) मिश्रित कोटे (Mixed Quotas)—यह नियन्त्रण का वह तरीका है जो स्वदेशी निर्मित वस्तुओं में मिलाया जाने वाला विदेश-उत्पादित कच्चे माल का अनुपात नियत कर देता है। यह नियन्त्रण, तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार, प्रसाधनों का अनुकूलतम् वितरण कराने में सहायक होता है।

टैरिफ (आगम-निर्गम कर) प्रणाली

पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्थाओं में घरेलू उद्योगों को विकसित अर्थव्यवस्थाओं के वैसे ही उद्योगों की प्रबल प्रतियोगिता से संरक्षण की आवश्यकता पड़ती है। यह प्रतियोगिता 'बाजारों के लिए दौड़' का रूप ले लेती है तथा न केवल गुण के सम्बन्ध में वरन् कीमत के सम्बन्ध में भी होती है। प्रतियोगी देशों की असमान स्थिति के कारण कभी-कभी वह बहुत अन्यायपूर्ण हो जाती है। यह एक वयस्क और एक शिशु के मध्य प्रतियोगिता के समान है। 'शिशु' की तुलना पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्थाओं में

स्थापित किये जा रहे उद्योगों से और 'वयस्क' की तुलना उन्नत अर्थव्यवस्थाओं में सुस्थापित एवं दीर्घ अनुभव प्राप्त उद्योगों से की जा सकती है। उन्नत देश अपने स्वार्थ के लिए, विकसित एवं अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्थाओं के मध्य अन्तर बनाये रख कर, अपनी लाभदायक स्थिति को सदा ही स्थाई रखना चाहते हैं, भले ही पिछड़े हुए देशों के लोग सदा वनों में लकड़ी काटने वाले तथा खेती करने वाले ही बने रहें। अत यह आवश्यक हो जाता है कि घरेलू उद्योगों की रक्षा तब तक की जाय जब तक कि वे अपने उन्नत प्रतियोगियों से मोर्चा लेने की पर्याप्त शक्ति अर्जित न कर लें। ऐसा सरक्षण उन्हें टैरिफ और कोटा प्रणालियों से मिल सकता है।

टैरिफ के लाभ और हानियाँ—

टैरिफ' (Tariff) से आशय आन्तरिक वस्तुओं से प्रतियोगिता करने वाली विदेशी की वैसी ही वस्तुओं पर आयात कर लगाने का है। इसका भार Burden) या तो निर्यातकों पर अथवा आयातकों पर पड़ सकता है। वह वास्तव में किन पर पड़ेगा यह वस्तु की पूर्ति और इसके लिए माग की लोच पर निर्भर है। अन्य शब्दों में, यदि विदेशी व्यापारी बेचने के लिए बहुत उत्सुक है, तो टैरिफ का भार विदेशी विक्रेताओं पर पड़ेगा। इसका अर्थ है उनके लाभों में कमी आना तथा (इसलिए) देश की उनके निर्यातों में घटौती होना। इस प्रकार, टैरिफ के द्वारा अवाछनीय आयात को सहज ही रोका जा सकता है। अमेरिका और जापान ने अपने प्रारम्भिक विकास की अवस्था में जो नीति अपनाई थी वही भारत को भी युद्धोत्तर काल में अपनानी पड़ी है। यदि उसने टैरिफ सरक्षण न दिया होता तो उसके अनेक उद्योग आज जीवित दिखाई न देते। किन्तु टैरिफ के निम्नलिखित दोष भी विचारणीय हैं —

(१) **प्रतिकार का भय**—यदि एक यथोचित अवधि के बाद भी कोई देश भारी टैरिफ सरक्षण जारी रखे, तो उसके निर्यातों के विदेशी क्रेता भी उसकी वस्तुओं के विरुद्ध टैरिफ बढ़ाने के रूप में प्रतिकारात्मक उपाय (retaliatory means) अपना सकते हैं। हाँ, जिन वस्तुओं में उसका एकाधिकार है उनकी स्थिति कुछ भिन्न है। किन्तु शायद ही कभी कोई एकाधिकार बिल्कुल पूर्ण हो जिसमें प्रतिकार की कुछ न कुछ सभावना अवश्य ही विद्यमान रहती है। अत किसी भी देश को अपनी स्वार्थपूर्ण नीति इस सीमा तक नहीं अपनानी चाहिये कि स्वय उसके निर्यातों को भी हानि पहुँचे।

(२) **घरेलू उपभोक्ताओं का शोषण**—सरक्षण-कर उपभोक्ताओं को (सभवत) अच्छी किस्म की *आयातित वस्तुओं* के प्रयोग से वचित कर देते हैं। उन्हें स्वदेश की घटिया वस्तुयें ही खरीदनी पड़ती हैं तथा इनके लिये ऊँचे दाम देने पड़ते हैं। इस प्रकार, जबकि उपभोक्ताओं का शोषण होता है, तब स्वदेशी निर्माताओं को प्रशुल्कों की आड़ में भारी लाभ होते हैं। यदि अधिक समय तक सरक्षण चालू रहे, तो क्रेताओं को बहुत असुविधा उठानी पड़ सकती है। यह तो केवल तब ही है जबकि देश पूर्णत औद्योगिक हो जाय कि वे अपनी स्वदेश निर्मित वस्तुओं की घटी

हुई कीमतो का लाभ उठा सकते है। किन्तु स्पष्टत, उनके त्याग की कोई न कोई सीमा होना अवश्य है। यह सीमा इस बात पर निर्भर है कि देशी उत्पादक खुले बाजार म प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति कब और किस सीमा तक प्राप्त कर लेते है।

(३) सरक्षण के जारी रखने पर जोर देना—जब स्वदेशी उत्पादक पर्याप्त शक्ति प्राप्त कर लेते है तब भी वे एक न एक आधार पर सरक्षण के जारी रखने पर जोर देते रहते है। इस प्रकार तथा कथित 'शिशु' इस समय 'वयस्क' होने से इन्कार कर देता है कि कही उसे सरक्षण से वचित न कर दिया जाय। अर्थात्, वे उपभोक्ताओ पर एक स्थायी भार' बने रहते है।

(४) सुधार के लिए प्रेरणा का अभाव—"आपत्तियाँ हमारी सबसे बडी मित्र है।" जब किसी स्वदेशी निर्माता को प्रतियोगियो के इस चैलेन्ज का सामना करना पडता है कि वे बाजार को छीन लेंगे प्राय तब ही उनमे कुशलता बढाने के लिए प्रेरणा सक्रिय हो जाती है। किन्तु सरक्षण की दशा मे प्रतियोगिता का भय न होने से उनमे अकुशलता प्रोत्साहित होती है। अत यह आवश्यक है कि केवल एक अस्थाई अवधि के लिए ही, जिसमे कि स्थानीय निर्माताओ को पर्याप्त शक्ति सग्रह कर लेने का अवसर मिल सके सरक्षण दिया जाय।

आयात कोटे के गुण-दोष

आयात कोटे के लाभ—

आयात-कोटा किसी वस्तु की वह निर्धारित मात्रा है जिसे एक नियत अवधि मे आयात करने की अनुमति होती है। यह भी स्वदेश के उद्योगो को सरक्षण देने का एक उपाय है और सरक्षण-करो की तुलना मे इसके निम्नलिखित लाभ है —

(१) सरक्षित उद्योगो के लिए अधिक सुरक्षा—आयात-कर लगाने पर भी आयाता मे वृद्धि हो सकती है क्योंकि सम्भव है कि (i) विदेशी वस्तुओ की कीमतो म कमी हो जाय, (ii) स्वदेश की माग बढ जाय, (iii) विदेशी देश द्वारा राशिपतन किया जाय, और (iv) विदेशी सरकार अपने यहाँ के उद्योगो को आर्थिक सहायता दे, जिसम कि इनकी वस्तुये सस्ती हो सकती है। इस प्रकार, आयात कोटा प्रणाली उद्योग को आयात करो की अपेक्षा अधिक सुरक्षा प्रदान कर सकती है।

(२) ठोस नियोजन सम्भव होना—चूँकि आयात करो के अधीन स्वदेशी उत्पादकों को अधिक सुरक्षा प्राप्त होती है, इसलिए वे अपने उद्योग के भावी विकास के लिए ठोस योजनायें बना सकते है।

(३) युद्धकालीन नियन्त्रण सहनीय होना—शान्तिकाल मे विदेशी वस्तुओं की मात्रा पर, जोकि देश मे आयात की जा सकती है प्रतिबन्ध लगे होने से जनता को उनकी आदत पड जाती है जिससे कि वह इन्हे युद्धकाल म, जब कि ये कठोरता-पूर्वक लागू किये जायें सुगमतापूर्वक सहन कर लेती है। इस बात का एक सकट-कालीन परिस्थिति मे, जैसी कि इस समय भारत के सम्मुख चीन और पाकिस्तान

की नापाक साजिश और आक्रामक कार्यवाहियों के कारण उपस्थिति है, महत्व और भी अधिक हो जाता है।

(४) **पिछड़े हुए देशों के लिए उपयोगी**—आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश आर्थिक दृष्टि से प्रगतिशील देशों से, स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रणाली के अन्तर्गत, बराबरी के आधार पर प्रतियोगिता नहीं कर सकते है। किन्तु विभाजित कोटा-प्रणाली के अन्तर्गत पिछड़े हुए देशों के हित सुरक्षित रखते है क्योंकि आयात कोटे पिछड़े हुए देशों के पक्ष मे निर्धारित किये जा सकते है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोटा प्रणाली अपनाने की हानियां—

टैरिफ प्रणाली के समान ही कोटा प्रणाली की भी अपनी विशेष हानियाँ है। सबसे प्रमुख हानियाँ निम्नलिखित है —

(१) **एकाधिकारो का निर्माण**—आयात कोटे की आड मे सुरक्षित अनुभव करते हुए उद्योगपति एकाधिकारक कुचाले दिखाने मे तनिक भी भय अनुभव नही करते। उदाहरण के लिए वे उत्पादन की मात्रा मे कटौती कर देते है और इस प्रकार कीमतें जान-बूझकर बढा देते है। जिस सीमा तक कोटा प्रणाली के अन्तर्गत यह सम्भव होता है उस सीमा तक उपभोक्ताओ के हितो को असुरक्षित ही समझना चाहिए।

(२) **कृत्रिम ऊँची कीमत भिन्नतायें**—कोटे निर्धारित कर देने से आयातक और निर्यातक देशो के मध्य इनके कीमत स्तरो मे ड्यूटी और यातायात व्ययो की सीमा से भी अधिक कृत्रिम भिन्नता उत्पन्न हो जाती है।

(३) **अत्यधिक बेलोचता**—कोटा प्रणाली के अन्तर्गत न केवल अधिकतम मात्रा, वरन् न्यूनतम मात्रा भी कठोरतापूर्वक निश्चित कर दी जाती है। अतः आयात की मात्राओ को सम्बन्धित वस्तु के लिए माँग मे होने वाले परिवर्तनो के प्रत्युत्तर मे घटाना या बढाना सम्भव नही होता।

(४) **भ्रष्टाचार के लिए अवसर**—आयात-लाइसेन्सो के वितरण मे भ्रष्टाचार फैलने का भी बहुत कुयोग रहता है

(५) **प्रशासनिक कठिनाइयाँ**—कोटा प्रणाली के कार्यान्वयन मे कुछ प्रशासनिक कठिनाइयाँ भी उदय होती हैं। उदाहरणार्थ, स्वदेशी आयातको मे या विदेशी स्पलायरो मे कोटा विभाजित करने के आशय के लिए कौनसा आधार वर्ष चुना जाय इस सम्बन्ध मे बडी ही कठिनाई अनुभव होती है।

(६) **विदेशी व्यापार के सहज या स्वतन्त्र प्रवाह में बाधा**—कोटा प्रणाली उन शक्तियो के स्वतन्त्र कार्य सचालन मे अस्त-व्यस्तता उत्पन्न कर देती है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढाने वाली हैं। उदाहरणार्थ, यह विशिष्टीकरण के क्षेत्र को सकुचित कर देती है और सभाव्य प्रचुरता के मध्य वास्तविक निर्धनता के विरोधाभास को जन्म देती है।

(७) **अकुशलता को प्रोत्साहन**—आयात-व्यवसाय में कोटा प्रणाली के अन्तगत ऊँची कीमत भिन्नतायें विद्यमान होती है तथा इसे अधिक लाभ-प्रद बना देती है। असाधारण लाभ कमाने के प्रलोभन से अकुशल फर्में भी व्यापार में प्रविष्ट हो जाती है। इस प्रकार, आयात व्यापार बेईमान सटोरिया के हाथ की कठपुतली बन जाता है।

(८) **छुपा हुआ भेदात्मक व्यवहार**—निर्यातिक देशों के विरुद्ध कुछ भेद-भाव बरते बिना ही कोटा प्रणाली को लागू करना सम्भव नहीं है। निःसन्देह कठोर टैरिफ प्रणाली के अन्तगत भी निर्यातक देशा के विरुद्ध भेदभाव किया जाता है किन्तु वह सब पर प्रगट होता है, जबकि आयात-कोटे के अधीन गुप्त रहता है। अत, टैरिफ प्रणाली के समर्थक यह तर्क प्रस्तुत करते है कि फिर क्यों न केवल टैरिफ ही अपनाये जो एकाधिकारिक शोषण भी सम्भव नहीं बनाते।

(९) **भुगतान-सन्तुलन सम्बन्धी स्थिति मे समायोजन की कठिनाई**—एक देश कोटा प्रणाली के अन्तगत जो अधिकतम् मात्रा आयात कर सकता है, वह कठोरतापूर्वक निर्धारित होती है। यदि इस देश का भुगतान-सन्तुलन अनुकूल है और वह चाहता है कि ऋणी देश अपने बकाया ऋण चुका दे, तो उसे ऋणी देश से अधिक मात्रा मे वस्तुयें आयात करने को तैयार होना चाहिए। किन्तु कोटा प्रतिबन्धों के कारण वह अधिक माल नहीं मँगा सकता। फलत विदेशी ऋणों का पुन-र्भुगतान बहुत ही कठिन होता है।

(१०) **कोषों के अन्तरण में कठिनाई**—कोटा प्रणाली के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक यन्त्र की सहजता भी कम हो जाती है, और अन्तरण-क्रिया मे कठिनाई उत्पन्न होने लगती है। इस प्रकार, कोटा प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में टैरिफ की अपेक्षा कहीं अधिक रुकावटें डाल देती है।

बुनियादी दोष को कुछ सीमा तक दूर करना सम्भव है—

उपरोक्त विवेचन से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि कोटा प्रणाली के प्रयोग के पक्ष मे कोई सबल तर्क नहीं है। फिर भी कोटा-प्रणाली के बुनियादी दोषों को सरकार कुछ सामयिक कदम उठाकर दूर कर सकती है। ये उपाय निम्न-लिखित है —

(i) आयात व्यापार के ऊँचे लाभों के कुछ भाग को, आयात लाइसेन्सो पर करारोपण द्वारा, सरकारी खजाने मे लाया जा सकता है।

(ii) आयात लाइसेन्स सबसे ऊँची बोली लगाने वाले के पक्ष मे स्वीकार किया जाय। इससे भी सम्भावित लाभ का एक अच्छा खासा भाग सरकार को मिल सकता है। किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से आकर्षक होते हुए भी यह उपाय व्यावहारिक दृष्टि से ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी दशा में छोटी-छोटी फर्में लाइसेंस प्राप्त न कर सकेंगी तथा इनसे सटोरिये लाभ उठा जायेंगे।

(iii) अत एक अधिक श्रेष्ठ उपाय तो यह होगा कि सरकार स्वय ही विदेशी व्यापार करने लगे। चूँकि कोटा प्रणाली में भी एक तरह से व्यापार पर सरकार का ही एकाधिकार स्थापित हो जाता है इसलिए कहा जाता है कि सरकार व्यापार में प्रविष्ट करके सब लाभ स्वय ही क्यों न उठाये ?

(iv) एकाधिकारिक शोषण से बचने के लिए निम्न युक्तियाँ की जा सकती है —(अ) कोटा प्रणाली लचीली रखी जाय अर्थात् कोटे का आकार कीमतों के स्तर पर निर्भर बनाया जाय, जैसे—कीमतें ऊँची हो जायें तो कोटे म ढील दी जा सकती है, (ब) कोटा प्रणाली म सम्बन्धित वस्तुओं के सम्बन्ध मे मूल्य नियत्रण लागू किया जाय, (स) टैरिफ आयोग भी सरक्षित उद्योगों की वस्तुओं की किस्म तथा कीमतों पर निगरानी रखे, एव (द) देशी फर्मों के खाते नियमित रूप से जँचवाये जायें, जिससे वे यथोचित से अधिक लाभ न ले सकें।

टैरिफ और कोटा प्रणालियों की तुलना

कोटे और टैरिफ मे कई बातें एक दूसरे से बहुत भिन्न है। इन दोनों मे अन्तर की प्रमुख बातें निम्नलिखित है —

(i) कोटे की अपेक्षा टैरिफ कम उग्र और स्वभाव मे कम भेदात्मक (less-discriminatory) है।

(ii) कोटा प्रणाली के अन्तर्गत वस्तुओं की अधिकतम् मात्रा, जिसका देश मे आयात किया जा सकता है, कठोरतापूर्वक नियत होती है, किन्तु टैरिफ की दशा में सदा ऐसा नही है। यदि किसी कारणवश निर्यातक देश मे कीमतें घट जायें, तो उस सीमा तक व्यापार पर टैरिफ का प्रतिबन्धात्मक प्रभाव ढीला हो जायेगा।

(iii) कोटे देश मे एकाधिकारो के निर्माण को प्रोत्साहित करते है, किन्तु टैरिफ के अन्तर्गत यह बात सम्भव नही है।

(iv) कोटा प्रणाली के कारण भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी स्थिति मे समायोजन होने कठिन हैं किन्तु टैरिफ प्रणाली के अन्तर्गत भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी स्थिति इतनी कठोर नही बनती है।

(v) आयात सम्बन्धी कोटे आयातक और निर्यातक देश के मध्य कीमतों मे भारी अन्तर पैदा कर देते हैं; किन्तु टैरिफ के अन्तर्गत लागत-कीमत सरचनाओं (cost-price structures) के मध्य सम्पर्क कभी नहीं टूटता।

(vi) कोटा प्रणाली मे प्रशासनिक कठिनाइयाँ उदय होती हैं, जो टैरिफ-शासन मे पूर्णत अनुपस्थित है।

(vii) यह सम्भावना है कि कोटा प्रणाली के अधीन देशों के मध्य भेद-भाव रखा जायेगा, किन्तु टैरिफ प्रणाली के अन्तर्गत ऐसा भेद-भाव नहीं होता।

(viii) आयात कोटे के अन्तर्गत न्यूनतम् एवं अधिकतम् मात्रायें निर्धारित होती हैं जिससे आयातों की मात्रा में लोच का अभाव रहता है लेकिन ऐसी बेलोचता टैरिफ प्रणाली के अन्तर्गत नहीं है।

(ix) आयात कोटे के अन्तर्गत, ऊँचे लाभों का आकर्षण उत्पत्ति-साधनों को अन्य उद्योगों से आयात उद्योगों में स्थानान्तरित कराता है किन्तु यह अनार्थिक आचरण टैरिफ के अन्तर्गत नहीं होता।

(x) आयात कोटे के अधीन असाधारण लाभों की मात्रा बहुत ही ऊँची होती है किन्तु टैरिफ में ऐसा नहीं है, क्योंकि लाभों का एक भाग टैरिफ प्रणाली के द्वारा सरकारी खजाने में पहुँच जाता है।

(xi) उपभोक्ताओं को टैरिफ की अपेक्षा आयात कोटे के अन्तर्गत अधिक हानि सहनी पड़ती है।

इस प्रकार यह देखेंगे कि आयात कोटे और टैरिफ एक दूसरे से बहुत ही कम मिलते-जुलते हैं। दोनों में समानता केवल इतनी है कि उन दोनों का ही प्रभाव विश्व व्यापार के लिए प्रतिबन्धात्मक होता है। किन्तु दोनों 'असमान' अधिक हैं 'समान' कम।

व्यापार की शर्तों और आर्थिक कल्याण पर संरक्षण का प्रभाव

(Effect of Tariff upon a Country's Terms of Trade and Economic Welfare)

व्यापार की शर्तों पर प्रभाव—

आयात करों द्वारा व्यापार-शर्तों को कुछ परिस्थितियों में देश के अनुकूल बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि कोई देश किसी आयातित वस्तु का महत्वपूर्ण क्रेता है तो इसकी कीमत को टैरिफ लगा कर घटाया जा सकता है क्योंकि ऐसी दशा में टैरिफ का भुगतान विदेशी विक्रेता स्वयं अपनी जेब से करने के लिए विवश हो सकते हैं। इससे देश के लिए व्यापार शर्तों पर सुधार हो जायेगा। किन्तु यह लाभ सामान्यतः उचित या न्यायपूर्ण नहीं समझा जाता, क्योंकि इसकी प्राप्ति अन्य देश के नुकसान पर होती है। इसके अतिरिक्त, दूसरे देशों द्वारा प्रतिकारात्मक कार्यवाहियाँ किये जाने का भी डर है।

आर्थिक कल्याण पर प्रभाव—

संरक्षण-कर देश के आर्थिक कल्याण को एक से अधिक तरीकों से करते हैं —

(१) **टैरिफ कीमतों में वृद्धि कर सकते हैं**—जब आयात की जाने वाली वस्तुओं पर टैरिफ लगाया जाता है, तो साधारणत विदेशी वस्तुओं की कीमतें गृह-बाजार मे बढ जाती हैं। ऐसी परिस्थिति मे ऊँची लागत वाली स्वदेशी वस्तुयें भी, उद्योग को कुछ हानि पहुँचाये बिना ही ऊँची कीमतो पर बिकने लगती है। यह परिस्थिति उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने मे समर्थ बनाती हैं। साथ ही यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि उपभोक्ताओ को ऊँची कीमतो से हानि उठानी पडती है, क्योंकि उनकी वास्तविक आय मे कीमत वृद्धि की सीमा तक कमी हो जाती है।

(२) **कुशलता में सुधार के लिए प्रेरणा कम होना**—टैरिफ सरक्षण पाने वाला गृह उद्योग सरक्षण को छोडने के लिए कभी भी तत्पर नही होता और सरक्षण की आड म रहते हुए उसे अपनी कुशलता बढाने के लिए कोई आवश्यकता अनुभव नही होती है। परिणामत सामाजिक शुद्ध उत्पत्ति मे कमी आ सकती है तथा कीमतो का स्तर काफी लम्बे समय तक ऊँचा बना रह सकता है।

(३) **आर्थिक प्रसाधनो का अनार्थिक दिशाओ में मुडना**—जब कुछ वस्तुओं पर ऊँचे टैरिफ लगाये जाते हैं तब व देश मे इन वस्तुओं के उत्पादन को कृत्रिम प्रोत्साहन देते है। वास्तव म ये ही प्रसाधन अन्य उद्योगो मे अधिक उत्पादक (productive) हो सकते थे। इस प्रकार, उत्पादक साधन ऊँची कीमतो के कारण अपनी अत्यधिक लाभदायकता के फलस्वरूप, अनार्थिक प्रयोगो मे ही बने रहते है, जिससे राष्ट्रीय उत्पत्ति कम होती है।

(४) **टैरिफ हमारी राष्ट्रीय आय को अप्रत्यक्ष रूप से भी प्रभावित कर सकते हैं**—टैरिफ लगाने मे आयात कम हो जाते हैं। हमारे आयात अन्य देशो के निर्यात होते हैं। अत हमारे आयात घटने का अथ है उनके निर्यात घटना। चूँकि विदेशियो की निर्यात आय घट गई है, इसलिए स्वभावत वस्तुयें खरीदने की उनकी क्षमता भी, गुणक (multiplier) की कार्यशीलता के फलस्वरूप अनुपात से कहीं अधिक, कम हो जाती है। फलत वे हमारे देश की वस्तुयें कम मात्रा मे खरीदते है। इस प्रकार, हमारे निर्यात हमारे आयात घटाने की प्रारम्भिक कार्यवाही के फलस्वरूप, कम हो जाते हैं। चूँकि एक ओर स्वदेश निर्मित वस्तुओ का उपभोग विदेशी वस्तुओ की कम खरीद के कारण बढता है, और, दूसरी ओर, हमारे आयातो म कमी के फलस्वरूप निर्यात आय मे घटौती के कारण आय घट जाती है, इसलिए हमारी राष्ट्रीय आय पर टैरिफ का प्रभाव (effect) इन विपरीत प्रभावो के शुद्ध परिणाम (net result) पर निर्भर करेगा।

यदि हम अपने निर्यातो मे हुई कमी की अपेक्षा आयातो मे अधिक घटौती करने मे समर्थ हो जायें, तो नि सन्देह हमारी राष्ट्रीय आय बढ़ेगी। किन्तु हमारी राष्ट्रीय आय मे यह वृद्धि एक विदेशी देश की हानि पर प्राप्त होती है, जहाँ कि

निर्यातों में आयातों की अपेक्षा अधिक कमी के फलस्वरूप आय कम हो जाती है। अत विदेशी देश इसके बदले के लिए अपने यहां टैरिफ बढ़ा सकता है। यदि उसने ऐसा किया तो हमारे लाभ केवल अस्थाई प्रमाणित होंगे। इस प्रकार अन्तिम विश्लेषण में, टैरिफ विश्व-आय म वृद्धि नहीं कर सकते, किन्तु उसी आय में एक देश विशेष के हिस्से को वह भी केवल अस्थाई रूप से, बढ़ा देते है और यह भी किसी अन्य देश की हानि पर ही सम्भव होता है।

(५) **टैरिफ देश मे रोजगार पर प्रभाव डालते हैं**—एक देश अन्य देश के हित का बलिदान करते हुए टैरिफ बढ़ाकर अपनी आय बढ़ाने मे सफल हो सकता है। इसी प्रकार, एक देश में रोजगार भी, दूसरे देश की हानि पर, बढ़ाया जा सकता है। यह बात पिछड़े हुए देशो के बारे में विशेष सही है, क्योंकि वहां एक ओर विशाल मात्रा में प्रसाधन निष्क्रिय या अर्द्ध शोषित पड़े होते है जबकि दूसरी ओर स्थायी बेकारी फैली होती है।

(६) **टैरिफ मजदूरियो को प्रभावित कर सकते हैं**—यदि टैरिफ के परिणामस्वरूप, एक देश के आयात उसके निर्यातो की अपेक्षा अधिक घट जायें, तो श्रम के लिए मांग बढ़ जायगी। यदि यह वृद्धि एक ऐसे समय पर होती है जबकि देश मे श्रम का पहले से ही पूर्ण नियोजन (fully employed) है, तो मजदूरियाँ बढ़ सकती हैं। मजदूरियो मे तब भी वृद्धि हो सकती है जबकि देश में यद्यपि पूर्ण रोजगार तो नही है तथापि विकासोन्मुख उद्योगो मे जिस तरह का श्रम नियोजित है उस प्रकार के श्रम के लिए ही मांग बढ़ जाय। किन्तु श्रम के लिए मांग मे वृद्धि अस्थाई होती है। यह तब लुप्त हो जाती है जबकि अन्य देश प्रतिकारात्मक टैरिफ लगा देते हैं और इसके साथ ही साथ मजदूरियो मे प्रारम्भ म हुई वृद्धि भी लुप्त हो जाती है। इस प्रकार मजदूरियो मे हुई वृद्धि, जो कि उत्पादकता मे वृद्धि पर आधारित नही है, जीवनयापन की लागत मे अनिवार्य रूप से वृद्धि कर देती है।

(७) **टैरिफ सदा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे बाधा डालते हैं**—चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा कम हो जाती है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ भी घट जाता है।

(८) **लाभ जो टैरिफ-सरक्षण से कभी-कभी प्राप्त होते हैं**—आजकल विकासोन्मुख देशों द्वारा सरक्षण अधिकाधिक अपनाया जाने लगा है। कारण वे अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रो मे एक पूर्व निर्धारित प्राथमिकता क्रम के अनुसार उन्नति करने के लिए उत्सुक होते है। नये-नये हुए आर्थिक विकास को यदि विदेशो से कटु प्रतियोगिता के दबाव मे आ जाने दिया तो वह कायम नही रह सकता है। 'शिशु का पोषण करो, बालक की रक्षा करो तथा वयस्क को स्वतन्त्र छोड़ दो' (Nurse the baby, protect the child and free the adult) एक ऐसा उपदेश है जो उनके लिए वांछनीय है। जब तक नये उद्योगो को सरक्षण न दिया जायेगा तब तक विनियोक्ता उनमे विनियोग करने और जोखिम उठाने के लिए आगे

न बढ़ेंगे। परिणामस्वरूप, विकास योजनायें सफल नही हो सकेंगी। हाँ, यदि संरक्षण दिया जाय, तो नये उद्योग स्थापित हो सकेंगे, उत्पादन, रोजगार और आय में वृद्धि हो सकेगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी बढ़ जायेगा। किन्तु उचित समय पर संरक्षण हटा लेने का ध्यान रखना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न :

१ टैरिफ और कोटे के प्रभावों की तुलना कीजिये। इनमे से कौन व्यापार का नियमन करने की दृष्टि से बेहतर है ?

[Compare the effects of tariffs and quotas Which one of them is better as a means of controlling trade ?]

(विक्रम एवं गोरखपुर, एम० ए०, १९६६)

२ किस सीमा तक कोई देश टैरिफ के द्वारा बेकारी को घटा सकता है ?

[To what extent can a country diminish unemployment by means of tariffs ?] (आगरा, एम० ए०, १९६६)

३ एक उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के साधन के रूप में, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणों से, टैरिफ और कोटे के तुलनात्मक गुणों की समीक्षा कीजिए।

[Examine the comparative merits from national and international point of veiw of tariffs and quotas as means of affording protection to an industry]

(इलाह०, एम० कॉम०, १९६७)

४ इस दृष्टिकोण की विवेचना करिये कि अपने संरक्षात्मक और पुर्नवितरणात्मक प्रभावों में कोटे बहुत सीमा तक टैरिफ के समान हैं।

[Consider the view that quotas are much like tariffs in their protective and redistributive effects.] (आगरा, एम० ए०, १९६७)

५ "शिशु के जन्म को शिशु-संरक्षण पर प्राथमिकता देनी चाहिये।" आलोचना करिये।

["Infant creation' should be given precedence over infant protection " Comment.] (इलाहबाद, एम० ए० १९६६)

६. संरक्षणात्मक आयातकरों के 'पूँजी की सीमान्त कुशलता" और "राष्ट्रीय आय के वितरण" पर प्रभावों का विश्लेषण कीजिये।

[Analyse the effects of protective import duties on (a) marginal efficiency of capital and (b) distribution of national income] (इलाहाबाद, एम० कॉम, १९६६)

७ यदि स्वतन्त्र व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ को अधिकतम करता है, तो फिर आप किन आधारों पर सरक्षण का समर्थन करते हैं ?

[If free trade leads to maximisation of gain from international trade, on what grounds would you justify protection ?] (इलाहाबाद, एम० कॉम, १९६६)

८ स्वतन्त्र व्यापार और सरक्षण के बीच जो विवाद है उसकी मुख्य बातों पर प्रकाश डालिये ? दोनों में से किसे आप भारत के लिये पसन्द करेंगे ?

[Explain clearly the salient features of the controversy between Free Trade and protection Which of the two would you recommend for India ?] (आगरा, एम० ए०, १९६८)

९ (अ) "स्वतन्त्र व्यापार सारे विश्व के लिये लाभदायक है ऐसा दिखाया जा सकता है किन्तु एक अकेले देश के लिये वह कभी सर्वोत्तम नीति प्रमाणित नहीं हुआ है।"

(ब) "टैरिफ करो के द्वारा सरक्षण घरेलू उद्योगो को प्रोत्साहित करने का एक समयातीत ढग है।" उपरोक्त दोनो कथनो पर अपने विचार उदाहरण सहित दीजिये।

[(a) "Free trade can be shown to be beneficial to the universe as a whole, but has never been proved to be the best policy also for a single country" (b) "Protection by tariff duties is an outmoded form of encouraging domestic-industries" Give your views with examples on the above two statements] (आगरा, एम० ए०, १९६८)

१०. किन परिस्थितियों मे एक विकसित देश के लिये टैरिफ सरक्षण उचित होगा ?

[Under what conditions is tariff protection justified in the case of an economically developed country ?]

(आगरा, एम० ए०, १९६६)

११ विवेचन कीजिए कि टैरिफ किस सीमा तक (अ) सरक्षित देश मे अधिक स्थायित्व ला सकता है, (ब) अन्य देशो मे टैरिफ के प्रभाव को निष्प्रभावित कर सकता है, तथा (स) पूर्ण रोजगार उत्पन्न कर सकता है।

[Discuss how far tariffs can (a) ensure greater stability within a protected country, (b) neutralise the effect of tariffs in other countries, and (c) create full employment.]

२८

द्विपक्षी एवं बहुपक्षी व्यापार प्रणालियाँ

(Bilateral and Multilateral Trading Systems)

परिचय—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने जिस मार्ग को व्यक्तिगत उत्पादकों और उपभोक्ताओं की स्वतन्त्र इच्छा के अन्तर्गत चुना होता उसमें सरकार अनेक तरीकों से बाधा डाल सकती है। इन तरीकों में पुराने संरक्षण प्रशुल्क के तरीके से लेकर नये और दक्ष तरीके जैसे अवमूल्यन और अधिमूल्यन, बहु विनिमय दर, प्रत्यक्ष परिमाणात्मक प्रतिबन्ध, विनिमय नियन्त्रण, कोटा निर्धारण निष्क्रासी और क्षतिपूर्ति ठहराव, कार्टेल्स और अन्त में राजकीय व्यापार तक सम्मिलित है। इनमें से प्रत्येक तरीके की परीक्षा करने से यह पता चलेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के परिमाण (volume) पर सबसे अधिक प्रतिबन्धात्मक प्रभाव डालने वाला तरीका द्विपक्षवाद (Bilateralism) है। हावर्ड एस० एलिस (Howard S. Ellis) के शब्दों में—"युद्धोत्तरकाल में स्वतन्त्र बहुपक्षी व्यापार को सबसे बड़ा खतरा द्विपक्षवाद से है तथा इस प्रवृत्ति पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखना ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक और आर्थिक सौजन्य की प्रमुख समस्या है।"[1]

द्विपक्षवाद
(Bilateralism)

द्विपक्षवाद से आशय—

एलिस ने द्विपक्षी ठहराव की परिभाषा निम्न शब्दों में की है —'एक व्यापारिक व्यवस्था उस समय द्विपक्षी' कही जाती है जबकि इसमें इस बात का प्रयत्न किया जाय कि 'B देश की A देश के निर्यातों' का 'A देश को B देश के

---

[1] 'The chief peril to a large volume of free multilateral trade in the postwar world may be bilateralism and the chief problem of international commercial and economic comity may be the effective curbing of this tendency"—**Howard S Ellis** : *Essays In International Finance*, No 5, Summer 1955

निर्यातों' से एक पूर्व निर्धारित परिमाणात्मक अनुपात बना रहे। "[1] अनेक व्यवस्थाओं में सामान्यतः १:१ का अनुपात ही प्रचलित है, किन्तु जब ब्याज सम्बन्धी भुगतान, बकाया दायित्वों के भुगतान या नये ऋणों की स्वीकृतियाँ भी ठहराव में सम्मिलित हों, तब इस समानुपात से भिन्न कोई भी अनुपात भी निश्चित किया जा सकता है। व्यापार में द्विपक्षी सतुलन (Bilateral Balance) की प्राप्ति के लिये अपनाई गई सबसे प्रचलित विधियाँ क्षतिपूर्ति एवं निकासियाँ है। इन विधियों को सक्षेप में नीचे समझाया गया है।

(१) **क्षतिपूर्ति-ठहराव** (Compensation Agreements)—इस विधि के अन्तर्गत A से B को भेजे गये प्रत्येक निर्यात पार्सल के बदले में B से A को उतने ही मूल्य का निर्यात पार्सल जाना आवश्यक है। इस प्रकार की समानता 'कुल व्यवहारों पर' नहीं वरन् प्रत्येक सौदे के सम्बन्ध में पृथक-पृथक रूप से बनाये रखने का यत्न किया जाता है, जिससे कि एकपक्षी शेष कभी एकत्र (accumulate) न हो सके और न पूँजी को ऋण या विद्यमान दावों के भुगतान के रूप में भेजना पड़े।

(२) **निकासी-ठहराव** (Clearing Agreements)—जब लेन-देनों की 'समानता' (equality) पर इतना अधिक बल दिया जाता है, तो यह स्वाभाविक है कि निर्यातकर्त्ताओं को आनुपातिक आयात अथवा आयात-कर्त्ताओं को आनुपातिक निर्यात उपलब्ध न होने से कठिनाइयाँ अनुभव हों। ऐसी कठिनाइयों का व्यापार पर बहुत ही प्रतिबन्धात्मक प्रभाव पड़ता है। अतः इनके निवारण के लिए प्रायः निकासी ठहराव किये जाते हैं। ऐसे ठहरावों की कार्य विधि कुछ इस प्रकार है— A से आयात करने वाले B देश के आयातक अपना भुगतान स्थानीय करेन्सी में एक सम्मिलित खाते में जमा करा देते हैं। इस खाते का सचालन एक सरकारी संस्था (जैसे कि केन्द्रीय बैंक) द्वारा किया जाता है। A को निर्यात करने वाले B देश के निर्यातकर्त्ता उक्त खाते में ही, जैसे ही आयातों के द्वारा यथेष्ठ कोष उपलब्ध हो सकें, भुगतान प्राप्त कर लेते है। यदि B को A के निर्यात A को B के निर्यातों से अधिक हों, तो A देश के निर्यातकर्त्ताओं को अपना भुगतान पाने के लिए उस समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जब तक कि B से पिछड़ते हुए आयातों से पर्याप्त धन एकत्र न हो जाय। यदि वे प्रतीक्षा न कर सकें, तो फिर उन्हें अपने माल के लिये कोई दूसरा बाजार खोजना पड़ेगा। निकासी-ठहराव से सम्बद्ध देशों के मध्य साम्य की प्राप्ति निम्नलिखित उपायों द्वारा हो सकती है —

---

1 "A trading arrangement is bilateral when it involves an effort to achieve a predetermined quantitative ratio of the exports of country A to country B to the exports of country B to country A"- Howard S Ellis : *International Finance Section Princeton University*

(१) इकट्ठे हुए क्रेडिट बैलेन्स के सम्बन्ध में इस आशय का कोई समझौता सरकारी स्तर पर हो जाय कि इसे बकाया चले आ रहे दायित्वों के भुगतान में प्रयोग किया जायेगा।

(२) A से B को अधिक होने वाले निर्यात में सरकारी स्तर पर प्रत्यक्ष हस्तक्षेप द्वारा कमी कराई जाये या B से A को निर्यात बढ़ाये जायें।

(३) A से निर्यातों को तब तक के लिये बन्द कर दिया जाय जब तक कि B का बैलेन्स चुकता न हो जाय।

(४) B की करेन्सी में A की करेन्सी का मूल्य अधोमुखी (bownwards) समायोजित किया जाय।

इन उपायों के द्वारा १ १ का सरल अनुपात अथवा कोई भी ऐसा अनुपात कायम हो जायेगा, जो कि B को A से पूँजी का, सरकारों के मध्य ठहरी हुई दर में, ट्रान्सफर करादे। एक क्षतिपूर्ति ठहराव और एक निकासी ठहराव का भेद पूँजी के ट्रान्सफरों को बन्द करने में निहित है, अधिक वस्तुओं के बारे में प्रतिबन्ध लगाने में नहीं।

द्विपक्षवाद का विचित्र प्रतिबन्धात्मक स्वभाव—

चाहे कोई भी अनुपात निर्धारित किया जाय और इसे प्राप्त करने का ढंग कुछ भी हो, निकासी ठहराव (जहाँ तक व्यक्तिगत व्यापारी सम्बन्धित हैं) विदेशी व्यापार की मात्रा और लाभदायकता को उस मात्रा और लाभ की अपेक्षा जो कि उन्हें स्वतन्त्र बहुपक्षी व्यापार के अन्तर्गत सामूहिक रूप से होता था, कम कर देते हैं। देश के निर्यातकर्त्ता सर्वोत्तम बाजार में विक्रय करने के लिये स्वतन्त्र नहीं होते, वरन् उन्हें उन देशों में बेचना पड़ता है जो कि स्वदेश से इतना खरीदें कि वहाँ के निर्यातकर्त्ताओं को भुगतान प्राप्त करने का अवसर मिल जाय। इसी प्रकार आयात भी अब सबसे सस्ते बाजार से नहीं किये जाते, वरन् उस देश से किये जाते हैं जिसके लिये आयातक देश को एक निकासी शेष (clearing balance) उपलब्ध है। किन्तु यदि निकासी ठहराव के साथ भेदात्मक विनिमय दरें भी प्रचलित हैं, तो एक भेद बरतने वाला देश अन्य देशों के नुकसान पर अपने विदेशी व्यापार की लाभदायकता को बढ़ा सकता है, जिससे कुल में विश्व व्यापार पर बुरा प्रभाव ही पड़ता है। अब प्रश्न यह है कि विदेशी व्यापार में अन्य हस्तक्षेपों की अपेक्षा द्विपक्षवाद इतना प्रतिबन्धात्मक क्यों है। इसका उत्तर इसकी कुछ विशेषताओं में निहित है, जो कि निम्नलिखित हैं —

(१) निकासी ठहराव न्यूनाधिक रूप से संकुचनशील (contractive) होते हैं, क्योंकि व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से कुछ वस्तुयें तो निकासी ठहराव से पूर्णत अलग कर दी जाती हैं। जब एक बार ऐसा हो जाय, तो फिर निकासियाँ (clearing) ही व्यापार सचालन का एक मात्र कानून सम्मत ढंग होती है।

(२) द्विपक्षवाद शनै शनै बढ़ता ही चला जाता है। जब कोई देश विशेष

यह देखे कि उसके व्यापारिक साथी देशो ने निकासी व्यवस्था कायम करली है, जिसमे वह अपने लिये आवश्यक कच्चा माल प्राप्त करने हेतु यथेष्ठ स्वतन्त्र विदेशी मुद्रा अर्जित नही कर सकता, तो वह स्वयं भी कच्चे माल के विक्रेता देशों पर निकासी व्यवस्थायें लागू करने के हेतु विवश हो सकता है। इस प्रकार, निकासी प्रक्रिया एक 'कुचक्र' (vicious circle) मे परिणित हो जाती है।

(३) निकासी' के फलस्वरूप प्राप्त द्विपक्षी शेष तथा विशिष्ट विनिमय दरो (प्रत्येक साझेदार देश के सम्बन्ध मे) परस्पर कोई सगति (consistency) नही है। उदाहरणार्थ निकासी वाले देश की विनिमय दरें आवश्यक रूप से अधिमूल्यित या अवमूल्यित होती है और विभिन्न व्यापारिक साझेदारों मे भेद-भाव भी बरती है।

(४) निकासी या भुगतान समझौते के अन्तर्गत अपनाया जाने वाला पारस्परिक निर्यातो का अनुपात न्यूनाधिक मनमौजी (arbitrary) होता है, जिसके परिणामस्वरूप न केवल चालू व्यापार वरन् पूंजीगत व्यवहारों की मात्रा और दिशा भी 'आर्थिक अधिकतम्' के साधारण मार्ग' से भिन्न हो जाती है। प्रारम्भ मे तो *आयात-निर्यात सम्बन्धी अनुपात व्यापार को अस्त-व्यस्त नही करते*, लेकिन कुछ समय बीतने के बाद (यदि इन अनुपातों को सशोधित न किया जाय तो) द्विपक्षी-व्यवस्था का प्रत्येक साझेदार देश मे वहा की सापेक्षिक लागत-कीमत सरचना मे सम्बन्ध टूट जाता है। यहॉं तक कि निकासी वाली विनिमय दर से भी उसका सम्बन्ध नही रहता।

द्विपक्षवाद के उद्देश्य—

अब हम उन उद्देश्यो की चर्चा करेंगे जिनके कारण देश निकासी ठहरावो में प्रविष्ट होते है। ये उद्देश्य निम्नलिखित हैं —

(१) **विनिमय दरो का स्थायीकरण**—कहा जाता है कि एक देश अपनी विनिमय दर को स्थायित्व प्रदान करने तथा भुगतान सन्तुलन की गम्भीर असाम्यता का निवारण करने के उद्देश्य से द्विपक्षवाद का आश्रय लेता है। [किन्तु हमारी सम्मति मे यह द्विपक्षी व्यापार समझौते के लिये एक सही और पर्याप्त बचाव (defence) नहीं है। यदि एक देश अपने भुगतान सन्तुलन मे गम्भीर असाम्यता का सामना कर रहा है, तो इसे विनिमय नियन्त्रणों के द्वारा, जो कि द्विपक्षवाद की अपेक्षा कही हल्के हथियार है, सुधारा जा सकता है।]

(२) **अवांछनीय पूंजी-आवागमनो को रोकना**—कभी कभी कहा जाता है कि द्विपक्षी व्यापार समझौते किसी देश द्वारा इसलिए किए जाते है कि वह पूंजी के अचानक और अवांछनीय आवागमनों का, जोकि देश के भुगतान सन्तुलन पर भारी बोझ डाल देते है, रोक सकें। [यह तर्क भी व्यर्थ है, क्योंकि इस उद्देश्य का भी कुछ कम हल्के उपायो (जैसे—आयात कोटे और विनिमय नियन्त्रण) द्वारा पूरा किया जा सकता है।]

(३) राष्ट्रीय सुरक्षा और उपभोक्ता कल्याण—कहा जाता है कि द्विपक्षवाद का उद्देश्य राष्ट्रीय सुरक्षा को दृढ बनाना अथवा उपभोक्ताओं के कल्याण में वृद्धि करना है। [किन्तु द्विपक्षवाद का यह आयात चयन उद्देश्य भी, एक दूसरे के साथ द्विपक्षी सन्तुलन के बिना ही, आयात नियन्त्रण के द्वारा, पूरा किया जा सकता है।]

(४) एकाधिकारिक शक्ति—द्विपक्षवाद का वास्तविक उद्देश्य यह है कि देश इसकी सहायता से अपनी एकाधिकारिक शक्ति का अपने लिये लाभप्रद ढङ्ग से प्रयोग करना चाहता है। बात यह है कि द्विपक्षी व्यापार समझौते देश के बाह्य बाजार (external market) को पृथक पृथक टुकड़ों मे बाँट देते है। कोई देश अपने बाजार को इस प्रकार क्यो विभाजित करना चाहता है ? इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है। जब कोई देश अपने बाह्य बाजार का टुकडो मे बाटने मे सफल हो जाता है तो वह वहा निर्मित वस्तुये बेचने तथा कच्चे माल खरीदने मे अपनी एकाधिकारिक शक्ति दुर्बल देशो के विरुद्ध लाभदायकता के साथ प्रयोग करने मे समर्थ हो जाता है। उदाहरणार्थ जर्मनी ने जो कि द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ही यूरोप की औद्योगिक वर्कशाप बना हुआ था, अपनी क्रयाधिकार एवं विक्रयाधिकार शक्तियो का प्रयोग १९३०-३८ की मध्यावधि मे मध्य यूरोपीय राज्यो और लेटिन अमेरिकी देशो के विरुद्ध केवल अपने लाभार्थ किया था।

एकाधिकार (एव क्रय-एकाधिकार) व्यापार मे होने वाले लाभो मे अनिवार्य रूप से कमी ला देता है। विशेषत जो देश इन शक्तियो के दबाव मे होते है उनका बहुत शोषण होता है। अत हम यह कह सकते है कि द्विपक्षवाद एक देश द्वारा दूसरे देश पर 'थोपा' जाता है। अन्य देशो पर उनकी इच्छा या हित के विरुद्ध द्विपक्षवाद को थोपने की शक्ति कई स्रोतो से उदय होती है जो कि निम्न है —(i) देशो की चालू खाता सम्बन्धी ऋण ग्रस्तता, (ii) नये ऋणो के लिए एक देश की दूसरे देश पर निर्भरता, (iii) एक देश को कुछ वस्तुओं के उत्पादन मे, जोकि पड़ोसी देशो के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है, तुलनात्मक लाभ होना, (iv) एक देश का दूसरे देश के निर्यातों मे भारी हिस्सा होना, एव (v) अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-राजनीति (power-politics) का सीधा प्रयाग।

द्विपक्षवाद को रोकने के उपाय—

चूँकि द्विपक्षवाद विदेशी व्यापार मे ऐसे हस्तक्षेप करता है जो न केवल विशिष्ट रूप से प्रतिबन्धात्मक (particularly restrictive) है वरन् जहाँ तक सरकारी नियमन के वैध लक्ष्या का प्रश्न है, विशुद्धत अहेतुक (gratuitous) भी होते हैं इसलिए व्यापार को द्विपक्षी-प्रवाह मे बहने से रोकने के उपायो पर विचार करना जरूरी हो जाता है। ये उपाय निम्नलिखित हैं —

(१) द्विपक्षी व्यापार समझौतो का बहिष्कार—सैनिक गुटबन्दियों की ही

भाँति द्विपक्षी समझौते भी कुछ ऐसी चीज हैं जिन्हें राष्ट्र एक के बाद एक नहीं छोड सकते वरन् सब सामूहिक रूप से तथा एक ही साथ छोड सकते हैं। अत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपने अनिवार्य नियमों में यह ठीक ही प्रावधान (provision) किया है कि समस्त निकासी समझौते एक निर्धारित तिथि तक खत्म कर देने चाहिये। किन्तु कोष ने सदस्य देशों पर चालू अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों के सम्बन्ध में भुगतान एवं अन्तरण करने पर प्रतिबन्ध न लगाने अथवा भेदपूर्ण करेन्सी-व्यवस्थाओं (जिनमें द्विपक्षी निकासियाँ भी सम्मिलित हैं) में सलग्न न होने की शर्त नहीं लगाई है और इन प्रथाओं को एक अन्तरिम अवधि के लिये जिसकी लम्बाई अभी अनिश्चित ही रखी गई है जारी रखने की छूट दी है।

(२) **दुर्बल भुगतान-सतुलन वाले देशों को सुदृढ बनाना**—केवल एक ऋणात्मक कार्यवाही (negative action) करके ही शान्त बैठना पर्याप्त न होगा, क्योंकि निकासियाँ किसी राष्ट्र की एकाधिकार से अवांछनीय लाभ प्राप्त करने की भावना से ही नहीं, वरन् गहरी जडा वाली आर्थिक कठिनाइयों पर आधारित निराशा-भावना से भी उत्पन्न होती और बनी रहती हैं। एक अनुपयुक्त विनिमय दर, जो कि भुगतान सतुलन में साम्यता की दृष्टि से कहीं अधिक ऊँची है, ऐसी ही कठिनाइयों में से एक है। कम से कम तीन परिस्थितियाँ ऐसी हैं जिनके कारण अनुपयुक्त दरों के सुधार के लिए देश के व्यक्तिगत प्रयत्नों पर निर्भर रहना असम्भव है यथा—(i) देश को यह प्रलोभन रहता है कि वे अपनी करेन्सी के वाह्य मूल्य को इसके वास्तविक या साम्य स्तर की अपेक्षा घटाकर 'बेकारी का निर्यात' कर दें, (ii) विनिमय दर की कटौती से हानि उठाने वाले अन्य देशों को भी वैसा ही करने का प्रलोभन होना है, एवं (iii) जहाँ आयात और निर्यात सम्बन्धी माँग लोच (elasticities) से यह प्रकट हो कि विनिमय दर में छोटे मोटे परिवर्तन करने से भुगतान सन्तुलन में कोई सुधार नहीं हो सकता है, वहाँ भारी अवमूल्यन (drastic devaluation) ही एक मात्र उपाय है।

उक्त तीनों दशाओं में एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्था द्वारा ही, जिसे कि अनुपयुक्त अवमूल्यन के विरुद्ध वीटो के प्रयोग का अधिकार हो, उद्देश्य-रहित अवमूल्यन-कुचक्र के विरुद्ध वास्तविक गारन्टी दी जा सकती है। उक्त संस्था देशों पर यह दबाव डालने में भी समर्थ होनी चाहिये कि वे अपने यहाँ आवश्यक आन्तरिक समायोजन (adjustments) कर लें अर्थात् दुर्बल करेन्सी वाले देश अपने यहाँ मुद्रा प्रसारिक प्रवृत्तियों को दबायें और दृढ करेंसी वाले देश अपने यहाँ मुद्रा विस्फीतिक प्रवृत्तियों को रोकें। कारण, जब ऐसे समायोजन कर लिए जायेंगे, तब ही भुगतान में सुधार सम्भव हो सकेगा। जैसा कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विधान में भी कहा गया है, दोषी देशों पर दबाव डालने के लिए यह पाबन्दी लगाई जा सकती है कि वे संस्था के प्रसाधनों का प्रयोग करने से वंचित कर दिये जायेंगे, अथवा, उन्हें बहुमुखी मौद्रिक सङ्गठन से निष्कासित कर दिया जायेगा। इसके साथ ही साथ उसे चाहिए

कि भुगतान सतुलन सम्बन्धी अस्थाई अथवा मौसमी कठिनाइयों पर एव सुरक्षित विदेशी विनिमय कोषो मे कमी आने पर, जितने समय मे सुधारात्मक कार्यवाही की जाये उतने समय तक के लिये, देशो को अल्पकालीन ऋण भी दे।

किन्तु, राष्ट्र की अर्थव्यवस्था मे मौलिक दोष जब तक विद्यमान रहेगे, ऐसी सम्बन्धी कठिनाइयों को बुनियादी रूप से ठीक नही किया जा सकेगा। अत यदि भविष्य मे द्विपक्षवाद से बचना है, तो देश की अर्थव्यवस्था को जो कि अभी तक एक या दो निर्यात वस्तुओ पर ही मुख्यत आधारित रही है, विविधीकृत (diversified) बनाना होगा। विश्व के धनिक एव उन्नत देशो को भी चाहिए कि वे पिछड़े हुए देशों के औद्योगीकरण मे पर्याप्त धन आदि से सहायता करें।

(३) **एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सस्था की स्थापना**—एक अन्य महत्वपूर्ण उपाय यह है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सङ्गठन की स्थापना की जाय, कारण एक शक्तिशाली सङ्गठन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप के घनिष्ठ सहयोग से, भेद रहित बहुमुखी व्यापार प्रणाली के स्वस्थ विकास मे, योग दे सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे से द्विपक्षवाद को समाप्त करने की दिशा मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप ने बहुत कार्य किया है, जैसे—द्विपक्षवाद का अन्तिमत बहिष्कार कराना, अनुपयुक्त अवमूल्यन के विरुद्ध दबाव डालना, भुगतान सतुलन सम्बन्धी अस्थाई कठिनाई को दूर करने के लिए अल्पकालीन ऋण देना, उन्नत देशों को पिछडे हुये देशो मे विनियोग करने की प्रेरणा देना। ये सब प्रवृतियाँ इस विश्वव्यापी भावना का प्रतीक है कि द्विपक्षवाद को जल्द से जल्द समाप्त कर देना चाहिए। इतने पर भी—"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे द्विपक्षवाद के विरुद्ध सघर्ष तब ही सफल हो सकता है जबकि इसका सचालन प्रतिबन्ध एव भेद-भाव के विरुद्ध सामान्य आक्रमण के एक अङ्ग के रूप मे किया जाय। एक ऐसे विश्व मे, जहां अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ऊँचे टैरिफ की जजीरो मे जकड़ा रहता है, कोटे नीच निर्धारित किये जाते हैं, विदेशी विनिमय का मनमाने ढङ्ग से वितरण किया जा सकता है और अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स एकाधिकारिक शोषण कर रहे है, द्विपक्षवाद के विरुद्ध सफलता के आसार कम ही होगे।"[1]

---

[1] 'The struggle against bilateralism in international trade will only be successful if it is conducted as a part of a general attack upon restriction and discrimination In a world where international trade remains in the fetters of high tariffs low quotas, arbitrary exchange allocations and monopolistic exploitation by international cartels, the eventual success of the struggle against bilateralism would be unlikely "—Howard S.Ellis *Bilateralism and The Future of International Trade.*

बहुपक्षवाद
(Multilateralism)

बहुपक्षी व्यापार प्रणाली से आशय उन व्यापारिक सन्धियों का है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के फलस्वरूप एक ही साथ दो से अधिक देशों के मध्य सम्पन्न होती हैं। द्विपक्षी व्यापार समझौतों की प्रणाली बहुपक्षी व्यापार प्रणालियों की तुलना में नई है, किन्तु दो महायुद्धों की मध्यावधि में तथा वर्तमान युद्धोत्तर काल में विश्व के देशों द्वारा ऐसे समझौते इतनी अधिक संख्या में किये गये कि इन्होंने पुरानी बहुमुखी व्यापार प्रणाली को दृष्टि-ओझल कर दिया है।

द्विपक्षी व्यापार प्रणाली पर बहुमुखी व्यापार प्रणाली की श्रेष्ठता—

द्विपक्षी व्यापार समझौतों का स्वभाव विश्व व्यापार के लिये प्रतिबन्धात्मक होने के साथ ही साथ इनकी निम्नलिखित हानियां भी हैं —

(१) **आर्थिक एवं वित्तीय व्यवहारों का विस्थापन**—जबकि बहुपक्षी व्यापार एक ऐसी विश्व-बाजार-व्यवस्था को जन्म देता है जिसमें विभिन्न राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्थायें एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आती हैं, तब द्विपक्षवाद के अन्तर्गत कोई एक विश्व-बाजार नहीं होता और जिस सीमा तक व्यापार 'द्विपक्षी' होता है उस सीमा तक आर्थिक एवं वित्तीय व्यवहार विस्थापित (dislocate) हो जाते हैं।

(२) **मनमौजी विनिमय दरें**—बहुपक्षवाद के अन्तर्गत सभी विश्व-वस्तुओं का मूल्यांकन समान रूप से होता है, किन्तु द्विपक्षवाद के अन्तर्गत ऐसा नहीं है। यही नहीं, जबकि बहुपक्षवाद के अन्तर्गत, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली का 'सार' (essence) है, समस्त राष्ट्रीय करेंसियों का मूल्यांकन समान रूप से होता है तब द्विपक्षवाद के अन्तर्गत विनिमय दरें मनमानी और उन दरों से भिन्न होती है जो कि एक स्वतन्त्र विश्व विनिमय बाजार में विद्यमान होनी चाहिए।

(३) **क्रय अथवा विक्रय पर प्रतिबन्ध**—बहुपक्षवाद के अन्तर्गत देश को सबसे महँगे बाजार में बेचने और सबसे सस्ते बाजार में खरीदने की स्वतन्त्रता होती है किन्तु यह स्वतन्त्रता द्विपक्षवाद के अन्तर्गत सम्भव नहीं है। एक देश सर्वोत्तम बाजार में न तो खरीद सकता है और न बेच ही सकता है।

(४) **शोषण के लिये क्षेत्र**—द्विपक्षवाद के अन्तर्गत एक आर्थिक रूप से शक्तिशाली देश अपनी क्रय एवं विक्रय शक्तियों का प्रयोग अपने से दुर्बल राष्ट्र के विरुद्ध अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये कर सकता है। उदाहरणार्थ, जर्मनी ने महायुद्धों की मध्यावधि में अपनी क्रय शक्ति का प्रयोग दुर्बल लेटिन अमेरिकी देशों का शोषण और इस प्रकार अपनी युद्ध-अर्थव्यवस्था का निर्माण करने में किया। किन्तु बहुपक्षवाद के अन्तर्गत ऐसे शोषण के लिये कोई क्षेत्र नहीं है।

(५) **वस्तुओं एवं साधनों तक प्रतिबन्धित पहुँच**—पुरानी अच्छी बहुपक्षी

व्यापार प्रणाली के अधीन प्रत्येक देश के लिए, जब तक कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कीमत चुका सकता है, प्रत्येक वस्तु और साधनों तक पहुँच होती थी किन्तु ऐसी स्वतन्त्र और समान पहुँच (Free and equal access) द्विपक्षवाद के अधीन सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें स्वतन्त्र विश्व बाजार का ही अभाव होता है। 'सम्पन्न' एवं 'विपन्न' वर्गों में विभाजन, जो कि बहुपक्षवाद के अन्तर्गत अनुपस्थित है, द्विपक्षवाद के अधीन प्रबलता से पाया जाता है।

(६) भेदात्मक व्यवहार—किसी भी देश के पक्ष या विपक्ष में वस्तु की कीमत, गुण या मात्रा की दृष्टि से भेदात्मक बर्ताव करने के लिये बहुपक्षी व्यापार समझौतों के अन्तर्गत कोई अवसर नहीं होता, किन्तु द्विपक्षवाद के अन्तर्गत पर्याप्त रहता है।

(७) अदृश्य मदों की उपेक्षा—जबकि बहुपक्षवाद के अन्तर्गत दृश्य एवं अदृश्य दोनों ही प्रकार की मदें समान रूप से महत्त्वपूर्ण होती है, द्विपक्षी समझौते से सम्बन्धित देशों का उद्देश्य एक विशेष अवधि के भीतर केवल चालू व्यवहारों के सम्बन्ध में भुगतान सतुलन को सतुलित करना होता है जिससे अदृश्य मदों की उपेक्षा हो जाती है तथा ऐसे ठहरावों में 'स्थानान्तरण व्यापार' (transit trade) को सम्मिलित करने का भी कोई प्रावधान (provision) नहीं होता है।

(८) व्यापार-ढाँचे में समायोजन सम्भव नहीं—बहुपक्षवाद के अन्तर्गत व्यापार की मात्रा दोनों देशों की लागत-कीमत परिस्थिति द्वारा निर्धारित होती है तथा व्यापार में इस परिस्थिति के परिवर्तन के अनुसार ही समायोजन होता रहता है किन्तु द्विपक्षवाद के अन्तर्गत ऐसे समायोजन सम्भव नहीं है।

(९) एकाधिकारों और कार्टेलों की स्थापना—द्विपक्षवाद के अन्तर्गत एकाधिकारों और कार्टेलों की स्थापना होना बहुत ही सुगम है। ये सस्थायें ऊँची कीमतें निर्धारित कर सकती हैं और इस प्रकार समाज विरोधी कार्यकलापों में सलग्न रह सकती है। लेकिन बहुपक्षवाद के अन्तर्गत कीमतें विश्व बाजार और स्वतन्त्र प्रतियोगिता की उपस्थिति के कारण लागतों से बहुत निकट समानता रखती है, जिससे उत्पादकों के लिये उपभोक्ताओं का शोषण करना सम्भव नहीं होता। इस प्रकार, द्विपक्षवाद के विपरीत, बहुपक्षवाद विश्व भर में उपभोक्ताओं के हितों का सर्वोत्तम सरक्षक है।

द्विपक्षवाद के लिये औचित्य —

द्विपक्षवाद के लिए सहानुभूति रखने वालों की कमी नहीं है, क्योंकि इनका प्रयोग उन देशों द्वारा किया जाता है जो कि अपने उद्योगों का विकास या पुनर्निर्माण करना चाहते हैं। किन्तु इस परिस्थिति का समर्थन करना सम्भव नहीं है। इसके निम्नलिखित कारण हैं —

(१) यदि आर्थिक रूप से निर्बल देशों को इस हथियार के प्रयोग की अनुमति देना ठीक ही हो, तो राष्ट्रों में इनकी सम्पत्ति या शक्ति के आधार पर कोई ऐसी

विभाजक रेखा खींचना कठिन होगा जो यह बता सके कि अमुक-अमुक राष्ट्र दुर्बल और अमुक-अमुक राष्ट्र सबल है। सच तो यह है कि यदि यह प्रथा एक बार स्वीकार कर ली गई, तो युद्ध पूर्व अवधि की भाँति यह अन्य देशो पर भी फैलने का डर है जिस से शीघ्र ही शक्तिशाली देश भी भेदात्मक एकाधिकार अपना लेंगे। यदि ऐसा हुआ, तो दुर्बल देश अपने को पहले से भी अधिक दुर्बल पायेंगे, क्योंकि उनकी सापेक्षिक स्थिति तो पहले की अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ न होगी किन्तु विश्व व्यापार मे उनका हिस्सा पहले से भी कम हो जायेगा।

(२) एक देश के लिए प्राय यह कठिन या लगभग असम्भव ही होता है। कि वह निकासियों की व्यवस्था से अलग हो जाय, क्योंकि किसी भी समय पर उसको यह विश्वास होना कठिन है कि स्वतन्त्र बहुपक्षी व्यापार के लिए द्वार खोल कर वह इतना पर्याप्त विदेशी विनिमय अर्जित कर सकता है कि अपनी आयात सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी करले। आस्ट्रिया भी, जिसने १९३३-३५ में अन्य सब विनिमय नियंत्रण हटा लिए थे, निकासी समझौते रद्द न कर सका था।

उपसंहार—भारत के लिए लाभ

इस प्रकार, विश्व शान्ति और आर्थिक सम्पन्नता के हित मे बहुपक्षी व्यापार व्यवस्थाओ को द्विपक्षी व्यापार पर प्राथमिकता देना आवश्यक है। युद्धोत्तर काल मे, विशेषत स्वतन्त्र होने के बाद, भारत ने विश्व के अनेक देशो (जैसे चैकोस्लावेकिया, यूगोस्लाविया, हगरी, स्विटजरलैंड, फिनलैंड, मिश्र, अर्जेन्टायना, सोवियत रूस और पाकिस्तान आदि) से द्विपक्षी व्यापार समझौते किये हैं। यद्यपि बहुपक्षवाद विश्व व्यापार का सर्वस्वीकार्य सर्वाधिक वाँछनीय स्वरूप है तथापि द्विपक्षवाद को भारत की विशिष्ट आर्थिक दशाओ के सदर्भ मे बिल्कुल अनुचित नही ठहराया जा सकता। कारण, इससे उसे निम्नलिखित लाभों की आशा है :—

(१) ये समझौते हमे आवश्यक वस्तुयें जैसे खाद्यान्न और मशीनें पर्याप्त मात्रा मे दिला सकेंगे।

(२) ये भारत के आयात व्यापार की दिशा को डालर देशों से नॉन-डालर देशो को मोडने मे सहायक होंगे।

(३) ये निर्यातों मे वृद्धि कर सकेंगे जिससे कि हमारे भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता कम होने में सहायता मिलेगी।

(४) कुछ दशाओं मे द्विपक्षी व्यापार समझौते अनिवार्य हैं। उदाहरणार्थ, ईस्ट जर्मनी, रूस, फिनलैंड आदि से (जहाँ कि विदेशी व्यापार पर सरकार का आधिपत्य है) व्यापार केवल द्विपक्षी व्यापार समझौते के आधार पर ही बढ़ाया जा सकता है, एव

(५) इनके द्वारा भारत समझौतों से सम्बद्ध अन्य देशों से राजनैतिक, आर्थिक एव सांस्कृतिक रूप से अधिक निकट हो जायेगा। वर्मा,

लङ्का और संयुक्त अरब गणराज्य से हमारा व्यापार इसी श्रेणी का है।

किन्तु यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि द्विपक्षी व्यापार समझौते केवल अल्पकाल के लिए ही उचित ठहराये जा सकते है। दीर्घकाल में, जबकि राजनैतिक शान्ति और स्थायित्व प्राप्त हो जाय, तब भारत को बहुमुखी व्यापार प्रणाली से ही लाभ की विशाल सम्भावनायें है।

परीक्षा प्रश्न :

१ द्विपक्षी व्यापार समझौते क्या हैं और इन्हें क्यों अपनाया गया है ? क्या आप इन्हें विश्व व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने वाला मानते है ? यदि हाँ, तो इनसे कैसे बचा जा सकता है ?

[What are bilateral trade agreements and why have they been resorted to ? Do you think them to be restrictive to world trade ? If so, how can they be prevented ?]

२. बहुपक्षी एवं द्विपक्षी व्यापार-समझौतों के सापेक्षिक गुण दोषों का विवेचन कीजिये। आप भारत के लिए इनमें से किसे बेहतर समझते हैं और क्यों ?

[Discuss the relative merits and demerits of multilateral and bilateral trade agreements Which system would you advise for India and why ?] (आगरा, एम० कॉम०, १९६६)

३ द्विपक्षी व्यापार समझौते कहाँ तक स्वतन्त्र व्यापार की दिशा में ले जाते है ? इनकी सीमायें बताइये।

[How far are bilateral trade agreements a move towards free trade ? Examine their limitations]

(गोरख०, एम०ए०, १९६८)

४ क्या द्विपक्षी व्यापार समझौते परमानुग्रहित राष्ट्र व्यवहार से सगति रखते है ? उदाहरण सहित उत्तर दीजिये।

[Are bilateral trade agreements consistent with the most favoured nation's treatment ? Illustrate your answer with examples] (आगरा, एम० ए०, १९६६)

२६

साम्राजीय अधिमान

(Imperial Preference)

परिचय—

आर्थिक सहयोग (economic co operation) का एक अन्य रूप जो कि विश्व के व्यापारिक राष्ट्रों के मध्य उदय हुआ है 'साम्राजीय अधिमान' है, जिसे आजकल राष्ट्रमण्डलीय अधिमान' (Commonwealth Preference) कहते हैं।

साम्राजीय अधिमान का अर्थ

साम्राजीय अधिमान' (Imperial Preference) वह प्राथमिकता या विशेष रियायत है जो कि एक अधीन देश (या उपनिवेश) अपने साम्राज्य (या मातृ) देश के प्रति विदेशी व्यापार के सम्बन्ध मे देता है चाहे साम्राज्य देश (Empire country) उसे वैसी प्राथमिकता रियायत दे या नहीं। यह प्राथमिकता या रियायत आयातो या निर्यातों से अथवा एक ही समय पर दोनो से सम्बन्धित हो सकती है। इस प्रकार साम्राजीय अधिमान योजना के अन्तर्गत एक अधीन देश साम्राज्य देश मे, किसी अन्य देश मे सस्ती या श्रेष्ठ वस्तुयें आयात करने के बजाय, महँगी अथवा घटिया वस्तुये लेने को भी तैयार हो जाता है। इसी तरह, वह साम्राज्य देश मे अपने निर्यातो का कम मूल्य चार्ज कर सकता है। साम्राजीय-अधिमान साम्राज्य देश के आयातो पर कम दर से ड्यूटी लेने के रूप मे भी हो सकता है जबकि अन्य देशों से वैसी ही वस्तुओ पर ऊँची दर मे ड्यूटी ली जाती है। यह भी हो सकता है कि अधीन देश अपने आन्तरिक बाजार को अशत या पूर्णत साम्राज्य देश की कुछ वस्तुओ के लिए सुरक्षित कर दे अथवा साम्राज्य देश को ड्रा बैक' (Draw-backs) की स्वीकृति दे।

साम्राजीय अधिमान की सफलता के लिए आवश्यक बाते

साम्राजीय अधिमान की योजना सफल हो सके इसके लिए यह आवश्यक है कि (i) साम्राज्य एव अधीन देशो के मध्य व्यापार की यथेष्ठ सम्भावनायें विद्यमान होनी चाहिए, (ii) अधीन देश साम्राज्य देश के अधिमान सम्बन्धी दावे को स्वीकार करने के लिए तत्पर होना चाहिए, एव (iii) साम्राज्य देश की सहमति के बिना

अन्य देशो को कोई अधिमान या रियायत नही दी जाये। स्पष्टत साम्राजीय-अधिमान-योजना का आर्थिक महत्त्व इस बात से उदय होता है कि इसमे साम्राज्य मे बाहर के देशो के साथ रियायती व्यवहार का अभाव है।

साम्राजीय अधिमान योजना की दुर्बलतायें

विश्व-व्यापार पर प्रभाव—

साम्राजीय अधिमान योजना बढते हुए विश्व व्यापार के हितो के विरुद्ध है। यह बात निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जायेगी —

(१) वह श्रम के विभाजन एव विशेषोपयोजन में बाधा डाल कर विश्व व्यापार की मात्रा को घटाती है—विश्व व्यापार विषयक एक स्वस्थ नीति की बुनियादी विशेषता किसी देश की इस स्वतन्त्रता म निहित है कि वह सस्ते से सस्ते बाजार म खरीद सकता है और महँगे से महँगे बाजार मे बेच सकता है। किन्तु यह विशेषता साम्राजीय अधिमान योजना के अन्तर्गत उपस्थित नही है, क्योकि अधीन देशा की साम्राज्य देश के प्रति न केवल राजनैतिक वरन् आर्थिक रूप से भी एक दास जैसा आचरण करना पडता है। वह न तो महँगे से महँगे बाजार म बेचने के लिए स्वतन्त्र होता है और न सस्ते मे सस्ते बाजार मे खरीदने के लिए। अत अधीन देश स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उदय होने वाले लाभो से वचित हो जाते है।

(२) योजना से बाहर के देशों द्वारा प्रतिकारात्मक (retaliatory) उपाय किये जाने की भी सम्भावना है। वास्तव मे आजकल विश्व कई गुटो मे विभाजित हो गया है तथा व्यापारिक दल बन्दी का अखाडा बन चुका है।

(३) वह अधीन देश को अपनी अर्थव्यवस्था का ठोस और सतुलित आधार पर विकास करने से रोकती है। विशेषत जब कि एक साम्राज्य देश एक औद्योगिक उन्नत राष्ट्र हो, तो अधीन देश को कृषक देश बना रहने पर ही विवश किया जा सकता है जिससे कि साम्राज्य देश को आवश्यक कच्चा माल नियमित रूप से मिलता रहे तथा उसकी निर्मित वस्तुओ के लिए वहाँ विक्रय-बाजार सदा उपलब्ध रहे। स्पष्टत ऐसी दशा मे पिछडे हुए भागो की समस्या (problem of backward areas) उत्पन्न हो जाती है, जहाँ लोगो की क्रयशक्ति बहुत ही नीची होती है।

(४) उपनिवेशो और साम्राज्य देश के मध्य आय सम्बन्धी विशाल अन्तर (wide income disparities) उदय हो जाते हैं। एक ओर तो साम्राज्य देश मे लोग विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं किन्तु दूसरी ओर, अधीन देशो मे लोग अपना न्यूनतम भरण पोषण करने मे भी कठिनाई अनुभव करते है।

(५) पिछडे हुए आधीन देशों में सम्भाव्य प्रचुरता के मध्य दरिद्रता विद्यमान होती है। साम्राज्य अधिमान की नीति का अनुगमन करने से जो आय-सम्बन्धी भिन्नतायें उदय होती हैं वे उपभोग-वृत्ति (propensity to consume) को निरुत्साहित करती हैं। एक ओर पृथ्वी के गर्भ मे विशाल प्रसाधन छुपे पडे रहते हैं और यह

प्रतीक्षा करते रहते है कि एक दिन उनके शोषण का भी अवसर आयेगा. तब दूसरी ओर, लोग भरपेट भोजन प्राप्त नहीं कर सकते हैं तथा जीवन की अन्य बुनयादी आवश्यकतायें भी पूरी करने मे असमर्थ होते हैं।

ये सब बातें विश्व-व्यापार के विस्तार और स्थायित्व के लिए हानिप्रद है। वास्तव मे, साम्राजीय अधिमान योजना 'सर्वानुग्रहित राष्ट्र व्यवहार योजना (Scheme of Most Favoured Nations Clause) के ठीक विपरीत है। अत यह कहना बिल्कुल सच है कि साम्राजीय अधिमान न केवल व्यापार के परिणाम को घटाता है वरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ को भी कम करता है।

साम्राज्यान्तर्गत व्यापार पर प्रभाव—

साम्राजीय अधिमान योजना ने एक नये प्रकार के व्यापार को जन्म दिया है। इस नये प्रकार के व्यापार को 'साम्राज्यान्तर्गत व्यापार' (Inter Empire Trade) कहते है। इस प्रकार का व्यापार, जो साम्राजीय अधिमान नीति के अभाव मे कदापि विद्यमान नही हो सकता था, विश्व व्यापार से एक अलग श्रेणी का होता *है क्योंकि यदि दोनो तरह के व्यापार समान या एक ही श्रेणी के होते, तो एक के* विरुद्ध दूसरे की आवश्यकता का तनिक भी अनुभव नही होता।

साम्राज्य अधिमान की नीति का विकास कुछ ऐतिहासिक घटनाओ का फल है। यह सभी अधीन देशों को इस बात के लिए विवश करती है कि वे मातृ देश को कुछ व्यापारिक सुविधायें दें चाहे मातृ देश उन्हे वैसी सुविधायें दे या नही। हाँ, मातृ देश अधीन देशो द्वारा प्रदान की गई व्यापारिक सुविधाओ के बदले मे उनकी सुरक्षा का भार प्राय अपने ऊपर ले लेता है। कुछ भी हो, अधीन देशो की अर्थ-व्यवस्थायें मातृ देश की अर्थ-व्यवस्था का एक आवश्यक अंग बन जाती है तथा उन्हें इसका एक विस्तार मात्र समझा जा सकता है। साम्राजीय अधिमान की विचारधारा *ने साम्राज्यान्तर्गत व्यापार पर बहुत ही प्रभाव डाला है, जो कि इस प्रकार है—*

(१) साम्राज्यान्तर्गत व्यापार के ढाँचे पर प्रभाव—साम्राजीय अधिमान योजना के अन्तर्गत साम्राज्य के देशो के हित बलात् मातृ ही देश के हित से बाँध दिये जाते हैं। अधीन देशों के प्रसाधनो का शोषण इस तरीके से किया जाता है कि मातृ देश की बुनियादी आवश्यकतायें सन्तुष्ट होती रहे। इस प्रकार, व्यापार एक पूरक स्वभाव ग्रहण कर लेता है तथा वह लागत-कीमत घटकों (cost price factors) से निर्धारित नहीं होने पाता है।

(२) साम्राज्यान्तर्गत व्यापार की दिशा पर प्रभाव—अनुभव ने यह दिखाया *है कि साम्राजीय अधिमान की नीति के अधीन देशो ने आर्थिक विकास को* कृषि-प्रमुख एवं निष्कर्षण उद्योग-प्रमुख बना दिया है, जबकि मातृ देश ने औद्योगिक *विकास मे एक श्रेष्ठ स्थान पा लिया।* इस प्रकार, साम्राज्यान्तगत व्यापार की दिशा यह रही कि आधीन देशा मे कृषि उपजें, खनिज-पदार्थ और अन्य कच्चा माल साम्राज्य देश को जाता है, तथा वहाँ से निर्मित वस्तुये आधीन देशों को आती है।

(३) साम्राज्यान्तर्गत व्यापार के परिमाण पर प्रभाव—निःसन्देह साम्राजीय अधिमान नीति ने साम्राज्यान्तर्गत व्यापार की मात्रा (volume) को बढ़ा दिया है किन्तु यह वृद्धि अल्पकालीन है, अन्तत, वह इसे घटाने मे ही योग देगी।

परीक्षा प्रश्न

१ साम्राज्य अधिमान की प्रथा के परिपालन के फलस्वरूप न केवल व्यापार के परिमाण मे कमी होती है वरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से मिलने वाला लाभ भी घट जाता है।" क्या आप इस कथन से सहमत है ? सकारण उत्तर दीजिये।

["Imperial Preference results not only in a reduction in the volume of trade but also diminishes the gain from international trade" Do you agree ? Give reasons for your answer]

२ साम्राज्य अधिमान क्या है ? इसका विश्व व्यापार के तथा साम्राज्यान्तर्गत व्यापार के परिमाण, इनकी रचना और दिशा पर क्या प्रभाव पडता है ?

[What is Imperial Preference ? What effect does it have on volume, composition and direction of world trade and of inter empire trade ?]

३०

राशिपतन, कार्टेल्स एवं एकाधिकार

(Dumping, Cartels and Monopolies)

परिचय—

अब तक हमने यह मान कर विवेचन किया था कि स्वदेश मे और विदेश मे स्वतन्त्र प्रतियोगिता ही प्रचलित है। अब हम यह देखेंगे कि यदि स्वतन्त्र प्रतियोगिता अनुपस्थित है अथवा इसमे कमी हो गई है, तो ड्यूटीज (duties) घटाने या बढाने के क्या प्रभाव होगे ? एकाधिकारिक शोषण के विरुद्ध क्या टैरिफ एक पर्याप्त बचाव है ? यदि किसी ड्यूटी की आड मे एक कार्टेल (cartel) बन जाय या किसी विशेष सस्था को एकाधिकारिक स्थिति प्राप्त हो जाय, तो क्या करना चाहिए ? इस सम्बन्ध मे सब से विचारणीय प्रमेय (phenomenon), जो अपना प्रभाव स्वतन्त्र प्रतियोगिता के अन्तर्गत विस्तृत करता है किन्तु जो एकाधिकार और सरक्षण का 'शिशु' है, 'राशिपतन' के नाम से विख्यात है।

राशिपतन (Dumping)

राशिपतन का अर्थ—

विभिन्न लेखको ने विभिन्न प्रकार से राशिपतन की परिभाषायें दी हैं। किन्तु समस्त परिभाषाओ मे से निम्नलिखित दो परिभाषायें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है —

(१) विदेशों में गृह कीमत की अपेक्षा कम कीमत पर विक्रय करना—प्राय सर्वत्र ही 'राशिपतन' शब्द का आशय किसी वस्तु को विदेशो मे ऐसी कीमत पर बेचने से लगाया जाता है जोकि उसी वस्तु को उसी समय पर तथा उन्ही परिस्थितियों के अधीन (अर्थात् भुगतान सम्बन्धी समान दशाओ के अन्तर्गत) स्वदेश मे चार्ज की जाने वाली कीमत मे भी (यातायात व्यय को विचार मे लेते हुए) कम है।[1]

---

1 "The term dumping is now almost universally taken to mean the sale of a good abroad at a price which is lower than the selling price of the same good at the same time and in the same circumstances (that is, under same conditions of payment etc) at home, taking account of differences in transport costs "
—Haberler : *The Theory of International Trade*, p 296.

प्रोफेसर वाइनर के अनुसार—"दो बाजारो मे कीमत सम्बन्धी विभेद किया जाना ही राशिपतन है।"[1] वाइनर की परिभाषा निम्नलिखित तीन कारणो से अधिक श्रेष्ठ मानी गई है —

(i) राशिपतन के आधारभूत कीमत नियम वही (same) होते हैं चाहे यह दो स्वतन्त्र देशों के मध्य हों या एक ही देश के दो भागों में हो।

(ii) इस परिभाषा म विपरीत राशिपतन (Reverse Dumping) भी सम्मिलित है, जिसम कि विदेशी कीमतें गृह कीमतो से ऊँची रखी जाती हैं।

(iii) कीमत विभेद देश और विदेश के मध्य ही नही होता, वरन् दो विदेशी बाजारो के मध्य भी हो सकता है।

किन्तु हम इस अध्याय मे स्थानाभाव के कारण सबसे महत्त्वपूर्ण दशा पर ही ध्यान दें जो कि गृह कीमत से कम कीमत पर विदेशों मे वस्तु के विक्रय से सम्बन्धित है और फिर इसके निष्कर्ष यथोचित परिवर्तनों के साथ अन्य दशाओं पर भी लागू किये जा सकते है।

प्रो० वाइनर की परिभाषा के अनुसार राशिपतन के दो प्रमुख तत्त्व है (१) स्वदेशी कीमत (home price) और (२) विदेशी कीमत (foreign price)। स्वदेशी कीमत व विदेशी कीमत की तुलना करते समय हमे निम्नलिखित बातो को अवश्य ही ध्यान मे रखनी चाहिए —

(अ) वह समय-बिंदु (point of time), जिससे कि तुलना का सम्बन्ध है। यह समय विन्दु वह होना चाहिए जबकि विक्रय अनुबन्ध किया गया है। यदि इससे आशय उस समय का लिया जाय, जबकि वस्तुयें वास्तव मे निर्यातक देश की सीमा को छोड रही हो तो राशिपतन विरोधी उपाय ठीक-ठीक लागू न किये जा सकेंगे क्योंकि सम्भव है कि मध्यान्तर मे स्वदेशी कीमतें बढ जायें।

(ब) यातायात व्यय को भी विचार मे लेना चाहिए। जब निर्यात के लिये उद्धृत की गई c. i. f. price स्वदेशी कीमत की तुलना मे यातायात व्यय की सम्पूर्ण राशि से ज्यादा होती है, तब ही राशिपतन विद्यमान होगा। स्वदेशी और विदेशी कीमतो म वास्तविक तुलना तब ही सम्भव है जबकि दोनो ही कारखाना मूल्य पर (यातायात व्यय जोडे बिना ही) ली जायें।

(स) हमें अन्य अनेक बातो पर भी ध्यान देना चाहिए। जैसे—निर्यात के लिए विशेष पैकिंग का व्यय, भुगतान सम्बन्धी दशायें, किस्म सम्बन्धी रिबेट आदि। यदि इन्हें विचार मे न लिया गया, तो वास्तविक कीमत-तुलना सम्भव न हो सकेगी।

---

[1] "Dumping is the price-discrimination between two markets."
—Viner : *Dumping*, p. 5.

सन् १६१६ में अमेरिका के टेरिफ कमीशन ने विदेशी राशिपतन के बारे में १४६ शिकायतें प्राप्त की थी, जिनमें से २३ का सम्बन्ध विदेशों में वस्तुयें स्वदेशी कीमत से कम पर विक्रय करने से था और ६७ दशायें केवल विदेशी उत्पादकों से कटु प्रतियोगिता मात्र होने से सम्बन्धित थी। अन्य शिकायतें धोखे में डालने वाले व्यापार चिन्ह, वस्तुओं के झूठा वर्णन तथा कस्टम अधिकारियों के सामने मूल्य सम्बन्धी झूठी घोषणायें करने के सम्बन्ध में थी। वैज्ञानिक विवेचनों में 'राशिपतन' शब्द का प्रयोग प्राय ऐसी कीमत दर बेचने से लिया जाता है जो कि विदेशी देश में प्रचलित कीमत से कम हो, या उस कीमत मे, जिस पर कि विदेशी उत्पादक प्रति-स्पर्धा कर सकते है, कम हो।

(२) विदेशों में उत्पादन लागत से कम कीमत पर विक्रय करना—यह राशिपतन की दूसरी प्रमुख परिभाषा है। इसके अनुसार राशिपतन का आशय, वस्तुयें विदेशों में उत्पादन-लागत से कम कीमत पर बेचने में है। निर्यातों पर जो हानि होती है उसकी पूर्ति उस लाभ में से करली जाती है जो कि देश में ही वस्तु की बिक्री करने से होता है। कभी-कभी यह भी होता है कि चूँकि स्वदेश में उत्पादक अत्यधिक ऊँची कीमत चार्ज कर रहे थे, इसलिए उनके लिए यह सम्भव हो गया कि वे विदेशों मे कम कीमत पर निर्यात कर सकें। व्यावहारिक दृष्टि से उपरोक्त परिभाषा मे कई दोष हैं —

(अ) उत्पादन लागत का पता बहुत ही कठिनाई से लग सकता है जबकि स्वदेशी कीमत के विषय मे ऐसी बात नही है।

(ब) उत्पादन लागत की धारणा स्वय में ही भ्रामक भी है। यदि इसका आशय प्रति इकाई औसत लागत (average costs) से हो और प्रबन्ध व्यय एव स्थाई पूँजी पर ब्याज आदि कुल लागत (total cost) मे सम्मिलित हो, तो नि सदेह निर्यात प्राय उत्पादन लागत से कम पर किया जाता है। किन्तु, इस अर्थ मे, औसत लागत से कम पर वस्तुयें बेचने में कोई हानि उदय नहीं होती है। हानि तो तब ही हो सकती है जबकि कुल उत्पत्ति औसत लागत से कम पर बेची जाय। लेकिन जब राशिपतन किया जाता है, तो, नियम के रूप मे, स्थायी लागतें (सामान्य उपरिव्यय (general overhead costs) अथवा अधिकांश स्थाई लागतें आन्तरिक बिक्री से चुक जाती हैं जिससे निर्यात कीमत के लाभदायक होने के लिए इतना ही आवश्यक है कि वह निर्यात की गई मात्रा की परिवर्तनशील लागतें पूरी कर दे। इस प्रकार निर्यात कीमत का न्यूनतम स्तर सीमान्त लागत (marginal costs) के द्वारा, अर्थात्, निर्यात के लिए उत्पत्ति का विस्तार करने की अतिरिक्त लागत के द्वारा, निर्धारित होती है। उन सब बहु प्रचलित दशाओ मे, जिनमे कि उत्पत्ति का विस्तार विद्यमान उत्पादक इकाई के भीतर ही किया जा सकता है (अर्थात् भवन, प्लान्ट या साज सामान बढाये बिना ही अथवा कम से कम उन्हे जिस अनुपात में उत्पादन बढा है उससे अधिक

बढ़ाये बिना ही उत्पादन का विस्तार किया जा सकता है), सीमान्त लागत 'औसत लागत' से नीचे ही रहती है।

(स) यही नहीं, हानि पर विक्रय करना (selling at a loss) वाक्यांश भी भ्रम उत्पन्न करने वाला है। मान लीजिए कि कीमत संस्था की चालू लागतों (स्थाई एवं परिवर्तनशील) का तो चुकता कर लेती है किन्तु स्थिर पूँजी विषयक भुगतान (जैसे ब्याज) नहीं। यदि ऐसी कीमत पर बेचने को ही हम हानि पर बेचना कहते हैं, तो 'हानि पर बचना' मन्दी युग की एक साधारण घटना है। किन्तु, यदि इस वाक्यांश का प्रयोग तब ही किया जाता है जबकि किसी संस्था के चालू व्यय इसकी चालू प्राप्तियों से अधिक बैठें, तो 'हानि पर विक्रय करना' एक अल्पकालीन प्रमेय (short run phenomenon) है जो कि केवल इसलिए घटित होता है कि सम्बन्धित उपक्रमी यह आशा करते हैं कि दशायें शीघ्र ही सुधर जायेंगी।

राशिपतन की दोनों प्रतियोगी परिभाषायें—(i) आन्तरिक कीमत से कम पर विदेशों में विक्रय करना, और (ii) आन्तरिक कीमत तथा उत्पादन लागत (पूर्णत औसत लागत के अर्थ में) से कम पर विदेशों में विक्रय करना, अनेक दशाओं में एक से ही परिणाम प्रस्तुत करती हैं। जब निर्यात कीमत आन्तरिक कीमत से नीचे है, तो यह प्रायः पूर्ण औसत लागत से भी नीची होती है। अत केवल उन दशाओं में ही दोनों परिभाषाओं के मध्य भिन्नता पाई जायेगी, जिनसे कि निर्यात कीमत आन्तरिक कीमत से तो नीचे है किन्तु औसत लागत से ऊपर। ऐसी दशाओं मे, आन्तरिक कीमत, जो कि एकाधिकार के कारण अत्यधिक ऊँची है, औसत लागत से अधिक होती है और यह अधिकता उस राशि की अपेक्षा अधिक होगी, जिससे कि निर्यात-कीमत आन्तरिक-कीमत की अपेक्षा अधिक है।

यदि इस व्यावहारिक कठिनाई को, कि शायद ही औसत लागतों का सही-सही निर्धारण किया जा सके, छोड़ दें, तो भी निम्न बातों के सदर्भ में यह तय किया जा सकता है कि कौन-सी परिभाषा श्रेष्ठ है —(i) राशिपतन की जिन दशाओं को दूसरी परिभाषा में सम्मिलित नहीं किया गया है वे ठीक उन्हीं आर्थिक नियमों और परिस्थितियों में उदय होती हैं जिनसे कि अन्य दशाओं का उदय होता है। इस प्रकार, यह दूसरी परिभाषा एक ही वर्ग की आर्थिक घटनाओं को दो हिस्सों में अनावश्यक ही विभाजित कर देती है। (ii) यही नहीं, उसे व्यापारिक नीति के विषय में निर्णय लेने के लिए भी एक उचित आधार नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि आयातक और निर्यातक दोनों ही देशों के लिए इस विषय का कोई महत्व नहीं होता कि राशिपतन-कीमत (Dumping price) औसत लागत से अधिक है या नहीं। इस प्रकार, हैबरलर ने सम्मति दी है कि राशिपतन को 'विदेशों से वस्तुयें आन्तरिक कीमत से कम पर बेचने के रूप में" परिभाषित करना अधिक श्रेष्ठ है।

राशिपतन के विभिन्न स्वरूपों का वर्गीकरण—

राशिपतन के विभिन्न स्वरूपों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता

है —(१) आकस्मिक राशिपतन, (२) अल्पकालीन राशिपतन एवं (३) दीर्घकालीन राशिपतन।

(१) आकस्मिक राशिपतन (Sporadic or Occasional Dumping)—इस प्रकार का राशिपतन प्राय एक बिक्री-मौसम के अन्त मे किया जाता है, जिससे कि स्वदेशी बाजार मे लगभग न बिकने योग्य बचा खुचा माल जल्दी से बेचकर रकम खड़ी की जा सके। यद्यपि इससे विदेशी प्रतियोगियो को बहुत कठिनाई हो सकती है तथापि यह कोई विशेष ध्यान देने योग्य घटना नही है।

(२) अल्पकालीन राशिपतन (Intermittent or Short-period Dumping)—इस प्रकार का राशिपतन वह है जिसके अन्तर्गत विदेशो मे वस्तु समय-समय पर स्वदेश की कीमत से कम कीमत पर, विक्रय की जाती है। इसमे 'हानि पर बेचा जाना' (selling at a loss) सम्भव है। यह राशि पतन निम्नलिखित उद्देश्यो से किया जाता है —

(i) विदेशी प्रतियोगियो की अपेक्षा कम कीमत पर थोड़े समय के लिए विक्रय द्वारा विदेशी बाजार मे पैर जमाना या इसे छिनने से रोकना,

(ii) विदेशी प्रतियोगियो को नष्ट करना या उन्हे राशिपतन करने वाले उत्पादन की इच्छानुसार चलने हेतु विवश करना।

(iii) प्रतियोगी संस्थाओ को स्थापित होने से रोकना। राशिपतन के हिंसात्मक रूप का प्रयोग जनमत को डराने के लिए किया जाता है जिससे कि वह टैरिफ लगाने के पक्ष मे अपनी आवाज उठाये। चूँकि यह उपाय बहुत व्ययपूर्ण है तथा इस बात का भी खतरा है कि विदेशी देश कही रक्षात्मक कदम (defensive measures) (जैसे कि राशिपतन विरोधी कर लगाना) उठाने के लिए विवश न हो जाये इसलिए इस प्रकार का राशिपतन कम ही किया जाता है।

(iv) 'विपरीत दिशा मे राशिपतन' के विरुद्ध प्रतिकार स्वरूप राशिपतन अर्थात् रक्षात्मक राशिपतन करना।

(३) दीर्घकालीन राशिपतन (Long-period or Continuous Dumping)—दीर्घकालीन राशिपतन हानि उठाकर नही किया जा सकता, अर्थात् वस्तु को विदेशो मे सीमान्त लागत से नीची कीमत पर ही लगाकर बेचते रहना सम्भव नही है। विदेशो म वस्तु का लाभ सहित विक्रय तब ही किया जा सकेगा जब कि —

(i) निर्यात की मात्रा इतनी हो कि विद्यमान स्थिर पूँजी पूर्णरूपेण प्रयोग म आ सके, अथवा स्थिर पूँजी मे समुचित परिवर्तन करके स्वदश की कीमत को घटाये बिना ही, उत्पत्ति बढाना सम्भव हो सके। स्वदेश की कीमत जो एक विशुद्ध प्रतियोगिता मूल्य नही हो सकती है, सीमान्त लागत के ऊपर ही रहती है। निर्यात-कीमत इतनी होनी चाहिए कि कम स कम सीमान्त लागत चुकता हो जाय, अन्यथा वस्तु हानि पर ही निर्यात की जावेगी। इस प्रकार का राशिपतन प्राय तब किया जाता है

जबकि उत्पत्ति को घटती हुई लागतो पर बढाया जा सकता हो। इस श्रेणी मे विशाल ट्रस्टो और कार्टेलो द्वारा किया जाने वाला राशिपतन सम्मिलित है।

(ii) राज्य या कोई अन्य संस्था निर्यात-सहायता (export bounty) दे रही हो। यदि ऐसा है तो, दीर्घकालीन राशिपतन किया जा सकता है और वस्तुये विदेशो मे हानि सह कर भी बेची जा सकती है।

राशिपतन के लिए आवश्यक दशायें—

प्रोफेसर हैबरलर ने राशिपतन की सफलता के लिए दो बाते आवश्यक बताई है —

(१) वस्तुयें पुन वापस आने से रोकी जानी चाहिए, क्योकि यदि ऐसा नही किया गया तो स्वदेशी उपभोक्ता उन्हे सस्ते विदेशी बाजार मे से खरीद लेंगे। वस्तुओ के स्वदेश लौटने को रोकने का एक बहु प्रचलित उपाय उन पर ड्यूटी लगाना है। किन्तु यातायात व्यय विदेशी क्रेताओ से इस आशय के ठहराव भी, कि वे इन्हे स्वदेश के क्रेताओ को पुन विक्रय नही करेंगे रोक लगाने का काम करते है। मौसमी या आकस्मिक राशिपतन की दशा म स्वदेश के बाजार मे क्रेताओ के मिलने की अनिश्चितता भी पर्याप्त रोक होती है। किन्तु बडे पैमाने पर दीर्घकालीन राशिपतन की दशा म ड्यूटी ही स्वदेशी बाजार की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक होती है।

(२) स्वदेशी बाजार पर एकाधिकार होना चाहिए। यदि प्रतियोगिता स्वतन्त्र है, अर्थात्, यदि कोई एक उत्पादक अपनी वस्तु की कीमत को विशेष रूप से प्रभावित करने की क्षमता नही रखता है, जिससे कि प्रत्येक उत्पादक के लिए लगभग एक समतल माँग वक्र (horizontal demand curve) है, तो स्वदेश की कीमत को बलपूर्वक नीचे रखना पडेगा।

एकाधिकार कई रूप मे हो सकता है—(i) संस्था का आकार बाजार को देखते हुए इतना बडा है कि कोई अन्य संस्था उसमे प्रवेश करके लाभ नही उठा सकती है, अथवा (ii) संस्था को कोई पेटेन्ट प्राप्त है या (iii) कई उत्पादक ध्वनित या स्पष्ट ठहराव द्वारा एक कार्टेल के रूप मे, उत्पादन की मात्रा को सीमित करने हेतु, संयुक्त हो गय है।

राशिपतन का आर्थिक मूल्यांकन—

राशिपतन के आर्थिक महत्त्व को समझने के लिए हमे निम्नलिखित दो समस्याओ म भेद करना चाहिए —

(१) संकुचित समस्या (Narrower Problem)—हम यह कल्पना कर सकते हैं कि राशिपतन के लिए आवश्यक दशायें—एकाधिकार एव संरक्षण—दी हुई है और अपरिवर्तित है। ऐसी दशा मे हम राशिपतन के प्रभावो का विवेचन पहले आयातक देश के दृष्टिकोण से और फिर निर्यातक देश के दृष्टिकोण से कर सकते हैं।

आयातकर्त्ता के दृष्टिकोण से—राशिपतन का सबसे अधिक विरोध उन देशों द्वारा किया जाता है जिनमें कि वस्तुयें राशिपतित (dump) की जाती हैं। उदारवादी व्यापार नीति अपनाने वाले देश भी प्राय शिकायतें करते रहते हैं। कारण, इन देशों में निहित स्वार्थों को अपने निज की वस्तुओं के लिए संरक्षण पाने के सुयोग कम हैं तथा वह ऐसा अनुभव करते हैं कि ड्यूटीज के अभाव में वे स्वयं विदेशों में एक वृहद् पैमाने पर राशिपतन नहीं कर सकते हैं।

(अ) सामान्यतः राशिपतित आयातों (dumped imports) की आवश्यकता से अधिक आलोचना की जाती है। यदि आयात एक ऐसी कीमत पर जो कि निर्यातक देश में आन्तरिक उपभोक्ताओं से चार्ज की जाने वाली कीमत से या उत्पादन लागत से भी कम है, प्राप्त किये जाते हैं, तो आयातक देश को किसी भी रूप में, बशर्ते कि सस्ते आयात भविष्य में जारी रहें, कोई भी हानि नहीं होती है। आयातक देश की दृष्टि से इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि वस्तुयें सस्ती इसलिए मिल रही हैं कि निर्यातक देश को एक प्राकृतिक तुलनात्मक लाभ मिला हुआ है या वह राशिपतन कर रहा है या राशिपतन एकाधिकार के कारण है अथवा विदेशी सरकार द्वारा दी जाने वाली निर्यात आर्थिक सहाय (export bounties) के कारण। इनमें से भी कोई भी परिस्थिति स्वतन्त्र व्यापार के मौलिक तर्क (सामाजिक उत्पत्ति का अधिकतम् होने) को नहीं काटती है। उक्त परिस्थितियों का केवल इतना महत्त्व है कि इनसे यह पता चलता है कि सस्ते आयात भविष्य में जारी रह सकेंगे या नहीं। यदि विदेशी निर्यातकर्त्ता देश को जलवायु या अन्य प्राकृतिक सुविधा मिले होने के कारण सस्ते आयात सम्भव हुए हैं तो वे अनिश्चित काल तक रह सकते हैं और यदि विदेशी एकाधिकारी की राशिपतन सम्बन्धी नीति के कारण सम्भव हुए हैं तो किसी भी क्षण बन्द हो सकते हैं।

(ब) राशिपतन केवल तब ही हानिकारक है जबकि वह संकोचनों (spasms) के रूप में हो और प्रत्येक संकोचन इतनी अवधि तक जारी रहे कि आयातक देश में उत्पत्ति का हेर-फेर हो सकता है। कारण, जब एक संकोचन के बाद दूसरा संकोचन आता है, तो पहले संकोचन के अन्तर्गत जो उत्पत्ति सम्बन्धी हेर-फेर हुआ था उसे उलटना पड़ता है। ऐसा रुक रुक कर होने वाला राशिपतन (intermittent dumping) तो उस दशा में भी हानिप्रद हो सकता है जबकि देश में कोई प्रतियोगी उद्योग नहीं है। कारण, इससे एक ऐसे उद्योग की, जो कि सस्ती आयातित वस्तुओं का प्रयोग करता है, स्थापना हो जाती है किन्तु जब सस्ते आयात बन्द हो जायेंगे तो यह उद्योग भी कायम न रह सकेगा।

(स) जबकि राशिपतन से सम्बन्धित वस्तुयें उपभोक्ता वस्तुयें हैं तब भी राशिपतन माँग के हेर-फेर का कारण बन सकता है और इस हेर-फेर को भी बाद में पुनः पलटना पड़ता है, जिसमें हानि हो सकती है।

(द) 'गला काट राशिपतन' (cut throat competition) भी, जिसे प्रति-

योगियों को बाजार से निकालने के लिए और इनके निकालने के बाद ऊँची एकाधिकारी कीमत चार्ज करने के लिए अपनाया जाता है, हानिप्रद है। किन्तु व्यवहार में इस प्रकार का राशिपतन कम ही किया जाता है क्योंकि कीमत-युद्ध बहुत महँगा पड़ता है तथा इस बात का भी खतरा रहता है कि कानून का हस्तक्षेप एकाधिकारी को अपने महँगी विजय के कुपरिणाम भोगने से वंचित कर सकता है।

निर्यातकर्ता के दृष्टिकोण से—ऊपर हमने आयातक देश के दृष्टिकोण से राशिपतन पर विचार किया था, अब निर्यातक देश के दृष्टिकोण से विचार करेंगे।

(अ) यदि स्वदेशी बाजार पर एकाधिकार एक अपरिवर्तनीय स्थिति है, तो राशिपतन उस दशा में ही लाभदायक कहा जायेगा जबकि वह स्वदेशी उपभोक्ताओं को वस्तुयें कम कीमत पर दिलावे। किन्तु ऐसा तब ही सम्भव है जबकि सीमान्त लागतें घटती जा रही हो।

(ब) जब राशिपतन के फलस्वरूप स्वदेशी कीमत में वृद्धि हो जाती है तो कोई राय प्रकट करना कठिन है। कारण, कीमत बढ़ना स्वयं में ही निन्दा का पर्याप्त आधार नहीं है। वास्तव में, प्रत्येक प्रकार के निर्यात के फलस्वरूप निर्यातित वस्तु की स्वदेशी कीमत बढ़ती ही है। अतः यहाँ निर्णय करने के लिए यह आवश्यक है कि हम बढ़ी हुई कीमतों से उपभोक्ताओं की हानि को, बढ़ी हुई कीमतों से होने वाले उत्पादकों के लाभ के साथ मिलायें। वाइनर (Viner) ने यह मत प्रगट किया है कि उपभोक्ताओं को जितनी हानि होती है उत्पादकों को लाभ उससे कहीं कम होता है। अतः राशिपतन को स्वदेशी कीमत में वृद्धि होने की दशा में, हानिकारक ही समझना चाहिए।

(स) उत्पादक वस्तुओं के राशिपतन (dumping of producers' goods) पर सदा अधिक ध्यान गया है। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक सदा ही ऐसे राशिपतनों का उदाहरण देकर यह दिखाने की चेष्टा करते हैं कि आयातक देशों के लिए राशिपतन कितना हितकारी है। और, निःसन्देह यह बात ठीक है भी। किन्तु हमें देखना तो यह चाहिए कि निर्यातक देश की दृष्टि से ऐसा राशि पतन किस सीमा तक लाभदायक है। जब निर्यातक देश के पूँजीगत सामान बनाने वाले उद्योग आयातक देशों में सस्ती कीमत पर उत्पादक वस्तुयें बेचते हैं, तो वहाँ इनकी सहायता से अनेक उद्योग विकसित हो जाते हैं जो निर्यातक देश के वैसे ही उद्योगों से प्रतियोगिता करने लगते है। इस दृष्टि से राशिपतन निर्यातक देश के लिये हानिप्रद ही कहलायेगा। इस हानि से बचने के लिए प्रायः दो उपाय किये जाते हैं —(१) स्वदेश में एकाधिकारी कीमत उन सामग्रियों पर जिन्हें निर्माण-क्रिया द्वारा तैयार माल में बदल कर निर्यात किया जाना है, घटा दी जाती है, तथा (२) सम्भाव्य निर्मित आयातों की प्रतियोगिता से टक्कर लेने हेतु स्वदेश (जो कि राशिपतन करने वाला देश है) के निर्माताओं के पक्ष में एक समानीकरण चुंगी (*equalising duty*) लगा दी जाती है, जिससे उनका स्वदेशी बाजार छिनने नहीं पाता है।

(२) व्यापक समस्या (Broader Problem)—हम यह कल्पना कर सकते है कि एकाधिकार एव सरक्षण सम्बन्धी दशायें बदली जा सकती है। ऐसी दशा मे हमे यह देखना होगा कि इनके अन्तर्गत परिस्थिति स्वतन्त्र प्रतियोगिता वाली परिस्थिति की अपेक्षा अधिक वाछनीय है या कम और यदि हम इसे कम वाछनीय समझें तो फिर यह प्रश्न उठा सकते हैं कि राशिपतन को सम्भव बनाने वाली दशायें किस प्रकार से समाप्त की जा सकती है।

अब हम राशिपतन पर विस्तृत समस्या के रूप मे विचार करेंगे। इस दृष्टि मे राशिपतन असदिग्ध रूप से हानिकारक है, क्योंकि उपभोक्ता एव उत्पादक दोनो प्रकार की वस्तुओ की कीमतो मे एकाधिकारिक वृद्धि का आशय यह है कि उत्पादन को आर्थिक अनुकूलतम् के स्तर से वचित कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त राशिपतन एक ओर तो स्वदेशी निर्माणी उद्योगो के लिये समानीकरण ड्यूटी लगाना आवश्यक बनाता है, और, दूसरी ओर, अन्य देशो की प्रतिकारात्मक कदम उठाने के लिये उकसाता है।

निष्कर्ष के रूप में, हम मेयर (Mayer) का यह कथन दुहरा सकते है कि राशिपतन (अर्थात् सस्ती विदेशी बिक्री) इतना हानिप्रद नही है जितना कि स्वदेश के बाजार पर एकाधिकार कायम होना है। जब स्वदेश के बाजार मे एकाधिकार पहले मे ही विद्यमान है, तो फिर राशिपतन के आगमन का महत्त्व अपेक्षत कम ही है और वह लाभप्रद हो सकता है और हानिकारक भी।

विनिमय राशिपतन—

विदेश मे वस्तुओ के राशिपतन का एक अप्रत्यक्ष तरीका विनिमय राशिपतन' (exchange dumping) है। इसे 'छुपा हुआ राशिपतन' (disguised dumping) भी कह सकते हैं जो 'खुले राशिपतन' (open dumping) का ठीक विपरीत है। इसका सम्बन्ध वस्तुओ के साधारण राशिपतन से नही है, वरन् विदेशों मे एक देश द्वारा अपनी करैंसी का राशिपतन करने से होता है। इसके फलस्वरूप स्वदेश की मुद्रा विदेशी मुद्रा मे बहुत सस्ती हो जाती है, जिससे राशिपतन करने वाले देश के आयात सीमित हो जाते है किन्तु निर्यात बढने लगते है।

इस प्रकार का राशिपतन सर्वप्रथम जर्मनी, आस्ट्रिया, और अन्य मध्य यूरोपीय राज्यो द्वारा, अपने भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी घाटो का उपचार करने हेतु, किया गया था। बाद मे, अन्य देशो ने भी यह टैक्नीक अपनाई। अनेक दशाओ मे विनिमय राशिपतन के विरुद्ध प्रतिकारात्मक कार्यवाहियां की गई। सच तो यह है कि एक बार प्रारम्भ कर दिये जाने पर विनिमय राशिपतन एवं इसके प्रतिकार का चक्र कभी रुकता नही है। यह दो महायुद्धों के बीच की सम्पूर्ण अवधि मे जारी रहा और प्रत्येक देश 'beggar my neighbour policy' का अनुसरण करने मे पागल के समान आचरण कर रहा था। किन्तु द्वितीय महायुद्ध के छिड जाने पर विनिमय

राशिपतन की क्रिया को 'ब्रेक' लगा, क्योंकि प्रत्येक देश अपने सुरक्षा साधनों को मजबूत और गतिशील बनाने में लग गया।

सन् १९४५ में युद्ध समाप्त हुआ और तत्पश्चात् देशों के दो वर्ग सामने आए—एक ओर जर्मनी, इटली और नाजी कैम्प के अन्य हारे हुए राष्ट्र, तथा, दूसरी ओर अमेरिका तथा अन्य मित्र राष्ट्र। इनके मध्य खाई इतनी गहरी थी कि इसे पाटना एक असम्भव-सा कार्य प्रतीत हुआ। यह डर था कि भयङ्कर मन्दी युग की समाज विरोधी एवं सकुचित आर्थिक नीतियां कहीं पुनः न अपनाई जायें। अतः राजनैतिक शान्ति और आर्थिक समृद्धि की दिशा में बढ़ने के एक प्रथम कदम के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पुनः संगठित करने का विचार किया गया। इसका अर्थ यह था कि समस्त प्रतिबन्धात्मक नीतियों को (जिनमें कि विनिमय राशि-पतन भी सम्मिलित था) समाप्त कराया जाय। परिणामतः विश्व-भर के विख्यात अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने स्वतन्त्र व्यापार को पुनर्जीवित करने तथा इस आशय के लिए कोई ठोस योजना बनाने हेतु अपील की। अन्तिमतः सन् १९४४ में ब्रैटनवुड्स में ४४ देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसने एक अन्त-र्राष्ट्रीय संगठन (I. M. F.) की योजना बनाई।

विनिमय राशिपतन पर नियन्त्रण हेतु कोष द्वारा किये गये उपाय—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विनिमय राशिपतन को रोकने के लिए उचित एवं विस्तृत नियम बनाये हैं। इनके अनुसार (1) सदस्य राष्ट्रों को अपनी करैन्सियों का स्वर्ण के साथ सम-मूल्य' (par value) घोषित करना पड़ता है। किन्तु यह समता सदा के लिए कठोरतापूर्वक निर्धारित नहीं है, वरन् इसमें परिवर्तन भी किये जा सकते हैं जैसे—(अ) सभी देशों की समता दरों में एक ही साथ परिवर्तन किया जा सकता है किन्तु इसके लिये कुल कोटे में पृथक्-पृथक् १०% से अधिक भाग रखने वाले सदस्य देशों की सहमति होना जरूरी है। (ब) कोई भी सदस्य देश अपनी करैन्सी के स्वर्ण मूल्य में १०% कमी कर सकता है। इसके लिए उसे केवल इतना ही आवश्यक है कि वह कोष को अपने इरादे की सूचना दे दे। (स) इससे ऊपर १० % के परिवर्तन के लिए सम्बद्ध देश को कोष की पूर्व अनुमति लेनी होगी। (द) यदि इससे भी अधिक परिवर्तन करना आवश्यक समझा जाय तो यह कोष की सहमति से ही सम्भव है और ऐसी सहमति कोष केवल भुगतान सन्तुलन में उत्पन्न हुई किसी मौलिक असाम्यता के उपचार हेतु ही दे सकता है।

इस प्रकार कोष ने विनिमय दरों में व्यवस्थित ढङ्ग से समायोजन (orderly adjustments) करने की योजना बनाई है। अब कोई भी सदस्य देश गैर-जिम्मेदार ढङ्ग से तथा प्रतियोगिता मूलक विनिमय ह्रास में भाग नहीं ले सकता है। इस प्रकार, भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्बन्धों पर जङ्गल का कानून (The Law of Jungle) नहीं चल सकेगा। जब कभी कोई देश यह अनुभव करे कि इसकी विनिमय

दर उसकी अर्थव्यवस्था के साम्य के अनुसार नहीं है, तो वह इसमें परिवर्तन कर सकता है, किन्तु इससे पूर्व कोष और देश के मध्य विचार विमर्श आवश्यक है। इस प्रकार, पहले तो विनिमय दर स्वयं ही सावधानी से निर्धारित की जाती है और बाद में यदि आवश्यकता पड़े तो उसे संशोधित भी किया जा सकता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक ओर आन्तरिक स्थायित्व और पूर्ण रोजगार तथा दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय स्थायित्व एवं विश्व व्यापार के ऊँचे स्तर को समुचित महत्त्व दिया गया है। अब प्रत्येक देश विश्व बाजारों में अपनी स्थिति बनाए रखने के लिये अपनी उत्पादक कुशलता पर निर्भर रहने लगा है। विनिमय ह्रास के कृत्रिम प्रोत्साहन पर नहीं।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार

'प्रन्यास टैरिफ के ही शिशु हैं'—

किसी भी यथेष्ठ मात्रा में राशिपतन के लिये संरक्षण मिलना एक आवश्यक शर्त है। किन्तु इसके अतिरिक्त एकाधिकारिक सङ्गठनों का, जो कि राशिपतन करते हैं, अस्तित्त्व भी मुख्यतः संरक्षण करों के ही कारण है। एक अमेरिकन चीनी उत्पादक ने १६०० के औद्योगिक आयोग के समक्ष गवाही देते समय कहा था कि टैरिफ ही ट्रस्टों के जनक हैं। सम्भवतः यह कहना तो अतिशयोक्तिपूर्ण होगा कि प्रत्येक कार्टेल और प्रत्येक ट्रस्ट टैरिफ का ही शिशु (the child of a tariff) है, किन्तु यह असंदिग्ध है कि अधिकांश कार्टेलों का संरक्षणात्मक टैरिफ के कारण ही अस्तित्व बना हुआ है। एक विशाल आर्थिक क्षेत्र के अनगिनती उत्पादकों की अपेक्षा करों की आड़ द्वारा सुरक्षित एक छोटे क्षेत्र के थोड़े से ही उत्पादकों के लिये सङ्गठित होकर कार्य करना सुगम है। यदि सब ही टैरिफ कल हटा लिये जायें तो अनेक उपक्रमियों की एकाधिकारिक स्थिति, जो उन्हें अपने उत्पादन तथा देश में प्राप्त है, जाती रहे, अधिकांश विद्यमान कार्टेल्स लोप हो जायें या उनकी शक्ति खत्म हो जायगी। कारण, टैरिफ के अभाव में प्रत्येक उत्पादक को केवल यातायात व्ययों का प्राकृतिक संरक्षण मात्र ही प्राप्त होता है, जैसे ही उसकी कीमत इस स्तर से जिस पर कि

---

1 'Thus exchange depreciation which may be necessary for a country whose money is over-valued can be accomplished without inviting retaliation In this way, the Fund not only provides temporary assistance over a period when the country cannot acquire an adequate supply of foreign exchange it also sponsors measures to remedy more fundamental difficulties And, by holding member countries to their agreement not to engage in competitive exchange depreciation, it introduces a measure of disarmament into the field of international economic relations"—Tarshis : *The Elements of Economics*, p 619.

विदेशी उत्पादक अपने देश म लाभदायकता के साथ बेच सकते है, बढती है वैसे ही वह ऐसा करना प्रारम्भ कर देग ।"[1] अनुभव द्वारा भी इस बात का समर्थन होता है । यूरोपीय महाद्वीप की अपेक्षा इङ्गलैंड मे कार्टेल कम विकसित हुए जिसका कारण कुछ तो अग्रेज व्यवसायियों की व्यक्तिवादी मनोवृत्ति है और कुछ वहा सरक्षण करो का अभाव होना है । जर्मनी म भी हम देखते है कि १८७६ मे सरक्षण अपना लेन के वाद वहा कार्टेल तेजी से स्थापित हो गये ।

यह एक सामान्य नियम (general rule) है कि एकाधिकारो का अस्तित्व टरिफ के ही कारण है। कितु इसके दो अपवाद है —(i) स्थानीय एकाधिकार (local monopolies) जिन्हे यातायात व्ययो का सरक्षण प्राप्त होता है और (ii) अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार (international monopolies), जिन्हे विश्व भर मे किसी वस्तु की पूर्ति के पूर्ण नियन्त्रण' मे लेकर दो या अधिक कस्टम क्षेत्रो म जो कि टैरिफ द्वारा या यातायात व्यय द्वारा अथवा दोनो ही के द्वारा बाहरी प्रतियोगिता से सुरक्षित ह पूर्ति के अधिकाश या कम से कम इतने भाग का नियन्त्रण प्राप्त होता ह कि व बाजार कीमत पर अपना प्रभाव डाल सके ।

अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारो के दो वर्ग—

यहा हमे अन्तर्राष्टीय एकाधिकारो के दो वर्गो मे भेद करना चाहिये, क्योकि प्रत्यक वग की अपनी विशेष समस्यायें है। ये वग निम्नलिखित है —

(१) एक या कइ देशो के किसी समूह को विश्व बाजार मे एकाधिकारिक स्थिति प्राप्त हो सकती है। यह समूह शेप विश्व से ऊँची कीमतें वसूल करने म अपनी शक्ति का प्रयोग करता है ।

(२) समस्त देशो के या अधिकाँश देशो के उत्पादक अपने राष्ट्रीय कार्टेल (यदि कोई हो) के द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय सघ या कार्टेल बना लेते है। और सयुक्त रूप से उत्पादन को प्रतिबन्धित (restrict) तथा मूल्यो को नियन्त्रित (control) करते है।

कच्चे माल के अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार—

प्रथम वग के अन्तराष्ट्रीय एकाधिकार प्राय सदा ही कच्चे मालो के नियन्त्रण

---

1 'If all tariffs were removed tomorrow, very many entrepreneurs would lose the monopolistic position which each today possesses in his own line and country, while most of the existing cartels would vanish or would cease to exercise any power For, without a tariff each producer has only the natural protection of transport costs as soon as his price exceeds the level at which foreign producers can profitably sell in his country they will commence to do so "—Haberler *The Theory of International Trade* p 325

पर आधारित होते हैं। किसी एक देश मे ही एक महत्त्वपूर्ण कच्चे माल की पूर्ति के अधिकाश या सब स्रोत केन्द्रित हो सकते है, किन्तु इन पर निर्माण सम्बन्धी क्रियायें अनेक विभिन्न देशो मे सम्पन्न की जा सकती है चाहे ऐसा करने की लागत कुछ दशो मे अन्य देशो की अपेक्षा अधिक बैठे।

किन्तु यह तथ्य मात्र ही कि एक दिए हुए कच्चे माल की पूर्ति के स्रोत एक देश विशेष की सीमाओ के भीतर सम्पूर्णत या अधिकाशत विद्यमान हैं, शेष विश्व का, अथवा, अन्य देशो मे यहाँ तक कि स्वदेश म भी उपभोक्ताओ का, एकाधिकारिक शोषण सम्भव बनाने के लिए पर्याप्त नही है। इसी के साथ-साथ आवश्यक एक शर्त यह भी है कि उत्पादन एव पूर्ति का नियन्त्रण करने के आशय के लिए उत्पादको को सगठित भी किया जाय। लगभग सब ही कच्चे माल, जिनके सम्बन्ध मे पहली शर्त पूरी होती है, कृषि या खनिज पैदावार है, जिन्हे कुछ वृहत सस्थानो द्वारा नही वरन् अनगिनती छोटे छोटे उत्पादको द्वारा उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार, एक सगठित एकाधिकार के सृजन (creation) और पूर्ति के प्रतिबन्धन (restriction) के लिय लगभग सदा ही सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक होता है।[1] जिन २० वस्तुओ को अभी तक एकाधिकारिक नियन्त्रण मे लाने का प्रयास किया गया है उनमे केवल एक दो की दशा म राजकीय हस्तक्षेप की आवश्यकता नहो हुई थी किन्तु अन्य सब दशाओं मे सरकार को हस्तक्षेप करना पडा था। सरकार का हस्तक्षेप निम्नलिखित उद्देश्यो से हो सकता है—

(१) अपनी आय बढाने के लिये, चाहे यह स्वदशी उत्पादको के व्यय पर हो या विदेशी उपभोक्ताओ के व्यय पर।
(२) कीमत को स्थायित्व प्रदान करने तथा, यदि सम्भव हो तो, उत्पादको को एक ऊँची कीमत दिलाने के लिए।
(३) देश मे सम्बद्ध कच्चे मालो का प्रयोग करने वाले उद्योगो की स्थापना और इनकी रक्षा हेतु सरक्षण देने के लिए।
(४) विदेशी उपभोक्ताओ पर स्वदेशी उपभोक्ताओ को प्राथमिकता देने के लिये।
(५) तेज रफ्तार से खत्म होने वाले कच्चे मालो के स्रोतो को सुरक्षित रखने के लिये।

एकाधिकृत वस्तु की निर्यात कीमत बढाने के लिए सरकार निम्नलिखित

---

[1] 'Nearly all the raw materials which fulfil the first condition are agricultural or mineral products produced not by a few large undertakings but by numerous small ones. Thus, the intervention of the state is nearly always necessary in order to create an organised monopoly to restrict supply"—*Ibid*, p 326

किसी भी ढग का प्रयाग कर सकती है :—(i) सरकारी एकाधिकार (state monopoly) कायम करना, (ii) प्राइवेट एकाधिकारी सगठन (private monopoly) का निर्माण करना, जिसमे सम्मिलित होने के लिए सरकार उत्पादकों को विवश करे, (iii) उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाना, (iv) एक न्यूनतम कीमत निर्धारित करना (v) निर्यात कर लगाना या कोटे निर्धारित करना, एव (vi) सरकार द्वारा वस्तु का क्रय विक्रय (state trading), जिससे कि इसकी बाजार कीमत बढ जाय।

सामान्य रूप मे, कच्चे मालो के एकाधिकार सम्बन्धी प्रयत्न अधिक सफल नहीं हुए है। इन्होंने उत्पादकों को केवल जब तब ही और वह भी अस्थाई रूप से लाभ पहुँचाया है। अधिकांश दशाओं मे (विशेषत दीर्घकाल मे) उन्हें इनके कारण नुकसान ही अधिक हुआ। ये सब प्रयास विश्व-अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से अपेक्षत कम महत्त्व के है तथा थोडे ही दिनो चले है। कारण, या तो कुल पूर्ति को स्थायी रूप मे प्रतिबंधित करना, योजना से बाहर के देशों मे उत्पादन के विकास के कारण, असम्भव प्रमाणित हुआ अथवा टैक्नीकल प्रगति के फलस्वरूप स्थानापन्न विकसित हो गये, जो फिर एकाधिकृत वस्तु मे प्रतियोगिता करने लगे।

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स
(International Cartels)

उद्योग की एक दी हुई शाखा मे अधिक से अधिक देशो के उत्पादकों के एक ऐसे संगठन को जो कि उत्पादन और कीमत पर अकेले ही नियोजित रूप से नियत्रण रख सके तथा विभिन्न उत्पादक देशों मे बाजार का विभाजन कर सके, 'अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल' कहते है। प्रथम महायुद्ध के बाद इनकी स्थापना के प्रति लोगो मे बडी रुचि पैदा हुई थी तथा ये अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो मे चर्चा का विषय रहे। इनसे यह भय है कि वे उपभोक्ताओं का एकाधिकारिक शोषण करेंगे। उनसे यह आशा कम ही है कि वे टैरिफ दीवारो को समाप्त करने मे सहायक होगे। सच तो यह है कि १९१९ और १९३८ की मध्यावधि मे इनसे जो कटु अनुभव हुए हैं उनके कारण 'कार्टेल' शब्द लोगो के लिये एक 'बुराई का प्रतीक' (Symbol of evil) बन गया है।

कार्टेल शब्द की प्रमुख परिभाषायें—

नीचे कार्टेल की कुछ प्रमुख परिभाषायें प्रस्तुत की जाती है —

(१) विलियम एस० फेरिस (William S. Ferish)—' प्रतियोगिता का नियन्त्रण, उत्पादन एव नियत कीमतें इन सबका संयोग ही कार्टेल कहलाता है।"[1]

---

[1] "Cartel is a combination of competitor's control, production and fixed prices"

(२) सी० डी० एडवार्डस (C. D. Edwards)—"एक कार्टेल व्यावसायिक उपक्रमों का समूह है जो आपस में कुछ प्रकार की प्रतियोगिताओं को रोकने के लिए बनाया जाता है। इसके सदस्य अपने निजी लाभ के लिये पृथक्-पृथक् व्यापार करते रहते है किन्तु कुछ विषयों में (जैसे कि कीमत-निर्धारण के विषय में) वह सामूहिक निर्णय लेते है।"[1]

(३) न्यूयार्क ट्रस्ट कम्पनी (The New York Trust Company)—"सभी परिभाषाओं में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि कार्टेल-कार्यकलाप एक ही प्रकार के उद्योग में सलग्न विभिन्न व्यावसायिक उपक्रमों द्वारा नियत वह व्यवस्थायें है जो कि प्रतियोगिता को पूर्णत या अशत समाप्त करने हेतु बनाई गई है।"[2]

(४) मैसन (Mason)— "शब्द के सकुचित एव उचित अर्थ मे कार्टेल्स से आशय व्यापार की एक ही शाखा मे सलग्न विभिन्न फर्मों के मध्य उन व्यवस्थाओं का है, जोकि उत्पादन और विपणन के सम्बन्ध मे उनकी स्वतन्त्रता को सीमित करे। कार्टेल ठहरावो का विशेष उद्देश्य सदस्य-फर्मों द्वारा उत्पत्ति या विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाना, बाजारो का विभाजन करना तथा वस्तुओं की कीमत नियत करना है।"[3]

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से एक 'कार्टेल' के निम्नलिखित आवश्यक तत्त्वो का पता चलता है —(i) कार्टेल एक सामूहिक विपणन की व्यवस्था है, जिसमें प्रत्येक सदस्य को इसकी नीतियाँ निर्धारित करने मे उचित भाग मिलता है। इस प्रकार यह एक जनतन्त्रीय व्यवस्था है। (ii) यह वैधानिक रूप से पृथक्-पृथक् सदस्यों

---

1 "A cartel is a group of business enterprises formed for the purpose of avoiding some kinds of competition among themselves Its members continue to do business separately for their own profit but they act together in deciding such matters as the prices they are to charge, the amounts they are to produce or sell and share of the market which is be regarded as the exclusive right of each of them"

2 'At the core of all definitions is the fact that cartel activities are arrangements among business enterprises engaged in the same type of industry to avoid or regulate some or all forms competition"

3 "Cartels, in the narrow and proper sense of the term, are *agreements between firms of the same branch of trade limiting* the freedom of these firms in the production and marketing of their products Cartel agreements aim typically at the restriction of output or sales by the member firms, at an allocation of territories and a fixing of the prices of products"

का संगठन है। अन्य शब्दों में एक ही कम्पनी के कई विभाग आपस में कार्टेल जैसा ही ठहराव नहीं कर सकते हैं। (iii) चूँकि कार्टेल प्राइवेट उपक्रमियों के मध्य की जाने वाली व्यवस्था है, इसलिए इसे प्राइवेट क्षेत्र की विशेषता माना जा सकता है। (iv) कार्टेल सम्बन्ध स्वभाव में ऐच्छिक होते हैं। इसे कानूनी दबाव द्वारा संचालित नहीं किया जा सकता। (v) एक कार्टेल का क्षेत्र एक ही उद्योग होता है अथवा परस्पर मिलते-जुलते कई उद्योग भी हो सकते हैं। (vi) कार्टेलों के निर्माण का केन्द्रीय उद्देश्य उत्पादकों की स्वतन्त्रता पर रोक लगाना है। (vii) भाग लेने वाली फर्मों के मध्य कोई औपचारिक या लिखित ठहराव होना आवश्यक नहीं है, वरन् वह आपसी व्यवहार से ध्वनित (implied) भी हो सकता है। (viii) कार्टेल-सम्बन्ध सदस्यों के लिए लाभदायक होते हैं, अन्यथा वह इनमें क्यों प्रवेश करने लगे? (ix) यद्यपि कार्टेल सम्बन्धी ठहराव नवकरण (renewal) द्वारा एक दीर्घ अवधि तक जारी रखा जा सकता है तथापि व्यवहार में वह 'अस्थाई' ही प्रमाणित हुआ है, क्योंकि सदस्यगण ठहराव का नवकरण करने में सकोच करते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल वैधानिक रूप से स्वतन्त्र प्राइवेट उपक्रमियों का, जो कि एक से अधिक देश में एक ही या मिलते-जुलते उद्योगों में सलग्न हैं, एक ऐच्छिक, अस्थाई और अनौपचारिक संघ है जिसका उद्देश्य प्रतिस्पर्धा को सीमित करना है ताकि सदस्य-इकाइयों को साधारण की अपेक्षा अधिक लाभ हो।

कार्टेल-संचालन के उद्देश्य एवं ढंग—

सभी कार्टेलों का उद्देश्य लाभों को अधिकतम् करना है और इस उद्देश्य की प्राप्ति निम्नलिखित चार ढंगों में की जा सकती है —

(१) **प्रत्यक्ष कीमत निर्धारण ठहराव**—कार्टेल के सदस्य उस स्तर से ऊँची ही कीमत नियत करने का यत्न करते हैं जोकि प्रतियोगिता की परिस्थिति में प्रचलित होती है। इस लक्ष्य की पूर्ति का एक तरीका यह है कि वे आपस में कीमत-निर्धारण का ठहराव करें। किन्तु इसके पूर्व कार्टेल-सदस्य कीमत-युद्ध के द्वारा अ-सदस्यों (non-members) को डराने का प्रयत्न करते हैं। जैसे ही यह बात पूरी हुई कि कीमतें फिर एक ऊँचे स्तर पर निर्धारित कर दी जाती है और सदस्यों से यह आग्रह किया जाता है कि वे इनका कठोरतापूर्वक अनुसरण करें।

(२) **किस्म का ह्रास**—प्रायः कार्टेल यह अधिक पसन्द करते हैं कि किस्म में कमी करदी जाय और इस प्रकार लाभ बनाये रखा जाय। असन्तुष्ट क्रेताओं के सामने अन्यत्र खरीदने का विकल्प नहीं होता, जिससे वे घटिया वस्तु पहली जितनी कीमत पर या इससे अधिक कीमत पर खरीदने के लिए विवश रहते हैं।

(३) **प्रतिबन्धित पूर्ति**—कुछ कार्टेल पूर्ति पर इसलिए नियन्त्रण करते हैं जिससे कि इनके कारण सम्भव हुई ऊँची कीमतें उन्हें अधिक लाभ अर्जित करा सकें।

(४) व्यापार क्षेत्र का विभाजन—उपरोक्त तीनों कार्टेल-उपाय (cartel measures) तब तक सफल नहीं होंगे जब तक कि सदस्यों में व्यापार-क्षेत्रों का विभाजन पहले से ही निश्चित नहीं कर लिया जाता। प्रायः सदस्य यह वायदा करते हैं कि वे एक दूसरे के क्षेत्र में अपनी उत्पत्ति नहीं बेचेंगे। इस उपाय के द्वारा कार्टेल एक सार्वभौमिक शक्ति प्राप्त कर लेता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समझौते—

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स से निकट रूप में सम्बन्धित 'अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समझौते', भी होते हैं जो कि प्रायः निर्यात के लिए उत्पन्न की जाने वाली कृषि वस्तुओं के सम्बन्ध में सम्पन्न किए जाते हैं। चूंकि कृषि पर जलवायु की विषमताओं का गहरा प्रभाव पड़ता है इसलिए कृषि वस्तुओं के उत्पादन में समय-समय पर घटा बढ़ी के चक्र उत्पन्न होते रहते है। अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समझौतों (International Commodity Agreements) का उद्देश्य इन प्रवृत्तियों पर यथा सम्भव अंकुश रखना है। इनमें प्रायः वही देश सदस्य बनते हैं जो कि कृषि वस्तुओं के प्रमुख उत्पादक या प्रमुख उपभोक्ता होते हैं।

कार्टेल और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—

अनेक अर्थशास्त्रियों का, जो कि कार्टेलों का विरोध करते है, यह तर्क है कि चूंकि कार्टेल्स एक एकाधिकारी के रूप में कार्य करते हैं इसलिये वे एकाधिकार सम्बन्धी अपव्ययों (जैसे ऊँची कीमत, कम उत्पादन, घटिया किस्म, एवं असाधारण लाभ) को जन्म देते हैं। यही नहीं, वे स्वतन्त्र व्यापार को भी सीमित करते है तथा अधीन क्षेत्रों में वहां के उत्पादकों का शोषण करते हैं। वे नये पेटेन्टों को दबा देते हैं तथा प्रतियोगिता की प्रक्रिया में बाधा डाल कर अकुशलता को बढ़ावा देते हैं। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों पर कोई ऐसा निष्पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण नहीं रखा जाता है जिससे कि उपभोक्ताओं के व्यापक हितों की रक्षा हो सके। इस प्रकार, उक्त अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि देश को सब हानि सहकर भी कार्टेलों से बचना चाहिए।

किन्तु ऐसे भी अर्थशास्त्री हैं जो इससे भिन्न मत रखते हैं। उदाहरण के लिये, प्रो० शुम्पीटर (Scumpeter) ने कहा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स, जोकि व्यक्तिगत दशा में तथा व्यक्तिगत दृष्टिकोण से इतने अधिक प्रतिबन्धात्मक प्रतीत होते हैं, वास्तव में प्रगति के मार्ग पर चलाने वाले इंजिन हैं तथा दीर्घकाल में कुल उत्पत्ति का विस्तार करते हैं। मंदी के दिनों में कार्टेल जैसे प्रतिबन्ध बहुत ही प्रभावशाली उपचार का कार्य करते है। अन्ततः वे उत्पादन को न केवल नियमित बनाते है, वरन् कुल उत्पादन में वृद्धि भी करते हैं।"

प्रो० शुम्पीटर के उक्त समर्थन पर भी यह स्वीकार करना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों का विश्व का जनमत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के हितों के विरुद्ध समझता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में जो कार्टेल दो महायुद्धों के बीच की अवधि में

स्थापित हो गये थे। उन्होंने स्वतन्त्र विश्व व्यापार के सन्तुलित विकास में बाधा डाली, अकुशल और ऊँची लागत वाले उत्पादकों की रक्षा की (जबकि इस रक्षा का भार कुशल उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं को उठाना पड़ा), औसत दीर्घकालीन उत्पादन लागत को ऊँचे स्तर पर बनाये रखा, सम्भाव्य उपभोग (potential consumption) को वास्तविक उपभोग (actual consumption) में परिणत होने से रोका गया तथा सन्तुलित विश्व व्यापार के विकास के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की उपेक्षा की गई। अतः एक विकासोन्मुख अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के व्यापक हितों की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न देशों की सरकार इन कार्टेलों के कार्यकलापों पर कड़ी निगरानी रखें।

टैरिफ हटवाने में कार्टेल्स का योगदान—

फ्रांसिसी लेखकों का यह मत था कि उद्योग की अधिक से अधिक शाखाओं में एक प्रभावशाली कार्टेल की स्थापना करनी चाहिए, जिसे उत्पत्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण प्राप्त हो अर्थात् जो स्वतन्त्र प्रतियोगिता को खत्म कर सके। ऐसे कार्टेलों की स्थापना टैरिफ में सामान्य कमी लाने की दृष्टि से अनिवार्य है। यह उल्लेखनीय है कि फ्रांस एक ऐसा देश है जिसने समूहवाद की दिशा में सबसे कम प्रगति की है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह कार्टेलों की स्थापना का सबसे कट्टर समर्थक रहा। इसके विपरीत, जर्मनी ने, जो कि कार्टेल्स का मातृ-देश है तथा जिसने सभी अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों में महत्वपूर्ण भाग लिया है, उक्त फ्रांसिसी विचारधारा[1] का समर्थन नहीं किया। अन्य शब्दों में, जर्मनी को यह विश्वास नहीं था कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों की स्थापना टैरिफ हटवाने या कम कराने में सहायक होगी। सच तो यह है कि फ्रांसिसी विचारधारा का, इङ्गलैंड, हालैंड स्केन्डिनेवियाई देशों तथा जर्मनी के प्रतिनिधियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में कड़ा विरोध किया जाता रहा है और इसके लिए निःसन्देह उचित आधार भी थे।

(१) विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों का क्षेत्र, महत्त्व एवं विश्व व्यापार में इनका हिस्सा—लीफमैन (Liefmann) के अनुसार २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कार्टेलों की संख्या ४० थी। Wagenführ के अनुसार महायुद्ध के बाद की अवधि

[1] 'The only way to solve the European economic problem seemed to be to organise the European industries upon the horizontal method that is, by branches of industry Only in this way can be begin to make the important adaptation which are necessary and the international cartels will also in part solve the question of reducing tariffs "—Loucheur, the French Industrialist and politician in a speech before the World Econom c Conference at Geneva in 1927, *quoted by Prof Haberler in his book The Theory of International Trade,'* p 328

मे इनकी सख्या ३२० थी, जिसमे से २३० औद्योगिक कार्टेल थे। विश्व मन्दी ने इनकी सख्या को घटा दिया किन्तु सख्या मे भी अधिक इनके महत्त्व को कम किया। वास्तविकता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलो का महत्त्व इनकी सख्या मे नही, वरन् इनके कार्य एव गुण से ही जाना जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि उद्योग की विभिन्न शाखाओ के कार्टेलीकरण की उपयुक्तता के सम्बन्ध मे आर्थिक लेखको ने जो विचार प्रकट किये है वे अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स को भी लागू होते है किन्तु इनमे भाग लेने वाले देशो की सख्या जितनी अधिक होती है उत्पत्ति-शाखाओ के कार्टेलीकरण मे बाधायें उसमे भी कहीं अधिक अनुपात मे प्रस्तुत होती है। एक देश के उत्पादको की अपेक्षा विभिन्न देशो के उत्पादकों को सङ्गठित करना कही कठिन कार्य है। इसके अतिरिक्त, यह कठिनाई भी है कि राष्ट्रीय कार्टेल्स, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलो के अपरिहार्य अग्रणी है, विभिन्न देशो मे समान रूप से विकसित नही होते और न सब देश ही अन्तर्राष्ट्रीय ठहराव मे समान रुचि के साथ भाग लेने को तत्पर होते हैं। अत अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल बनने की सम्भावना एव वह अवधि, जिसमे इसका अस्तित्व रह सकेगा, इस बात पर निर्भर है कि इनकी शृंखला (chain) मे कौन-सा देश सबसे कमजोर है। उदाहरणार्थ, उद्योग का कार्टेलीकरण अन्य देशो की अपेक्षा इङ्गलैंड मे कम विकसित हुआ जिससे वह अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलो मे सदस्य नही बना और यह तथ्य भी उनकी शक्ति के बहुत सीमित होने का कारण है। साथ ही, कई अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स केवल इस सम्भावना के कारण नही बन सके कि इङ्गलैंड उनमे सम्मिलित नही होगा।

कार्टेल अपने कीमत बढाने के उद्देश्य मे [ध्यान रहे कि यहा 'कीमत' शब्द एक विस्तृत अर्थ रखता है और इसके अन्तर्गत भुगतान की शर्ते भी सम्मिलित हैं] तब ही सफल हो सकता है जबकि वह उत्पादन पर कुछ सीमा तक नियन्त्रण रखे और उत्पादन पर नियन्त्रण रखना तब ही सम्भव है जबकि उत्पत्ति की मात्रा विभिन्न उत्पादको मे बहुत व्यापक रूप मे बिखरी हुई न हो। अत इस दृष्टि से कृषि का कार्टेलीकरण असम्भव है। यही नही, वह उद्योग भी, जिनमे अधिकाश उत्पत्ति छोटी-छोटी या मध्यम फर्मो द्वारा की जाती है कार्टेलीकरण के लिए अनुपयुक्त है। ऐसे उद्योग प्राय वे हैं जिनमे कि व्यक्तिगत कारीगरी, रुचि, डिजायन या फैशन का बहुत महत्त्व होता है। उद्योगो के निम्नलिखित वर्ग अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर कार्टेलीकरण की दृष्टि से सबसे अधिक उपयुक्त हैं—

(१) कच्चे मालो पर घनिष्ठ निर्भरता वाले उद्योग, जिनमे कच्चे माल की पूर्तियो पर कडे नियत्रण द्वारा बाहरी लोगों के प्रवेश को रोका जा सकता है। इस वर्ग मे कच्चे मालो के (कृषि एव खनिज) एकाधिकार आते हैं। जस्ते का अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल ही ऐसा है जो कि एक ऐसे कच्चे माल से सम्बन्धित है जिस पर कि अधिकाश देशो ने टैरिफ

लगाया हुआ था। अतः इसके अतिरिक्त अन्य सब कार्टेलो का टैरिफ नीति की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। जो थोड़ा महत्त्व है वह इस लिये है कि वे उपभोक्ताओं का शोषण करते हैं।

(ii) किन्तु पेटेन्टों का शोषण करने वाले कार्टेल बहुत महत्त्व रखते है। ये कार्टेल्स इलैक्ट्रिकल एवं कैमीकल उद्योगों में महत्त्वपूर्ण हिस्सा रखते है जैसे—Lamp Cartel and Ball bearings Cartel आदि।

(iii) सबसे अधिक महत्त्व के कार्टेल उन उद्योगो मे पाये जाते है, जिनमे वृहत उपक्रम के लाभ बहुत महान् है और इसलिए जिनमे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति सबसे अधिक पाई जाती है। अनुकूलतम् आकार की संस्था स्थापित करने के लिए जितनी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता है उतनी पूँजी लगाने में नये प्रवेशक संकोच या असमर्थता अनुभव करते है। लौह एवं स्पात उद्योग की गणना ऐसे ही उद्योगों में की जा सकती है। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों के माध्यम से टैरिफ हटाने की चर्चा करते है वे इसी उद्योग के अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलो को नमूने के रूप में प्रस्तुत करते है।

अतः स्पष्ट है कि चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों का विश्व व्यापार में एक अल्प हिस्सा होता है तथा उनमें पर्याप्त एकता (cohesion) भी नहीं है इसलिए टैरिफ को हटवाने या कम कराने में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण नहीं है।[1] यदि हम विभिन्न फर्मों को अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों में सम्मिलित होने के लिये विवश करने हेतु सरकार के शक्तिशाली हस्तक्षेप का प्रयोग नहीं करना चाहते[2] तो यह स्वीकार करना होगा

---

1 Those who hope to reduce tariffs through international cartels produce the international cartels of this (iron and steel) indus try as their show piece Nevertheless, cartels cover too small a sector of world trade and have nothing like sufficient cohesion to do much in this direction"—**Haberler** : *The Theoy of International Trade*, p 330 33

2 'The experts expressly point out that the establisment of international industrial cartels should not be brought about artificially by measures of compulsion It is much better to let them arise from the free initiative of the participating groups as a result of the prevailing economic circumstances. Both the foundation and the actions of the cartels should be quite free from the influence of Governments which may use them to promote their own aims in the sphere of trade policy " —*Report of the Economic Experts of the Europe-Commission of the League of Nations*

कि परिमाणात्मक कारणो से विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स टैरिफ दीवारो को गिराने के उपयुक्त साधन नही है।

(२) अधिकाश विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलो का अस्तित्व टैरिफ के कारण ही है। अत वे कठिनाई से ही टैरिफो को नष्ट करने के 'साधन' बनाये जा सकेंगे। जब तक कि सम्बन्धित उद्योग प्रत्येक भाग लेने वाले देश मे समान रूप से बलवान् नही है तब तक दुर्बल राष्ट्रीय समूह अपने टैरिफ सरक्षण को न तो छोडेंगे और न छोड ही सकते हैं। यही नहीं तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलो के सदस्य आपस मे ढीले ढाले ठहरावो द्वारा बंधे होते हैं तथा कोटा और विक्रय क्षेत्रो का विभाजन भी केवल एक अल्प समयावधि के लिए होता है। इस सम्बन्ध मे 'खण्डन-मण्डन' सम्बन्धी वार्तालाप निरन्तर चलते रहते है और कभी पूर्णता को नही पहुँच पाते है। इन वार्ताओ मे जिनमे प्रत्येक सदस्य देश दूसरो से अपने सहयोग के मूल्य के रूप मे अधिक से अधिक लाभदायक शर्तें प्राप्त करना चाहता है, दबाव डालने का सबसे शक्तिशाली उपाय विद्यमान टैरिफ ही (विशेषत इन्हे बढाने की सम्भावना) हैं। जब ऐसा है तो अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलो के दुर्बल सदस्य कभी भी अपने वास्तविक या सम्भाव्य टैरिफ सरक्षण को छोडने के लिए इच्छापूर्वक तैयार न होंगे।[1]

(३) अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक कार्टेल्स टैरिफ के कम कराने में तब ही सहायक हो सकते हैं जबकि वे स्वय टैरिफ के स्थानापन्न का काम करें, जिससे कि 'टैरिफ के सरक्षण' का स्थान 'कार्टेलो का सरक्षण' ले सके। अत यहाँ प्रश्न उठता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल किस प्रकार से टैरिफ सरक्षण पर उद्योगो की निर्भरता को दूर कर सकते है। यह तरीका स्पष्ट है और इस प्रकार है—उन्हे अपने दुर्बल सदस्यो को यह आश्वासन देना होगा कि वे विद्यमान टैरिफ के अधीन जिस सापेक्षिक स्थिति मे थे वही स्थिति भविष्य मे भी बनी रहेगी। यह प्रवृत्ति बाजारो को बाटने के अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलो के सम्बन्ध मे स्पष्टता से दृष्टिगोचर होती है और सच तो यह है कि अधिकाश कार्टेल होते भी इसी प्रकार के हैं। यदि कार्टेल-ठहराव द्वारा सदस्य देशो के मध्य बाजारो का विभाजन स्वतन्त्र व्यापार वाली दशा के विभाजन के ही समान है तो टैरिफ और ठहराव दोनो ही अनावश्यक (superfluous) हैं तथा टैरिफ के हटाने या न हटाने से कोई अन्तर नही पडता। किन्तु, यदि विभाजन एक भिन्न प्रकार का है तो इसका प्रभाव टैरिफ के ही समान है। अर्थात् वह एक

1 "It cannot be too strongly emphasised that in these struggles, in which each member country tries to get better terms from the others as the price of its adherence the strongest means of exerting pressure is the existing tariffs and in particular, the possibility of raising them"—*Ibid*, p 331

विवेकरहित परिस्थिति को बनाए रखता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को अधिक कठिन बनाता है या रोकता है।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल अन्य दिशाओ मे भी लाभदायक हो सकते है। उदाहरणार्थ, वे ज्ञान के सचय मे अपव्यय को रोकने मे (जैसे कि प्रतियोगी विज्ञापन व्ययो को घटाने मे) सहायता कर सकते है। वे एक अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर गठित की गई अर्थव्यवस्था के अग्रणी कहलाने का श्रेय प्राप्त कर सकते हैं। वे आर्थिक सङ्कटो की उग्रता को कम करने मे भी सहायक हो सकते है। किन्तु वे टैरिफ को कम कराने तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के लाभ हानि रहित ढग मे उपलब्ध कराने के एक साधन के रूप मे कदापि उपयुक्त नही है। किन्तु स्मरण रहे कि यदि हम समायोजन की कठिनाइयो से घबराते है तो फिर हमे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के लाभो का आनन्द उठाने की इच्छा भी नही रखनी चाहिए। हितो का सघर्ष वास्तव मे इतना प्रबल है कि इस बात की आशा नही की जा सकती कि विभिन्न पक्ष स्वेच्छापूर्वक एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल मे, टैरिफ सरक्षण के परित्याग हेतु तथा अपने ही भण्डे के नीचे ऐसे सब समायोजन करने के लिए जो कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के लाभ पूर्णरूपेण प्राप्त करने हेतु आवश्यक है, सम्मिलित हो जायेंगे।

कुछ विद्वानो का विचार है कि यदि सरकार आर्थिक सहायता आदि के रूप मे नियोजित रूप से हस्तक्षेप (planned intervention) करे तो टैरिफ के कम करने पर जो समायोजन आवश्यक होगे उन्हे करने मे सुविधा हो सकती है। किन्तु हैबरलर के मतानुसार इसका सबसे सरल उपाय यह है कि सभी टैरिफो मे सामान्य रूप से कटौती कराने की दिशा मे कदम उठाये जायें।

परीक्षा प्रश्न

१ राशिपातन क्या है? इसके विभिन्न रूप कौन कौन से है? राशिपातन

---

[1] 'If they agree upon the same division despite the tariffs, as that which would prevail under Free Trade, both the tariffs and the agreements are superfluous and the removal of tariffs makes no difference in this respect But if the division is different from this, then its effect is similar to that of tariffs it maintains an irrational situation and makes more difficult or prevents an international division of labour "—*Ibid* p 332

विरोधी सन्नियम बनाने में जो कठिनाइयाँ सामने आती हैं। उनका उल्लेख कीजिये।

[What is dumping ? What are its various forms ? Mention the difficulties inherent in the framing of anti-dumping legislation]

२ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में राशिपतन के उद्देश्यों एवं ढंगों को समझाइये और इसका सामना करने हेतु अपनाये गये उपायों का विवेचन कीजिये। ये उपाय कहा तक सफल हुए है ?

[Explain the objects and methods of dumping in the international trade and state the measures, which have been adopted to combat it To what extent have these measures been successful ?] (विक्रम०, एम० ए०, १९६६)

३ राशिपतन के स्वभाव एव इसके विभिन्न भेदों का विवेचन कीजिये और दोनों आयातकर्त्ता एव निर्यातकर्त्ता देशों की दृष्टि से राशिपतन का प्रभाव स्पष्ट करिये।

[Discuss the nature and forms of dumping and explain the effect of dumping both on exporting and importing countries]

४ "विनिमय राशिपतन" को समझाइये। इसके नियन्त्रण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर क्या व्यवस्था है और यह कैसे कार्य करती है ?

[Explain "exchange dumping" What is the international machinery for its control and how does it function ?]

५ 'टैरिफ ट्रस्टों के जनक हैं"। इस कथन का विवेचन करिये। कच्चे मालों के अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार किस सीमा तक सफल हो सकते है ?

['The tariff is the Mother of Trusts;" Discuss. How far can the International Monopolies of Raw Materials be a success ?]

६. अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों के उद्देश्यों एव ढङ्गों का विवेचन कीजिये। किस सीमा तक वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वतन्त्र प्रवाह में बाधा डालते हैं ?

[Describe the aims and methods of international cartels To what extent, if at all, do they hamper the free flow of international trade ?]

३१

व्यापारिक संधियाँ

(Commercial Treaties)

परिचय—'व्यापारिक सन्धियों' से आशय

प्रायः व्यापारिक सन्धियाँ अनेक विषयों पर विस्तृत होती हैं, जैसे—वाणिज्य दूतों के अधिकार एव उनकी योग्यतायें, विदेशी फर्मों की स्थापना और विदेशी व्यापारिक एजेन्टों का पद, विदेशियो और उनकी सम्पत्तियो के लिये कानूनी एव पुलिस सरक्षण, कानूनी निर्णयो का कार्यान्वयन, पेटेन्टस, ट्रेडमार्क्स, कापीराइट आदि की रक्षा, कस्टम सम्बन्धी औपचारिकतायें, आयात कर एव अन्य कर, स्वदेश के बन्दरगाहो मे विदेशी जहाजो का आगमन तथा उनके अधिकार, रेलों की भाडा दर सम्बन्धी नीति, आदि। इन सब विषयो को चार वर्गों मे बाँटा जा सकता है —(i) वाणिज्य दूत सम्बन्धी विषय, (ii) विदेशियों के अधिकार सम्बन्धी विषय, (iii) यातायात सम्बन्धी विषय, एवं (iv) प्रशुल्क एव व्यापार सम्बन्धी विषय। आर्थिक विकास के साथ ही साथ देशो के पारस्परिक आर्थिक सम्बन्धो मे भी जटिलता बढती जा रही है और अब अनेक उक्त विषयो को विशेष ठहरावो के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाने लगा है। वर्तमान प्रवृति के अनुसार, 'व्यापारिक सन्धियाँ' वाक्याश केवल प्रशुल्क सम्बन्धी प्रश्नो पर हुये देशो के पारस्परिक ठहरावो के लिये प्रयोग किया जाता है।[1]

---

[1] "Commercial treaties may cover a very wide range of subjects ....we may group all these subjects under the four heads of (a) consular matters, (b) rights of foreigners, (c) transport questions; and (d) tariff and trade questions In the course of development, the economic relations between states have become more and more complex, and it has, therefore, become usual to regulate certain matters by special agreements A tendency has also come about to reserve the expression 'Commercial treaties' for agreement on tariff questions".

—Haberler : *The Theory of International Trade*, p 36.

व्यापारिक संधियों के रूप
(Forms of Commercial Treaties)

व्यापारिक संधियों के दो रूप मुख्य हैं—द्विपक्षी संधियाँ (दो देशों के मध्य) एवं बहुपक्षी संधियाँ (दो से अधिक देशों के मध्य)। बहुपक्षी संधियों (multilateral treaties) को 'सामूहिक ठहराव' या 'अन्तर्राष्ट्रीय समझौते' (International Conventions) भी कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का एक सफल और स्पष्ट उदाहरण १९०२ का ब्रुसेल्स-चीनी-समझौता (Brussels Sugar Convention) है। आधुनिक काल में गैट' समझौता भी इसी श्रेणी में आता है। उल्लेखनीय है कि संधियों की एक सम्पूर्ण श्रृंखला जिनमें से प्रत्येक औपचारिक रूप से द्विपक्षी है, सामूहिक विचार विनिमय एवं निर्णयों का भी परिणाम हो सकती है। यदि ऐसा है, तो उनकी विषय-सामग्री भी लगभग समान होगी।

व्यापारिक संधियाँ लागू करने के ढङ्ग

व्यापारिक संधियों के अन्तर्गत जिस प्रकार के विशेष सम्बन्ध को बनाये रखने की बात है उसकी पूर्ति देशों द्वारा दो प्रकार के तरीकों से की जा सकती है—प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष। 'प्रत्यक्ष विधि' इस प्रकार है—कोई देश इस बात पर राजी हो सकता है कि एक विदेशी देश के वाणिज्य दूत के अमुक-अमुक अधिकार और कर्त्तव्य होंगे अथवा एक विदेशी फर्म का स्थापित होने के लिए अमुक-अमुक शर्तें पूरी करनी पड़ेगी अथवा, विदेशी देश से आने वाले अमुक-अमुक माल पर अमुक-अमुक राशि का आयात-कर लगाया जायेगा। 'अप्रत्यक्ष विधि' के अन्तर्गत एक ऐसा मापक (measure or yardstick) निर्धारित कर दिया जाता है जिसके अनुसार दूसरे देश के साथ किये जाने वाले व्यवहार को नियमित रखा जा सके। ऐसे तीन उपाय सम्भव है और इनमें से प्रत्येक के लिये एक उपयुक्त संधि-वाक्य होता है जैसे—'समता वाक्य' (The Parity Clause), 'आदान प्रदान वाक्य' (The Reciprocity Clause), एवं 'परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य' (The Most Favoured Nation Clause)। (१) **समता वाक्य**' के अन्तर्गत एक देश दूसरे देश के नागरिकों और वस्तुओं के साथ वैसा ही व्यवहार (इससे खराब नहीं) करता है जैसा कि वह अपने ही नागरिकों के साथ करे। (२) **'आदान प्रदान वाक्य'** के अधीन, एक देश दूसरे देश के राष्ट्रजनों और वस्तुओं के साथ वैसा ही (कम से कम इससे खराब नहीं) व्यवहार करता है जैसा कि दूसरे देश द्वारा पहले देश के राष्ट्रजनों के प्रति किया जाय। (३) **'परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य'** के अधीन एक देश का दूसरे देश के नागरिकों के साथ व्यवहार उससे खराब नहीं होना चाहिए जोकि वह किसी अन्य देश के नागरिकों के साथ कर रहा है।

सकुचित अर्थ मे व्यापारिक सधियो के भेद

[विशुद्ध परमानुग्रहित राष्ट्र सधियाँ एव टैरिफ सधियाँ]

व्यापारिक सधियो को दो वर्गों म बाट सकते है—(I) 'विशुद्ध परमानुग्रहित राष्ट्र सधियाँ' (Pure M F N Treaties) एव (II) 'टैरिफ सधियाँ' (Tariff Treaties)। विशुद्ध परमानुग्रहित राष्ट्र सधियो' के अन्तर्गत एक देश अपने आपको इस बन्धन मे जकडता है कि वह दूसरे देश से आने वाली वस्तुओ पर उससे ऊँची ड्यूटियाँ नही लगायेगा, जोकि वह किसी तीसरी देश से आने वाली वस्तुओं पर लगा रहा है। इस प्रकार, आयात-करो की राशि देश के प्रभुसत्तामय (autonomous) निणय पर निर्भर होती है। इसके विपरीत, टैरिफ सधियो के अन्तर्गत विशेष टैरिफो मे सम्बन्धित पूर्ण विवरण (प्रत्येक कर की राशि सहित) स्पष्ट कर दिया जाता ह। [किन्तु स्मरण रह कि टैरिफ सधियों मे भी प्राय एक परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य सम्मिलित हो सकता है।]

परमानुग्रहित राष्ट्र व्यवहार
(Most Favoured Nation's Treatment)

परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य का अर्थ—

अधिकाश व्यापारिक सधियो मे एक महत्त्वपूर्ण वाक्य अवश्य रहता है जोकि 'परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य' (Most Favoured Nation Clause) के नाम से विख्यात हो गया है। इसका उद्देश्य किसी राष्ट्र को एक परमानुग्रहित स्थिति प्रदान करना नहीं है, वरन् अनुबन्ध के प्रत्येक पक्ष को किन्ही अन्य पक्षो के समान अनुग्रह-पूर्ण व्यवहार करने का आश्वासन देना है। जब अनुबन्ध करने वाले पक्षो की सख्या विशाल होती है तो M F N Clause एक 'समान रूप से अनुग्रहित राष्ट्र वाक्य' (Equally Favoured Nation Clause) का रूप धारण कर लेता है। यदि यह वाक्य X और Y दो देशो के मध्य हुई किसी सन्धि मे सम्मिलित है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि X देश Y देश के राष्ट्रजनो और उसकी वस्तुओ के साथ एक ऐसा व्यवहार करने का वचन देता है जो कि किन्हो अन्य देशो के राष्ट्रजनों और वस्तुओ के प्रति किए जाने वाले व्यवहार से खराब नही होगा। ऐसा ही वचन Y देश भी X देश को देता है। इस प्रकार, परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य सब प्रकार के व्यापारिक भेद-भाव और पक्षपातपूर्ण व्यवहार को खत्म कराने का प्रयत्न करता है और इसलिये, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो को अधिक उदार ढङ्ग से सचालित कराता है।

परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य का वर्गीकरण—

परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य विभिन्न प्रकार के होते है। किन्तु इन्हे तीन विभिन्न ढङ्गो से वर्गित किया जा सकता है—(I) शर्तयुक्त एव शर्त रहित परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य; (II) एक पक्षीय एव द्विपक्षीय परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य, एव (III) सीमित एव असीमित परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य।

(I) **शर्तयुक्त एवं शर्तरहित परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य**—शर्तयुक्त परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य (Conditional M F N Clause) के आधीन अनुबन्ध का कोई भी पक्ष दूसरे पक्ष के प्रति वह अनुग्रहित या रियायती व्यवहार करने का वचन देता है जो कि उसने किसी तीसरे पक्ष के साथ पहले ही कर दिया हो, किन्तु इसके साथ ही यह शर्त भी होती है कि दूसरा पक्ष भी पहले पक्ष को वह रियायत दे जोकि उसने अपनी ओर से, किसी तीसरे पक्ष को दे रखी हो। इसके विपरीत, 'शर्त रहित परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य' (Unconditional M F N Clause) के अन्तर्गत यदि अनुबन्ध के एक पक्ष ने किसी तीसरे पक्ष को कोई सुविधा दे रखी हो, तो वह अनुबन्ध के दूसरे पक्ष को तत्काल ही, स्वत और बिना क्षतिपूर्ति के, प्राप्त हो जाती है।[1] उदाहरणार्थ, यदि X और Y के बीच हुई सन्धि मे एक शर्त रहित परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य सम्मिलित है, तो ड्यूटीज मे कोई भी घटौती जो कि, X द्वारा Z के पक्ष मे की गई हो, Y को भी तत्काल ही लागू होने लगती है, चाहे Y वे सुविधायें X को न दे जो कि Z ने X को दी हैं। इस प्रकार के ठहराव पश्चिमी देशो मे बहुत लोकप्रिय रहे हैं।

शर्त रहित परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य के दोष—शर्त रहित M F N. Clause की आलोचना निम्न आधारो पर की गई है—(१) यह नई सन्धियो की सम्भावनाओं को समाप्त अथवा कम करता है। अन्य शब्दो मे, नई सन्धियाँ या तो की नही जाती है अथवा कुछ सीमित रियायतो का ही विनिमय किया जाता है। (२) इसके अतिरिक्त सन्धि के नियमो या प्रावधानो (provisions) की रचना द्वारा चतुराई से की जा सकती है, कि M F N. Clause लागू न हो सके। (३) यही नही, देश अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो मे भाग लेने से हिचकिचाते है, क्योंकि भाग न लेने वाले देश भी, कोई रियायत बदले म दिये बिना ही, अपने अधिकार के रूप मे रियायतें पाने का दावा प्रस्तुत कर देते है। शर्त रहित परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य के आलोचको का कहना है कि 'शर्त युक्त' परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य टैरिफ की समानता का तो नही किन्तु 'अवसर की समानता' (equality of opportunity) का वचन अवश्य देता है।

शर्तयुक्त परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य के दोष—शर्त रहित परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य के समर्थको का यह कहना है कि शर्तयुक्त परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य तो परमानुग्रहित राष्ट्र व्यवहार के उद्देश्य पर ही पानी फेरने वाला है। कारण—प्रथमत,

---

1 "Under the Most Favoured Nation Clause, therefore, every reduction in duties which one State grants to another is immediately extended to all those States which stand in a Most Favoured Nation position towards the first one The M F N Clause thereby establishes a nexus between all the commercial treaties of a country"—Haberler : *The Theory of International Trade*, p 364.

समान रियायत' (equal concession) क्या है इसकी परिभाषा करना कठिन है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि X और Y के मध्य एक परमानुग्रहित राष्ट्र ठहराव है। X एक अन्य देश Z से आने वाले गेहूँ पर आयात कर घटा देता है जबकि Z कपडे पर, जिसे वह X से मँगाता है, आयात कर में कमी कर देता है। अब Y भी X को गेहूँ भेज रहा है किन्तु वह X से खिलौने (न कि कपड़ा) मँगाता है। ऐसी परिस्थिति में, खिलौनों पर ड्यूटी में कितनी कमी करने को कपडे पर ड्यूटी में की गई कमी के बराबर समझा जाय ? इस विषय में निर्णय पक्षों की स्वतन्त्र इच्छा से न होकर राजनैतिक एवं आर्थिक शक्ति द्वारा होता है। अतः शर्तयुक्त परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य को न्याय-दृष्टि से, एक अवैध सन्धि या अन्य पक्षों के साथ वार्ता में प्रवेश के लिए बल का प्रयोग समझना चाहिए। व्यवहार में शर्त रहित परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य का अर्थ परमानुग्रहित राष्ट्र जैसा व्यवहार करने से इन्कार करने के ही बराबर है।[1] दूसरे, शर्तयुक्त परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य भेदात्मक व्यवहार की सम्भावना को बिल्कुल ही खत्म नहीं करता है। तीसरे, यह उन देशों के लिए न्यायपूर्ण नहीं है जिन्होंने थोडी ही ड्यूटी लगा रखी है या इनी-गिनी ड्यूटियाँ लगा रखी हैं। चूँकि वे अल्प रियायत ही दे सकते है, इसलिए परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य से वे अधिक लाभान्वित नहीं हो सकते।[2] चौथे परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य व्यापार को सुगम नहीं बनाता, अर्थात्, आर्थिक संघर्षों को खत्म नहीं करता है।

(II) एक पक्षीय एवं बहु पक्षीय परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य—सामान्यतः परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य का सचालन द्विपक्षीय होता है। अन्य शब्दों में, यह अनुबन्ध करने वाले दोनों ही पक्षों को लागू होता है। कभी-कभी, जैसे कि युद्धकाल में, इसे इकतरफा सचालित किया जाता है। उदाहरणार्थ, वार्साँ सन्धि एक पक्षीय या इकतरफा ((unilateral) थी, क्योंकि इसके द्वारा जर्मनी ने अपने ऊपर यह जिम्मेदारी

---

1 "Hence the conditional most Favoured Nation Clause is to be regarded, from a jusistic stand point, only as a 'pactum de contrahendo', as an obligation to enter into negotiations with the other contracting party In practice the conditional Most Favoured Nation Clause means a little more than a refusal to grant Most Favoured Nation treatment at all"—**Haberler :** *The Theory of Inte national Trade*, p 365

2 "The Free Trade countries especially must have found it unfair to be treated worse, because they had nothing to offer as a reciprocal concession by the United States than the Protectist countries which continued to place great obstacles in the way of American exports even after they had some relatively small reductions in their duties upon American goods

—*Ibid*, p 366.

ली थी कि वह मित्र राष्ट्रों के साथ ५ वर्ष की अवधि तक परमानुग्रहित राष्ट्र जैसा व्यवहार करता रहेगा किन्तु इसके बदले म मित्र राष्ट्रों ने कोई जिम्मेदारी नहो ली थी।

(III) प्रतिबन्धित एव स्वतन्त्र परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य—परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य उस दशा म 'प्रतिबन्धित' (restrictive) कहलाता है जबकि यह कुछ विषयों को कुछ वस्तुओं अथवा देशो को ही लागू होता है। किन्तु जब यह सब विषयों को, सब वस्तुओं अथवा सब देशो को लागू होता है, तब वह अप्रतिबन्धित या स्वतन्त्र' (unrestricted) कहलाता है।

परमानुग्रहित राष्ट्र व्यवहार तब ही प्रभावपूर्ण हो सकता है जबकि यह अप्रतिबन्धित और शर्त रहित हो। एक शर्त रहित और प्रतिबन्धहीन परमानुग्रहित राष्ट्र व्यवहार से स्वतन्त्र व्यवहार को पुनर्जीवित करने और टैरिफ व्यवस्थाओं को सुगम बनाने मे बड़ी सहायता मिलती है।

परमानुग्रहित राष्ट्र व्यवहार के अपवाद—

किन्तु परमानुग्रहित राष्ट्र व्यवहार के कुछ अपवाद भी रखे जा सकते है। सामान्यत दो प्रकार के अपवाद ऐसे किसी भी ठहराव मे ध्वनित माने जाते है। ये अपवाद निम्नलिखित हैं —

(१) **निताम्त स्थानीय स्वभाव का सीमान्त व्यवहार**—यह अपवाद सीमान्त जिलो के मध्य होने वाले व्यापार से, जो कि प्राय अल्प-मात्रा मे हुआ करता है, सम्बन्धित है। इन जिलो के निवासी अल्प-मात्राओ मे वस्तुयें ड्यूटी दिये बिना या घटी हुई दर मे ड्यूटी देकर सीमान्त के आर-पार ले जा सकते है। किन्तु कोई तीसरा देश, परमानुग्रहित राष्ट्र व्यवहार के आधार पर, इस रियायत को पाने का दावा नही कर सकता।

(२) **कस्टम यूनियन का निर्माण**—जब दो देश, जिन्होंने ऊँचे प्रशुल्क लगा रक्खे है, एक कस्टम यूनियन बना लें, तो कोई भी उससे यह आशा नही कर सकता कि वे एक ही बार म एक दूसरे की वस्तुओ मे अपनी ड्यूटियाँ हटा लेंगे। वे उन्हें धीरे धीरे ही हटायेंगे। इस मध्यान्तर मे, जो कि पर्याप्त दीर्घ हो सकता है, कानूनी स्थिति की दो व्याख्यायें सम्भव है —(i) दोनों देशों के मध्य घटी हुई ड्यूटियो को एक अपूर्ण कस्टम यूनियन का प्रतीक माना जा सकता है, जोकि निकट भविष्य मे पूर्ण कस्टम यूनियन बन जायेगी, अथवा (ii) घटी हुई ड्यूटियों को रियायती ड्यूटियां' (preferential duties) समझा जा सकता है। पहिली व्याख्या के अन्तर्गत तीसरा देश, परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य के आधार पर वैसा ही व्यवहार पाने का दावा नही कर सकता, किन्तु द्वितीय व्याख्या के अन्तर्गत कर सकता है।

परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य के कई क्षेत्रीय अपवाद भी दीर्घकाल से चले आ रहे है तथा स्वीकार किये जाते है। कई देशो ने उन देशों को, जो कि उनके साथ विशिष्ट भौगोलिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक एव आर्थिक सम्बन्ध रखते हैं, विशेष

वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं को सुपुर्दगी देने के लिये है, तथा (ii) अप्रत्यक्ष आयात, जो विदेशी सप्लायरों के भारतीय एजेन्टों द्वारा, 'स्टाक और विक्रय आधार पर', बाद में निर्दिष्ट अधिकारियों के आदेशानुसार वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं को बेचे जाने के लिये है। प्रथम वर्ग की वस्तुओं के सम्बन्ध में निगम केवल नाममात्र का ही कमीशन लेता है किन्तु दूसरे वर्ग की वस्तुओं के सम्बन्ध में भारतीय एजेन्ट को अपने उपरिव्यय (overhead expenses) पूरे करने तथा अल्प लाभ कमाने का अवसर दिया जाता है और निगम अपने लिए नाममात्र का सेवा व्यय लेता है। कुछ वर्ष पूर्व स्टाक एवं विक्रय आधार पर आयात बन्द कर दिए गए थे लेकिन अधिकांश वस्तुओं के सम्बन्ध में, इनकी उपयोगिता का अनुभव करके, इन्हें पुनः आंशिक या पूर्ण रूप से आरम्भ कर दिया गया है।

(१०) **सहायक संगठन**—निगम के दो सहायक सङ्गठन हस्तकौशल और हाथकरघा निर्यात निगम (Handicrafts and Handlooms Exports Corporation) तथा भारतीय चलचित्र निर्यात निगम (Indian Motion Pictures Exports Corporation) हैं जो क्रमश: हाथ करघा और दस्तकारी की वस्तुयें तथा भारतीय फिल्मों का निर्यात करते हैं। निगम ने CAPEXIL द्वारा सचालित 'आस्ट्रेलिया को रसायनों का निर्यात बढ़ाने की योजना' में भी भाग लिया है।

(११) **विदेशों में कार्यालय**—विभिन्न देशों में बदलते हुये व्यापारिक वातावरण से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखने तथा विदेशी देशों में भारतीय निर्यातों को प्रोत्साहन देने के प्रयास में निगम की सहायता के लिये निगम ने विदेशों में शाखा कार्यालय खोलने की नीति अपनाई है। उसने रौटडम, प्राग, मास्को, बुडापेस्ट, पूर्वी बर्लिन, मौंट्रियल और नैरोबी में अपने दफ्तर खोले हुए है और बैंगकाम, बेरुत, काहिरा, लागोस, तेहरान और काबुल में शीघ्र ही खोलने जा रहा है। निगम का कार्य सचालन मितव्ययितापूर्वक तथा जनहित की दृष्टि से किया जाता है। लालफीताशाही यथासाध्य दूर रखी जाती है। इसके उपरिव्यय उचित सीमाओं के भीतर रहते हैं।

(१२) **निगम की आय में वृद्धि**—१९६८-६९ के लिये निगम को १२·०९ करोड़ रु० का कर-पूर्व लाभ हुआ था। १९६९-७० में पहली तीन तिमाहियों के लिये उसे १२.०९ करोड़ रु० का कर-पूर्व लाभ है। इस प्रकार निगम की आय में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है किन्तु उसके व्यय पिछले वर्षों की अपेक्षा काफी बढ़ गये हैं, जो स्वाभाविक भी हैं, क्योंकि उसके व्यापारिक कार्यकलापों में भी वृद्धि हो गई है।

राजकीय व्यापार का मूल्यांकन—

राजकीय व्यापार निगम के कार्यकलापों के उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वह देश के विदेशी व्यापार को बढ़ाने एवं विविध मुखी बनाने में सफल रहा है। इसने आवश्यक कच्चे माल प्राप्त करने और फिर उद्योगपतियों में इनका समुचित वितरण करने में महत्वपूर्ण योग दिया है। निर्यात करने वालों को

आयात करने में प्राथमिकता देकर व्यापारिक आधार को सुदृढ़ किया है। राजकीय व्यापार वाले देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने के साथ-साथ उसने जापान और अमेरिका जैसे देशों में वहाँ की व्यापारिक संस्थाओं में भी सम्बन्ध स्थापित किये हैं। निर्यात बढ़ाने के लिए यातायात व्यवस्था में सुधारने की योजनायें भी बनाई हैं और इनके लिए धन की व्यवस्था निगम द्वारा स्थापित एक विशेष कोष से की जाती है। अनेक देशों से हमारा व्यापार जहाँ प्रतिकूल था, वहाँ अब अनुकूल हो गया है।

देश की विदेशी मुद्रा की आय में निगम का योगदान बहुत सन्तोषजनक है। इसकी दत्त पूँजी १९५६-५७ में १० मि० से बढ़कर अब ५० मि० हो गई है। टैक्स के रूप में भी इसने बड़ी राशियाँ सरकारी खजाने को दी हैं। निगम ने उत्पादन के क्षेत्र में भी कदम बढ़ा दिये हैं। उसने मद्रास में एक विग फैक्ट्री खोली है। उसने प्रमुख भारतीय बन्दरगाहों पर कुछ वस्तुओं के उतारने चढ़ाने के लिये मितव्ययितापूर्ण किन्तु कुशल व्यवस्था की है। उसने बम्बई में एक विशाल टैंक बनाया है जिससे आयातित वनस्पति तेलों को संग्रह करके रखा जा सकेगा।

उक्त सफलताओं के साथ ही साथ निगम की निम्न दुर्बलतायें भी सामने आई हैं —(१) निगम उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं के अनुसार समय पर, न्यायोचित मूल्यों पर और वांछित किस्म का माल आयात करने में असफल रहा है। (२) उसने कई वस्तुओं का निर्यात अन्तर्राष्ट्रीय विक्रय मूल्यों से कम दरों पर करके विदेशी मुद्रा अर्जन में राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा की है। (३) उसने निजी निर्यातकों के कोटों में सदा कटौती की प्रणाली अपना कर देश के निर्यात व्यापार की उपेक्षा की है। (४) निगम ने अनावश्यक वस्तुओं का क्रय करके अपनी पूँजी अटकाई है और देश की औद्योगिक आवश्यकता के अनुसार समय पर आवश्यक वस्तुओं का सभरण नहीं किया है। (५) उसने विश्व बाजार की पूर्ण जानकारी के अभाव में ऊँचे मूल्यों पर वस्तुओं का आयात किया है और इस प्रकार देश की उत्पादन लागतें बढ़ गईं। जैसे—सोयाबीन का तेल खरीदते समय ५० डालर प्रति टन अधिक चुकाया गया है। (६) निगम की ओर से सुपुर्दगी देने में विलम्ब हुये हैं। इससे आर्डर रद्द हो गए। (७) वह निर्णय लेने और फिर इन्हें कार्यान्वित करने में सुस्ती करता है। (८) वस्तुओं के उत्पादन पर उसके प्रत्यक्ष नियमन का अभाव है। (९) इसका स्टाफ बार बार बदलता रहता है। (१०) इस बारे में बहुत ही अनिश्चितता प्रतीत होती है कि निगम किन वस्तुओं का आयात निर्यात करेगा। अथवा यह भविष्य में किन दिशाओं में अपना कार्य बढ़ायेगा।

निगम के विरुद्ध यह भी आरोप लगाया गया है कि वह वस्तुओं के आयात के लिए ऊँची कीमतें ले रहा है और इस प्रकार ऊँचे लाभ कमा रहा है। किन्तु निगम द्वारा प्रकाशित सातवें अन्तिम रिपोर्ट में यह बताया गया है कि कई वस्तुओं के थोक क्रय के फलस्वरूप नीची कीमतें प्राप्त होने का सम्पूर्ण लाभ क्रेताओं को हस्तान्तरित कर दिया जाता है और कुछ वस्तुओं के लिए कीमतें इस प्रकार निर्धारित की

जाती हैं कि मध्यजन मुनाफाखोरी न कर सकें। किन्तु यह बात विश्वास उत्पन्न करने वाली नहीं है। हम इतना ही कह सकते है कि निगम को ऐसे उपाय करने चाहिये जिससे कि उपभोक्ता वास्तव मे लाभ उठावे। यह भी कहा गया है कि निगम अपने अनुबन्धो को गुप्त रखता है किन्तु यह स्वाभाविक ही है। व्यापारिक शर्तों के प्रकाशन मे हानि का भय है। निगम के कार्यकलापों की उचित आलोचना सदा वाछनीय है किन्तु व्यापार की गोपनीयता के औचित्य को भी स्वीकार करना होगा। कुछ विद्वानो का कहना है कि पूर्वी यूरोप की नियन्त्रित व्यवस्थाओं वाले देश अब अन्य देशों के प्राइवेट व्यापारियों से अनुबन्ध करने की इच्छा प्रदर्शित करने लगे है, जिस कारण निगम की उपादेयता कम हो गई है। किन्तु जैसा कि हम पहले भी सकेत कर चुके है, निगम की उपादेयता यह है कि वह विशाल सगठन होने के नाते अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे सफलतापूर्वक प्रतियोगिता करने की स्थिति मे है जबकि व्यक्तिगत व्यापारी विदेशी उपक्रमियो की तुलना मे ऐसी लाभप्रद स्थिति नहीं रखते।

निगम का भविष्य—

राजकीय व्यापार एक विश्वव्यापी घटना है और केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। विकासोन्मुख देशो की व्यापारिक व्यवस्था मे प्राइवेट निर्यात-गृह दुर्बल स्थिति मे होते है जिस कारण वे अनुकूल व्यापार शर्ते प्राप्त नहीं कर पाते हैं। यही नहीं, विदेशी मुद्रा के दुरुपयोग और उसे छिपा लेने की भी सम्भावनायें रहती हैं। विश्व बाजार मे विपणन की जाने वाली ऐसी अनेक वस्तुयें (जैसे—सल्फर मकरी कृत्रिम सूत आदि) है जिनके आधिक्य और अभाव एक चक्र के रूप मे उदय होते रहते है। एक कठिन अभाव की अवधि मे कीमत अक्सर प्राय बहुत अधिक होती है तथा भारत मे आयातकर्त्ताओ को यह लोभ हो सकता है कि वे एक न एक बहाने की ओट मे कीमतो मे जोड़-तोड करें। ऐसी स्थिति मे, जबकि एक ओर हमारे निर्यात-गृहो की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति विश्व बाजार मे दुर्बल हो और दूसरी ओर विदेशी मुद्रा की चोरी का भय हो, एक सरकार-सचालित सस्था ही विदेशी व्यापार को बढाने मे सहायक हो सकती है। विशाल सङ्गठन के कारण वह प्रतिस्पर्धा द्वारा अनुकूल व्यापार शर्तें प्राप्त कर सकती है तथा विदेशी मुद्रा की अधिक कमाई कर सकती है।

यह भी स्मरणीय है कि रुपये भुगतान समझौतो (rupee payment agreements) के अधीन पूर्वी यूरोप के देशों को जूतो, ऊनी कपडो आदि के जो निर्यात किये गये उनका सुफल यह हुआ कि देश मे प्रगतिशील और कुशल उद्योग स्थापित हो गये है और अब इनके आधार पर पश्चिमी यूरोप के बाजारो मे भी प्रवेश का यत्न कर सकते है। यह भी तर्क सम्मत है कि कालान्तर मे निगम अपने निर्यात-कार्यक्रम की पूर्ति के लिए, देशी उत्पादकों के सहायक के रूप मे, निर्माण कार्य आरम्भ

करे। मद्रास में बिग फैक्टरी का खुलना इस दिशा म पहला कदम है। वह जूते बनाने का यन्त्रीकृत कारखाना भी खोल सकता है, जिससे आर्डर के अनुसार उत्तम कोटि के जूते बनाये जा सकें।

परीक्षा प्रश्न :

१ गृह उद्योगों को संरक्षण देने के साधन के रूप मे राजकीय व्यापार के गुण-दोषो की परीक्षा कीजिये।

[Examine the advantages and disadvantages of State Trading as a means of protecting domestic industries]

२. विदेशी व्यापार मे सरकारो के भाग लेने से जो समस्या एक पूँजीवादी देश मे उदय हो सकती है उसका विवेचन कीजिये।

[Discuss the problem that may arise in a capitalistic country from the participation of the Governments in foreign trade.]

३. राजकीय व्यापार निगम क्या है ? इसके गुण दोषो का विवेचन कीजिये।

[What is a State Trading Corporation ? Discuss its advanta ges and disadvantages.] (आगरा, एम० ए०, १९६६)

४ राजकीय व्यापार निगम का कार्यचालन समझाइये। इसके क्या गुण दोष है एव इन पर कैसे विजय पाई जा सकती है ?

[Explain the working of State Trading Corporation What are its main weaknesses and how can they be overcome ?] (गोरख०, एम० ए०, १९६९)

५ भारत के राजकीय व्यापार निगम के कार्यचालन की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये। क्या राजकीय व्यापार घरेलू उद्योगों को संरक्षण देने का एक सफल ढग है ?

[Critically examine the working of S T C of India Is State Trading a successful method of protecting domestic in dustries ?] (आगरा, एम० कॉम०, १९६८)

३६

भारत की व्यापारिक नीति एवं व्यापार-समझौते

(India's Commercial Policy and Trade Agreements)

परिचय—

व्यापार नीति का सम्बन्ध मुख्यत विदेशी व्यापार से है तथा वह 'सामान्य आर्थिक नीति' का एक हिस्सा होती है। जब-जब सामान्य आर्थिक नीति मे परिवर्तन होते है, देश की व्यापार नीति भी परिवर्तित हो जाती है। प्रस्तुत अध्याय मे हम भारत का व्यापारिक नीति और इसके अन्तर्गत हुए विभिन्न व्यापार समझौते का अध्ययन करेंगे।

द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक व्यापारिक नीति

स्वतन्त्र व्यापार की नीति—

सन् १६२३ तक भारत की व्यापारिक नीति 'निर्बाध व्यापार नीति' (Laissez-faire) पर आधारित थी। निर्बाध व्यापार नीति के अन्तर्गत सरकारी हस्तक्षेप का अभाव होता है। भारत के विदेशी शासको के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति उनके देश के हितो को बढाने वाली थी। यह दोहराने की आवश्यकता नही कि एक व्यापारिक संस्था 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की स्थापना के परिणामस्वरूप ही ब्रिटेन के चरण भारत मे जमे थे और गत दो शताब्दियो का इतिहास उस वणिक प्रवृत्ति की पराकाष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण है जिसने हमे गुलाम बनाया (और स्व० रमेशचन्द दत्त के शब्दो मे) "गगा के जल को टेम्स नदी मे उड़ेलने" का कुकर्म किया। ब्रिटेन की शोषक नीति के फलस्वरूप एक ओर जब ब्रिटेन स्वय दिन दूना रात चौगुना बढता गया, तब भारत दिन प्रतिदिन दरिद्रता-ग्रस्त एव अभावयुक्त देश बनता गया। भारत जैसे विशाल उपनिवेश के रूप मे ब्रिटेन को न केवल ब्रिटिश वस्तुओ (कपडा लोहा आदि) का खरीदार बल्कि ब्रिटेन के चमडा, सूती वस्त्र आदि उद्योगो के लिये मनचीते भावो पर कच्चा माल बेचने वाला भी देश उपलब्ध हुआ।

शोषण की इसी अवधि मे भारतीय अपनी सर्वांगीण प्रगति के लिए राजनीतिक दासता से मुक्त होने के लिए क्रियात्मक रूप से कटिबद्ध हुए। ब्रिटेन के लिए

भारत की स्वतन्त्रता का अर्थ ब्रिटेन के पतन के सूत्रपात के रूप में था। विद्वान विचारक पट्टाभि सीतारामैया ने उन दिनों कटाक्ष रूप में कहा था कि 'यदि भारत स्वतन्त्र होता है तो इङ्गलैंड वाले अपनी खदानों का कोयला पाउडर करके खायेंगे और लोहा पिघला कर पियेंगे।"

कुछ भी हो, विदेशी सरकार ने अपने देश के हितों की वृद्धि के लिए स्वयं तो स्वतन्त्र व्यापार नीति का अनुसरण किया ही, साथ ही भारत को भी इसका अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया, जिससे हमारा देश विदेशी निर्मित वस्तुओं से पट गया यहाँ के उद्योग धन्धे नष्ट प्राय हो गये तथा वह मुख्यतः कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बन गया।

विभेदात्मक संरक्षण—

इस असन्तुलित विकास की हानियां प्रथम महायुद्ध में सभी पर प्रगट हो गई। अतः परिस्थितियों से विवश होकर सरकार ने १९२३ में विभेदात्मक संरक्षण की नीति अपनाई, जिससे स्वभावतः स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अन्त हो गया। विभेदात्मक संरक्षण की नीति के अन्तर्गत कुछ उद्योगों को संरक्षण मिला और इन्होंने इसके फलस्वरूप बहुत प्रगति भी की। किन्तु व्यवहार में विभेदात्मक संरक्षण की नीति इस कठोरता से कार्यान्वित की गई कि अनेक योग्य एव महत्वपूर्ण उद्योग, इससे वंचित ही रहे।

साम्राजीय अधिमान (ओटावा समझौता)—

१९३०-१९३२ के महान् मन्दी युग में समस्त विश्व के लिए भारी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई। भारत के विदेशी व्यापार का कुल मूल्य एवं परिमाण भी बहुत घट गया, क्योंकि कृषि वस्तुओं के लिये, जो कि हमारी निर्यात सूची में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी, विश्व-माँग तथा इनकी कीमतें दोनों ही बहुत कम हो गई थी। पुनर्जीवन (recovery) के एक उपाय के रूप में ब्रिटेन ने एक विशेष प्रकार की व्यापार नीति अपनाई तथा इसके अन्तर्गत साम्राजीय अधिमान योजना के द्वारा अपने साम्राज्य के देशों से व्यापार बढ़ाने का यत्न किया। इस योजना की रूप रेखा ओटावा (कनाडा) के शाही आर्थिक सम्मेलन (Imperial Economic Conference) में तैयार की गई।

अन्य साम्राज्य—देशों सहित भारत ने इस सम्मेलन में ब्रिटेन के साथ एक व्यापारिक करार पर हस्ताक्षर किये जो **ओटावा पैक्ट** (Ottawa Pact) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस ठहराव के अन्तर्गत भारत ने कुछ प्रकार की ऑटोमोबाइल्स पर ७½% तथा इलैक्ट्रिक सामान, ऊनी सामान, मुर्गाकिनो, सिल्क आदि पर १०% अधिमान दिया। ये वस्तुयें वह ब्रिटेन से आयात करता था। दूसरी ओर, ब्रिटेन ने भारत को कई वस्तुओं पर १०% अधिमान स्वीकृत किया तथा कई वस्तुओं को ड्यूटी दिये बिना ही अपने बाजारों में आने की अनुमति दी।

ओटावा समझौते की रचना इस तरीके से की गई थी कि वह भारत की

अपेक्षा ब्रिटेन के लिये अधिक लाभदायक रहा है। भारत से ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं पर ऐसे अधिमान (preferences) दिलाये गये, जो कि ब्रिटिश निर्यात उद्योगों से पुनर्जीवन फूँक सकें। वहाँ निर्यात उद्योगों में पुनर्जीवन की लहर दौड़ने से अप्रत्यक्ष रूप में रोजगार की वृद्धि हुई तथा ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के अन्य अंगों में भी गति आई। इस प्रकार, ब्रिटेन मन्दी के गहरे गड्ढे में से निकलने में समर्थ हुआ। किन्तु, दूसरी ओर, जो अधिमान भारतीय वस्तुओं पर स्वीकृत किये गये वे भारतीय निर्यातों में कोई विशेष वृद्धि न कर सके क्योंकि कृषि वस्तुओं की कीमतें एक लम्बे समय-विलम्ब के बाद ही सुधार सकीं। यही नहीं, अधिमान सूची में सम्मिलित सभी वस्तुयें भारत के लिए लाभदायक न थी। इस प्रकार, ओटावा समझौते की आड़ में ब्रिटेन, भारत, बर्मा और लंका जैसे आधीन देशों के साथ अपनी शोषक और स्वार्थपूर्ण नीति को जारी रख सका। ओटावा समझौते में अधिकांश लाभ ब्रिटेन को ही प्राप्त हुआ, जबकि भारत का अधिकतम सीमा तक शोषण किया गया। [भारत में चाय बागानों के ब्रिटिश मालिकों और जूट मिलों के ब्रिटिश उद्योगियों को ऊँचे लाभ हुए, क्योंकि ओटावा पैक्ट के अन्तर्गत चाय और निर्मित जूट यह दो चीजें ही ऐसी थी जिनका निर्यात बहुत बढ़ सका।]

ओटावा पैक्ट पर हस्ताक्षर करते के समय तथा इसके बाद भी भारतीय जनमत और विद्वानों ने कटु आलोचना की थी। अतः यह पैक्ट भारतीय विधान सभा द्वारा १९३६ में समाप्त कर दिया गया, किन्तु वायसराय ने अपने विशेष अधिकार के द्वारा इसे १९३९ तक जारी रखा।

इन्डो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रीमेन्ट--

सन् १९३९ में भारत और ब्रिटेन के मध्य एक नये व्यापारिक करार पर हस्ताक्षर हुए, जो कि 'भारत-ब्रिटेन व्यापारिक करार' (Indo-British Trade Agreement) के नाम से प्रसिद्ध है। यह ठहराव भी ओटावा पैक्ट के बुनियादी दोषों को दूर न कर सका। इस नये ठहराव के अधीन भारत ने ब्रिटेन से आयात किये जाने वाले २० पदार्थों पर १०% अधिमान स्वीकृत किया और ब्रिटेन ने कुछ भारतीय वस्तुओं पर अधिमान दिया और अन्य वस्तुओं को ड्यूटी-फ्री आने की अनुमति दी।

यह नया समझौता भी जनता की कटु आलोचना का विषय बना। इसे चलते हुये कुछ ही महीने हुए थे कि द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। द्वितीय महायुद्ध काल में आयात और निर्यात दोनों पर ही कड़ा नियन्त्रण किया गया तथा भारत की व्यापारिक नीति युद्धकाल की सङ्कटकालीन आवश्यकताओं के अनुसार ढाली गई। शत्रु देशों से व्यापार भी कठोर मनाही कर दी गई तथा मित्र एवं तटस्थ राष्ट्रों से भी व्यापार कठोर प्रतिबन्धों के अधीन ही किया जा सकता था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत की व्यापारिक नीति—

द्वितीय विश्व-युद्ध ने वैसे तो ब्रिटेन को तृतीय शक्ति का राष्ट्र बना, दिया था,

भारत की स्वतन्त्रता ने "कफन में दूसरी कील ठोकने" का कार्य किया। किन्तु भारतीय नेताओं, गाँधीजी एवं नेहरूजी के "भूल जाओ और क्षमा करो" के उपदेश ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपाकाल में ब्रिटेन को बड़ी भारी राहत दी। हमारी सद्-इच्छा की परिचायक प्रवृत्ति के फलस्वरूप हमारे सम्बन्ध नये सिरे से चालू हुए और राष्ट्रमण्डल का जन्म हुआ। व्यापार के क्षेत्र में साम्राज्य अधिमान की नीति पूर्ववत् जारी है किन्तु अब यह राष्ट्र-मण्डलीय अधिमान (Commonwealth Preferences) के नाम से प्रसिद्ध है।

स्वतन्त्रता के बाद, नये बाजार प्राप्त करने तथा निर्यात व्यापार में नई मदें प्रचलित करने हेतु भारत ने ब्रिटिश कॉमनवैल्थ के देशों से कई व्यापारिक समझौते सम्पन्न किये हैं। विभिन्न समझौते दो प्रकार के हैं—द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय। द्विपक्षीय समझौतों की दिशा में भारत ब्रिटेन व्यापारिक करार (१६३६) पहला कदम था। अब निम्न देशों के साथ भी द्विपक्षीय समझौते सम्पन्न हो गये हैं—रूस, पोलैंड, चैकोस्लाविकिया, हंगरी, इटली, नार्वे और यूरोप के अन्य देश। लाल चीन से हमारे व्यापारिक सम्बन्ध आजकल टूट चुके हैं। भारत पर आक्रमण के बाद भारत-पाक व्यापार सम्बन्ध भी टूट गये इससे पूर्व भी ये सम्बन्ध बड़े ही सकोचपूर्ण तथा प्रतिबन्धात्मक थे सौहार्दपूर्ण नहीं। ताशकन्द समझौते की भावना का पालन करते हुए राजनैतिक सम्बन्धों के साथ ही साथ पाकिस्तान से व्यापारिक सम्बन्ध भी सुधरने की आशा थी किन्तु यह दुराशामात्र रह गई है।

जहाँ भारत ने विशेष देशों से विशेष व्यापारिक समझौते किये हैं, वहाँ वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक करारों में भी सम्मिलित हुआ है। भारत सहित २३ राष्ट्रों ने जनेवा में १६४७ में एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक करार पर हस्ताक्षर किये जो कि 'व्यापार एवम् प्रशुल्क विषयक सामान्य करार' (General Agreement on Tariffs and Trade) के नाम से विख्यात है। इस समझौते का उद्देश्य बहुपक्षीय व्यापार एवं भुगतान प्रणाली को बढ़ावा देना या टैरिफ दरों में पारस्परिक रियायतें दिलाना है। राष्ट्रमण्डल अधिमान के जारी रहने के लिए इस समझौते में छूट दी गई है।

वर्तमान स्थिति—

इस समय राष्ट्र-मण्डलीय अधिमान प्रणाली का प्रयोग इस तरीके से किया जा रहा है कि वह हमारे विकास कार्यक्रमों में सहायक हो। अब तो भारतीय निर्यातों का स्वरूप ही बदल गया है। जहाँ ब्रिटेन और अन्य राष्ट्र मण्डलीय देशों को कच्चा माल अधिकता में जाया करता था वहाँ अब निर्मित माल की प्रमुखता होने लगी है। हमारे आयातों में पूँजीगत वस्तुओं की मात्रा बढ़ गई है तथा निर्मित उपभोक्ता वस्तुओं का आयात कम हो गया है। अतः अब भारत ब्रिटिश बाजार में दृढ़तापूर्वक प्रतियोगिता करने लगा है। जबकि ब्रिटेन में लगभग सभी भारतीय आयातों पर भारत को रियायतें प्राप्त हैं तब वह स्वयं ब्रिटेन को इनी गिनी रियायतें ही दे रहा है। योरो-

पियन साझा बाजार के बनने से राष्ट्र-मण्डलीय अधिमानो का महत्त्व बहुत बढ गया है। यदि ब्रिटेन भी उक्त साझा बाजार में सम्मिलित हुआ, तो भारत को कुछ हानि उठानी पड सकती है। १९६६ म भारत ने बहुत से नय व्यापार-करार किए और कुछ पुराने करारो को बढाया।

विदेशो मे भारतियो की ओर से सयुक्त उद्योग-धन्धे स्थापित करने के प्रयास मे इस वर्ष और अधिक सफलता मिली। एशिया अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के देशो मे विकास-कार्यक्रमो मे भारतीय उद्योगपति अधिकाधिक सहयोग दे रहे हैं। इस तरह की लगभग ५० योजनाएँ आजकल ससार के भिन्न-भिन्न भागो म भारत की सहायता से अमल मे लाई जा रही है।

परीक्षा प्रश्न :

१. *साम्राज्य अधिमान के प्रचलन का उद्देश्य क्या था और यहाँ भारत के लिये* कहाँ तक हितकर रहा ?

[What was the objective of instituting **Imperial** Preference and *how far* **has India** *found it* **beneficial ?**]

२ भारत सरकार की व्यापारिक नीति की आलोचना कीजिये।

[Examine critically the commercial policy of the Government of India]

३. भारत ने अनेक विदेशी देशो के साथ अधिकाधिक सख्या मे व्यापारिक समझौते किये है। इसके कारण बताइये और हाल के किसी एक व्यापारिक समझौते के स्वभाव एव उद्देश्य का विवेचन कीजिये।

[Examine the factors that account for the increasing number of trade agreements entered into by India with many *foreign countries* *Discuss the nature and purpose* of any one of the recent trade agreements entered into by India]

(इलाह०, एम० कॉम०, १९६७)

४०

१९६६ में भारतीय रुपये का अवमूल्यन और विदेशी व्यापार

(1966 Devaluation of the Indian Rupee and Foreign Trade)

प्रारम्भिक—

पाँच व छः जून १९६६ की मध्य रात्रि के दो बजे से भारतीय रुपये का ३६.५% के हिसाब से अवमूल्यन किया गया। अब भारत द्वारा किये जाने वाले आयात पर एक अमरीकी डालर के लिए ७ रुपए ५० पैसे और एक पौंड स्टर्लिंग (ब्रिटिश) के लिए २१ रुपये (१९६७ में पौंड के अवमूल्यन के बाद में १८.९०) तथा रूसी मुद्रा रूबल के लिए ८ रुपए ३३ पैसे देने पड़ते हैं। उल्लेखनीय है कि विश्व बैंक द्वारा भेजे गये बेल मिशन ने रुपए के अवमूल्यन का सुझाव दिया था। लेकिन, भारत सरकार इसका बराबर विरोध करती रही। संसद में अनेक बार यह घोषणा की गई कि रुपए का अवमूल्यन नहीं किया जायगा। पिछले महायुद्ध के बाद भारतीय रुपए के मूल्य को दूसरी बार घटाया गया है। इससे पूर्व सन् १९ ९ में उस समय भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन किया गया था, जब ब्रिटिश पौंड की कीमत घटाई गई थी।

अवमूल्यन के परिणामस्वरूप सरकार ने कई अन्य कदमों की घोषणा की। इनके अनुसार बारह वस्तुओं पर निर्यात शुल्क लगा दिया गया, अनेक वस्तुओं के बुनियादी निर्यात शुल्क में परिवर्तन किया गया, और निर्यात को बढ़ावा देने के लिए लागू सभी विशेष योजनाओं को खत्म कर दिया गया। इनके बदले में कुछ अन्य निर्यात योजनाएँ बनाई गई ताकि निर्यातकों को कच्चे माल, मशीनों के औजार और स्पेयर्स आदि मँगाने के लिए सुविधाएँ दी जा सकें।

अवमूल्यन के लिये विवश करने वाली परिस्थितियाँ

तत्कालीन वित्त मन्त्री **श्री शचीन्द्र चौधरी** ने रुपए के अवमूल्यन सम्बन्धी निर्णय को सही बताते हुए कहा कि, "यदि यह कदम अब नहीं उठाया जाता, तो आयात के पूरी तरह से बन्द हो जाने की सम्भावना पैदा हो जाती। इससे बड़े पैमाने पर बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ता। निर्यात को बढ़ावा देने के लिए जो कदम पिछले कई सालों में उठाये जा रहे थे, वे उपयोगी सिद्ध नहीं हुए।

देश की वित्तीय स्थिति काफी दिनों से चिन्ताजनक हो रही थी। पिछले दस वर्षों से निर्यात घटता जा रहा था। हमारा सामान अन्य देशों के सामान की कीमतों के सामने टिक नहीं रहा था, इसलिए १९६५ में निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए कदम उठाए गए। इनसे वित्तीय साधनों पर दबाव पड़ा। सूखे की स्थिति और पाकिस्तानी आक्रमण ने हालत को और अधिक बिगाड़ दिया। विदेशी सहायता पर भी प्रभाव पड़ा। इन परिस्थितियों में रुपए के अवमूल्यन पर विचार किया गया। बाद में योजना आयोग, वित्त मन्त्रालय और अन्य विभागों के परामर्शदाताओं के साथ प्रश्न के आर्थिक पहलुओं पर गम्भीरता से विचार किया गया। सरकार ने भी इस बात का अनुभव किया कि पटसन, चाय, सूती कपड़ा, कच्चा लोहा, मैंगनीज आदि जिन वस्तुओं का भारत से निर्यात किया जाता है उनके परिमाण में बहुत ज्यादा वृद्धि सम्भव नहीं है। इस पृष्ठभूमि में अन्य मन्त्रियों ने भी अवमूल्यन के प्रश्न पर विचार किया और मन्त्रिमण्डल में इसके पक्ष में निर्णय किया गया।"

अवमूल्यन से की गई आशायें—

(१) इससे निर्यात को भारी प्रोत्साहन मिलेगा और हमारा माल न केवल सस्ता हो जायगा, बल्कि लोग निर्यात उद्योगों में रुपया भी लगायेंगे।

(२) यह भी आशा की गई कि आयातित चीजों का रुपए में मूल्य बढ़ जाने से ऐसी चीजों को देश में बनाने की प्रवृत्ति पैदा होगी जो अब तक बाहर से मँगाई जा रही हैं। खेती के बारे में भी यही बात है। इस प्रकार इससे स्वावलम्बन में सहायता मिलेगी।

(३) नई विनिमय दर से आयात निर्यात पर ही प्रभाव नहीं पड़ेगा, बल्कि देश से बाहर जाने वाले और बाहर से देश को आने वाले भुगतान पर भी असर पड़ेगा। इससे भारत में धन भेजने को प्रोत्साहन मिलेगा और भारत से बाहर धन भेजने पर कुछ रोक लगेगी। अब बाहर से धन लगाने वालों के मुनाफे के रूप में होने वाले विदेशी मुद्रा का खोजन कम हो जायगा।

(४) रुपए की क्रय शक्ति में कमी होने के कारण बहुत-सी बुराइयाँ भी पैदा हो गई हैं। रुपए के पुराने विनिमय मूल्य के कारण निर्यातकर्त्ता अपने माल का दाम कम लगाते थे और आयात करने वाले बढ़ा चढ़ाकर दाम लगाते थे। यात्रियों की हुण्डियाँ बैंकों से न भुनाकर अवैध रूप में भुनाई जाती थीं जिसमें ज्यादा दाम मिलते थे। बाहर से भुगतान अवैध तरीकों से होता था और सोना, घड़ियाँ, ट्रांजिस्टर आदि चीजें बढ़ती हुई मात्रा में देश में चोरी से लाई जा रही थीं। वैध तरीके से जो आयात होता था उसमें भी लोग गहरा मुनाफा कमा रहे थे और यह कमाई छिपाकर रखी जा रही है। नए विनिमय दर के कारण से सब कार्यवाहियाँ अब उतनी लाभप्रद न रहेंगी। अतः अवैध तरीकों से हमारी जो विदेशी मुद्रा जा रही थी, वह बच जायेगी, और हमारा विदेशी मुद्रा कोष बढ़ेगा।

(५) अवमूल्यन के कारण विदेशी मुद्रा के रूप में न तो ऋण की कुल

रकम में और न इसकी वार्षिक अदायगी की राशि में कोई वृद्धि होगी। परन्तु रुपए के रूप में अवश्य ऋण की अदायगी का बोझ बढ जायगा। यही नही सरकारी आयात का और दूसरे विदेशी खर्च का भी परिणाम रुपए के रूप मे बढ जायेगा।

(६) अवमूल्यन से हमारे बजट को भी कई प्रकार से लाभ होगा। उदाहरण के रूप में निर्यात शुल्कों से हमें काफी आमदनी होगी। इसी तरह से विदेशी सहायता के रुपए का मूल्य बढ जायगा।

(७) कुछ आवश्यक चीजों के दामों में वृद्धि नहीं होनी चाहिए इसलिए यह प्रबन्ध किया गया कि अनाज, उर्वरक, किरोसीन (मिट्टी के तेल) और डीजल तेल का दाम बढने न पाए। जो विद्यार्थी विदेशों मे पढ रहे है उनको ही कम ब्याज पर ही ऋण दिलाने का आश्वासन दिया गया।

पैदावार को बढाकर ही दामों म स्थिरता लाई जा सकती है। हमारी तीनो योजनाओं के अन्तर्गत जो कारखाने खुले हैं उनमें से अधिकांश बाहर से आने वाले कच्चे माल और कल-पुर्जों की कमी के कारण पूरी क्षमता के उत्पादन नही कर पा रहे थे, जिस कारण उत्पादन बढने में बाधा पडती थी। अत बाहर से ज्यादा कच्चा माल और पुर्जे मँगाने की कोशिश की गई। इसके लिए आयात का तरीका सरल किया गया। किरोसीन (मिट्टी के तेल) नारियल की गिरी और कपास का आयात बढाया गया।

रुपये के अवमूल्यन पर प्रतिक्रियाये

वित्त मन्त्री और योजना मन्त्री के बार-बार इस आश्वासन के बावजूद कि रुपए का अवमूल्यन नही किया जायगा, सरकार ने रुपए का ३६ ५ प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया, जो व्यवहार म लगभग ५७ प्रतिशत है। आमतौर से यह ख्याल था कि भारत सरकार आम चुनाव से पूर्व यह कदम नही उठायेगी, इसलिए औद्योगिक क्षेत्रो मे निर्णय पर भारी आश्चर्य व्यक्त किया। अधिकाश उद्योगपतियो ने सरकार के इस कदम को औद्योगिक विकास म बाधक बताया। प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार थी —(१) यह कदम सरकार के उन आश्वासनों के विपरीत था जो उसने लोक सभा में दिये थे। अवमूल्यन के नाम पर जो लाभ प्राप्त होने के दावे किये जा रहे है वे गलत साबित होंगे। (२) देश के अन्दर और बाहर प्रतिकूल प्रभावों के अलावा रुपये के अवमूल्यन से जनता का विश्वास सरकार में कम हो जायगा क्योंकि सरकार कसम खा-खा कर यह कह रही थी कि वह रुपए का अवमूल्यन नहीं करेगी। इससे विदेशो मे हमारा दायित्व बढ जायगा। इसका सामाजिक प्रभाव भी होगा—खासकर जनता का मनोबल गिरेगा। (३) इस कार्यवाही से औद्योगीकरण में विलम्ब होगा। आयात किये गये सामान की कीमत काफी बढ जायगी। आन्तरिक मूल्य स्तर भी इसमें बढ सकता है। (४) यह कार्यवाही "अनावश्यक" है। वित्त, तथा योजना मन्त्रियों ने हाल में संसद से वचन दिया गया था कि रुपए का अवमूल्यन नही किया जायगा। इससे रुपए की प्रतिष्ठा नही बढेगी।

(५) अवमूल्यन से अधिकांश जनता बुरी तरह प्रभावित होगी—मुद्रा स्फीति और बढ़ेगी और रुपए का मूल्य ज्यादा घट जायगा। (६) सरकार एक ओर विदेशी दवावों और दूसरी ओर निहित स्वार्थों के आगे झुकी है। यह संदिग्ध है, अवमूल्यन से निर्यात में पर्याप्त वृद्धि होगी। आयात की लागत बढ़ जायगी और मुद्रा स्फीति में वृद्धि होगी। विदेशी ऋणों का बोझ भी बढ़ जायगा।

विदेशी व्यापार पर अवमूल्यन का प्रभाव

[मूल्य लोच के सन्दर्भ में]

अवमूल्यन के पक्ष में एक प्रमुख तर्क यह है कि इसका सहारा भुगतान सन्तुलन की स्थिति में सुधार लाने के लिये निर्यात व्यापार को बढ़ावा देने और आयात-वस्तुओं की माँग कम रखने हेतु लिया जाता है। इस तर्क का औचित्य अन्य बातों के अतिरिक्त आयात और निर्यात वस्तुओं की माग की मूल्य-लोच पर निर्भर करता है, अर्थात् इन वस्तुओं के मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन के फलस्वरूप माँग किस प्रतिशत में घटती-बढ़ती है। १९५०-५१ से १९६७-६८ तक १८ वर्ष की अवधि में भारत का व्यापार राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में १० और १७ के बीच रहा। १९५१-५२ में यह प्रतिशत सबसे ज्यादा था। १९५८-५९ से १९६३-६४ तक यह प्रतिशत लगातार १२ रहा। १६ वर्षों में इन प्रतिशतों का औसत १३ था।

आयात-वस्तुओं के मूल्य की लोच—

१९५५-५६ में आयात की प्रति इकाई के मूल्य का सूचकांक निम्नतम अर्थात् ८४ था, लेकिन इस वर्ष के आयात व्यापार के परिमाण का सूचकांक उच्चतम नहीं था। आयात-व्यापार के परिमाण का सूचकांक १९६३-६४ में उच्चतम था जबकि इस वर्ष आयात की प्रति इकाई के मूल्य का सूचकांक ९८ था। आयात की प्रति इकाई के मूल्य का सूचकांक १९५७-५८ में सबसे ज्यादा अर्थात् १०४ था। इस प्रकार उच्चतम और निम्नतम सूचकांक के बीच अन्तर २० था। आयात-व्यापार के परिमाण के उच्चतम सूचकांक और निम्नतम सूचकांक में अन्तर ११६ का था अर्थात् यह सूचकांक २१२ और ९६ के बीच रहा। इससे स्पष्ट होता है, कि आयात के परिमाण में तेजी से घटा बढ़ी हो रही थी लेकिन आयात की प्रति इकाई के मूल्य के सूचकांक में घटा बढ़ी सीमित रूप में हुई। सम्पूर्ण स्थिति की जाँच के लिये प्रति इकाई मूल्य के सूचकांकों और आयात निर्यात वस्तुओं के परिमाण के सूचकांक का सह सम्बन्ध निकाला गया। सह सम्बन्ध का गुणक +०·२ आया। सह-सम्बन्ध का गुणक धन (+) में होना इस बात का संकेत है कि प्रति इकाई मूल्य में वृद्धि होने पर आयात के परिमाण या मात्रा में भी वृद्धि हुई और प्रति इकाई मूल्य कम होने पर आयात की मात्रा भी कम हुई। लेकिन सह-सम्बन्ध का गुणक ०·२ ज्यादा नहीं। इसलिये ऊँची कीमत पर भी आयात पर निर्भरता बहुत ज्यादा नहीं है। अर्थशास्त्रियों की भाषा में यह कहा जा सकता है कि आयात-वस्तुओं की माग यहाँ लोचहीन है। अतः अवमूल्यन के फलस्वरूप आयात वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाने से भारतीय आयात में ज्यादा कमी नहीं हो सकती।

निर्यात-वस्तुओं की मूल्य-लोच —

१९५५-५६ में निर्यात की प्रति इकाई का सूचकांक ९० था जो न्यूनतम है। उस वर्ष में निर्यात के परिमाण का सूचकांक ११५ था। १९६४-६५ में निर्यात के परिमाण का अधिकतम सूचकांक १८२ था जब कि इस वर्ष निर्यात की प्रति इकाई मूल्य का सूचकांक १०८ थी। प्रति इकाई मूल्य का निम्नतम सूचकांक १९५५-५६ में ९० और १९५१ ५२ में अधिकतम अर्थात् १४२ था। इन दोनों के बीच अन्तर ८२ था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निर्यात का परिमाण प्रति इकाई मूल्य की तुलना में ज्यादा परिवर्तनशील रहा। निर्यात के परिमाण के सूचकांक और प्रति इकाई मूल्य के सूचकांक के बीच सहसम्बन्ध का गुणक —. निकाला गया। सहसम्बन्ध का गुणक (—) ऋण में होने का मतलब है कि प्रति इकाई मूल्य में वृद्धि के फलस्वरूप भारत के निर्यात का परिमाण कम हो जाता है और प्रति इकाई मूल्य कम हो जाने पर निर्यात का परिमाण बढ़ जाने की सम्भावना रहती है। अर्थशास्त्रियों की भाषा में कहा जा सकता है कि भारत का निर्यात पर्याप्त रूप से मूल्यलोचशील नहीं है।

निर्यात बढ़ाने की आशा पूरी नहीं हुई

सरकारी क्षेत्र में यह आशा की गई थी कि इस अवमूल्यन के पश्चात् निर्यात व्यापार में वृद्धि होगी यद्यपि वैसी आशा निर्माताओं और निर्यातकों ने नहीं की थी। .. के अवमूल्यन के हमारे निर्यातों की मात्रा (volume) रचना (Composition) एवं उनके व्यापार की दिशा (Direction) पर जो प्रभाव हुए हैं उनकी समीक्षा नीचे की गई है।

निर्यात व्यापार के परिमाण पर प्रभाव—

अवमूल्यन ने भारत के *निर्यात व्यापार को बहुत ठेस पहुँचाई।* यह जून १९६६ से मई १९६७ तक के आँकड़ों में स्पष्ट है। निर्यात आय तृतीय योजना के तीसरे वर्ष में बढ़नी प्रारम्भ हुई थी और १९६३ ६४ में १,६६६ मि० डालर से बढ़कर १९६४-६५ में १,७१५ मि० डालर हो गई। १९६५-६६ में विगत वर्ष की राशि के बराबर (लगभग १६९३ मि० डालर) रही। किन्तु १९६६-६७ के पहले दो महीनों को छोड़कर निर्यात आय घटती गई। यह १९६५-६६ में १,६९३ मि० डालर से घटकर १९६६-६७ १५५३ मि० डालर रह गई अर्थात् उसमें ८.३% कमी हुई। मार्च १९६७ के बाद भी निर्यात आय की कम होने की प्रवृत्ति जारी रही।

अब प्रश्न यह है कि हमारे निर्यातों में गिरावट क्यों आई? सैद्धान्तिक दृष्टि से तो अवमूल्यन के फलस्वरूप इनमें वृद्धि होनी चाहिए थी। गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण करने पर निर्यातों की गिरावट के लिए निम्न कारण उत्तरदायी प्रतीत होते हैं —(१) सबसे बड़ा कारण सम्भवतः यह रहा कि सभी निर्यात प्रोत्साहन योजनायें समाप्त कर दी गई तथा परम्परागत निर्यात वस्तुओं पर पर्याप्त निर्यात कर लगा दिए गए। इससे निर्यात व्यापार को धक्का लगा तथा कुछ महीनों तक

तो वह यथावत् रह गय । जहाँ तक हमारी विदेशी मुद्रा की कमाई को सुरक्षित रखने के उद्देश्य का सम्बन्ध है निर्यात कर लगाना ठीक ही था । यह भी सच है कि बाद को सरकार ने कुछ नगद सहायता भी घोषित की लेकिन वह अपर्याप्त थी। (२) साथ ही विभिन्न उद्योगो मे जो कि आयातित कच्चे मालो का उपयोग करती हैं (जैसे—सूती वस्त्र जूट के कारखाने कैमीकल्स इन्जीनियरिंग गुड्स आदि), उत्पादन-लागतें बढ गई , क्योंकि इनके आयात बिलो का मूल्य रुपयो म ५७ ५% बढ गया । (३) खराब कृषि फसलें (जिन्होंने कृषि उत्पादन पर आधारित उद्योग को कुप्रभावित किया) मुद्रा स्फीति का जारी रहना स्वदेशी माँग का बढते रहना, रुपया भुगतान समझौते वाले देशों म व्यापार अस्त-व्यस्त हो जाना व कुछ अन्य कारण थे जो कि अवमूल्यन के बाद की अवधि म निर्यातो म कमी के लिए दायी रहे।

रचना (Composition) की दृष्टि से प्रभाव—

सन् १९६६-६७ म हमारी अधिकांश निर्यात आय (लगभग ४१ ६%) तीन प्रमुख परम्परागत वस्तुओं जूट (२१ ५%), चाय (१३ ८%) और सूती माल (६ ९%) से हुई । किन्तु इन तीनो पर अवमूल्यन का बुरा प्रभाव पडा । इससे निर्यात आय १९६६ ६७ म १९६५-६६ की तुलना मे क्रमश १५ ५% १३ ६% और ९ १% कम हो गई । अन्य वस्तुयें जिनका निर्यात कुप्रभावित हुआ निम्न है — तम्बाकू, कहवा नारियल जटा उत्पाद धातु निर्मित माल, मैंगनीज खनिज और अभ्रक । इस निराशापूर्ण चित्र का एक उज्वल पहलू यह था कि कुछ वस्तुओं के निर्यात मे वृद्धि हुई जैसे—चमडा व खाले, लौह खनिज, खली, पशु पदार्थ एव वनस्पति कहवा, जूते आदि, जूट के रेशे फल व सब्जियाँ । अवमूल्यन से सुप्रभावित होने वाली इन वस्तुओं का हमारी कुल निर्यात आय म भाग २२% है । स्पष्टत कुल पर निर्यात आय मे कमी हुई ।

क्षेत्रीय वितरण की दृष्टि से—

(१) विश्व के अनेक देशो को भारतीय वस्तुये निर्यात होती है, किन्तु १९६६-६७ मे केवल चार देशों का भाग ही हमारे कुल निर्यात मे ५०% से भी अधिक था । ये देश निम्न है —अमेरिका जिसने यू० के० को हमारे सबसे बडे ग्राहक के पद से हटा दिया है १८ ८%, यू० के० १७ ४%, रूस १०·७% और जापान ९ ३% । (२) हाल के वर्षो मे पूर्वी यूरोप के देशो से भारत के व्यापार मे वृद्धि होना एक उल्लेखनीय घटना है । रूस को छोडते हुए पूर्वी यूरोप के देशो का भाग ८ ८% और रूस सहित पूर्व यूरोपियन गुट का भाग १९ ५% है । (३) कामनवर्ग को छोडते हुए यूरोपियन साझा बाजार के देशों का भाग ७ ९% है। कामनवर्ग को हमारा निर्यात नगण्य है । (४) इकेफी क्षेत्र मे जापान भारत का सबसे प्रमुख व्यापारिक साझेदार ह । उसका भाग हमारे कुल निर्यात म ९ ३% है । अन्य इकेफी देशो म आस्ट्रेलिया नैपाल और लका प्रमुख है । (५) अन्य एशियाई देशा

(अर्थात् इकेफो देशो के अतिरिक्त) को हमारे निर्यात मामूली हैं। इनमे प्रमुख भाग कुवैत (० ७%) और ईराक (० ५%) का है। (६) अफ्रीका ग्रुप मे स० अ० गण-राज्य हमारा सबसे बडा ग्राहक है। उसका भाग हमारे कुल निर्यातो मे २·१% है। (७) लेटिन अमेरिका के विकासोन्मुख देशो को हमारे निर्यात बाजार मे अभी कोई महत्व नही मिला। १९६८ मे प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी की लेटिन अमेरिका के देशो की यात्रा से इनके साथ हमारे व्यापारिक सम्बन्ध बढने की आशा है।

अवमूल्यन के बाद हमारे निर्यात अधिकाश बाजारो मे (जिनमे हमारे बडे बाजार देश जैसे अमेरिका, ब्रिटेन प० जर्मनी, आस्ट्रेलिया भी सम्मिलित हैं) घट गये है। रूस प० जर्मनी पौलेण्ड और सयुक्त अरब गणराज्य जैसे देशो के साथ भी, जिनमे हमारे रुपये-भुगतान-समझौते थे, हमारे निर्यात कम हो गये। लेटिन अमेरिकी देशो को नगण्य निर्यातो म भी २०% कमी हो गई। हाँ, जापान, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, फ्रान्स इटली, बेल्जियम, ईराक, सूडान और केन्या को निर्यात बढ़े। किन्तु इन अपवाद मूलक देशो का भाग हमारे कुल निर्यात मे केवल २०% ही है, जिस करण निर्यात कुल पर घटे ही है।

आयात व्यापार पर अवमूल्यन के प्रभाव

रुपए के अवमूल्यन से आयात-वस्तुओ की कीमतें बढ जाना स्वाभाविक है। भारत म आयात-वस्तुओ की आवश्यकताएँ बहुत तेजी से बढ रही हैं। फलत हम अपनी विदेशी मुद्रा के सुरक्षित कोष मे काफी धनराशि निकालनी पडी है और बृहत स्तर पर इन आयातो के लिए विदेशी सहायता भी लेनी पडी है। हमारे आयात को एक विशेषता यह है कि भारत की बढती हुई अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इनकी न्यूनतम आवश्यकता है। आयात-व्यापार पर १९५७ के वर्ष से जो नियन्त्रण लगाए गये है उनसे हम केवल अनिवार्य वस्तुओ का ही आयात करने की स्थिति म है जो योजनाओ के अन्तर्गत रखे गये कार्यक्रमो को पूरा करने के लिये अति आवश्यक हैं। इस प्रकार अवमूल्यन से आयात का मूल्य कम होने की सम्भावना नही है। यदि हम अपने वर्तमान उद्योगो को पूरी उत्पादन-क्षमता का उपयोग करने के लिए काम करने दें, नये उद्योगो का, जिन्हे हम यहाँ स्थापित करना चाहते हैं तो हम अधिक मात्रा म कच्चा माल और पुर्जे आयात करने की व्यवस्था करनी होगी। आयात की लागत मे वृद्धि हो जाने से कुछ अनिवार्य वस्तुओं के लागत-मूल्य-ढाचे पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है। आयात वस्तुओ की लोचहीन माँग की स्थिति मे अवमूल्यन से आयातित वस्तुओ के स्थान पर देश मे वस्तुएँ तैयार करने की प्रक्रिया को भी बल नही मिल सका। इस प्रकार इतने थोडे समय मे रुपए का अवमूल्यन भुगतान सन्तुलन की कमी को पूरा करने के लिए एक प्रभावकारी उपाय नहीं हो सका।

दूसरी बार अवमूल्यन करने की भूमिका

इन बातो को दृष्टि म रखकर यह आसानी से कहा जा सकता है कि रुपए

३२

भारत का विदेशी व्यापार

(The Foreign Trade of India)

प्रारम्भिक—

वर्तमान ससार मे किसी देश के आर्थिक विकास और उसकी सम्पन्नता के लिये विदेशी व्यापार की उन्नति आवश्यक है। राष्ट्रीय स्वावलम्बता युग पहले से ही समाप्त हो चुका है। कितनी ही वस्तुये तो ऐसी है जिन्हें एक देश उत्पन्न ही नही कर सकता और बहुत-सी वस्तुयें ऐसी हैं जिन्हे प्राकृतिक अथवा अन्य कारणो से देश मे बहुत ही अधिक लागत पर उत्पन्न किया जा सकता है। दोनो ही दशाओ म विदेशी व्यापार लाभदायक होता है, क्योकि ऐसी वस्तुयें कम मूल्य पर मिल जाती है। विशिष्टीकरण तथा विनिमय (दोनो) के आर्थिक लाभो को प्राप्त करने के लिये विदेशी व्यापार का विकास अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, देशो की पारस्परिक मित्रता और सहयोग के लिये भी विदेशी व्यापार आवश्यक है। इसके अन्तर्गत सभी देशो को पारस्परिक सहायता के द्वारा अपनी-अपनी अर्थ-व्यवस्था के विकास और उपभोग-स्तर को ऊँचा उठाने का अवसर प्राप्त होता है।

भारत के विदेशी व्यापार का इतिहास

(I) प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ तक—

ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि प्राचीन काल मे भारत का विदेशी व्यापार पर्याप्त विस्तृत एव महत्त्वपूर्ण था। अस्मरणीय काल मे जल और थल दोनो ही मार्गों से भारत के विदेशियो के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। अब से ५ ००० वर्ष पूर्व भी भारत का बेबिलोन से व्यापार होता था। ऐसा पता चलता है कि भारतीय व्यापारियो के पास बडे-बडे जहाजी बेडे थे और वे सुदूर-पूर्व तथा मध्य पूर्व के देशो के साथ नियमित रूप मे व्यापार करते थे। पश्चिम मे मिश्र, यूनान, अरब और ईरान मे, लेकर पूर्व मे चीन तक भारत का माल जाता था। ढाके की मलमल और कालीकट के सूती कपडे को संसार भर म ख्याति प्राप्त थी। निर्यात की वस्तुओ मे सूती कपडे, धातु के सामान, हाथी दाँत, रग, मसाले, हथियार और अनेक कलात्मक सामान सम्मिलित थे और धातुओ पीतल , टीन, शराब, घोडे आदि का आयात होता था।

मुसलमानों के निरन्तर आक्रमणों ने देश की राजनैतिक दशाओं में अनिश्चितता उत्पन्न करके व्यापार में भारी कमी कर दी। परिणाम यह हुआ कि समुद्री व्यापार घट गया, परन्तु मुस्लिम काल में थल मार्गीय व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई। साथ ही, आन्तरिक व्यापार की भी उन्नति हुई, जिसका प्रमुख कारण थल मार्गों का विकास था। मोरलैंड (Moreland) के अनुसार लाहौर और काबुल तथा मुल्तान और कन्धार के बीच व्यापार नियमित रूप से होता रहता था। ये ही थल मार्ग काबुल और कन्धार से चीन और ईरान को जाते थे और इनके द्वारा भारत का माल यूरोप तक पहुँचता था। इस काल में भी आयात और निर्यात की वस्तुयें पहले जैसी ही थी।

योरोपीय व्यापारियों ने आते ही देश के विकसित व्यापार से लाभ उठाना आरम्भ किया। डच, फ्रांसीसी तथा इण्डिया कम्पनी ने देश के उद्योगों को प्रोत्साहन देकर व्यापार में वृद्धि की, परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक बनी न रह सकी। पश्चिम में 'औद्योगिक क्रान्ति' के पश्चात् दशाएँ बदल गई और १८वीं शताब्दी में *जैसे-जैसे इंगलैंड तथा अन्य योरोपियन देशों के उद्योगों का विकास हुआ, उन्होंने* भारतीय माल के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। इंगलैंड ने ऐसा अनुभव किया कि उसके लिये भारत से कच्चा माल मँगाना और अपने उद्योगों की उपज को भारत में बेचना अधिक लाभदायक था। अतः वहाँ कच्चे मालों के आयातों को प्रोत्साहन दिया गया और भारत को इंगलैंड की औद्योगिक उपज का बाजार बनाने का प्रयत्न किया गया। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना स्वेज नहर का निर्माण थी। इसके फलस्वरूप समुद्र के रास्ते से भारत और इंगलैंड का अन्तर ५५०० मील में घट गया और यूरोप के बाजार भारत के लिये खुल गये। मुक्त-व्यापार नीति के फलस्वरूप भी व्यापार के विस्तार में सुविधा हुई। सन् १८६४-६९ तथा सन् १८९९-१९०४ के बीच विदेशी व्यापार का वार्षिक मूल्य ९९ करोड़ रुपये से बढ़कर २१० करोड़ रुपया हो गया और सन् १९०९-१४ में यह ३७६ करोड़ रुपए तक पहुँच गया।

(ii) प्रथम महायुद्ध-काल—

सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ। युद्ध के कारण यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ बढ़ गई। साथ ही यूरोप के देश युद्ध-कार्य में इतने तल्लीन हो गये कि वे अपने विदेशी व्यापार को बनाये न रख सके। युद्ध काल में भारत में निर्यात और आयात दोनों में ही कमी हुई। सन् १९१३-१४ और १९१८-१९ के बीच निर्यात ३२४ करोड़ रुपये से घटकर केवल १६० करोड़ रुपए और आयात १९३ करोड़ रुपये के स्थान पर केवल ६३ करोड़ रुपये रह गये। अनुमानतः भारत के विदेशी व्यापार में कुल मिलाकर लगभग ५०% की कमी हो गई। शत्रु देशों के साथ तो व्यापार पूर्णतया बन्द हो गया, परन्तु मित्र देश भी माल मँगाने और भेजने में कठिनाई अनुभव

कर रहे थे। आयातो के घटने का परिणाम यह हुआ कि युद्ध-काल मे देश के उद्योगो को प्राकृतिक सरक्षण मिल गया।

(III) दो महायुद्धों के मध्य काल—

युद्धोत्तर-काल मे भारत के विदेशी व्यापार में एकदम तेजी आई। यूरोप के देशो की अर्थव्यवस्थायें युद्ध के कारण चौपट हो गई थी, इसलिये उन्हे आयातो की भारी आवश्यकता थी। भारत के लिय निर्यातो का बढाने और ऊँची कीमत प्राप्त करने का अच्छा अवसर था, परन्तु यातायात की कठिनाइयो तथा ऊँची विनिमय दर के कारण भारत इस तेजी का पूरा-पूरा लाभ न उठा सका।

सन् १६२०-२१ मे तेजी का यह क्रम टूट गया और विदेशी व्यापार मे फिर मन्दी आगई। परन्तु २ वर्षों के पश्चात् सन् १६२२-२३ मे फिर उद्धार काल आरम्भ हुआ। सन् १६२४-२५ तक दशाये काफी सुधर गई। अभिवृद्धि का यह क्रम निरतर आगे ही बढता रहा, कवल सन् १६२६-३२ के बीच महान् अवसाद के काल मे वह टूट गया था। सन् १६१६-२० तथा सन् १६२६-३० के बीच व्यापार की स्थिति निम्न थी —

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापाराशेष
१६१६-२०	३३६	२२२	+११४
१६२०-२१	२६७	३४७	— ८०
१६२१-२२	२४८	२८२	— ३४
१६२२-२३	३१६	२४	+ ७०
१६२६-३०	३१८	२४६	+ ६६

युद्धोत्तर-काल मे उद्धार का तत्काल कारण यह था कि धीरे-धीरे सभी योरोपीय देशो की मुद्राओ की कीमतो मे स्थिरता आ गई, उनकी साख मे वृद्धि हो गई और युद्ध के हर्जानो (Repatriation) का प्रश्न भी सुलझ गया था।

सन् १६२६ मे महान् अवसाद आरम्भ हुआ। इसके प्रथम चिन्ह संयुक्त राज्य अमरीका मे दृष्टिगोचर हुये थे। परन्तु धीरे-धीरे ससार के लगभग सभी देश इसकी जकड मे आ गये। अवसाद के प्रमुख कारण निम्न थे कच्चे मालो और निर्मित वस्तुओं का अति-उत्पादन होना, ससार का अधिकाश स्वर्ण अमरीका मे एकत्रित हो जाना, विभिन्न देशो मे मुद्रा-सकुचन की नीति अपनाया जाना, कुछ देशो मे राजनैतिक अशान्ति होना आदि।

युद्धोत्तर काल मे आर्थिक राष्ट्रीयवाद की भावना भी तीव्र हो गई थी, जिसके अन्तर्गत सभी देशो ने विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे और विदेशी व्यापार को अधिक सकुचित कर दिया था। विभिन्न देशो द्वारा स्वर्णमान का परित्याग, मुद्रा-अवमूल्यन, आयात अभ्यश नीति आदि ने भी विदेशी व्यापार के मार्ग मे

अनेक बाधायें उपस्थित की। अवसाद का सबसे बुरा प्रभाव कृषि प्रधान देशों पर पड़ा, क्योंकि ऐसे काल में कृषि उपज और कच्चे माल के मूल्यों में ही सबसे अधिक पतन होता है। इससे भारत के निर्यात व्यापार को भारी धक्का लगा। साथ ही, जनता के पास क्रय-शक्ति की कमी, राजनैतिक अशान्ति तथा देशी उद्योगों के विकास ने, जिसे संरक्षण नीति ने प्रोत्साहित किया था, आयातों को भी पर्याप्त मात्रा में घटा दिया था।

भारत में आयातों की तुलना में निर्यातों का पतन अधिक हुआ, जिसका मुख्य कारण यही था कि देश का निर्यात व्यापार कच्चे मालों से जिनकी कीमतें बहुत नीचे गिर गई थी, सम्बन्धित था। इस काल में भारत ने पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण का निर्यात किया और इसी कारण निर्यातों में कमी आने पर भी व्यापाराशेष अनुकूल ही बना रहा। सन् १९३० तथा सन् १९३८ के बीच भारत ने २५० करोड़ रुपये की कीमत के सोने का निर्यात किया। अवसाद के सबसे बुरे वर्ष अर्थात् सन् १९३२-३३ में भी हमारा व्यापाराशेष अनुकूल ही था, जिसकी मात्रा ३ करोड़ रुपया थी। यह इसी कारण सम्भव हुआ था कि हम निर्यातों की कमी से उत्पन्न हुई न्यूनता को विदेशों में सोना भेज कर पूरा कर रहे थे।

अवसाद सन् १९३३ में समाप्त हुआ और सन् १९३३-३४ में उद्धार की प्रवृत्ति फिर आरम्भ हो गई। फलतः विदेशों में भारत के माल की माँग बढ़ने लगी। इस उद्धार के अनेक कारण थे —सर्वप्रथम, अमेरिका और फ्रांस ने कृत्रिम उपायों द्वारा उद्धार का क्रम आरम्भ किया था। दूसरे, इसी काल में संसार के देशों ने दूसरे महायुद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी थी। तीसरे, ओटावा समझौते के कारण भारत और राष्ट्र-मण्डल देशों के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला था। चौथे, इसी काल में सन् १९३४ में भारत-जापान समझौता भी हुआ, जिसने भारतीय व्यापार के विस्तार में सहायता दी।

सन् १९३५-३६ तक व्यापार का विस्तार होता गया, परन्तु सन् १९३६-३७ में फिर मन्दी आई, जो सन् १९३९ तक चलती रही और अन्त में दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने पर फिर तेजी आरम्भ हुई। परन्तु महान अवसाद के पश्चात् भारतीय व्यापार का कोई विशेष विस्तार नहीं हो सका। कारण, युद्ध छिड़ने के भय से व्यावसायिक वर्ग चिन्तित था। इसके अतिरिक्त, चीन-जापान युद्ध के कारण पूर्व की मण्डियों में बहुत व्यापार सम्भव न था। सन् १९३९-४० में प्रथम बार तेजी प्रकट रूप में आई, क्योंकि युद्ध की तैयारी के लिये विभिन्न देशों ने अस्त्र उद्योगों के विकास और स्टॉकों के जमा करने पर अधिक व्यय करना आरम्भ कर दिया था, जिससे भारतीय निर्यातों के लिए माँग एवं उनके मूल्य दोनों में वृद्धि हुई थी।

(IV) दूसरा महायुद्ध-काल –

सन् १९३९ में दूसरे महायुद्ध का आरम्भ होते ही विदेशी व्यापार में तेजी के साथ वृद्धि हुई। कच्चे माल और निर्मित वस्तुएँ दोनों ही की विदेशी माँग पर्याप्त

बढी और यद्यपि बहुत से देशो को शत्रु घोषित करके उनके साथ व्यापार वर्जित कर दिया गया था तथापि भारतीय व्यापार निरंतर विस्तृत ही होता गया। निम्न आकड़े इस वृद्धि का कुछ अनुमान प्रदान करते है [यद्यपि ये पूर्णतया सन्तोषजनक नही है, क्योंकि उनमे ब्रिटिश सरकार द्वारा खरीदे हुए माल तथा उधार-पट्टा (Land-lease) प्रणाली द्वारा प्राप्त माल की कीमत नही दिखाई गई है] —

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	निर्यात	आयात	कुल व्यापार
१९४०-४१	७१७	१५७	३४४
१९४१-४२	२३७	१७३	४१०
१९४२-४३	१८७	११०	२८७
१९४३-४४	१९९	११८	३१७
१९४४-४५	२१०	२०४	४१४

युद्ध-काल के केवल सन् १९४२-४३ के वर्ष को छोड कर निरन्तर विदेशी व्यापार का विस्तार ही हुआ है। किन्तु वर्ष विशेष मे व्यापार की मात्रा घटने के कई कारण थे, जैसे —(i) जापान के युद्ध मे सम्मिलित हो जाने के कारण सुदूर-पूर्व (Far-east) का व्यापार समाप्त हो गया था। (ii) विनिमय नियन्त्रण प्रणाली को कड़ा कर दिया गया था, जिससे व्यापारियो को भारी असुविधा रहती थी। (iii) आयात तथा निर्यात व्यापारियों को अनुज्ञापित कर दिया गया था। (iv) युद्ध की प्रगति के साथ जलयानो के मिलने मे कठिनाई होती गई और इसका विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा। (v) कुछ देशो को तो शत्रु घोषित कर दिया गया था और उनके साथ व्यापार वर्जित था, परन्तु मित्र देश भी युद्ध कार्यों मे इतने व्यस्त थे कि वे सैनिक सामानो के अतिरिक्त अन्य माल भेजने मे असमर्थ थे। (vi) साम्राज्य डालर कोष के कार्यवाहन ने अमरीका से माल मँगाना कठिन बना दिया। (vii) शत्रु की कार्यवाहियों के कारण यातायात मे अधिक कठिनाई हुई। बाद को इन सब बाधाओ ने नियमितता धारण कर ली और इनके रहते हुए भी व्यापार का विस्तार होता रहा। युद्ध-काल की प्रमुख विशेषता यह थी कि निर्यातो की अपेक्षा आयातो मे अधिक कमी हुई थी।

(V) युद्धोत्तर-काल मे विदेशी व्यापार—

युद्ध का अन्त होने पर आयात स्थिति मे कुछ सुधार हुआ। युद्धकाल मे आयातो के रुक जाने तथा मूल्यो के ऊपर उठने पर देशी उद्योगो का समुचित विकास न हो सका था, जिससे देश मे पूँजीगत और आवश्यक कच्चे मालों का नितान्त अभाव अनुभव किया जा रहा था। अत युद्ध-कालीन तनाव कम होते ही आयातो मे वृद्धि हुई। जलयानो की कमी के कारण कठिनाई बनी रही। आरम्भ मे सबसे अधिक वृद्धि उन वस्तुओ के आयातो मे हुई, जिनकी सैनिक कार्यों के लिए आवश्यकता

थी, परन्तु तत्पश्चात् खाद्यान्न तथा पूँजीगत माल के भी आयात बढ़े। आयातों में इतनी तेजी के साथ वृद्धि हुई कि युद्धोत्तर काल में व्यापार ेष भारत के लिए प्रतिकूल हो गया। यह स्थिति आगे के आंकड़ों द्वारा स्पष्ट हो जाती है —

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात तथा पुनर्निर्यात	आयात		व्यापाराशेष
१९४५	२६६	२३२	—	३
१९४६	२६६	२९२	—	२६
१९४७	३२०	२३४	—	१४
१९४८	४२८	४५१	—	२३
१९४९	४२३	५४३	—	१२०

युद्धोत्तर-काल में आयातों की अत्यधिक वृद्धि के अनेक कारण थे, जैसे — (i) धीरे-धीरे भारत सरकार ने आयात सम्बन्धी प्रतिबन्धों को ढीला कर दिया था, (ii) जलयान यातायात की पूर्ति बढ़ गई थी (iii) देश में मुद्रा-प्रसार के दूर करने का प्रयत्न किया गया, (iv) खाद्यान्नों के आयातों में अधिक वृद्धि हुई और (v) भारत सरकार ने खुले सामान्य अनुज्ञापन (Open General Licences) नीति के अन्तर्गत आयातों के सम्बन्ध में उदारता को अपनाया था।

देश का विभाजन—सन् १९४७ से भारत के दो भाग कर दिये गये—पाकिस्तान और भारत। इस विभाजन के कई दुष्परिणाम हुए —(i) खाद्यान्न की बहुत कमी हो गई और (ii) कच्चा माल बनाने वाले क्षेत्र भारत से निकल गये। फलतः एक ओर तो खाद्यान्न का अधिक आयात करना पड़ा और दूसरी ओर रुई और पटसन के निर्यात में कमी आ गई। इन दोनों के सम्बन्ध में पाकिस्तान से अनेक समझौते किये गये, जिनका उसने पालन नहीं किया। फलतः हमारा निर्यात व्यापार बहुत घट गया और कच्ची सामग्री के लिए हमें विदेशियों पर निर्भर होना पड़ा। इस प्रकार देश के विभाजन ने हमारे विदेशी व्यापार का स्वरूप बदल दिया और व्यापार का सन्तुलन हमारे देश के अधिकाधिक प्रतिकूल होता चला गया। अन्त में इसे ठीक करने के लिए भारत सरकार को कृत्रिम उपाय करने पड़े।

१९४९ का रुपये का अवमूल्यन—युद्धोत्तर-काल में इङ्गलैंड तथा स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के अन्य देशों का व्यापाराशेष डालर क्षेत्र के साथ प्रतिकूल हो बना रहा। कुछ काल तक इङ्गलैंड ने मुद्रा-कोष तथा अमेरिका से ऋण लेकर डालर की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया, परन्तु जब किसी भी प्रकार घाटा पूरा न हो सका तो सितम्बर १९४९ में स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन पूरा कर दिया गया। इसमें डालर में स्टर्लिङ्ग की कीमत ४.०३ से घटकर २.८० रह गई। इङ्गलैंड का अनुकरण करते हुये पाकिस्तान को छोड़कर स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं का अव-

मूल्यन कर दिया। डालर में रुपये की कीमत ३० २२५ सेन्ट से घटकर केवल २१ सेन्ट रह गई। अवमूल्यन एक आर्थिक आवश्यकता थी। सन् १९४५ तक डालर क्षेत्र से भारत का व्यापार अनुकूल था, परन्तु सन् १९४६ से स्थिति बदलने लगी थी। सन् १९४८-४९ में तो उदार आयात नीति के फलस्वरूप भारत के डालर क्षेत्रीय व्यापार में १२० करोड रुपये का घाटा था। भारत में भी 'डालर समस्या' उत्पन्न हो गई थी किन्तु अवमूल्यन ने इस स्थिति को कुछ अंश तक सुधार दिया था।

जबकि सन् १९४८-४९ में घाटा १२० करोड रु० था, तब यह सन् १९४९-५० में १०९ करोड रु० और सन् १९५०-५१ में केवल २२ करोड ही रह गया। व्यापार-सन्तुलन की स्थिति में इस सुधार के लिए अवमूल्यन के अतिरिक्त अन्य कारण भी दायी थे —जैसे (i) सरकार ने डालर आयातों पर प्रतिबन्ध लगाकर देश की आयात माँग को स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से ही पूरा करने का प्रयत्न किया था। (ii) कोरिया युद्ध के आरम्भ होने पर सभी देशों ने सैनिक तैयारी तथा स्टॉकों का जमा करना आरम्भ कर दिया था, जिससे देश के पर्याप्त व्यापार को प्रोत्साहन मिला था। इस प्रकार, व्यापार की शर्तें भारत के अनुकूल होती गईं।

उपर्युक्त प्रवृत्ति सन् १९५०-५१ तक बनी रही। किन्तु अनेक अनुकूल घटक सन् १९५१ के प्रारम्भ में लुप्त हो गये। सरकार ने भी अपनी निर्यात नीति में परिवर्तन किया और देशी उपजों की देशी उद्योगों में अधिक मात्रा में उपयोग करना आरम्भ कर दिया। इससे सन् १९५२ के प्रारम्भ में व्यापाराशेष की प्रतिकूलता सन् १९४८-४९ की अपेक्षा भी अधिक हो गई।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विदेशी व्यापार

देश में १ अप्रैल सन् १९५१ से नियोजित विकास कार्यक्रम आरम्भ हुआ। योजनाबद्ध विकास कार्यक्रमों ने हमारे विदेशी व्यापार पर गहरा प्रभाव डाला है। नियोजन की अवधि में विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

(१) **विदेशी व्यापार का कुल परिमाण**—विदेशी व्यापार का कुल परिमाण जो सन् १९५०-५१ में १,२५१ करोड रु० था, सन् १९५५-५६ में १,३८३ करोड रु०, सन् १९६०-६१ में १,७६५ करोड रु०, सन् १९६५-६६ में २,२१५ करोड रु० और १९६६-६७ में २,५७५ करोड रु० था। अवमूल्यन के बाद की दर पर यह राशि १९६५-६६ के लिये ३,४८८ करोड रु० और १९६६-६७ के लिये ३,२३४ करोड रु० होती है। १९६७-६८ और १९६८-६९ के लिए व्यापार की कुल राशि क्रमशः ३,१८५ करोड रु० और ३,१३९ करोड रु० बैठती है।

(२) **प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन**—व्यापार सन्तुलन सन् १९४७ से देश के प्रतिकूल रहता है। यह प्रतिकूलता द्वितीय योजना के प्रारम्भ होने पर बहुत बढ़ गई थी, क्योंकि खाद्यान्नों, पूँजीगत वस्तुओं और कच्ची कपास का आयात बहुत बढ़ गया था। सन् १९५७-५८ में घाटा ६४० करोड रु० तक जा पहुँचा। बाद में कुछ सुधार हुआ, जिससे यह सन् १९६०-६१ में ४८० करोड रु० और सन् १९६१-६२ में ४३२

करोड रु० रह गया। तृतीय योजना के दूसरे वर्ष से व्यापारिक घाटा पुन बढ़ने लगा। सन् १९६२-६३ मे यह ४४६ करोड रु० हो गया। सन् १९६३-६४ मे कुछ कमी आई और यह ४३० करोड रु० रहा। किन्तु इसके बाद इसमे निरन्तर वृद्धि होती गई। यह सन् १९६४-६५, १९६५-६६ और १९६६-६७ मे क्रमश ५३३ करोड रु०, ६०२ करोड रु० और ६४१ करोड रु० हो गया। अवमूल्यन के बाद की दर पर घाटा १९६४-६५ मे ८४० करोड रु०, १९६५-६६ मे ९५० करोड रु० था। १९६६-६७ मे ९२२ करोड रु०, १९६७-६८ मे ७८७ करोड रु० और १९६८-६९ मे ४३३ करोड रु० रहा।

(३) **निर्यात सम्बन्धी प्रवृत्तियां**—नियोजन के प्रथम दस वर्षों (सन् १९५१-१९६१) भारतीय निर्यात लगभग स्थिर रहे। पहली योजना म कुल निर्यात ३,०४४ करोड रु० अथवा वार्षिक औसत ६०९ करोड रु० था जबकि दूसरी योजना मे कुल निर्यात ३,११० करोड रु० अथवा वार्षिक औसत ६२२ करोड रु० था। इस प्रकार, दूसरी योजना के दौरान निर्यात व्यापार पहली योजनावधि की अपेक्षा थोडा ही अधिक था। यद्यपि दूसरी योजना के अन्तिम दो वर्षो के दौरान निर्यात मे स्पष्ट वृद्धि की प्रवृत्ति दिखाई दी। इस दशक मे विश्व के निर्यात व्यापार मे भारत का भाग जहां २ २% था, वहां १९६० मे घटकर केवल १ २% रह गया। तीसरी योजना की अवधि म हमारे निर्यात निरन्तर बढते गये, केवल अन्तिम वर्ष पाक आक्रमण के कारण उनमे कमी हुई। सन् १९६०-६१ मे ६४२ करोड रु० से बढकर निर्यात १९६१-६२ मे ६६१ करोड रु०, १९६२-६३ मे ६८५ करोड रु०, १९६३-६४ मे ७९३ करोड रु० एव १९६४-६५ म ८१६ करोड रु० हो गये। किन्तु १९६५-६६ मे निर्यात लगभग ८०७ करोड रु० ही थे। इस प्रकार तीसरी योजनावधि मे वार्षिक निर्यात औसत ७५२ करोड रु० हुआ। यह दूसरी योजना की अपेक्षा २१% ऊँचा था।

१९६५-६६ म हमारे निर्यात अवमूल्यन के बाद की दर पर १,२६९ करोड रु० थे। १९६६-६७मे १,१५६ करोड रु० रहे। इस प्रकार अवमूल्यन के तत्काल बाद निर्यात नही बढे जिसकी हमे आशा थी। बाद को स्थिति मे सुधार हुआ और निर्यात धीरे-धीरे बढने लगे। यह १९६७-६८ मे १,१९९ करोड रु० और १९६८-६९ म १,३५३ करोड रु० हो गये। विगत वर्षो म हुई तेज वृद्धि के बावजूद विश्व के निर्यात व्यापार मे भारत का योगदान केवल ०·९५% रहा।

निर्यात के मूल्य मे उत्तरोत्तर वृद्धि होने के अतिरिक्त निर्यात सम्बन्धी एक नवीन प्रवृत्ति यह है कि इसकी रचना में भी परिवर्तन हो गये है। सन् १९४८-४९ मे हमारी तीन प्रमुख निर्यात वस्तुओं—जूट, सूती वस्त्र और चाय—का भाग कुल निर्यात मे ६७% था, जो सन् १९६०-६१ मे ४८% और १९६५-६६ मे केवल ४८% रह गया। लाख एव तिलहन का भाग भी घटा है। तीसरी योजनावधि मे चीनी, लोहा और इस्पात, हाथ करघे के कपडे, इन्जीनीयरी के सामान आदि अनेक

वस्तुओ के निर्यात मे भी वृद्धि हुई । इसके अतिरिक्त कुछ नई वस्तुओ का पहले पहल निर्यात किया गया, जो प्रधानत इन्जीनियरी और रसायन क्षेत्र की है । १९४७-४८ मे हमारे निर्यात मे केवल ५० मदे शामिल थी किन्तु अब इन मदों की सख्या बढकर ३,६६० से भी अधिक हो गई है । १९६८ ६९ मे तैयार माल के निर्यात मे २०% वृद्धि हुई और कच्चे माल विशेषत खनिज पदार्थों के निर्यात मे केवल ३% वृद्धि हुई । इस वर्ष (१९६८-६९) मे लोह और इस्पात से सबसे अधिक विदेशी मुद्रा कमाई गई ।

विगत वर्षो मे प्रमुख वस्तुओ के निर्यात की स्थिति निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है —

(करोड रुपये)

वस्तु	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६७-६८
पटसन का सामान	१४४	११८	१३५	१८३	२३४
चाय	८०	१०९	१२३	१०३	१७९
सूती वस्त्र	१३८	६४	५८	६३	७९
खली	—	५	१४	३५	४५
कच्चे धातु	१०	२३	३९	२५	८६
काजू	९	१	१९	७	४३
तम्बाकू	१९	११	१६	२२	३५
कहवा	१	२	७	१३	१८
चीनी	—	१	३	१२	१६
मसाले	१६	११	१७	२३	४५
अभ्रक	१०	८	१०	१९	१५
वनस्पति तेल	२५	३४	९	४	४
गोंद लाख	१४	१३	९	३	५
रुई	१७	३९	१२	१३	१९

तीसरी योजना की अवधि मे भारत के निर्यात व्यापार के **भौगोलिक वितरण** मे भी ध्यान देने योग्य परिवर्तन आये । इस अवधि मे भारत से पश्चिम यूरोप को होने वाले निर्यात मे थोडी-सी कमी आई । दूसरी ओर अमरीका को होने वाले निर्यात मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई । यह वृद्धि मुख्यतया अमरीका को होने वाले निर्यात वृद्धि के कारण हुई । १९६०-६१ मे अमरीका को होने वाला भारत का निर्यात जहाँ १६ प्रतिशत था वहाँ १९६५-६६ मे बढकर १८·३ प्रतिशत हो गया । पर भारत के निर्यात व्यापार मे सबसे अधिक वृद्धि पूर्व यूरोप के देशो को (जिनमे रूस भी शामिल है) होने वाले निर्यात के क्षेत्र मे हुई, जहाँ १९६०-६१ मे भारत के निर्यात मे केवल

७ ७ प्रतिशत अश इन देशो का था वहाँ १९६५-६६ मे यह अश बढकर १९.३ प्रतिशत हो गया। इस निर्यात मे मुख्य भाग रूस को होने वाले निर्यात का रहा। अफ्रीका और एशिया तथा सुदूर-पूर्व के देशो को होने वाले निर्यात मे मूल्य की दृष्टि से साधारण सी ही वृद्धि हुई।

अब ससार के लगभग सभी राष्ट्रो को हम निर्यात करते हैं जिनमे से प्रमुख देशो का ब्यौरा निम्न तालिका म दिया गया है —

(करोड रुपया)

देश	१९५०-५१	१९५५ ५६	१९६० ६१	१९६५-६६	१९६७ ६८
अमेरिका	११५	८७	१०३	१४८	२०७
ब्रिटेन	१४०	१६६	१७३	१४६	२२९
रूस	?	३	२९	९३	१३२
जापान	१०	३०	३५	५७	१३६
स अरब गणराज्य	६	९	१३	२७	२२
कनाडा	१४	१४	१८	२०	३०
प० जर्मनी	११	१५	२०	१८	२२
आस्ट्रेलिया	३०	२५	१२	१८	८८

तीसरी योजना की अवधि म निर्यात को बढाने के लिये कई सस्थागत वित्तीय तथा अन्य प्रकार के उपाय किये गये थ। निर्यात को बढाने के लिए सस्थाओ के ढाँचे मे तीसरी योजना की अवधि म सुदृढता लाई गई। वाणिज्य मन्त्रालय मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक नया विभाग १९६२ के प्रारम्भ म ही खोल दिया गया था। व्यापार तथा वाणिज्य के सभी लक्ष्यो की समीक्षा करने के लिए तथा सरकार को परामर्श देने के लिए एक **उच्चस्तरीय व्यापार मण्डल** (Board of Trade) गठित किया गया था। (इसका १९६६ म पुनर्गठन हुआ है।) **इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फारेन ट्रेड** (Indian Institute of Foreign Trade) नामक एक नई सस्था एक स्वायत्त सगठन के रूप म खोली गई, जिसका उद्देश्य प्रशिक्षण अनुसन्धान और बाजार अध्ययनो स सम्बन्धित कायक्रमो का विकास करना था। तीसरी योजना की अवधि म बहुत सी **निर्यात वर्धक परिषदें** गठित की गई, जिससे इनकी सख्या अब १९ हो गई है। परिषदा के कार्यो म समन्वय स्थापित करने तथा विकास कार्यों म उन्हें सहायता पहुँचाने के लिय एक शीर्ष सस्था **'भारतीय निर्यात सगठन सघ'** (Federation of Indian Export Organisations) स्थापित किया गया है। सरकारी व्यापार निगम के सहायक खनिजो और धातुओ के निर्यात की वृद्धि करने के लिए **खनिज तथा धातु व्यापार निगम** स्थापित किया गया।

तीसरी योजना की अवधि मे निर्यात मे होने वाली आय की वृद्धि का एक प्रमुख कारण यह भी था कि इसमे बहुत-सी निर्मित वस्तुओ और तैयार किये गये माल के निर्यात को बढ़ाने के लिए विशिष्ट कार्यक्रम चालू किये गये। इनमे से कई कार्यक्रम तीसरी योजना के शुरू होने के पहले ही प्रारम्भ किये जा चुके थे पर तीसरी योजना की अवधि मे इन्हे परिष्कृत और संशोधित किया गया।

निर्यात को बढ़ाने म वित्तीय उपाय भी सहायक हुये। तीसरी योजना की अवधि मे कई वस्तुओ पर आयात कर तथा उत्पादन की वापसी के रूप मे वित्तीय प्रोत्साहन दिया गया। चाय पर लगने वाला निर्यात कर क्रमश घटाया गया और अन्त मे समाप्त कर दिया गया। जुलाई १९६३ मे एक बाजार विकास निधि स्थापित की गई तथा निर्यात वर्धक परिषदो को अनुदान देने के लिये और भारतीय निर्यात वस्तुओं की विदेशो मे बिक्री बढ़ाने मे कार्यक्रमो तथा परियोजनाओ को चलाने के लिए केन्द्रीय बजट म १९६३-६४ से लगातार विशिष्ट राशियों की व्यवस्था की जाती रही है। निर्यात करने वालो को कुछ प्रत्यक्ष करो की छूट १९६२-६३ के केन्द्रीय बजट से ही शुरू कर दी गई थी। १९६५-६६ के केन्द्रीय बजट म भारत सरकार ने निर्यातकों को निर्यात के २ प्रतिशत से लेकर १५ प्रतिशत तक कर उधार प्रमाण-पत्र देने की घोषणा की थी। प्रारम्भ मे बाईस वस्तुओ की सूची दी गई थी जिन्हे कर उधार के लिए उपयुक्त माना गया था।

देश से निर्यात होने वाली वस्तुएँ ठीक प्रकार की हो इस बात को सुनिश्चित करने के लिए ससद ने १९६३ मे (किस्म नियन्त्रण और निरीक्षण) अधिनियम पास किया था। इसके बाद कई अन्य वस्तुएँ इस अधिनियम के क्षेत्र मे लाई गई और एक निर्यात निरीक्षण सलाहकार परिषद (Export-Inspection Advisory Council) भी गठित की गई, जो किस्म नियन्त्रण सम्बन्धी कार्यक्रम बनाती है। तीसरी योजना के अन्त तक देश से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं मे से लगभग ८० प्रतिशत किस्म नियन्त्रण और जहाज मे लदान से पूर्व निरीक्षण की योजना के अन्तर्गत आ चुकी है।

तीसरी योजना की अवधि मे विश्व निर्यात की अपेक्षा भारत के निर्यात मे वृद्धि की गति धीमी रही। परिणामस्वरूप विश्व-निर्यात मे भारत का भाग जहा १९६० में १ २ प्रतिशत था, १९६५ मे घटकर १ ० प्रतिशत से भी कम रह गया।

(४) *आयात सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ*—पच-वर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत होने वाले विकास ने सबसे अधिक प्रभाव आयातो पर डाला है। पहली योजनावधि के कुल आयात ३,६१५ करोड रु० (वार्षिक औसत स्तर ७२३ करोड रु०) थे, द्वितीय योजना के कुल आयात ५,४२६ करोड रु० (वार्षिक औसत स्तर १०८५ करोड रु०) थे। इस प्रकार पहली योजना की अपेक्षा द्वितीय योजना मे आयात स्तर ५६% बढ गया। तीसरी योजना के लिए आयात बिल ६,१८१ करोड रु० था। वार्षिक आयात स्तर १,२३६ करोड रु० था। इस प्रकार, तीसरी योजना के औसत आयात स्तर मे

दूसरी योजना की अपेक्षा ३६% के लगभग ही वृद्धि हुई। तीसरी योजना मे चीनी हमले के बाद आयात पुनः बढ़ गये, यद्यपि योजना के प्रथम वर्ष मे ये काफी घट गये थे। सन् १९६०-६१ मे आयात १,१२२ करोड रु० से घटकर सन् १९६१-६२ मे १,०९१ करोड रु० रह गये थे किन्तु सन् १९६२-६३ मे बढकर १,१३१ करोड रु०, १९६३-६४ मे १,२९० करोड रु० और १९६४-६५ मे १,३१४ करोड रु० हो गये। पाक आक्रमण और देश मे २ वर्ष के निरन्तर सूखे की स्थिति के कारण खाद्यान्नो व रक्षा सामग्री का आयात बढ गया यह १९६५-६६ मे १,३५० करोड रु० था। १९६६-६७ मे कुल आयात १४०९ करोड रु० हुये। अवमूल्यन के बाद की दर पर आयात १९६४-६५ मे २,१२६ करोड रु० १९६५-६६ मे २,२१९ करोड रु० और १९६६-६७ मे २,०७८ करोड रु० हुये। १९६६-६७ मे आयात बिल मे जो कमी आई वह अवमूल्यन का सुपरिणाम था तथा देश मे अर्थव्यवस्था सुधरने लगी थी। १९६७-६८ और १९६८-६९ मे आयात क्रमशः १,९८६ करोड रु० और १,७८६ करोड रु० हुये। इस प्रकार आयात स्थिति मे काफी सुधार हुआ है।

आयातो के सम्बन्ध मे दूसरी उल्लेखनीय प्रवृत्ति यह है कि कुल आयात मे सरकारी क्षेत्र का भाग निरन्तर बढ रहा है। यह १९५५-५६ मे १८% था और आज-कल कुल आयात मे सरकारी भाग ५० प्रतिशत से भी अधिक हो गया है। इन आयातो मे खाद्यान्न सरकारी उपक्रमों के लिए पूँजीगत सामान, लौह व स्पात रेलवे स्टोर्स, कम्यूनीकेशन स्टोर्स आदि सम्मिलित है।

प्राइवेट आयातो मे आवश्यक कच्चे मालो, अर्द्ध-निर्मित वस्तुओ और पूँजीगत वस्तुओ का भाग बढा जबकि अविकासात्मक मदो, विशेषतः उपभोक्ता सामान का भाग बहुत कम हो गया। लोहा एवं स्पात का उत्पादन स्वदेश मे ही बढने से इसका आयात भी काफी कम हुआ। तीसरी योजना के अन्तिम वर्षो मे खाद्यान्नों का आयात एकाएक बढ गया। अमेरिका, जापान, बर्मा, संयुक्त अरब गणराज्य और प० जर्मनी से आयात ऊँचे रहे किन्तु सऊदी अरब और यू० के० से घटे। सोवियत रूस से भी हमारे आयात बढ रहे है।

(५) व्यापार की दिशा—जहाँ तक भारत के व्यापार मे विभिन्न देशो के महत्त्व का प्रश्न है, २०वी शताब्दी मे ब्रिटेन और साम्राज्य देशो के साथ व्यापार मे निरन्तर वृद्धि हुई। सन् १९०४ १४ मे इन देशो का भाग केवल ४१% था, जो १९४४-४५ मे ६३% तक पहुँच गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद देश का व्यापार साम्राज्य और अन्य देशो के साथ लगभग समान रहा है। प्रथम योजना के अन्त मे गैर-साम्राज्य देशो के साथ व्यापार बढ रहा था। आजकल हमारे सर्वाधिक आयात प० यूरोप से है, जिसमे यू० के० और ई० ई० सी० देश मुख्य है। प० गोलार्ध का आयात सूची मे दूसरा स्थान है। इस क्षेत्र मे हमारा सबसे बडा सप्लायर अमेरिका है। पूर्वी-यूरोप मे हमारा सबसे बडा सप्लायर रूस है। हमारे आयात अमेरिका और रूस से बढ रहे हैं जबकि यू० के० और ई० ई० सी० देशों से घटे है।

हमारे सर्वाधिक निर्यात के क्षेत्र क्रम मे प० यूरोप (जिसमे प्रमुख यू० के० व ई० ई० सी देश)। प० गोलार्द्ध (जिसमे प्रमुख अमेरिका), अन्य एशियाई देश, पूर्वी यूरोप, मध्य पूर्व एव अन्य अफ्रीकी देश हैं।

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा
(अप्रेल-मार्च)

(करोड रु०)

देश/क्षेत्र	आयात		निर्यात	
	१९६८-६९	१९६७-६८	१९६८-६९	१९६७-६८
१ यूरोपीय साझा बाजार	२३३ ६५	२५६ १२	११० ८४	८८ ४८
२ यूरोपीय स्वतन्त्र बाजार क्षेत्र	१७० ४६	२०८ ७०	२१६·२८	२४२ ३४
जिसमे यू० के०	१२२·८७	१६२·६५	२००·८३	२२८ ४७
३ पूर्वी यूरोपीय देश	३०१·०४	२२२ २०	२६६·१९	२२४ ५८
जिसमे रूस	१८५ ५१	१११ २२	१४८·१७	१२० ५१
४ नार्थ अमेरिका	६७३·७८	८७४ ९२	२६३ ०७	२३५ ६६
जिसमे अमेरिका,	५७५·०६	७७६ ६४	२३३ ४०	२०६ २२
कनाडा	९८ ७०	९८ ०८	२९ ६७	२९ ७४
५ लेटिन अमेरिका	१६ ८३	१३ ८६	३·६५	५·४५
६ अफ्रीका	१४८ २२	९४ ७२	७२ ७६	६९·९९
जिसमे मिश्र	४१ ४१	२६ ९०	२१ ८२	२१ ५०
७. ईकेफी	२७८ २७	२८८ ८८	३४३ ६४	२७०·०८
जिसमे जापान	११५ ३०	१०८ ४३	१५८·१६	१३५·६९

भारत का भुगतान सतुलन

प्राचीन और मध्ययुग मे भारत का व्यापार सतुलन और भुगतान सन्तुलन दोनो ही अनुकूल रहते थे, क्योकि वह जितना आयात करता उससे कही अधिक निर्यात भी करता था। ब्रिटिशकाल मे यद्यपि व्यापार सन्तुलन भारत के अनुकूल रहता था तथापि उसका भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल था। भारत को प्रतिवर्ष होम चार्जेज (Home Charges) के रूप म भारी राशि इङ्गलैंड को देनी पड़ती थी, जिसके लिए उसे वस्तुओं का अधिक निर्यात करना पडता था। इस अधिक निर्यात के बदले मे हमे सोना या चाँदी प्राप्त नही होता था। द्वितीय महायुद्ध काल मे भारत के निर्यात इतने बढ गये और उसके आयात इतने कम हो गये कि न केवल उसने इङ्गलैंड का पिछला ऋण चुका दिया वरन् उसके लेनदार के रूप म भी सामने आया। अब वह अपने निर्यात आधिक्य के बदले मे सोना चांदी प्राप्त कर सकता

था। किन्तु युद्धोत्तरकाल में व्यापार सन्तुलन और इसके फलस्वरूप भुगतान सतुलन प्रतिकूल हो जाने से यह सम्भव न हो सका। युद्धोत्तरकाल में भारत को भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी स्थिति का अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है —(I) अवमूल्यन के पूर्व की व्यवस्था (II) अवमूल्यन से लेकर पहली योजना के अन्त तक की अवस्था (III) द्वितीय योजनावधि एवं (IV) तृतीय योजनावधि की अवस्था।

(I) १६४६ के अवमूल्यन से पूर्व भुगतान सतुलन की स्थिति—

युद्ध की समाप्ति के बाद भुगतान सतुलन म युद्धकालीन आधिक्य शीघ्रता म घाटे म परिणित हो गया। सन् १६४८-४६ में चालू भुगतान सतुलन का घाटा ~५२१ करोड रु० तक पहुच गया था। इसके लिये मुख्यत व्यापार सतुलन की प्रतिकूलता दायी थी और व्यापार सतुलन की प्रतिकूलता के लिये निम्न कारण दायी थे —(i) युद्धकाल मे स्टर्लिंग की कमाई के आधार पर भारत म नोट छापे गये जिससे मुद्रा स्फीति बढ गई। परिणामत देश बिक्री के लिये अच्छा और खरीद के लिय बुरा बाजार बन गया। (ii) युद्ध समाप्त होते ही सरकार ने आयात नियत्रण ढीले कर दिय जिससे कि युद्धकाल मे उपभोक्ता वस्तुओं के लिये स्थगित रखी गई विशाल माग की सन्तुष्टि हो सके। इससे आयातो मे भारी वृद्धि हुई। (iii) औद्योगिक मशीनरी के प्रतिस्थापन तथा नवकरण के लिये पूंजीगत सामान का भारी मात्रा म आयात हुआ क्योकि युद्धकाल म यह काय स्थगित रखना पडा था। (iv) देश विभाजन के फलस्वरूप कच्चे जूट और कपास की बडी कमी हो गई और इनका हमे विदेशो से आयात करना पडा। (v) गेहू उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र पाकिस्तान मे रह गये जिससे खाद्य समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया। फलत भारत को विशाल मात्रा मे खाद्यान्न का आयात करना पडा। (vi) देश मे बहु उद्देश्य नदी घाटी योजनाय आरम्भ की गई। इन विकास कायक्रमो के लिए पूंजीगत साज-सामान भारी मात्रा में मंगाना पडा। (vii) श्रम सघर्षों और प्राकृतिक सकटों क कारण युद्ध पूव के वर्षों की तुलना म युद्ध के बाद हमारे कृषि एव औद्योगिक उत्पादन में कमी हो गयी जिससे निर्यात के लिए आधिक्य कम रह गया। (viii) अदृश्य मदों (जैसे विदेशो म दूतावासो) पर व्यय बढ गया।

इन सब कारणो से भारत को युद्धोत्तर अवधि मे भुगतान मे घाटे का सामना करना पडा। भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी स्थिति के सुधार के लिए सरकार ने निम्न लिखित कदम उठाये —

(१) कृषि एव औद्योगिक उत्पादन बढाने के यत्न किये गये जसे—अधिक खाद्यान्न उपजाओ आन्दोलन अधिक कपास उपजाओ एव अधिक जूट उपजाओ आन्दोलन चलाय गय। उत्पादन सम्बन्धी करो म छूट दी गई तथा अन्य प्रोत्साहन भी दिय गय।

(२) मुद्रा प्रसार पर नियन्त्रण रखने हेतु लघु बचत आन्दोलन आरम्भ किया गया मूल्य नियन्त्रण व कोटा निर्धारण की पद्धति अपनाई गई।

(३) विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी विस्तृत अधिकार रिजर्व बैंक को सौंपे गये, जिससे व्यर्थ वस्तुओं पर विदेशी मुद्रा का व्यय न हो।

(४) 'गोरवाला निर्यात प्रोत्साहन समिति" की सिफारिशों पर निर्यात बढ़ाने के लिए सरकार ने अनेक उपाय किये, जैसे—अधिक निर्यात करने पर आय कर में छूट देना, डाक पामल दरें कम करना, कुछ निर्यात वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क की वापसी रेल भाड़ों में कमी निर्यात सलाहकार परिषद् तथा अलग-अलग वस्तुओं के लिए निर्यात प्रोत्साहन समितियों की स्थापना आदि।

(५) आयातों को भी कम से कम करने के लिए निम्न उपाय किये गये— आयात सलाहकार परिषद् की स्थापना, आयात लाइसेंसिंग की प्रथा आरम्भ करना कई वस्तुएं 'स्वतन्त्र आयात सूची (Open General Licence) में से निकाल देना आयात वस्तुओं की प्राथमिकता सूची बनना, हर छठे माह आयात नीति पर पुनर्विचार करना स्थगित भुगतान पद्धति पर आयात की व्यवस्था करना, उपभोग वस्तुओं का आयात लगभग रोक देना, आदि।

अन्त में जब उपरोक्त उपाय विशेष सफल होते दिखाई न पड़े, तो सितम्बर १९४९ में रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया तथा डालर की अल्पता के कारण व्यापार को डालर क्षेत्रों से मोड़कर सुलभ मुद्रा क्षेत्रों में बढ़ाने के यत्न किये गये।

(II) अवमूल्यन के बाद प्रथम योजना की समाप्ति तक भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी स्थिति—

प्रथम योजनावधि में केवल एक वर्ष १९५१ ५२ को छोड़कर शेष अवधि के लिए भारत का भुगतान सन्तुलन (चालू खाता) आधिक्य का रहा। इस अवधि में *व्यापार सन्तुलन निरन्तर प्रतिकूल रहा और यह प्रतिकूलता बढ़ती गई। चूँकि अदृश्य* मदों के सम्बन्ध में अनुकूल शेष था इसलिए व्यापार सन्तुलन के प्रतिकूल होते पर भी भुगतान सन्तुलन में आधिक्य हुआ।

भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी स्थिति में सुधार का तत्कालिक कारण रुपये का *अवमूल्यन था, जिसने आयातों को निरुत्साहित तथा* निर्यातों को प्रोत्साहित किया। आयात प्रतिबन्ध भी कड़े कर दिये गये थे। कोरियाई युद्ध के कारण भारतीय निर्यात की मात्रा और कीमतें दोनों बढ़ गईं। किन्तु ये सब अस्थाई घटक थे, जो १९५१ के प्रारम्भ में ही लुप्त हो गये। *तत्पश्चात् व्यापारिक सन्तुलन में गम्भीर घाटा हुआ* (=२३२ ८ करोड़ रु०)। इस प्रतिकूलता का कारण प्राकृतिक विपदाओं के फलस्वरूप देश में कृषि उत्पादन कम होना था। इससे विदेशों से भारी मात्रा में खाद्यान्न और कच्ची कपास का आयात करना पड़ा। पाकिस्तान द्वारा अवमूल्यन न करने से पाकिस्तानी जूट के लिए भी अधिक दाम देने पड़े।

किन्तु १९५१-५२ एक अपवाद वर्ष था। तत्पश्चात् जलवायु सम्बन्धी अनुकूल

दशाओ के कारण कृषि उत्पादन काफी बढ गया। इससे कपास, खाद्यान्न और जूट के आयात बिल मे बहुत कमी हुई। चूँकि प्रथम योजना मे औद्योगिक विनियोग के कार्यक्रम साधारण ही थे, इसलिए पूँजीगत सामान का आयात भी कम रहा।

(III) द्वितीय योजनावधि में भुगतान सन्तुलन—

द्वितीय योजना के प्रथम वर्ष मे भुगतान सतुलन का १९५५-५६ का आधिक्य 'घाटे' मे परिणित हो गया। यो तो सम्पूर्ण योजनावधि मे गम्भीर घाटे रहे किन्तु १९५७-५८ सबसे अधिक और भयकर घाटे का वर्ष था। इस वर्ष ५०५ करोड रु० का घाटा हुआ। ये घाटे क्यो हुए और १९५७-५८ मे सबसे अधिक घाटा क्यो हुआ, इसके प्रमुख कारण निम्न थे —

(१) **विशाल विनियोग कार्यक्रम**—द्वितीय योजना एक बडी महत्वाकाक्षी योजना थी। इसके अन्तर्गत औद्योगिक क्षेत्र में विनियोग से विशाल कार्यक्रम बनाये गय थे। फलत योजना के पहले वर्ष से ही आयातो में वृद्धि हो गई। १९५७-५८ में मशीनो और धातुओ का आयात ५३४ करोड रु० हुआ जब कि १९५६-५७ में ४४२ करोड रु० और १९५५-५६ में केवल २९९ करोड रु० था।

(२) **खाद्य स्थिति में बिगाड**—प्राकृतिक कठिनाइयो के कारण खाद्य-स्थिति भी बिगड गई, जिससे खाद्यान्नो के आयात में भारी वृद्धि हुई। जबकि १९५५-५६ में २६ करोड रु० का खाद्यान्न मँगाया गया था तब सितम्बर १९५८ को समाप्त होने वाले २½ वर्षों में २९६ करोड रुपये का मगाया गया।

(३) **निर्यात वस्तुओ की खपत देश में ही बढना**—निर्यात की जाने वाली अनेक वस्तुओ (जैसे तिलहन, लोहा और कपास आदि) की खपत देश में ही बढ गई, क्योकि इनका प्रयोग करने वाले कारखाने देश में खुलते जा रहे थे।

(४) **मुद्रा प्रसार**—मुद्रा प्रसार के फलस्वरूप उत्पादन व्यय बढ गये और निर्यात वस्तुओ के मूल्य में वृद्धि हो गई। इससे इङ्गलैंड और जापान की सस्ती व टिकाऊ वस्तुओं से विश्व बाजार में प्रतियोगिता करना कठिन हो गया।

फलत एक ओर निर्यातो मे कमी आई जबकि दूसरी ओर आयातो मे भारी वृद्धि हो गई। आयात सन् १९५५-५६ में ७६६·१४ करोड रुपये से बढकर १९५६-५७ में १०९६५ करोड रु० और १९५७-५८ मे सबसे अधिक अर्थात् १,२३३ करोड रु० हो गये। अत द्वितीय योजना मे भुगतान सन्तुलन घाटे का हो गया।

यह उल्लेखनीय है कि द्वितीय महायुद्ध के पूर्व व्यापार-सन्तुलन की अनुकूलता भारत के लिए आवश्यक समझी जाती थी, जिससे कि वह "होम चार्जेज" का भुगतान करता रहे। लेकिन अब व्यापार सन्तुलन की अनुकूलता इतनी आवश्यक नही रह गई है और आगामी १० वर्ष तक सम्भव भी नही है, क्योकि पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत जो विशाल-विकास कार्यक्रम चल रहे है उनके लिए हमें भारी मात्रा में मशीनो, कच्चे मालो तथा अन्य साज-सामान का अनिवार्य रूप से आयात करना पडेगा। अत, यदि व्यापार सन्तुलन और इसके फलस्वरूप भुगतान सन्तुलन

में घाटे रहते हैं, तो इसमें हमें घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। इसे हम अपने संचित विदेशी मुद्रा कोष पर आहरण करके, और, विश्व बैंक, मुद्रा कोष एवं मित्र देशों से आर्थिक सहायता लेकर पूरा कर सकते है।

किन्तु यह भी सच है कि एक दीर्घकाल तक व्यापार-सन्तुलन का प्रतिकूल रहना अवश्य ही चिन्ता की बात होगी। द्वितीय योजनावधि में जो भीषण घाटे हुए उनसे तो हमारी योजना के खटाई में पड़ने तक का भय उत्पन्न हो गया था। फिर मित्र देशों के ऋणों पर अधिक निर्भर रहना उचित नहीं है, क्योंकि इसके साथ राजनैतिक शर्तें जोड़ी जा सकती हैं। फिर भविष्य में ऋणों की अदायगी भी तो करनी होगी। अतः यह जरूरी है कि देशी उपभोग में यथासम्भव संयम से काम लेकर और समुचित निर्यात-वृद्धि उपायों द्वारा व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता को न्यूनतम् सीमा तक घटाया जाय। हर्ष का विषय है कि भारत सरकार ने यही नीति अपनाई थी। उसने आयात प्रतिबन्धों को कड़ा किया, आयात-प्रतिस्थापन (Import substitution) एवं आयात-जमा (Import Deposit) योजनायें प्रारम्भ की तथा निर्यात सम्वर्धन के लिए निम्न कार्य किये —

(१) निर्यात सम्वर्धन परिषदों व निर्यात जोखिम बीमा निगम की स्थापना।

(२) निर्यात नियन्त्रण व कोटा पद्धति की समाप्ति अधिकांश निर्यात शुल्क हटाना, उत्पादन-शुल्क की वापसी, निर्यात उद्योगों के कच्चे मालों के आयात के लिए विशेष लाइसेन्स देना। परिवहन सुविधाओं में प्राथमिकता देना।

(३) राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) के द्वारा कम्यूनिस्ट देशों से व्यापार बढ़ाना।

(४) बाजारों का अध्ययन करना, विश्व प्रदर्शिनियों में भाग लेना, द्विपक्षीय व्यापार समझौते करना, विज्ञापन एवं प्रचार के लिए विशेष आयोजन करना।

उपरोक्त उपायों के फलस्वरूप निर्यातों में वृद्धि और आयातों में कमी होकर व्यापारिक सन्तुलन की प्रतिकूलता कम हुई तथा भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी स्थिति में सुधार हुआ। सन् १९५९-६० में हमें विदेशी मुद्रा कोष से केवल १६ करोड़ रु० निकालने पड़े जबकि सन् १९५७-५८ में २५९.९ करोड़ रु० निकालने पड़े थे। द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष में स्थिति में पुनः बिगाड़ हुआ जबकि भुगतान सन्तुलन का घाटा सन् १९५९-६० में १८५ करोड़ रु० से बढ़कर सन् १९६०-६१ में ३६३.४ करोड़ रु० हो गया। इस वर्ष हमें विदेशी मुद्रा कोष से ५९ करोड़ रु० निकालने पड़े।

(IV) तृतीय योजनावधि में भुगतान सन्तुलन—

तृतीय योजना के प्रथम वर्ष में भुगतान सन्तुलन का घाटा सन् १९६०-६१ की अपेक्षा कम रहा। किन्तु सन् १९६२-६३ में वह बढ़ने लगा। इस कारण भारतीय भूमि पर चीनी आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न हुई संकटपूर्ण स्थिति थी। सन् १९६३-६४ में भुगतान सन्तुलन का घाटा ३३५ करोड़ रु० था जबकि सन् १९६२-६३

में ३४५ करोड रु० था। सन् १९६४-६५ के लिए घाटा ४३७ करोड रु० था। १९६५-६६ और इसके बाद घाटा भारत पर पाकिस्तानी आक्रमण और देश में उत्पन्न हुए व्यापक खाद्य सङ्कट के फलस्वरूप इससे भी अधिक बढ गया, जिस कारण रुपये का अवमूल्यन करना पडा। इससे स्थिति में सुधार हुआ, परन्तु कुछ विशेष नहीं। निर्यातों में सुधार की प्रवृत्ति अवमूल्यन के बाद प्रथम दो तीन महीने रही किन्तु इसके बाद गिरावट आनी आरम्भ हुई। अनुमान है कि निर्यात ८%कम हो गये। अब अप्रैल १९६८ से कुछ सुधार दृष्टिगोचर हुआ है।

हमारे भुगतान सन्तुलन पर दबाव पडना अनिवार्य है, क्योंकि देश की विकासात्मक आवश्यकतायें भी विशाल हैं। अतः हमें इन दबावों से घबडाना नहीं चाहिये। हाँ, ऐसे सब सम्भव उपाय करने चाहिए जिनसे देश की अर्थव्यवस्था मजबूत बने और घाटा न्यूनतम सीमा तक कम हो जाय। इस हेतु निम्न उपाय आवश्यक हैं :— (१) निर्यातों को अधिक से अधिक बढाना, (२) आयातों को न्यूनतम रखना, (३) मित्र देशों व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से वित्तीय सहायता प्राप्त करना, (४) प्राइवेट विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन देना, (५) ऋणों के भुगतान की अवस्थायें पुनः निर्धारित की जायें (६) अतिरिक्त उत्पादन का एक भाग निर्यात के लिए सुरक्षित रखा जाय, (७) औद्योगीकरण की गति का कुछ शिथिल किया जाए, (८) आयात-करों में वृद्धि के साथ आयात नीति को उदार बनाया जाय, (९) कृषि एवं सुरक्षा के बाद मेन्टीनेन्स आयातों को प्राथमिकता दी जाय, (१०) ड्रॉ बैंक ऑन ड्यूटीज की प्रथा में सुधार किये जायें, (११) उद्योगों की सुप्त (Idle) क्षमता का उपयोग किया जाय, (१२) चौथी योजनावधि के लिए मेन्टीनेन्स आयातों की आवश्यकता का सही-सही अनुमान लगाया जाय, (१३) प्रत्येक उद्योग अपनी आवश्यकता को अपनी निर्यात आय के द्वारा पूरा करने के लिए प्रयत्नशील बने।

विदेशी व्यापार का भविष्य

निर्यात—

चौथी योजना के अधीन १९६७-६८ के १,१९९ करोड रु० के निर्यात लक्ष्य को बढाकर १९७३-७४ में १,९०० करोड रु० करना है। अनुमान है चौथी योजना में निर्यात से ८,३०० करोड रु० की कुल आय होगी। चतुर्थ योजनाकाल में निर्यात-व्यवस्था के मुख्य तत्त्व इस प्रकार होंगे —(१) देश से निर्यातित वस्तुओं के उत्पादन आधार का विस्तार। (२) जब तक पर्याप्त उत्पादन नहीं होता, तब तक खपत पर अस्थायी नियन्त्रण लगाना। (३) समुद्रपार की माँग को पूरा करने के लिए माल की उत्पादन प्रणाली में सुधार करना। (४) किस्म नियन्त्रण को सख्ती से लागू करना तथा माल भेजे जाने से पहले उसकी जाँच पडताल व निरीक्षण की व्यवस्था करना। (५) उत्पादन लागत में कमी करने के उपाय करना।

चौथी योजना के निर्यात में प्रमुखतया वृद्धि चाय, लौह धातुक, इन्जीनियरी सामग्री, जूट का सामान, फल व सब्जियाँ (जिसमें काजू की गिरी भी शामिल है)

वनस्पति घी (अगन्ध तेल), मछली, मछली, तम्बाकू (अनिर्मित), सूती कपड़े, लोहा व इस्पात, रसायन तथा तत्सम्बन्धी उत्पादनों में होगी। चीनी, काफी, मसाले, नारियल की जटाओं के सूत और उससे बनी वस्तुओं और दस्तकारी की वस्तुओं के निर्यात में अपेक्षाकृत कम वृद्धि की सम्भावना है।

व्यापार मण्डल की एक उपसमिति द्वारा तैयार किये गये निर्यात नीति प्रस्ताव के प्रारूप (१९६८) में गतिशील निर्यात नीति की ओर देश की अर्थ-व्यवस्था ले जाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं —(१) निर्यात के लिए अधिक ऊँचा विपणन अतिरेक प्राप्त करने के उद्देश्य से विशेषत कृषि, खान और औद्योगिक उत्पादनों के क्षेत्र में उत्पादन वृद्धि बढ़ाते रहना। (२) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के लिए साधन जुटाने और विनियोग में प्राथमिकता। (३) बढ़े हुए उत्पादन का उचित भाग निर्यात करने का निश्चय रहे इसके लिये प्रयत्न करना। (४) निर्यात के लिये सुविधाओं का विकास करना। (५) दीर्घकालीन आधार पर निर्यात की गति निर्बाध रखने के लिए कुछ वित्तीय राहतें। (६) स्तर में लगातार सुधार और मूल्यों में कमी के द्वारा हमारी निर्यात वस्तुओं की प्रतियोगिता-सामर्थ्य में वृद्धि करने के लिए सरकार व व्यापारिक प्रतिष्ठान दोनों प्रयत्न करें। (७) निर्यात सम्बन्धी विपणन सेवाये और संस्थाओं को संगठित करना और उनमें सुधार करना। (८) निर्यात के लिये अच्छी शर्तों पर पर्याप्त और समय पर मिलने वाले ऋणों की व्यवस्था। (९) निर्यात के लिए केन्द्रीय, राज्य और स्थानीय प्रशासन द्वारा संगठित प्रयत्न करना। (१०) निर्यात को बढ़ावा देने के लिए विदेशी मुद्रा साधनों के वितरण में सहायता देना। (११) विश्व के बाजारों में हमारे माल को खपाने में होने वाली बाधायें हटाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हो रहे प्रयत्नों का समर्थन करना।

आयात—

चौथी योजना के अधीन आयात लक्ष्य १९६७-६८ के २,०२१ करोड़ रु० से घटकर १९७३-७४ में २,०३० करोड़ रु० रह जायेगा। यह कमी खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता बढ़ाकर प्राप्त की जायेगी। अनुमान लगाते समय निम्नलिखित मान्यताएँ की गई थी —(१) कि निर्धारित उत्पादन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक कदम उठाये जायेंगे। यदि लक्ष्यों की प्राप्ति में कुछ कमी रहेगी तो आयात की आवश्यकतायें बढ़ जायेंगी। (२) आयात पर लगाये गये वर्तमान प्रतिबन्ध योजना अवधि के दौरान लागू रहेंगे। (३) उपभोक्ता वस्तु-उद्योगों के लिए कच्चे माल का केवल उतना ही आयात किया जायगा जितना कि निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन के लिए विशेष रूप से आवश्यक हो। (४) मिट्टी के तेल और अखबारी कागज जैसी कुछ वस्तुओं के बारे में माग की वृद्धि रोकने के लिए उपयुक्त उपाय किये जायेंगे। (५) चौथी योजना के पिछले वर्षों में उर्वरकों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए तत्काल कार्यवाही की जायेगी। (६) भारत में अलौह धातुओं के उद्योगों

म मितव्ययिता करने के लिए सभी सम्भव उपाय किए जायेंगे। (७) पूँजी पदार्थों म सम्बन्धित उद्योगों की आयातित कच्चे माल और कल पुर्जों की माग पूर्ण रूप से पूरी की जायगी देश म उत्पादित मशीनों के अधिकतम् उपयोग को सुनिश्चित करने के लिए नीति सम्बन्धी कारगर उपाय अपनाये जायेंगे और कल पुर्जों के आयात की उदारनीति से देश म निर्मित मशीनरी व उपकरणों के सभरण को बढ़ाने म सहायता मिलेगी और उनका उपयोग आयातित पूर्ण मशीनें या उपकरणों के स्थान पर किया जा सकेगा।

परीक्षा प्रश्न

१ सन् १९३९ से भारत के विदेशी व्यापार की दिशा और रचना म जो परिवर्तन हुये हैं उनका विवेचन कीजिये।

[Discuss the changes which have taken place in the direction and composition of India's Foreign Trade since 1939]

२ भारत के विदेशी व्यापार की दिशा म युद्धोत्तर काल म जो परिवर्तन हुये हैं उनकी आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।

[Critically examine the postwar changes in the direction of India's foreign trade] (गोरख० एम० ए०, १९६८)

३ १९४७ के बाद भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य प्रवृत्तिया की आलोचना करिये। इनसे भविष्य के लिय क्या शिक्षायें प्राप्त होती हैं ?

[Comment on the main trends in India's foreign trade since 1947 What lessons do they have for the future ?]

(इलाहा० एम० ए० १९६८)

४ योजनावधि मे भारत के विदेशी व्यापार की प्रवृत्तियो का विवेचन करिये। हाल म रुपय और पौण्ड के अवमूल्यन ने भारत के विदेशी व्यापार को किस प्रकार प्रभावित किया है ?

[Discuss the trends in India's foreign trade during the Plan Period How has recent devaluation of Rupee and Sterling affected India's foreign trade ?] (आगरा, एम० कॉम० १९६८)

५. भारत के भुगतान सन्तुलन की स्थिति जो स्वतन्त्रता के बाद रही है उसकी सक्षेप म परीक्षा कीजिय। समय समय पर इसके सुधार हेतु सरकार ने क्या उपाय किये हैं और वे कहाँ तक सफल हुये है ?

६ भारत की भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी हाल की कठिनाइयो के क्या कारण हैं ? इन्हे हल करने हेतु अवमूल्यन और अन्य उपायो का विवेचन कीजिये

३३

भारत की विदेशी व्यापार-नीति

(Foreign Trade Policy of India)

परिचय—

किसी देश की विदेशी व्यापार नीति मुख्यत 'व्यापार नियन्त्रण (trade control) की धारणा से सम्बन्धित होती है। इसे भारत म सर्वप्रथम मई १९४० म एक युद्ध-उपाय (war measure) के रूप मे प्रचलित किया गया था। इसके दो उद्देश्य थ —(1) निर्यात पक्ष पर, सरकार ने भारत से निर्यातो का नियमन इस प्रकार म किया कि युद्ध-कार्यों के लिये अत्यावश्यक वस्तुओ की पूर्ति सुरक्षित बनी रहे एव साथ ही वस्तुयें शत्रु तक न पहुंचने पायें, और (ii) आयात पक्ष पर, सर्वोच्च प्राथमिकता उन वस्तुओ को दी गई जो युद्ध प्रयासो म सहायक हो, तथा अ-आवश्यक नागरिक उपभोग पर अकुश लगाया गया। महायुद्ध अगस्त १९४५ म समाप्त हुआ, किन्तु युद्धोत्तर काल मे भी व्यापार का नियन्त्रण कुछ सशोधनो सहित जारी रखा गया, जिसम कि आयातो का विवेकीकरण हो सके।

(I) आयात नीति

नियोजन के पूर्व आयात नीति—

आयात पक्ष पर सरकारी नियमन का सक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है —

(१) विभाजन के पूर्व—युद्ध की समाप्ति के तत्काल बाद सरकार ने 'उन्मुक्त व्यापक लाइसन्स' (Open General License) की नीति अपनाई, जिसके अनुसार विश्व के विभिन्न भागो से अनेक प्रकार की वस्तुओ के आयात की अनुमति दी गई। इस नीति के निम्न उद्देश्य थे —(i) ऐसी कई चीजो की पूर्ति बढाना, जिनके लिये माग अत्यधिक बढी हुई थी, (ii) देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था को सुदृढ करना, (iii) मुद्रा प्रसारिक दबाव को घटाना, एव (iv) कीमतो मे अधिक वृद्धि को रोकना। आयात नीति को उदार बनाने म स्टर्लिंग पावनो के सचय से बडी सहायता मिली जो कि उस समय १,७६६ करोड रु० के लगभग थे। उन आवश्यक वस्तुओ के आयात पर, जो कि देश की अर्थव्यवस्था के लिये उस समय अपरिहार्य समझी गई विशेष बल दिया गया। अन्य अ विकासात्मक किस्म (non development nature) की वस्तुओ के आयात के लिय भी छूट दी गई।

(२) देश विभाजन के फलस्वरूप आयात नीति में कठोरता—आयात व्यापार की सम्पूर्ण रचना अगस्त १९४७ मे देश के विभाजन के बाद विराट् रूप म बदल गई। विभाजन के कारण देश मे बडी विषम स्थिति उत्पन्न हो गई थी। जबकि सूती वस्त्र और जूट के निर्माणी उद्योग भारत में रह गय तब कच्चा जूट और कच्ची कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्र पाकिस्तान को प्राप्त हुए। गेहूँ उपजाने वाले सघन क्षेत्र भी पाकिस्तान के भाग म आय। इस प्रकार भारत इस बात के लिये विवश हो गया कि वह विशाल मात्राओं मे कच्ची जूट, कच्ची कपास और खाद्यान्न का आयात करे। इस परिवर्तन का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि हमारे भुगतान सन्तुलन मे विशाल घाटे (Big deficits) रहने लगे।

आयातों म सहसा वृद्धि होने की सरकार की आयात नीति पर एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई। उन्मुक्त व्यापक लाइसेंसिंग की नीति का, जोकि कुछ सीमा तक उदार थी, अब कठोर बनाया गया। कुछ कम आवश्यक वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगाये गये। इस प्रकार, आयातों की उर्ध्वमुखी प्रवृत्ति (upward trend) कुछ सीमा तक रुक गई। किन्तु इस सम्पूर्ण अवधि म कच्ची कपास और कच्ची जूट के आयातों की अनुमति जारी रही जिससे कि दोनो महत्त्वपूर्ण उद्योगों के हित सुरक्षित रह। साथ ही, सरकार ने सब प्रकार की मशीनों के आयात को प्रोत्साहित किया, जिससे कि देश के औद्योगीकरण की गति को बढावा मिले।

(३) रुपये के अवमूल्यन के प्रभाव—रुपये के अवमूल्यन के साथ, जोकि सितम्बर १९४९ में हुआ था, एक महत्त्वपूर्ण मोड आया। इस अवमूल्यन ने भारत को अपने कुछ निर्यात उद्योगों, विशेषत जूट और चाय उद्योगों की स्थिति को सुधारने म सहायता दी और अगले वर्ष (१९५०-५१) म व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता ४९ करोड़ रु० के स्तर तक घट गई। भारत को इससे भी अधिक लाभ होता किन्तु भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों में तनाव आने से ऐसा नही हो सका। पाकिस्तान सरकार ने अपनी मुद्रा का स्वयं मे अवमूल्यन नही किया, जिससे भारत पाक व्यापार मे बहुत जटिलतायें उत्पन्न हो गई। कोरियाई युद्ध के आरम्भ पर (जून १९५१) निर्मित वस्तुओं और कच्चे मालों के लिये स्टॉक-सग्रह सम्बन्धी माँग बहुत बढ गई, जिससे भारत से निर्यात तो बहुत बढे किन्तु आयात कम हो गये। किन्तु अचानक ही जलवायु सम्बन्धी दशाओ के बिगडने से भारत को कच्ची कपास और खाद्यान्न का अधिकाधिक आयात करना पडा। अत वह कोरियाई युद्ध से उत्पन्न परिस्थिति का पूर्ण लाभ न उठा सका। उसके व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता १९५१-५२ म २३७ करोड रु० तक पहुँच गई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत आयात नीति—

भारत मे १ अप्रेल १९५१ मे प्रथम पचवर्षीय योजना के शुभारम्भ के साथ ही साथ एक व्यापक आधार पर नियोजित विकास के प्रयत्न प्रथम बार आरम्भ हुये। सरकार ने अपनी व्यापार नीति को इस प्रकार मे समायोजित करने का यत्न किया कि

योजना के कार्यान्वयन म सुविधा हो जाय । 'नीति का निर्माण करने मे सरकार को विभिन्न घटक विचार म लेने पडे, जैसे —देश के औद्योगिक विकास की अवस्था, उसकी आवश्यकतायें एव आकाक्षाये, विदेशी विनिमय प्रसाधन अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व, निर्यातों की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता आदि ।"[1] देश के प्रगतिशील विकास के लिय सीमित विदेशी मुद्रा प्रसाधनों को एक प्राथमिकता आधार (priority basis) पर वितरित किया गया तथा आयात व्यापार के नियमन म बडी ही सावधानी रखी गई ।

इस अवधि मे आयात नीति इस तरह् से समायोजित की गई कि देश के औद्योगिक विकास को अधिक से अधिक प्रोत्साहन मिले । अत उन वस्तुओ क आयात पर जिनके सम्बन्ध मे देशी उत्पादन ने यथेष्ठ प्रगति कर ली थी प्रतिब ध लगाय गये । कई मदो पर ड्यूटी म वृद्धि करके 'चुनीदा आयात नियन्त्रण' (selective import control) की नीति अपनाई गई । इसके अनुसार पूँजीगत वस्तुओ तथा कच्च मालों के आयात को प्राथमिकता दी जाती रही तथा कम आवश्यक वस्तुओ के आयातो को सीमित रखा गया

विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिति मे सुधार के कारण जा कि प्रथम योजनावधि के मध्य भाग म सभव हुआ आयात नियत्रण म पुन कुछ ढील दी गइ । चूँकि कृषि उत्पादन म यथेष्ठ सुधार हो गया था इसलिये भी बडे पैमाने पर खाद्यान्नो और कच्ची कपास के आयात की आवश्यकता न रही । १९५२-५३ से १९५४ ५५ की तीन वर्षीय अवधि म आयात-स्तर मे कुछ स्थायित्व आ गया तथा वह यथेष्ठ नीचा हो गया ।

द्वितीय योजनावधि मे आयात नीति—

द्वितीय योजनावधि मे आयात नीति म कइ महत्वपूर्ण परिवतन हुय । चूँकि द्वितीय योजना के विकास कार्यक्रम कही अधिक बडे थे, इसलिये पूँजीगत वस्तुओ और औद्योगिक कच्चे मालो का बडे पैमाने पर आयात करने की आवश्यकता हुई । योजनाकाल म विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिति म बडा असतुलन हो गया । यह वास्तव म उन दबाबो एव कठिनाइयों का सूचक था जो कि एक विकास प्रक्रिया की अपरिहार्य विशेषतायें हैं । द्वितीय योजना के आरम्भ होने के एक वर्ष के भीतर ही विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिति खराब हो गई जिससे सरकार को औद्योगिक साज सामान के आयातों पर भी कडी निगरानी रखनी पडी । 'उन्मुक्त व्यापक लाइसेंसिग नीति' का स्थान वास्तविक प्रयोग कर्ताओ के प्रति प्राथमिकता वाली नई प्रणाली' (system of preference to actual users) न ग्रहण कर लिया । यहा तक कि घट हुए आयात कोटे भी पुन कठोरतापूर्वक छाँट गये । स्टील मशीनरी, व्हीकल्स कच्ची कपास, केमीकल्स और इलैक्ट्रीकल गुड्स जोकि देश के उद्योगो के लिए बहुत ही

---

1 "P. G. Salvi *New Directions in India's Foreign Trade*, p 17

आवश्यक थे उनको भी यथेष्ट सीमित किया गया। अ-आवश्यक वस्तुओं का निषेध कर दिया गया और अनेक आयातित निर्मित वस्तुओं के कोटे पर्याप्त घटा दिये गये। इस अवधि में उपभोक्ता वस्तुओं का आयात तो हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गया। इनमें रेयन कपड़ा कागज, फोटोग्राफी का सामान, घड़ियाँ आदि का समावेश था।

प्राथमिकता-क्रम—सामान्य रूप से यह कह सकते हैं कि सरकार ने महत्वपूर्ण और आवश्यक वस्तुओं के आयातों के लिए एक प्राथमिकता-क्रम विकसित किया, जो इस प्रकार था —(i) बुनियादी उद्योगों (जैसे कि इस्पात एवं भारी इंजीनियरिंग) के लिए पूँजीगत मशीनरी और अत्यावश्यक पुर्जे मँगाने के लिये सबसे अधिक सुविधायें देना तय हुआ, (ii) व्यापक रोजगार प्रदान करने वाले तथा आवश्यक उपभोक्ता वस्तुयें बनाने वाले प्रमुख उद्योगों की भी बुनियादी आवश्यकताओं का ध्यान रखा गया, (iii) उन उद्योगों को भी प्राथमिकता दी गई, जिन्होंने अब तक यथेष्ठ प्रगति कर ली थी और इसलिए उन्हें निर्माण कार्य आरम्भ करने के लिये केवल अल्प आयातों की ही आवश्यकता थी, एवं (iv) ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया, जोकि अपने आयातित पुर्जों में काफी घटौती कर सकने में समर्थ थे।

द्वितीय योजनावधि में आयात नीति की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि 'आयात को देशी उत्पादन के साथ सम्बन्धित' (linking of imports with indigeneous production) किया गया, अर्थात्, सरकार ने आयातों की मात्रा को इस सीमा तक घटाने का यत्न किया जिससे कि गृह-उद्योग देश की आवश्यकतायें पूरा करने की स्थिति में बना रहे।

समय समय पर खाद्यान्नों का भारी आयात करने की आवश्यकता का भी सरकार की आयात नीति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता रहा। प्रतिकूल जलवायु सम्बन्धी दशाओं के समय में सरकार को खाद्यान्नों का ही नहीं वरन् कच्ची कपास के पर्याप्त आयात की भी व्यवस्था करनी पड़ती थी, जिससे कि भारतीय वस्त्र उद्योग की आवश्यकता पूरी होती रहे। ऐसी व्यवस्थाओं में P. L. 480 Loans उल्लेखनीय हैं।

एक पिछली उदार आयात नीति का लाभ उठाते हुए देश में अनेक नये उद्योग स्थापित हो गये थे तथा आयातों में पर्याप्त वृद्धि हो गई थी। किन्तु विदेशी विनिमय सम्बन्धी जो कठिन स्थिति उत्पन्न हुई उसके सुधार के लिए सरकार को कई उपाय करने पड़े, जैसे- आयातों पर कड़ी देखरेख, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं मित्र देशों से सहायता, स्थगित भुगतान प्रणाली (Deferred Payments System) के आधार पर आयातों को प्रोत्साहन देना एवं भारतीय उद्योगों में विदेशी पूँजी को भाग लेने के लिए निमन्त्रित करना आदि।

तीसरी योजना की अवधि में आयात नीति—

तीसरी योजनावधि के लिये यह अनुमान था कि आयातों का वार्षिक मूल्य औसतन १,५७० करोड़ रु० रहेगा। किन्तु चीन (और फिर पाकिस्तान) के आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न हुई सुरक्षा आवश्यकताओं के सन्दर्भ में इस स्तर से भी अधिक

वृद्धि की आवश्यकता हुई। अतः सरकार को एक पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार आयातों का प्रवाह नियमित बनाये रखने के लिए आवश्यक कदम उठाने पड़े।

सच तो यह है कि तीसरी योजना के आरम्भ से ही सरकार की आयात नीति ने अधिक प्रतिबन्धात्मक रूप धारण कर लिया। उपभोक्ता-वस्तुओं का आयात नगण्य रह गया। मशीनों और महत्त्वपूर्ण पुर्जों के आयात के सम्बन्ध में सरकार की नीति चयनात्मक (selective) हो गई। सरकार ने विदेशी विनिमय की स्थिति के अनुसार अपनी प्राथमिकतायें निर्धारित करने का यत्न किया। चूँकि देश के विदेशी मुद्रा कोष एक न्यूनतम स्तर तक घट गये थे, इसलिए आयात नीति विदेशों से वित्तीय एवं अन्य सहायतायें मिलने की सम्भावनाओं पर आधारित की गई। केवल वही मशीनरी या पूँजी वस्तुयें, जो कि देश में उत्पन्न नहीं की जाती थीं आयात होने दी गई। चीनी आक्रमण के समय सकटकालीन परिस्थिति की घोषणा होने के साथ ही साथ सरकार की आयात नीति युद्ध प्रयासों की वृद्धि की दृष्टि से ढाली जाने लगी। इस प्रकार अब सुरक्षा आवश्यकताओं के अनुकूल उत्पादन को सुधारने की दृष्टि से मशीनों के आयात की अनुमति दी गई। सितम्बर १९६२ में एक 'आयात प्रतिस्थापन समिति' (Imports Substitution Committee) का गठन किया गया। इसके जिम्मे यह सर्वे करने का काम था कि किन उद्योगों से अब तक आयात किये जाने वाले पुर्जों आदि का उत्पादन करने को कहा जा सकता है।

एक समुचित आयात-नीति का विकास करने में टैरिफ कमीशन ने एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया। टैरिफ-संरक्षण का प्रयोग देश के उद्योगों की रक्षा, सवर्धन एवं स्थापना हेतु किया गया है। चूँकि टैरिफ कमीशन के सुझावों को स्वीकार करना या न करना सरकार की इच्छा है, इसलिये टैरिफ नीति भी समय-समय की आवश्यकतानुसार आर्थिक विकास के स्वभाव द्वारा निर्धारित की जा रही है।

आयात-अधिकार प्रदान करने वाली स्कीमें
(Import Entitlement-Schemes,

निर्यातों को बढ़ाने हेतु अनेक विकसित एवं विकासोन्मुख देशों में निर्यात-प्रोत्साहन स्कीमें पिछले २०-२५ वर्षों में एक न एक रूप में प्रचलित की हैं। ऐसी प्रोत्साहन-स्कीमों में से एक स्कीम निर्यातकों को यह अनुमति देती है कि वे अपनी निर्यात-आमदनी का कुछ भाग या तो कतिपय निर्दिष्ट वस्तुओं का अथवा अपनी स्वेच्छा की वस्तुओं का आयात करने में प्रयोग करें। उन्हें कभी-कभी यह भी अनुमति होती है कि वे अपने आयात-अधिकारी लाइसेन्सों को खुले बाजार में अथवा उन लोगों को बेच दें जो कि निर्यात-वस्तुयें बनाने में आयातित-सामग्री का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी स्कीम सभी निर्यातों को लागू होती हैं चाहे वे किसी भी देश से की जायें, और, कभी विशेष देशों से अथवा विशेष वस्तुओं के निर्यात मात्र को। सामान्यतः पिछले आयातों के आधार पर 'इम्पोर्ट एन्टाइटलमेंट लाइसेन्स' दिये जाते हैं लेकिन ये अग्रिम भी दिये जा सकते हैं।

भारत ने भी उक्त प्रकार की निर्यात प्रोत्साहन योजना (I E S) को अपनाया है। यह स्कीम १६५० में प्रचलित की गई थी तथा ६ जून १९६६ को समाप्त कर दी गई थी। किन्तु कुछ दिनो बाद ही पुन प्रचलित कर दी गई। १६५० यह केवल ७ वस्तुओ को ही लागू होती थी किन्तु १६६५ मे भारत के लगभग २०% निर्यात इसकी परिधि मे थे। १९६६ मे स्कीम को पुन केवल हीरे जवाहरात और गहनों के लिए शुरू किया गया तथा अन्य वस्तुओ पर विस्तृत करने के सम्बन्ध मे विचार किया जा रहा है। स्कीम का प्रमुख और आवश्यक विशेषता यह है कि निर्याता के f o b value का एक निर्दिष्ट प्रतिशत निर्यात उत्पादन मे प्रयोग होने वाले कच्चे मालो आदि के आयात करने मे प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार के आयात लाइसेंस का निर्यातकर्त्ता स्वय ही इस्तेमाल कर सकता है अथवा किसी अन्य निर्माता को बेच सकता है। इस निर्माता का यह दायित्व होगा कि वह स्कीम में निर्देशित उत्पादों का निर्माण और इसके एक भाग का निर्यात करे।

स्कीम के प्रमुख उद्देश्य निम्न है —(अ) भारतीय उद्योग और व्यापार के विकास तथा देश के निर्यातो को विविधमुखी बनाने मे सहायक होना (आ) निर्यात उद्योगों का आधुनिकतम् बनाए रखना और उनको आयातित कच्चे माल पुर्जो आदि से सहायता करना (इ) देशी बाजार के लिए उत्पादन करने वाले निर्माताओं को अपना निर्यात के लिए उत्पादन करने वाले निर्माताओ को ऐसे कच्चे मालो व पुर्जो की उपलब्धि का एक निर्भर योग्य साधन प्रदान करना एव (ई) निर्माताओ को न केवल निर्यात हेतु वरन् आतरिक बाजार हेतु भी उत्पादन करने की प्रेरणा देना। इस अंतिम उद्देश्य की पूर्ति इस विश्वास पर आधारित है कि निर्माता/निर्यातक जो हानि निर्यात करने मे उठावेंगे उसकी क्षतिपूर्ति आन्तरिक बाजार के लिए निर्माताओं की तुलना मे प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति बढने से हो जावगी।

आयातो के सम्बन्ध मे पूर्व जमा का आदेश—

रिजर्व बैंक ने यह आदेश जारी किया कि आयातको को अपने आदेश दिये हुये आयात के मूल्य का २५% जमा कराना होगा। इस आदेश का उद्देश्य आयातों के लिए दौड़' (rush for imports) को रोकना है। जमा की आवश्यकता' आयातकों को अपने आयात कार्यक्रम शनै शनै पूरे करने के लिए प्रेरित करेगी और इस प्रकार राष्ट्र के अति अल्प विदेशी विनिमय कोष के शीघ्रतापूर्वक उपयोग पर रोक लगायगी। चूकि आयातको के स्वयं प्रसाधन देश मे डिपाजिट के फलस्वरूप सकुचित हो जावेंगे इसलिए आयातो की लागत भी बढ जायेगी। इससे भी आयातो के लिए दौड़ पर रोक लगेगी तथा 'सट्टा जनित सचय' मे कमी होगी।

वित्तीय और आर्थिक क्षेत्रों मे इस आदेश का अनावश्यक एव कठोर बताया गया है। कहा गया है कि चूँकि सभी आयात योजना निर्देशित प्राथमिकताओं के अनुसार किये जाते हैं इसलिए उक्त आदेश अनावश्यक है। इस आदेश के फलस्वरूप आयातकों के बैंकों से ऊँचे व्यय पर उधार लिये हुये प्रसाधन अनावश्यक ही 'बन्द'

हो जायेंगे । यदि सरकार आयातों को नियमित ही करना चाहती है तो इसके लिए वह अन्य उपयुक्त कदम उठा सकती थी।

[प्रारम्भ में रिजर्व बैंक ने छः श्रेणियों के आयातों को २५% मूल्य जमा कराने के आदेश से मुक्त किया तथा बाद को और भी छूट दी है।]

आयात नीति के विषय में सुझाव—

(१) आयात नीति ऐसी होनी चाहिये कि जो स्वस्थ आयात प्रतिस्थापन को सुदृढ़ करने में सहायक हो और जो व्यापारियों व उद्योगपतियों को अपनी अत्यावश्यक सामग्रियाँ अपेक्षित सरलतापूर्वक प्राप्त करने में समर्थ बनावे। (२) औद्योगिक कच्चे मालों एवं पुर्जों पर आयात-कर घटाने चाहियें तथा आयात निर्यात नीतियाँ अपेक्षित लम्बी अवधि के लिये बनानी चाहिये। (३) विदेशी सहायता में कटौती की सम्भावना को दृष्टिगत रखते हुए राज्यों को चाहिए कि अपने आयात-कार्यक्रमों का पुनर्निरीक्षण करें। कार्यक्रमों के चयन में खाद्यान्नों और सुरक्षा-आवश्यकताओं को प्राथमिकता देनी चाहिये। (४) आयातों को निर्यातों के साथ सम्बद्ध करना चाहिए अन्यथा आगामी वर्षों के लिये रखे गये मामूली विकास लक्ष्य भी पूरे न हो सकेंगे।

निर्यात-नीति

द्वितीय महायुद्ध की अवधि (१९३९-४५) में, विश्व के अधिकांश देशों की सरकारों के समान भारत सरकार ने भी अपने निर्यात व्यापार पर कठोर नियन्त्रण लगा दिये थे। इतने पर भी निर्यात पर्याप्त बढ़ गये जबकि आयात बहुत ही कम हो गये। इस प्रकार, युद्धकाल में भारत ने विशाल राशि में स्टर्लिंग पावने एकत्र कर लिये।

युद्ध के तत्काल बाद के वर्षों में निर्यात नीति—

युद्धोत्तरकाल में नियन्त्रणों को कुछ ढीला किया गया। किन्तु विभाजन के कारण देश के निर्यात व्यापार का स्वरूप एक दम ही बदल गया। वास्तव में भारत की स्थिति बड़ी ही सङ्कटपूर्ण हो गई, क्योंकि उसकी तीन प्रमुख निर्यात वस्तुयें, जिन पर पिछले पाँच छः दशाब्दों में भारत का निर्यात व्यापार आधारित रहा था, विभाजन से बुरी तरह प्रभावित हुईं। कच्चो कपास एवं कच्चे जूट का निर्यात सबसे अधिक कुप्रभावित हुआ। पाकिस्तान से कच्ची कपास मिलने में बहुत कठिनाई हुई जबकि भारत में कच्ची कपास के लिए माँग बढ़ती जा रही थी। फलत भारत की कच्ची कपास के निर्यात की क्षमता बहुत घट गई। कच्चे जूट के सम्बन्ध में भी भारत पाकिस्तान पर निर्भर रहने लगा। चूँकि पाकिस्तान की हठधर्मी के कारण कच्चा जूट प्राप्त करने में कठिनाई हुई, इसलिए जूट के कारखाने, कच्चे माल के अभाव में, पूरी क्षमता में उत्पादन न कर सके। फलतः देश से जूट का निर्यात भी बहुत घट गया। अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी भारत की निर्यात स्थिति खराब हो गई।

इन गम्भीर समस्याओं के कारण निर्यात नीति का एक क्रान्तिपूर्ण मोड देना आवश्यक हो गया—निर्यात की मात्रा मूल्य, रचना एवं दिशा सभी में सुधार की आवश्यकता प्रतीत हुई। इन दिनों अमेरिकी बाजार का महत्त्व बढ़ गया था। डालर की कमाई बढ़ाने के लिए भारत को अपने निर्यात डालर-क्षेत्रों में मोड़ने पड़े।

यद्यपि भारत के निर्यात व्यापार का मूल्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था, तथापि उसका आयात व्यापार इससे भी अधिक तेजी से बढ़ता जाता था। इससे व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता अधिक बढ़ गई तथा भारत को कई सुधारात्मक उपाय करने पड़े। इस समय तक भारत को अपनी अधिकांश वस्तुओं का प्रतिस्पर्धात्मक कीमतों पर निर्यात करने में कठिनाई अनुभव होने लगी थी। अतः सितम्बर १९४९ में स्टर्लिङ्ग के अवमूल्यन के साथ ही साथ भारत ने भी स्वर्ण में रुपये का अवमूल्यन किया ताकि भारतीय वस्तुओं की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति बढ़ जाय। यह भी अनुभव किया गया कि कृत्रिम उपायों से आयातों को घटा कर भारत अपने व्यापार सन्तुलन को नहीं सुधार सकता। अतः स्वदेशी उत्पादन के बढ़ाने पर अधिकाधिक बल दिया गया, जिससे कि एक ओर भारत के आयात घट सकें तथा, दूसरी ओर, देश की निर्यात सम्भावनायें बढ़ जायें।

निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से भारत सरकार ने जुलाई १९४९ में निर्यात सवर्धन समिति' (Export Promotion Committee) नियुक्त की। इसकी सिफारिशों के अनुसार सरकार ने कई वस्तुओं के निर्यात की शर्तों को उदार बनाया, कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं के निर्यात के लिये अधिक सुविधायें प्रदान की गईं, कुछ औद्योगिक कच्चे मालों पर निर्यात ड्यूटियाँ समाप्त कर दी गईं, कुछ दशाओं में कोटा प्रणाली को खत्म कर दिया गया, लाइसेंस देने की कार्यविधि को सुगम बनाया गया तथा 'प्रथम आगम प्रथम सेवा' (First come, First served) का सिद्धान्त (कुछ उत्पादों की दशा में उच्चतम सीमा सहित) प्रचलित किया गया। अवमूल्यन और सरकार की उदार निर्यात नीति के फलस्वरूप भारतीय वस्तुओं के निर्यातों का मूल्य १९४८-४९ में ४५४ करोड़ रु० से बढ़कर १९४९-५० में ५१३ करोड़ रु० हो गया।

१९५० के मध्य भाग कोरियाई युद्ध छिड़ने से विश्व व्यापार के स्वरूप में अचानक ही परिवर्तन हुआ। चूँकि भारत के औद्योगिक कच्चे मालों के लिए माँग अचानक ही बढ़ गई, इसलिये इन वस्तुओं की कीमतें तीव्र गति से बढ़ने लगीं। आन्तरिक और बाह्य कीमतों में बहुत अन्तर हो गया। इस विषमता के कारण व्यापक वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि हो गई। अतः स्वभावतः सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और उसने निर्यात व्यापार का पुनः नियमन किया।

पहली योजनावधि में निर्यात नीति—

जून १९५१ में कोरियाई युद्ध अचानक ही समाप्त हो गया, जिससे सरकार

की व्यापार एवं प्रशुल्क नीतियों में भी कुछ परिवर्तन करने आवश्यक हो गए। विश्व में क्रेताओं के बाजार (buyer's markets) उदय होने पर सरकार ने निर्यात नीति को उदार बनाने का प्रयास किया। इस समय तक देश कई नए उद्योग स्थापित करने में समर्थ हो गया था और इनका निर्मित माल भी समुद्र पार के देशों को न्यूनाधिक मात्रा में जाने लगा था। १९५२-५३ में निर्यातों में गिरावट आई। स्पष्टत, यदि निर्यात को उदार करने के उपाय न अपनाये गए होते तो उक्त गिरावट और भी अधिक हो सकती थी।

१९५० के मध्य में कृषि दशायें अनुकूल रहने से व्यापार सतुलन की असाम्यता को सुधारने में बड़ी सुविधा हो गई। उस समय सरकार ने यह अनुभव किया कि 'निर्यात संवर्धन (export promotion) उसकी व्यापार नीतियों का एक महत्त्वपूर्ण सहारा है। तब तक यूरोपीय देश अपनी युद्धजर्जरित अर्थव्यवस्थाओं का पुनर्गठन कर चुके थे तथा विभिन्न प्रेरणाओं के अन्तर्गत निर्यात बढ़ाने का यत्न कर रहे थे। अतः इस अवधि में अनेक भारतीय वस्तुओं के निर्यात भाग में घटने की प्रवृत्ति दिखलाई। यही नहीं, उसकी प्रतियोगिता शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ा। फलतः सम्पूर्ण परिस्थिति का पुनर्निरीक्षण (review) करना जरूरी हो गया। निर्यातों का उदार बनाने के अतिरिक्त, सरकार ने खाद्यान्नों का भी अल्प मात्राओं में निर्यात करने का यत्न किया जो कि पिछले वर्षों से निषिद्ध थे। कई मदों के सम्बन्ध में निर्यात 'लाइसन्स' निःशुल्क देने की अवधि बढ़ा दी गई। निर्यात वस्तुओं के निर्माण में प्रयोग किये गये आयातित कच्चे माल पर चुकाई गई चुङ्गी के लौटाने (drawback of import duty) की सुविधा पहली बार स्वीकृत की गई।

निर्यात संवर्धन की दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कदम जो सरकार ने उठाया वह अक्टूबर १९५४ में 'निर्यात संवर्धन परिषद (Export Promotion Council) की स्थापना करना था। उसी समय पर, भारतीय जूट मिल एसोसियेशन ने जूट व्यापार की सम्पूर्ण रचना का रिव्यू करने तथा उपयुक्त सिफारिशें देने हेतु एक प्रतिनिधि मण्डल विदेशों को भेजा। १९५५-५६ में सरकार ने तम्बाकू, चमड़ा, अभ्रक और प्लास्टिक के लिए निर्यात संवर्धन परिषदें स्थापित की। विद्यमान व्यापार के प्रवाह को बढ़ाने के लिए तथा नियन्त्रित अर्थव्यवस्था वाले देशों से व्यापार की सुविधा के लिए 'राजकीय व्यापार निगम (State Trading Corporation) स्थापित किया गया।

द्वितीय योजनावधि में निर्यात नीति—

द्वितीय योजना में निर्यातों को अधिकतम करने (और इसके साथ ही आयातों में मितव्ययिता करने) की आवश्यकता पर बहुत बल दिया गया। निर्यातों को प्रोत्साहन देने हेतु सरकार ने कई कदम उठाए। इसने १९५७ में एक **निर्यात प्रोत्साहन समिति** (Export Promotion Committee) नियुक्त की, जिसके जिम्मे समस्या के सभी पहलुओं के अध्ययन का काम सौंपा गया था। इसने अन्य बातों के

साथ ही साथ निम्न बातो की भी सिफारिश की थी—चाय पर निर्यात कर घटाना, कुछ वस्तुओं के आन्तरिक उपभोग म कमी करना, भारत-मिश्र समझौते की भाति अन्य देशो से भी व्यापार सधियां करना, निर्यात वस्तुओ पर बिक्री कर और उत्पादन कर लौटाना, कुछ दशाओ म निर्यात की जिम्मेदारी एक ही सगठन को सौपना, शिपिंग सुविधाओ मे सुधार करना। इसने निर्यात का लक्ष्य ७०० करोड रु० वार्षिक से ऊपर निर्धारित किया।

अन्य अनेक वस्तुओ (जैसे—मसाले कैमीकल्स, मेल का सामान आदि) के लिये निर्यात परिषदें स्थापित की गई। इनसे यह अनुरोध किया गया कि वे विभिन्न देशो म बाजारो का गहन सर्वेक्षण (intensive survey) करायें, व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डल भेजें, व्यापार सम्बन्धी प्रचार करें, आकडे एकत्र करे किस्म और पैकिङ्ग सम्बन्धी प्रमाप निर्धारित करे तथा निर्यात व्यापार पर लगे हुये प्रतिबन्धो के कारण जो झगडे उदय हो उनमे पच का कार्य करे, इन परिषदो के अतिरिक्त, सरकार ने कई वस्तु बोर्ड (Commodity Boards) भी कायम किये, जिनका उद्देश्य निर्यात वस्तुओ के सम्बन्ध म सूचना और सहायता प्रदान करना था। इसने अनेक वस्तुओं के निर्यातो पर से कन्ट्रोल हटाने का भी प्रयत्न किया।

सन् १९५७ के अर्ध भाग से अधिकाधिक निर्यातो की आवश्यकता ने विशेष महत्त्व धारण कर लिया। व्यापार सतुलन की बढती हुई न्यूनता (gap) को कम करने के लिए विशेष उपाय किये गये। सरकार ने लगभग २०० वस्तुओ के निर्यात पर से कन्ट्रोल हटा लिये, कई मदो के सम्बन्ध मे बडे निर्यात कोटे स्वीकृत किये गये, देश क आन्तरिक भागो से बदरगाहो को निर्यात के लिए रेलो द्वारा भेजी जाने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध मे उच्च प्राथमिकता दी गई, विदेशी बाजारो मे भारतीय वस्तुओ को अधिक प्रतियोगात्मक बनाने के लिए प्रशुल्क रियायतें दी गई, निर्यातको को कच्चे माल और पुर्जो के आयात की सुविधा उनकी निर्यात क्षमता के अनुसार ही दी जाने लगी, एव कुछ विशेष निर्यात प्रोत्साहन योजनाओ का सचालन भी किया गया। यही नही, चीनी उद्योग के लिए एक अनिवार्य निर्यात योजना बनाई गई, विदेश जाने वाले व्यापार प्रतिनिधियो की विनिमय सुविधायें उदारतापूर्वक दी गई, निर्यात-जोखिम, जिसे व्यापारिक बीमा कम्पनियों द्वारा सामान्यत स्वीकार नही किया जाता है, के लिए बीमे की सुविधायें देने हेतु एक राज्य-अधिकृत **निर्यात जोखिम बीमा निगम** (Export Risk Insurance Corporation) भी स्थापित किया गया।

निर्यातो के प्रोत्साहन के लिए सरकार ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण कदम **'किस्म नियन्त्रण'** (Quality Control) के रूप मे उठाया। इस विषय म भारतीय मानक सस्था एव विभिन्न निर्यात प्रोत्साहन परिषदें अच्छा कार्य कर रही है। विदेशियो से व्यापारिक मघर्षा व सुलझाने म भारतीय निर्यातको को विभिन्न देशा म नियुक्त भारत सरकार के वाणिज्य दूत सहायता करते है।

तीसरी योजनावधि में निर्यात नीति—

चूँकि तीसरी योजना में देश के शीघ्र औद्योगीकरण का उद्देश्य रखा गया था, इसलिए देश के आयातों में भारी वृद्धि होने की आशा थी। अतः एक 'सर्वमुखी निर्यात वृद्धि आन्दोलन' चलाया गया जिससे कि देश के वाह्य खाते में कोई गम्भीर असाम्यता न उत्पन्न हो सके। १९६२ में भारत सरकार ने एक 'बोर्ड ऑफ ट्रेड' (Board of Trade) स्थापित किया, जो कि कार्यविधियों को सरल बनाने के उपाय कर रहा है, प्रेरणाओं को अधिक उदार बना रहा है, और अधिक साख सुविधायें देने का यत्न करता है। आशा है कि वह विदेशों में भारतीय दूतावासों में सम्बद्ध व्यापारिक विभागों के कार्य में सुधार एवं निर्यात वस्तुओं की लागतों में कमी करा सकेगा।

भारत के विदेशी व्यापार को बढ़ाने के उपायों का सुझाव देने हेतु मार्च १९६१ में एक आयात-निर्यात नीति समिति (Export-Import Policy Committee) नियुक्त की गई जिसके अध्यक्ष श्री रामास्वामी मुदालियर थे। इसकी एक प्रमुख सिफारिश यह थी कि एक वार्षिक निर्यात योजना बनाई जाय, जिसमें कि उद्योग क्रम और वस्तु क्रम से उचित लक्ष्य रखे जायें। इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया गया है। उद्योग एवं वाणिज्य मन्त्रालय के अन्तर्गत 'निर्यात सम्वर्धन के निर्देशालय' (Directorate of Export Promotion) को पुनः संगठित किया गया है, जिससे कि निर्यात-प्रोत्साहन की समस्या पर विशेष ध्यान दिया जा सके। निर्यात व्यापार के लिए एक आयात निर्यात स्थायीकरण कोष (Import Export Stabilization Fund) भी स्थापित किया गया है।

भारत सरकार ने निर्यात बढ़ाने के लिए कुछ अन्य कदम भी उठाये, जैसे—अधिक निर्यात सम्भावना वाली कुछ वस्तुओं की लागत संरचनाओं का गहन अध्ययन करने हेतु एक 'लागत घटौती समिति' (Cost Reduction Committee) बनाई, निर्यात क्षेत्र समिति (Export Sector Committee) ने पाँच अध्ययन दल स्थापित किये जो कि अपने-अपने वर्ग की वस्तुओं के निर्यात के प्रोत्साहन के समस्त पहलुओं का गहनता से अध्ययन करते हैं, इन्जीनियरिंग और प्लास्टिक के सामानों, बुनियादी कैमीकल्स, फार्मेसी-वस्तुओं, चमड़े के सामान के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए निर्यात संवर्धन समितियाँ नियुक्त की गई, इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्टरनेशनल ट्रेड (Institute of International Trade) की स्थापना भी की गई, जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और निर्यात प्रोत्साहन के समस्त पहलुओं में अनुसन्धान, और प्रशिक्षण की व्यवस्था करना है। एक 'निर्यात निरीक्षण परामर्शदाता परिषद' (Export Inspection Advisory Council) भी स्थापित की गई। कुछ वस्तुओं के निर्यात के सम्बन्ध में 'जहाजों में लदान के पूर्व किस्म निरीक्षण और नियन्त्रण की योजना' भी बताई गई। पच्चीस निर्यात गृह (Export Houses) खोल गये। एक विपणन विकास कोष (Marketing Developing Fund) भी स्थापित किया गया। अनिवार्य किस्म नियन्त्रण और जहाजों में लदान के पूर्व निरीक्षण के लिये कानून बनाया

गया। 'खनिज धातु व्यापार निगम' (Minerals and Metals Trading Corporation) की स्थापना भी की गई जो खनिजों में राजकीय व्यापार के बढ़ते हुये परिमाण को सँभालता है। विभिन्न देशों से द्विपक्षीय ठहराव करने की नीति को जारी रखा गया। इनमें निर्यात के विविधीकरण पर तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिति को बिगाड़े बिना ही आयात प्राप्त करने पर बल दिया जाता है।

निर्यात-साख सम्बन्धी सुविधायें—

स्मरण रहे कि निर्यात प्रोत्साहन केवल निर्यातकों को सस्ती और उदार साख सुविधायें देने की ही समस्या नहीं है। निःसंदेह इनकी अनुपस्थिति निर्यातकों को कठिनाई में डाल सकती है चाहे अन्य निर्यात-प्रोत्साहन दिये जाते रहें। आधुनिक वर्षों में 'अखण्डनीय अधिकार-पत्रों के विरुद्ध निर्यात-साख स्वीकृत करने की परम्परा' का स्थान, क्रेताओं के बाजार के उदय और निर्यात बाजारों में बढ़ती हुई प्रतियोगिता के कारण, 'उदार शर्तों पर साख देने की नीति' ने ले लिया। अब समस्या यह है कि निर्यात सम्बन्धी साख सस्ती एवं प्रतियोगितात्मक दरों पर दी जाये। साथ ही व्यापारिक, राजनैतिक एवं वित्तीय जोखिमों के विरुद्ध बीमे की, अथवा, अन्य प्रकार की गारन्टी भी दी जाय। इस दिशा में जो प्रगति हुई है उसका संक्षिप्त विवरण एक अगले अध्याय में दिया गया है।

निष्कर्ष के रूप यह कहा जा सकता है कि देश की विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीति भली प्रकार संचालित है और बहुत ही संतोषजनक प्रमाणित हुई है। किन्तु इतने पर भी व्यापार में साम्य की स्थापना नहीं हो सकी है। इसका कारण यह नहीं कि नीति दोषपूर्ण है वरन् यह है कि तेजी से विकास करने के उद्देश्य वाली अर्थ-व्यवस्था में भुगतान सतुलन में असाम्यता रहना स्वाभाविक है। चौथी योजना-काल में निर्यात बढ़ाने हेतु विशेष प्रयत्न किये जायेंगे। इन पर एक अगले अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

आयात-निर्यात व्यापार सङ्गठन सम्बन्धी अध्ययन दल की सिफारिशें

(१) हर वर्ष सरकार की निर्यात नीति के बारे में एक रिपोर्ट पुस्तक-रूप में प्रकाशित की जाय, जो ६ माह के निर्यात व्यापार के बारे में हो। (इस सुझाव को सरकार ने स्वीकार कर लिया है)।

(२) भारतीय व्यापार सेवा नियुक्त की जाय। (इसे भी सरकार ने सिद्धान्ततः मान लिया है)।

(३) निर्यात नीति में उन सम्भावित सिद्धान्तों का उल्लेख होना चाहिए जिनका निर्यात बढ़ाने में उपयोग होता हो। उसमें भिन्न-भिन्न चीजों के बारे में भी सकेत होना चाहिए जिनके लिए प्रार्थनापत्रों पर तत्सम्बन्धी अधिकारियों एवं प्रशासन-मन्त्रालयों में विचार-विमर्श किया जाना हो। सामान्य सिंहावलोकन के लिए आकस्मिक परिवर्तनों की आवश्यकता हो, तो सार्वजनिक सूचना से नीति में संशोधन किया जा सकता है।

(४) सामान्य रूप से जिन वस्तुओं का निर्यात नहीं होता है उनके निर्यात की अनुमति देने का निर्णय सावधानीपूर्वक विचार-विनिमय के बाद किया जाना चाहिए। ऐसी अवस्था में निर्यातित वस्तुओं के व्यक्तिश: शिपिंग-बिलों की आवश्यकता नहीं है। ऐसे मामलों में कस्टम अधिकारियों को जारी किए गए लाइसेंसों के आधार पर निर्यात की अनुमति देने की छूट होनी चाहिए। यदि जरूरी समझा जाए, तो इस प्रकार के लाइसेंसों की वैधता-अवधि सीमित हो सकती है।

(५) यदि व्यक्तिश: शिपिंग बिलों को पृष्टांकन की जरूरत पड़े, तो कस्टम्स में इस मामले को अपने हाथ में लेने की प्रार्थना की जा सकती है ताकि इस अवस्था में निर्यातक को कस्टम्स व लाइसेंस-अधिकारियों दोनों से निबटना न पड़े।

(६) किसी वस्तु को निर्यात-वृद्धि को प्रोत्साहन देने की योजना में सम्मिलित करने के लिए अधिकारियों को यह देखना चाहिए कि अमुक वस्तु के निर्यात पर नियन्त्रण है या नहीं। यदि नियन्त्रण है तो उन्हें यह जाँच करनी चाहिए कि इस प्रकार के नियन्त्रण को जारी रखना आवश्यक है या नहीं। इस प्रकार की वस्तुओं पर नियन्त्रण तभी रहना चाहिए जबकि उसका औचित्य हो।

(७) अधिक व कम रकम की जाच करने के लिए एक पृथक समिति नियुक्त की जाय। निर्यात-प्रोत्साहन लाइसेंस की विधि को और भी सख्त बनाने के लिए सिफारिशें की गई हैं।

(८) लघु-स्तरीय क्षेत्र के उद्योगों के ऐसे मामलों में जिनमें मशीनरी लगाने या इसके विस्तार के लिए आयातित कच्चे माल की जरूरत नहीं है, उद्योगों के राज्य निर्देशक की पूर्व की सिफारिश की जरूरत नहीं है। ऐसी अवस्था में डी० सी० (एस० एस० आई०) द्वारा आवश्यकता प्रमाणित की जानी चाहिए।

(९) वास्तविक लाइसेंसों की सुविधा सरकारी क्षेत्रीय परियोजनाओं को भी मिलनी चाहिए, ताकि वे कच्चा माल आसानी से आयात कर सकें।

(१०) अध्ययन दल ने अफगानिस्तान से माल आयात करने के लिए कस्टम्स-क्लियरेंस परमिट जारी करने के निमित्त 'पास बुक' प्रणाली का सुझाव दिया। प्रत्येक पार्टी को एक 'पास-बुक' देने से कार्य में सुविधा होगी। इसमें पार्टी द्वारा आयातित व निर्यातित माल का उल्लेख होना चाहिए तथा अन्य पार्टियों से खरीदे गए निर्यात का मूल्य भी इसी में अंकित होना चाहिए। यह पास बुक लाइसेंसिंग कार्यालय में पार्टी द्वारा हर तीसरे महीने पेश की जानी चाहिए। रिजर्व बैंक को सिर्फ स्वीकृति प्राप्त आयातकों के निर्यात व आयात का ही हिसाब-किताब रखना चाहिए।

(११) आयात (नियन्त्रण) आदेश के 'बचत' अनुच्छेद में दिए गए प्रतिबंधित सामान की सूची विस्तृत की जाए ताकि ट्रांजिस्टर, टेप-रिकार्डर व अन्य ऐसा सामान जो बहुत बड़ी मात्रा में पहले आयातित किया जाता था, इसमें शामिल किया जाए।

(१२) यह भी सुझाव दिया गया है कि आयात नीति डिवीजन का तीन इकाइयों म विभाजन होना चाहिए ।

वर्तमान आयात-निर्यात नीति

केन्द्रीय सरकार ने १९७० ७१ के लिए अपनी आयात निर्यात नीति घोषित कर दी है, जिसके अनुसार ३८ और वस्तुओं का आयात सरकारी एजेन्सियों के माध्यम से करने की व्यवस्था की गई है । कुल मिलाकर आयात और निर्यात म सरकारी राज्य व्यापार निगम खनिज व धातु व्यापार निगम तथा हिन्दुस्तान स्टील की भूमिका को बढा दिया गया है ।

निर्यात के लिए उत्पादन बढाने तथा निर्यात की सम्भावनाओं के लिए अधिक सुविधायें दी गई हैं और लघु उद्योगों का अधिक प्रोत्साहन देने की व्यवस्था की गई है । लघु उद्योगों के लिए उन की जरूरतों के लिए आयात के हेतु तिहाई विदेशी मुद्रा स्वीकार की जाती थी अब उसे बढा कर पचास प्रतिशत कर दिया गया है । १५९ ऐसी वस्तुओं का आयात बन्द कर दिया गया है जो अब देश मे ही और अच्छी किस्म की तैयार होने लगी हैं ।

राज्य व्यापार निगम और खनिज तथा धातु निगम अनेक वस्तुओं के लिए कच्चा माल आयात करेंगे जो वास्तविक निर्माताओं को दिया जायेगा । पंजीकृत निर्यातक अपना आयात लाइसेंस उक्त निगमों को स्थानान्तरित कर सकेंगे । दोनों निगमों द्वारा आयातित वस्तुओं का बिक्री मूल्य विदेश व्यापार मन्त्रालय के आम नियंत्रण मे वही निगम तय करेंगे । जिन ३८ अतिरिक्त वस्तुओं का आयात सरकारी निगम करेंगे उनका १९६८-६९ मे मूल्य ३६ करोड रु० था । इनम पाउडर-दूध कुछ दवाइयाँ कच्चा रेशम विशेष स्टेनलेस इस्पात बी. पी शीट और टीन भी हैं ।

आयात निर्यात मे सरकार क्षेत्र की बढती हुई भूमिका बम्बई काँग्रेस के प्रस्तावों के प्रकाश मे है ।

दोनो सरकारी निगम निर्यात प्रयत्नों को वित्तीय, बिक्री सबधी और अन्य सामान्य सहायता देने का अपना क्षेत्र और भी बढायेंगे । निर्यात के लिए उत्पादन करने वाले सस्थाओं को मशीनें आयात कराने के लिए कुछ उदार नीति अपनाई जायगी और वर्तमान क्षमता को बढाने के लिए विदेशी पूँजी लगाने के आवेदनों पर भी उदारता से विचार किया जायेगा । निर्यात में अच्छा कीर्तिमान स्थापित करने वाले सस्थानों को अपनी क्षमता बढाने के लिए लाइसेंस देने पर भी सहानुभूति पूर्वक विचार किया जायेगा । उत्पादन का १० से २५ प्रतिशत तक निर्यात करने वाले सस्थानों को सप्लाई के स्रोतों और क्षमता विस्तार की विशेष सुविधायें मिलेंगी ।

लघु उद्योग मे नए सस्थानों के लिए आरभिक आयात लाइसेंस की सीमा ५० हजार रु० स बढाकर ७५ हजार रु० कर दी गई है । वर्तमान सस्थान भी इसका लाभ उठा सकेंगे ।

उन्मुक्त लाइसेंस नीति के अन्तर्गत काजू, खालें आदि का आयात, जो पहले ही अनुमित है, जारी रहेगा।

जिन वस्तुओं को अनुमित सूची से हटा दिया गया है और जिनका आयात बन्द कर दिया गया है उनमें अनेक किस्म की मशीनें, इस्पाती रस्से बालबयरिंग, बिजली के अनेक उपकरण, हाथीदांत, जायफल दालचीनी, इलायची टायरट्यूब वाल्व, कारतूस आदि १५६ वस्तुएं है।

विदेश व्यापार सचिव श्री कृष्ण बिहारीलाल ने नई नीति की व्याख्या करते हुए बताया कि विदेशी मुद्रा की अच्छी स्थिति के कारण (कुल सुरक्षित मुद्रा ६५८ करोड रु० मूल्य की है) कुछ प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो की जरूरत पूरी की जा सकती है। उन्होंने बताया कि गत वर्ष लघु उद्योगो का निर्यात क्षेत्र मे अधिक अच्छा प्रदर्शन रहा। कुल ६५८ सस्थानो मे स जिन्हे पुरस्कार के लिए शुरु की गई योजना मे शामिल किया गया था ४६५ लघु उद्योग के सस्थान थे। इसमे आधे से भी कम बडे उद्योगो मे थे।

परीक्षा प्रश्न :

१ भारत की १९४८ से आज तक जो विदेशी व्यापार नीति रही है उसका सक्षिप्त विवेचन कीजिय। इसमे आप क्या सुधार कर सकते है ?

[Discuss briefly the Foreign Trade Policy of India from 1948 to the present day. What improvements would you suggest in it ?]

२ योजनावधि मे सरकार की आयात-निर्यात नीति की प्रमुख विशेषतायें बताइये।

[Bring out the salient features of Import-Export policy of the Government of India during the Plan Period]

(आगरा, एम० कॉम०, १९६९)

३ देश के नियोजित आर्थिक विकास के सदर्भ मे भारत की विदेशी व्यापार सबधी नीति की प्रमुख विशेषतायें बताइये।

[Give the main features of India's foreign trade policy in the context of the planned economic development of the country] (इलाह०, एम० कॉम०, १९६७)

३४

भारत की प्रशुल्क नीति

(India's Tariff Policy)

परिचय—१९२३ के पूर्व स्वतन्त्र व्यापार नीति का अनुसरण

लगभग किसी भी देश मे उद्योग वहाँ की सरकार की सक्रिय सहायता के बिना प्रगति नहीं कर सके हैं। उदाहरणार्थ, यह कहा जाता है कि जापान म राज्य आधुनिक उद्योगों का 'धर्म-पिता' है। इसी प्रकार, जर्मनी मे भी औद्योगिक विकास राज्य के पालन-पोषण के अन्तर्गत ही सम्भव हुआ था। दुर्भाग्यवश भारत की स्थिति इससे भिन्न रही है। यहाँ राज्य देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास के बारे मे न्यूनाधिक तटस्थ रहा। नि सन्देह ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने देशी उद्योगो का प्रोत्साहन तो दिया किन्तु उसने ऐसा अपने ही स्वार्थ के लिए किया था और यह नीति भी तब पलट दी गई जबकि ब्रिटिश ताज ने भारत का शासनसूत्र कम्पनी के हाथो से अपने हाथ मे ले लिया। तब से विदेशी सरकार ने एक 'स्वतन्त्र व्यापार की नीति' (policy of laissezfaire) अपनाई जो भारत के हित मे न होकर मुख्यत. ग्रेट ब्रिटेन के उद्योगो के ही हित में थी। उन दिनो आयात-कर लगाये तो जाते थे किन्तु इनका उद्देश्य देशी उद्योगो का सरक्षण प्रदान करना नही था वरन् सरकार की रेवन्यू मे वृद्धि करना था।

प्रथम महायुद्ध के समय मे पहली बार इस बात का अनुभव हुआ कि विकासोन्मुख ब्रिटिश साम्राज्य के लिए औद्योगिक दृष्टि मे निर्धन भारत सहायता का स्रोत होने के बजाय खतरे का स्रोत हो सकता है। अत यहाँ कुछ उद्योगो की स्थापना करना वाछनीय समझा गया। तद्नुसार सन् १९१६ मे एक 'औद्योगिक आयोग' (Industrial Commission) नियुक्त किया गया, जिसने महत्वपूर्ण सुझाव दिये। किन्तु, ब्रिटिश सरकार भारत को प्राशुल्किक स्वशासन देने को तत्पर नही थी। अत एक 'ज्वाइन्ट सिलेक्ट कमेटी' (Joint Select Committee) समस्या का कोई उचित समाधान ढूंढने के लिए नियुक्त की गई।

प्राशुल्किक स्वशासन का प्रस्ताव

(The Fiscal Autonomy Convention)

उक्त कमेटी ने एक समझौता परख समाधान खोजा, जो यह था —"भारत

के लिए सही प्राशुल्किक नीति कुछ भी हो किन्तु इतना तो बिल्कुल ही स्पष्ट है कि उस अपने हितों पर विचार करने की वही स्वतन्त्रता होनी चाहिये, जो कि ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड कनाडा और दक्षिणी अफ्रीका को है। अत समिति की राय है कि भारत सचिव को इस विषय पर उस दशा में जबकि भारत सरकार और उसकी विधान सभा म मतैक्य हो, कोई हस्तक्षेप नही करना चाहिये, और जब उसे कोई हस्तक्षेप करना ही पडे तो वह साम्राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो का पालन करने तक ही सीमित होना चाहिए।"

यह सुझाव 'प्राशुल्किक स्वशासन के प्रस्ताव' के नाम से विख्यात है। इससे पूर्व तक ब्रिटिश ससद ही देश के लिए प्रशुल्क नीति निर्धारित किया करती थी। किन्तु १९२१ से उक्त प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने पर, भारत एक स्वतन्त्र प्रशुल्क नीति अपनाने के लिए मुक्त हो गया। किन्तु प्रस्ताव की व्यावहारिक उपयोगिता नही के बराबर थी। भारत सचिव को यह आदेश दिया गया था कि वह तब ही हस्तक्षप करे जबकि भारत सरकार और विधान सभा मे मतभेद हो। चूँकि व्यवहार म मतैक्य शायद ही कभी हुआ (क्योंकि भारत सरकार एक अनुत्तरदायी विदेशी नौकरशाही थी जबकि विधान सभा भारतीय हितों का प्रतिनिधित्व करती थी,) इसलिए भारत सचिव को हस्तक्षेप करने का अवसर बार-बार मिला।

भारतीय प्रशुल्क आयोग, १९२१

भारतीय जनता ने प्रस्ताव की कटु आलोचना की। अत, फरवरी १९२० मे विधान सभा ने एक प्रस्ताव पास किया, जिसमे सरकार से भारत के लिए प्रशुल्क नीति के प्रश्न पर विचार करने हेतु एक प्रशुल्क आयोग नियुक्त करने का अनुरोध किया गया। तदनुसार १९२१ मे एक भारतीय प्रशुल्क आयोग (Indian Fiscal Commission) नियुक्त हुआ। इसके जिम्मे यह काम था कि वह सभी (भारतीय + ब्रिटिश) हितो के सन्दर्भ मे भारत सरकार की प्रशुल्क नीति की जाँच करे और साम्राज्य अधिमान अपनाने की वांछनीयता पर भी सम्मति दे। इस आयोग ने, बहुमत से, भारत के लिए 'विभेदात्मक सरक्षण की नीति' का सुझाव दिया।

विभेदात्मक सरक्षण
(Discriminating Protection)

विभेदात्मक सरक्षण का अर्थ एवं स्वभाव—

भारतीय प्रशुल्क आयोग ने पूर्ण सरक्षण की नीति का, जो कि बिना भेद-भाव प्रत्येक उद्योग को लागू की जा सके, सुझाव नही दिया था। सरक्षण मे जो खतरे निहित होते है उनसे बचने तथा उपभोक्ताओं पर सरक्षण का न्यूनतम बोझ डालने के लिये आयोग ने यह सुझाव दिया कि केवल 'योग्य' (deserving) उद्योगो को ही सरक्षण दिया जाय। कोई उद्योग सरक्षण पाने का अधिकारी है या नही इसकी परख के लिए आयोग ने कुछ शर्तें निर्धारित कर दी थी, जिनका पूरा होना आवश्यक था। ये शर्तें मुख्यत तीन थी और सामूहिक रूप से 'त्रिसूत्रीय फार्मूला' (Triple

Formula) के नाम से विख्यात है। (१) उद्योग ऐसा होना चाहिये जिसे कि प्राकृतिक सुविधायें (natural advantages) प्राप्त हों, जैसे कच्चे माल की यथेष्ट पूर्ति होना, सस्ती शक्ति की सुविधा होना, श्रम की पर्याप्त पूर्ति मिलना और विशाल गृह बाजार की विद्यमानता। (२) उद्योग ऐसा होना चाहिए जो कि सरक्षण की सहायता के बिना देश के हित मे वाछनीय ढङ्ग से विकसित नहीं हो सकता हो। (३) उद्योग ऐसा होना चाहिये जो कि अन्तिमत, सरक्षण के बिना भी, विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सकता हो।

उपरोक्त तीन मुख्य शर्तो के अतिरिक्त आयोग ने कुछ सहायक शर्तें भी निश्चित की थी। इन्हे भी सरक्षण की स्वीकृति के पूर्व पूरा किया जाना आवश्यक था। उदाहरणार्थ, जिस उद्योग मे 'बढती हुई उपज का नियम' क्रियाशील है उसे उस उद्योग पर प्राथमिकता मिलेगी, जिसमे कि घटती हुई उपज का नियम' क्रियाशील हो। इसी प्रकार, सुरक्षा एव बुनियादी उद्योग को सरक्षण के मामले में सर्वोच्च प्राथमिकता देने का निश्चय हुआ। उन उद्योगो को भी प्राथमिकता देने का सुझाव था जो कि कालान्तर मे समस्त स्वदेशी माँग को पूरा कर सकें।

त्रिसूत्रीय फार्मूला देश के हितो के विरुद्ध—

यह त्रिसूत्रीय फार्मूला देश मे बहुत ही कटु आलोचना का विषय बना और इसमे निम्नलिखित दोष बताये गये —

(१) **भारतीय हितो की अपेक्षा ब्रिटिश हितो का अधिक ध्यान**—कमीशन के सदस्यो ने ब्रिटिश हितो का अधिक ध्यान रखा। अत वे भारतीय हितो के अनुकूल एक उचित प्रशुल्क नीति निर्धारित नही कर सके।

(२) **कठोर शर्तें लगाना**—त्रिसूत्री फार्मूले के रूप में जो शर्तें आयोग द्वारा निर्धारित की गई थी वे बहुत कठोर और भ्रमपूर्ण थी। केवल कुछ ही उद्योग इन्हे सम्पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर सकते थे। वास्तव मे, अनेक सुविधायें जिन्हे केवल उदाहरण के रूप में गिनाया गया था, सरक्षण स्वीकार करने के लिए कठोर शर्ते बना दी गई।

(३) **दूसरी शर्त एक स्वत सिद्ध बात थी**—वास्तव मे इसे एक शर्त नही कहना चाहिए था, क्योकि यदि विदेशी प्रतियोगिता न हो, तो उद्योग सरक्षण क्यो मांगेगा। यही नही, पहली और तीसरी शर्तें व्यवहारत एक समान थी और इनका सामूहिक आशय यह था कि ऐसे किसी उद्योग को सरक्षण नही दिया जावेगा जो कि समाज पर स्थाई भार बन जाय। वास्तव मे पहली शर्त तीसरी शर्त का एक स्पष्टीकरण मात्र थी किन्तु इन्हें अलग-अलग रूप दिया गया था।

(४) **सरक्षणवाद के इतिहास में एक अभूतपूर्व कठोरता**—जैसा कि आयोग के अल्पमत की रिपोर्ट मे बताया गया था, किसी भी अन्य देश मे इतनी कठोर शर्तें लागू नहीं की गई जितनी कि भारत मे आयोग ने सरक्षण के लिये उद्योग का चयन

करने के सम्बन्ध मे रखी थी। उन्हे किसी भी भाँति इस देश के औद्योगिक विकास के हित मे नही कहा जा सकता था।

(५) सामान्य आर्थिक विकास के साधन के रूप में प्रयोग न होना—विभेदात्मक सरक्षण की नीति म एक मौलिक दोष यह था कि इसे सामान्य आर्थिक विकास का एक साधन (an instrument of general economic development) नहीं बनाया गया वरन् कुछ उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने की सामर्थ्य प्रदान करने को एक उपाय मात्र ही समझा गया। किन्तु इस रूप मे भी सरक्षण तब ही दिया जा सकता था जबकि उद्योग स्वय इसके लिए प्रार्थना करे। यह दृष्टिकोण बुनियादी उद्योगों के विकास मे कदापि सहायक नही हो सकता था।

अत यह स्पष्ट है कि विभेदात्मक सरक्षण की नीति बहुत ही सकोचपूर्ण (hesitating) थी।

विभेदात्मक सरक्षण व्यवहार मे—

सरकार ने विभेदात्मक सरक्षण की नीति को स्वीकार कर लिया और इसे कार्यान्वित करने का भी यत्न किया। इस नीति की सफलतायें निम्नलिखित है —

(१) उद्योगों का अभूतपूर्व विस्तार—अनेक उद्योग (जैसे—लौह एव स्पात, सूती वस्त्र, चीनी, कागज और कागज की लुग्दी, दियासलाई एव मैगनीशियम क्लोराइड) सरक्षण के फलस्वरूप बहुत विकसित हो गये। इनमे से चीनी उद्योग का तो सरक्षण के पूर्व लगभग नही के बराबर अस्तित्व था, किन्तु १६३२ मे इसे सरक्षण मिलने के पाच वर्षो के भीतर ही यह उद्योग इतना तेजी से बढा कि वह समस्त देश की माँग को पूरा करने लगा।

(२) सहायक एव सम्बद्ध उद्योगो का विकास—कई सहायक एव सम्बद्ध उद्योग (विशेषत लौह एव स्पात तथा सूती वस्त्र से सम्बद्ध उद्योग) भी विकसित हो गये।

(३) मन्दी का सामना करने मे सहायता—यह सरक्षण के ही कारण था कि सरक्षित उद्योग न केवल विश्वव्यापी भयकर मन्दी के झटके सह सके, वरन् इस कठिनाई पूर्ण अवधि मे उन्होंने कुछ विस्तार भी कर लिया। जबकि अन्य उद्योगो ने भारी हानि उठाई।[1]

(४) कृषि पर अनुकूल प्रभाव—विभेदात्मक सरक्षण की नीति कृषि के लिए भी लाभदायक प्रमाणित हुई। कारण सरक्षण की प्रेरणा से सूती वस्त्र उद्योग का अभूतपूर्व विकास हुआ जिसने ऊँची कीमत वाली मध्यम एव लम्बे रेशे कपास के उत्पादन को बहुत प्रोत्साहित किया। प्रति एकड उपज भी काफी सुधर गई।

विभेदात्मक सरक्षण की नीति की कुछ असफलताये एव दुर्बलतायें भी सामने आई, जोकि इस प्रकार हैं —

---

1 L C Jain *The Working of the Protective Tariffs in India*, p 14.

(१) असन्तुलित विकास—केवल लौह एवं इस्पात उद्योग को छोड़ कर अन्य सब उद्योग जिन्होंने विभेदात्मक संरक्षण से लाभ उठाया उपभोक्ता वस्तुयें बनाने वाले उद्योग ही थे। पूँजीगत वस्तुयें बनाने वाले उद्योगों के विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इस उपेक्षा के ही कारण एक व्यापक आधार वाला सन्तुलित औद्योगिक विकास सम्भव नहीं हो सका।

(२) योग्य उद्योगों के दावों को अस्वीकृत करना—इस नीति ने एक व्यापक दृष्टिकोण के बजाय संकुचित दृष्टिकोण ही अपनाया। अर्थात्—इसने केवल कुछ उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने की समस्या पर ही विशेष रूप से ध्यान दिया। त्रिसूत्रीय फार्मूले की कठोर शर्तों के कारण अनेक योग्य उद्योगों के संरक्षण के लिए उचित माँग को भी अस्थाई टैरिफ बोर्डों द्वारा ठुकरा दिया गया। जिन उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया था उनमें स्थूल रसायन तेल कोयला, सीमेंट और काँच प्रमुख थे। वास्तव में विभेदात्मक संरक्षण की नीति को व्यवहार में इस प्रकार से लागू किया गया था कि संरक्षण देना मनमाने ढंग से अस्वीकृत कर दिया गया। उदाहरणार्थ भारत में तेल उद्योग को बर्मा ऑयल ग्रुप और स्टैंडर्ड आयल कम्पनी से कीमत युद्ध के कारण भारी हानि उठानी पड़ रही थी जिससे विवश होकर इस उद्योग ने सन् १९२८ में संरक्षण के लिये प्रार्थना पत्र दिया किन्तु वह अस्वीकृत हो गया क्योंकि कीमत युद्ध सरकार और टैरिफ बोर्ड की सम्मति में भारतीय उपभोक्ताओं के अहित में नहीं था।

ऐसा ही व्यवहार सीमेंट उद्योग के साथ हुआ। प्रथम महायुद्ध काल में विदेशों से आयात बन्द हो जाने से उस प्राकृतिक संरक्षण मिल गया जिससे उद्योग ने यथेष्ठ उन्नति कर ली थी। किन्तु युद्ध के बाद उसे पुनः कटु प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा तथा वह १९२४ में विनष्ट होने की स्थिति पर पहुँच गया। विदेशी प्रतियोगिता के अतिरिक्त रेलवे भाड़े की नीति भी सीमेंट के विपणन में बाधक हो रही थी। देश में सीमेंट के उत्पादन के लिए समस्त प्राकृतिक सुविधायें (उदाहरण के लिये चूना पत्थर मिट्टी जिप्सम पर्याप्त सस्ता श्रम आदि) प्राप्त थी। इन सुविधाओं के उपलब्ध होते हुए भी उद्योग को सरकार द्वारा इस आधार पर संरक्षण नहीं दिया गया कि वह उद्योग राष्ट्रीय हितों के साथ संगति नहीं रखता था।

(३) नीति के कार्यान्वयन का दोषपूर्ण ढंग—प्रशुल्क आयोग ने यह सुझाव दिया था कि एक स्थाई (Permanent) टैरिफ बोर्ड संगठित किया जाय किन्तु वास्तव में केवल अस्थाई (adhoc) टैरिफ बोर्ड ही गठित किए गये। अतः टैरिफ बोर्ड के सदस्यों में बार बार परिवर्तित होता रहता था जिससे कि वे दीर्घकालीन दृष्टिकोण लेकर कार्य नहीं कर सकते थे। न तो सदस्यों को कुछ अनुभव संचय हो पाता था और न वे टैक्नीक और कार्यविधि में ही कुशलता ला सकते थे।

(४) संरक्षण देने में विलम्ब—नीति के वास्तविक कार्यकरण में दूसरा गम्भीर दोष यह था कि संरक्षण के लिए प्रार्थना पत्रों पर निर्णय देने में बहुत विलम्ब

हो जाता था जिससे कि मध्यान्तर काल मे उद्योगो को भारी हानियाँ उठानी पड़ती थी।

(५) विदेशी हितो का प्रभाव—भारत के प्राशुल्कि इतिहास में मैनचेस्टर के पूँजीपतियो का प्रभाव व्यापक रूप से दिखाई देता था। "वे भारतीय बाजार को ब्रिटिश निर्माताओ व्यापारियो, बैंकरो और जहाजी कम्पनियो के लिये उसी प्रकार सुरक्षित रखना चाहते थे जिस प्रकार कि अमेरिकन पूँजीपति अमेरिकन बाजार को अपने लिये रखते है।"[1]

उपरोक्त दोषो के सन्दर्भ म कुछ अर्थशास्त्रियो ने विभेदात्मक सरक्षण को **'विभेद युक्त किन्तु सरक्षण रहित'** (Discrimination and no protection) का विश्लेषण दिया है। परिणामो की दृष्टि से इसकी सफलतायें उन सफलताओं के सम्मुख, जोकि जापान मे सरक्षण की नीति ने दिखाई है अति 'तुच्छ' है। **प्रो० बी० पी० अदारकर के शब्दो म**—' इसने उद्योगो को बहुत ही अधकचरे ढग से, सकोच-पूर्वक तथा अपूर्ण सहायता दी है और उन्हे प्राय अपने पैरो पर ही खडा रहना पडा है।'[2] प्रशुल्क आयोग (१९५०) ने भी अपनी रिपोर्ट म विभेदात्मक व्यवहार के विषय म लिखा था कि, "पिछले आयोग ने सरक्षण को समस्या के प्रति जो दृष्टि-कोण अपनाया उसमे एक मौलिक दोष था। उसने सरक्षण को एक सामान्य आर्थिक विकास का साधन' नहीं माना वरन् एक ऐसा साधन मात्र ही समझा जो कि कुछ विशेष उद्योगो को ही विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने मे समर्थ बनाय। इसी त्रुटि के कारण देश का अ-सन्तुलित विकास हुआ और यहाँ बुनियादी और प्रमुख उद्योग विकसित न हो सके। सच तो यह है कि सहायक एव सम्बद्ध उद्योगो की स्थापना के लिए सुविधायें दी ही नहीं गई, जिससे कि समाज पर सरक्षण का आव-श्यकता से अधिक भार पडा।"[3]

युद्धोत्तर काल मे भारत की प्रशुल्क नीति

अन्तरिम टैरिफ बोर्ड एव पुनर्गठित टैरिफ बोर्ड—

द्वितीय महायुद्ध मे भारत के औद्योगिक विकास की दुर्बलताएँ सरकार के समक्ष आगई। कारण, यहाँ अत्यावश्यक उद्योगो के अभाव के कारण युद्ध प्रयासो मे बडी बाधा पडी थी। यही नहीं, युद्ध ने उद्योगो को एक प्राकृतिक सरक्षण प्रदान

---

1 Dr. Buchanan *Development of Capitalistic Enterprise in India*, p. 465

2 It has vouchsafed nothing better than a perfunctory assistance, indifferently and grudgingly rendered to industries whose subsequent development has been left to take its own course " —B P Adarkar.

3 *Fiscal Commission Report (1950)*, p. 49

कर दिया था क्योंकि विदेशी आयात स्वत घट गये थे। अत अब भारतीय उद्योग-पति यह चाहते थे कि इस लाभप्रद स्थिति को बनाये रखा जाय। वे नय उद्योग स्थापित करना चाहते थे किन्तु उनको यह भय था कि युद्ध की समाप्ति पर उन्हे विदेशी प्रतियोगिता का पुन सामना करना पडेगा। अतः सरकार ने उन्हे यह विश्वास दिलाया कि वह लडाई खत्म हो जाने के बाद भी "युद्ध जनित उद्योगो" को समुचित सरक्षण देती रहेगी। इस वचन को पूरा करने के लिये ही सरकार ने १९४५ म एक **अन्तरिम टैरिफ बोर्ड** (Interim Tariff Board) नियुक्त किया और इसे युद्धकाल मे प्रारम्भ किए गए उद्योगो की समस्या पर विचार करने तथा तीन वर्ष की अवधि के लिए सरक्षण देन की सिफारिश करने का कार्य सौंपा। इस टैरिफ बोर्ड न ४२ उद्योगो का सरक्षण देन का सुझाव दिया जबकि प्रार्थना ४९ उद्योगो द्वारा की गई थी। यह अस्थाई टैरिफ बोर्ड १९४७ मे तोड दिया गया तथा इसके स्थान म एक नया **पुनर्गठित टैरिफ बोर्ड** गठित किया गया जिसे कुछ अतिरिक्त कार्य (additional functions) भी सौंपे गय।

द्वितीय प्रशुल्क आयोग
(Second Fiscal Commission)

स्वतन्त्रता के पश्चात् यह अनुभव किया जाने लगा था कि देश के औद्योगिक विकास को एक नियोजित ढङ्ग से सचालित करने हेतु देश की प्रशुल्क नीति पर पुनर्विचार करन की आवश्यकता है। सरकार ने १९४८ के अपने औद्योगिक नीति प्रस्ताव (Industrial Policy Resolution of 1948) मे कहा कि 'टैरिफ नीति अनुचित प्रतियोगिता को रोकने तथा उपभोक्ता पर अन्यायपूर्ण भार डाले बिना ही भारतीय प्रसाधनो का प्रयोग करने की दृष्टि से बनाई जायगी।" साथ ही सरकार ने यह भी घोषित किया कि वह देश की दीर्घकालीन टैरिफ नीति के विषय मे परामर्श देन हेतु एक प्रशुल्क आयोग नियुक्त करेगी।

तदनुसार सन् १९४९ म **श्री टी० टी० कृष्णमाचारी** की अध्यक्षता म **द्वितीय प्रशुल्क आयोग,** नियुक्त किया गया। इसने सन् १९२२ से लेकर सन् १९४८ तक विभेदात्मक सरक्षण के कार्यवाहन की परीक्षा की तथा भावी नीति के विषय म भी विचार किया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन् १९५० मे दी। कृष्णमाचारी प्रशुल्क आयोग ने भारतीय अर्थव्यवस्था के चहुँमुखे विकास की सुविधा के लिए भारत की प्रशुल्क नीति मे क्रान्तिकारी परिवर्तनो के सुझाव दिये।

नई प्रशुल्क नीति की विशेषतायें—

इस नई प्रशुल्क नीति की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित थी —

(१) **एक व्यापक दृष्टिकोण**—कमीशन ने सरक्षण के बारे मे एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाया। अब टैरिफ सरक्षण को मुख्यत एक 'लक्ष्य' की प्राप्ति का 'साधन' माना जाता है अर्थात् इसे देश के आर्थिक विकास को बढाने वाले साधनो म

से एक साधन माना गया है। फलत उद्योगो को, आर्थिक विकास की एक व्यापक योजना की पृष्ठभूमि मे, सरक्षण दिया जाता है।

(२) **बुनियादी मार्ग-दर्शक सिद्धान्त**—कृष्णामाचारी आयोग ने कुछ बुनियादी सिद्धान्त भी निर्धारित किये, जो सरक्षण स्वीकृत करने या न करने के विषय मे मार्ग-दर्शन करते है। ये सिद्धान्त निम्न है —बेकारी का उन्मूलन उत्पादकता मे प्रगतिशील वृद्धि, प्राकृतिक प्रसाधनो का पूर्णतम उपयोग, कृषि एव उद्योग का तेजी मे विकास एव एक विविधीकृत अर्थ-व्यवस्था (diversified economy) का निर्माण।

(३) **उद्योगो का वर्गीकरण**—यद्यपि विकासात्मक नियोजन द्वितीय प्रशुल्क आयोग की रिपोर्ट के बाद से ही आरम्भ हुआ तथापि आयोग ने अपनी सिफारिशें इस तरह से दी थी कि वे एक नियोजित अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओ को भी पूरा कर सकें। उसने सरक्षण देने की दृष्टि से उद्योगों को तीन वर्गो म बॉटा —(अ) **सुरक्षा एव अन्य सामरिक उद्योग** (Defence and other strategic industries,—इनके विषय मे कमीशन ने यह सुझाव दिया कि इनको सरक्षण देने की लागत चाहे जो भी आवे इन्हे प्रत्येक दशा मे सरक्षण देना चाहिए क्योकि वे हमारी नव-प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आवश्यक है। (ब) **आधारभूत एवं प्रमुख उद्योग** (Basic and key industries)—इस श्रेणी के उद्योगो के लिए टैरिफ कमीशन को चाहिए कि सरक्षण की शर्तें और सीमा नियत करदे तथा समय समय पर इनकी प्रगति की जांचता रहे। इन्हे सरक्षण देने मे किसी भी कठोर शर्त को बाधक नही बनने देना चाहिये। (स) अन्य उद्योग (Other Industries)—तीसरी श्रेणी मे अन्य सब उद्योग सम्मिलित किए गये। इनके लिये टैरिफ कमीशन यह निर्णय करे कि उन्हें सरक्षण दिया जाय या नही। सरक्षण सम्बन्धी निर्णय आर्थिक सुविधाओ पर, जोकि उद्योग को प्राप्त हो, इसकी सभावित लागत पर एव राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से उद्योग के महत्व पर निर्भर होगा। इस प्रकार, किसी भी उद्योग को सरक्षण देने या न देने का निर्णय अब राष्ट्रीय हित के सन्दर्भ मे ही किया जाता है।

(४) **सामान्य सिद्धान्त स्पष्ट रूप से निर्धारित करना**—कमीशन ने कुछ सामान्य सिद्धान्त भी निर्दिष्ट किए है जिनका टैरिफ कमीशन को यथाशक्ति पालन करना चाहिए —(i) यदि किसी उद्योग को आर्थिक सुविधायें (जैसे आन्तरिक बाजार, श्रम पूर्ति आदि) प्राप्त है, तो केवल इस आधार पर ही सरक्षण अस्वीकृत नही कर देना चाहिए कि उसके लिए कच्चा माल पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही है। (ii) न केवल विद्यमान (existing) गृह बाजार को वरन् एक संभाव्य (potential) निर्यात बाजार को भी विचार मे लेना चाहिए। (iii) सरक्षण मागने वाले उद्योग से यह आशा नही करनी चाहिए कि वह समस्त गृह बाजार की माग को पूरा करे। (iv) जिन नये उद्योगो मे भारी पूँजीगत विनियोग की आवश्यकता पडती है, उनके मामलो पर विशेष रूप से विचार करना चाहिए तथा उन्हे यथा-

सम्भव संरक्षण देना चाहिए। (v) संरक्षित उद्योगों के उत्पादों का प्रयोग करने वाले उद्योगों को 'क्षतिपूरक संरक्षण' (Compensatory protection) दिया जा सकता है। (vi) यदि आवश्यक प्रतीत हो तो कृषि उद्योग को भी एक बार में अधिकतम् समय ५ वर्ष तक, संरक्षण दिया जा सकता है। (vii) सामान्यतः, संरक्षण काल में सम्बद्ध उद्योगों पर उत्पादन करों का भार नहीं डालना चाहिए।

उपरोक्त सामान्य सिद्धान्तों ने उन दुर्बलताओं को दूर कर दिया है जो कि ब्रिटिश युग में अपनाई गई विभेदात्मक संरक्षण की नीति में मौजूद थे। ये टैरिफ बोर्ड को व्यापक अधिकार प्रदान करते हैं जिससे कि वह उद्योगों को, राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से तथा नियोजित अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार समुचित संरक्षण दे सके।

(५) **विकास कोष** (Development Fund)—आयोग का यह भी सुझाव था कि संरक्षण कर लगाने से जो रैवेन्यू प्राप्त हो उसमें से एक विकास-कोष स्थापित किया जाय और फिर इसमें से योग्य (deserving) उद्योगों को आर्थिक सहायता दी जाय। स्मरण रहे कि कुछ परिस्थितियों में आर्थिक सहायता देना टैरिफ संरक्षण की तुलना में अधिक लाभप्रद है।

(६) **टैरिफ कमीशन**—अब तक यह होता था कि जब-जब किसी विशेष उद्योग ने संरक्षण के लिए प्रार्थना की, तब तब एक विशेष या अस्थाई टैरिफ बोर्ड नियुक्त कर दिया जाता था और जब वह अपना निर्णय दे देते थे तब उन्हें भंग कर दिया जाता था। ऐसी दशा में संरक्षण की स्वीकृति के उपरान्त जो निरीक्षण सम्बन्धी उपाय अपनाने आवश्यक थे वे नहीं अपनाए जा सकते थे। इस दोष को एक स्थाई संस्था की नियुक्ति द्वारा ही दूर किया जा सकता था। प्रशुल्क आयोग ने यह सुझाव दिया कि ऐसी संस्था को 'टैरिफ कमीशन' कहना चाहिये और अन्य कार्यों के साथ ही साथ इसके निम्न कार्य भी होने चाहिये —संरक्षण करों में परिवर्तनों का सुझाव देने के हेतु जाँच कराना, संरक्षित उद्योगों के कार्यवाहन की जाँच करना तथा यह देखना कि उन्होंने समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य किस सीमा तक पूरा किया है। कमीशन को प्रति तीसरे वर्ष एक रिपोर्ट भी देनी चाहिये। कमीशन में एक स्थाई स्टाफ रखा जाय जिसमें आर्थिक अनुसन्धान के लिए टैक्नीकल स्टॉफ भी होना चाहिये।

(७) **सरकार द्वारा शीघ्र निर्णय की आवश्यकता**—कृष्णामाचारी आयोग ने इस बात पर बल दिया कि सरकार को टैरिफ कमीशन की सिफारिशों पर शीघ्रता से कार्यवाही करनी चाहिये। निर्णय लेने में उसे सामान्यतः दो महीनें से अधिक समय नहीं लगाना चाहिए। भूतकाल में असाधारण विलम्बों के कारण ही नव स्थापित उपक्रमों को बहुत कठिनाई एवं हानि सहनी पड़ती थी।

(८) **अ-प्रशुल्किक उपाय** (Non-fiscal measures)—शीघ्र औद्योगिक विकास के हित में यह आवश्यक था कि प्रशुल्क नीति के प्रभाव को बढ़ाने के लिए

उद्योगो मे सहायतार्थ अन्य अ-प्राशुल्किक कदम भी उठाये जायें। ऐसे कदमों के बारे में टैरिफ कमीशन का सूचित रखा जाना चाहिए, जिससे कि इनकी प्रगति के सन्दर्भ में ही वह उचित अ-प्राशुल्किक उपाय अपना सके। इस प्रकार, प्राशुल्किक एवं अ-प्राशुल्किक उपायों के मध्य समन्वय स्थापित किया जा सकेगा।

सरकार द्वारा उठाये गये कदम—

४ सरकार ने सरक्षण के उक्त नये दृष्टिकोण और नवीन सिद्धान्तों को स्वीकार किया और लगभग सब ही सिफारिशें मान ली। वास्तव मे, भारत सरकार की प्रशुल्क नीति कृष्णामाचारी आयोग के सुझावों के अनुसार ही निर्मित हुई है। इसी के अन्तर्गत सन् १९५२ म एक स्थाई टैरिफ कमीशन स्थापित हुआ। इसके सदस्यों की सख्या ३ से ५ तक रखी गई है जिनमे से एक सदस्य चेयरमैन होता है। विशेष आशयों के लिए अधिक से अधिक दो अतिरिक्त सदस्य भी रखे जा सकते है। विशिष्ट जाच पड़ताली मे कमीशन की सहायता करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न असेसरों (assessors) की भी नियुक्ति की जा सकती है। आयोग एक अर्ध-न्यायिक (quasi judicial) सस्था है तथा इस नाते वह लोगो को गवाही देने के लिये बुला सकती है, उन्हे शपथ दिलाकर जांच सकती है तथा कागजातों को प्रस्तुत करने की आज्ञा दे सकती है। कमीशन का कर्त्तव्य-क्षेत्र बहुत ही व्यापक रखा है। प्रमुख कर्त्तव्य निम्नलिखित है —(i) उद्योगो के, जिन्होंने अभी उत्पादन आरम्भ नहीं किया है, सरक्षण सम्बन्धी दावों (claims) पर विचार करना। (ii) कृषि एव अन्य उद्योगो के लिये सरक्षण देने के प्रश्न पर विचार करना। (iii) टैरिफ दरों मे वृद्धि करने के अतिरिक्त अन्य उपायो (जैसे कच्चे मालो के सम्बन्ध में रियायती कर और आर्थिक सहायता) द्वारा सरक्षण देने की प्रार्थनाओ पर विचार करना। (iv) कीमतो और जीवन-यापन के व्ययो पर सरक्षण के प्रभावों के विषय मे तथा सरक्षणात्मक या रेवेन्यू-करों के फलस्वरूप उदय हुई कठिनाइयों के विषय मे जाँच करना तथा रिपोर्ट देना। (v) कुछ प्रकार की जाचें अपनी इच्छा से करना। (vi) सरक्षण की अवधि का निर्णय करना। (vii) कुछ विशेष वस्तुओं की कीमत के बारे मे जाच करना, चाहे यह वस्तु सरक्षित हो या नहीं। (viii) निम्नलिखित विषयों के बारे मे जाच-पड़ताल करना—कस्टम या अन्य सरक्षण करो मे घटत या बढ़त करने के आशय से जाँच करना, राशिपतन या सरक्षित उद्योगो द्वारा सरक्षण से अनुचित लाभ उठाने के मामलो की भी जाँच करना। (ix) सामान्य कीमत स्तर, जीवन-यापन के व्ययों तथा देश की अर्थ-व्यवस्था पर सरक्षण के सामान्य रूप से पड़ने वाले प्रभावों पर विचार करना। (x) सरक्षणात्मक करों के कार्यवाहन से उदय होने वाली कठिनाइयों पर विचार करना। (xi) सरक्षण पाने वाले उद्योग की उत्पादन लागत, उत्पादन का पैमाना, किस्म भावी विस्तार की सम्भावना तथा प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति के सन्दर्भ में उसे दिये गये सरक्षण के प्रभावों की समय-समय पर जांच करते रहना।

टैरिफ कमीशन के कार्यकलापों का विवरण—

पिछले वर्षों में टैरिफ कमीशन के कार्यकलापों का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि इसने अपने उद्देश्य के अनुसार आचरण किया है। १९५९-६० के अन्त तक इसने कुल १६६ जाँच पड़तालें की थीं जिनमें से १६ उन उद्योगों के सम्बन्ध में थीं जिन्होंने नये संरक्षण के लिए प्रार्थना की थी २४ कीमत सम्बन्धी जाँचें (price enquiries) थीं १ जाँच सरकार द्वारा TISCO और IISCO को दिए जाने वाले ऋण पर ब्याज दर के सम्बन्ध में और १२५ जाँच वर्तमान संरक्षण को जारी रखने के सम्बन्ध में थी। १९६०-६१ में कुल १४ टैरिफ जाँच पड़तालें (tariff enquiries) और २ कीमत जाँच (price enquiries) हुई थीं। १९६१-६२ में ६ टैरिफ जाँच पड़तालें और ४ कीमत जाँचें हुईं और १९६२-६३ में भी इतनी ही टैरिफ एवं कीमत जाँच की गई। १९६३-६४ में टैरिफ कमीशन द्वारा १० टैरिफ जाँचें तथा २ कीमत जाँच की गई थी। १९६४-६० में टैरिफ कमीशन ने ६ टैरिफ जाँच और १ कीमत जाँच पूर्ण की थी। १९६६-६७ में पाँच टैरिफ जाँच पड़तालें और तीन कीमत जाँच-पड़तालें की गईं। १९६७-६८ में ३ कीमत जाँचें और १ टैरिफ जाँच की गई। इन जाँच पड़तालों के आधार पर ही कमीशन सम्बद्ध उद्योगों को संरक्षण देता, संरक्षण की अवधि को बढ़ाता और समाप्त करता रहता है।

मूल्यांकन—

कमीशन की सिफारिशों पर जिन उद्योगों को पहली बार संरक्षण मिला है उनमें निम्न महत्त्वपूर्ण उद्योग सम्मिलित हैं —ऑटोमोबाइल्स एवं तत्सम्बन्धी पुर्जे, बाल बियरिंग, ऑटोमोबाइल हैड, टायर इन्फलेटर्स, पावर एवं डिस्ट्रीब्यूशन ट्रान्सफोमर्स, टिटेनियम डाइऑक्साइड, कास्टिक सोडा, ब्लीचिंग पाउडर, इंजीनियर्स स्टोन फाइल्स और कैल्शियम-कार्बाइड। कमीशन द्वारा की गई विभिन्न जाँच पड़तालों के विश्लेषण से यह पता चला है कि संरक्षण को जारी रखने के हेतु प्राप्त होने वाले प्रार्थना पत्रों की संख्या बहुत अधिक है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि टैरिफ कमीशन प्रारम्भ में प्रायः एक अल्प अवधि के लिए ही संरक्षण देना स्वीकार करता है। अतः उससे संरक्षण बढ़ाने के लिए बार बार अनुरोध किया जाता है। निःसन्देह संरक्षण की अल्प अवधि शीघ्र विकास को प्रोत्साहित करती है किन्तु साथ ही हमें यह याद रखना चाहिए कि यह उद्योगपतियों को अपने कोषों का नये उपक्रमों में विनियोजन करने से रोकती है।

अर्थव्यवस्था के संरक्षित भाग (protected sector) ने देश के औद्योगिक विकास में एक महत्वपूर्ण योग देना आरम्भ कर दिया है। इन उद्योगों के उत्पादन में औसत औद्योगिक उत्पादन की अपेक्षा कहीं अधिक वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त संरक्षित उद्योगों में कीमतें अधिक नहीं बढ़ सकी हैं जबकि अन्य उद्योगों में बहुत ऊँचा हो गई हैं। इनके उत्पादकों का किस्म में भी निरन्तर सुधार हो रहा है।

वास्तव में वर्तमान टैरिफ कमीशन के कार्यकलाप भूतकालीन अस्थाई टैरिफ

बोर्डों के कार्यकलापो की अपेक्षा अधिक सराहनीय है। आशा की जाती है कि पिछले वर्षो म जो अनुभव प्राप्त हुआ है वह कमीशन को प्रशुल्क नीति का सचालन इस ढङ्ग से करने मे समर्थ बनायेगा कि हमारी अर्थव्यवस्था के तेज और सन्तुलित विकास मे सहायता मिले। डॉ० बी० के० आर० बी० राव की अध्यक्षता म तटकर आयोग (Tariff Commission) के काम के बारे मे समीक्षा करने के लिए एक समिति बनाई थी। इसकी रिपोर्ट पर सरकार ने निम्न महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए है — (क) जिन उद्योगो स सरक्षण हटा लिया गया है उसके दो तीन वर्ष बाद उनकी स्थिति की समीक्षा नियमित रूप से की जानी चाहिये। (ख) अनुविहित मूल्य नियत्रण लागू करने के लिये (कृषि जिन्सो के अतिरिक्त) मूल्यो की जाँच का काम आमतौर पर तटकर आयोग को सौपा जाना चाहिये। विशेष परिस्थितियो म जब तदर्थ समितियाँ नियुक्त की जाये तो उन्हे भी तटकर आयोग के अध्यक्ष या किसी सदस्य का सहयोग लेना चाहिये। (ग) यद्यपि कीमतें कम करने पर निगाह रखना आयोग का काम नही होना चाहिये, पर जाच करते समय उसे यह पता लगाना चाहिये कि उद्योग की लागत अधिक क्यो है और उसे कम करने के लिये क्या उपाय अपनाये जा सकते है।

यहाँ सरक्षण विषयक एक नई प्रवृत्ति का उल्लेख करना अनावश्यक न होगा। सरक्षित उद्योगो की सख्या वर्ष प्रतिवर्ष घटती जा रही है। इसका कारण यह है कि द्वितीय और तृतीय योजनावधियो मे औद्योगिक विकास कार्यक्रमो के अन्तर्गत राज्य द्वारा उद्योगो को विभिन्न प्रकार से आर्थिक सहायता आदि दी गई और फिर उत्तरोत्तर गिरती हुई भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी दशा के सुधार के लिए सन् १९५७ मे आयात के सम्बन्ध मे कठोर नीति अपनाई जा रही हैं, जिससे उद्योग अब सरक्षण के आश्रित नही रह गये। अन्य शब्दो मे, सरक्षण हमारी राष्ट्रीय नीति का एक स्वाभाविक एव स्थाई कार्यक्रम बन गया है।

श्री एस० सुब्रह्मण्यम की अध्यक्षता मे नियुक्त तटकर पुनर्विचार समिति (Tariff Revision Committee) ने अपनी रिपोर्ट मे सिफारिश की है कि (i) भारत के व्यापार और इसके विकास की आवश्यकताओ के अनुसार आयात सीमाशुल्क के निर्धारण के ढङ्ग को आवश्यक फेर बदल करके ब्रुसेल्स तटकर नियमो के अनुरूप बनाया जाय। (ii) नये उपशीर्षक खोलते समय 'परिशोधित भारतीय व्यापार वर्गीकरण' को ध्यान म रखा जाय। (iii) सीमाशुल्क और केन्द्रीय उत्पाद शुल्क तटकर अनुसूचियाँ यथासम्भव एक सी होनी चाहिये ताकि उनके प्रशासन और व्याख्या में एकरूपता आ जाय। समिति ने सशोधित सीमा शुल्क तटकर अनुसूची के आधार पर सशोधित केन्द्रीय उत्पाद शुल्क तटकर अनुसूची का प्रारूप भी तैयार किया है। समिति ने अब आयात व्यापार नियत्रण अनुसूची के सशोधन का काम हाथ म लिया है।

परीक्षा प्रश्न :

१ विभेदात्मक संरक्षण का अर्थ एवं इसकी क्रियाविधि को समझाये। यह भारत के औद्योगिक विकास को गतिवान बनाने में कहां तक सहायक है ?

[Explain the meaning and working of discriminating protection How does it help in accelerating the industrial development of India ?]

२ "टैरिफ संरक्षण मौलिक रूप से एक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन और नीति को लागू करने का एक उपकरण है जिसे देश के आर्थिक विकास को बढ़ावा देने हेतु प्रयोग करना चाहिये।" इस कथन की परीक्षा करिये और भारतीय प्रशुल्क आयोग १९५० की सिफारिशों पर प्रकाश डालिये।

[Tariff protection is primarily a means to an end—one of the instruments of policy which the state must employ to further economic development of a country " Examine this statement and discuss the recommendations of the Indian Fiscal Commission 1950 ?]

३ भारत सरकार की वर्तमान प्रशुल्क नीति किन सिद्धान्तों पर आधारित है ? इस नीति ने १९४९ से किस तरह कार्य किया है ?

[What are the principles on which the present protection policy of the Indian Government is based ? How has this policy worked since 1949 ?]

४ भारत की वर्तमान प्रशुल्क नीति की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये और यदि आवश्यक हो, तो सुधार के लिये सुझाव दीजिये।

[Give a critical review of India's present fiscal policy and offer suggestions for modification if necessary.]

३५

निर्यात संवर्धन

(Export Promotion)

प्रारम्भिक—

भारत को विदेशी मुद्रा अर्जित करने की विशेष आवश्यकता है, विशेषतः ऐसी स्थिति मे जबकि विश्व का कुल निर्यात तेजी मे बढ रहा है और उसमे भारत का योग निरन्तर कम हो रहा है। विश्व के कुल निर्यात मे भारत का निर्यात प्रतिशत १९५५-५६ मे १'३८% था जो १९६५-६६ मे कम होकर ०.९१% रह गया। इसका अर्थ यह नही है कि भारत के निर्यात व्यापार मे वृद्धि नही हुई है बल्कि इसका अर्थ यह है कि भारत के निर्यात व्यापार मे उतनी वृद्धि नही हुई, जितनी कि दुनिया के कुल निर्यात व्यापार मे। भारत का निर्यात व्यापार कुल आयात व्यापार के प्रतिशत के रूप मे १९५५-५६ मे ७८'७ था जो १९६५-६६ मे ५७.२% रह गया। यही स्थिति भारत के निर्यात-व्यापार की राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप मे है। भारत का निर्यात व्यापार राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप मे १९५५-५६ मे ६.१ था जो १९६५-६६ मे कम होकर ४.० रह गया। स्पष्ट है कि भारत का निर्यात व्यापार तेजी से बढाने की आवश्यकता है अन्यथा हम अपने आयात व्यापार के लिये पर्याप्त धन नही जुटा सकेंगे।

आगामी कुछ वर्षों तक निर्यात बढाने की आवश्यकता सर्वमुखी बनी रहेगी। सावधानी से विश्लेषण करने पर यह पता चलेगा कि निर्यात व्यापार राष्ट्र के आर्थिक जीवन पर एक कठोर अनुशासन लागू करता है और यदि हम राष्ट्र की प्रगति करना चाहते हैं, तो यह अनुशासन हमे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना होगा। वास्तव मे, परम्परागत एवं अपरम्परागत वस्तुओ के निर्यात को यथेष्ठ मात्रा मे बढाना हमारा एक पुनीत राष्ट्रीय कर्त्तव्य है। यह हमारे निर्माताओं और व्यापारियों की योग्यता की कसौटी है। *वर्तमान मे हानि सहकर भी हमे निर्यात बढाने चाहिये,* क्योंकि इससे देश की भावी उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है तथा हम सभी को अब सन्तोष करने के मीठे फल दीर्घकाल म मिलेंगे।

दुर्भाग्यवश इस देश मे उद्योगपतियो मे अभी पर्याप्त निर्यात-चेतना (export

consciouness) उत्पन्न नहीं हो सकी है। आन्तरिक बाजार का प्रलोभन उन्हें निर्यात बढ़ाने पर (जिसमे कि बिक्री बढ़ाने के लिए अथक प्रयास करने पड़ते है तथा प्रतियोगी कीमतें रखनी पड़ती है) ध्यान नहीं देने देता। निर्यातों के प्रति इस उपेक्षाभाव को दूर करने हेतु उद्योग और समाज दोनों पर कड़े अनुशासन की आवश्यकता है।

निर्यात का लक्ष्य ऊँचा होना स्वाभाविक है, क्योंकि (i) जनसंख्या की तेजी से वृद्धि तथा अभी भी जीवन-यापन के नीचे बने हुए स्तर के कारण चौथी योजना का आकार तीसरी योजना की अपेक्षा अधिक बड़ा रखा गया है, (ii) इसके अन्तर्गत उद्योगों की क्षमता मे यथेष्ठ वृद्धि की जायगी, जिसके लिये पहले से भी अधिक मात्रा मे पूँजीगत वस्तुयें आयात करनी पड़ेंगी; (iii) विद्यमान स्थापित क्षमता के पूर्ण शोषण के लिए भी कच्चे माल, उत्पादन उपकरण स्पेयर्स और प्रतिस्थापनों का अधिक मात्रा मे आयात करना पड़ेगा, एव (iv) भारत को ऋणो पर ब्याज तथा मूलधन सम्बन्धी भुगतान भी करने पड़ेंगे। इन सब भुगतानो के लिए पर्याप्त विदेशी मुद्रा की आवश्यकता है। अत निर्यात लक्ष्य काफी ऊँचा रखना पड़ेगा।

निर्यात बढ़ाने हेतु उठाये गये या प्रस्तावित नये कदम

(१) द० पू० एशिया और सुदूर पूर्व में भारतीय व्यापार गृह खोलना— सरकार ने दक्षिणी पूर्व एशिया और सुदूर पूर्व के देशो मे भारतीय व्यापार गृह (Indian Trading Houses) खोलने की योजना बनाई। इन उपायो का उद्देश्य इस क्षेत्र मे बढ़ती हुई प्रतियोगिता का सामना करना है। व्यापार गृहो का गठन कुछ विदेशी संगठनों की रूप-रेखा के अनुसार किया जायगा तथा वहाँ अच्छी निर्यात-सम्भावनाओ वाली भारतीय वस्तुओं का प्रदर्शन और विक्रय किया जायेगा। इन व्यापार गृहों की स्थापना भारतीय निर्माताओं और निर्यातकों के संघ द्वारा की जायेगी, जो इनका वार्षिक व्यय वहन करेंगे। ये व्यापार-गृह विशुद्ध व्यापारिक आधार पर संगठित किये जायेंगे तथा इनको निर्यात संवर्धन परिषदों से भी सहायता मिलेगी।

(२) अधिक संख्या मे राजकीय व्यापार निगम— निर्यात व्यापार मे सार्वजनिक क्षेत्र को पहले की अपेक्षा अधिक बड़ा हिस्सा दिया जायेगा और इस हेतु चौथी योजना के अन्तर्गत विदेशी बाजारो मे विभिन्न प्रकार की वस्तुओ के विपणन के लिए कई राजकीय व्यापार निगम स्थापित किये जायेंगे।

(३) किस्म नियन्त्रण— बोर्ड ऑफ ट्रेड (Board of Trade) की एक समिति ने इस बात पर बल दिया है कि किस्म नियन्त्रण सम्बन्धी कानून पर कड़ाई से अमल किया जाय। अन्यथा निर्यात व्यापार मे चुनीदा नियन्त्रण सम्बन्धी उपाय (selective control measures) निर्यात की गई वस्तुओ की उचित किस्म के अभाव मे, बेकार हो जावेंगे।

(४) **निर्यात संवर्धन परामर्शदाता बोर्ड**—राज्यों में एक-एक निर्यात संवर्धन परामर्शदाता बोर्ड (Export Promotion Advisory Board) स्थापित किया जायेगा, जो चौथी योजना की पृष्ठ-भूमि में आयातों और निर्यातों के मध्य खाई को पाटने के लिए आवश्यक परामर्श देंगे।

(५) **लागतों में कमी करने के उपाय**—ऐसे कदम उठाने की आवश्यकता है, जिससे कि उत्पादन लागतें कम हो जायें। यदि यह सम्भव हुआ, तो विदेशी बाजारों में भारतीय वस्तुएँ अधिक दृढ़ता से प्रतियोगिता कर सकेंगी। विदेशों में भारतीय माल की खपत बढ़ाने में लागत-घटौती की दिशा में कुछ अधिक नहीं किया जा सका है। यह सदा ही सत्य नहीं है कि प्रतियोगिता में सफलता के लिए जो लागत-घटौती आवश्यक है वह मजदूरियों में कमी करके ही सम्भव है। कारण, प्रायः उत्पादक-साज-सामान और उत्पादन-टेक्नीक में भी बहुत कमियाँ देखी गई हैं। अतः, यदि इन्हें सुधार लिया जाय, तो मजदूरियों में घटौती किये बिना ही लागतों में कमी की जा सकती है।

(६) **निर्यातकों का चुनाव**—निर्यात सहायता केवल चुने हुए निर्यातकों को जिन्हें कि निर्यात व्यापार में वास्तविक रुचि हो तथा जो निर्यात व्यापार में भाग लेने की क्षमता भी रखते हों, दी जानी चाहिए। निर्यात क्षेत्र में नये प्रवेशकों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। विशेष सुविधाओं की स्वीकृति विशेष दायित्वों पर आधारित होनी चाहिए।

(७) **स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र**—कांधला में एक स्वतन्त्र व्यापार वाला क्षेत्र (Free Trade Zone) स्थापित किया गया है। 'स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र' का उद्देश्य वस्तुओं को प्रतिस्पर्धात्मक बनाना, उपरिव्यय घटाना तथा निर्यात के लिए पुन विधायन उद्योगों (reprocessing industries) की स्थापना को प्रोत्साहन देना है। इस क्षेत्र में स्थापित उद्योगों के लिए आयात लाइसेन्स अधिक उदारतापूर्वक दिये जाते हैं। यद्यपि ये उद्योग अधिकांशतः निर्यात के लिए ही उत्पादन करेंगे तथापि कुछ सीमा तक उन्हें आन्तरिक बाजार में बेचने की भी छूट होगी।

(८) **निर्यात कार्यक्रम में लघु पैमाने के उद्योगों की भूमिका**—चौथी योजना के निर्यात कार्यक्रम में लघु उद्योगों को एक महत्त्वपूर्ण भूमिका लेनी है। पृथक-पृथक वस्तुओं के लिए अभी से लक्ष्य निर्धारित किये जायें, जो कि वार्षिक आधार पर होने चाहिए। निःसन्देह लघु उद्योगों के क्षेत्र में निर्यात वृद्धि के लिए पर्याप्त अवसर है। उदाहरणार्थ, छाते के विक्रेताओं ने जब भरसक प्रयास किये तो इनका निर्यात कई गुना बढ़ गया था। इसी प्रकार, साइकिलों, चूड़ियों आदि के निर्यात को भी बहुत बढ़ाया जा सकता है। सरकार ने कई निर्यात प्रोत्साहन योजनायें चालू की हैं। लघु उद्योगों को इनसे लाभ उठाना चाहिए। यह सुझाव भी है कि लघु-उद्योगों की उत्पत्ति का विपणन करने के लिए राजकीय व्यापार निगम की भाँति का एक सङ्गठन बनाना

चाहिए। निर्यात गृह (export houses) भी स्थापित किए जा सकते हैं। कई राज्यों में निर्यात निगम स्थापित किए गए हैं।

(९) आन्तरिक उपभोग को घटाने के उपाय—जिन वस्तुओं की अधिक निर्यात सम्भावनायें हैं उनके उपभोग का दश में घटाना चाहिए जिससे कि इनका अधिकाधिक मात्राओं में निर्यात किया जा सके। योजना आयोग ने चौथी योजना की अवधि में एसी वस्तुओं के अतिरिक्त उत्पादन का निर्यात के लिए सुरक्षित रखने का/ फैसला किया है। स्वर्गीय प्रधान मन्त्री श्री शास्त्री ने यह सुझाव दिया था कि पब्लिक सैक्टर को उपभोक्ता वस्तु उद्योगों में भी भाग लेना चाहिए जिससे कि इनका निर्यात काफी बढ़ाया जा सके।

(१०) विदेशी विनिमय—निर्यात-वृद्धि के लिए विदेशी विनिमय अधिक मात्रा में सुलभ होना चाहिए, जिससे कि निर्माताओं को विदेशों से आधुनिकतम मशीनों का आयात करने में सुविधा हो जाय और वे ऐसी वस्तुएँ निर्मित कर सकें, जिनके लिए विदेशी बाजारों में माँग बहुत बढ़ सकती है।

(११) पब्लिक सेक्टर में जूट मिलों की स्थापना—जूट के गलीचे आदि बनाने के लिये आधुनिक आयातित मशीनों और साज-सामान से युक्त जूट मिल पब्लिक सैक्टर में स्थापित किए जायें। इससे लागतें कम हो जायेंगी तथा प्रतियोगी कीमतों पर निर्यात किया जा सकेगा।

(१२) चाय की खेती का विस्तार—विशेषज्ञों ने यह सुझाव भी दिया है कि राज्य सरकारें चाय की खेती को बढ़ावा दें और इस हेतु सिंचाई सुविधायें तथा बगीचों के विस्तार के लिए पर्याप्त भूमि की व्यवस्था करें।

डा० राव के सुझाव—

डा० राव ने चौथी योजनावधि में निर्यातों को यथेष्ट मात्रा में बढ़ाने के लिए सात उपायों का सुझाव दिया है। ये सुझाव निम्न हैं —(i) आन्तरिक उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाए जाय। इसका अर्थ यह नहीं है कि आन्तरिक उपभोग को वर्तमान स्तर से भी कम कर दिया जाय, वरन् यह है कि अतिरिक्त उत्पादन का कुछ भाग चालू उत्पादन में से अभी निर्यात किए जाने वाले भाग के अलावा निर्यात के लिये सुरक्षित रखा जाय। (ii) भारतीय निर्यातों का अधिकांश अनुपात कृषि पर आधारित है जबकि कृषि उत्पादन में जलवायु के अनुसार विशाल परिवर्तन होते रहते हैं। अतः निर्यात का नियमित प्रवाह बनाए रखने के लिये निर्यात सम्बन्धी स्टॉक बनाये जायें। (iii) कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्रों में विनियोजन इस प्रकार से होना चाहिये कि निर्यात में वृद्धि हो। इस हेतु आवश्यक कच्चे मालों तथा मशीनों पुर्जों की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होना चाहिये। (iv) केवल निर्यात के लिए ही उत्पादन करने वाले कारखाने विशेष रूप से खोले जायें। ये कारखाने पब्लिक सैक्टर में स्थापित किये जाने चाहिए तथा इनमें आधुनिकतम मशीनें होनी चाहिये। (v) निर्यात प्रोत्साहन के लिए जो भी प्रामाणिक एवं अन्य उपाय किए जायें वे चौथी

योजना की सम्पूर्ण अवधि मे बने रहने चाहिये, जिससे कि निर्यातको और निर्माताओं के निर्यात सम्बन्धी प्रयासों मे विघ्न न पडे। (vi) निर्यात प्रोत्साहन के लिए विदेशी विनिमय उदारतापूर्वक स्वीकृत किया जाय, चाहे इससे कुछ अपव्यय ही हो। जिन आशयों के लिये विदेशी विनिमय की सुविधायें दी जानी चाहिये वे निम्न हैं — निर्यातको के प्रतिनिधियों की विदेश यात्रा, बिक्री बढाने हेतु प्रचार, बाजार और वस्तु सम्बन्धी अनुसन्धान, कार्यालयो डिपो, एम्पोरियम आदि खोलना। (vii) निर्यात प्रोत्साहन के लिये कुल कितनी विदेशी मुद्रा उपलब्ध की जायगी इसका निश्चय पहले से ही करना आवश्यक है तथा आवश्यक विदेशी मुद्रा किश्तो मे देने की व्यवस्था करनी चाहिये।

निर्यात बढाने हेतु प्राथमिकताओं का पुनर्निर्धारण आवश्यक

निर्यात व्यापार बढाने हेतु वस्तुओ के उत्पादन की प्राथमिकतायें निश्चित करना आवश्यक है किन्तु हमारे निर्यात व्यापार बढाने के प्रयासो की एक कमी यह है कि निर्यात वस्तुओ की प्राथमिकताओ का निर्धारण सही ढङ्ग से नहीं हुआ है। निर्यात व्यापार की सूची मे अभी तक लगभग ३०० वस्तुयें सम्मिलित की गई हैं। लेकिन इनमे से ५० से अधिक वस्तुयें ऐसी नहीं है जिनसे राजकोष को निर्यात व्यापार के द्वारा विशेष लाभ होता हो। हमारे निर्यात व्यापार की वस्तुओं को लेकर लागत और लाभ के आधार पर कोई विश्लेषण नहीं किया गया है। इस प्रकार के विश्लेषण का एक लाभ तो यह होता कि अभी तक जो वस्तुयें निर्यात-वस्तुओ की सूची मे सम्मिलित है, वह निकाल दी गई होती और ऐसी वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक बल दिया गया होता जिनसे अधिक निर्यात-आय प्राप्त होने की सम्भावना है। नीचे कुछ प्रमुख माप दण्डो पर विचार किया गया है, जिनको इस प्रकार की सूची तैयार करने में दृष्टिगत रखना आवश्यक है।

(१) भारत के निर्यात व्यापार के गठन मे कुछ बुनियादी कमी है, क्योंकि विदेशी मुद्रा का एक बहुत बडा प्रतिशत कुछ थोडी-सी वस्तुओं के निर्यात द्वारा प्राप्त होता है। अत दीर्घकालिक नीति अपनाते समय विविध प्रकार की वस्तुओं के निर्यात पर बल देने की आवश्यकता है और अल्पकाल मे इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि सुनहरी अण्डे देने वाली मुर्गी अर्थात् ऐसी वस्तुओं के निर्यात को जिनसे अधिक लाभ प्राप्त होता है, प्रोत्साहन दिया जाय। पटसन और चाय के निर्यात व्यापार के महत्व को देखते हुये यह जरूरी है कि इन वस्तुओ के व्यापार पर पहले की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जाय।

(२) भारत द्वारा निर्यात होने वाली अधिकाश वस्तुओं का कुल निर्यात उत्पादन में योग गौण है। ऐसी वस्तुओ के निर्यात पर अधिक बल देने की आवश्यकता है जिनमे अधिक आय प्राप्त होती है और इन वस्तुओ के उद्योगों का भविष्य भी इन वस्तुओ के निर्यात पर निर्भर करता हो। ऐसी परिस्थिति मे विदेशी मुद्रा अर्जित करने की आवश्यकता को दृष्टि मे रखते हुये राष्ट्रीय नीति मे उन्हें उच्च प्राथमिकता

देने की आवश्यकता है। निर्यात वस्तुओं के इन उद्योगों म अधिक पूँजी लगाने और ठीक समय पर इन्हें सुदृढ बनाने की दिशा म यदि कोई कदम नहीं उठाये गये तो इन उद्योगों के सङ्गठन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

(३) निर्यात वस्तुओं को प्राथमिकता देते समय उनकी माँग को ध्यान में रखना आवश्यक है। निर्यात वस्तुओं की माँग मालूम करने के तीन साधन हैं। प्रथम, निर्यातक विभिन्न देशों से की गयी पूछताछ के द्वारा माग का अनुमान लगाता है। दूसरे विभिन्न देशों को भेजे गये डेलीगेशनों की रिपोर्ट से भी कुछ वस्तुओं की माँग का अनुमान लगाया जाता है। तीसरे सरकार या राजकीय व्यापार निगम तथा खनिज और धातु व्यापार निगम द्वारा किये गये व्यापार समझौतों से भी विभिन्न वस्तुओं की माग का अनुमान लगाया जा सकता है। निर्यात वस्तुओं की माँग का ज्ञान हो जाने पर इन वस्तुओं के सम्बन्ध म नीति अपनाई जानी चाहिए।

(४) ऐसी निर्यात वस्तुओं को प्राथमिकता देने की आवश्यकता है जिनके उद्योगों में आयात-वस्तुएँ कम लगती हैं।

भारतीय लघु उद्योगों के महासंघ के सुझाव

भारतीय लघु उद्योगों के महासंघ (The Federation of Associations of Small Industries of India) ने निर्यात प्रोत्साहन विषयक प्रस्ताव में निम्न लिखित सुझाव दिये हैं —(१) निर्यात प्रोत्साहन की स्कीमें दो शीर्षकों के अन्तर्गत बनाई जायें—प्रशुल्क प्रोत्साहन एवं वित्तीय प्रोत्साहन। इसके अतिरिक्त, निम्न सुविधायें भी सम्मिलित की जा सकती हैं —बाजार सूचना का सग्रहण एव प्रसारण, समुद्र पार बाजारों का सर्वेक्षण, उत्पाद-सर्वेक्षण निर्यात विपणन सम्बन्धी ट्रेनिङ्ग निर्माता स-निर्यातकों के लिये समुचित आयात सुविधायें, अच्छी निर्यात उपलब्धियों के लिये पुरस्कार-वितरण। (२) एक निर्यात-निदेशालय स्थापित किया जाये जो लघु उद्योगों की निर्यात समस्याओं को सुलझाये। (३) एक अन्तर्राष्ट्रीय कीमत सूचनालय (International pricing Intelligence) स्थापित किया जाय। इसमें लघु उद्योग के लाभार्थ एक विशेष विभाग होना चाहिये। (४) व्यापारिक बैंक्स (विशेषत सरकारी बैंक्स) लघु उद्योगों को 'सिक्योरिटी प्रधान' ऋण न देकर 'विकास प्रमुख ऋण' (Development oriented loans) दें। (५) लघु उद्योग निगमों को चाहिये कि पूँजीगत सामान बेचने म (किराया खरीद आधार पर) लघु उद्योगों की सहायता करें। (६) एक राष्ट्रीय विनियोग गृह की स्थापना की जाय। (७) लघु उद्योगों का दुर्लभ देशी कच्चे माल उचित कीमतों पर उपलब्ध कराया जाय।

निर्यात सम्वर्द्धन के लिए अन्य उपयोगी सुझाव

(१) सभी प्रकार के अप्रत्यक्ष करों को (जैसे—निर्यात ड्यूटीज, बिक्री कर नगरपालिका कर, स्थानीय कर) उन वस्तुओं के सम्बन्ध में जो कि निर्यात किये जायें, लौटा देना चाहिये। आजकल ऐसा केवल निर्यात ड्यूटीज के लिये किया जा रहा है, अन्य अप्रत्यक्ष करों के बारे म नहीं, जो कि अभी भी विशाल राशि के हैं।

पुन निर्यात ड्यूटीज की वापिसी में भी बहुत विलम्ब होता है तथा विशाल कोष १२ (या इससे भी अधिक) महीनों तक अटके रहते हैं।

(२) निर्यात-वस्तुओं की कीमतों को प्रतिस्पर्धात्मक स्तर पर लाने हेतु यह आवश्यक है कि **निर्यातक उद्योगों को आयातित कच्चे माल आदि अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों पर उपलब्ध कराये जायें।** अभी कुछ थोड़े कच्चे माल ही STC के द्वारा उपलब्ध कराये जाते है। उनकी किस्म भी आवश्यक कोटि की नहीं होती तथा वे महंगे होते हैं। दुर्भाग्य से निर्यातकों को Replenishment licences देने में विलम्ब किया जाता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के जिन निर्यात प्रोत्साहन विशेषज्ञों ने हाल में ही भारत के औद्योगिक उत्पादन और निर्यात व्यापार की जांच की थी, उनके नेता श्री बी० एफ० कोलन ने एक प्रेस कान्फ्रेंस में अपने अध्ययन के निष्कर्ष प्रकट करते हुए यह विचार व्यक्त किया था कि यदि निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन मूल्य घटाया जाये और अच्छी किस्म एवं अच्छे आकर्षक पैकिंग पर ध्यान दिया जाये तो भारत के निर्यात में वृद्धि हो सकती है। इन विशेषज्ञों की अन्तिम रिपोर्ट अभी नहीं मिली है। परन्तु यह समझा जाता है कि यदि निर्यात प्रोत्साहन को गम्भीरता से लिया जाय तो कुछ वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अच्छा स्थान बनाया जा सकता है।

(३) अ-परम्परागत वस्तुओं के लिये निर्यात प्रोत्साहन स्कीमें स्वीकार **करने में जल्दी की जाय,** जिससे कि निर्यातकों के हाथ से वे नये बाजार न निकल जायें जो कि उन्होंने बड़ी कठिनाई से प्राप्त किये है। सरकार ने १९७३-७४ तक इन्हें वर्तमान २४० करोड रु० के स्तर से बढ़ाकर ५०० करोड रु० करने का लक्ष्य बनाया है।

(४) **जो लोग निर्यात क्षेत्र में अच्छे परिणाम दिखाते हैं उनकी सराहना की जानी चाहिए।** (व्यापार बोर्ड ने उल्लेखनीय निर्यात करने वालों को प्रति वर्ष १० पुरस्कार देने का निर्णय भी किया है। उल्लेखनीय निर्यातकों का चुनाव चुने हुये अर्थशास्त्रियों तथा विशेषज्ञों की एक समिति करेगी। बोर्ड को आशा है कि इन पुरस्कारों से भारतीय निर्माताओं को प्रोत्साहन मिलेगा तथा उनकी रुचि में वृद्धि होगी। इससे निजी उत्पादक तथा निर्यातक विदेशी बाजारों में अपना सामान भेजने को अधिक इच्छुक होंगे। १९६९ में पहली बार सफल निर्यातकों को पुरस्कार दिये गये।)

(५) सरकार को चाहिए कि निर्यात के लिए नीतियाँ, क्रिया विधियाँ एवं प्रोत्साहन-स्कीम बनाते समय **व्यापारिक संगठनों से विचार विमर्श करे।**

(६) निर्यात के लिये विक्रय में व्यक्तिगत प्रयत्नों की विशेष आवश्यकता पड़ती है। इस हेतु **विदेशी ग्राहकों से निरन्तर सम्पर्क** रखना और व्यापारिक सम्बन्धों का निर्माण करना चाहिये। पूंजीगत वस्तुओं के निर्यात की दशा में 'विक्रयोत्तर सेवा'

(After sales Service) परम आवश्यक है। इस हेतु ट्रेण्ड कर्मचारियों को निरन्तर विदेशों में भेजना चाहिये जो यह देखें कि उनका बेचा गया माल कैसा कार्य कर रहा है। सरकार ने विदेशी यात्राओं पर जो अत्यधिक प्रतिबन्ध लगा रखे है वह इस दिशा मे बाधक है जिस कारण निर्यात व्यापार को बहुत ठेस पहुँच रही है। हर्ष का वर्ष है कि इस वर्ष से विदेशी यात्रा सम्बन्धी नियम ढीले कर दिये गये है।

(७) U. S AID के निर्देशन जोन० पी० लेविस (John. P Lewis) ने भारतीय व्यवसाइयो की प्रशसा करते हुये कहा था कि "I know of no business leadership group better equipped with the essential resources, not only of mind but of character, dedication, personal grace and good humour for bringing about this kind of assignment." किन्तु स्वय भारत की सरकार को अपने व्यवसाइयों मे विश्वास नही है। तब ही तो भारतीय उद्योगों के विकास हेतु नीतियां बनाने म उनको अलग रखा जाता है। अतः सरकार को चाहिये कि वह अपने दृष्टिकोण मे सुधार करे।

(८) हमारे विदेशी दूतावासो के वाणिज्य विभाग ठीक प्रकार से काम नहीं कर रहे है। पहली बात तो यह है कि उनमे कर्मचारियो की सख्या जरूरत से कम है, दूसरे, जो लोग नियुक्त किए जाते है उनमे अपने काम को अच्छी तरह करने की योग्यता नही होती। अगर इन विभागो को दोषरहित बनाया जाय तो हमारा विदेशी व्यापार काफी उन्नति कर सकता है।

(९) विदेशी व्यापार के उपलब्ध आकडे विस्तृत तो होते हैं फिर भी नवीनतम नहीं होते। विदेशी व्यापार का हमारा ढाँचा अक्सर बदलता रहता है। सफल प्रतियोगिता तभी सम्भव है जब आँकडे नवीनतम हों।

(१०) **विदेशों में जो मेले और प्रदर्शनियां** होती है उनमे न तो हमारे सामान की सजावट आधुनिक ढग से की जाती है और न ही मुद्रित सामग्री स्थानीय भाषाओ मे प्रकाशित की जाती है। कई बार तो स्थलो के प्रभारी व्यक्ति उस स्थान की भाषा नहीं जानते होते जहाँ मेले और प्रदर्शनियाँ लगाई जाती हैं। विदेशो मे जो 'शो रूम' बनाए गए है उनकी भी बुरी दशा है। इन सब कमियों को दूर करना होगा। आकाशवाणी पर व्यापार विभाग आरम्भ करने के बारे मे भी सरकार विचार कर चुकी है, परन्तु इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया गया जिसके कारण वस्तुओ के विज्ञापन हमारे रेडियो पर नहीं दिए जा सकते। अतः पश्चिमी एशिया तथा पूर्व के बहुत से लोग जो हमारा रेडियो कार्यक्रम सुनते है, भारत द्वारा उत्पादित वस्तुओ के बारे मे जानकारी हासिल नहीं कर पाते और उन्हे पता ही नहीं चलता कि हम कौन-सी चीजे तैयार करते है। कुछ समय पहले रेडियो सीलोन पर इनके विज्ञापन सुने जा सकते थे, परन्तु विदेशी मुद्रा के अभाव के कारण इसे भी सीमित कर दिया गया है। सरकार को चाहिए कि वह व्यापार को बढाने की खातिर आकाशवाणी पर व्यापार विभाग आरम्भ करने के बारे मे पुन विचार करे।

(११) सरकार को इस बात का पूरा ध्यान रखना पड़ेगा कि रूस और पूर्वी यूरोप के साथ व्यापार बढ़ाकर हम उस विदेशी मुद्रा की आय को न खो दें जो हमारे लिए बहुत जरूरी है। हमारी कोशिश यह होनी चाहिए कि रूस, पूर्वी यूरोप तथा स्वतन्त्र विदेशी मुद्रा वाले देशों को हमारा निर्यात एक साथ बढ़े। यह बहुत अच्छी बात है कि रूस और पूर्वी यूरोप के देशों को निर्यात में हमारे तैयार माल और परिष्कृत वस्तुओं की प्रतिशतता बढ़ रही है। इसी प्रकार स्वतन्त्र विदेशी मुद्रा वाले उन देशों को हम निर्यात बढ़ाना चाहिए जहां से हम मशीनें और पूंजीगत सामान का आयात कर रहे हैं और जिनके साथ हमारा व्यापार असंतुलित है।

(१२) कृषि और उद्योग के उत्पादन में गिरावट को देखते हुए ऐसा लगता है कि जब तक कोई सुधार के उपाय न किए जायेंगे यह लक्ष्य पूरा करना कठिन होगा। सबसे पहले तो सरकार को प्रत्येक आर्थिक विषय पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार करना पड़ता है। इसके बाद सरकार को अपनी नीति को अमल में लाने के लिए अपने प्रशासन को दोषरहित बनाना चाहिए। उदाहरण के तौर पर कृषि के बारे में सबसे पहला काम हमें यह करना चाहिए कि वैज्ञानिक तरीकों का उपयोग करके और किसान को खाद आदि आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध करके उत्पादन को बढ़ाया जाए। कृषि उत्पादन वाणिज्यिक स्तर पर किया जाना चाहिए और इसे एक उद्योग ही मानना चाहिए। सरकार को अपनी भूमि सम्बन्धी नीति पर पुनर्विचार करना चाहिए ताकि बड़े बड़े फार्मों पर खेती की जा सके क्योंकि तभी आधुनिक उपकरणों का उपयोग में लाया जा सकता है। उद्योगों को जब तक प्रोत्साहन नहीं दिया जाता उपयुक्त उत्पादन नहीं बढ़ाया जा सकता। सरकार का वर्तमान रवैया लाभप्रद सिद्ध नहीं होगा कि उद्योग ठीक चल रहे हैं और इन्हें किसी प्रकार का प्रोत्साहन देने की जरूरत नहीं है।

(१३) हमारी निर्यात नीति को चाहिए कि कच्चे मालों की तुलना में निर्मित वस्तुओं के निर्यात पर बल दे, जिससे विदेशी मुद्रा की कमाई बढ़ सके। इस सम्बन्ध में स्क्रैप (scrap) के निर्यात की अनुमति देने और इस पर नकद सहायता देने की नीति का पुनरीक्षण किया जाना चाहिए, क्योंकि ऐसे निर्यातों ने इलेक्ट्रिक फर्नेस इण्डस्ट्री के लिये कठिनाइयां पैदा कर दी हैं। स्क्रैप के बजाय 'तैयार इस्पात' का निर्यात करना बेहतर होगा।

(१४) विकसित और औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की नीतियों में परिवर्तन किए बिना अल्प विकसित देशों का निर्यात नहीं बढ़ सकता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में गड़बड़ी और अव्यवस्था को दूर करने की दिशा में 'गैट' संगठन ने काफी काम किया है, लेकिन फिर भी वह अर्द्ध विकसित देशों के निर्यात वृद्धि को बढ़ावा नहीं दे सका है। अब स० रा० के तत्वावधान में एक संगठन बना है, जिसने काफी अच्छा काम किया है।

(१५) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के अध्यक्ष श्री बी० टी० देहेजिया ने सुझाव

दिया है कि निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए रिजर्व बैंक को चाहिए कि वह बैंकों को कम ब्याज पर ऋण दे। ऐसा होने पर बैंक निर्यातकों को ऋण-सम्बन्धी सुविधाएँ दे सकेंगे। जापान में इस तरह की व्यवस्था है, और भारत में इसे आसानी से अपनाया जा सकता है।

(१६) नवीन एवं निर्मित वस्तुओं के निर्यात पर बल देते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि कृषि अभी भी निर्यात कार्यक्रम में वस्तुओं की प्रमुख भूमिका है और इनकी ओर से आँखें हटाना हानिप्रद होगा।

(१७) निर्यातों में अनिवार्यता रखने की स्कीम का विरोध करते हुए ACC के प्रमुख श्री पिरन ने तर्क किया कि हम लाख विदेशी ग्राहक को अपनी उपज खरीदने के लिए विवश नहीं कर सकते, चाहे सरकार कुछ भी क्यों न कहे। यदि अनिवार्यता प्रचलित की गई तो यह खतरा है कि भारतीय निर्यातों में अल्पकाल के लिये तो कुछ वृद्धि हो जायगी किन्तु दीर्घकाल में हानि होगी, क्योंकि भारत के बारे में विदेशों में भ्रम पैदा हो सकता है—अनिवार्यता की पूर्ति हेतु निर्माता एवं निर्यातक विदेशी बाजारों में किसी भी कीमत पर वस्तुयें बेचने का प्रयत्न करेंगे ताकि वे पेनल्टी देने से बचें। यह तो विदेशी ग्राहक के हाथ में बेचने के समान है क्योंकि वह भारतीय निर्यातकों की दुर्बल स्थिति की जानकारी रखते हुए इसका लाभ उठाने की कोशिश करेगा। यही नहीं, अनेक उत्पादकों को यह प्रलोभन भी होगा कि वे डिजाइन, विश्वसनीयता और प्रमापीकरण के समस्त मानकों का परित्याग करके सस्ती कीमतों पर घटिया वस्तुयें निर्यात करें, जिससे कि सरकारी आदेश की पूर्ति हो सके। यह तो ठीक उसके विपरीत है जोकि हम चाहते हैं। निर्यात नीति की सफलता एक दीर्घ अवधि में भारतीय वस्तुओं और भारतीय व्यापारिक पद्धतियों के प्रति विदेशों में सही प्रकार की भावना उत्पन्न करने में निहित है।

(१८) शिपिंग कम्पनियों से अनुरोध किया जाय कि वे निर्यातों पर अपने किराया-भाड़े की दरें कम करें, क्योंकि ये निर्यात वस्तुओं की कीमत पर बहुत बोझ डाल रही हैं।

(१९) केवल उत्पादन बढ़ाने पर ही कीमतें कम हो सकती हैं।

(२०) व्यापारी वर्ग को चाहिए कि कांधला के स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र की सुविधाओं का अधिक लाभ उठायें। [व्यापारियों की ओर से कहा गया है कि इस क्षेत्र में पावर सुविधायें बढ़ाई जानी चाहिए।]

निर्यात उद्योगों को कच्चे माल में प्राथमिकता

जो उद्योग निर्यात करते हैं अथवा जो निर्यात के लिए माल बनाते हैं उन्हें स्वदेशी कच्चा माल प्राथमिकता से दिलाने के बारे में वाणिज्य मन्त्रालय ने अपनी तजवीज विस्तार से घोषित की है। जिन उद्योगों को इस श्रेणी में रखा गया है उनमें इन्जीनियरिंग, रासायनिक, प्लास्टिक, पोशाक आदि के उद्योग शामिल हैं। इनको जो कच्चा माल उपलब्ध कराया जायगा उनमें पिग आयरन, सब प्रकार

का ऐल्यूमीनियम, साइकिल के टायर, ट्यूब व रिम, गंधक का माल, प्राकृतिक व रासायनिक, रबड, कार्बन ब्लैक, चीनी व सूती कपडे शामिल हैं। इनमें से अधिकांश कच्चे माल को आवश्यक वस्तु घोषित कर दिया गया है। शेष चीजे भी शीघ्र ही आवश्यक वस्तु घोषित कर दी जायेंगी। निर्यात-उत्पादन-निर्देशक को यह अधिकार दिया गया है कि वे कच्चे माल के किसी भी निर्माता को वह माल किसी भी निर्यात-उद्योग को मुहैया किये जाने का आदेश दे सकते है। इस प्रकार के कच्चे माल का मूल्य लेने और देने वाले के बीच बातचीत से तय होगा। निर्यात उत्पादक निर्देशक भी हस्तक्षेप करेगे जब कोई पार्टी उनसे कहेगी। स्वदेशी कच्चा माल साधारणतः तैयार माल का निर्यात किये जाने के बाद मुहैया किया जायगा। किन्तु निर्यात के लिए कच्चा माल यदि पेशगी देना जरूरी समझा गया तो उसकी भी व्यवस्था की जायगी। निर्यात किये जाने वाले हाथकरघा वस्त्रो के लिये सूत चाय, काफी व पटसन के बगीचों के लिये उर्वरक तथा कीटनाशक द्रव्यों की भी इसी प्रकार व्यवस्था की जायेगी।

U S. AID द्वारा भारत के निर्यात-प्रोत्साहन आन्दोलन मे सहायता

अमरीका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी भारत को निर्यात प्रोत्साहन आन्दोलन मे सहायता देने के लिए एक विशेष विभाग भारत मे खोल रही है। यह विभाग भारत के वाणिज्य मन्त्रालय एव अन्य सम्बद्ध सरकारी सगठनो के साथ सहयोग से कार्य करेगा। सबसे पहले वह भारत की मुख्य निर्यात-वस्तुओं के लिये विदेशी बाजारो की खोज करेगा। वह यह देखेगा कि क्या निर्यात के लिये कुछ नई चीजें भारत की मौजूदा निर्यात सामग्रियो को रूपान्तरित कर तैयार की जा सकती है जिनसे वे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे अपना स्थान बना सकें। विभाग का एक काम और भी होगा कि वह विदेशी आयातकर्त्ताओं के साथ भारतीय निर्यात-कर्त्ताओ का सम्पर्क स्थापित करने के लिये एक कडी का काम करेगा। निर्यात को बढाने के लिये जहाँ उत्पादन की किस्म का स्तर उन्नत करना और उत्पादन का मूल्य घटाना आवश्यक है, वहाँ विदेशी आयातको के साथ सम्पर्क होना भी बहुत जरूरी है। उत्पादन व्यय को कम करने के लिए तो बहुत समय से जोर दिया ही जाता रहा है, फिर भी भारतीय उद्योगो को कोई खास सफलता नही मिली है। उदाहरण के लिए विदेशी विशेषज्ञ यह समझ नही पाते कि भारत मे निर्मित इस्पात का मूल्य इतना ऊँचा क्यों है। यदि उसका उत्पादन व्यय कम किया जा सके तो उसके निर्यात की सम्भावनायें बहुत हैं।

अन्तरमन्त्रालय विभाग की स्थापना

एक उच्च अधिकार प्राप्त अन्तरमन्त्रालय विभाग स्थापित किया जा रहा है जो कि क्रियाविधि सम्बन्धी एव अन्य विलम्बो को कम से कम करेगा। देखा गया है कि निर्यात-कागज-पत्रो के एक मन्त्रालय से दूसरे मन्त्रालय मे आने जाने म बहुत अमूल्य समय नष्ट हो जाता है।

निर्यातक सगठनों को मान्यता

केन्द्रीय सरकार ने निर्यात व्यापार सम्बन्धी अपनी नीति मे सशोधन करके कम्पनियों व फर्मों को निर्यात सगठन की मान्यता सम्बन्धी शर्तें और कड़ी बनाने का निश्चय किया है ताकि ऐसे सगठनो को अधिक सुविधाएँ दी जा सकें। निर्यात व्यापार सगठनो की मान्यता पाने के लिए कम से कम २५ लाख रु० मूल्य का गैर परम्परागत और २ करोड रुपये मूल्य का परम्परागत माल का निर्यात आवश्यक है। निर्यात सगठनो को मान्यता देने की योजना ८ वर्ष पूर्व शुरू हो गई थी।

परीक्षा प्रश्न :

१ चौथी योजना के निर्यात लक्ष्य की प्राप्ति हेतु क्या कदम उठाये जायेंगे ? अपने सुझाव भी दीजिये।

[Discuss the steps taken or proposed for achieving the export target of the Fourth Plan Give your suggestions.]

२ भारतीय अर्थव्यवस्था के लिय निर्यात सवर्धन की महत्ता स्पष्ट कीजिये और तीसरी पचवर्षीय योजनावधि मे की गई प्रगति का मूल्याकन करिये।

[Explain the significance of export promotion to Indian economy and evaluate the progress achieved during the period of the Third Five Year Plan]

(इलाह०, एम० कॉम०, १९६९)

३ निर्यात सवर्धन की तकनीक को समझाइये और उन कठिनाइयों को इगित कीजिये, जोकि इस सम्बन्ध मे एक आर्थिक रूप से कम विकसित देश को उठानी पडती है।

[Explain the technique of export promotion and indicate the difficulties which are experienced in this connection by an economically underdeveloped country]

(आगरा, एम० ए०, १९६६)

४. 'आर्थिक आत्म निर्भरता का आशय है कि भारत को अपने निर्यात इस सीमा तक बढा लेने चाहिये कि वह आवश्यक आयातों का भुगतान कर सके।" विवेचन कीजिये।

['Economic self reliance really means that India should increase her exports to such an extent that she may be able to import " Discuss]

(गोरख० एम० कॉम०, १९६९)

३६

निर्यात साख

(Export Credit)

प्रारम्भिक—

निर्यात सवर्द्धन मे सस्ती और उदार निर्यात-साख सुविधाओं की भूमिका बडी (यद्यपि अकेली नही) महत्त्वपूर्ण है। चाहे अन्य घटक अनुकूल हो किन्तु सस्ती निर्यात साख के अभाव मे निर्यातको को प्रतिस्पर्धा करने मे कठिनाई होगी। हाल के वर्षों मे 'विक्रेता बाजार' के बजाय 'क्रेता बाजार' उदय होने लग है तथा निर्यात-बाजारो की प्रतिस्पर्धा बढती जा रही है। अत निर्यात साख की समस्या को हल करना आवश्यक हो गया है।

निर्यात वित्त से आशय

'निर्यात वित्त' (Export Finance) शब्द की परिधि मे दोनो 'लदान-पूर्व' एव 'लदानोत्तर साख' आ जाती है। वित्त की आवश्यकता वस्तुओ के प्रोसेसिंग, उत्पादन और पैकिंग से लेकर वस्तुओ के जहाज पर लदान होने तक की अवस्था मे अथवा लदान के समय से विदेशी आयातकर्त्ता से मूल्य के वसूल होने की तिथि तक पड सकती है। लदान पूर्व वित्त (pre-shipment credit) आन्तरिक वित्त (domestic finance) से इस बात म भिन्न है कि उत्पादक सदा यह नही जानते (और यदि जानते हैं, तो सदा पहले से ही भेद नही कर सकते) कि वे गृह बाजार के लिये क्या उत्पन्न कर रहे हैं और विदेशी बाजार मे क्या बेच सकेंगे।

निर्यात साख को लागत को घटाने मे कठिनाइयाँ

उक्त भेद सम्बन्धित कठिनाई ने निर्यात साख की लागत मे कमी करने के प्रश्न को जटिल बना दिया है। इस दिशा मे निम्नलिखित कठिनाइयाँ होती है —

(१) यह विश्वास दिलाना पडता है कि निर्यात साख के लिये जो प्राथमिकतापूर्ण व्यवहार (preferential treatment) किया जायेगा, उसका दुरुपयोग न होगा तथा वह आन्तरिक उद्देश्यों के लिये इस्तेमाल नहीं किया जायेगा। स्मरणीय है कि दोनो 'लदान पूर्व निर्यात साख' एव 'आन्तरिक साख' एक ही ढग से (कैश क्रेडिट्स या ओवरड्राफ्ट्स के द्वारा) प्राप्त की जाती है। पुन लदान-पूर्व वित्त का एक भाग पूँजीगत या अर्द्ध-पूँजीगत वस्तुओ के उत्पादन मे प्रयोग किया जाता है और

नवकरण-योग्य अल्पकालीन ऋणों (rolled over short term credits) के रूप में होता है। मियादी ऋणों (term loans) के रूप में नहीं।

( ) भेद करने की असमर्थता तथा लदान पूर्व वित्तीय आवश्यकताओं का वर्ग निरपेक्ष आकार मौद्रिक अधिकारियों के लिये साख नियंत्रण के न्याय को कठिन बना देता है। यदि क्रेडिट मिकनिज्म के इतने बड़े भाग को मुक्त रूप में प्रवाहित होने दिया जाय तो साख नियन्त्रण सम्बन्धी समस्त उपाय असफल होने का डर है।

लदानोत्तर साख अधिकांशतः अल्पकाल के लिये होती है (जैसे—परम्परागत वस्तुओं की दशा में माह और इन्जीनियरिंग गुड्स की दशा में ६ माह)। अधिकांश मामलों में निर्यातकों द्वारा बिल आफ एक्सचेन्ज के रूप में प्राप्त की जाती है जिसे हस्तान्तरण के लिए बैंकों द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है।

निर्यात साख की लागत को कम करने के सुप्रभाव

निर्यात साख की लागत को कम करने का शुद्ध परिणाम यह होगा कि विश्व बाजार में भारतीय निर्यातकों की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति बढ़ जायगी। सस्ती लदान-पूर्व साख सस्ती हो जाने पर उत्पादक अपनी प्रति इकाई उत्पादन लागत को नीचा रख सकेंगे जिससे उनके उत्पादों का एक प्रतिस्पर्धात्मक कीमत लाभ प्राप्त हो सकेगा। किन्तु लदानोत्तर साख की लागत घटाने का परिणाम यह होगा कि निर्यातक या तो अपने समुद्र पार-ग्राहकों को सस्ती लम्बी साख दे सकेगा अथवा अपने उत्पादों के विक्रय मूल्य को घटा सकेगा।

छबलानी कमेटी के सुझाव

छबलानी कमेटी (Chablani Committee) ने इस समस्या के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया था उसकी विशेषतायें निम्नलिखित हैं —

(१) बैंकों द्वारा निर्यातकों से जो ब्याज दरें ली जाती हैं उन पर उच्चतम सामाएं (ceilings) निर्धारित करना आवश्यक है क्योंकि भारत में निर्यात वित्त की लागत विदेशों की अपेक्षा कहीं अधिक होती है।

(२) उपरोक्त सीमाओं को प्रभावपूर्ण बनाने हेतु पर्याप्त पुनर्वित्त सुविधायें बैंकों को समुचित लागत पर दी जानी चाहिये और बैंक स्वयं जिस लागत पर कोष उधार लेते हैं तथा निर्धारित उच्चतम लागत सीमा के मध्य समुचित मार्जिन होना चाहिये।

(३) निर्यात साख की दरों में जो सामान्य कमी की जाय वह सम्पूर्ण निर्यात सेक्टर को (अर्थात् लदान पूर्व और पैकिंग क्रेडिट से लेकर लदानोत्तर साख तक अल्पकालीन मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन साख और परम्परागत व अपरम्परागत दोनों प्रकार की वस्तुओं के लिए साख) लागू होनी चाहिये। किन्तु आन्तरिक कार्यों में निर्यात साख का दुरुपयोग न हो सके इस सम्बन्ध में पर्याप्त सावधानियां रखनी चाहिये। साख नियन्त्रण की व्यवस्था भी ठीक से लागू की जानी चाहिए।

निर्यात साख के सुधार के लिये उठाये गये कदम

(१) १९५७ में निर्यात जोखिम बीमा निगम (ERIC) की स्थापना की गई।

(२) अक्टूबर १९५८ में रिजर्व बैंक ने बिल बाजार योजना को निर्यात बिलों पर भी विस्तृत कर दिया ताकि बैंक्स अधिक उदार शर्तों पर निर्यात-साख सुविधायें दे सकें। यह स्कीम १९६२ तक प्रचलित रही और कुछ समय तक स्थगित रहने के बाद पुनः प्रचलित हुई।

(३) १९६२ के संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक आफ इंडिया को १८० दिन वाले निर्यात बिल खरीद अथवा भुनाने तथा निर्यात व्यापार के १८० दिन के मियादी प्रोनोटों पर ऋण देने का अधिकार मिला। तदनुसार वह किसी भी शिड्यूल्ड बैंक को १८० दिन के मियादी प्रोनोट के आधार पर ऋण दे सकता था, बशर्ते ऋण लेने वाला बैंक यह विश्वास दिलाये कि वह स्वयं भी उतने मूल्य के निर्यात-बिलों पर साख देगा। मार्च १९६३ में निर्यात बिल साख स्कीम (Export Bill Credit Scheme) प्रचलित की गई, जिसने (i) स्वीकृत सहायक प्रतिभूतियों के रेन्ज (range) को बढ़ा दिया, (ii) साख देने की अवधि भी बढ़ा दी (अब यह छः महीने हो गई), (iii) पुनर्वित्त की लागत बैंक-दर पर ही बने रहने दी क्योंकि शिड्यूल्ड बैंकों के माँग-प्रोनोटों पर कोई स्टाम्प ड्यूटी नहीं ली जाती थी, एवं (iv) बैंक्स बैंक दर पर ही सामान्य कोटे के अतिरिक्त उधार ले सकते थे।

द्वितीय अध्ययन दल (मथरानी कमेटी) ने यह सुझाव दिया कि निर्यात साख की लागत को कम करने हेतु रिजर्व बैंक से पुनर्वित्त सुविधायें बैंकों को बैंक दर से १½% से कम पर मिलनी चाहिये। इस सुझाव को छबलानी कमेटी ने अस्वीकार कर दिया।

(४) १ जनवरी १९६३ से बैंकों को पुनर्वित्त निगम से मध्यमकालीन ऋण प्राप्त होने लगे है, जोकि छः माह से ५ वर्ष की अवधि के लिये होते है।

(५) निर्यात वित्त के क्षेत्र में एक अन्य महत्वपूर्ण विकास यह हुआ कि ERIC को एक अधिक व्यापक संगठन ECGC में परिणित कर दिया गया, जो निर्यात जोखिम का बीमा करने के साथ साथ निर्यात गारन्टी की व्यवस्था पर भी जोर देता है। इस निगम ने 'पैकिंग क्रेडिट पालिसी के सिद्धान्त' (Principle of Packing Credit Policy) को 'लदानोत्तर साख गारन्टी' (Post Shipment Credit Guarantee) पर लागू कर दिया है।

निर्यात साख एवं गारन्टी निगम (ECGC)
(Export Credit Guarantee Corporation)

सन् १९६४ में निर्यात साख एवं गारन्टी निगम की स्थापना हुई थी और निर्यात जोखिम बीमा निगम (ERIC) को, जो कई वर्षों पूर्व से कार्य कर रहा था, इसी में सम्मिलित कर दिया गया था। नये निगम के कर्त्तव्य अधिक व्यापक हैं।

आवश्यकता एवं उपयोगिता—

ERIC के छः वर्ष के कार्यकाल में विश्व व्यापार की रचना आदि में दूरगामी परिवर्तन हो गये थे। विश्व के सप्लायरों में प्रतियोगिता धीरे-धीरे बहुत कटु होती जा रही थी, जिससे विदेशी क्रेताओं की सौदा शक्ति बहुत बढ़ गई तथा वे उदार और सुगम शर्तें प्राप्त करने में सफल हो रहे थे। ERIC को अपने निर्यात जोखिम के बीमा सम्बन्धी कार्य के अनुभव तथा निर्यात-साख विषयक कमेटियों की सिफारिशों के द्वारा यह विश्वास हो गया कि निर्यात जोखिम बीमा (चाहे इसे कितना ही विस्तृत कर दिया जाय) एक पूर्ण समाधान नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, भारतीय निर्यातक को प्रत्येक स्तर पर (उत्पादन के प्रारम्भ से लेकर विदेशी क्रेता से भुगतान मिलने तक) सस्ती और उदार साख-सुविधायें देने की नितान्त आवश्यकता है। अतः राजनैतिक व्यापारिक एवं मौद्रिक जोखिमों के विरुद्ध निर्यात बीमा करने के साथ ही साथ निर्यातकों को सस्ती, उदार एवं सुगम साख दिलाने के लिए निर्यात साख एवं गारन्टी निगम की स्थापना की गई।

कार्य-विस्तार—

निर्यात साख की व्यवस्था का कार्य निगम के लिये पूर्ण रूपेण नया नहीं था। कारण ERIC द्वारा जो पैकिंग क्रेडिट पालिसियाँ बैंकों को जारी की जाती थीं और अन्य स्टेण्डर्ड पालिसियाँ जो उन्हें अभिहस्तांकित (assign) की जाती थीं उन पर भी निर्यातक (exporters) बैंकों से फाइनेन्स प्राप्त किया करते थे। १९६२ के अन्त में इस प्रकार से प्राप्त साख की मात्रा केवल ८ करोड़ रु० थी। किन्तु ECGC द्वारा व्यापक कर्त्तव्य ग्रहण करने के बाद बहुत परिवर्तन हो गया है। निर्यातकों द्वारा ECGC की पालिसियाँ बैंकों के पक्ष में अभिहस्तांकित करके तथा ECGC द्वारा बैंकों को प्रि-शिपमेंट क्रेडिट एवं पोस्ट शिपमेंट क्रेडिट गारण्टियाँ जारी करके प्राप्त हुई कुल बैंक फायनेन्स १७३% बढ़ गई।

इतनी प्रगति कैसे सम्भव हुई ? जब ECGC निर्यात जोखिम अपने कंधों पर ले लेती है, तो निर्यातकों के बैंकिंग सम्बन्धी कागज पत्रों का महत्त्व बैंकरों की दृष्टि में बढ़ जाता है और वे उनके बिलों को सहज ही भुना देते हैं। किन्तु, ECGC निर्यातकों को अधिक प्रत्यक्ष एवं ठोस उपायों द्वारा बैंक से फाइनेन्स प्राप्त करने में सहायता करता है। जैसे—वह **प्रि शिपमेन्ट पैंकिंग क्रेडिट पालिसियों** (Pre shipment Credit Policies) अर्थात बैंकों की इनके द्वारा निर्यातकों को निर्यात-बाजारों के लिये कच्चा माल खरीदने, विधायन (processing) तथा पैकिंग करने हेतु दी जाने वाली फाइनेन्स के लिए गारन्टी देता है। अब ECGC ने दो नई गारन्टियाँ प्रचलित की हैं — (i) **पोस्ट शिपमेन्ट एक्सपोर्ट क्रेडिट गारन्टी**, जिसका उद्देश्य किसी निर्यात बिल को भुनाने, खरीदने, अथवा विनिमय करने से उदय हुई हानि के विरुद्ध बैंक की रक्षा करना है, और (ii) **एक्सपोर्ट फायनेन्स गारन्टी**, जिसका उद्देश्य उन निर्यातकों की सहायता करना है, जो ऐसी वस्तुयें निर्यात कर रहे हैं, जिनकी

अन्तर्राष्ट्रीय कीमतें आन्तरिक कीमतों से नीची है। यह गारन्टी बैंक-एडवान्स के उस भाग को सुरक्षित करती है जो कि जहाजी प्रलेखों के मूल्य से अधिक है। दोनों ही गारन्टियाँ शर्त रहित है तथा उधार लेने वालों की त्रुटियों से बैंक की पूर्ण रक्षा करती हैं चाहे हानि का कारण कुछ भी हो। हाल ही म दो नई गारन्टियाँ और चालू की गई है—एक्सपोर्ट पर्फोर्मेन्स गारन्टी और एक्सपोर्ट प्रोडक्शन गारन्टी।

ECGC ने निर्यातकों के लाभार्थ एक **चक्राकार विदेशी विनिमय साख योजना** (scheme of revolving foreign exchange credit) भी प्रचलित की है, जिसके द्वारा भारतीय निर्यातक अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों पर ही निर्यात उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चा माल प्राप्त कर सकेंगे तथा इस प्रकार स्थापित क्षमताओं के पूर्णतम प्रयोग के फलस्वरूप पैमाने की मितव्ययिताओं का लाभ उठा सकेंगे।

ECGC निर्यातकों के जोखिम म भाग लेने वाला प्रमुख साझेदार है, क्योंकि वह राजनैतिक जोखिमों का ८५% और व्यापारिक जोखिम का ८०% उठाता है। १ अप्रल १९६६ से दोनों प्रकार के जोखिमों के लिये प्रतिशत ९० कर दिया गया है। जोखिमों का 'साख जाच पडताल' की प्रणाली के आधार पर अभिगोपन किया जाता है। वह स्वतन्त्र स्रोतों के द्वारा जोकि निर्यातकों को सहज ही उपलब्ध नही होते है, प्रत्येक विदेशी केता की, जोकि उधार लेना चाहता है वित्तीय दशा और गुडविल के बारे मे व्यापक समीक्षा कराता है, जिससे कि भारतीय निर्यात गलत हाथों म न पड जायें।

जैसे ही निगम को सूचना मिलती है कि निर्यात किये गये सामान का मूल्य नही दिया जा रहा है, निगम पैसा प्राप्त करने के लिए विभिन्न सरकारी एजेन्सियो की सहायता लेता है और इस सम्बन्ध म स्वय भी प्रयत्न करता है।

निर्यातकों को इश्यू की गई शिपमेंट पालिसियो के अधीन १९६८ ६९ मे निगम ने ७१ ६४ करोड रु० की जोखिम उठाई। फायनेन्शियल गारन्टियों के अधीन उठाई गई जोखिम १२० ०७ करोड रु० थी। प्रीमियम आय ५१ ५१ लाख रु० हुई। निगम ने ६ ६० लाख रु० के दावों (claims) का भुगतान किया। निगम की सुविधाओं का लाभ उठाने वाले निर्यातकों की सख्या वर्ष प्रतिवर्ष बढती जा रही है। १९६७-६८ मे निगम ने १९८० पालिसियाँ जारी की थी जबकि १९६८-६९ म २४२० पालिसियाँ जारी की गई।

परीक्षा प्रश्न :

१. निर्यात साख एव गारन्टी निगम के कार्यकलापों की समीक्षा कीजिये।
   [Examine the working of the Export Credit and Guarantee Corporation]
२. निर्यात वित्त से क्या आशय है ? इसे सस्ता बनाने हेतु क्या उपाय किये गये हैं ? इसकी समस्याओं पर प्रकाश डालिये।

३७

आयात-प्रतिस्थापन

(Import Substitution)

प्रारम्भिक—

यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि हमारे जैसे विकासोन्मुख देश को विशाल मात्रा म आयात करना पडे। जैसे—हम अपने उद्योगो को खडा करने के लिए पूँजी गत वस्तुओ, विदेशी टेक्नीकल ज्ञान एव विभिन्न प्रकार के कच्चे मालो का आयात करना पडता है। औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे ऐसे आयात अनिवार्य ही है। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि आयात की कुल मात्रा को नियन्त्रण की सीमा म रखने के लिए प्रत्येक प्रयास करना चाहिए, जिसमे कि अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक भार न पडे। यह उस दशा मे और भी अधिक आवश्यक हो जाता है जबकि भुगतान सन्तुलन अनुकूल नही है। जब विदेशी मुद्रा दुर्लभ हो, तो यह आवश्यक है कि हम अपने आयातो को न्यूनतम सीमा तक घटा दे और जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक आयातो के बिना ही काम चलाए। पाकिस्तान से युद्ध छिडने पर भारत सरकार को आयातो पर बहुत कडे प्रतिबन्ध लगाने पडे, जिन्होने कई उद्योगो को बडी कठिनाई म डाल दिया तथा इस प्रकार सब पर आयात-प्रतिस्थापन की महत्ता स्पष्ट कर दी।

आयात प्रतिस्थापन की आवश्यकता

जहाँ तक उद्योगो का सम्बन्ध है, हमारे देश की आयात सम्बन्धी आवश्यकताओ को निम्न चार वर्गों म बाटा जा सकता है —(१) अनुरक्षण (Maintenance), (२) विकास (Development), (३) उपभोक्ता वस्तुये (Consumer goods) एव (४) रक्षा सामग्री (Defence requirements)। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि इन सभी शीर्षको के अधीन आयातो पर अपनी निर्भरता को न्यूनतम सीमा तक घटायें। साथ ही, निर्यात की मात्रा को बढाये, जिससे कि हम अपनी आयात-आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये अधिक विदेशी मुद्रा अर्जित कर सकें। चौथी योजना के लिये हम विदेशों से कोई स्पष्ट आश्वासन नहीं मिले है। इस सन्दर्भ मे भी इन प्रयासो का महत्त्व बढ जाता है।

"आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है।" विकास की गति को बनाये

रखने के लिए हमारी आयात सम्बन्धी विशाल आवश्यकताओं ने, जबकि विदेशी मुद्रा प्रसाधनों की बहुत ही कमी है तथा विदेशी सहायता में कटौती होने की आशंका है, 'प्रतिस्थापन' के विचार को जन्म दिया है। 'विदेशी हथियारों का प्रतिस्थापन करिये', 'पी० एल० ४८० का प्रतिस्थापन करिये' और अब 'आयातों का प्रतिस्थापन कीजिये' ये नारे भारत में जोर शोर से लगाए जा रहे हैं।

आयात प्रतिस्थापन का अर्थ एवं स्वभाव

विदेशों से मँगाई जाने वाली वस्तुओं के स्थान पर देशी वस्तुओं का उत्पादन और प्रयोग करना ही 'आयात-प्रतिस्थापन' कहलाता है। आयात प्रतिस्थापन भारत के लिये कोई नवीन चीज तो नहीं है लेकिन हाल के वर्षों में इस बात पर जो बल दिया गया है वह अवश्य ही नवीन है। सभी देशों में औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था की यह विशेषता होती है कि आयातित वस्तुओं का स्थान शनैः शनैः नव-प्रचलित स्वदेशी वस्तुओं द्वारा लिया जाता है। अनेक दशाओं में तो सफल 'आयात-प्रतिस्थापन' ने निर्यात-सम्भावनाओं में वृद्धि कर दी है। वास्तव में, भारत की विकास योजना के पीछे बुनियादी तत्त्व आयात प्रतिस्थापन ही है।

आयात प्रतिस्थापन मुख्यतः व्यक्तिगत पहल, कल्पना, साहस और निर्णय का परिणाम है। हांगकांग इस बात का एक ज्वलन्त प्रमाण है। वहां सरकार से कोई मार्ग दर्शन न मिलने हुये भी, उपक्रमियों ने, लाभ अवसरों से, प्रेरणा प्राप्त करके, ऐसे उद्योग स्थापित किये जिनमें आयात-प्रतिस्थापन और निर्यात-संवर्धन दोनों ही सम्भव हो गये। एक विशाल स्वदेशी बाजार (जैसा कि भारत में है) की विद्यमानता ने भी आयात प्रतिस्थापन को प्रोत्साहन प्रदान किया है। आधुनिक युग में विनिमय-नियन्त्रणों और आयात प्रतिबन्धों के कारण कई विकासोन्मुख देशों में एक 'बन्द बाजार' (closed market) उत्पन्न हो गया है। इसने भी एक बड़े पैमाने पर आयात-प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित किया है। अनेक दशाओं में यह आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिये अपनाई गई सरकारी नीति का परिणाम है। बुनियादी और सामरिक उद्योगों के सम्बन्ध में आर्थिक स्वतन्त्रता और आत्मनिर्भरता 'आयात-प्रतिस्थापन' के लिये मुख्य प्रेरक शक्तियाँ रही हैं।

आयात-प्रतिस्थापन की दिशा में उपाय

आयात-प्रतिस्थापन को बढ़ावा देने के लिये निम्नलिखित उपाय करना आवश्यक है —(१) न्यून प्राथमिकता वाली, अनावश्यक एवं विलास वस्तुओं के प्रयोग को बिल्कुल ही बन्द करना या बहुत घटा देना तथा इनके लिये स्वदेशी स्थानापन्न (substitutes) खोजना। (२) आधुनिक मशीनों और साज-सामानों के प्रयोग तथा सुधार प्रबन्ध के द्वारा दुर्लभ सामग्रियों के अपव्यय को रोकना या कम करना। (३) मँहगे आयातों को वैकल्पिक आयातों से, जो कि कम सस्ते हों, प्रतिस्थापित करना। (४) कच्चे मालों, संघटक निर्मित वस्तुओं आदि का अधिकतम प्रमापीकरण करना, जिससे इनमें परस्पर परिवर्तन (interchangeability) सम्भव हो जाय।

(५) नई क्षमतायें उत्पन्न करने के बजाय विद्यमान क्षमताओं का पूर्णतम प्रयोग करना और जहां जहां सम्भव हो, विद्यमान प्लान्टों का विस्तार करना। (६) निर्मित माल के बजाय आयात को प्रोत्साहन देना। (७) देश में दुर्लभ सामग्रियों का उत्पादन बढ़ाना। (८) विदेशी तकनीकी ज्ञान (Foreign technical know-how) के स्थान में यथाशक्ति अपना तकनीकी ज्ञान का उपयोग करना।

आयात प्रतिस्थापन की समस्यायें

आयात प्रतिस्थापन की कुछ अपनी समस्यायें भी हैं —

(१) स्वदेशी आयात स्थानापन्नों की उत्पादन लागतें प्रारम्भिक अवस्थाओं में ऊंची हुआ करती हैं। अतः आयात-स्थानापन्न उद्योगों की सहायतार्थ आयात नियन्त्रण और संरक्षणात्मक टैरिफ की आवश्यकता पड़ सकती है। आयात स्थानापन्नों की ऊंची लागत अन्य वस्तुओं पर, अन्तर-उद्योग सम्बन्धों के द्वारा, प्रतिकूल प्रभाव डालती है और उनके तुलनात्मक लाभ तथा उनकी तुलनात्मक क्षमता को घटा देता है। यह बात उत्पादक वस्तुओं और उपभोग वस्तुओं दोनों के सम्बन्ध में लागू होती है।

(२) प्रारम्भ में स्वदेशी स्थानापन्नों की किस्म भी घटिया होने की सम्भावना है। वस्तुओं की किस्म घटिया होने से निर्यात में कमी हो सकती है तथा विदेशी आयातकों के विश्वास को ठेस लग सकती है जिस कारण अन्य वस्तुओं का निर्यात भी कम होने का डर रहता है।

(३) आयात प्रतिस्थापना के लिए अविवेकपूर्ण दौड़ ऐसे उद्योगों को जन्म दे सकती है जो कि देश की प्रगति पर स्थाई बोझ बन जायें। परिमाणात्मक प्रतिबन्धों और विनिमय नियन्त्रणों की ओट में स्थापित हुए उद्योगों की कुशलता प्रायः बहुत ही नीची होती है। अतः नियन्त्रण हटाए जाने पर इन्हें गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है।

(४) विभिन्न देश विशेषतः विकासशील देश, पारस्परिकता के आधार पर व्यापार करना पसन्द करते हैं। यदि हम किसी देश की वस्तुयें न खरीदने का निर्णय करें, तो हमें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि वह देश भी हमारी वस्तुयें न खरीदने का निर्णय कर सकता है। एशियाई और अफ्रीकी देशों की भारत से शिकायत रही है कि भारत उनसे पर्याप्त आयात नहीं करता है। उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि संतुलित व्यापार के अभाव में वे भारत से निर्यात बहुत सीमा तक न बढ़ावेंगे।

भारत में हुई प्रगति

आयात पर कड़े प्रतिबन्ध लगाए रखने के साथ साथ, कच्चे माल और मध्यवर्ती वस्तुओं आदि अनेक आवश्यक वस्तुओं के देश में ही उत्पादन को बढ़ावा देने के प्रयत्न किए गए हैं। पिछले कुछ वर्षों में विदेशों से मंगाई जाने वाली वस्तुओं के स्थान पर देशी वस्तुओं का किस सीमा तक उत्पादन हुआ, इसका संकेत उन वस्तुओं

में से अधिकांश की कुल सप्लाई के मुकाबिले आयात के अनुपात में हुई भारी कमी से मिलता है।

आयात प्रतिस्थापन—आयातित पुर्जों के प्रतिशत

सिलाई की मशीनें	....	कुछ नहीं
ट्रकें और बसें	....	४%
फियट मोटर कार	....	१%
जीप	....	३%
एम्बेसडर कार		१५%
वेस्पा स्कूटर	•	५%
लैंब्रेटा स्कूटर		६%
रेलवे के डिब्बे		१%
बिजली के खम्भे	•	४%
बिजली चालित पम्प		१%
डीजल इञ्जन		५%
चीनी मिल मशीनें		८%
सीमेंट मिल मशीनें		८%
भवन निर्माण मशीनें		५%
शीत ताप नियन्त्रण यन्त्र		१%
रेडियो		२%
साइकिल	....	कुछ नहीं

यद्यपि अधिकतर वस्तुओं की कुल उपलब्धि (अर्थात् सप्लाई) बढ़ी है पर विदेशों से आयात की गई वस्तुओं का अनुपात घटा है। यह कमी १९५५-५६ से विशेष रूप से अधिक हुई। विदेशी वस्तुओं का कम से कम उपयोग करने में फियेट मोटरकार, रेलवे के डिब्बे, साइकिल, सिलाई की मशीन, बिजली चालित पम्प तथा माल उठाने के यन्त्र आदि उद्योग सबसे आगे रहे हैं। इञ्जीनियरी उद्योग की बहुत सी वस्तुयें अब विदेशी मालों का कम से कम उपयोग कर रही हैं जैसा कि उक्त सूची में दिखाया गया है। साइकिल और सिलाई की मशीनें और बिजली के पंखे तो पूर्णरूप से स्वदेशी हो गये हैं।

भारतीय मानक संस्था (Indian Standards Institute) महत्त्वपूर्ण मदों के सम्बन्ध में उपयुक्त देशी स्थानापन्नता का सुझाव देती है। उदाहरण के लिये, साइकिल के बारे में, उसने निकल या क्रोमियम प्लेटिंग के स्थान में अन्य उपयुक्त पेन्टस इस्तेमाल करने का सुझाव दिया। राष्ट्रीय अनुसन्धानशालायें विभिन्न प्राइवेट, पब्लिक एवं डिफेंस संङ्गठन, राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद्, केन्द्रीय लघु उद्योग सङ्गठन, केन्द्रीय

एव राज्य सरकारें, विश्व विद्यालयो और अन्य अनेक संस्थाओं ने भी आयात-प्रतिस्थापन की समस्या पर गम्भीरता से ध्यान देना आरम्भ कर दिया है। निर्यात-सम्वर्धन परिषदो ने एक निर्यात प्रोत्साहन आन्दोलन चलाया है। आयातो के विवेकीकरण और प्रतिस्थापन के लिये एक दस वर्षीय योजना पर विचार किया जा रहा है। किन्तु आयात-प्रतिस्थापन की दिशा मे हम वास्तविक प्रगति तब ही कर सकते है जबकि विभिन्न सगठनो के अतिरिक्त प्रत्येक उपक्रमी स्वय भी इस दिशा मे कार्य करना आरम्भ कर दें।[1]

आयात प्रतिस्थापन के कार्य को सहज बनाने के सुझाव

पूर्ण आत्म-निर्भरता न तो सम्भव है और न वाछनीय। रूस और अमेरिका जैसे साधन-सम्पन्न एव विकसित देश भी कुछ सामानो के लिये विदेशो पर निर्भर रहते है। सच तो यह है कि औद्योगीकरण और आयात प्रतिस्थापन दोनो के लिये पूँजीगत सामान और तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता पडती है। यह बात कम से कम प्रारम्भिक अवस्थाओ के लिये सत्य है। उदाहरणार्थ, यद्यपि भारतीय रेलवे की कुल आवश्यकताओ का १०% भाग ही आयात हो रहा है तथापि पिछले दशाब्द मे उसका आयात-बिल कठिनाई मे ही कुछ घटा है। यही कारण है कि विगत वर्षों मे आयात प्रतिस्थापन सम्बन्धी विभिन्न प्रयत्नो के बावजूद भारतीय आयात बढते गये है। यथार्थ मे उद्देश्य कुल आयातो मे कमी करने का नहो वरन् विदेशी मुद्रा को बचाने का होना चाहिये, जिससे कि हम पूँजीगत माल और बुनियादी उपभोग वस्तुओ को, जिन्हे हम निकट भविष्य मे देश मे ही पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न नही कर सकेगे, आयात कर सके। आयात प्रतिस्थापन के कार्य को सहज बनाने हेतु लखनऊ विश्वविद्यालय के **प्रो० आर० एल० वार्ष्णेय** ने निम्नलिखित उपयोगी सुझाव दिये है :—(१) आयात प्रतिस्थापना के सम्बन्ध मे प्रयत्न सुनियोजित एव विवेक सम्मत होने चाहिये, जिससे असफल प्रयोगो से निराशा का सामना न करना पड़े। (२) आयात स्थानापन्न जरूरी नही है कि पब्लिक सेक्टर मे ही उत्पन्न किये जायें। प्राइवेट सेक्टर को भी पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। हाँ, सरकार को यह देखना चाहिये कि इन्फ्रा-स्ट्रक्चर्स पर्याप्त हो, क्योंकि प्राय देखा गया है कि अपर्याप्त इन्फ्रा-स्ट्रक्चर्स ने आयात प्रतिस्थापन और सामान्य आर्थिक विकास के मार्ग मे बाधा डाली है। (३) लाइसन्सिग और नियन्त्रण कम से कम उन क्षेत्रो से हटा लेने चाहिये जहाँ विदेशी विनिमय का प्रश्न नही उठता। इससे उपक्रमियो की पहल-भावना और निर्णय बुद्धि को स्वतन्त्र

---

[1] "But it is obvious that we would only be able to make real progress towards import substitution only, if in addition to these various organisation, every entrepreneur himself starts working in this direction."—S V Bhave, Industries Commissioner & Additional Secretary, Industries & Labour Dept Maharashtra.

भूमिका निभाने का सुयोग मिलेगा। ऐसी ही अनुकूल परिस्थितियो ने विदेशों म आयात प्रतिस्थापन को सफल बनाया है। (४) यदि सरकार देश में आयात प्रतिस्थापना वाले उद्योग कायम करना चाहती है तो उसे प्रायवेट विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन देना चाहिये। (५) आयात प्रतिस्थापना के लिये देश-विदेश के व्यापारिक एव औद्योगिक सङ्गठन जो परामर्श दें उन पर सरकार को समुचित ध्यान देना चाहिये। (६) भारतीय उद्योग को भी चाहिये कि आयात प्रतिस्थापन या निर्यात सम्वर्धन सम्बन्धी अनुसन्धान एव विकास कार्य पर अधिक ध्यान दे।

स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने सुझाव दिया था कि एक केन्द्रीय सस्था स्थापित करनी चाहिए जो आयात स्थानापन्नों की खोज करने वालो और इनका प्रयोग करने वालो के मध्य एक सूचना प्रसार सङ्गठन (Clearing House) का कार्य करे।

डाक्टर राव का सुझाव है कि आयात प्रतिस्थापन की दिशा मे विकास परिषदो द्वारा किया गया कार्य सन्तोषजनक नही है। इनके बजाय ऐसी परिषदें स्थापित करनी चाहिये, जिनमे दोनो उत्पादक-वस्तु एव उपभोक्ता वस्तु उद्योगो के प्रतिनिधि सम्मिलित हो।

उपसहार—

हर्ष की बात है कि केन्द्रीय सरकार ने अब यह निर्णय किया है कि वह भविष्य मे ऐसी औद्योगिक इकाइयों की स्थापना के लिये ही अनुमति देगी जो कि प्रारम्भिक अवस्थाओ म ७५ से ८५% देशी सामग्री प्रयोग करें। इससे हमारी आयात-निर्भरता कम होगी।

परीक्षा प्रश्न :

१ आयात प्रतिस्थापन क्या है ? इसकी समस्याओ पर प्रकाश डालिये।
२ भारत मे आयात प्रतिस्थापन की दिशा म जो कदम उठाये गये है उनकी समीक्षा कीजिये।

३८

राजकीय व्यापार

(State Trading)

परिचय —

महान मन्दी (१९२९-३०) के पूर्व विदेशी व्यापार प्राय पूर्णत प्राइवेट उपक्रम (व्यक्तियो एव सगठनो) के हाथो मे था तथा सभी विश्व-देशो मे (रूस और पूर्वी यूरोप के कुछ देशों को छोडते हुये) स्वतन्त्र व्यापार का ही बोलबाला था। किन्तु मन्दी ने प्रत्येक देश को बहुत हानि पहुँचाई, जिस कारण विवश होकर सरकारो ने विदेशी व्यापार म भाग लेना आरम्भ कर दिया। यह प्रवृत्ति आज भी प्रचलित है और पहले की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली हो गई है।

राजकीय व्यापार का आशय

राजकीय व्यापार का अर्थ यह नही है कि देश मे आयात और निर्यात म भाग लेने वाले प्राइवेट व्यापारिक सगठन नही होते। वास्तव मे, राजकीय व्यापार और प्राइवेट व्यापार एक दूसरे से पूर्ण सगति रखते है। प्राइवेट व्यापार का सचालन प्राइवेट व्यक्तियो और सङ्गठनो द्वारा होता है किन्तु सरकार का उन पर नियमन रहता है। इस प्रकार, राजकीय व्यापार का आशय व्यापार पर राज्य के स्वामित्व तथा नियमन से है जबकि वास्तविक व्यापारिक लेनदेन प्राइवेट उपक्रमियों द्वारा ही सम्पन्न किये जा सकते हैं। किन्तु हम 'राजकीय व्यापार' (State Trading) और स्वतन्त्र प्राइवेट उपक्रम व्यापार (Free Private Enterprise Trade) म भेद करना चाहिए। इन दोनो प्रकार की व्यापारिक तकनीकों म मौलिक भेद यह है कि राजकीय व्यापार मुख्यत देश के आर्थिक हित म सचालित होता है, किन्तु स्वतन्त्र प्राइवेट उपक्रम व्यापार का व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि स।

राजकीय व्यापार का महत्त्व

कुछ अर्थशास्त्रियो ने राजकीय व्यापार की बहुत सराहना की है किन्तु ऐसे भी अर्थशास्त्री है, जिन्होने इसे एकदम बुरा बताया है। इन दो 'अतियो (extremes) के मध्य कुछ अर्थशास्त्रियो ने मध्यम मार्ग अपनाया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार एक सिक्के के दो पहलू होते हैं उसी प्रकार राजकीय व्यापार के भी दो पक्ष है—सबल पक्ष (लाभ) और दुर्बल पक्ष (दोष)। अत इन्होंने यह मत प्रगट किया है

कि यदि राजकीय व्यापार की टेक्नीक का सच्चाई के साथ सही-सही प्रयोग करें, तो देश इससे लाभान्वित हो सकते हैं।

राजकीय व्यापार के लाभ—

राजकीय व्यापार के निम्नलिखित लाभ बताये गये हैं —

(१) नियोजन के सदर्भ में आवश्यक—नियोजित अर्थव्यवस्था का राजकीय व्यापार के बिना चलना कठिन है। आर्थिक नियोजन में परिमाणात्मक नियोजन का प्रश्न निहित है और परिमाणात्मक नियोजन (quantitative planning) राजकीय व्यापार के अभाव में सम्भव नहीं है। यदि विदेशी व्यापार प्राइवेट उपक्रमियों के हाथों में स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो परिमाणात्मक लक्ष्यों की पूर्ति संदिग्ध हो जाती है। यही कारण है कि विश्व की लगभग सभी नियोजित अर्थव्यवस्थाओं में राजकीय व्यापार प्रचलित हो गया है।

(२) नियंत्रित अर्थव्यवस्थाओं से व्यापार में सुविधा—कुछ विश्व अर्थ-व्यवस्थायें (जैसे रूस और चैकोस्लावाकिया) नियन्त्रित अर्थव्यवस्थायें हैं। इनकी नीति 'सरकार से सरकार स्तर पर' लेन देन करना है। अतः ऐसे देशों से प्राइवेट व्यक्ति एवं संगठन सामान्य ढंग से वस्तुयें प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यदि इन देशों से व्यापार करना हो, तो स्वतन्त्र अर्थव्यवस्थाओं को भी राजकीय व्यापार का सहारा लेना होगा। [हाल में कुछ नियन्त्रित अर्थव्यवस्थाओं की सरकारी एजेन्सियों ने प्राइवेट व्यापारियों से लेन देन करने की इच्छा प्रगट की है।]

(३) वस्तुओं के क्रेता और विक्रेता के रूप में पूर्णतम् लाभ होना—एक आर्थिक रूप से शक्तिशाली देश (जैसे कि अमेरिका) राजकीय व्यापार के माध्यम से, वस्तुओं के क्रेता और विक्रेता के रूप में अपनी आर्थिक शक्ति का, आर्थिक रूप से दुर्बल देशों (जैसे लेटिन अमेरिकी देश) से व्यापार का पूर्णतम् सम्भव लाभ उठाने में, प्रयोग कर सकता है।

(४) देनदार राष्ट्र के लिए लाभ—राजकीय व्यापार के द्वारा देनदार राष्ट्र अपनी ऋणग्रस्तता को भी अपने लाभार्थ स्तेमाल कर सकता है। उदाहरणार्थ, जर्मनी को लीजिए, इसने १९३०-१९३९ के मध्य, अपनी देनदार-स्थिति का लाभ उठाते हुए ही अपनी सामरिक स्थिति मजबूत करली थी।

(५) स्वदेशी उत्पादकों को संरक्षण देने का सर्वोत्तम साधन—स्वदेशी उत्पादक न तो व्यक्तिगत रूप से इतने शक्तिशाली होते हैं और न इतनी शक्तिशाली इकाइयों में ही अपना संगठन कर पाते हैं कि विदेशों से गला काट प्रतियोगिता का सामना कर सकें। राजकीय व्यापार के बारे में यह कहा जाता है कि वह स्वदेशी उत्पादकों को संरक्षण देने का सर्वोत्तम साधन है। उदाहरणार्थ, भयंकर मन्दी युग में अनेक कृषक देशों ने कीमतों के उतार-चढ़ाव से स्वदेशी उत्पादकों की सहायता के लिए राजकीय व्यापार की टेक्नीक अपनाई थी।

(६) **मन्दी से मुक्ति**—राजकीय व्यापार देश की मन्दी के प्रभावों से रक्षा करता है। उदाहरणार्थ, अर्जेन्टायना में सरकार ने एक 'ग्रेन रेग्यूलेटिंग बोर्ड' स्थापित किया था जिसका उद्देश्य एक नियत सीमा से अधिक कीमतें गिरने पर अनाज की खरीद करना था और जब कीमतों में असाधारण वृद्धि की प्रवृत्ति दिखाई देती थी, तब वह सुरक्षित कोषों में अनाज बेचा करता था।

(७) **विदेशी विनिमय कोषों पर अनुचित दबाव डाले बिना ही आयात सम्भव होना**—राजकीय व्यापार देश की आवश्यक वस्तुयें विदेशी मुद्रा के बारे में कोई विशेष चिन्ता किये बिना ही थोक क्रय ठहरावों या द्विपक्षीय समझौता (bulk purchase agreements or bilateral trade agreements) के द्वारा, आयात करने में समर्थ बनाता है।

(८) **संक्रमण अवधि के लिए उपयुक्त नीति**—अभी बहुपक्षी व्यापार को एक व्यापक क्षेत्र में स्थापित होने में समय लगेगा। तब तक, मध्यान्तर अवधि में द्विपक्षवाद को अपनाना होगा जो राजकीय व्यापार के बिना सम्भव नहीं है।

राजकीय व्यापार के दोष—

राजकीय व्यापार के विरोधी न केवल इसके समर्थकों द्वारा इस प्रणाली के विषय में बताये गये गुणों में त्रुटि देखते हैं वरन् इसमें कुछ स्पष्ट दोष भी बताते हैं ये त्रुटि एवं दोष निम्नलिखित है

(१) **निहित स्वार्थों की स्थापना**—गिरती हुई कीमतों के युग में स्वदेशी उत्पादकों को संरक्षण देने के लिए जितनी योजनायें चलाई गई वे सब अन्तत लाभ कमाने के उपाय के रूप में प्रयोग की गई। उदाहरणार्थ, न्यूजीलैण्ड में एक ऐसी योजना बनाई गई थी कि मन्दी के दिनों में कीमतें इतनी ऊँची निर्धारित की जायें जिससे उत्पादकों का सामान्य लाभ हो सके। किन्तु मन्दी समाप्त होने के बाद भी युद्ध काल और युद्धोत्तर काल में, जो कि दुर्लभता और अभाव की अवधियां थीं, यह नीति चालू रखी गई और इस नीति को चालू रखने के समर्थन में यह तर्क दिया गया कि यह देश में कीमत स्तरों में स्थायित्व प्रेरित करने के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार, अर्जेन्टायना में ग्रेन रेग्यूलेटिङ्ग बोर्ड ने द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने के बाद भी कार्य करना बन्द नहीं किया यद्यपि वहाँ अनाज की कीमतें बहुत ऊँची हो गई थी। इस सम्बन्ध में तर्क यह दिया गया कि बोर्ड को अब कुछ लाभ कमा लेना चाहिए ताकि युद्धोत्तरकाल में जब कीमतें घटनी शुरू हो जायेंगी, तो उसका प्रयोग किया जा सके। इस प्रकार, एक बार अपना लेने पर राजकीय व्यापार का विस्तार रुकता नहीं है।[1]

---

[1] 'Once state trading is established it will become a voracious creature and be not satisfied with its existing functions It will like Oliver Twist always, banker for more.''—Kesri D Doodha : *Economic Relations in International Trade* p 109

(२) **विश्व समाज को आर्थिक हानि**— राजकीय व्यापार, सरकार के कृत्रिम कार्यकलापों द्वारा, कीमतों को ऊँचे स्तरों पर रखने की युक्ति बन गया है। ऊँची कीमतें उपभोग को घटाती है। घटी हुई माँग उत्पादन के पैमाने को सीमित (restrict) करती है। चूँकि बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताओं को सक्रिय होने से रोक दिया जाता है, इसलिए विश्व समाज को आर्थिक हानि उठानी पड़ती है।

(३) **स्वतन्त्र और बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली से इसका सामंजस्य नहीं**— राजकीय व्यापार की नीति एक ऐसा व्यापारिक पैटर्न स्थापित करती है जो कि स्वतन्त्र और बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली से असङ्गत (inconsistent) है।

(४) **अकुशलता को बढ़ावा**—स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत एक देश सर्वोत्तम विश्व बाजार में खरीदने और बेचने के लिए स्वतन्त्र होता है। किन्तु राजकीय व्यापार की प्रणाली के अन्तर्गत उसे ऐसी स्वतन्त्रता नहीं होती है। प्रतियोगिता समस्त आर्थिक प्रगति का मूल है, किन्तु वह राजकीय व्यापार की दशा में अनुपस्थित होती है। परिणामतः अकुशलता पनपती है।

(५) **विभाजित विश्व-अर्थव्यवस्था**—राजकीय व्यापार द्वि-पक्षवाद को बढ़ाता है और द्वि-पक्षवाद विश्व-अर्थव्यवस्था के टुकड़ों में बँटने को। जब विश्व-अर्थव्यवस्था विभाजित होती है, तब आर्थिक रूप में शक्तिशाली देश आर्थिक रूप में पिछड़े हुए देशों का शोषण करने का अवसर पा जाते है। यह शोषण कुछ समय तक जारी रहता है और अन्तिमतः दुर्बल राष्ट्रों में इसके प्रति विरोध उमड़ने लगता है, जो फिर विश्व-शान्ति के लिए खतरा बन जाता है।

(६) **समुचित सगठन संरचना का अभाव**—व्यापार के लिए विशिष्ट ज्ञान और अनुभव की आवश्यकता पड़ती है। बाजार दशाओं का ज्ञान तथा निर्णय क्षमता होना भी आवश्यक है। किन्तु ये गुण एक सरकारी ऐजेंसी में नहीं होते, क्योंकि उसमें नौकरशाही का बोलबाला होता है।

(७) **केन्द्रीयकरण सम्बन्धी दुर्बलतायें**—कहा जाता है कि कोई भी ऐजेंसी, चाहे वह कितनी ही जानकारी रखती हो अनेक क्रेताओं और सम्भरकों से शीघ्रता और सफलतापूर्वक वार्ता नहीं कर सकती है। उसकी यह असमर्थता 'व्यापार की शर्तों' पर बुरा प्रभाव डालती है।

(८) **बाजार सम्बन्धी दशाओं में असाम्यता**—अनुभव से पता चला है कि सरकारी एजेन्सियों द्वारा थोक क्रय (bulk buying) के कारण बाजार दशाओं में असाम्यता उत्पन्न हो जाती है। विशेषतः एक ऐसे बाजार में, जिसमें कीमतें बढ़ रही है, इस प्रथा ने कीमत वृद्धि को और भी अधिक उकसावा दिया, जिससे खरीदें मात्रा और मूल्य की दृष्टि से अनार्थिक हो गई।

स्पष्टतः, राजकीय व्यापार एक मिश्रित वरदान है। जब तक उसे सही रूप से और सच्चाई के साथ प्रशासित नहीं किया जायेगा, राजकीय व्यापार की नीति

से गम्भीर आर्थिक समस्याये उत्पन्न होने का भय रहेगा। समाज के व्यापक हितो मे वृद्धि करना तो दूर यह आर्थिक अतिक्रमण (aggression) का साधन भी बन सकती है।

विश्व में राजकीय व्यापार की लोकप्रियता

राजकीय व्यापार युद्धोत्तर काल की एक विश्वव्यापी प्रवृत्ति है। प्रत्येक देश ने चाहे उसकी राजनैतिक विचारधारा कुछ भी हो, अपनी कुछ आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए न्यूनाधिक सीमा तक राजकीय व्यापार को अपनाया है। अधिकाश स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्थाओ मे राजकीय व्यापार कृषि क्षेत्र मे देखा जाता है। पश्चिम यूरोप के देशो मे, अमेरिका आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड और अनेक एफ्रो-एशियाई देशो मे (जो कि विकसित होने की अवस्था म है), राजकीय व्यापार अपनाया गया है। 'यूरोपीय आर्थिक सहयोग-सगठन' (Organisation for European Economic Co-operation) के अध्ययन के अनुसार इन देशो मे अमेरिका और कनाडा से कुल आयातो का ११% भाग राजकीय व्यापार के अधीन है। एक इकेफी (ECAFE) अध्ययन के अनुसार, राजकीय व्यापार युद्धोत्तर काल मे इस क्षेत्र के विकासोन्मुख देशो मे अधिकाधिक महत्व प्राप्त करता जा रहा है। बर्मा, लका और इन्डोनेशिया जैसे देशो म राजकीय व्यापार कुल व्यापार का एक बडा अनुपात है। जापान, मलेशिया, फिलिपीन्स और आस्ट्रेलिया ने भी खाद्यान्नो मे राजकीय व्यापार का आश्रय लिया है जिससे कि आवश्यक वस्तुओ की सप्लाई पर्याप्त और नियमित रूप म मिलती रहे तथा इनके उत्पादन विपणन एव वितरण पर नियन्त्रण द्वारा इनकी आन्तरिक कीमतो म स्थायित्व आ सके। इकेफी रिपोर्ट के अनुसार भविष्य मे भी इन देशो मे राजकीय व्यापार बढेगा तथा उनके सम्पूर्ण व्यापार और विकास योजनाओ का अभिन्न अङ्ग बन जायगा। इसी प्रकार, अफ्रीका के विकासोन्मुख देशो (जैसे नाइजीरिया घाना सूडान, तन्जानिया और माली), तथा दक्षिणी अमेरिका के विकासोन्मुख देशो (जैसे ब्राजिल पीरु एव मारीशस म भी राजकीय व्यापार पर्याप्त लोकप्रिय है।

पूर्वी यूरोप की केन्द्र नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओ मे तथा चीन मे तो सम्पूर्ण विदेशी व्यापार तथा समस्त आन्तरिक व्यापार पर राज्य का एकाधिकार है। इनका सचालन प्राय पूर्णरूपेण सरकारी सगठनो द्वारा किया जा रहा है।

भारत मे राजकीय व्यापार

भारत में राजकीय व्यापार का शुभारम्भ —

राजकीय व्यापार की टेक्नीक का सबसे प्रारम्भिक रूप ईस्ट इण्डिया कम्पनी है। इसका आधुनिक रूप स्टेट ट्रेडिंग कॉर्पोरेशन मे दिखाई देता है। राज्य द्वारा स्थापित व्यापारिक सस्था की धारणा सर्वप्रथम द्वितीय महायुद्ध काल मे विकसित हुई। तब से इस पर सामयिक विचार विमर्श होते रहे है। सन् १९४९ मे, डाक्टर देशमुख की अध्यक्षता मे एक स्टेट ट्रेडिंग कमेटी नियुक्त की गई। कमेटी का यह मत

था कि सरकारी खाते मे व्यापारिक कार्यकलापो का सचालन करने क लिए प्रचलित विभागीय व्यवस्थायें ठीक नही थीं और इनके स्थान मे एक विशिष्ट सगठन बनाने की आवश्यकता थी। अत इसने यह सुझाव दिया कि खाद्यान्न और उर्वरको के सम्बन्ध मे सरकारी विभागो के क्रय विक्रय कार्यकलाप एक विधान निर्मित सगठन को सौप दिये जायें जिसे स्टेट ट्रेडिंग कॉरपोरेशन के नाम से पुकारा जाय। इस निगम को पूर्वी अफ्रीका से कपास का आयात करने तथा छोटे पैमाने वाली कपास एव कुटीर उद्योगों की वस्तुओ के निर्यात का काम भी सौंपा जाय।

सरकार ने इन सिफारिशो का स्वीकार नही किया। अस्वीकृति का कारण यह बताया गया कि विश्व बाजारो म परिस्थितिया बदल गई है और इस बीच आन्तरिक उत्पादन पर्याप्त बढ गया है। सन् १९५२ म एक अन्य कमेटी श्री कृष्णमूर्ति राव की अध्यक्षता मे नियुक्त की गई जिसने राजकीय व्यापार के प्रश्न पर पुन विचार किया। पहली कमेटी के समान इसने भी यह सिद्धान्त रूप से माना कि एक राजकीय व्यापार सस्था की स्थापना होनी चाहिए। इनकी मत भिन्नता केवल सौंपे जाने वाले कार्यों के सम्बन्ध म थी।

सन् १९५३ ५४ के करारोपण जॉच कमीशन ने यह मत प्रगट किया कि अभी व्यापार के क्षेत्र म सरकार के विस्तृत एव प्रत्यक्ष हस्तक्षेप का उपयुक्त समय नही आया है। जबकि यह विचार विमर्श चल रहा था, देश समाजवादी नमूने के समाज की दिशा म तेजी से बढ रहा था। इसके अतिरिक्त द्वितीय योजना के बढ़े हुए आकार के कारण सरकारी खजाने पर अधिक बोझ पड गया। ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी की एक सब कमेटी ने सन् १९५४ म द्वितीय योजना के प्रारूप पर विचार करते समय यह सुझाव दिया था कि एक राजकीय व्यापार सस्था की स्थापना के लिए जो कि विदेशी एव आन्तरिक दोनो ही प्रकार के व्यापार म भाग ले सक्रिय एव ठोस कदम उठाने चाहिए। पहली बार सन् १९५५ मे वित्त मन्त्री ने इस प्रकार की सस्था के स्थापना के सिद्धान्त का स्वीकृत किया और कहा कि जब ऐसे सगठन की स्थापना होगी, तो उसका उद्देश्य वस्तुओ के व्यापार का नियमन करना होगा। अर्थशास्त्रियो के एक पेनल (१९५६) ने भी राजकीय व्यापार सगठन के पक्ष म मत दिया।

अन्तत मई सन् १९५६ मे ५ करोड रु० की अधिकृत पूँजी से राजकीय व्यापार निगम (STC) स्थापित हुआ। यह एक पूर्णत सरकारी स्वामित्व वाला सगठन है। इसकी सम्पूर्ण पूँजी सरकार द्वारा प्रदान की गई है।

राजकीय व्यापार निगम के कार्य—

राजकीय व्यापार निगम प्राइवेट क्षेत्र मे प्रतियोगिता नही करता। इसके प्रमुख कार्य निम्न हैं—(i) राज्य नियन्त्रित अर्थव्यवस्थाओ से व्यापार के लिये मार्ग प्रशस्त करना। (ii) कुछ आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति के लिए उचित कीमतो पर व्यवस्था करना। (iii) व्यापारिक विवादो को निपटाने मे सहायता करना।

(iv) ऐसी वस्तुओं के आयात-निर्यात का भार लेना, जिन्हे थोक मे ही प्राप्त किया जा सकता है। (v) दुर्लभ वस्तुओं मे व्यवहार करना और इनके विवेकयुक्त वितरण मे सहायता करना। (vi) आयातो के साथ निर्यात (linking imports with exports) की शर्त जोड़कर निर्यातो को बढ़ावा देना। (vii) निर्यात माँग की समुचित पूर्ति के लिए उत्पादन को सङ्गठित करना एवं निर्यात आदेश पूरा करने मे लगे हुए उपक्रमो को सहायता देना। (viii) राजकीय व्यापार वाले देशों के साथ विशेष ठहरावो के समुचित सम्पादन पर ध्यान देना।

निगम द्वारा किया गया कार्य—

मार्च १९७० तक राजकीय व्यापार निगम द्वारा जो कार्य किया गया है उसकी प्रमुख बातें निम्नलिखित है —

(१) **पूर्वी यूरोप के देशो के साथ व्यापार**—निगम को पूर्वी यूरोप के आठ देशो (बल्गेरिया, चैकोस्लावेकिया, जर्मन जनतन्त्रगणराज्य (GDR), हन्ग्री, पोलैंड, रूमानिया रूस और यूगोस्लाविया) के साथ व्यापारिक सम्बन्धो मे, समय-समय पर किये गये द्विपक्षीय ठहरावो के आधार पर, एक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त है। निगम ने इन बाजारो म न केवल परम्परागत वस्तुओ का ही निर्यात बढ़ाया है वरन् कई नई मदें भी प्रचलित की है।

(२) **निगम के कुल व्यापार में वृद्धि**—निगम के व्यापार मे तेजी से वृद्धि हुई है। १९५६-५७ मे यह ९.१८ करोड रु० से बढ़कर १९६२-६३ मे १४१.२६ करोड रु० हो गया। १९६३-६४ मे MMTC की पृथक स्थापना के फलस्वरूप व्यापार मे कमी आई और केवल ९७.७७ करोड रु० रहा। १९६५-६६ मे ९९.४६ करोड १९६६-६७ मे १५६.४ करोड रु०, १९६७-६८ मे १४१.२० करोड रु० तथा १९६८-६९ मे १६७.२० करोड रु० था।

(३) **दो विभाग**—निगम का कार्य अधिकाधिक बढ़ रहा था, इसलिए सरकार ने कार्पोरेशन के कार्यों को दो संस्थाओ मे विभक्त कर दिया। अक्टूबर १९६३ मे खनिज और धात्वीय पदार्थो के व्यापार के लिए एक अलग विभाग बना दिया गया। दोनो विभाग अब अपने-अपने व्यापार को बढाने के लिए बहुत प्रयत्नशील है। १९६४ मे धातु पत्तो व्यापार निगम की भी स्थापना हुई।

(४) **निर्यात व्यापार**—निगम के निर्यात १९६६-६७ मे ३०.९९ करोड रु० और १९६८-६९ मे ४८ करोड़ रु० हुए और १९६९-७० मे ५२ करोड रु० तक पहुँचने की आशा है। इस प्रकार वह दिन दूर नही जबकि निगम अपने १२५ करोड रु० वार्षिक निर्यात के लक्ष्य को पूरा कर लेगा। STC के विभाजन के फलस्वरूप धातुओं और खनिजो की १३ मदों मे व्यापार का कार्य MMTC को चला गया। अब भी STC के हाथ म जिन मदो का व्यापार बचा है और उनकी संख्या बहुत बड़ी है। नई पुरानी मदों को मिलाकर इनकी कुल संख्या लगभग ११० है जिनम उसका व्यापार ६० देशो मे हुआ। लगभग ४१ देशो म इसने १०८ मदें पहली बार प्रचलित की

हैं। इनमे से कुछ मदों ने तो इन देशो की आयात सूची मे एक स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया है।

निगम के निर्यात को चार श्रेणियों मे वर्गित किया जा सकता है —(अ) इंजीनियरिंग गुड्स (मशीनों औजार, रेलवे रॉलिंग स्टॉक और लघु उद्योगों के उत्पाद सम्मिलित करते हुए), (ब) कैमीकल्स, दवाये आदि, (स) उपभोक्ता सामान (जैसे—जूते, बाल, ऊनी वस्त्र, सूती वस्त्र), एव (द) आम व फलो के रस। निगम के सुप्रयत्नो का ही यह परिणाम है कि कई देशो मे रेलवे रॉलिंगस्टॉक के निर्यात के लिये अनुबन्ध हुये है तथा इनकी पूर्ति के लिये समुचित व्यवस्थाये की जा रही है। निःसंदेह रेलवे भारत से रॉलिंग स्टॉक के निर्यात का भविष्य बहुत ही उज्जवल है। निगम ने स्पेन, अफ्रीका और मध्यपूर्व मे भी टैण्डर दिये और वे स्वीकार हुये है। निगम ने विदेशी व्यक्तिगत फर्मों की सुविधा के लिये असेम्बली केन्द्र खोले है। ऐसा एक केन्द्र यूगोस्लाविया मे खुला है। जूते के निर्यात को रूस और पूर्वी यूरोप के देशों के बाद अब प० यूरोप, अमरीका और कनाडा म भी बढाने के यत्न किये जा रहे है तथा इनके फलस्वरूप निगम को कनाडा और अमरीका से कुछ आर्डर भी मिले है। मद्रास की बिग फैक्ट्री ने काम चालू कर दिया है तथा भविष्य में निगम बालो का कच्ची हालत मे निर्यात करने के बजाय बनी बनाई सामग्री के रूप मे निर्यात किया करेगा। आमों के निर्यात को बढाने के लिये निगम इनकी पैकिंग टैक्नीक मे सुधार कर रहा है। निगम विदेशो मे (सर्व प्रथम योरोप मे) गोदाम सुविधायें स्थापित करने का विचार कर रहा है। इन गोदामो का लाभ सभी निर्यातकर्त्ता उठा सकेंगे। इस प्रकार, उन्हें निर्यात आदेशो को पूरा करने मे सुविधा हो जायेगी।

(५) सम्पर्क, अदल-बदल एव समानान्तर व्यवहार—निर्यात बढाने और कुछ निर्दिष्ट देशो को कुछ वस्तुओ के निर्यात मे कमी की प्रवृत्ति को रोकने के लिए निगम ने जो महत्त्वपूर्ण ढग अपनाये है उनमे से एक ढग विदेशो में अच्छी ख्याति वाली फर्मों के साथ 'सम्पर्क, अदल-बदल और सामानान्तर व्यवहार' (link, barter and paralleled deals) करना है। इस तरीके से एक ओर सीमित विदेशी मुद्रा प्रसाधनो पर भार डाले बिना ही देश के औद्योगिक और आर्थिक विकास के लिए आवश्यक वस्तुओ के आयात की, व्यवस्था हो गई है, और, दूसरी ओर, आसानी से बेची न जाने वाली वस्तुओं के तथा उन वस्तुओ के, जिनमे निर्यात आधिक्य तो उपलब्ध है किन्तु कीमत-विषमता के कारण वे पर्याप्त मात्रा मे निर्यात नही की जा रही थी, निर्यात मे भी बहुत वृद्धि हो गई। अन्य शब्दों मे, विदेशी मुद्रा की बचत करते हुए अत्यावश्यक आयात प्राप्त किए गये है।

उपरोक्त व्यवहारो के फलस्वरूप भी कई नई वस्तुयें पश्चिमी यूरोप को जाने लगी है, जैसे—टाट के थैले स्विटजरलैण्ड को, सिलाई की मशीनें फ्रांस और प० जर्मन को तथा ऊनी वस्त्र, तम्बाकू और ऊनी गलीचे स्वीडन को। यही नही, इन व्यवहारो के कारण जूट के सामान और बोक्साइट (इटली), चाय और सूती वस्त्र

(स्विटजरलैण्ड) जूट का सामान चाय, सूती वस्त्र, हाथ करघे के कपड़े आदि (स्वीडन) का निर्यात पहले की अपेक्षा बढ़ गया है। निगम को इस दिशा में जो सफलता मिली है उसकी संसद की आगणन समिति (Estimates Committee) ने बड़ी सराहना की है।

(६) **कीमतों में स्थायित्व लाने के प्रयत्न**—सरकार की इस नीति के सन्दर्भ में कि देश के उत्पादन को उच्चतम सम्भव स्तर पर बनाये रखा जाय, कुछ कृषि वस्तुओं के उत्पादकों को उचित कीमत दिलाई जायें तथा एक बढ़ती हुई दर में विदेशी माग को पूरा किया जाय निगम ने समय-समय पर कीमत स्थायित्व एवं 'बफर-स्टाक' सम्बन्धी कार्यकलाप हाथ में लिये हैं। ये कार्यकलाप कच्चा जूट, लाख, तम्बाकू, छोटे रेशे वाली कपास आदि के सम्बन्ध में थे और इनमें निगम को यथेष्ठ सफलता मिली है।

(७) **लघु एवं मध्यम उद्योगों की वस्तुओं के निर्यात को बढ़ावा**—प्रगतिशील औद्योगिक देशों में लघु एवं मध्यम पैमाने के उद्योग यथेष्ठ मात्रा में निर्यात करते हैं। पिछले १०-१५ वर्षों में भारत में भी अनेक छोटे और मध्यम उद्योग विकसित हो गये हैं किन्तु कुल निर्यात में उनका भाग अधिक नहीं रहा है। अतः निगम ने **'लघु उद्योगों के लिये निर्यात सहायता की योजना' (Export Aid for Small Industries)** चलाई, जिसके अन्तर्गत लघु एवं मध्यम उद्योगों के सम्बन्ध निर्माताओं का व्यापक 'विपणन-सेवा' प्रदान की जाती है। जैसे—निर्यात के लिये उत्पाद का चुनाव करना, पैकिंग, डिजायन, कैटलॉग तैयार करना एवं अन्य विक्रय साहित्य छपाना नमूने, कीमत निर्धारण आदि। निगम के प्रयत्नों से लघु उत्पादकों को विदेशों से एक बड़ी राशि के आर्डर मिले। य निर्यात स्वभाव में अ-परम्परागत हैं, क्योंकि अब तक इनका भारत से कभी निर्यात नहीं हुआ था।

(८) **निगम द्वारा आयात**—निगम ने अनेक प्रकार के औद्योगिक कच्चे मालों और उर्वरकों के आयात का कार्य भी हाथ में लिया हुआ है। कास्टिक सोडा, सोडा एश, कच्ची रेशम आदि के आयात में तो उसका एकाधिकार है। न्यूज प्रिन्ट, प्रिंटिंग मशीनें, कच्ची फिल्म, एक्सरे फिल्में, फोटोग्राफिक सामान, ट्रेक्टर्स, मशीन टूल्स, टायर-ट्यूब, विभिन्न प्रकार के रसायन आदि राजकीय व्यापार वाले देशों एवं अन्य देशों से आयात किये जाते हैं और मान्य एजेन्सियों द्वारा इनका वितरण कराया जाता है। सीमेन्ट के वितरण का तथा आयातित करों के क्रय विक्रय का कार्य भी निगम के जिम्मे रहा है। यह बहुत ही सराहनीय बात है कि अल्पकालीन सूचना पर ही निगम कठिन विश्व-बाजार परिस्थितियों के बावजूद पूँजीगत सामान, कच्चे मालों एवं दुर्लभ सामग्रियों की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों पर व्यवस्था करने में समर्थ हुआ है। उसने आयात क्रियाकलाप बड़ी ही कुशलता से सचालित किये हैं।

(९) **कीमत नीतियाँ**—निगम द्वारा जिन वस्तुओं के आयात की व्यवस्था की जाती है उनको दो वर्गों में बाँटा जा सकता है —(i) प्रत्यक्ष आयात, जो कि

वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं को सुपुर्दगी देने के लिये हैं, तथा (ii) अप्रत्यक्ष आयात, जो विदेशी सप्लायरों के भारतीय एजेन्टों द्वारा 'स्टाक और विक्रय आधार पर', बाद में निर्दिष्ट अधिकारियों के आदेशानुसार वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं को बेचे जाने के लिये हैं। प्रथम वर्ग की वस्तुओं के सम्बन्ध में निगम केवल नाममात्र का ही कमीशन लेता है किन्तु दूसरे वर्ग की वस्तुओं के सम्बन्ध में भारतीय एजेन्ट को अपने उपरिव्यय (overhead expenses) पूरे करने तथा अल्प लाभ कमाने का अवसर दिया जाता है और निगम अपने लिए नाममात्र का सेवा व्यय लेता है। कुछ वर्ष पूर्व स्टाक एवं विक्रय आधार पर आयात बन्द कर दिए गए थे लेकिन अधिकांश वस्तुओं के सम्बन्ध में, इनकी उपयोगिता का अनुभव करके, इन्हें पुनः आंशिक या पूर्ण रूप में आरम्भ कर दिया गया है।

(१०) **सहायक संगठन**—निगम के दो सहायक संगठन हस्तकौशल और हाथकरघा निर्यात निगम (Handicrafts and Handlooms Exports Corporation) तथा भारतीय चलचित्र निर्यात निगम (Indian Motion Pictures Exports Corporation) हैं जो क्रमश: हाथ करघा और दस्तकारी की वस्तुयें तथा भारतीय फिल्मों का निर्यात करते है। निगम ने CAPEXIL द्वारा संचालित 'आस्ट्रेलिया को रसायनों का निर्यात बढाने की योजना' में भी भाग लिया है।

(११) **विदेशों में कार्यालय**—विभिन्न देशों में बदलते हुये व्यापारिक वातावरण से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखने तथा विदेशी देशों में भारतीय निर्यातों को प्रोत्साहन देने के प्रयास में निगम की सहायता के लिये निगम ने विदेशों में शाखा कार्यालय खोलने की नीति अपनाई है। उसने रोटर्डम, प्राग, मास्को, बुडापेस्ट, पूर्वी बर्लिन, मौंट्रियल और नैरोबी में अपने दफ्तर खोले हुए है और बैंगकाक, बेरुत, काहिरा, लागोस, तेहरान और काबुल में शीघ्र ही खोलने जा रहा है। निगम का कार्य संचालन मितव्ययितापूर्वक तथा जनहित की दृष्टि से किया जाता है। लालफीताशाही यथासाध्य दूर रखी जाती है। इसके उपरिव्यय उचित सीमाओं के भीतर रहते है।

(१२) **निगम की आय में वृद्धि**—१९६८-६९ के लिये निगम को १२·०९ करोड़ रु० का कर-पूर्व लाभ हुआ था। १९६९-७० में पहली तीन तिमाहियों के लिये उसे १२·०९ करोड़ रु० का कर-पूर्व लाभ है। इस प्रकार निगम की आय में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है किन्तु उसके व्यय पिछले वर्षों की अपेक्षा काफी बढ़ गये है, जो स्वाभाविक भी है, क्योंकि उसके व्यापारिक कार्यकलापों में भी वृद्धि हो गई है।

राजकीय व्यापार का मूल्यांकन—

राजकीय व्यापार निगम के कार्यकलापों के उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वह देश के विदेशी व्यापार को बढ़ाने एवं विविध मुखी बनाने में सफल रहा है। इसने आवश्यक कच्चे माल प्राप्त करने और फिर उद्योगपतियों में इनका समुचित वितरण करने में महत्वपूर्ण योग दिया है। निर्यात करने वालों को

आयात करने मे प्राथमिकता देकर व्यापारिक आधार को सुदृढ किया है। राजकीय व्यापार वाले देशों मे व्यापारिक सम्बन्ध बढाने के साथ-साथ उसने जापान और अमेरिका जैसे देशों मे वहाँ की व्यापारिक संस्थाओं मे भी सम्बन्ध स्थापित किये है। निर्यात बढाने के लिए यातायात व्यवस्था को सुधारने की योजनायें भी बनाई है और इनके लिए धन की व्यवस्था निगम द्वारा स्थापित एक विशेष कोष से की जाती है। अनेक देशों से हमारा व्यापार जहाँ प्रतिकूल था, वहा अब अनुकूल हो गया है।

देश की विदेशी मुद्रा की आय मे निगम का योगदान बहुत सतोषजनक है। इसकी दत्त पूंजी १९५६-५७ मे १० मि० से बढकर अब २० मि० हो गई है। टैक्स के रूप मे भी इसने बडी राशियां सरकारी खजाने को दी है। निगम ने उत्पादन के क्षेत्र म भी कदम बढा दिये हैं। उसने मद्रास मे एक बिग फैक्ट्री खोली है। उसने प्रमुख भारतीय बन्दरगाहों पर कुछ वस्तुओं के उतारने चढाने के लिये मितव्ययितापूर्ण किन्तु कुशल व्यवस्था की है। उसने बम्बई मे एक विशाल टैंक बनाया है जिसमे आयातित वनस्पति तेलों को सग्रह करके रखा जा सकेगा।

उक्त सफलताओं के साथ ही साथ निगम की निम्न दुर्बलतायें भी सामने आई है —(१) निगम उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं के अनुसार समय पर, न्यायोचित मूल्यो पर और वाछित किस्म का माल आयात करने मे असफल रहा है। (२) उसने कई वस्तुओ का निर्यात अन्तर्राष्ट्रीय विक्रय मूल्यों से कम दरो पर करके विदेशी-मुद्रा अर्जन मे राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा की है। (३) उसने निजी निर्यातकों के कोटो म सदा कटौती की प्रणाली अपना कर देश के निर्यात व्यापार की उपेक्षा की है। (४) निगम ने अनावश्यक वस्तुओ का क्रय करके अपनी पूंजी अटकाई है और देश की औद्योगिक आवश्यकता के अनुसार समय पर आवश्यक वस्तुओ का सभरण नही किया है। (५) उसने विश्व बाजार की पूर्ण जानकारी के अभाव मे ऊँचे मूल्यो पर वस्तुओं का आयात किया है और इस प्रकार देश की उत्पादन लागतें बढ गई। जैसे—सोयाबीन का तेल खरीदने समय ५० डालर प्रति टन अधिक चुकाया गया है। (६) निगम की ओर से सुपर्दगी देने मे विलम्ब हुये हैं। इससे आर्डर रद्द हो गए। (७) वह निर्णय लेने और फिर इन्हे कार्यान्वित करने मे सुस्ती करता है। (८) वस्तुओ के उत्पादन पर उसके प्रत्यक्ष नियमन का अभाव है। (९) इसका स्टाफ बार बार बदलता रहता है। (१०) इस बारे मे बहुत ही अनिश्चितता प्रतीत होती है कि निगम किन वस्तुओं का आयात-निर्यात करेगा। अथवा वह भविष्य मे किन दिशाओ मे अपना कार्य बढायेगा।

निगम के विरुद्ध यह भी आरोप लगाया गया है कि वह वस्तुओ के आयात के लिए ऊँची कीमतें ले रहा है और इस प्रकार ऊँचे लाभ कमा रहा है। किन्तु निगम द्वारा प्रकाशित सबसे अन्तिम रिपोर्ट म यह बताया गया है कि कई वस्तुओ के थोक क्रय क फलस्वरूप नीची कीमते प्राप्त होने का सम्पूर्ण लाभ क्रेताओं को हस्तातरित कर दिया जाता है और कुछ वस्तुओं के लिए कीमतें इस प्रकार निर्धारित की

जाती है कि मध्यजन मुनाफाखोरी न कर सकें। किन्तु यह बात विश्वास उत्पन्न करने वाली नहीं है। हम इतना ही कह सकते है कि निगम को ऐसे उपाय करने चाहिय जिससे कि उपभोक्ता वास्तव में लाभ उठावें। यह भी कहा गया है कि निगम अपने अनुबन्धों को गुप्त रखता है, किन्तु यह स्वाभाविक ही है। व्यापारिक शर्तों के प्रकाशन से हानि का भय है। निगम के कार्यकलापों की उचित आलोचना सदा वाछनीय है किन्तु व्यापार की गापनीयता के औचित्य को भी स्वीकार करना होगा। कुछ विद्वानों का कहना है कि पूर्वी यूरोप की नियन्त्रित व्यवस्थाओं वाले देश अब अन्य देशों के प्राइवेट व्यापारियों से अनुबन्ध करने की इच्छा प्रदर्शित करने लगे है, जिस कारण निगम की उपादेयता कम हो गई है। किन्तु जैसा कि हम पहले भी सकेत कर चुके हैं, निगम की उपादेयता यह है कि वह विशाल सगठन होने के नाते अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में सफलतापूर्वक प्रतियोगिता करने की स्थिति मे है जबकि व्यक्तिगत व्यापारी विदेशी उपक्रमियों की तुलना मे ऐसी लाभप्रद स्थिति नहीं रखते।

निगम का भविष्य—

राजकीय व्यापार एक विश्वव्यापी घटना है और केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। विकासोन्मुख देशों की व्यापारिक व्यवस्था मे प्राइवेट निर्यात-गृह दुर्बल स्थिति मे होते है जिस कारण वे अनुकूल व्यापार-पूर्ति प्राप्त नहीं कर पाते है। इतना ही नहीं, विदेशी मुद्रा के दुरुपयोग और उसे छिपा लेने की भी सम्भावनायें रहती है। विश्व-बाजार मे विपणन की जाने वाली ऐसी अनेक वस्तुयें (जैसे—सल्फर मर्करी, कृत्रिम सूत आदि) हैं जिनके आधिक्य और अभाव एक चक्र के रूप मे उदय होते रहते है। एक कठिन अभाव की अवधि मे कीमत-अन्तर प्राय: बहुत अधिक होते है तथा भारत मे आयातकर्त्ताओं को यह लोभ हो सकता है कि वे एक न एक बहाने की ओट मे कीमतों में जोड-तोड करें। ऐसी स्थिति मे, जबकि एक ओर हमारे निर्यात-गृहों की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति विश्व बाजार मे दुर्बल हो और दूसरी ओर विदेशी मुद्रा की चोरी का भय हो, एक सरकार-सचालित-सस्था ही विदेशी व्यापार को बढाने मे सहायक हो सकती है। विशाल सङ्गठन के कारण वह प्रतिस्पर्धा द्वारा अनुकूल व्यापार शर्तें प्राप्त कर सकती है तथा विदेशी मुद्रा की अधिक कमाई कर सकती है।

यह भी स्मरणीय है कि रुपये भुगतान समझौतों (rupee payment agreements) के अधीन पूर्वी यूरोप के देशों को जूतों, ऊनी कपडों आदि के जो निर्यात किये गये उनका सुफल यह हुआ कि देश मे प्रगतिशील और कुशल उद्योग स्थापित हो गये हैं और अब इनके आधार पर पश्चिमी यूरोप के बाजारों मे भी प्रवेश का यत्न कर सकते है। यह भी तर्क सम्मत है कि कालान्तर मे निगम अपने निर्यात-कार्यक्रम की पूर्ति के लिए, देशी उत्पादकों के सहायक के रूप मे, निर्माण कार्य आरम्भ

करे। मद्रास म बिग फैक्टरी का खुलना इस दिशा म पहला कदम है। वह जूत बनाने का यन्त्रीकृत कारखाना भी खोल सकता है जिससे आडर के अनुसार उत्तम क्वालिटि क जूते बनाये जा सक।

परीक्षा प्रश्न

१ गृह उद्योगा को सरक्षण दने के साधन के रूप म राजकीय व्यापार के गुण दोषो की परीक्षा कीजिये।
[Examine the advantages and disadvantages of State Trading as a means of protecting domestic industries]

२ विदेशी यापार मे सरकारो के भाग लेने से जो समस्या एक पूँजीवादी देश मे उदय हो सकती है उसका विवेचन कीजिय।
[Discuss the problem that may arise in a capitalistic country from the participation of the Governments in foreign trade]

३ राजकीय व्यापार निगम क्या है ? इसक गुण दोषो का विवेचन कीजिय।
[What is a State Trading Corporation ? Discuss its advantages and disadvantages] (आगरा, एम० ए० १६६६)

४ राजकीय व्यापार निगम का कायचालन समभाइय। इसके क्या गुण दोष ह एव इन पर कसे विजय पाई जा सकती है ?
[Explain the working of State Trading Corporation What are its main weaknesses and how can they be overcome ?] (गोरख० एम० ए० १६६६)

५ भारत के राजकीय व्यापार निगम के कायचालन की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिय। क्या राजकीय व्यापार घरेलू उद्योगो को सरक्षण देने का एक सफल ढग है ?
[Critically examine the working of S T C of India Is State Trading a successful method of protecting domestic industries ?] (आगरा, एम० काम० १६६८)

३९

भारत की व्यापारिक नीति एवं व्यापार-समझौते

(India's Commercial Policy and Trade Agreements)

परिचय—

व्यापार नीति का सम्बन्ध मुख्यतः विदेशी व्यापार से है तथा वह 'सामान्य आर्थिक नीति' का एक हिस्सा होती है। जब-जब सामान्य आर्थिक नीति में परिवर्तन होते हैं, देश की व्यापार नीति भी परिवर्तित हो जाती है। प्रस्तुत अध्याय में हम भारत की व्यापारिक नीति और इसके अन्तर्गत हुए विभिन्न व्यापार समझौते का अध्ययन करेंगे।

द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक व्यापारिक नीति

स्वतन्त्र व्यापार की नीति—

सन् १९२३ तक भारत की व्यापारिक नीति 'निर्बाध व्यापार नीति' (Laissez-faire) पर आधारित थी। निर्बाध व्यापार नीति के अन्तर्गत सरकारी हस्तक्षेप का अभाव होता है। भारत के विदेशी शासकों के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति उनके देश के हितों को बढ़ाने वाली थी। यह दोहराने की आवश्यकता नहीं कि एक व्यापारिक संस्था 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की स्थापना के परिणामस्वरूप ही ब्रिटेन के चरण भारत में जमे थे और गत दो शताब्दियों का इतिहास उस वणिक प्रवृत्ति की पराकाष्ठा का ज्वलंत उदाहरण है जिसने हमें गुलाम बनाया (और स्व० रमेशचन्द्र दत्त के शब्दों में) "गंगा के जल को टेम्स नदी में उडेलने" का कुकर्म किया। ब्रिटेन की शोषक नीति के फलस्वरूप एक ओर जब ब्रिटेन स्वयं दिन दूना रात चौगुना बढ़ता गया, तब भारत दिन प्रतिदिन दरिद्रता-ग्रस्त एवं अभावयुक्त देश बनता गया। भारत जैसे विशाल उपनिवेश के रूप में ब्रिटेन को न केवल ब्रिटिश वस्तुओं (कपड़ा लोहा आदि) का खरीदार बल्कि ब्रिटेन के चमड़ा, सूती वस्त्र आदि उद्योगों के लिये मनचीते भावों पर कच्चा माल बेचने वाला भी देश उपलब्ध हुआ।

शोषण की इसी अवधि में भारतीय अपनी सर्वांगीण प्रगति के लिए राजनीतिक दासता से मुक्त होने के लिए क्रियात्मक रूप से कटिबद्ध हुए। ब्रिटेन के लिए

भारत की स्वतन्त्रता का अर्थ ब्रिटेन के पतन के सूत्रपात के रूप में था। विद्वान विचारक पट्टाभि सीतारामैया ने उन दिनों कटाक्ष रूप में कहा था कि 'यदि भारत स्वतन्त्र होता है तो इङ्गलैंड वाले अपनी खदानों का कोयला पाउडर करके खायेंगे और लोहा पिघला कर पियेंगे।''

कुछ भी हो, विदेशी सरकार ने अपने देश के हितों की वृद्धि के लिए स्वयं तो स्वतन्त्र व्यापार नीति का अनुसरण किया ही, साथ ही भारत को भी इसके अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया, जिससे हमारा देश विदेशी निर्मित वस्तुओं से पट गया, यहाँ के उद्योग धन्धे नष्ट प्राय हो गये तथा वह मुख्यतः कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बन गया।

विभेदात्मक संरक्षण—

इस असन्तुलित विकास की हानियाँ प्रथम महायुद्ध में सभी पर प्रगट हो गईं। अतः परिस्थितियों से विवश होकर सरकार ने १९२३ में विभेदात्मक संरक्षण की नीति अपनाई, जिससे स्वभावतः स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अन्त हो गया। विभेदात्मक संरक्षण की नीति के अन्तर्गत कुछ उद्योगों को संरक्षण मिला और इन्होंने इसके फलस्वरूप बहुत प्रगति भी की। किन्तु व्यवहार में विभेदात्मक संरक्षण की नीति इस कठोरता से कार्यान्वित की गई कि अनेक योग्य एवं महत्त्वपूर्ण उद्योग इससे वंचित ही रहे।

साम्राजीय अधिमान (ओटावा समझौता)—

१९३०-१९३२ के महान मन्दी युग में समस्त विश्व के लिये भारी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं। भारत के विदेशी व्यापार का कुल मूल्य एवं परिमाण भी बहुत घट गया, क्योंकि कृषि वस्तुओं के लिये, जो कि हमारी निर्यात सूची में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी, विश्व-माँग तथा इनकी कीमतें दोनों ही बहुत कम हो गईं थी। पुनर्जीवन (recovery) के एक उपाय के रूप में ब्रिटेन ने एक विशेष प्रकार की व्यापार नीति अपनाई तथा इसके अन्तर्गत साम्राजीय अधिमान योजना के द्वारा अपने साम्राज्य के देशों से व्यापार बढ़ाने का यत्न किया। इस योजना की रूप रेखा ओटावा (कनाडा) के शाही आर्थिक सम्मेलन (Imperial Economic Conference) में तैयार की गई।

अन्य साम्राज्य—देशों सहित भारत ने इस सम्मेलन में ब्रिटेन के साथ एक व्यापारिक करार पर हस्ताक्षर किये जो ओटावा पैक्ट (Ottawa Pact) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस ठहराव के अन्तर्गत भारत ने कुछ प्रकार की आटोमोबाइल्स पर ७½% तथा इलेक्ट्रिक सामान, ऊनी सामान, सुगन्धियों, स्प्रिट आदि पर १०% अधिमान दिया। ये वस्तुयें वह ब्रिटेन से आयात करता था। दूसरी ओर ब्रिटेन ने भारत को कई वस्तुओं पर १०% अधिमान स्वीकृत किया तथा कई वस्तुओं को ड्यूटी दिये बिना ही अपने बाजारों में आने की अनुमति दी।

ओटावा समझौते की रचना इस तरीके से की गई थी कि वह भारत की

अपेक्षा ब्रिटेन के लिये अधिक लाभदायक रहा है। भारत से ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं पर ऐसे अधिमान (preferences) दिलाये गये, जो कि ब्रिटिश निर्यात उद्योगों में पुनर्जीवन फूँक सके। वहाँ निर्यात उद्योगों में पुनर्जीवन की लहर दौड़ने से अप्रत्यक्ष रूप में रोजगार की वृद्धि हुई तथा ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के अन्य अंगों में भी गति आई। इस प्रकार, ब्रिटेन मन्दी के गहरे गड्ढे में से निकलने में समर्थ हुआ। किन्तु, दूसरी ओर जो अधिमान भारतीय वस्तुओं पर स्वीकृत किये गये वे भारतीय निर्यातों में कोई विशेष वृद्धि न कर सके क्योंकि कृषि वस्तुओं की कीमतें एक लम्बे समय विलम्ब के बाद ही सुधार सकीं। यही नहीं, अधिमान सूची में सम्मिलित सभी वस्तुयें भारत के लिए लाभदायक न थीं। इस प्रकार, ओटावा समझौते की आड़ में ब्रिटेन, भारत, बर्मा और लंका जैसे आधीन देशों के साथ अपनी शोषक और स्वार्थपूर्ण नीति का जारी रख सका। ओटावा समझौते से अधिकांश लाभ ब्रिटेन को ही प्राप्त हुआ, जबकि भारत का अधिकतम सीमा तक शोषण किया गया। [भारत में चाय बागानों के ब्रिटिश मालिकों और जूट मिलों के ब्रिटिश उद्योगियों को ऊँचे लाभ हुए, क्योंकि ओटावा पैक्ट के अन्तर्गत चाय और निर्मित जूट यह दो चीजें ही ऐसी थीं जिनका निर्यात बहुत बढ़ गया।]

ओटावा पैक्ट पर हस्ताक्षर करने के समय तथा इसके बाद भी भारतीय जनमत और विद्वानों ने कटु आलोचना की थी। अतः यह पैक्ट भारतीय विधान सभा द्वारा १९३६ में समाप्त कर दिया गया, किन्तु वायसराय ने अपने विशेष अधिकार के द्वारा इसे १९३९ तक जारी रखा।

इन्डो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रीमेन्ट—

सन् १९३९ में भारत और ब्रिटेन के मध्य एक नये व्यापारिक करार पर हस्ताक्षर हुए, जो कि 'भारत-ब्रिटेन व्यापारिक करार' (Indo-British Trade Agreement) के नाम से प्रसिद्ध है। यह ठहराव भी ओटावा पैक्ट के बुनियादी दोषों को दूर न कर सका। इस नये ठहराव के अधीन भारत ने ब्रिटेन से आयात किये जाने वाले २० पदार्थों पर १०% अधिमान स्वीकृत किया और ब्रिटेन ने कुछ भारतीय वस्तुओं पर अधिमान दिया और अन्य वस्तुओं को ड्यूटी-फ्री आने की अनुमति दी।

यह नया समझौता भी जनता की कटु आलोचना का विषय बना। इसे चलते हुये कुछ ही महीने हुए थे कि द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। द्वितीय महायुद्ध काल में आयात और निर्यात दोनों पर ही कड़ा नियन्त्रण किया गया तथा भारत की व्यापारिक नीति युद्धस्तर की सङ्कटकालीन आवश्यकताओं के अनुसार ढाली गई। शत्रु देशों से व्यापार पर कठोर मनाही कर दी गई तथा मित्र एवं तटस्थ राष्ट्रों में भी व्यापार कठोर प्रतिबन्धों के अधीन ही किया जा सकता था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत की व्यापारिक नीति—

द्वितीय विश्व-युद्ध ने वैसे ही ब्रिटेन को तृतीय शक्ति का राष्ट्र बना दिया था,

भारत की स्वतन्त्रता ने "कफन मे दूसरी कील ठोकने" का कार्य किया। किन्तु भारतीय नेताओ, गाँधीजी एव नेहरूजी के "भूल जाओ और क्षमा करो" के उपदेश ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपाकाल म ब्रिटेन को बडी भारी राहत दी। हमारी सद्-इच्छा की परिचायक प्रवृत्ति के फलस्वरूप हमारे सम्बन्ध नये सिरे से चालू हुए और राष्ट्रमण्डल का जन्म हुआ। व्यापार के क्षेत्र म साम्राज्य अधिमान की नीति पूर्ववत् जारी है किन्तु अब यह **राष्ट्र-मण्डलीय अधिमान** (Commonwealth Preferences) के नाम से प्रसिद्ध है।

स्वतन्त्रता के बाद, नए बाजार प्राप्त करने तथा निर्यात व्यापार मे नई मदें प्रचलित करने हेतु भारत ने ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के देशो से कई व्यापारिक समझौते सम्पन्न किये हैं। विभिन्न समझौते दो प्रकार के है—द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय। **द्विपक्षीय समझौतो** की दिशा मे भारत ब्रिटेन व्यापारिक करार (१९३९) पहला कदम था। अब निम्न देशो के साथ भी द्विपक्षीय समझौते सम्पन्न हो गये है—रूस, पोलैंड, चैकोस्लावेकिया, हन्गरी, इटली, नार्वे और यूरोप के अन्य देश। लाल चीन से हमारे व्यापारिक सम्बन्ध आजकल टूट हुये है। भारत पर आक्रमण के बाद भारत-पाक व्यापार सम्बन्ध भी टूट गये इससे पूर्व भी ये सम्बन्ध बडे ही सकोचपूर्ण तथा प्रतिबन्धात्मक थे, सौहार्दपूर्ण नहीं। ताशकन्द समझौते की भावना का पालन करते हुए राजनैतिक सम्बन्धो के साथ ही साथ पाकिस्तान से व्यापारिक सम्बन्ध भी सुधरने की आशा थी, किन्तु यह दुराशामात्र रह गई है।

जहाँ भारत ने विशेष देशो से विशेष व्यापारिक समझौते किये है, वहाँ वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक करारो म भी सम्मिलित हुआ है। भारत सहित २३ राष्ट्रों ने जनेवा मे १९४७ म एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक करार पर हस्ताक्षर किये जो कि 'व्यापार एवम् प्रशुल्क विषयक सामान्य करार' (General Agreement on Tariffs and Trade) के नाम से विख्यात है। इस समझौते का उद्देश्य बहुपक्षीय व्यापार एव भुगतान प्रणाली को बढावा देना या टैरिफ दरो मे पारस्परिक रियायतें दिलाना है। राष्ट्रमण्डल अधिमान के जारी रहने के लिए इस समझौते मे छूट दी गई है।

वर्तमान स्थिति—

इस समय राष्ट्र-मण्डलीय अधिमान प्रणाली का प्रयोग इस तरीके से किया जा रहा है कि वह हमारे विकास कार्यक्रमो मे सहायक हो। अब तो भारतीय निर्यातों का स्वरूप ही बदल गया है। जहा ब्रिटेन और अन्य राष्ट्र मण्डलीय देशों को कच्चा माल अधिकता से जाया करता था वहाँ अब निर्मित माल की प्रमुखता होने लगी है। हमारे आयातो मे पूँजीगत वस्तुओ की मात्रा बढ गई है तथा निर्मित उपभोग्य वस्तुओं का आयात कम हो गया है। अत अब भारत ब्रिटिश बाजार मे दृढतापूर्वक प्रतियोगिता करने लगा है। जबकि ब्रिटेन से लगभग सभी भारतीय आयातो पर भारत को रियायतें प्राप्त हैं तब वह स्वय ब्रिटेन को इनी गिनी रियायतें ही दे रहा है। योरो-

पियन साझा बाजार के बनने से राष्ट्र-मण्डलीय अधिमानों का महत्व बहुत बढ गया है। यदि ब्रिटेन भी उक्त साझा बाजार मे सम्मिलित हुआ, तो भारत को कुछ हानि उठानी पड सकती है। १९६६ मे भारत ने बहुत से नये व्यापार-करार किए और कुछ पुराने करारो को बढाया।

विदेशो म भारतियों की ओर से सयुक्त उद्योग-धन्धे स्थापित करने के प्रयास मे इस वर्ष और अधिक सफलता मिली। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के देशों मे विकास-कार्यक्रमो मे भारतीय उद्योगपति अधिकाधिक सहयोग दे रहे है। इस तरह की लगभग ५० योजनाएँ आजकल ससार के भिन्न-भिन्न भागो मे भारत की सहायता से अमल मे लाई जा रही है।

परीक्षा प्रश्न :

१. साम्राज्य अधिमान के प्रचलन का उद्देश्य क्या था और यहाँ भारत के लिये कहाँ तक हितकर रहा ?

[What was the objective of instituting Imperial Preference and how far has India found it beneficial ?]

२. भारत सरकार की व्यापारिक नीति की आलोचना कीजिये।

[Examine critically the commercial policy of the Government of India]

३. भारत ने अनेक विदेशी देशो के साथ अधिकाधिक सख्या मे व्यापारिक समझौते किये है। इसके कारण बताइये और हाल के किसी एक व्यापारिक समझौते के स्वभाव एव उद्देश्य का विवेचन कीजिये।

[Examine the factors that account for the increasing number of trade agreements entered into by India with many foreign countries Discuss the nature and purpose of any one of the recent trade agreements entered into by India.]

(इलाह०, एम० कॉम०, १९६७)

४०

१९६६ में भारतीय रुपये का अवमूल्यन और विदेशी व्यापार

(1966 Devaluation of the Indian Rupee and Foreign Trade)

प्रारम्भिक—

पाँच व छः जून १९६६ की मध्य रात्रि के दो बजे से भारतीय रुपये का ३६.५% के हिसाब से अवमूल्यन किया गया। अब भारत द्वारा किये जाने वाले आयात पर एक अमरीकी डालर के लिए ७ रुपए ५० पैसे और एक पौंड स्टर्लिंग (ब्रिटिश) के लिए २१ रुपये (१९६७ में पौंड के अवमूल्यन के बाद से १८ रु०) तथा रूसी मुद्रा रूबल के लिए ८ रुपए ३३ पैसे देने पड़ते हैं। उल्लेखनीय है कि विश्व बैंक द्वारा भेजे गये बेल मिशन ने रुपए के अवमूल्यन का सुझाव दिया था। लेकिन भारत सरकार इसका बराबर विरोध करती रही। संसद में अनेक बार यह घोषणा की गई कि रुपए का अवमूल्यन नहीं किया जायगा। पिछले महायुद्ध के बाद भारतीय रुपए के मूल्य को दूसरी बार घटाया गया है। इससे पूर्व सन् १९४९ में उस समय भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन किया गया था, जब ब्रिटिश पौंड की कीमत घटाई गई थी।

अवमूल्यन के परिणामस्वरूप सरकार ने कई अन्य कदमों की घोषणा की। इनके अनुसार बारह वस्तुओं पर निर्यात शुल्क लगा दिया गया, अनेक वस्तुओं के बुनियादी निर्यात शुल्क में परिवर्तन किया गया, और निर्यात को बढ़ावा देने के लिए लागू सभी विशेष योजनाओं को खत्म कर दिया गया। इनके बदले में कुछ अन्य निर्यात योजनाएँ बनाई गई ताकि निर्यातकों को कच्चे माल, मशीनों के औजार और स्पेयर्स आदि मँगाने के लिए सुविधाएँ दी जा सकें।

अवमूल्यन के लिये विवश करने वाली परिस्थितियाँ

तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री शचीन्द्र चौधरी ने रुपए के अवमूल्यन सम्बन्धी निर्णय को सही बताते हुए कहा कि, "यदि यह कदम अब नहीं उठाया जाता, तो आयात के पूरी तरह से बन्द हो जाने की सम्भावना पैदा हो जाती। इसमें बड़े पैमाने पर बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ता। निर्यात को बढ़ावा देने के लिए जो कदम पिछले कई सालों से उठाये जा रहे थे, वे उपयोगी सिद्ध नहीं हुए।

देश की वित्तीय स्थिति काफी दिनों से चिन्ताजनक हो रही थी। पिछले दस वर्षों में निर्यात घटता जा रहा था। हमारा सामान अन्य देशों के सामान की कीमतों के सामने टिक नहीं रहा था, इसलिए १९६५ से निर्यात को प्रोत्साहन देने के अनेक कदम उठाये गए। इनमें वित्तीय साधनों पर दबाव पड़ा। सूखे की स्थिति और पाकिस्तानी आक्रमण ने हालत को और अधिक बिगाड़ दिया। विदेशी सहायता पर भी प्रभाव पड़ा। इन परिस्थितियों में रुपए के अवमूल्यन पर विचार किया गया। बाद में योजना-आयोग, वित्त मन्त्रालय और अन्य विभागों के परामर्शदाताओं के साथ प्रश्न के आर्थिक पहलुओं पर गम्भीरता से विचार किया गया। सरकार ने भी इस बात का अनुभव किया कि पटसन, चाय, सूती कपड़ा, कच्चा लोहा, मैंगनीज आदि जिन वस्तुओं का भारत से निर्यात किया जाता है, उनके परिमाण में बहुत ज्यादा वृद्धि सम्भव नहीं है। इस पृष्ठभूमि में अन्य मन्त्रियों ने भी अवमूल्यन के प्रश्न पर विचार किया और मन्त्रिमण्डल ने इसके पक्ष में निर्णय किया गया।"

अवमूल्यन से की गई आशायें—

(१) इससे निर्यात को भारी प्रोत्साहन मिलेगा और हमारा माल न केवल सस्ता हो जायगा, बल्कि लोग निर्यात उद्योगों में रुपया भी लगायेंगे।

(२) यह भी आशा की गई कि आयातित चीजों का रुपए में मूल्य बढ़ जाने से ऐसी चीजों को देश में बनाने की प्रवृत्ति पैदा होगी जो अब तक बाहर से मँगाई जा रही हैं। खेती के बारे में भी यही बात है। इस प्रकार इससे स्वावलम्बन में सहायता मिलेगी।

(३) नई विनिमय दर से आयात-निर्यात पर ही प्रभाव नहीं पड़ेगा, वरन् देश से बाहर जाने वाले और बाहर से देश को आने वाले भुगतान पर भी असर पड़ेगा। इससे भारत में धन भेजने को प्रोत्साहन मिलेगा और भारत से बाहर धन भेजने पर कुछ रोक लगेगी। अब बाहर से धन लगाने वालों के मुनाफे के रूप में होने वाले विदेशी मुद्रा का छीजन कम हो जायगा।

(४) रुपए की क्रय शक्ति में कमी होने के कारण बहुत-सी बुराइयाँ भी पैदा हो गई हैं। रुपए के पुराने विनिमय मूल्य के कारण निर्यातकर्त्ता अपने माल का दाम कम लगाते थे और आयात करने वाले बढ़ा चढ़ाकर दाम लगाते थे। यात्रियों की हुण्डियाँ बैंकों से न भुनाकर अवैध रूप से भुनाई जाती थी, जिससे ज्यादा दाम मिलते थे। बाहर में भुगतान अवैध तरीकों से होना था और सोना, घड़ियाँ, कैमरे ट्राँजिस्टर आदि चीजें बढ़ती हुई मात्रा में देश में चोरी से लाई जा रही थी। वैध तरीके से जो आयात होता था उसमें भी लोग गहरा मुनाफा कमा रहे थे और यह कमाई छिपाकर रखी जा रही है। नए विनिमय दर के कारण से सब कार्यवाहियाँ अब उतनी लाभप्रद न रहेंगी। अतः अवैध तरीकों से हमारी जो विदेशी मुद्रा जा रही थी, वह बच जायेगी, और हमारा विदेशी मुद्रा कोष बढ़ेगा।

(५) अवमूल्यन के कारण विदेशी मुद्रा के रूप में न तो ऋण की कुल

रकम में और न इसकी वार्षिक अदायगी की राशि में कोई वृद्धि होगी। परन्तु रुपए के रूप मे अवश्य ऋण की अदायगी का बोझ बढ जायगा। यही नहीं सरकारी आयात का और दूसरे विदेशी खर्च का भी परिणाम रुपए के रूप मे बढ जायेगा।

(६) अवमूल्यन से हमारे बजट को भी कई प्रकार से लाभ होगा। उदाहरण के रूप मे निर्यात शुल्कों मे हम काफी आमदनी होगी। इसी तरह से विदेशी सहायता के रुपए का मूल्य बढ जायगा।

(७) कुछ आवश्यक चीजों के दामों में वृद्धि नहीं होनी चाहिए इसलिए यह प्रबन्ध किया गया कि अनाज, उर्वरक, किरोसीन (मिट्टी के तेल) और डीजल तेल का दाम बढने न पाए। जो विद्यार्थी विदेशों म पढ रहे है उनको ही कम ब्याज पर ही ऋण दिलाने का आश्वासन दिया गया।

पैदावार को बढाकर ही दामों म स्थिरता लाई जा सकती है। हमारी तीनों योजनाओं के अन्तर्गत जो कारखाने खुले है उनमे से अधिकांश बाहर से आने वाले कच्चे माल और कल-पुर्जों की कमी के कारण पूरी क्षमता के उत्पादन नहीं कर पा रहे थे, जिस कारण उत्पादन बढने म बाधा पडती थी। अत बाहर से ज्यादा कच्चा माल और पुर्जे मँगाने की कोशिश की गई। इसके लिए आयात का तरीका सरल किया गया। किरोसीन (मिट्टी के तेल) नारियल की गिरी और कपास का आयात बढाया गया।

रुपये के अवमूल्यन पर प्रतिक्रियाये

वित्त मन्त्री और योजना मन्त्री के बार-बार इस आश्वासन के बावजूद कि रुपए का अवमूल्यन नही किया जायगा, सरकार ने रुपए का ३६.५ प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया, जो व्यवहार म लगभग ५७ प्रतिशत है। आमतौर से यह ख्याल था कि भारत सरकार आम चुनाव से पूर्व यह कदम नहीं उठायेगी, इसलिए औद्योगिक क्षेत्रों मे निर्णय पर भारी आश्चर्य व्यक्त किया। अधिकांश उद्योगपतियों ने सरकार के इस कदम को औद्योगिक विकास म बाधक बताया। प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार थीं —(१) यह कदम सरकार के उन आश्वासनों के विपरीत था जो उसने लोक सभा मे दिये थे। अवमूल्यन के नाम पर जो लाभ प्राप्त होने के दावे किये जा रहे हैं वे गलत साबित होंगे। (२) देश के अन्दर और बाहर प्रतिकूल प्रभावों के अलावा रुपये के अवमूल्यन मे जनता का विश्वास सरकार में कम हो जायगा क्योंकि सरकार कसम खा-खा कर यह कह रही थी कि वह रुपए का अवमूल्यन नहीं करेगी। इससे विदेशों मे हमारा दायित्व बढ जायगा। इसका सामाजिक प्रभाव भी होगा—खासकर जनता का मनोबल गिरेगा। (३) इस कार्यवाही से औद्योकरण में विलम्ब होगा। आयात किये गये सामान की कीमत काफी बढ जायगी। आन्तरिक मूल्य स्तर भी इससे बढ सकता है। (४) यह कार्यवाही "अनावश्यक" है। वित्त, तथा योजना मन्त्रियों ने हाल मे संसद मे वचन दिया गया था कि रुपए का अवमूल्यन नही किया जायगा। इससे रुपए की प्रतिष्ठा नही बढ़ेगी।

(५) अवमूल्यन से अधिकांश जनता बुरी तरह प्रभावित होगी—मुद्रा स्फाति और बढ़ेगी और रुपए का मूल्य ज्यादा घट जायगा। (६) सरकार एक ओर विदेशी दबावों और दूसरी ओर निहित स्वार्थों के आगे झुकी है। यह संदिग्ध है अवमूल्यन से निर्यात में पर्याप्त वृद्धि होगी। आयात की लागत बढ़ जायगी और मुद्रा स्फीति में वृद्धि होगी। विदेशी ऋणों का बोझ भी बढ़ जायगा।

विदेशी व्यापार पर अवमूल्यन का प्रभाव

(मूल्य लोच के सन्दर्भ में)

अवमूल्यन के पक्ष में एक प्रमुख तर्क यह है कि इसका सहारा भुगतान सन्तुलन की स्थिति में सुधार लाने के लिये निर्यात व्यापार को बढ़ावा देने और आयात वस्तुओं की माग कम रखने हेतु लिया जाता है। इस तर्क का औचित्य अन्य बातों के अतिरिक्त आयात और निर्यात वस्तुओं की माग की मूल्य लोच पर निर्भर करता है अर्थात् इन वस्तुओं के मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन के फलस्वरूप माग किस प्रतिशत में घटती बढ़ती है। १९५० ५१ से १९६५ ६६ तक १६ वर्ष की अवधि में भारत का व्यापार राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में १० और १७ के बीच रहा। १९५१ ५२ में यह प्रतिशत सबसे ज्यादा था। १९५८ ५९ से १९६० ६४ तक यह प्रतिशत लगातार १२ रहा। १६ वर्षों में इन प्रतिशतों का औसत १३ था।

आयात-वस्तुओं के मूल्य की लोच —

१९५५ ५६ में आयात की प्रति इकाई के मूल्य का सूचकांक निम्नतम अर्थात् ८४ था लेकिन इस वर्ष के आयात व्यापार के परिमाण का सूचकांक उच्चतम नहीं था। आयात व्यापार के परिमाण का सूचकांक १९६३ ६४ में उच्चतम था जबकि इस वर्ष आयात की प्रति इकाई के मूल्य का सूचकांक ९८ था। आयात का प्रति इकाई के मूल्य का सूचकांक १९५८ ५९ में सबसे ज्यादा अर्थात् १०४ था। इस प्रकार उच्चतम और निम्नतम सूचकांक के बीच अन्तर २० था। आयात व्यापार के परिमाण के उच्चतम सूचकांक और निम्नतम सूचकांक में अन्तर ११६ का था अर्थात् यह सूचकांक २१२ और ९० के बीच रहा। इससे स्पष्ट होता है कि आयात के परिमाण में तेजी से घटा बढ़ी हो रही थी लेकिन आयात की प्रति इकाई के मूल्य के सूचकांक में घटा बढ़ी सीमित रूप में हुई। सम्पूर्ण स्थिति की जाच के लिये प्रति इकाई मूल्य के सूचकांक और आयात निर्यात वस्तुओं के परिमाण के सूचकांक का सह सम्बन्ध निकाला गया। सह सम्बन्ध का गुणक +० २ आया। सह-सम्बन्ध का गुणक धन (+) में होना इस बात का संकेत है कि प्रति इकाई मूल्य में वृद्धि होने पर आयात के परिमाण या मात्रा में भी वृद्धि हुई और प्रति इकाई मूल्य कम होने पर आयात की मात्रा भी कम हुई। लेकिन सह सम्बन्ध का गुणक ० २ ज्यादा नहीं। इसलिये ऊँची कीमत पर भी आयात पर निर्भरता बहुत ज्यादा नहीं है। अर्थशास्त्रियों की भाषा में यह कहा जा सकता है कि आयात वस्तुओं की माग यहा लोचहीन है। अतः अवमूल्यन के फलस्वरूप आयात-वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाने से भारतीय आयात में ज्यादा कमी नहीं हो सकती।

निर्यात-वस्तुओं की मूल्य-लोच—

१९५५-५६ में निर्यात की प्रति इकाई का सूचकांक ९० था जो न्यूनतम है। इसी वर्ष में निर्यात के परिमाण का सूचकांक ११५ था। १९६४-६५ में निर्यात के परिमाण का अधिकतम सूचकांक १३४ था जब कि इस वर्ष निर्यात की प्रति इकाई मूल्य का सूचकांक १०७ था। प्रति इकाई मूल्य का निम्नतम सूचकांक १९५५-५६ में ९० और १९५१-५२ में अधिकतम अर्थात् १८२ था। इन दोनों के बीच अन्तर ४२ था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निर्यात का परिमाण प्रति इकाई मूल्य की तुलना में ज्यादा परिवर्तनशील रहा। निर्यात के परिमाण के सूचकांक और प्रति इकाई मूल्य के सूचकांक के बीच सह-सम्बन्ध का गुणक —० ९ निकाला गया। सहसम्बन्ध का गुणक (—) ऋण में होने का मतलब है कि प्रति इकाई मूल्य में वृद्धि के फलस्वरूप भारत के निर्यात का परिमाण कम हो जाता है और प्रति इकाई मूल्य कम हो जाने पर निर्यात का परिमाण बढ़ जाने की सम्भावना रहती है। अर्थशास्त्रियों की भाषा में कहा जा सकता है कि भारत का निर्यात पर्याप्त रूप में मूल्यलोचशील नहीं है।

निर्यात बढ़ाने की आशा पूरी नहीं हुई

सरकारी क्षेत्रों में यह आशा की गई थी कि इस अवमूल्यन के पश्चात् निर्यात व्यापार में वृद्धि होगी यद्यपि वैसी आशा निर्माताओं और निर्यातकों ने नहीं की थी। रुपये के अवमूल्यन के हमारे निर्यातों की मात्रा (volume), रचना (Composition) एवं इनके व्यापार की दिशा (Direction) पर जो प्रभाव हुए हैं उनकी समीक्षा नीचे की गई है।

निर्यात व्यापार के परिमाण पर प्रभाव—

अवमूल्यन ने भारत के निर्यात व्यापार को बहुत ठेस पहुँचाई। यह जून १९६६ से मई १९६७ तक के आँकड़ों से स्पष्ट है। निर्यात-आय तृतीय योजना के तीसरे वर्ष में बढ़नी प्रारम्भ हुई थी और १९६३-६४ में १,६६६ मि० डालर से बढ़कर १९६४-६५ में १,७१५ मि० डालर हो गई। १९६५-६६ में विगत वर्ष की राशि के बराबर (लगभग १६९३ मि० डालर) रही। किन्तु १९६६-६७ के पहले दो महीनों को छोड़कर निर्यात आय घटती गई। यह १९६५-६६ में १,६९३ मि० डालर से घटकर १९६६-६७ १ ५५३ मि० डालर रह गई अर्थात् उसमें ८·३% कमी हुई। मार्च १९६७ के बाद भी निर्यात आय की कम होने की प्रवृत्ति जारी रही।

अब प्रश्न यह है कि हमारे निर्यातों में गिरावट क्यों आई ? सैद्धान्तिक दृष्टि से तो अवमूल्यन के फलस्वरूप इनमें वृद्धि होनी चाहिए थी। गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण करने पर निर्यातों की गिरावट के लिए निम्न कारण उत्तरदायी प्रतीत होते हैं —(१) सबसे बड़ा कारण सम्भवत यह रहा कि सभी निर्यात प्रोत्साहन योजनायें समाप्त कर दी गई तथा परम्परागत निर्यात वस्तुओं पर पर्याप्त निर्यात कर लगा दिये गये। इससे निर्यात व्यापार को धक्का लगा तथा कुछ महीनों तक

तो वह यथावत् रह गय। । जहाँ तक हमारी विदेशी मुद्रा की कमाई को सुरक्षित रखने के उद्देश्य का सम्बन्ध है निर्यात कर लगाना ठीक ही था। यह भी सच है कि बाद को सरकार ने कुछ नगद सहायता भी घोषित की लेकिन वह अपर्याप्त थी। (२) साथ ही विभिन्न उद्योगो म जो कि आयातित कच्चे मालो का उपयोग करती है (जैसे—सूती वस्त्र जूट के कारखान कैमीकल्स, इन्जीनियरिंग सुदूम आदि), उत्पादन-लागतें बढ़ गई, क्योकि इनके आयात बिला का मूल्य रुपयो म ५७ ५% बढ़ गया। (३) खराब कृषि फसलें (जिन्होंने कृषि-उत्पादन पर आधारित उद्योग को कुप्रभावित किया) मुद्रा, स्फीति का जारी रहना स्वदेशी माँग का बढ़ते रहना, रुपया भुगतान समझौते वाले देशो मे व्यापार अस्त- व्यस्त हो जाना य कुछ अन्य कारण थे जो कि अवमूल्यन के बाद की अवधि म निर्यातों मे कमी के लिए दायी रहे।

रचना (Composition) की दृष्टि से प्रभाव—

सन् १९६६-६७ मे हमारी अधिकांश निर्यात आय (लगभग ४१ ९%) तीन प्रमुख परम्परागत वस्तुओ जूट (२१ ५%), चाय (१३ ८%) और सूती माल (६·६%) से हुई। किन्तु इन तीनो पर अवमूल्यन का बुरा प्रभाव पडा। इनसे निर्यात आय १९६६-६७ मे १९६५-६६ की तुलना म क्रमश १५ ५%, १३·६% और ३६ १% कम हो गई। अन्य वस्तुएँ जिनका निर्यात कुप्रभावित हुआ निम्न हैं — तम्बाकू, कहवा नारियल जटा उत्पाद धातु निर्मित माल, मैंगनीज खनिज और अभ्रक। इस निराशापूर्ण चित्र का एक उज्वल पहलू यह था कि कुछ वस्तुओं के निर्यात मे वृद्धि हुई, जैसे—चमडा व खालें, लोह खनिज, खली, पशु पदार्थ एवं वनस्पति, कहवा, जूते आदि, जूट के रेशे, फल व सब्जियां। अवमूल्यन से सुप्रभावित होने वाली इन वस्तुओ का हमारी कुल निर्यात आय मे भाग २२% है। स्पष्टत कुल पर निर्यात-आय मे कमी हुई।

क्षेत्रीय वितरण की दृष्टि से—

(१) विश्व के अनेक देशो को भारतीय वस्तुएँ निर्यात होती हैं, किन्तु १९६६-६७ मे केवल चार देशो का भाग ही हमारे कुल निर्यात मे ५०% से भी अधिक था। ये देश निम्न हैं —अमेरिका जिसने यू० के० को हमारे सबसे बडे ग्राहक के पद से हटा दिया है १८ ८%, यू० के० १७ ४%, रूस १०·७% और जापान ९ २%। (२) हाल के वर्षो मे पूर्वी यूरोप के देशो से भारत के व्यापार मे वृद्धि होना एक उल्लेखनीय घटना है। रूस को छोडते हुए पूर्वी यूरोप के देशो का भाग ८·८% और रूस सहित पूर्व यूरोपियन गुट का भाग १९ ५% है। (३) लक्समबर्ग को छोडते हुए यूरोपियन साझा बाजार के देशो का भाग ७ ६% है। लक्समबर्ग को हमारा निर्यात नगण्य है। (४) इकेफी क्षेत्र मे जापान भारत का सबसे प्रमुख व्यापारिक साझेदार है। उसका भाग हमारे कुल निर्यात म ९ २% है। अन्य इकेफी देशो म आस्ट्रेलिया, नेपाल और लका प्रमुख है। (५) अन्य एशियाई देशो

(अर्थात् इकेफी देशों के अतिरिक्त) को हमारे निर्यात मामूली हैं। इनमें प्रमुख भाग कुवैत (०.७%) और ईरान (०.५%) का है। (६) अफ्रीका ग्रुप में स० अ० गणराज्य हमारा सबसे बड़ा ग्राहक है। उसका भाग हमारे कुल निर्यातों में २.१% है। (७) लेटिन अमेरिका के विकासी-मुल्क देशों को हमारे निर्यात बाजार में अभी कोई महत्त्व नहीं मिला। १९६८ में प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की लेटिन अमेरिका के देशों की यात्रा से इनके साथ हमारे व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने की आशा है।

अवमूल्यन के बाद हमारे निर्यात अधिकांश बाजारों में (जिनमें हमारे बड़े बाजार-देश जैसे अमेरिका, ब्रिटेन प० जर्मनी, आस्ट्रेलिया भी सम्मिलित हैं) घट गये हैं। रूस प० जर्मनी पौलैण्ड और संयुक्त अरब गणराज्य जैसे देशों के साथ भी, जिनसे हमारे रुपये-भुगतान समझौते थे, हमारे निर्यात कम हो गये। लेटिन अमेरिकी देशों को नगण्य निर्यातों में भी २०% कमी हो गई। हाँ, जापान चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, फ्रान्स इटली, बेल्जियम, ईराक सूडान और केन्या को निर्यात बढ़े। किन्तु इन अपवाद मूलक देशों का भाग हमारे कुल निर्यात में केवल २०% ही है, जिस कारण निर्यात कुल पर घटे ही है।

आयात व्यापार पर अवमूल्यन के प्रभाव

रुपए के अवमूल्यन से आयात वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाना स्वाभाविक है। भारत में आयात-वस्तुओं को आवश्यकताएं बहुत तेजी से बढ़ रही है। फलत हमें अपनी विदेशी मुद्रा के सुरक्षित कोष से काफी धनराशि निकालनी पड़ी है और बृहत स्तर पर इन आयातों के लिए विदेशी सहायता भी लेनी पड़ी है। हमारे आयात की एक विशेषता यह है कि भारत की बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इनकी न्यूनतम आवश्यकता है। आयात व्यापार पर १९५७ के बाद से जो नियन्त्रण लगाए गये हैं उनसे हम केवल अनिवार्य वस्तुओं का ही आयात करने की स्थिति में है जो योजनाओं के अन्तर्गत रखे गये कार्यक्रमों को पूरा करने के लिये अति आवश्यक हैं। इस प्रकार अवमूल्यन से आयात का मूल्य कम होने की सम्भावना नहीं हैं। यदि हम अपने वर्तमान उद्योगों को पूरी उत्पादन-क्षमता का उपयोग करने के लिए काम करने दें, नए उद्योगों का, जिन्हें हम यहाँ स्थापित करना चाहते है तो हमें अधिक मात्रा में कच्चा माल और पुर्जे आयात करने की व्यवस्था करनी होगी। आयात की लागत में वृद्धि हो जाने से कुछ अनिवार्य वस्तुओं के लागत-मूल्य ढाँचे पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। आयात वस्तुओं की लोचहीन माँग की स्थिति में अवमूल्यन से आयातित वस्तुओं के स्थान पर देश में वस्तुएँ तैयार करने की प्रक्रिया को भी बल नहीं मिल सका। इस प्रकार इतने थोड़े समय में रुपए के अवमूल्यन भुगतान सन्तुलन की कमी को पूरा करने के लिए एक प्रभावकारी उपाय नहीं हो सका।

दूसरी बार अवमूल्यन करने की भूमिका

इन बातों को दृष्टि में रखकर यह आसानी से कहा जा सकता है कि रुपए

के अवमूल्यन से भुगतान सन्तुलन की स्थिति में समता लाना सम्भव नही है। हमारे सामने ऐसे तथ्य भी अनेक हैं, जिनसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि निर्यात-व्यापार बढाने की दिशा मे भी उत्साहवर्धक प्रगति नही हुई है। यदि सरकार ने रुपये के अवमूल्यन के पश्चात् जल्द निर्णय लिये होते तो अनिश्चितता की जो स्थिति पैदा हुई उससे बचा जा सकता था। रुपये के अवमूल्यन के बाद घोषित निर्यात मे जो अवमूल्यन के दस सप्ताह पश्चात् लागू की गई, निर्यात-व्यापारियो को निर्यात सहायता देना, विशेषतया इंजीनियरी वस्तुओ के निर्माताओ को सहायता देना शामिल था, जिससे कि वे निर्यात करने की क्षमता बढा सकें और दूसरे देशो की होड का मुकाबला कर सकें। कुल मिलाकर बहुत कुछ सफलता रुपये के अवमूल्यन क पश्चात् सरकार निर्माता और व्यापारियो द्वारा उठाए गए कदमो पर निर्भर थी। यदि आर्थिक नीतियाँ बिना सोचे-समझे अपनाई जाती रहें तो यह अवमूल्यन दूसरी बार अवमूल्यन करने की भूमिका सिद्ध होगी। इसलिये लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए रुपए के अवमूल्यन के बाद आवश्यक उपायो की योजना बनायी जानी चाहिए।

उपयुक्त कार्यवाही की आवश्यकता—

(१) आयात प्रतिस्थापन के स्थान पर निर्यात-व्यापार को बढावा देन के उपायो को सर्वोच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए। पिछले दस वर्षो मे हम केवल ४ प्रतिशत वार्षिक दर से निर्यात व्यापार मे वृद्धि लाने मे सफल हुए। निर्यात-व्यापार मे वृद्धि आगामी पाच वर्षो मे दस प्रतिशत वार्षिक दर से लानी होगी। रुपये के अवमूल्यन से व्यापार के वर्तमान पेटर्न मे विविधता लाने के लिए देश को एक अवसर मिला है।

(२) अल्पकाल मे निर्यात-वस्तुएँ अपने देश मे कम उपयोग होने देने के लिए कुछ सयम बरतने की आवश्यकता है। किन्तु दीर्घकाल मे इस बात का ध्यान रखना होगा कि निर्यात-वस्तुओं का उत्पादन समुचित मात्रा मे बढ सके। सरकार को प्रमुख उत्पादन की सप्लाई निर्यात-वस्तुओ के उद्योगो के लिए प्राथमिकता के आधार पर उपलब्ध करनी होगी।

(३) यदि नयी निर्मित वस्तुओ के निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाना है तो निर्यात व्यापार को सहायता देने के कार्यक्रम ज्यादा उद्योगो के लिये लागू किये जाने चाहिए। निर्यात-व्यापार बढाने के उपाय, जैसे कि पाकिस्तान मे काम मे लाये जा रहे है, यहाँ भी काम मे लाये जाने चाहिए। इन उपायो मे निर्यात-व्यापार पर बोनस देने की स्कीम, आय के अनुसार भुगतान करने की स्कीम शामिल है। कुछ निर्यात-वस्तुओ के उद्योगो मे यहाँ भी ये लागू की जा सकती हैं।

(४) इसके अतिरिक्त राज्य व्यापार निगम का कारोबार, जिसका उद्देश्य व्यापार के नये मार्ग खोलना है, बढाना होगा।

(५) रुपये के अवमूल्यन को अन्ततोगत्वा सफल बनाने के लिए मुद्रा-विस्फीतिकारी नीति अपनाने की आवश्यकता है।

उपसंहार—

भारतीय रुपया मुद्रा के अवमूल्यन के बाद भारत के निर्यात में गिरावट की जो प्रवृत्ति चली आ रही थी वह १९६८ का वर्ष मार्च में मई की तिमाही में खत्म हो गई और अप्रैल मई में गत वर्ष इसी काल की तुलना में निर्यात ८ प्रतिशत अधिक हुआ। अधिकारियों का कहना है कि इस वर्ष वर्षा सामान्य होने में निर्यात-वृद्धि की इस प्रवृत्ति के और जोर पकड़ने की आशा है। आयात की आवश्यकताओं और भुगतान की जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए निर्यात को काफी बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न .

१ भारतीय रुपये का अवमूल्यन (१९६६) क्यों किया गया? इससे क्या आशायें लगाई गई थी?

[Discuss the effects of the recent devaluation of the Indian Rupee on India's Economy] (आगरा एम० ए०, १९६९)

२ भारतीय रुपये के अवमूल्यन का हमारे विदेशी व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ा है?

[Examine the effect of evaluation on India's foreign trade] (गोरख०, एम० ए०, १९६८)

३ जून १९६६ में हुये भारत रुपये के अवमूल्यन के निम्न पर प्रभाव की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए

(अ) देश का निर्यात-व्यापार,

(आ) आयात प्रतिस्थापन, एवं

(इ) भारतीय जनता की आर्थिक समृद्धि।

[Critically discuss the effect of devaluation of the Indian rupee in June 1966 on (a) the country's exports, (b) the progress of import substitution in India and (c) the economic prosperity of the Indian people in general] (इलाहा० एम० ए० १९६८)

———

४१

पौंड का अवमूल्यन और भारत

(Devaluation of Sterling and India)

प्रारम्भिक—

ब्रिटन ने पौण्ड स्टर्लिङ्ग (अर्थात्) १९६७ म पौण्ड मुद्रा का एक बार और अवमूल्यन करके विश्व-मुद्रा बाजार म एक विचित्र-सी स्थिति पैदा कर दी। बीसवी शताब्दी मे ब्रिटेन द्वारा अपनी मुद्रा का यह तीसरा अवमूल्यन है—प्रथम बार १९३० मे (जबकि उसने स्वर्णमान को त्यागा था) दूसरी बार १९४९ मे और अब तीसरी बार १९६७ मे। इस नये १४ ३% अवमूल्यन से एक पौण्ड का मूल्य केवल २ ४० डालर के बराबर निश्चित किया गया है, अर्थात अब अमरीकी डालर की तुलना म एक पौण्ड स्टर्लिङ्ग की कीमत २ ८० डालर के स्थान पर २ ४० डालर के बराबर हो गई है। भारतीय मुद्रा के सन्दर्भ म भी एक पौण्ड की कीमत, जो भारतीय मुद्रा के अवमूल्यन से २१ रुपये के बराबर हो गई थी, अब घट कर १८ रुपये के बराबर रह गई है, अर्थात् हमारे रुपए का मूल्य एक पौण्ड स्टर्लिंग की तुलना मे तीन रुपए बढ गया है।

पौंड के अवमूल्यन की पृष्ठिभूमि[1]

दूसरे महायुद्ध के बाद से पौण्ड पर दबाव तीव्र गति से बढने लगा, जिसे १९४९ मे थोडा ठीक किया गया था। इङ्गलैंड अपनी देनदारियो और दायित्वो की पूर्ति करने मे तभी से असमर्थ होता जा रहा था। उसके डालर कोप मे कमी आती जा रही थी। दूसरी तरफ, उसका निर्यात घटता जा रहा था और आयात बढता जा रहा था। इस कारण उसकी भुगतान तुला विपरीत होती जा रही थी और घाटा बढता जा रहा था। इस बीच दूसरे महायुद्ध मे यूरोप के ध्वस्त देशो की अर्थ-व्यवस्था का विकास तीव्रता के साथ होने लगा था। फलत उनका खोया हुआ व्यापार उनको पुन प्राप्त होने लगा था। इसका दबाव इङ्गलैंड पर पडा और उसके 'विनिमय समता कोप' पर बोझ बढता चला गया। इङ्गलैंड को पौण्ड की विनिमय दर बनाये रखने मे कठिनाई होने लगी। किन्तु इङ्गलैंड की महत्ता को बनाए

---

1 पौंड और रुपया योजना १० मार्च १९६८।

रखने के लिए अमेरिका उसकी सहायता करता रहा, जिससे वह इतने समय तक पौण्ड की विनिमय दर को बनाए रखने म सफल हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और कुछ यूरोपीय देशो और सस्थाओ ने भी उसकी सहायता की। अमेरिका यह जानता था कि यदि इङ्गलैंड की मुद्रा का अवमूल्यन होगा, तो डालर की भी बारी आ जायेगी।

१९४९ मे पूर्व इङ्गलैंड की मुद्रा का मूल्य अधिक था। उस समय तक पौंड ४०३ डालर के बराबर था। यह कृत्रिम दर थी, जिसको इङ्गलैंड जबरदस्ती बनाये हुए था। इससे उसको हानि हो रही थी क्योंकि निर्यात की अपेक्षा आयात वृद्धि होने लगी थी। अत १९४९ मे इङ्गलैंड ने अवमूल्यन करके एक पौंड को २८० डालर के बराबर कर दिया था। इस प्रकार, डालर के सम्बन्ध मे पौंड की कीमत ३०५ प्रतिशत कम हो गई थी। इतना ही भारतीय मुद्रा का भी अवमूल्यन किया गया था परन्तु उस समय भारत की अपेक्षा इङ्गलैंड को अधिक लाभ हुआ था। भारत को लाभ अवमूल्यन से नही, वरन् कोरिया के युद्ध के कारण अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म अभूतपूर्व विकास होने से हुआ था। फिर भी, भारतीय अर्थव्यवस्था इङ्गलैंड की अर्थव्यवस्था पर बहुत कुछ निर्भर रह गई। अन्य देशो की वस्तुओं की अपेक्षा इङ्गलैंड की वस्तुओ को प्राथमिकता मिल रही थी, पर भारत को अपनी योजना की सफलता के लिए भिन्न प्रकार का आयात करना था। अमेरिकी आयात मँहगा हो गया। भारत के निर्यात म वृद्धि तो हुई नही, आयात मे ही वृद्धि होने लग गई। फलत भुगतान तुला ऋणात्मक होने लग गई और निर्यात के कम होने के कारण विदेशी बाजार मे रुपये की माँग गिरने लग गई। परन्तु रुपये की पूर्ति बढती जा रही थी जिस पर आर्थिक शक्तियो का प्रभाव पड रहा था और रुपये के मूल्य का आर्थिक शक्तियो के कारण ह्रास होता जा रहा था। रुपये के विनिमय मूल्य मे कमी हो रही थी। इस परिस्थिति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दबावो के कारण ५ जून, १९६६ को भारत ने रुपय का अवमूल्यन कर दिया।

जिस समय भारत ने रुपये का अवमूल्यन किया, तब इगलैंड मे भी अवमूल्यन के लिए शोर मचा था, परन्तु राजनीतिक कारणो से वह टाला जाता रहा। इङ्गलैंड मे भुगतान सन्तुलन विपक्ष मे होता जा रहा था और उसे बनाए रखने के लिए इङ्गलैंड को अपने स्वर्ण कोष का भारी मात्रा मे उपयोग करना पड रहा था। विदेशी विनिमय कोष की मात्रा गिरती जा रही थी, किन्तु व्यापारिक घाटा और स्टलिंग पर दबाव बढता जा रहा था। लाभ-प्राप्ति के लिए वहाँ सट्टे की प्रवृत्ति बढ रही थी, जिस कारण आतक का वातावरण उत्पन्न हो गया था। अपनी अवस्था को ठीक करने के लिये इगलैंड ने अवमूल्यन के पहले 'मुद्रा सकुचन' की नीति का उपयोग किया और आय और मजदूरी को यथावत रखने का प्रयत्न भी किया। उसने बैंक की दर भी बढानी आरम्भ की। मजदूरी और आय तथा लागत और कीमतो के सम्बन्ध मे भी अपेक्षित नीति अपनाई गई। इन सब कार्यों के पश्चात् भी अर्थ

व्यवस्था के साम्य को बनाये रखने मे कठिनाई हो रही थी। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे स्टर्लिङ्ग की माँग गिर गई थी परन्तु उसकी पूर्ति बढती जा रही थी, जिसको 'विनिमय-समता कोष' भी ठीक नही कर पा रहा था। इससे यह ज्ञात होता था कि इङ्गलैंड की मुद्रा का मूल्य डालर की अपेक्षा अधिक था। जब इङ्गलैंड को अपनी अवस्था ठीक करने के लिए अधिक सहायता नही मिली, तो उसने १६ दिसम्बर १९६७ को पौंड का अवमूल्यन कर दिया। जिस प्रकार जून १९६६ मे रुपये के अवमूल्यन से भारत मे कठोर और राजनैतिक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई थी और कॉंग्रेस म मतभेद हो गया था, उसी प्रकार पौंड के अवमूल्यन से इङ्गलैंड की मजदूर सरकार मे मतभेद पैदा हो गये। सिंगापुर मे तो अवमूल्यन के कारण उपद्रव हुआ और डेन्मार्क की सरकार अवमूल्यन के प्रश्न पर भग हो गई। परन्तु इङ्गलैंड की सरकार गिरने गिरते बची।

पौंड का अवमूल्यन क्यो ?

(१) जब किसी देश का भुगतान सन्तुलन अन्य देशो के साथ निरन्तर प्रतिकूल दिशा की ओर बना रहता है, तो उसे समुन्नत करने के लिए 'मौद्रिक अव-मूल्यन' अन्तिम उपाय के रूप मे ही अपनाया जाता है। हाल ही के पौंड के अव-मूल्यन से स्पष्ट है कि इङ्गलैंड की अर्थव्यवस्था मे काफी समय से असन्तुलन चला आ रहा है। यद्यपि इस भुगतान-असन्तुलन मे इङ्गलैंड बन्दरगाह की हडताल, जिसमे इङ्गलैंड को १,०७० लाख डालर की क्षति उठानी पडी, पौण्ड के अवमूल्यन के महत्त्वपूर्ण कारणो मे से एक है। परन्तु इसमे सन्देह नही कि गत १६ महीनो मे यथासम्भव प्रयत्न करने के बावजूद भुगतान-असन्तुलन बना रहा।

(२) विश्व मे विज्ञान एव तकनीकी ज्ञान के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ विश्व मण्डियो मे ब्रिटेन द्वारा निर्यात किए जाने वाले सामान की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता काफी हद तक घट गई है जबकि दूसरी ओर साझा बाजार के सदस्य देशो ने अपने क्षेत्र मे ही व्यापार-वृद्धि का निश्चय करके इङ्गलैंड के निर्यात को काफी धक्का पहुँचाया है। कुछ वर्ष पूर्व तक भारत जैसे विकासशील देश औद्योगिक मशीनो और रासायनिक पदार्थों के लिए मुख्यत इङ्गलैंड के आयात पर निर्भर करते थे। लेकिन आज बहुत-से विकासशील देश इस स्थिति मे पहुँच गये है कि राष्ट्रीय आवश्यकताओ की पूर्ति के साथ-साथ उन्होने विदेशी मण्डियो मे भी महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। अत यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि इङ्गलैंड द्वारा अधिकाधिक विदेशी ऋण प्राप्त करने और घरेलू कार्यो मे यथाशक्ति मौद्रिक सकुचन करने के बावजूद वह विश्व के बाजारो मे अपनी प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता बनाए रखने मे असमर्थ रहा है।

(३) पौंड का अवमूल्यन साझा बाजार की सदस्यता सुलभ बनाने के लिए भी ब्रिटेन द्वारा किया गया है। इसकी आवश्यकता वह निम्न कारणो से अधिकाधिक महसूस करता रहा है —(i) इङ्गलैंड के आर्थिक एव राजनैतिक जीवन पर अमरीका का प्रभाव बढता जा रहा है, फलस्वरूप इंगलैंड के उद्योगों का गला घुटने लगा है। इस समस्या के समाधान के लिए इगलैंड के पास एक ही विकल्प है

कि वह यूरोपीय साझा बाजार की सदस्यता ग्रहण करे। इसके फलस्वरूप कच्चा माल एवं सस्ते श्रमिक उपलब्ध होने से बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव होगा जिसमें अपेक्षाकृत सस्ती वस्तुएं निर्मित होंगी और इंगलैंड अमेरिका के शोषण से मुक्ति पा सकेगा। (ii) इंगलैंड के आविष्कारकों एवं तकनीकों के लिए भी अमेरिका और रूस आकर्षण के केन्द्र बने हुए हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति निर्यातक देश के लिए हानिकारक है। यूरोपीय साझा बाजार की सदस्यता से इंगलैंड के तकनीकियों के केन्द्र-बिन्दु यूरोपीय साझा बाजार के राष्ट्र ही होंगे जिससे इंगलैंड का विकास हो सकेगा। (iii) साझा बाजार की सदस्यता स्वीकार न करने से इंगलैंड का विदेशी व्यापार बुरी तरह प्रभावित हुआ। इस प्रकार साझा बाजार की सदस्यता इंगलैंड के लिए आत्म-रक्षा का प्रश्न बन गया है। (iv) साम्यवादी राष्ट्रों के औद्योगिक विकास और अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों पर उनके बढ़ते हुए प्रभाव से इंगलैंड में यह भय व्याप्त हो गया है कि निकट भविष्य में यहां के कारखानों को कच्चा माल मिलना कठिन हो जायेगा। इस उद्देश्य की भी पूर्ति के लिए वह सदस्यता ग्रहण करना चाहता था। (v) आज ब्रिटेन अपने को अकेला महसूस करने लगा है। इसलिए वह बाध्य होकर अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए मित्र राष्ट्रों का कोप भाजन बनने के बावजूद भी साझा बाजार की सदस्यता के लिए कटिबद्ध है। (vi) इंगलैंड की सदस्यता के कई राजनैतिक कारण भी कहे जा सकते हैं जो आर्थिक कारणों से कम महत्वपूर्ण नहीं है। आज इंगलैंड यह जानता है कि राष्ट्रकुल का क्रमशः घटता हुआ राजनैतिक प्रभाव उसके चमकते हुए सितारे पर बादल बनकर छा रहा है। इस प्रकार, यदि सदस्यता मिल जाती है तो उसका परिणाम यह होगा कि वह एशिया में अपना राजनैतिक प्रभाव बनाये रखने में सफल हो सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं पर प्रभाव

अधिकतर राष्ट्रों का सम्बन्ध पौंड स्टर्लिङ्ग से है, अतः पौंड के नये अवमूल्यन से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकी। इस समय स्टर्लिङ्ग क्षेत्र में आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका, रोडेशिया, भारत, पाकिस्तान, श्री लंका, अफ्रीका और कैरेबियन सागर के भूतपूर्व उपनिवेश अदन, जुर्दान, कुवैत, ब्रूनी, हांगकांग, मलेशिया, सिंगापुर, आइसलैंड, माल्टा, ब्रिटिश गुआना, ब्रितानी होंडुरा और आयरलैंड गणतन्त्र है, जो न केवल अपने सुरक्षित कोष में स्वर्ण और पौण्ड का संग्रह ही करते है, अपितु उसे लन्दन के वित्तीय संस्थानों में भी जमा रखते है, तथा लेनदेन का हिसाब भी पौंड में ही करते है। इस प्रकार मुद्रा के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में पौंड का बहुत महत्व है।

(१) स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन पहले भी १६४६ में ३०.३% किया गया था, उस समय स्टर्लिंग क्षेत्र के २२ सदस्यों में से १७ ने इसी अनुपात में अवमूल्यन किया था, परन्तु अब ब्रिटेन के अलावा अन्य अनेक देशों ने भी मुद्रा का अवमूल्यन किया है, जो इस प्रकार स्पष्ट है :—

आयरलैण्ड	१४.३	प्रतिशत	श्री लंका	५०	प्रतिशत
फिजी	,,	,,	हांगकांग	१४.३	,,
डेन्मार्क	,,	,,	साइप्रेस	,,	,,
इजराइयल	,,	,,	माल्टा	,,	,,
गायना	,,	,,	मालवी	,,	,,
बरमूदा	,,	,,	जेम्बिया	,,	,,
सीरिया	२० प्रतिशत		ट्रिनीडाड	,,	,,
स्पेन	१६.६ ,,		टोबागो	,,	,,
न्यूजीलैंड	१९.४ ,,				

अमरीका, कनाडा, यूरोपियन साझा बाजार के देश, स्वीडन, नार्वे, स्विटजरलैण्ड, आस्ट्रिया, ग्रीस, जापान, आस्ट्रेलिया, यू० ए० आर०, घाना, युगान्डा, टेन्जानिया, कुवेत, बरौनी, मलेशिया, सिंगापुर आदि देशों ने अपनी मुद्रा के अवमूल्यन के लिये इन्कार कर दिया। फिर भी अमरीकी डालर पर पौण्ड के अवमूल्यन की सबसे अधिक प्रतिक्रिया हुई, क्योंकि पौण्ड मुद्रा के अवमूल्यन के साथ ही अमरीका ने बैंक डिस्काउन्ट की दर बढ़ा कर साढ़े आठ प्रतिशत कर दी। इसके साथ ही सरकारी व्यय में ७०० करोड़ डालर की कटौती करने और १० प्रतिशत सरचार्ज बढ़ाने पर भी जोर दिया गया। यद्यपि अमरीका ने सोने का मूल्य ३५ सेंट प्रति औंस रखने की घोषणा की, फिर भी पौण्ड के अवमूल्यन के कारण डालर पर पड़ने वाले दबाव से अमरीकी सरकार सशंक हो उठी।

(२) स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के देश जो इंगलैण्ड में सुरक्षित कोष के रूप में विनियोग करते थे उसका मूल्य भी कम हो गया है। उस समय लगभग एक अरब डालर धन पौंड के रूप में लन्दन में जमा था, जिसकी कीमत एक ही रात में घटकर १४.३% कम हो गई। इस प्रकार, पौंड के अवमूल्यन से अनेक देशों को आर्थिक हानि हुई है।

पौंड के अवमूल्यन से ब्रिटेन पर प्रभाव

पौंड के अवमूल्यन का अर्थ है —(i) ब्रिटेन से निर्यात की जाने वाली वस्तुयें अन्य राष्ट्रों के लिए अधिक सस्ती हो जायेंगी और कारों, मशीनी औजारों व अन्य बहुत-सी वस्तुओं की बिक्री को तत्काल बढ़ावा मिलेगा। (ii) आयातित माल की कीमत बढ़ जायेगी। इससे राष्ट्र के रहन-सहन के स्तर में गिरावट आ सकती है क्योंकि ब्रिटेन का करीब आधा भोजन और इनके कच्चे माल विदेशों से प्राप्त होते हैं। (iii) लेकिन औद्योगिक ब्रिटेन के लिए निर्यात में बढ़िया व आयात में कटौती का लाभ तभी बना रह सकेगा जब वेतन-वृद्धि पर कड़ा अंकुश रखा जाय। अगर ऐसा हो सका तो व्यापार की खाई कम हो जायेगी और औद्योगिक उत्पादकता बढ़ जायेगी। (iv) लेकिन अगर दूसरे राष्ट्र भी प्रतियोगिता बनाए रखने के लिए अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर देते हैं और अगर घर

पर मूल्य-वृद्धि के फलस्वरूप वेतन-वृद्धि की माँग जोर पकड़ जाती है तो ये लाभ अपेक्षाकृत कुछ ही समय तक रहेंगे।

सरकार ने राजकीय व्यय में (मुख्यतः सैनिक व्यय में) कमी करने की घोषणा की। किश्तों में मोटर गाड़ियाँ खरीदने पर प्रतिबन्ध लगाये। बैंक दर को ८०% कर दिया जिससे विदेशी पूँजी और अल्पकालीन लाभ ढूँढने वाला विनियोजन स्थानान्तरित न हो सके, क्योंकि इससे स्टर्लिङ्ग पर भार की मात्रा बढ़ जाती मिल मालिकों तथा श्रमिकों और अन्य व्यवसायी वर्गों से अलग-अलग बातचीत की गई, जिससे अवमूल्यन से उत्पन्न खतरों से बचा जा सके। इसी के साथ उसने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से १ ४ अरब डालर के ऋण की माँग की। बैंकों को आदेश दिया गया कि वह निर्यात व्यापार के उद्योगों को ही ऋण देने में प्राथमिकता दें। यही नहीं ब्रिटिश सरकार ने कम्पनियों पर निगम कर ४०% से बढ़ाकर ४२½% कर दिया। पौंड के अवमूल्यन के साथ काम में लाये गये इन उपायों सहित अवमूल्यन का उद्देश्य दूसरे देशों की वस्तुओं के आयात को ब्रिटेन में मँहगा बना देना है जिससे कि ब्रिटेन के आयातक कम माल आयात कर सकें।

अवमूल्यन के कारण विभिन्न वर्गों के मजदूरों की क्रयशक्ति कम हुई और आयात की सभी वस्तुओं के मूल्य बढ़े। इङ्गलैंड कच्चे माल के साथ-साथ अनाज और अन्य वस्तुओं का आयात करता है। इन सबका प्रभाव लागत और कीमत पर पड़ना स्वाभाविक है। अतः लागत और कीमतों पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य हो गया। यदि कीमत तथा लागत को नियमित किया जा सका, तो व्यापार में स्थाई वृद्धि होगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि 'यदि' बहुत बड़ा प्रश्न है। यदि देखा जाय, तो इङ्गलैण्ड को १४ ३% में अधिक अवमूल्यन करना चाहिए। अब भी पौंड का मूल्य कृत्रिम है, जिसके लिए इङ्गलैण्ड को देर सबेर फिर अवमूल्यन करना होगा। अवमूल्यन बीमारी की दवा नहीं है वरन् तात्कालिक रोक ही है। इङ्गलैंड पर ऋण का भार बढ़ गया है जिससे भुगतान की समस्या अधिक बढ़ती जायेगी।

पौण्ड के अवमूल्यन से भारत के विदेशी व्यापार पर प्रभाव

यद्यपि भारत का ब्रिटेन के साथ व्यापार निरन्तर कम होता जा रहा है, तो भी भारत अभी तक ब्रिटेन को सबसे ज्यादा निर्यात करता है। १९६१-६२ से १९६५-६६ के बीच की पंचवर्षीय अवधि में भारत के कुल व्यापार में ब्रिटेन का योग १६ ७ प्रतिशत था। पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में भारत के कुल व्यापार में ब्रिटेन का योग क्रमशः २४ प्रतिशत और २३ ४ प्रतिशत था। १९६६-६७ में भारत के कुल व्यापार में ब्रिटेन का योगदान केवल ११ ५ प्रतिशत था और अप्रैल-अगस्त १९६७ में ब्रिटेन का योग केवल ११ ३ प्रतिशत रह गया।

पौण्ड के अवमूल्यन से ब्रिटेन के साथ हमारे व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। पौण्ड के अवमूल्यन के कारण भारत ब्रिटेन को कम वस्तुयें

निर्यात कर सकेगा और साथ ही ब्रिटेन की बनी वस्तुयें कम मूल्य पर उपलब्ध होने के कारण अधिक आयात करने लगेगा। क्योंकि दोनों मे निर्यात का प्रतिशत अधिक है इसलिए निर्यात के परिमाण मे थोड़ी भी कमी होने से कुल व्यापार पर प्रभाव पड़े बिना नही रहता। इससे हमारी विदेशी मुद्रा की आय भी कम होगी।

आयात पर प्रभाव—

ब्रिटेन से भारत निरन्तर कम आयात करता रहा है और १९६६-६७ के वर्ष मे भारत लगभग १,००० पौण्ड का आयात पहले से कम करने लगा। १९६५-६६ मे भारत ने ३,१५० लाख पौण्ड की वस्तुये आयात की थी लेकिन १९६६-६७ मे २,१३० लाख पौण्ड के मूल्य की वस्तुये आयात की गई। इन आयातो म से ४० प्रतिशत के लगभग का मूल्य ब्रिटेन से ही ऋण लेकर भुगतान किया गया। पौण्ड के अवमूल्यन के बाद ब्रिटेन ने जो कदम उठाये हैं उनमे राष्ट्र मण्डलीय देशों को दिये जाने वाले ऋण पर भी प्रभाव पड़ेगा और महँगी मुद्रा की नीति ब्रिटेन द्वारा अपनाई जाने के कारण भारत मे ब्रिटेन की कम पूँजी लगाई जायेगी। इससे स्पष्ट है कि ब्रिटेन मे भारत कम वस्तुयें आयात करेगा, बावजूद इसके कि उनका मूल्य अब भारत के लिए कम हो गया है।

कुछ जवाहरातो का आयात बढाया जा सकता था, लेकिन ब्रिटेन के निर्यातकों के मुकाबले मे हमारी स्थिति कमजोर हो जाने के कारण यह सम्भव नही हो सका है। दि लन्दन डायमण्ड कम्पनी का जवाहरातों के व्यापार मे एकाधिकार है। इस कम्पनी ने अपने जवाहरातों का मूल्य १६ ६६ प्रतिशत के लगभग बढा दिया है। उसका असर यह हुआ है कि पौण्ड के अवमूल्यन से पूर्व के बराबर ही इन जवाहरातो का मूल्य रुपये मे है। इस प्रकार भारत के आयातकों को पौण्ड के अवमूल्यन का जवाहरातो के व्यापार मे लाभ नही हो पाया है। इसलिये हमारी यह धारणा पक्की होती जा रही है कि ब्रिटेन से भारत का आयात बढ नहीं पाया है।

निर्यात-व्यापार की सम्भावनायें—

पौण्ड के अवमूल्यन का ब्रिटेन के साथ भारत के व्यापार पर असर निर्यात-व्यापार के क्षेत्र मे आयात-व्यापार के मुकाबले अधिक पड़ेगा। पौण्ड के अवमूल्यन का भारत के ब्रिटेन के साथ व्यापार पर तीन तरह से असर पड सकता है। प्रथम, ब्रिटेन की मण्डी मे भारत की बनी वस्तुओं को दूसरे देशो की बनी वस्तुओ की ज्यादा होड का मुकाबला करना पड़ेगा, खासतौर से उन देशो की बनी वस्तुओ को होड का, जिन्होंने अपनी-अपनी मुद्राओ का पौण्ड के अवमूल्यन के साथ-साथ अवमूल्यन किया है। इससे ब्रिटेन के साथ हमारे ७० प्रतिशत निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। परम्परागत निर्यात-वस्तुओ म चाय, सूती कपडा, पटसन की बनी वस्तुयें, तम्बाकू और अन्य तरह के माल सम्मिलित हैं। दूसरे, ब्रिटेन के आयातक भारत से भारतीय वस्तुयें कम आयात करना अधिक पसन्द करेंगे, क्योंकि भारत की बनी वस्तुयें पौण्ड के अवमूल्यन के पश्चात् १६ ६ प्रतिशत अधिक मूल्य पर उन्हें प्राप्त हो सकेंगी। पौण्ड के

मुकाबले में रुपय का मूल्य १६.६ प्रतिशत बढ़ चुका है। पौण्ड का मूल्य रुपये के मुकाबले में अवमूल्यन के कारण १४.३ प्रतिशत कम हुआ है। इसके अतिरिक्त, भारत की बनी हुई वस्तुयें माल ढोने की दरों में १२.५ प्रतिशत वृद्धि की घोषणा जहाजरानी उद्योग द्वारा की जाने के बाद महगी हो जायगी। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन की सरकार द्वारा महँगे पौण्ड की नीति की घोषणा करने के पश्चात् विदेशी वस्तुएँ ब्रिटेन की मण्डियों में महँगी हो जायेंगी। जिसका अन्ततोगत्वा प्रभाव भारत के निर्यात पर पड़े बिना नहीं रह सकता। तीसरे, भारत के निर्यातक अपने यहा की बनी वस्तुए स्वदेशी मण्डियों में बचने के लिये तत्पर हो सकते हैं क्योंकि पौण्ड का मूल्य रुपये में २१ से १८ रह गया है।

पौण्ड के अवमूल्यन के अन्य प्रभाव

(१) १९६६ में भारत ने जिस समय अवमूल्यन किया था उसके मस्तिष्क में यह बात थी कि विदेशी पूजी द्वारा भारत में कमाये गये मुनाफे के बदले में भारत को कम विदेशी मुद्रा देनी पड़े परन्तु ब्रिटेन द्वारा पौण्ड के अवमूल्यन में यह स्थिति फिर में यथावत हो गई।

(२) इस अवमूल्यन का भारतीय वित्तीय अवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यदि सरकार इस प्रभाव को अपने व्यय में कटौती करके दूर कर लेती है तब तो भारत के करदाता पर इसका कोई भार नहीं पड़ेगा, परन्तु यदि सरकार अपने बजट में किसी प्रकार का कटौती नहीं करती तो निश्चय ही भारतीय करदाता को अधिक कर देने के लिए विवश किया जा सकता है।

(३) ब्रिटेन ने अपना बैंक दर बढ़ाकर ८ प्रतिशत कर दी जिससे भारत के निजी कारोबार के शेयरों के भावों पर शीघ्र प्रतिक्रिया शुरू हो गई। भारत में इस समय बैंक दर ६ प्रतिशत है और इस बात का कोई संकेत नहीं है कि इसमें कोई वृद्धि की जायेगी। इसका प्रतिकूल प्रभाव यह होगा कि भारतीय एक्सचेंज बैंकों की कुछ पूँजी लदन की ओर जाने लगेगी। इस प्रकार भारतीय द्रव्य बाजार की पूर्ति स्थिति और अधिक खराब हो जायेगी तथा वर्तमान आर्थिक मन्दी की स्थिति सुधरने के बजाय और भी अधिक खराब हो सकती है।

(४) ब्रिटेन स्वतन्त्रता के समय भारत का देनदार था, परन्तु धीरे धीरे हमने उससे अपना धन तो ले ही लिया विभिन्न योजनाओं के सचालन के लिये और भी बहुत सा धन ऋण के रूप में लिया है। इस कारण भारत ब्रिटेन का कर्जदार बना रहता है। इस अवमूल्यन ने पौण्ड का दाम तीन रुपये कम करके भारत की इस देनदारी को कम कर दिया है। परन्तु यहा हमे यह नहीं भूल जाना चाहिए कि भारत को ब्रिटेन से मिलने वाली आर्थिक सहायता में १४.३ प्रतिशत की कमी हो जायेगी।

(५) अब भारतीयों के लिये स्टर्लिङ्ग क्षेत्र में भ्रमण करना सस्ता हो जायगा इसी प्रकार भारतीय छात्र और छात्राओं को ब्रिटेन में शिक्षा प्राप्त करने के

लिये कम धन की आवश्यकता होगी, तथा भारत सरकार के कन्धों पर विदेशी पूँजी की माँग का भार कम हो जायेगा।

उपसंहार—

अमरीका तथा अन्य यूरोपीय देश व्यापारिक नीति को सकुचित राष्ट्रवादी नीति पर आश्रित करते जा रहे हैं, जिस कारण विश्व व्यापार कम होता जा रहा है और विश्व व्यापार में से भी पिछड़े हुये देशों का भाग घटता जा रहा है। भारतीय मुद्रा डालर की अपेक्षा सस्ती है। किन्तु अमरीका भारत से आयात बहुत ही कम करता है, जिसके भविष्य में बढने की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार, भारत का व्यापार अब दो पाटों में फस गया है। एक ओर अमरीका की अनुदार नीति तो दूसरी ओर इङ्गलैण्ड की मुद्रा अवमूल्यन से उत्पन्न हुई समस्या है। पौण्ड के अवमूल्यन में भारत पर जो प्रभाव पड़ेंगे उनका विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत को हानि की सम्भावना अधिक है। पौण्ड के अवमूल्यन कुप्रभावों का सामना करने हेतु निम्न सुझाव दिये जा सकते है —(१) आयात प्राप्ति लाइसेन्सों को उन्मुक्त हस्तान्तरणीयता प्रदान की जाय। (२) नगदी सहायता देते समय इसकी गणना, चालू अनुबन्धों की दशा में, पुरानी विनिमय दर पर की जाय। (३) उन चालू अनुबन्धों के लिये जिनका भुगतान अवमूल्यन के बाद की विनिमय दरों पर मिलेगा। व्यापारियों की हानि-पूर्ति हेतु सरकार को चाहिये कि विक्रय को निर्यात कर में पूर्णत या अशत. मुक्त कर दे। विशेषत सूती वस्त्रों के चालू अनुबन्धों के सम्बन्ध में समुचित प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। (४) निर्यात करों को घटाने म रेवेन्यू सम्बन्धी लाभों के विचार को आड़े नहीं आने देना चाहिए, क्योंकि यदि हमने अपने निर्यातों की कीमतों को विश्व बाजारों में प्रतिस्पर्धात्मक स्तर पर नहीं रखा, तो हमारे निर्यात घट जायेंगे तथा दुर्लभ विदेशी मुद्रा की हानि उठायेंगे। (५) सरकार को चाहिये कि एक ऐसी उपयुक्त सत्ता स्थापित करे जो कि विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में तत्कालिक निर्णय ले और समुचित उत्पादन व निर्यात प्रमुख नीतियों का अनुसरण करे।

परीक्षा प्रश्न

१. १९६७ में पौण्ड का अवमूल्यन क्यों किया गया ? इसका भारतीय व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

[Why was the Sterling devalued in 1967 and how has it affected India's foreign trade ?] (आगरा, एम० कॉम०, १९६८)

४२

भारत में विदेशी मुद्रा की समस्या

(Problem of Foreign Exchange in India)

प्रारम्भिक—विदेशी मुद्रा के अभाव की समस्या

प्रथम योजना की अवधि म विदेशी विनिमय ने कोई समस्या प्रस्तुत नही की थी। हम विदेशी सहायता का पूर्ण प्रयोग भी न कर सके। यहाँ तक कि इङ्गलैंड मे रोके गए स्टर्लिङ्ग पावने से जो रकम प्रयोग के लिये मुक्त की गई थी उसका भी पूर्ण रूप मे प्रयोग नहीं किया गया। पहली योजना का आरम्भ होने पर विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकतायें २६० करोड रु० के बराबर अनुमानित थी। किन्तु कृषि उत्पादन मे यथेष्ठ वृद्धि होने, कोरियाई युद्ध के प्रभावस्वरूप निर्यात आय साधारण रूप मे अधिक होने विकास व्यय की धीमी प्रगति और गैर आवश्यक आयात पर नियन्त्रण होने के कारण चालू खाते म वास्तविक घाटा आशा से कही कम हुआ। इस प्रकार केवल १२७ करोड रु० की विदेशी मुद्रा ही प्रयोग मे आई और विदेशी विनिमय कोष म ९०२ ३५ करोड रु० की एक बडी राशि बच रही।

द्वितीय योजनावधि मे विदेशी विनिमय संकट का प्रारम्भ

द्वितीय योजना म भारी उद्योगो पर बल दिया गया था। अत यह स्पष्ट था कि योजना के सफलतापूर्वक सचालन के लिय पूँजीगत सामान के लिये भारी आयात की आवश्यकता पडेगी। अनुमान था कि पाँच वर्ष की अवधि मे आयात आधिक्य (Import Surplus) १,३७५ करोड रु० का होगा। इसमे से २२५ करोड की पूर्ति अदृश्य मदो से होगी २०० करोड रुपय पौण्ड पावना कोष मे मिल जायेगे और १०० करोड रुपये प्राइवेट रूप स नियोजित किये जायेंगे तथा ९०० करोड रुपये की विदेशी विनिमय सम्बन्धी कमी पडेगी।

तालिका १

भारत की विदेशी मुद्रा सुरक्षित कोष

(करोड रु०)

वर्ष की समाप्ति	निधि	वृद्धि (+) या कमी (−)
१९५०–५१	१,०२८ १५	२८ ५५
१९५५–५६	९०२ ३५	१०·४७
१९५६–५७	६८१ १	२२१ २
१९५७–५८	४२१·२	२५९·९

सन् १९५६-५७ मे पूंजीगत वस्तुओ का आयात बहुत बढ गया, किन्तु निर्यातो मे उतनी वृद्धि न हो सकी । हमारे भुगतान सतुलन पर इसका बुरा प्रभाव पडा। चालू खाते के घाटे को पूरा करने के लिए विदेशी विनिमय कोप से आहरण करना आवश्यक हो गया। स्थिति बिगडती ही रही । फल यह हुआ कि अप्रैल ५६ मे सितम्बर ५७ तक १८ महीने की अवधि मे रिजर्व बैंक को विदेशी सम्पत्तियो म ३९६ करोड रुपये की कमी आ गई। यदि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ६५ करोड रुपये की सहायता न मिली होती, तो यह कमी ४६१ करोड रुपये तक जा पहुँचती।

सकट के लिए उत्तरदायी कारण

विदेशी विनिमय सङ्कट के लिए जो कारण दायी बने उनको समझ लेना आवश्यक है। ये कारण निम्नलिखित हैं —

(१) योजना का बहुत महत्त्वाकांक्षी होना—विदेशी विनिमय कोष मे तेजी से गिरावट आने का सबसे बडा कारण हमारी द्वितीय योजना का स्वभाव बहुत महत्त्वाकाक्षी होना था। योजना मे जिस दर से विनियोग किया गया वह असाधारण रूप से ऊँची थी। योजना के प्रथम वर्ष मे पूंजीगत सामान का आयात बहुत मात्रा मे हुआ। आयात की दर पहली योजना की तुलना म दूनी हो गई।

(२) आयातित विनियोग वस्तुओ की ऊँची लागतें (Higher costs of imported investment goods)—विदेशो मे आयात की गई विनियोग वस्तुओ की विदेशी लागतें स्वेज नहर के सङ्कट और विदेशो म मुद्रा प्रसार की प्रवृत्तियो के कारण, पहली योजना की तुलना मे १० से १६ प्रतिशत बढ गई थी।

(३) निश्चित समय से पहले आयात (Imports ahead of the Schedule)—प्राइवेट साहसियो को यह आशङ्का थी कि द्वितीय योजना के अन्तिम वर्षों म विदेशी विनिमय का सकट उत्पन्न हो जायगा। अत उन्होंने अपने समस्त आयात समय से पहले ही योजना के प्रारम्भिक वर्षों म प्राप्त करने के यत्न किये।

(४) खाद्यान्नो के आयात मे अचानक वृद्धि (Sudden increase in imports of foodgrains)—सन् १९५१-५२ म खाद्यान्नो के आयात का व्यय २२८ करोड रुपये था सन् १९५५-५६ म केवल २९ करोड रह गया किन्तु १९५७-५८ म पुन बढकर १५२ करोड रुपये हो गया। यद्यपि खाद्यान्नो के आयात का स्तर हमारी भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी कठिनाइयो का एकमात्र कारण नहीं था तथापि विदेशी विनिमय सङ्कट उत्पन्न करने मे इसका महत्त्वपूर्ण भाग रहा।

(५) गैर योजना व्यय में वृद्धि (Rise in non-plan expenditure)—वायु-सेना और नौ-सेना की बढती आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए रक्षा सम्बन्धी व्यय बहुत बढ गये थे। इसने भी विदेशी विनिमय सकट मे योग दिया। पहली योजना के कुछ अपूर्ण कार्यक्रम भी दूसरी योजना के प्रारम्भ मे ही पूरे किये गये। इससे भी द्वितीय योजना का विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यय बढ गया।

(६) अर्थव्यवस्था में उपभोग सम्बन्धी मांग बढना (Rising consupm-

tion demand within the economy)—विदेशी विनिमय सकट का एक कम महत्वपूर्ण कारण यह भी रहा कि अर्थव्यवस्था मे उपभोग सम्बन्धी मांग बढ गई थी जिसे घरेलू उत्पादन द्वारा जो कि मुख्यत कुटीर और ग्राम उद्योगो पर आधारित था, पूरा नही किया जा सका।

(७) आयात नियन्त्रण नीति की दुर्बलतायें (Loopholes in the Import Control Policy)—सन् १९५६ ५७ के पहले छ महीनो म गैर आवश्यक वस्तुओ का आयात विशाल मात्रा मे किया गया। यद्यपि लाइसैंस और नियन्त्रण की कठोर व्यवस्था विद्यमान थी।

सरकार द्वारा सङ्कट निवारण के उपाय

द्वितीय योजना के प्रथम वर्ष के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था पर कठोर दबाव पडने लगे। जुलाई ५७ मे विदेशी विनिमय कोष बहुत घट गये, अगस्त ५७ मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के इश्यू विभाग की विदेशी प्रतिभूतियो की राशि ३७५ करोड रुपय तक गिर गई। विदेशी विनिमय सकट का निवारण के लिए सरकार ने निम्नलिखित कदम उठाये —

तालिका २
भारत का विदेशी मुद्रा कोष

(करोड रु०)

३१ मार्च को समाप्त वर्ष	कोष	वृद्धि (+) या कमी (−)
१९५८-५९	३७८ ६	— ४२ ३
१९५९-६०	३६२·६	— १६ ०
१९६०-६१	३०३ ६१	— ५९·२५
१९६१-६२	२९७·३१	— ६ ३०
१९६२-६३	२९५ १०	— २ २१
१९६३-६४	३०५·८१	+ १०·७१
१९६४-६५	२४९ ६८	— ५६·१३
१९६५-६६	२९७ ९८	+ ४८ ३०
१९६६-६७	४७८ ४४	+१८०·४६
१९६७-६८	५३८ ५५	+ ६० ११
१९६८-६९	५७६ ७०	+ ३८·१५
जन० ७०	६७१·०	+ ९४ ३

(१) **विदेशी कोष सम्बन्धी कानूनी व्यवस्था में संशोधन**—रिजर्व बैंक के विदेशी मुद्रा कोष सम्बन्धी कानूनी व्यवस्था को अक्टूबर सन् १९५७ मे संशोधित किया गया। इस संशोधन के अनुसार वैधानिक न्यूनतम विदेशी प्रतिभूति कोष (४०० करोड रु०) और स्वर्ण कोष (११५ करोड रु०) को घटाकर केवल २०० करोड रु०

(जिसमे ११५ करोड़ रु० का स्वर्ण भी सम्मिलित है) रहने दिया गया, ताकि घाटे की पूर्ति के लिए कोष से अधिक राशि का आहरण किया जा सके।

(२) **आयात-नियन्त्रण में कठोरता**—आयात-प्रतिबन्ध कड़े किए गए। पूंजीगत सामान के आयातकों को लाइसेन्स प्राप्त करने हेतु यह नियम बनाया गया कि वे विदेशी सप्लायरों से स्थगित भुगतान के समझौते करें।

(३) **निर्यात संवर्धन के लिए विशेष उपाय**—निर्यात बढ़ाने के लिए कई तरह की कार्यवाहियाँ की गई जिनका विवेचन हमने भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को घटाने के उपायों के अन्तर्गत किया है।

(४) **विदेशी मुद्रा के ऋण**—यही नहीं, मित्र देशों और मुद्रा कोष से अधिकाधिक ऋण लेने के यत्न किये गये। यदि विदेशी मित्रों से सामयिक ऋण न मिले होते तो, भारत अपने विकास कार्यक्रमों को कदापि पूरे नहीं कर सकता था।

उपरोक्त उपायों के फलस्वरूप भुगतान सतुलन में घाटा कम हुआ और इसके फलस्वरूप विदेशी मुद्रा कोष सम्बन्धी स्थिति में भी स्पष्ट सुधार हुआ। सन् १९६०-६१ को छोड़कर कोष से उत्तरोत्तर कम राशियाँ निकाली गई है।

सन् १९६२ मे चीन के घातपूर्ण आक्रमण के कारण भारत के भुगतान सन्तुलन पर दबाव पड़ने लगे। स्वर्ण की मितव्ययिता के लिये नवम्बर सन् १९६२ व जनवरी १९६३ के बीच में एक **नई स्वर्ण नीति** की घोषणा की गई। इसकी प्रमुख विशेषतायें निम्न है —(i) सरकार ने स्वर्ण बॉड जारी करने का फैसला किया, जो कि १५ वर्ष की अवधि के और ६.५ प्रतिशत ब्याज के होंगे। लोग अपना सोना देकर इन बौण्डो का क्रय करते हैं। क्रय की दर ६२½ रुपये प्रति तोला होगी। (ii) सरकार ने देश भर में सोने के वायदा व्यापार पर रोक लगादी। इसका उद्देश्य सोने पर आधारित सट्टा सम्बन्धी क्रय-विक्रय को रोकना था। (iii) सरकार ने स्वर्ण नियन्त्रण नियम जारी किये। इनके अनुसार आभूषणों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के स्वर्ण की, जो कि पास में हो, घोषणा करना आवश्यक हो गया। यदि किसी के पास अघोषित स्वर्ण है, तो सरकार उसे जब्त कर सकती है। (iv) देश में भविष्य में सोने से या विद्यमान आभूषणों से बनाये जाने वाले सब आभूषण १४ कैरट से अधिक शुद्धता के नहीं होने चाहिए।

आशा थी कि ४,००० करोड रुपए के सोने का पता लगेगा लेकिन वास्तव में ४ करोड रुपए के गैर आभूषण स्वर्ण की घोषणा की गई। स्वर्ण नीति का उद्देश्य सोने के तस्कर व्यापार को रोकना और आभूषण इत्यादि के लिए सोने की आन्तरिक माग को कम करना था जिससे कि स्वर्ण की कीमतें अन्त में नीचे आ सकें। लेकिन अभी तक यह एक स्वप्न रहा है और स्वर्ण की आन्तरिक कीमत अभी भी काफी ऊँची बनी हुई है।

वर्तमान स्थिति

जैसा कि विगत पृष्ठ मे दी गई तालिका २ को देखने से पता चलता है,

१९६३-६४ को छोडकर प्रस्तुत दशक (१९६०-६६) के प्रथमार्ध में हमारे कोषों में लगातार कमी होती गई है। १९६३-६४ के वित्तीय वर्ष में, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रति २४ करोड रुपये का पुराना ऋण वापस करने के बाद, ११ करोड रुपये की वृद्धि हुई अर्थात् ग्रौस वृद्धि ३५ करोड रुपये की थी, जबकि पिछले वर्ष म १२ करोड़ रुपये मुद्रा कोष मे उधार लेने के बाद भी दो करोड रुपये की कमी हुई अर्थात् १४ करोड रुपये की कमी थी। इस प्रकार १९६३-६४ म विदेशी विनिमय सकट म कुछ कमी हुई। १९६४-६५ मे पाकिस्तानी आक्रमण के कारण एक ओर आयातो मे भारी वृद्धि हुई और दूसरी ओर निर्यात न्यूनाधिक स्थिर रहे जिससे कि वर्ष पर्यन्त विदेशी मुद्रा-कोष पर दबाव जारी रहा और १९६४-६५ मे निवल ५६ १३ करोड रुपये की कमी हुई। इस असाधारण कमी का कुछ हद तक यह भी कारण है कि सरकार को अनाज, उर्वरक' खाद) आदि के आयात पर अधिक खर्च करना पडा और जहाज भाडे पर भी अधिक खर्च हुआ। नवम्बर १९६४ मे ब्रिटिश बैंक दर को बढाकर ७ प्रतिशत कर देने का भी हमारे भुगतान पर प्रतिकूल प्रभाव पडा। विदेशो से पर्याप्त विशाल सहायता मिलने पर भी विदेशी मुद्रा-कोष से जो भारी निकासी हुई उसने देश को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष मे ऋण सम्बन्धी वचनो (stand-by-arrangements) का लाभ उठाने तथा सरकारी स्टाक से १६ करोड रुपये के मूल्य का अमौद्रिक स्वर्ण विदेशी मुद्रा कोष मे हस्तान्तरित करने के लिये विवश बना दिया। ५ जून १९६६ म रुपये का अवमूल्यन करने के बाद स्थिति मे सुधार हुआ। १९६९-७० म हमारे विदेशी विनिमय कोष की स्थिति मे काफी सुधार रहा है, क्योंकि (i) कृषि उत्पादन मे वृद्धि हुई विशेषत खाद्य-स्थिति मे सुधार हुआ, (ii) आयात प्रतिस्थापन म प्रगति हुई, (iii) औद्योगिक क्रियाओ की गति बढ गई, जिससे आयातो मे कमी आई किन्तु हमारे निर्यातो विशेषत अपरम्परागत वस्तुओं के निर्यातों में काफी वृद्धि हुई। इस प्रकार, भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता मे सुधार हुआ।

विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयो के कारण कुछ विद्वानो ने यह सुझाव दिया था कि हमें अपने ऋणो की अदायगी रोक देनी चाहिए। किन्तु यह सुझाव ठीक नहीं है। हमे चाहिए कि अपनी ऋण-अदायगी की जिम्मेदारियो को अन्य जिम्मेदारियो की भाँति पूरा करें। अवश्य ही अपने मित्र देशो से और अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ से लम्बी मियाद की सहायता माँगते समय हम उनसे इस बात को भी ध्यान मे रखने को कहेंगे कि हमें अपने ऋणो की अदायगी करनी है। हमने पहले भी ऐसा ही किया है। परन्तु ऋणों की अदायगी रोकने का बिलकुल कोई प्रश्न नही है।

चौथी योजना के लिये विदेशी विनिमय

चौथी योजना के लिए विदेशी विनिमय प्राप्त करने की नीति बुनियादी रूप से भिन्न रखनी पडेगी। जब योजना आयोग चौथी योजना पर विचार कर रहा था, तब इसकी एक प्रमुख चिन्ता यह थी कि आर्थिक विकास की गति को बनाए रखने के लिए जिस विशाल आकार की योजना को कार्यान्वित करने जा रहे है उसके लिए आवश्यक

विदेशी मुद्रा कैसे प्राप्त की जाय। उसे नवीन राजनैतिक एवं आर्थिक घटनाओं के सदर्भ मे इसकी सम्भावनायें धुंधली ही प्रतीत हो रही थी। जबकि हमारी रक्षा और आर्थिक आवश्यकताओं के कारण विदेशी सहायता की आवश्यकता बढ रही है तब इसकी पूर्ति की दशायें बिगड रही हैं क्योंकि (i) सभी अर्ध-विकसित राष्ट्रो की सहायता सम्बन्धी आवश्यकता बढ गई है तथा (ii) विकसित राष्ट्रो पर राजनैतिक एव अन्य कारणो से सहायता राशि को सीमित करने के लिये दबाव पड रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि निकट भविष्य मे, व्यापार एव वाणिज्य ही विभिन्न राष्ट्रों की नीति का आधार बनने जा रहा है। वास्तव मे, विकसित एव कम विकसित राष्ट्रो के हित एक दूसरे के विरुद्ध होते जा रहे हैं। यह बात अभी हाल मे हुए विश्व व्यापार एव वाणिज्य सम्मेलन मे प्रगट हुई थी।

उपरोक्त घटक यह आवश्यक करते हैं कि विदेशी मुद्रा की समस्या का कोई स्थायी और सन्तोषजनक हल ढूँढा जाय। इस हेतु सरकार को योजना के विदेशी मुद्रा वाले भाग मे विनियोग की बचत करने का उपाय ढूँढना होगा, विदेशी मुद्रा की आय के स्थाई साधन तलाश करने होंगे, आयात पर व्यय किये जाने वाले विदेशी विनिमय मे भारी कटौती करनी पडेगी एव विदेशी ऋणो पर ब्याज सम्बन्धी व्यय मे घटौती के उपाय विचारने होगे। यदि सरकार उपयुक्त आर्थिक नीतियाँ अपनाये, तो इन लक्ष्यो की प्राप्ति कठिन नहीं है। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं —

(१) **विदेशियो को खनिज प्रसाधनो के शोषण की अनुमति देना**—ऐसी अनुमति निम्न शर्तो पर दी जाय —(i) विदेशी फर्में सरकार को रॉयल्टी विदेशी मुद्रा मे चुकावे, (ii) निर्यात से पहले खनिजो का भारत मे ही विधायन (Processing) किया जाय, जिससे कि इनकी कीमत वृद्धि का कुछ लाभ भारत को भी मिल सके, (iii) उत्पादन का एक नियत प्रतिशत ही निर्यात किया जाय, एव (iv) आन्तरिक उपभोग के लिए कीमतो की अधिकतम सीमायें निर्धारित कर दी जायें।

(२) **विदेशी सस्थाओ को उद्योग स्थापित करने की अनुमति देना**—ऐसी अनुमति देते समय सरकार यह शर्त रखे कि इनके उत्पादन का एक अश अवश्य ही निर्यात किया जायेगा। यह प्रतिशत इतना पर्याप्त होना चाहिए कि फर्मों द्वारा लाभांश और ब्याज का प्रेषण करने के उपरान्त भी यथेष्ठ विदेशी मुद्रा बचे। कारखानो की स्थापना के स्थानीय व्यय पूरे करने के लिये अमेरिकी उपक्रमो को चाहिये कि अमेरिकी सरकार से वार्ता करके P L. 480 ऋणो के रुपया कोषो के प्रयोग की अनुमति प्राप्त कर लें। जो उद्योग इस योजना के अधीन प्रारम्भ किय जाये वे मुख्यत निम्न दो श्रेणियो के हो सकते है —(i) ऐसी मदों का, जो कि अभी तक पूर्णत आयात की जा रही है, निर्माण करने के लिये उद्योग, एव (ii) औद्योगिक एव उपभोक्ता दोनो प्रकार की उत्कृष्ट वस्तुयें बनाने के लिये उद्योग, जिससे कि एशियाई

बाजारो के लिये इनकी कीमतें अब भी अपेक्षा कम हो सकें। द्वितीय वर्ग के उत्पादन का एक अंश आन्तरिक बाजारो के लिये भी सुरक्षित रखना चाहिये, जिसमे कि हमारी अर्थ-व्यवस्था मे स्वस्थ प्रतियोगिता प्रचलित हो सके।

(३) भारतीय उद्योगपतियो को एशियाई और अफ्रीकी देशो में उद्योग स्थापित करने के लिये प्रोत्साहन देना—अन्य शब्दों में, निर्मित वस्तुओ के निर्यात पर से जोर हटाकर कारखानों का निर्यात करने पर जोर दें। चूँकि सभी अर्ध-विकसित देश अपना विकास करने के लिए उत्सुक है इसलिये वे इस नीति का अधिक प्रेम से स्वागत करेंगे, जिसमे हमारी विदेशी मुद्रा की कमाई का एक स्थायी स्रोत खुल जायेगा।

(४) स्थगित भुगतान पद्धति पर निर्यात सुविधायें देना—सरकार को चाहिये कि एशियाई एव अफ्रीकी देशों को स्थगित भुगतान पद्धति पर पूर्ण प्लान्ट और मशीनें निर्यात करने के लिये प्रोत्साहन दे और आवश्यक वित्त की व्यवस्था भी करे।

(५) तकनीकी ज्ञान का निर्यात—एशियाई एव अफ्रीकी राष्ट्रों को इनकी आवश्यकताओ का विकास करने मे सहायता देने के लिये तकनीशियनो को भेजकर टेक्नीकल ज्ञान का निर्यात करे।

(६) ब्याज व्यय घटाना—विदेशी ऋणो पर ब्याज सम्बन्धी व्यय कम करने हेतु सरकार को निम्नलिखित कार्यविधि अपनानी चाहिये जब विदेशो से विशेष परियोजनाओ मे प्रयोग के लिये ऋण प्राप्त होते है, इन परियोजनाओ का कार्य प्राइवेट फर्मों को सौपा जाता है एव ये फर्में अपने विदेशी सहयोगियो से मशीनें आदि स्थगित भुगतान की शर्तों पर मँगाती है, तो दोहरा ब्याज दिया जाता है—एक बार सरकार द्वारा और दूसरी बार फर्मों द्वारा। अत यदि सरकार विदेशो से मिले ऋण मे से ही उक्त फर्मों को मशीनों के आयात के लिए धन दे दिया करे, तो लाखो रुपयो के ब्याज की बचत हो सकती है।

(७) विदेशी वित्त केन्द्रो में ऋण लेना—सरकार को चाहिये कि जापान की भाँति विदेशी वित्त केन्द्रो मे, खुले बाजारो में ऋण लेना शुरू करे। ये ऋण दो प्रकार के हो सकते हैं —(i) सामान्य आर्थिक विकास हेतु लिये गये ऋण एव (ii) प्राइवेट एव पब्लिक उपक्रमों द्वारा विदेशो मे शेयरो और डिबेन्चरो के रूप मे प्राप्त की जाने वाली पूँजी की गारन्टी।

(८) विश्व बाजारों का लगातार अध्ययन—यह बड़ा दुर्भाग्य है कि इस समय हमारे परम्परागत निर्यात जैसे कि चाय और पटसन की वस्तुओ के निर्यात में कोई वृद्धि नहीं हो रही है और अन्य देशो के साथ प्रतिद्वन्द्विता बढती जा रही है। हमने अभी अपना माल बेचने की कला भी नही सीखी है। व्यापारी वर्ग और सरकार दोना को ही बाजार की मार्केट का लगातार अध्ययन करने के लिए और उत्साह पैदा करने के लिए एक संस्था की स्थापना करने मे सहयोग देना चाहिए।

श्री मनुभाई शाह ने ये तीन शर्तें बताई है —(i) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं को ठीक प्रकार से डिब्बो या पैकेटो मे बन्द किया जाना चाहिए ताकि विदेश मे जो लोग उन्हे खरीदे उन्हे वे चीजें आकर्षक दिखाई दे, (ii) निर्यात सम्वर्धन परिषदें और वस्तु बोर्ड अपने लक्ष्यो को बढाये, और (iii) कुछ हद तक निर्यात व्यापार की दिशा को बदले ताकि अधिक विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सके। निर्यात व्यापार मे विद्यमान होड को समाप्त करने के लिये एक व्यापार सघ बनाने हेतु सरकार वित्तीय तथा अन्य रियायतें देने के लिये विचार कर रही है ताकि व्यवस्थित ढग से वस्तुओ के क्रय-विक्रय का प्रबन्ध हो सके। अब समय आ गया है अब हमे नई-नई वस्तुओ के निर्यात के लिये नये बाजार ढूँढने का प्रयत्न करना चाहिये।

(९) **आत्म निर्भर अर्थव्यवस्था**—एक राजनीतिज्ञ ने हाल मे योजना का लक्ष्य इस प्रकार बताया है कि देश की अर्थव्यवस्था को आत्म-निर्भर बनाया जाये ताकि विदेशी सहायता पर हम कम से कम निर्भर रहे और अन्त मे हमारी अर्थ-व्यवस्था 'स्वय विकसित होने वाली' बन जाये। इसका मतलब यह है कि हमे विकास की ऐसी अवस्था तक पहुँचना होगा जहाँ पूँजी लगाने की दर और बचत की दर इतनी हो जाये कि उसमे आगे कोई वृद्धि किये बिना ही हम अर्थव्यवस्था मे ६ या ७ प्रतिशत की वृद्धि करते रहे।

(१०) **इंजीनियरी वस्तुओ के निर्यात पर विशेष ध्यान देना**—जबकि इंजीनियरिंग गुड्स के निर्यात १९६५-६६ मे २९ करोड रु० से बढकर १९६६-६७ मे ३५ करोड रु० ही हुए है तब मेन्टीनन्स आयात इन वर्षों मे ८३ करोड रु० से बढकर २८० करोड रु० हो गये। अभूतपूर्व वृद्धि आयात नीति को उदार बनाने से सम्भव हुई। इस प्रकार, इंजीनियरिंग उद्योग ने विदेशी विनिमय कोष पर सर्वाधिक दबाव डाला। अत उसे चाहिये कि सचेत और निरन्तर प्रयासो द्वारा वह उसे सहारा भी अधिकाधिक दे।

(११) **कृषि उत्पादन में वृद्धि**—दो-तिहाई निर्यात प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर आधारित है, इसलिये निर्यात-लक्ष्यो की पूर्ति मे कृषि उत्पादन में वृद्धि का बहुत महत्व है। चौथी योजना के दौरान आम फसलो तथा व्यावसायिक फसलो को एक जैसी प्राथमिकता मिलनी चाहिये।

(१२) **अत्यधिक विदेशी मुद्रा की आवश्यकता वाले उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहन न देना**—सरकारी और गैर सरकारी क्षेत्रो मे ऐसे उद्योगो की स्थापना की गई है जिनकी स्थापना मे तथा जिसके चलाने के लिये अत्यधिक विदेशी मुद्रा की आवश्यकता पडती है। श्री राम ने सुझाव दिया कि कम से कम अब से ऐसे उद्योगो की स्थापना की मजूरी नही देनी चाहिये जो चालू होने के तीन वर्ष के अन्दर विदेशी मुद्रा अर्जित नही कर सके या विदेशी मुद्रा की बचत नही कर सके।

(१३) **मेन्टीनेन्स आयातों पर विदेशी मुद्रा के व्यय में बचत करना**—४० उद्योगो का विस्तृत विश्लेषण करने के बाद 'नेशनल काउन्सिल ऑफ एप्लाईड इकॉनॉ-

मिक रिसर्च' ने यह निष्कर्ष निकाला है कि चौथी योजनावधि में मेन्टीनेन्स आयातों पर होने वाले विदेशी मुद्रा के व्यय में कम से कम ५०% बचत की जा सकती है। इसकी सिद्धि हेतु काउन्सिल ने निम्न दो सुझाव दिये हैं —प्रथम, प्रत्येक उद्योग के लिये उद्योगपतियों का एक कन्सोर्टियम (सभा) स्थापित किया जाय जो कि देश में स्पेयर पार्टस के उत्पादन के लिए व्यवस्था करे। दूसरे, प्रत्येक उद्योग में अर्थशास्त्रियों और विशेषज्ञों की एक उच्च स्तरीय समिति नियुक्त की जाय, जो वर्तमान समय में आयात किये जा रहे विभिन्न इन्पुटस (inputs) की सूची तैयार करे और इन साधनों को बतावे जिनके द्वारा इनका देश में ही उत्पादन किया जा सके। रिपोर्ट में कहा गया है कि मेन्टीनेन्स आयात की समस्या इसलिये गम्भीर हो गई है कि सम्बद्ध उद्योगपति इन मदों की विदेशी विनिमय लागत को अर्जित करने में असफल रहे हैं जब तक कि उद्योग (प्राइवेट या सार्वजनिक) अपनी विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त विदेशी विनिमय के अर्जन का दायित्व स्वयं पर नहीं लेगा तब तक समस्या सुलझना कठिन है।

उपसंहार—

उद्योग क्षेत्र में विदेशी मुद्रा की आवश्यकता कम करने के लिये केन्द्रीय सरकार ने एक पंच सूत्री कार्यक्रम पर अमल किया है जिसमें देश में बनी सामग्रियों के अधिक व्यवहार पर बल दिया गया है। इस कार्यक्रम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें देश में मशीनों के अधिकाधिक निर्माण की व्यवस्था है। चीनी, सीमेंट निर्माण सामग्री बायलर खोदाई यन्त्र गैस सिलिंडर, रासायनिक सामग्री, कागज गोदाम आदि को ठण्डा रखने के तथा डेयरी से सम्बन्धित उपकरण बनाने की मशीनरियों का निर्माण देश में इतना बढ़ा दिया गया है कि इनके आयात पर व्यय होने वाले लगभग तीन करोड़ रुपये की प्रति वर्ष बचत होने लगी है। ट्रक तथा अन्य व्यापारिक वाहनों के कलपुर्जे निर्धारित सीमा ६० प्रतिशत से भी अधिक मात्रा में सारे देश में निर्मित होने लगे हैं। कारों की भी—माडल के अनुसार—८० से ६० प्रतिशत सामग्री देश में बनने लगी है। वैकल्पिक कच्चे माल के व्यवहार में वृद्धि कर दिये जाने से भी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता में काफी कमी हो गई है। बिजली के तार बनाने में अल्युमिनियम का प्रयोग किया जाने लगा है जिससे प्रति वर्ष लगभग तीन करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा की बचत होने लगी है। इंजीनियरिंग सम्बन्धी उद्योगों को गंधक व तेजाब के स्थान पर नमक का तेजाब इस्तेमाल करने के लिये कहा गया है। सफेदा और जिंक आक्साइड के बदले में टिटेनियम डायआक्साइड का प्रयोग बढ़ाया जा रहा है। इससे प्रति वर्ष लगभग एक करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा की बचत होने लगी है। औषधियों में तथा औषधि उपकरणों में जहाँ आयातित विस्मथ मेटल का प्रयोग होता था उसके स्थान पर अब मैगनीशियम तथा अल्युमिनियम निर्मित पदार्थों का प्रयोग किया जा रहा है। रासायनिक पदार्थों तथा औषधियों में प्रयुक्त होने वाले आयातित माध्यमों के स्थान पर देश में उपलब्ध या

आयातित कच्चे माल का व्यवहार किया जाने लगा है। देशी सामग्रियों के प्रयोग के प्रोत्साहन के लिए बहुत से उद्योगों में विशिष्ट आदेश जारी किये गये हैं। भवन निर्माण तथा पाइप बिछाने के सम्बन्ध में आदेश दे दिया गया है कि जहाँ तक सम्भव हो आयातित सीमेंट की चादरों के बजाय देश में बनी सीमेंट की चादरों का व्यवहार किया जाए। इससे लगभग ४६ लाख रुपये वार्षिक की बचत होने लगी है। प्राकृतिक रबर का उत्पादन बढ़ जाने से एक करोड़ ८० लाख रुपये की विदेशी मुद्रा की वार्षिक बचत होने लगी है।

परीक्षा प्रश्न :

१. हमारे देश में विदेशी विनिमय का सङ्कट उत्पन्न होने के मुख्य-मुख्य कारणों का विवेचन कीजिये। विदेशी विनिमय प्रसाधनों की बचत के लिये क्या कदम उठाये गये हैं और ऐसे कदम हमारे देश में विकासात्मक नियोजन सम्बन्धी कार्यक्रमों में कहाँ तक सहायक हो सकते हैं?

[Discuss the main causes of foreign exchange crisis in our country What steps have been taken for the conservation of foreign exchange resources and to what extent do you consider such actions can help the developmental programmes of planning in our country ?]

२. भारत में वर्तमान विदेशी मुद्रा सकट को पैदा करने वाले कौन-कौन से घटक हैं? क्या इनकी राय में सरकार की नीति इस सकट को पार करने के लिये पर्याप्त है?

[What important factors have led to the present foreign exchange crisis in India ? Do you consider the Government policy adequate to meet the crisis ?]

(इलाह० एम० कॉम०, १९६६)

३. क्या एक अर्द्ध-विकसित देश में, जो कि अपने आर्थिक विकास की दर को तेजी से बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील है, विदेशी विनिमय का सकट उत्पन्न होना अनिवार्य है? इस संदर्भ में भारत की स्थिति पर प्रकाश डालिये।

[Is a foreign exchange crisis inevitable in the case of an under-developed country trying to accelerate its rate of economic growth ? Examine India's case in this context.]

(आगरा, एम० ए०, १९६८)

४३

विदेशी पूँजी एवं विदेशी विनिमय

(Foreign Capital and Foreign Exchange)

परिचय—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विदेशी पूँजी और विदेशी विनिमय की समस्याओं का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। इन समस्याओं से भारत के विदेशी व्यापार का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रस्तुत अध्याय में हम यह देखेंगे कि भारत में विदेशी पूँजी और विदेशी विनिमय की स्थिति क्या है तथा इसे कैसे सुधारा जा सकता है।

भारत के आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का महत्व

विदेशी सहायता की आवश्यकता—

यह कहना गलत न होगा कि एक अर्ध-विकसित देश में आन्तरिक साधनों को चाहे कितनी ही कुशलता पूर्वक गतिशील किया जाय, वे नियोजित विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अपर्याप्त प्रमाणित होंगे। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि पूँजी आधिक्य वाले देशों से पूँजी-आयातों द्वारा आन्तरिक साधनों की न्यूनता को पूर्ण किया जाय। इसमें अर्ध-विकसित देशों को शर्मिन्दा होने की कोई बात नहीं है। आज के अनेक उन्नत देशों ने भी अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओं में विदेशों से व्यापक ऋण लिए थे। उदाहरण के लिए, इंगलैंड ने १६वीं एवं १७वीं शताब्दी में हालैंड से ऋण लिये और अमेरिका व कनाडा ने १९वीं शताब्दी में यूरोप से ऋण लिये। इसके अतिरिक्त, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद विदेशी पूँजी के प्रति पहले जैसी विरोध भावना भी नहीं रही है, क्योंकि अब नव स्वतन्त्र देश अपने हितों की रक्षा करने में स्वयं को पर्याप्त समर्थ समझते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं (जैसे विश्व बैंक आदि) की स्थापना ने भी विदेशी पूँजी को एक अतिरिक्त-राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान कर दिया है। अतः आजकल अर्ध-विकसित देश अपने आर्थिक विकास के लिये विदेशी वित्त-साधनों का अधिकाधिक प्रयोग कर रहे हैं।

भारत को विदेशी पूँजी से लाभ—

भारत में विदेशी पूँजी के पक्ष-विपक्ष में इतना कुछ कहा सुना गया है कि साधारण जनता भ्रम में पड़ जाती है। नीचे भारतीय परिस्थितियों में विदेशी पूँजी के महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

विदेशी पूँजी से भारत को लाभ—

(१) देश म अपार प्राकृतिक साधन हैं, जिनका पूर्ण प्रयोग नही किया जा सका है। इससे भारतवासी दरिद्र बने हुए हैं। प्राकृतिक साधनो का उपयोग करने के लिए पूँजी सर्वथा आवश्यक है।

(२) विदेशी पूँजी के आयात के साथ साथ हमें विदेशी टेक्नीकल ज्ञान एव प्रबन्ध कौशल भी प्राप्त होता है। आर्थिक विकास के लिए प्राविधिक ज्ञान का बहुत महत्त्व है जो दुर्भाग्य से हमारे देश म अलभ्य है। अत विदेशी तकनीकी ज्ञान की प्राप्ति से हम आर्थिक विकास म बहुत सहायता मिलेगी।

(३) औद्योगिक विकास के लिए एक अविकसित देश को विदेशो से पूँजी गत साधन मगाना पडता है जिसके लिए पर्याप्त विदेशी मुद्रा जुटाना उस कठिन होता है। भारत के सम्बन्ध म भी यही बात है। विदेशी पूँजी की प्राप्ति म यह कठिनाई भी हल होती है।

(४) औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था म व्यवसायो की जोखिम बहुत होती है व स्थापना व्यय भी अधिक होता है। अत देशी साहसी नये व्यवसायो म पूँजी लगाने म सकोच करते है। किन्तु विदेशी पूँजी के विनियोग की दशा म व्यवसायो की जोखिम प्राय विदेशियों द्वारा उठाई जाती है और बाद मे ये व्यवसाय उनसे देशवासियो द्वारा प्राप्त किये जा सकते है।

(५) आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए भी विदेशी पूँजी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पर्याप्त साधन देश म ही जुटाने में कठिनाई हो रही है।

(६) **उपयोगी सम्पत्ति का निर्माण—**विदेशी पूँजी के प्रयोग म देश म ऐसी सम्पत्ति का सृजन किया जा सकता है जिससे मूलधन और ब्याज देने के बाद भी लगातार लाभ प्राप्त होता रहे। रेलें नहरें, विद्युत केन्द्र ऐसी ही सम्पत्तियां है।

(७) **स्फीति के असरों को रोकने के लिए—**जब देश म भारी विनियोग किये जा रहे हों तो मुद्रा की पूर्ति के मुकाबिले म इतनी ही तेज गति से वस्तुओं की पूर्ति म वृद्धि नही होती है। फलत कई बार अर्थ तन्त्र मे मुद्रा स्फीति का असर दिखाई पडता है। ऐसे समय पर स्फीति के असरो को कम करने के लिए विदेशी सहायता का उपयोग किया जा सकता है। निस्सन्देह कई बार विदेशी सहायता स्फीति का कारण बनती है। किन्तु जब यह सहायता उपभोक्ता वस्तुओं के रूप म प्राप्त हो तो इसका असर मुद्रा स्फीति निरोधक के रूप मे ही होता है। उदाहरणार्थ अमेरिका से हम P L 480 के अन्तर्गत जो सहायता मिलती है, उससे हम गेहूँ और चावल बड़ा गे आयात करते है। इससे हम एक 'बफर स्टॉक' खडा कर सकते है, जो हम कमी के वर्षों म अनाज के भावों को बहुत ऊपर जाने से रोकने मे मदद करता है।

(८) **आन्तरिक पूँजी के पूरक के रूप में काय के लिए—**भिन्न भिन्न देशो

की आन्तरिक बचतों की तुलना मे यदि हम अपने देश की बचत को देखें, तो मालूम होगा कि विनियोग के लिए साधनों को जुटाने मे हम कितने निर्बल है। निस्सन्देह प्रजातन्त्र मे नागरिकों के उपभोगों पर एक हद तक ही अंकुश लगाने की गुंजाइश होती है। जहाँ लोगो को दो दिन खाने को भी न मिलता हो वहाँ और अंकुशों के लिए जगह हो भी कैसे सकती है ? बाकी रहे थोड़े-से धनिक लोग। उनकी सख्या है भी कितनी ? आज भी आय-कर भरने वालो की सख्या कुल आबादी के एक प्रतिशत के बराबर भी नहीं है। पूँजी-निर्माण के सिद्धान्त के अनुसार कर-भार बढाने की भी एक सीमा होती है, यह भी हम भूलना नहीं चाहिए। फलत यह स्वीकार करना ही पडेगा कि हमारे जैसे गरीब देश के लिए लम्बे समय के आयोजन मे 'विदेशी सहायता' सबके लिए राहत रूप और अनिवार्य साधन है।

(६) देशों में परस्पर सहकार की भावना बढाना—विदेशी सहायता के कार्यक्रमों के कारण विभिन्न देशों मे आपस म सहकार की भावना पैदा होती है और फलत वे एक-दूसरे की समस्याओ को ज्यादा नजदीक से समझ तथा सुलझा सकते है। जब सब देशो की और खास करके धनिक और शक्तिशाली देशो की पूँजी विदेशी सहायता के रूप मे चारो ओर फैली पडी हो, तब युद्ध की ज्वाला भडकाने से पहले वे अवश्य ही विचार करेंगे। कार्यक्रमों के फलस्वरूप हमारे सम्बन्ध कई देशों के साथ बहुत गाढे बने दीख पडते है।

भारत को विदेशी पूँजी से सम्भावित हानियाँ—

(१) भारत ने समाजवादी नमूने के समाज की स्थापना का लक्ष्य अपने समक्ष रखा है जबकि उसे विदेशी पूँजी प्राय पूँजीवादी देशो से मिल रही है। अत इस बात का खतरा है कि कहीं उसकी आर्थिक नीति उक्त देशों के आदर्शों से प्रभावित न होने लगे।

(२) विदेशी मदद ब्याज के साथ वापस लौटानी होती है, यह कभी भूलना नहीं चाहिए। बडी बडी रकमे सहायता के रूप मे लेते समय तो अर्थतन्त्र का बोझ बहुत हल्का हो जाता है किन्तु जब उसके लौटाने का समय आता है, तो मूल रकम के साथ ब्याज भी चुकाना होता है और इस प्रकार अर्थतन्त्र पर भारी दबाव पडता है। एक अनुमान के अनुसार चौथी योजनावधि मे भारत को ८२५ करोड रु० से अधिक विदेशी ऋण पर ब्याज देना होगा।

(३) विदेशी पूँजी के साथ-साथ राजनैतिक शर्तें भी लगा दी जाती है। विशेषत अदान एवं अविकसित राष्ट्रो की राजनैतिक स्वतन्त्रता भी खतरे म पडने का डर रहता है। भारत को तो यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि किस प्रकार ब्रिटेन का 'झण्डा' भारत मे व्यापार के पीछे-पीछे आया था। उदाहरण के लिए, अब अमेरिका राजनैतिक गुटबन्दी को ध्यान मे रखकर ही पाकिस्तान को आर्थिक एव फौजी सहायता दे रहा है। किन्तु श्री नेहरू की गुटो से अलग रहने की नीति के कारण, भारत

को विदेशों से अब तक जो आर्थिक और फौजी सहायता मिली है वह सब शर्तों से मुक्त है।

(४) विदेशी पूँजी वस्तुओं के रूप में भी प्राप्त हुआ करती है जैसे मशीनें आदि, जो प्रायः विनियोगकर्ता देश की औद्योगिक व्यवस्था के अनुसार निर्मित होती है। ऐसी दशा में भारतीय परिस्थितियों में उनका अधिक उपयोग सम्भव नहीं होता तथा इसके अतिरिक्त विदेशों पर निर्भरता की प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन मिलता है।

(५) आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण इने-गिने लोगों के हाथों में होना विदेशी पूँजी की ही देन है। भूतकाल में विदेशी पूँजी के कारण ही भारत में प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली विकसित हुई थी।

(६) जिन व्यवसायों में विदेशी पूँजी लगती है उनमें न्यूनाधिक सीमा तक विदेशियों का नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। वे टेक्नीकल परामर्शदाता, सचालक, प्रबन्धक आदि के रूप में व्यवसाय में बने रहते है और यह स्थिति देश की सुरक्षा के लिए कभी भी चिन्ताजनक बन सकती है।

(७) विदेशी पूँजीपतियों ने अपने भारतीय [illegible] से पक्षपात पूर्ण व्यवहार किया है। उन्हें उच्च पदों पर नौकर नहीं रखा गया जिससे वे अनुभव एवं प्रशिक्षण से वंचित हो गये। यद्यपि विदेशी पूँजी प्राप्त संस्थाओं का तीव्रगति से भारतीयकरण हो रहा है तथापि उच्च पदों के सम्बन्ध में स्थिति अभी भी असन्तोषजनक बनी हुई है।

विदेशी पूँजी के लाभ-दोषों के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इसके अधिकांश दोष विदेशी नियन्त्रण से सम्बन्धित हैं विदेशी पूँजी से नहीं। विदेशी पूँजी का सदुपयोग करने के लिये निम्न सावधानियों की आवश्यकता है —

(१) किसी भी प्रकार के साधन के विनियोग के लिए कई विकल्प हो सकते है, परन्तु 'विदेशी सहायता' जैसे अति उपयोगी और नाजुक साधन का उपयोग इष्टतम होना चाहिए। इसका विनियोग इतना होना चाहिए कि जिससे अधिक से अधिक बदला मिल सके। यदि इसका विनियोग इस प्रकार से नहीं किया जाता, तो इसकी अदायगी का बोझ अर्थतन्त्र की कमर को निश्चय ही तोड डालेगा।

(२) यदि किसी देश को ऋण की सब रकम एक साथ भरनी पड़े, तो सम्भव है कि उसके अर्थतन्त्र पर प्रतिकूल दबाव पड़े। इससे बचने के लिए कई बार इस प्रकार के ऋण की अवधि और भविष्य में भरने की रकम के हिसाब से हर साल 'ऋण फण्ड' में निश्चित रकम जमा की जाती है। ऐसा करने से कारोबार में अपव्ययों पर भी अंकुश आयेगा और ऋण की रकम के धीरे धीरे इकट्ठा होने में अर्थतन्त्र पर बोझ भी नहीं पडेगा।

(३) अन्त में तो ये ऋण आयात के मुकाबले में अधिक निर्यात करके ही चुकाने पडते हैं। परन्तु कई बार आज की गलाकाट होड के कारण अन्तर्राष्ट्रीय

बाजार मे अर्धविकसित देशो का माल चलता ही नही। ऐसी परिस्थिति मे विदेशी
ऋण पूरा करना अर्धविकसित देशो के लिए बहुत मुश्किल हो जाता है। अब समय
आ गया है कि विकसित देश इस प्रश्न पर बहुत ही सहानुभूतिपूर्वक और समझदारी
से सोचें।

विदेशी पूँजी के प्रति सरकार की नीति—

१९वी शताब्दी के उत्तरार्ध म, आन्तरिक पूँजी की कमी के कारण, विदेशी
पूँजी की सहायता से, सरकार ने रेलो और नहरो का निर्माण कराया। चाय और
काफी के बगीचा, कोयला व जूट उद्योगो के विकास मे भी विदेशी पूँजी काम आई।
किन्तु विदेशी पूँजीपतियो ने अपना स्वार्थ ही सर्वोपरि रक्खा तथा देश का आर्थिक
और राजनैतिक शोषण किया। अत भारत म विदेशी पूँजी को घृणा की दृष्टि से
देखा जाने लगा। फिर भी, विभिन्न समितियो और आयोगो ने विदेशी पूँजी के महत्व
को स्वीकार किया। सन् १९२५ की विदेशी पूँजी समिति (External Capital
Committee) ने इस बात पर बल दिया कि विदेशी पूँजी का विनियोजन भारतीय
हितो के अनुसार होना चाहिए। सन् १९३५ के भारतीय सविधान मे भी विदेशी
पूँजी पर कोई बन्धन नही था। राष्ट्रीय योजना समिति (NPC) ने भी यह सुझाव
दिया था कि विदेशी पूँजी का सहयोग सरकार की अनुमति से और सरकार द्वारा
निर्धारित शर्तो के अनुसार किया जाना चाहिए। सन् १९४८ की प्रथम औद्योगिक
नीति मे सरकार ने विदेशी पूँजी के महत्व को स्वीकार किया। किन्तु यह भी स्पष्ट
कर दिया कि विदेशी पूँजी पर आवश्यक नियन्त्रण रखा जायगा। सन् १९४९-५०
के प्रशुल्क आयोग ने यह मत प्रगट किया कि विदेशी पूँजी का उपयोग सरकारी क्षेत्र
मे किया जाना चाहिए, विशेषत उन योजनाओ के लिये, जिनमे अधिक आयात
करना पडता है। चूँकि उन दिनो राष्ट्रीयकरण आदि विवादो के कारण विदेशी
पूँजी की स्थिति अस्पष्ट थी, इसलिए उसने देश मे विदेशी पूँजी के विनियोजन के
लिए उचित वातावरण बनाने पर बल दिया।[1]

फलत ६ अप्रैल १९४९ को स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने
विदेशी पूँजी के सम्बन्ध मे सरकारी नीति की घोषणा की थी, जिसकी प्रमुख बातें
निम्न है —(i) विदेशी पूँजी के नियमन का उद्देश्य यह होगा कि विदेशी पूँजी इस
प्रकार से उपयोग की जाये, जिससे कि वह देश के लिए अधिक लाभप्रद हो सके।
(ii) विदेशी पूँजी अतिरेक पूँजी के अनुपूरक का कार्य करेगी तथा कई क्षेत्रो मे
अत्यावश्यक वैज्ञानिक, प्राविधिक और औद्योगिक ज्ञान व पूँजीगत वस्तुयें उपलब्ध
कराने मे सहायक होगी। (iii) देशी एव विदेशी पूँजी मे कोई भेद-भाव नही किया

1 "It should be the duty of the State Policy to create and main-
tain conditions favourable for the inflow of all such foreign
capital as desired to come to India."

जायेगा तथा सरकार विदेशी हितो पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं लगायेगी। (iv) देश की विदेशी मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए सरकार विदेशी विनियोजको को लाभ व पूँजी को स्वदेश भेजने के लिए उचित सुविधायें देगी। (v) भविष्य मे उद्योग का राष्ट्रीयकरण होने पर विदेशी विनियोजको को न्यायोचित हर्जाना दिया जायेगा। (vi) कुछ दशाओ को छोड कर अन्य सब दशाओं मे स्वामित्व और प्रभावपूर्ण नियन्त्रण भारतीयों के हाथ मे रहे। इस प्रकार से विदेशी पूँजी व तत्सम्बन्धी व्यवसाय सरकार द्वारा नियन्त्रित किया जायगा। (vii) यदि विदेशी कम्पनियां भारतीय हितो के अनुकूल तथा सहयोगी व रचनात्मक ढङ्ग से कार्य करती रहे, तो सरकार उन्हें कोई हानि नही पहुँचायेगी।

वर्तमान समय म भी इस नीति का पालन किया जा रहा है। अभी हाल मे यह नियम भी बनाया गया है कि विदेशी कम्पनियो द्वारा सचालित सभी उद्योगों के प्रबन्ध और स्वामित्व के आधे से अधिक भाग देश की सरकार या प्राइवट कम्पनियो का रहना चाहिए। अन्य शब्दो मे, विदेशी पूँजी के लिए स्वीकृति सहकारिता या सहिभागिता के आधार पर ही दी जायेगी। वर्तमान विदेशी कम्पनियाँ अपने समस्त अधिकारो का प्रयोग कर सकती है बशर्ते वे भारतीय हित मे बाधक न बने और भारतीय कर्मचारियो को प्रशिक्षण सुविधायें प्रदान करे।

लोकतन्त्रात्मक जीवन शैली की रक्षा करने एव उसे सुदृढ बनाने के लिए समाज मे स्थिरता रखना जरूरी है। अत नव स्वतन्त्रता-प्राप्त देशो मे जहा व्यक्तिगत आय और सम्पत्ति की विषमतायें बहुत है, इस बात पर ध्यान देना बहुत जरूरी है कि वहाँ अधिक सत्ता कुछ लोगो के हाथो म केन्द्रीभूत न हो जाय, क्योंकि इससे देश की सामाजिक और राजनैतिक स्थिरता को, जिसे सभी लोकतन्त्रात्मक शासन पद्धति के देश चाहते हैं, गहरा धक्का लगेगा। राजनैतिक स्थिरता से देश मे विदेशी पूजी के प्रभाव को बल मिलता है क्योंकि इससे लोगो मे इन देशो के आर्थिक विकास के प्रति आस्था और विश्वास दृढ होता है।

वर्तमान उद्योगो मे विदेशी उद्योगपतियो द्वारा उत्तरोत्तर अधिक पूँजी लगाने और नये लोगो द्वारा पूँजी लगाने म सकोच की प्रवृत्ति से यह नतीजा निकाला जा सकता है कि जो लोग भारत को अच्छी तरह जानते है वे भारत मे ज्यादा से ज्यादा पूँजी लगाने के लिए तैयार है। इस बात का समर्थन ब्रिटेन के उद्योगपतियो न भारत के उद्योगो मे आजादी मिलने के बाद जो भूमिका अदा की है उससे भी होता है, क्योकि ब्रिटेन के व्यापारी भारत को ज्यादा नजदीक से जानते है।

भारत मे निजी विदेशी पूँजी विनियम को बढावा देने के लिए यह जरूरी है कि सभी सम्भावी पूँजी विनियोगकर्त्ताओ को भारत के विषय मे अधिक जानकारी दी जाय। यह एक ऐसा काम नहीं है कि जिसके लिए केवल सरकारी कार्यवाही जरूरी हो इस कार्य के लिए अब एक गैर सरकारी सस्था स्थापित की गई है जिसको पूँजी विनियोग केन्द्र (इन्वेस्टमेंट सेण्टर) कहते हैं। इस सस्था के कार्य निम्न है —

(i) पूँजी निर्यात करने वाले देशों में भारत की विनियोजन नीति एवं कार्यविधि का प्रचार करना, (ii) भारतीय उद्योगपतियों को विदेशी पूँजी आकर्षित करने में सहायता देना, (iii) विदेशी व्यापारियों को भारत में पूँजी लगाने के सम्बन्ध में सलाह देना, (iv) विशिष्ट उद्योगों में विदेशी पूँजी प्राप्त करने की सम्भावनाओं का पता लगाना, (v) सूचनायें प्रसारित करना।

पूँजी विनियोग केन्द्र (Indian Investment Centre) को अपने प्रयत्नों में पर्याप्त सफलता मिली है। कनाडा, इंगलैंड, अमेरिका, प० जर्मनी, स्विटजरलैंड, बेल्जियम और जापान के बहुत से उद्योगपतियों ने केन्द्र के माध्यम से भारतीय उद्योगों में पूँजी-सहयोग के समझौते किये हैं।

पिछले वर्षों में कई प्रतिनिधिमण्डल भी विदेशों में गये हैं और उन्होंने विदेशियों को भारत में पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित किया है। अच्छा हो, यदि भारतीय बैंकों की विदेशी शाखाओं में 'सूचना केन्द्र' स्थापित कर दिये जायें, जिनमें विदेशी विनियोजकों को भारत में विनियोजन सम्बन्धी सूचनायें तत्काल मिल सकें।

देश में विनियोग के वातावरण को सुधारने के लिए सामान्य उपाय करने के अतिरिक्त सरकार ने अन्य कदम भी उठाये हैं जो इस प्रकार हैं —(i) विदेशी विनियोग या सहयोग वाले मामलों पर जल्दी ही निर्णय लिये जा सकें, इस हेतु जाँच पड़ताल सम्बन्धी नियमानुसार कार्यविधियों में सुधार करना, (ii) प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों में विदेशी पूँजी और तकनीकी ज्ञान के नियमित प्रवाह को उत्साहित करने के लिए करों में रियायतें देना, जैसे—लाभांशों को सुपरटैक्स से छूट देना इन्जीनियरिंग सेवाओं पर कर की दर घटाना, विदेशियों को स्वीकृत प्रतिभूतियों से प्राप्त होने वाली आय कर से मुक्त करना, सरकार की अनुमति से भारतीय कम्पनियों को जो ऋण दिये गये हों उन पर कर से विदेशी विनियोजकों को मुक्त करना, विदेशों से दोहरे करारोपण के बचाव के ठहराव करना, विदेशी टेक्नीशियनों की तनख्वाहों के सम्बन्ध में कर मुक्त समयावधि बढ़ाकर ५ से ७ वर्ष करना, विदेशियों द्वारा भारतीयों को शेयरों के हस्तान्तरण से जो पूँजीगत लाभ हो उस पर कर न लेना। प० जर्मनी ने भारत में विनियोग करने वाले जर्मनी नागरिकों को बीमा-सुविधायें दी हैं जिसके बदले में भारत ने प० जर्मनी को कुछ विशिष्ट रियायतें दी हैं।

अधिक विशाल मात्रा में विदेशी प्राइवेट पूँजी प्राप्त करने के उद्देश्य से, भारत सरकार ने कैपीटल प्रोजेक्ट आरम्भ करने के लिए विदेशी कम्पनी को ही लैटर्स ऑफ इन्टैन्ट (Letters of Intent) देने का निर्णय किया है। अब तक यह होता था कि सरकार विदेशी कम्पनी से कोई भारतीय साझेदार ढूँढने को कहती थी और फिर ऐसे साझेदार को ही लैटर ऑफ इन्टैन्ट प्रदान करती थी। इन उपक्रमों के लिए भारतीय मुद्रा की व्यवस्था करने हेतु औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) की सेवायें उपलब्ध कर दी गई हैं। यह भी घोषित किया गया है कि विदेशियों द्वारा

किसी भारतीय बैंक में जमा कराई गई रकम पर जो ब्याज प्राप्य होगा उस पर कर नहीं लिया जावेगा।

वातावरण विनियोग के अनुकूल—

भारत में विदेशी उद्योगपतियों को पूँजी लगाने हेतु वातावरण पहले की अपेक्षा बहुत ही अनुकूल है। भारत का निजी क्षेत्र उसके सम्पूर्ण विनियोग का एक बड़ा हिस्सा है और उसका योगदान राष्ट्रीय उत्पादन के ८६ प्रतिशत के बराबर है। यह क्षेत्र पर्याप्त कुशल और उत्तरदायी है। इसका अपना सुव्यवस्थित संगठन है और जब कभी सरकार या अन्य कोई शक्ति इसको चोट पहुँचाने का यत्न करती है तो यह उसका मुकाबला भी करता है। हमारी सरकार यह समझने लगी है कि कन्ट्रोलों से उद्देश्य पूरा नहीं होता, इसलिए मूल्य उत्पादन और वितरण पर से कन्ट्रोल जगह-जगह हटाए जा रहे है। हमारी मुद्रा और राजकोषीय नीतियाँ भी अर्थतन्त्र के विकास के अनुरूप ढाली जा रही है। कृषि के मोर्चे पर भी स्थिति में सुधार हुआ है। दो वर्ष का सूखा अब अतीत की चीज बन गई है। लेकिन पिछले दो वर्षों में उद्योगों की स्थिति अच्छी नहीं रही है। महँगाई के कारण शहरों में माल की माँग कम हो गई। किन्तु कृषि उत्पादन बढ़ने से माग अब फिर बढ़ने लगी है। बैंक दर भी कम कर दी गई है और रिजर्व बैंक ने ऋण की शर्तें उदार कर दी हैं। उत्तरोत्तर बढ़ते हुए विकास व्यय से सरकार ने विश्राम लिया है। लेकिन अन्य सब सरकारों की भाँति भारत सरकार भी अपना प्रशासनिक व्यय नहीं घटा सकी है।

दूसरी ओर निजी क्षेत्र ने भी यह समझ लिया है कि कहा-कहीं सरकारी प्रयत्न भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। सरकार के उत्पादक व्यय में कटौती से कल-कारखाने बन्द होने लगते है। नींव के निर्माण में हम सरकार का नेतृत्व चाहते है क्योंकि यह आवश्यक और उत्पादक है। हमारे देश में सरकारी व निजी दोनों क्षेत्रों ने कुछ सबक सीखे हैं। अब चौथी योजना का उद्धार करने में लगे है।

इस प्रकार भारत के अन्दर परिस्थितियाँ अर्थतन्त्र के तेज विकास के अनुरूप है। यह विकास हम कहाँ तक कर पायेंगे यह इस बात पर निर्भर करता है कि हमारे वैदेशिक व्यापार को तुला हमारे पक्ष में झुकी हुई हो। भारत जैसे विकासशील देश में विकास विदेशी मुद्रा की उपलब्धि पर निर्भर करता है यह मुद्रा व्यापार और विदेशी विनियोग से ही प्राप्त हो सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि विकसित देशों के लिए एक-दूसरे के यहाँ पूँजी लगाना ज्यादा आकर्षक है लेकिन विकासशील देशों में पूँजी लगाना उससे भी ज्यादा फायदेमन्द है। यहाँ तक भारत का सम्बन्ध है वहाँ निरन्तर विकास के लिए भूमि तैयार है। भारत उन थोड़े से देशों में से है जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी का विनियोग हो सकता है। वहाँ उन्हें अपने विनियोग पर अच्छा मुनाफा मिलेगा।

कर लगाए जाने से पूर्व विनियोजित पूँजी पर लाभ वाजिब तौर पर काफी ज्यादा होता है, इसलिए विशुद्ध लाभ की राशि विकसित देशों में सामान्य तौर पर

अर्जित की जाने वाली धन राशि से अधिक होती है। विकासशील देशों द्वारा करो में विभिन्न रियायतें दिये जाने और विनियोग में भाग लेने वाले देशों की सरकारों के बीच दोहरे कर न लगाये जाने के लिए समझौते के बावजूद यदि पूँजी विनियोजक को पूरा लाभ नहीं मिल पाता है, तो इसकी वजह यह है कि विदेशी पूँजी विनियोजक को अपने देश में कर्जा केवल इस आधार पर दिया जाता है कि वह अपनी सरकार को कितना कर देता है, जो स्वभावतः समझौते के अनुसार बहुत कम होता है।

श्री बिरला ने पूँजी विनियोजकों की मदद के लिए एक दिलचस्प ढङ्ग का सुझाव दिया है जो यह कि पूँजी लगाने वाले देशों की सरकार को चाहिए कि वह अविकसित देशों में लगाई जाने वाली पूँजी के एक अंश को कर-मुक्त रखे। इस तरह की रियायत से अधिक जरूरतमंद देशों में अधिक निजी पूँजी आयेगी। उन्होंने कहा कि कुछ विकासशील देशों ने जिनमें एक भारत भी है, उत्पादन और वितरण पर कई नियन्त्रणों में ढील दे रखी है। स्थिति को अनुकूल बनाने के लिए पूँजी विनियोजक को अपने देश में तैयार माल के निर्यात के लिए अपने साधनों का उपयोग करना चाहिए और उसके देश की सरकार को ऐसे माल पर कोई आयात प्रतिबन्ध नहीं लगाने चाहिए। इससे विकासशील देशों को अपने कर्जों की अदायगी और विदेशी मुद्रा कमाने में मदद मिलेगी। उन्होंने शिकायत की कि कुछ विदेशी टेक्नीशियनों में उत्पादन की स्थानीय समस्याओं को हल करने में वह उत्साह नहीं पाया जाता है जो वे अपने देश में दिखाते हैं। यह संयुक्त रूप से चलाए जाने वाले उद्योग में हानिकारक प्रमाणित हुआ है।

विदेशी पूँजी सम्बन्धी वर्तमान स्थिति

(I) विदेशी सहायता (External Assistance)—

विदेशी सहायता से अभिप्राय उस सहायता का है जो सरकारी स्तर पर प्राप्त होती है। इसका प्रयोग पब्लिक एवं प्राइवेट दोनों ही सेक्टरों में हुआ है। विभिन्न देशों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से भी सहायता मिली है। इसमें अनुदान (जो कि भेंट स्वरूप हैं, अतः लौटाने नहीं पड़ेंगे), P. L. 480 और P. L. 665 के अन्तर्गत अमेरिकी सहायता एवं ऋण (रुपयों में लौटाये जाने वाले एवं विदेशी मुद्रा में लौटाये जाने वाले) सम्मिलित हैं।

सितम्बर १९६७ तक भारत को विदेशी सहायता के रूप में कुल ५४२४'४१ करोड़ रु० प्राप्त हुये। १९६७-६८ में ८६१ करोड़ रु०, १९६८-६९ में ५२१ करोड़ रु० और १९६९-७० (अप्रैल-सितम्बर) में २८० करोड़ रु० की शुद्ध विदेशी सहायता मिली। सर्वाधिक विदेशी सहायता अमेरिका ने प्रदान की। सहायता देने वाले देशों में दूसरा स्थान सोवियत संघ का है। तीसरा स्थान विश्व बैंक का है।

विदेशों से प्राप्त होने वाली सहायता के सम्बन्ध में निम्न प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती हैं —(1) विगत वर्षों में भारत को प्राप्त विदेशी सहायता में निरन्तर वृद्धि हो रही है, जिसका कारण यह है कि योजना व्यय बराबर बढ़

रहा है। (ii) विदेशी मुद्रा मे चुकाने योग्य ऋणो की मात्रा मे तेजी से वृद्धि हुई है किन्तु अनुदान और P L 480 के अन्तर्गत प्राप्त राशियाँ घट गई हैं, जिनका स्वाभाविक परिणाम यह है कि सामान्य कर भार मे वृद्धि होती जाती है। (iii) विदेशी ऋणो की शर्तों म बहुत उदारता आई है—व्याज दर कम हुई है तथा ऋण लौटाने की अवधि अपेक्षत लम्बी की गई है। (iv) यद्यपि व्याज दर घटी है तथापि ऋण की बढ़ती हुई मात्रा के कारण कुल देय व्याज बढ़ा है। यदि विदेशी कम्पनियो द्वारा अर्जित एव प्रेषित लाभाश को भी सम्मिलित कर लिया जाय, तो वार्षिक व्याज की रकम कुल विदेशी मुद्रा कमाई (चालू) का २०% है। (v) विदेशी ऋणो को लौटाने मे कठिनाई होने लगी है, क्योकि विदेशी ऋणो मे स्थापित कारखाने विलम्ब से फल देने वाले है। इसी कारण भारत ने ऋणदाता देशो से ऋण लौटाने की तिथियां स्थगित करने का अनुरोध कई बार किया। (vi) भारत-पाक युद्ध के कारण कुछ समय तक दोनो देशो को विदेशी ऋण मिलने बन्द हो गये थे किन्तु अब फिर आरम्भ हो गये है।

(II) भारत मे विदेशी व्यावसायिक विनियोग—

प्राइवेट सेक्टर मे विदेशी विनियोग या विदेशी व्यावसायिक विनियोग (Foreign Business Investment) वे दीर्घकालीन स्वभाव के विनियोग है जो भारत मे व्यावसायिक उपक्रमो मे गैर-निवासियो (non-residents) द्वारा किये गये है। इनमे (अ) विदेश स्थापित कम्पनियो की भारत मे कार्य करने वाली शाखाओ के शुद्ध विदेशी दायित्वो और (ब) भारतीय कम्पनियो मे विदेशियो द्वारा खरीदे गये अश (आनुपातिक स्वतन्त्र कोषो समेत) एव ऋण-पत्र सम्मिलित होते है। अभी तक भारत मे प्राइवेट सेक्टर मे विदेशी विनियोग प्राय विदेशी प्राइवेट एजेन्सियो द्वारा किये गये है। लेकिन आधुनिक वर्षों मे ऐसे विनियोगो का एक पर्याप्त भाग वह है जो प्राइवेट कम्पनियो ने विश्व सस्थाओ से ऋण लिया है। मार्च १९६७ के अन्त मे प्राइवेट सेक्टर मे विदेशी विनियोगो का मूल्य १,१११ करोड रुपये था।

संयुक्त उपक्रम (विदेशी सहयोग)—

आधुनिक वर्षो मे विदेशियो ने भारतीय व्यवसायियो के साथ मिलकर सयुक्त उपक्रम स्थापित करने आरम्भ किये है। इनमे विदेशी व्यवसायी अश पूंजी खरीदते है, तकनीकी सेवायें प्रस्तुत करते है, औद्योगिक उपक्रमो की प्रारम्भिक जोखिम झेलते हैं और साथ ही भारतीय विनियोक्ता भी उनके सहयोग के कारण ऐसे उपक्रमो मे अधिक पूंजी लगाने हेतु उत्साहित होते हैं। ३० सितम्बर १९६९ तक सरकार ने २,९९० विदेशी सहयोग के प्रार्थना-पत्र स्वीकार किये थे, जिनका देश क्रम से वितरण इस प्रकार था :—यू० के० ८०६, अमेरिका ५३६, प० जर्मनी ४६१, जापान २६२, स्विटजरलैंड १३७, फ्रास ११५, इटली ८१, पू० जर्मनी ६०, हालैंड ४५, स्वीडन ५१, डेनमार्क ३५, चैकोस्लोवाकिया ३३, आस्ट्रिया २४, बेल्जियम २५, पोलैंड १८, कनाडा २०, हगरी १६, यूगोस्लाविया १४, फिनलैंड ५, पनामा ४, पाकिस्तान २,

अन्य २३२। इस प्रकार यू० के०, अमेरिका और प० जर्मनी इन तीन देशों का भाग ६०% से भी अधिक था। सरकारी अर्थ-व्यवस्था वाले देशों (पू० जर्मनी, चैकोस्लावाकिया, पोलैण्ड, हंगरी और यूगास्लोविया) में हुए समझौतों की संख्या १४१ है जबकि शेष देशों में २७४६ समझौते हुये।

३० जून १९६७ तक जो २,१३० सहयोग-समझौते सरकार द्वारा स्वीकार किये गए थे उनका उद्देश्य क्रम से वितरण यह था —मशीनरी ७८६, इलेक्ट्रिकल मशीनरी ४४२, केमीकल प्रोडक्ट्स १५६, यातायात इक्विपमेंट ६० (इन चारों का शेयर कुल के ५०% से भी अधिक है), लोहा व इस्पात ७३, दवाइयां ५६, बुनियादी औद्योगिक रसायन ५२, कागज ४०, सीमेंट २४, रबर २४, सूती वस्त्र २७, सिल्क एवं वूलिन २०, व्यापारिक १४, बागान १३ चीनी ११, अल्यूमिनियम ६, विद्युत उत्पादन १२, जूट ३, शिपिंग ४, बैंकिंग व बीमा १०, अन्य ८८४।

उल्लेखनीय है कि सहयोग-समझौतों की वार्षिक संख्या घटने लगी है। इसका कारण यह है कि अब अधिकांश लाभप्रद दिशायें प्रयोग में आ चुकी हैं तथा विदेशी तकनीक के उपयोग की सम्भावनायें भी खत्म होने लगी हैं।

विदेशी ऋण की समस्यायें

विदेशी ऋणों का कमर तोड़ बोझ—

विकास के पथ पर अग्रसर देशों को अन्य देशों से सहायता लेनी पड़े, इसमें कोई बुराई नहीं है। किन्तु भारत की पर-निर्भरता जिस हद तक बढ़ गई है वह चिन्ता का विषय है। विदेशों द्वारा दी गई सहायता का बोझ जब कमर तोड़ने की सीमा तक पहुँच जाए, तो सतर्क हो जाना चाहिये। वर्ष प्रतिवर्ष भारत पर विदेशी ऋण का बोझ बढ़ता ही जाता है। हम महत्वाकांक्षी योजनायें बनाते हैं, उन योजनाओं की पूर्ति के लिये हमें विदेशों से ऋण लेना होता है। फिर धीरे-धीरे ऋणों की उस राशि का ब्याज ही इतना चढ़ जाता है कि उसे चुकाने में भी परेशानी होती है। मूलराशि तो चुकाने का जब नम्बर आयेगा तब आयेगा, ब्याज चुकाने के लिए भी हमें फिर विदेशियों से ही और ऋण मांगना पड़ता है। इस प्रकार भारत सदा हाथ में भिक्षा-पात्र लिए ही रहता है। चौथी पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक भारत की ऋणों के ब्याज की ही देनदारी २१ अरब ५६ करोड़ रुपये तक पहुँच जायेगी।

ब्याज और कर्जों की अदायगी की देनदारी का यह बोझ तभी कम हो सकता है, जबकि ब्याज की दर कम हो और साथ ही उनकी अदायगी अधिक लम्बी अवधि में हो। इसीलिए भारत को पेरिस में हुई भारत सहायता संघ की बैठक में यह प्रार्थना करनी पड़ी कि उसके विदेशी ऋणों की अदायगी के कार्यक्रम में परिवर्तन किया जाय या उसे उनकी अदायगी के लिए अधिक मियाद दी जाए।

ऋणों के प्रयोग में अपव्यय—

किन्तु विदेशी ऋणों का एक और पहलू भी है। भारत ने पिछले बीस वर्षों

में ८,००० करोड़ रु० का सामान मगाया। यह ८,००० करोड़ रु० का सामान इस प्रकार था १ ३०० करोड़ रु० के पुर्जे १,००० करोड़ रु० का लोहा और इस्पात, १,४०० करोड़ रु० के पट्रोलियम उत्पादन, २,३०० करोड़ रु० का अनाज, २०० करोड़ रु० के उर्वरक ५०० करोड़ रु० के रासायनिक पदार्थ और १,२०० करोड़ रु० की रुई। इसके अलावा और भी कितना ही सामान विदेशों से आयात किया गया, जिसमे उपभोग्य वस्तुएँ और बहुत सी मशीनरी भी शामिल हैं। लेकिन अगर हमने समझदारी से काम लिया होता और अपनी योजनाओं को ठीक ढग से बनाया होता तो हम इसमे से ६०० करोड़ रु० की बचत कर सकते थे। उस दशा में हमारा विदेशी कर्जों का बोझ उतना नहीं होता जितना आज है। इस बात को यो स्पष्ट किया जा सकता है कि एक रुपये की वस्तु का उत्पादन करने के लिए तीन रुपये का विनियोग करना पड़ता है। यदि हम ८०० करोड़ रु० का सामान इस देश मे प्रति वर्ष तैयार करते थे तो हम उसके लिए आज से १५ या २० वर्ष पूर्व करीब २ ४०० करोड़ रु० विनियोग करना पड़ता जिसमे से उस समय के हिसाब से आधा अश यानी १,२०० करोड़ रु० देशी मुद्रा के रूप मे और १,२०० करोड़ रु० विदेशी मुद्रा के रूप मे होता। यदि इन बीस वर्षों मे से १० वर्ष भी हम या उत्पादन ८०० करोड़ रु० वार्षिक के हिसाब से होता रहता तो हम ८,००० करोड़ रु० की बचत कर लेते और यदि अधिक नही, पाँच वर्ष ही हमारी उत्पादन की यह रफ्तार रहती तो भी कम से कम ४,००० करोड़ रु० की बचत हो जाती।

लेकिन हमारी सरकार के सामने समाजवाद का आदर्श था, और व्यावसायिक वृद्धि की उसमे कमी थी, इसलिए परिणाम यह हुआ कि उसने औद्योगिक विकास एव योजना को क्रियान्वित करने के लिए औद्योगिक नीति अपनाई। उसने देश को ८,००० करोड़ रु० के औद्योगिक उत्पादन से वचित कर दिया। उदाहरण के लिए भारत प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा मे लोह खनिज निर्यात करता है और विदेशों से तैयार इस्पात आयात करता है। यदि भारतीय उद्योगपतियों को भारत मे ही इस्पात कारखाने की अनुमति दे दी जाती तो विदेशो से तैयार इस्पात का आयात करने की आवश्यकता न पड़ती। किन्तु इस तरह के सभी मामलो मे समाजवाद का आदर्श आड़े आ गया और परिणाम यह हुआ कि या तो सरकार ने इस्पात कारखाने स्वय खोले और उन्होंने प्रबन्ध कौशल और अनुभव की कमी के कारण लाभ के बजाय घाटा दिया, या विदेशों से इस्पात का आयात करने मे हमे अपनी कीमती विदेशी मुद्रा को व्यय करना पड़ा।

यदि हमने आदर्शवाद को आड़े न आने दिया होता और अपने देश के भीतर ही गैरसरकारी क्षेत्र के अनुभव का लाभ उठाकर उत्पादन किया होता तो आज हम विदेशी कर्जों में गले तक डूबे न होते और हमे भिक्षापात्र लेकर अन्य देशों के सामने गिड़गिड़ाना न पड़ता। यदि सरकार अब भी अपनी नीतियो मे परिवर्तन करे और

गैरसरकारी क्षत्र को देश के विकास म योग दन का अवसर दे तथा विदेशो स प्राप्त ऋण का पूर्ण सदुपयोग करे एव निर्यात बढाने के लिए अनुकूल परिस्थितिया पैदा करे तो स्थिति सुधर सकती है।

यह ठीक है विदेशी ऋण लिए बिना किसी भी अल्पविकसित दश का लोक-तन्त्रीय ढङ्ग से आर्थिक विकास करना आसान नही है। अल्पविकसित दश इस स्थिति म नही होते कि औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मशीनरी एव अन्य परिष्कृत उपकरण स्वय बना सक। उन्ह उनको बाहर स आयात करना ही पडता है। इसके अलावा उनके पास तकनीकी ज्ञान भी पर्याप्त नही होता वह भी उन्ह बाहर से ही प्राप्त करना पड़ता है। यही कारण है कि भारत को भी विदशो म बहुत बडी मात्रा म कर्ज लेना पडा है।

परन्तु यदि सरकार आयात निर्यातकर्त्ताओ को आयात के बीजक कम मात्रा के और निर्यात के बीजक कम मात्रा के बनाने की प्रवृत्ति स रोकने के लिए कड़े कदम उठाती और विदशी कम्पनियो को भारत म प्राप्त मुनाफा का अधिक भाग इसी देश म पुर्नानवश करने के लिए प्रेरित कर सकती तो विदेशी मुद्रा की कुछ बचत होती और इस प्रकार हमारा विदशी ऋणो का बोझ कुछ हल्का हो जाता।

सहायको का कर्त्तव्य—

इसके अलावा जो विकसित देश अल्पविकसित दशा को विकास के लिए सहायता देते है उनका भी यह कर्त्तव्य होता है कि वे अल्पविकसित देशो द्वारा अपने यहा विकास के फलस्वरूप तैयार किए गए सामान को खरीदे। यदि अल्पविकसित दश हमेशा प्राथमिक उत्पादो के ही निर्यातकर्त्ता बन रह तो उनके औद्योगिक विकास का लक्ष्य पूरा नही हो पाता। स न्त राष्ट्रीय व्यापार एव विकास सम्मेलन ने १९५० और १९६० के बीच एक अध्ययन म यह अनुभव किया कि विकसित दशो से निर्यात किए गए सामान मूल्यो म तो पा र प्र तशत की वृद्धि हो गई जबकि अल्पविकसित दशो से निर्यात किए गए माल के मूल्य १५ प्रतिशत गिर गये। इस प्रकार विकासोन्मुख दशो को अपने निर्यात व्यापार से भारी नुकसान उठाना पडा। इन दशो म भारत भी है। विकासोन्मुख दशो न इस समस्या के हल के लिए जो भी प्रयत्न किए उन्हे विकसित देशो ने व्यर्थ करने का प्रयत्न किया। इसका कारण शायद यह नही है कि विकसित दश अल्पविकसित देशो की सहायता नही करना चाहते। कठिनाई यह है कि व अपने निजी स्वार्थ को अधिक महत्त्व देते है। इस सम्बन्ध म विकसित देशो को अपन रुख मे परिवतन करना चाहिए। जब तक अल्पविकसित देशो का निर्यात नही बढ़ेगा और निर्यात से उन्हे बचत नही होगी तब तक उनके लिए अपने विदशी ऋण उतारना कैसे सम्भव होगा।

चौथी योजना की पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताय

इसम भारत के सामने यह समस्या पैदा हो गई है कि यदि विदेशो स सहायता न मिल तो उस अपन पिछले ऋणो और ब्याज की अदायगी स्थगित करने के

लिए भी ऋणदाता देशो से प्रार्थना करनी पडेगी। इसलिए भारत को विकास योजनाओ को जारी रखने, उसके कारखानो की बेकार क्षमता को चालू करने, अन्न के आयात की आवश्यकता पूरी करने एव पुराने ऋणो को ब्याज सहित अदायगी करने के लिए विदेशो से सहायता मिलना जरूरी है। राजनीतिक शर्तों के बिना यदि अर्थव्यवस्था मे सुधार के लिए ऋणदाता देशो या विश्व बैक से कोई उपयोगी सुझाव प्राप्त हो तो उन्हे स्वीकार करने का अर्थ देश की प्रभुसत्ता का बेचना नही समझा जाना चाहिए। भारतीय अर्थ-व्यवस्था को पूरी तरह अपने ही भीतर से अपनी आवश्यकतायें पूरी करने योग्य होने मे अभी १५ वर्ष और लगग। तब तक विदेशी सहायता से हमारा छुटकारा नही हो सकता। चौथी योजना मे २ ५१४ करोड रुपये की वैदेशिक सहायता की आवश्यकता आकी गई है और उसे प्राप्त करने के प्रयत्न किए जा रहे है।

भारत विदेशी सहायता पर कितना अधिक निर्भर है, यह इस बात से प्रकट हो जाता है कि विदेशी मुद्रा के अभाव मे कच्चा माल और पुर्जो का आयात न होने के कारण बहुत से कारखाने अपनी पूरी उत्पादन क्षमता का उपयोग नही कर पाये। विदेशो से जो सहायता हमे मिलती है, उसका अधिकतर अश परियोजनाओ मे बँधा होता है। लेकिन हमारे सामने ऐसी सहायता की भी समस्या है, जो किसी परियोजना से बँधी न हो और जिससे हम अपने उद्योगो को चालू रखने के लिए विदेशो से कच्चा माल और पुर्जे मँगा सकें। सन्देह नही, कि तीसरी योजना मे भारत की आर्थिक वृद्धि की गति कृषि और औद्योगिक, दोनो क्षेत्रो मे मन्द हुई है। इसलिए विश्व बैंक और भारत को सहायता देने वाले पश्चिमी देश यह चाहते है कि वे भारत को जो सहायता देते हैं, उसका उचित उपयोग हो और उससे देश की आर्थिक वृद्धि अधिक तेजी से हो सके।

वास्तव मे जो देश सहायता देता है उससे यह नही कहा जा सकता कि उसे सिर्फ अपने ऋण की वापसी और ब्याज पर ही नजर रखनी चाहिए, उसकी दी हुई सहायता का उपयोग कैसा होता है, इससे उसका कोई वास्ता नही। कारण, ये देश भी अपनी जनता से इकट्ठा किया हुआ धन ही सहायता मे देते हैं।

उपसंहार—

पिछले कुछ समय से सहायता देने वाले देशो की प्रवृत्ति सहायता देने के विरुद्ध हो रही है। स्वय अमरीका की विदेशी सहायता जहाँ १५ वर्ष पूर्व अपने राष्ट्रीय उत्पादन का २ प्रतिशत थी, वहाँ अब वह आधा प्रतिशत रह गई है जिसकी ओर एक सीनेटर ने ध्यान भी खीचा था। यह स्थिति तब है, जबकि अमरीका की समृद्धि इन १५ वर्षों मे बहुत अधिक बढ गई है।

ब्रिटेन की इन्स्टीट्यूट ऑफ इकनामिक अफेयर्स ने 'ट्रू ब्यूज आन ऐड टू डेवलपिंग कन्ट्रीज' नाम से एक पुस्तक हाल मे ही प्रकाशित की है जिसमे ब्रिटिश अर्थशास्त्री पी० टी० बावर ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि अल्पविकसित देशो

को विकास के लिए विदेशी सहायता नही दी जानी चाहिए क्योंकि इन देशो मे उस सहायता का उपयोग करके अपना विकास करने के लिए आधारभूत परिस्थितियों का अभाव होता है। लेखक ने लिखा है—"विदेशी सहायता अविकसित देशो के भौतिक दृष्टि से पिछडेपन के मुख्य कारणो पर प्रभाव नही डालती। इसीलिए विदेशी सहायता पाने वाले देशो की गरीबी का निरन्तर जारी रहना जरा भी आश्चर्यजनक नही है।"

श्री बावर ने भारत का उदाहरण भी दिया है और कहा है कि—"सहायता पाने वाले देश, जैसे भारत, आम तौर पर अपनी सुरक्षित निधि नही बनाते, क्योंकि उन्हे डर लगता है कि ऐसा करने से उनकी सफलता उनकी विदेशी सहायता की मांग के विरुद्ध तर्क बन जाएगी।" लेखक ने जापान, मलयेशिया और हागकाग का उदाहरण देकर कहा है कि जब वे विदेशी सहायता के बिना उन्नति कर सके हैं तब अन्य देश क्यो नही कर सकते।

यद्यपि लेखक के ये सब कथन सही और तर्क सगत नही है तो भी वे उस मनोवृत्ति के परिचायक जरूर है जो पश्चिमी देशो मे विदेशी सहायता के विरुद्ध बनती जा रही है।

इसलिए यह जरूरी है कि यदि सहायता देने वाले देश भारत के राष्ट्रीय आत्म सम्मान को चोट पहुँचाए बिना देश के विकास की गति को तेज करने और सहायता मे प्राप्त धन के सदुपयोग के लिए कुछ सुझाव देते हैं तो उन्हे सद्भावना से ग्रहण करना चाहिए। भारत के राष्ट्रीय लक्ष्यो को दृष्टि में रखते हुए और किसी भी प्रकार की राजनीतिक शर्तों को स्वीकार किए बिना विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से परख कर स्वीकरणीय सुझावो को स्वीकार कर लेना गलत नही होगा।

परीक्षा प्रश्न :

१ भारत के आर्थिक विकास मे विदेशी पूँजी की भूमिका पर प्रकाश डालिये।
२. भारत सरकार की विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति का विवेचन करिये।
३ चौथी योजना की आवश्यकताओ को देखते हुये अधिक मात्रा मे विदेशी पूँजी की प्राप्ति कहाँ तक और कैसे सम्भव है?

छठा खण्ड

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं मौद्रिक सहयोग

[INTERNATIONAL ECONOMIC AND MONETARY COOPERATION]

४४

अल्प-विकसित देशों की समस्याएँ

(Problems of Economic Development in Under developed Countries)

प्रारम्भिक—

मानव के इतिहास मे दूसरा महायुद्ध एक महत्त्वपूर्ण मोड है। इस अवधि मे कई साम्राज्य धराशायी हुए उपनिवेशवाद का खात्मा और नव-स्वतन्त्र राष्ट्रो का आविर्भाव हुआ। यदि हम सत्रहवीं और अठारहवी शताब्दी पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जाएगा कि एशिया और यूरोप के लोगो के जीवन-स्तर मे विशेष अन्तर नही था। लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के बाद स्थिति पिछले डेढ-सौ वर्षो मे पूर्णतया बदल गई है। उपनिवेशवाद के युग म अपनाए गये अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के सिद्धान्त ने अनेक उपनिवेशों को कृषि पदार्थों के उत्पादक मात्र की स्थिति मे लाकर छोड दिया है। किन्तु साम्राज्यवादी राष्ट्रो ने विज्ञान और टैक्नोलॉजी के आधार पर अपने यहा नाना प्रकार के बृहत उद्योग स्थापित कर लिय। १९५० से आरम्भ होने वाले दशक तक एक ओर तो उपनिवेशवाद को बल मिलता रहा और दूसरी ओर साम्राज्यवादी देशो मे उद्योग बढते गए।

विज्ञान और टैक्नोलॉजी का प्रयोग

विभिन्न उपनिवेशो म हो रही औद्योगिक क्राति को साम्राज्यवादी राष्ट्रो द्वारा निरुत्साहित किया गया लेकिन दासता के बधनो मे जकडे हुए देशो मे विज्ञान और टैक्नोलोजी की प्रगति को ज्यादा नही रोका जा सका। कुछ क्षेत्रो मे विज्ञान और टैक्नोलोजी को सक्रिय रूप से प्रोत्साहन मिलता रहा। बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे इन देशो मे विज्ञान और टैक्नोलोजी का उपयोग महामारी और छूत से फैलने वाली बीमारियो को खत्म करने के लिए किया गया और उच्चतम स्वास्थ्य और चिकित्सा की सुविधाएँ उपलब्ध की गईं। इस चीज से मृत्यु दर कम होने और जन्म दर बढ़ते रहने के कारण जनसख्या की वृद्धि मे योग मिला। इससे पहले इन देशो की जनसख्या मे कोई वृद्धि नहीं हो रही थी क्योंकि वहाँ जन्म-दर के मुकाबले मे मृत्यु-दर ज्यादा थी। लेकिन स्वतन्त्र हो जाने पर इन देशो की लोकप्रिय राष्ट्रीय सरकारो ने चिकित्सा सुविधाएँ और स्वास्थ्य-सेवाएँ ज्यादा से ज्यादा उपलब्ध करने का भर-सक प्रयत्न किया और इसके फलस्वरूप इन देशो मे मृत्यु दर कम हो गई, लेकिन-

जन्म-दर मे कोई कमी नही हुई । इसका नतीजा यह हुआ कि इन देशो की जनसख्या अत्यधिक बढ गई ।

जनसख्या और आर्थिक साधनो के बीच परस्पर विरोध

इस प्रकार उन्नत देशो मे तो वैज्ञानिक और औद्योगिक क्रांति हुई किन्तु कम उन्नत देशो मे जनसख्या की अत्यधिक वृद्धि और अनत विस्फोट। हाल मे लगाय गये अनुमान के अनुसार जबकि विकासशील देशो मे प्रति व्यक्ति आय का औसत १२६ डालर है। समूचे विश्व के ६६% लोग गरीब देशो मे बसे हुए है। उनकी कुल आय विश्व के कुल राष्ट्रीय उत्पादन की १६% है। विश्व के लगभग ४० देशो मे, जिनमे विश्व की कुल अबादी के ३१% लोग रहते है, कुल विश्व आय के ४०% का जमाव है तथा इनका विश्व के कुल इस्पात-उत्पादन मे योग ६३%, कच्चे लोहा मे ८४% और विद्युत-शक्ति मे ७५% योग है। एक और भी ज्यादा महत्त्व की बात यह है कि इन चालीस देशो मे वैज्ञानिक अनुसधान की क्षमता ८५% है।

यदि राष्ट्रीय आय मे लगातार हर वर्ष ५ मे ६% तक वृद्धि होती रहे तो कम उन्नत देशो को यूरोपीय देशो के वर्तमान जीवन-स्तर तक पहुँचने मे ८० वर्ष और अमरीका के वर्तमान-जीवन स्तर तक पहुँचने मे १२० वर्ष लगेंगे। इस अवधि मे उन्नत-देशा का विकास अवरुद्ध नही रहेगा। खासतौर से अनुसधान की क्षमता ८५% होने के कारण उन्नत देश इस अवधि म और भी ज्यादा तरक्की कर लेंगे और इस प्रकार गरीब और अमीर देशो के बीच खाई चौडी होती जायेगी। राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय मे वार्षिक वृद्धि की बात करते समय अक्सर एक बात हम भूल जाते है कि कम उन्नत देशो म प्रति व्यक्ति आय केवल १२० डालर है जब कि उन्नत देशो मे प्रति व्यक्ति आय १,५०० डालर। अत उन्नत देशो मे इस वृद्धि का प्रतिशत यदि कम रहे तो भी कुल वृद्धि का आधार बहुत ज्यादा होता है। यहाँ आर्थिक साधनो के वितरण और जनसख्या के वितरण मे आधार-भूत विरोधाभास है, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो पर प्रभाव पडे बिना नही रह सकता। इस प्रकार विकासशील देशो के आर्थिक विकास की कोई अलग समस्या नही है, बल्कि यो कहिये इसका विश्व-समस्या या समूचे मानव समाज से सम्बन्ध है, जिसका समाधान मानव सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक है। जैसा कि श्री जवाहरलाल नेहरू ने एक बार कहा था, "मानव जाति को गरीबी और अमीरी के आधार पर बाटना इतना ही खराब और खतरनाक है जितना कि किसी एक देश म ही इस प्रकार का असन्तुलन होना।"

भूख और भुखमरी की समस्या

विश्व के सामने आज सबसे बडी चुनौती कम उन्नत देशो म व्याप्त भुखमरी और भूख की समस्या है। पिछले कुछ वर्षो मे सम्पन्न और निधन देशो के खाद्यान्न-उत्पादन का अन्तर बढता रहा है। आज से तीस वर्ष पूर्व एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के क्षेत्र अन्न निर्यात करते थे। किन्तु १६५० से आरम्भ होने वाले

दशक मे कम उन्नत देशो की जनसंख्या मे अत्यधिक वृद्धि हुई, जिससे इन देशों में खाद्यान्नो का आयात होने लगा। १९६० मे ९ करोड टन अन्न यहाँ आयात होता था जो १९६६ मे ३ करोड १० लाख टन होने लगा।

अल्प-विकसित देशों के अधिकाश व्यक्ति पोषक तत्त्वो से रहित भोजन पाते हैं। हाल के अध्ययन म कम उन्नत देशो मे पोषक तत्त्वो की कमी के दुष्परिणामो का और आर्थिक विकास पर इसके प्रभाव का विवेचन किया गया है तथा निम्न निष्कर्ष निकाले गये है —(i) पोषक तत्त्वो की कमी के कारण मनुष्य की औसत आयु सीमित रह जाती है और फलस्वरूप उसके जीवन म उत्पादन मे योग देने के वर्षों की सख्या भी सीमित रह जाती है। (ii) पोषक तत्त्वो की कमी से काम करने वालो की उत्पादकता कम होती है। (iii) रोग का मुकाबला करने मे मजदूर की शक्ति कम रह जाती है और वह अपने काम से ज्यादा गैर-हाजिर रहता है। इसके अतिरिक्त दुर्घटनाओ के शिकार भी ऐसे लोग ज्यादा होते है जिन्हे पोषक तत्त्व कम प्राप्त होते है। (iv) पोषक तत्त्व (जैसे-विटामिन ए, बी) की कमी के कारण लोग अधे हो जाते है जिसका उत्पादकता पर बुरा असर पडता है। कम पोषक तत्त्व प्राप्त-बच्चो का बाल्यकाल से ही पूर्णतया बौद्धिक विकास नहीं हो पाता।

अत राष्ट्रीय विकास के सिद्धान्तो मे एक भयकर स्थिति पैदा हो गई है, जो यह कि इन देशो मे पोषक तत्त्वो की कमी के कारण शारीरिक और बौद्धिक दृष्टि से कम उन्नत व्यक्तियो की वृद्धि हो रही है। डाक्टर सी० गोपालन (निर्देशक पोषक-तत्त्व अनुसधान सस्था) की रिपोर्ट के अनुसार भारत के देहातो मे स्कूल जाने की उम्र से कम के बालक, पोषक तत्त्व न मिलने के कारण बौने रह जाते है। प्रोफेसर गैलब्रेथ ने भूख की समस्या का उल्लेख निम्न शब्दो मे किया है "वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा और आध्यात्मिक मुक्ति के लक्ष्य की प्राप्ति भी भरे पेट ही हो सकती है।"

लगभग दो या ज्यादा दशको से माल्थस का सिद्धान्त यहाँ लागू होता दिखाई दे रहा है। एशिया के अधिकाश देशो म जन्म-दर ज्यादा और मृत्यु-दर कम होती जा रही है। आर्थिक विकास के इस परिणाम का मुकाबला करने के लिए निर्धन राष्ट्रो ने जनसख्या-वृद्धि पर नियन्त्रण रखने हेतु अनेक उपाय किये है। भारत विज्ञान के नये तरनीको को अपनाने म भी पीछे नहो रहा। दरअसल विकासशील राष्ट्रो ने इस क्षेत्र मे विकसित उन्नत उपायो को अपनाने मे अद्भुत सास्कृतिक क्षमता का परिचय दिया है। यह ठीक है कि जन्म-दर पर नियत्रण रखने के नए तकनीको का प्रचार करने मे अनेक समस्याये है जिनके मूल मे वैज्ञानिक और तकनीकी कारण भी है। साक्षरता का निम्न स्तर भी एक भारी रुकावट है जिन पर सचार के समुचित साधनो द्वारा काबू पाना है। परिवार नियोजन के नये तकनीको का प्रचार करने के लिए टेलीविजन के उपयोग की बात कही गई है और उम्मीद है कि इन नये तकनीको को जल्द जन-सम्पर्क के वृहद् कार्य-क्रम द्वारा जनता तक पहुँचाया जा सकेगा। फिर

भी इस क्षेत्र की समस्या का कोई शीघ्र समाधान नहीं हो सकता। इसलिए हमें निकट भविष्य में जनसंख्या-वृद्धि को बिलकुल रोक देने की कोई उम्मीद नहीं लगानी चाहिए।

जनसंख्या निरन्तर बढ़ती रहेगी इस तथ्य ने जीवित रहने की समस्या पर विशेष रूप से विचार करने का महत्त्व बढ़ा दिया है। पिछले कुछ वर्षों में कई लेखकों ने इस प्रश्न को लेकर घोर निराशा व्यक्त की है। कृषि क्षेत्र में उत्पादकता में वृद्धि की धीमी गति को देखकर चिंता होने लगी है। लेकिन सम्पूर्ण चित्र यह नहीं है। आज हमारे सभी किसान, वैज्ञानिक, प्रशासक और विधायक इस बारे में एक मत हैं कि कृषि को राष्ट्र में या राष्ट्रीय योजना में सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए। यह इस बात का प्रमाण है कि हम, कृषि को उन्नत बनाने की दिशा में जो रुकावटें आ रही हैं, उन पर शीघ्र काबू पा लेंगे।

बेरोजगारी का बढ़ता हुआ भार

विकास की विधि पर जनसंख्या वृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ रहा है। कई विकासशील देशों में बेरोजगारी बढ़ती जा रही है। एक अर्थशास्त्री ने कहा है कि एक घनी आबादी वाले देश में, जो कि प्राचीन पद्धति के अनुसार सङ्गठित हो, विकास अपने आप में बेरोजगारी का कारण बन जाता है। विकास का एक परिणाम यह है कि आज अनेक व्यक्ति, जो प्राचीन समाज में किसी न किसी प्रकार काम पर लगे हुए थे, बेरोजगारी के शिकार बने हुए हैं। हम इतिहास की घटनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते। बेरोजगार व्यक्ति देश के भारी असन्तोष का कारण बन जाता है। अतः विकास की कोई भी विधि उसके लिए गणित सम्बन्धी सन्तुलन तक सीमित नहीं रह सकती। आयोजकों को तकनीकी की समस्या को हल करना होगा, ताकि बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि न हो। बुद्धिमत्ता का तकाजा है कि अब भविष्य में रोजगार दिलाने के मुकाबले में तुरन्त रोजगार दिलाने के प्रश्न को प्राथमिकता दी जाय। यदि इस प्रकार का लक्ष्य रखा जाय तो पूँजी-विनियोग और मुद्रा-बाहुल्य की समस्या सामने आती है। यह समस्या तब और भी उग्र रूप धारण कर लेती है जब हम मशीनों के स्थान पर मनुष्यों को काम में लाते हैं। इस सन्दर्भ में कृषि और खाद्य उत्पादन तथा वितरण का महत्त्व और भी स्पष्ट हो जाता है। किन्तु यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि अल्प-विकसित देशों को पहले अपने यहाँ कृषि क्षेत्र को उन्नत बनाना चाहिए और उसके बाद औद्योगीकरण करना चाहिए। आधुनिक कृषि के लिए आधुनिक उद्योगों की आवश्यकता होती है और हम उद्योगों को उन्नत बनाये बिना कृषि को भी उन्नत नहीं बना सकते। हम आज आधुनिक विश्व में रह रहे हैं और हम कई दशकों के काम को कुछ दिनों में ही पूरा करना होगा।

कुछ लोगों का कहना है कि प्राचीन पिछड़े हुए देश नई टेक्नोलॉजी कभी भी नहीं अपना सकते और वहाँ लक्ष्य प्राप्त करने की भावना काम नहीं करती। अतः कम उन्नत देश जहाँ हैं, वहाँ ही बने रहेंगे। लेकिन इस निराशावादी धारणा के

बावजूद पूर्व मे दो शक्तिशाली शक्तियो का विकास हुआ है—जापान और चीन। प्राचीन देशो मे आधुनिकीकरण का जो अनुभव प्राप्त है, उससे हम यह कह सकते है कि सक्रान्ति काल शायद सबसे मुश्किल समय होता है। अत धैर्य और दृढ निश्चय के साथ कार्य करना होगा। चाहे उद्योग हो या कृषि, औद्योगीकरण का आशय केवल टैक्नोलौजी या कार्य-कुशलता का कुछ क्षेत्रो मे ट्रासफर मात्र नही है। टैक्नालौजी को व्यापक रूप मे फैलाने की आवश्यक कला होती है।

विकासशील देश और सिद्धान्त

नये विकासशील देश ही प्राचीन परम्पराओ और रीति-रिवाजो के अनाये शिकार हुए हो ऐसा नही है, बल्कि उन्नत देशो को भी प्राचीन धार्मिक भावनाएँ विरासत मे मिली थी। अत इस आधार पर विश्व को पुराने और नये विश्व मे बाटना कहाँ तक उचित है, जबकि उन्नत देश भी इनसे दरअसल मुक्त नही है। कहा जाता है कि सरकारी क्षेत्र मे अयोग्यता ज्यादा पाई जाती है जिस कारण निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। निश्चय ही, तर्क यह नही है कि निजी क्षेत्र मे क्षमता का अभाव है और सरकारी क्षेत्र को सर्वव प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए, वरन् सघर्ष केवल उन दो तरह के सगठनो के बीच है एक वे जो सक्षम है और दूसरे वे जो सक्षम नही है चाहे वे सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत हो या निजी क्षेत्र के। सरकारी क्षेत्र के उद्योगो की प्रबन्ध-व्यवस्था मे अक्षमता का कारण उनका वर्तमान ढाँचा है। दूसरी ओर, ऐसे भी क्षेत्र है जहाँ निजी क्षेत्र के उद्यमी नही है, अत इनमे सरकारी हस्तक्षेप के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय काम मे नही लाया जा सकता। हमारा लक्ष्य सही ढग के प्रबन्ध को आगे बढाना और सुप्रबन्ध उपलब्ध करना होना चाहिए। दरअसल, इटली, जर्मनी और हालैंड आदि देशो के औद्योगिक प्रबन्ध म जो उपाय काम मे लाये गये उनकी खोज की जानी चाहिए और कम उन्नत देशो मे भी उनका उपयोग होना चाहिए। कहा जाता है कि सयुक्त राज्य अमेरिका का महत्त्व ऊँचे दर्जे की टैक्नोलौजी के कारण नही, बल्कि ऊँचे दर्जे के सगठन के कारण है। अत सरकारी क्षेत्र के उद्यम मे ही नही, बल्कि निजी क्षेत्र के उद्योगो मे भी वही सगठन पद्धति काम मे लानी चाहिए। कम उन्नत देश प्राय उत्पादन के नये तकनीक उधार लेने को तत्पर रहते है, प्रबन्ध के तकनीक नही।

आर्थिक प्रशासन के प्रति दृष्टिकोण

अर्थव्यवस्था के प्रबन्ध मे भी अनेक परिवर्तन किये जाने की आवश्यकता है। अल्प विकसित देशो मे उन्नत देशो की अपेक्षा सरकार के अधिक हस्तक्षेप और नियन्त्रण की आवश्यकता है। प्राय विवाद किया जाता है कि अर्द्ध विकास की स्थिति मे सरकार को कम हस्तक्षेप करना चाहिए या ज्यादा। हमारा मत है कि सरकार द्वारा पूरी तरह नियन्त्रण रखना और अपने आदेश के अनुसार साधनो को बाँटना उचित नहीं है। लेकिन यह भी ठीक है कि केवल कीमत मिकेनिज्म या बाजार शक्तियो के द्वारा साधनो को विभिन्न क्षेत्रो मे बाँटना भी सम्भव नही है। जब अर्थव्यवस्था

पूर्णतया स्वतन्त्र हो और विदेशी मुद्रा की कोई रुकावट न हो, तब बाजार-व्यवस्था के द्वारा साधनों का समुचित बटन हो सकता है। लेकिन यह शर्त कठिन है। अतः बुद्धिमता इसी में है कि हम कन्ट्रोल-पद्धति को पूर्णतया खत्म न करें बल्कि उसका उपयोग बाजार की कीमतें स्पष्ट करने में करें।

आर्थिक प्रशासन में कन्ट्रोल के कुछ ऐसे तरीकों का उपयोग आवश्यक है जो अभी बड़े-बड़े निगमों और उन्नत देशों की सरकारों द्वारा काम में लाये जाते हैं। ये तरीके अल्प विकसित देशों की सरकारों द्वारा कन्ट्रोल आदि की समस्यों के समाधान में काम में लाये जा सकते हैं।

कई अर्थशास्त्रियों और विशेषज्ञों ने विदेशी व्यापार विदेशी सहायता और विकास को सुसम्बद्ध बनाने की आवश्यकता पर बल दिया है। विश्व का कोई भी देश अकेला समृद्ध नहीं रह सकता। औद्योगिक क्रान्ति में भी विश्व को यही पाठ मिला। इसमें पाश्चात्य यूरोप के देशों के लिए पहली बार बाजार खुला और जनसख्या की क्रय-शक्ति भी बढ़ी। विश्व के निर्धन देशों के आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिये विदेशी सहायता का सहारा लिया जाता है। विदेशी-सहायता साधनों का एक देश से दूसरे देश में ट्रांसफर करने का एक अस्थायी उपाय है और अन्ततोगत्वा इससे विश्व व्यापार में वृद्धि होती है और विश्व के आर्थिक विकास को भी बल मिलता है। संरक्षित व्यापार का अर्थशास्त्र अच्छा नहीं है, क्योंकि इससे अन्ततोगत्वा अमीर और गरीब दोनों देशों को नुकसान होता है।

उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों को चाहिये कि ऐसा वातावरण तैयार करने के तौर-तरीके निकालें, जिससे विकासशील देशों की व्यापार सम्बन्धी समस्याओं का शीघ्र हल हो सके। गैट ने २० वर्ष की अवधि में विश्व व्यापार को उदार बनाने के लिये उचित वातावरण तैयार करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। १९५३ में ७८ अरब डालर का विश्व व्यापार हुआ था। जो १९७० में बढ़कर ३०० अरब डालर के लगभग हो गया है। इस प्रगति के बावजूद विकासशील देशों के हित की अनेक व्यापारिक समस्याओं का अब तक हल नहीं हो पाया है। इस अवधि में तैयार माल का विश्व व्यापार २४० प्रतिशत बढ़ा है जबकि विकासशील देशों को लाभ पहुँचाने वाले प्रारम्भिक उत्पादनों का व्यापार केवल ८६ प्रतिशत बढ़ा है।

विकासशील देशों के औद्योगिक विकास में दो कठिनाइयाँ मुख्य हैं प्रथमतः, पूँजी की कमी और दूसरे, माँग की कमी। इन कठिनाइयों को हल करने के लिए विकासशील देशों के मध्य एकता बहुत जरूरी है। केन्द्रीय मन्त्री श्री दिनेशसिंह ने कहा था कि अब तक विकासशील देशों में केवल व्यापार के आधार पर सहयोग होता था। किन्तु व्यापार का क्षेत्र सीमित है और उसमें प्रतियोगिता की भी गुंजाइश है। सौभाग्यवश औद्योगिक क्षेत्र में सहयोग की सम्भावना से अब इन देशों के बीच सहयोग का क्षेत्र काफी बढ़ गया है। संयुक्त उद्योगों की स्थापना से सभी देशों को लाभ होगा। इस रूप में यह काम विशेष महत्त्वपूर्ण है। भारत, संयुक्त अरब गणराज्य और

यूगोस्लाविया को इसमे जितनी सफलता मिलेगी विश्व के अन्य विकासशील देश उससे उतनी ही प्रेरणा लेंगे। यदि विकासशील देशों के साधन इकट्ठे किये जाएँ तो विकास की सम्भावनाएँ काफी बढ़ जायेंगी। आधुनिकीकरण के क्षेत्र मे सहयोग से माँग और उत्पादन बढ़ेगा, उद्योगो का विकास होगा और अतिरिक्त क्षमता का उपयोग होगा। आपसी सहयोग से बडे उद्योगो और रसायन उद्योग समूहो की स्थापना हो सकेगी और कम लागत पर भारी मशीनो का उत्पादन हो सकेगा।

श्री दिनेशसिंह ने विकासशील देशो की मदद के लिये विकसित देशो के सामने एक चार-सूत्री योजना रखी थी, जो निम्न प्रकार है —(i) विकसित देशो को प्रति वर्ष अपने राष्ट्रीय उत्पादन के १ प्रतिशत के बराबर पूँजीगत साधन विकासमान देशो को स्थानान्तरित करना चाहिये। (ii) इनके प्राकृतिक साधनो के विकास म मदद देनी चाहिए। (iii) विकासमान देशो को विकसित देशो के कच्चे मालो की बिक्री के लिए सुविधाएँ मिलनी चाहिए। (iv) विकासमान देशो से जो तैयार अथवा अर्द्ध-तैयार माल विकसित देशो मे जाये उन पर कोई शुल्क नही लगना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न :

१ विकासोन्मुख देशो की प्रमुख समस्यायें क्या है ? इनके समाधान के लिये सुझाव दीजिये।

४५

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग

(International Economic Cooperation)

परिचय —

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग का आशय राष्ट्रो की आर्थिक नीतियों के परस्पर निर्भर होने से है। ऐसा सहयोग आन्तरिक नीति (domestic policy) का विकल्प (alternative) न होकर वास्तव मे कई प्रकार से इसका पूरक (complimentary) है। अन्तर्राष्ट्रीय मोर्चे पर एक दूसरे से सहयोग करने का आशय यह नहीं है कि राष्ट्र अपने घरेलू मोर्चे पर उपयुक्त आर्थिक नीति नही अपना सकेंगे। सच तो यह है कि आन्तरिक एव बाह्य स्थायित्व के लिए दोनों मोर्चो पर एक समन्वित नीति अपनानी चाहिए। आजकल मौद्रिक, आर्थिक, सामाजिक एवम् राजनैतिक सभी क्षेत्रो म अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को आवश्यकता

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग निम्न कारणो से बहुत आवश्यक हो गया है — (i) अनेक अर्ध-विकसित देशो ने अपने विकास के लिये विशाल आर्थिक कार्यक्रम बनाये है जिनकी पूर्ति के लिए उन्हे विशाल पूँजी विनियोगो की आवश्यकता है। इतने बडे पैमाने पर पूँजी केवल अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा ही उपलब्ध हो सकती है, क्योंकि स्वय अर्द्ध-विकसित देशो मे आय व जीवन-स्तर नीचा होने के फलस्वरूप वहाँ बचत और पूँजी के निर्माण की दर बहुत नीची है। (ii) जहाँ एक ओर अविकसित देशो को भारी मात्रा म पूँजीगत वस्तुओ का आयात करना पडता है, वहाँ दूसरी ओर उनकी उत्पादन-क्षमता कम है, जिससे कि वे अधिक मात्रा मे निर्यात नही कर पाते है। फलत उनके भुगतान सन्तुलन में निरन्तर घाटा रहता है तथा वे विदेशी विनिमय का अभाव अनुभव करते है। यह अभाव अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से ही न्यूनाधिक सीमा तक दूर हो सकता है। (iii) विकास कार्यक्रमो के सुसचालन के लिये टेक्नीकल कर्मचारियो की आवश्यकता पडती है, जोकि अविकसित देशो म नगण्य है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा अविकसित देशो को भी उन्नत देशो के वैज्ञानिक एवम् टेक्नीकल ज्ञान का लाभ मिल सकता है। (iv) विश्व युद्ध ने लडाकू देशो की अर्थ-व्यवस्थाये ध्वस कर दी थी। उनके पुनर्निर्माण व पुनर्गठन के लिए भी अन्तर्रा-

ष्ट्रीय सहयोग आवश्यक हो गया था,१ (v) स्थायी विश्व शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रो के मध्य आर्थिक अन्तरों को कम किया जाय। इसके लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग जरूरी हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के लिए प्रयत्न

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व स्वर्णमान के दिनो मे, विभिन्न राष्ट्रो के मध्य कुछ न कुछ सीमा तक सहयोग एवम् समन्वय रहता था। फिर भी, उन दिनो विश्व मे लोगो के विचारो पर 'राष्ट्रीयता' की ही छाप थी। सन् १९३१ म स्वर्णमान टूट गया और उसके साथ ही राष्ट्रीयता का युग भी समाप्त हो गया। तत्पश्चात् यू० के, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और फ्रास म एक त्रिपक्षीय समझौता (Tripartite Agreement) हुआ, जिसका उद्देश्य हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रो की करंसियो म स्थायित्व लाना था। कॉमनवेल्थ प्रिफरेंसेज के विषय मे ओटावा समझौता (Ottawa Agreement) क्षेत्रिक सहकारिता (regional cooperation) की दिशा मे एक अन्य कदम भी था जो कि १९३०-४० के मध्य उठाया गया। यद्यपि ये प्रारम्भिक कदम उपयोगी थे तथापि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की वास्तविक धारणा पिछले कुछ वर्षो मे ही विकसित हुई है। द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक संयुक्त राष्ट्र और अन्य आर्थिक एजेन्सियाँ, मार्शल सहायता कार्यक्रम, ओ० ई० ई० सी० और यूरोपियन साझा बाजार पेरिस क्लब आदि स्थापित हुये।

अमेरिकन ऋण कार्यक्रम एव यूरोपियन पुनर्जीवन योजना
(The American Loan Programme & European Recovery Plan)

ब्रिटेन एवम् यूरोपियन देशो की युद्ध जर्जरित अर्थव्यवस्थाओ को पुन जीवन प्रदान करने के लिए इन्हे भारी मात्रा मे पूँजीगत सामानो, कच्चे मालों एव खाद्यान्न की आवश्यकता थी, जो उन्हे अमेरिका ही दे सकता था। किन्तु डालरो की अल्पता के कारण ये देश अमेरिका से क्रय करने मे असमर्थ थे। फलत अमेरिका, ब्रिटेन एव अन्य यूरोपीय देशो के मध्य ऋण समझौते हुए। इन समझौतो के अन्तर्गत विपन्न देश अमेरिका मे निर्धारित की गई सीमा तक उधार ले सकते थे।

किन्तु ये समझौते भी विपन्न देशो की आवश्यकता को पूरा न कर सके। उन्हे और अधिक सहायता की आवश्यकता थी। अत १९४७ मे अमेरिका के स्टेट सेक्रेटरी जार्ज मार्शल ने यूरोपीय देशो को आर्थिक पुनर्गठन के लिए अधिक सहायता का वचन दिया। किन्तु इसके लिए यह शर्त रखी गई कि वे आपस मे भी सहयोग करें। अप्रैल १९४८ मे यूरोपियन पुनर्वास सम्बन्धी कार्यक्रम का कानून बनाया गया, जिसमे यूरोपिय देशा को बहुत राहत मिली।

यूरोपियन आर्थिक सहयोग सङ्गठन
(The Oraganisation for European Economic Cooperation)

इसी समय पश्चिमी यूरोपीय सरकारो ने भी परस्पर आर्थिक सहयोग की दिशा मे कदम उठाये। अठारह यूरोपीय देशो ने एक 'यूरोपीय आर्थिक सहयोग

सङ्गठन' (O E E C) स्थापित किया, जिसका मुख्य कार्यालय पेरिस बनाया गया। इस सङ्गठन का मुख्य कार्य वाशिंगटन स्थित आर्थिक सहयोग प्रशासन' (Economic Cooperation Administration or E.C. A) को अमेरिकी सहायता कार्यक्रम के चलाने में सहायता देना था। वह सहायता पाने वाले देशों का होने वाले लाभों की मूल्यांकन-रिपोर्ट भी प्रकाशित करता था। आशा की गई कि उपरोक्त सङ्गठन (O E E C) यूरोपियन सहयोग का एक स्थाई केन्द्र बन जायेगा। निःसन्देह, सङ्गठन कार्य बहुत ही शानदार रहा। इसके ही प्रयासों द्वारा प० यूरोप की युद्ध जर्जरित अर्थव्यवस्थाओं ने आश्चर्यजनक उन्नति करली, सदस्य देशों के मध्य आर्थिक सहयोग बढ़ा एवं इनमें वित्तीय एवं आर्थिक स्थिरता आई। व्यापार एवं भुगतान सम्बन्धी व्यवस्थाओं को उदार बनाने और करेंसियों की बहुपक्षीय परिवर्तनशीलता स्थापित करने में भी O E E C. ने महत्वपूर्ण योग दिया।

आर्थिक सहयोग एवं विकास सङ्गठन

(The Organisation for Economic Coop. & Development)

यूरोपीय आर्थिक सहयोग सङ्गठन, जो कि एक क्षेत्रीय सङ्गठन था, अब एक अधिक व्यापक सङ्गठन में, जिसे 'आर्थिक सहयोग एवं विकास सङ्गठन' (O.E C D.) कहते हैं, परिणित हो गया है। इसमें यूरोपीय देशों के अतिरिक्त अमेरिका और कनाडा भी पूर्ण सदस्य बन गये हैं। O E C D की 'विकास सहायता कमेटी' (Development Assistance Committee, D A C) अर्द्ध विकसित देशों के लिए सहायता देने की सम्भावनायें खोजती है। इस कमेटी में पूँजी देने वाले निम्न दस राष्ट्र सम्मिलित हैं—अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, बेल्जियम, फ्रांस, फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी, इटली, जापान नीदरलैंड और पुर्तगाल। यूरोपीय आर्थिक समुदाय (E E C) का कमीशन भी इसमें सम्मिलित है।

विकासोन्मुख देशों के आर्थिक विकास को बढ़ावा देने हेतु इनके सभी निर्मित एवं अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं के आयातों पर २१ मुख्य पश्चिमी औद्योगिक राष्ट्रों (O E C D) ने रियायतें देने की एक योजना बनाई है। इस योजना के अनुसार सभी औद्योगिक देशों में विकासोन्मुख देशों के निर्यातों को समान अवसर दिये जायेंगे। चूँकि स्टर्लिंग और फ्रेंच फ्रेंक गुट तथा E E C और इसके अफ्रीकी साझेदारों के मध्य कस्टम-रियायतें पहले से ही प्रभावशील हैं, इसलिये O E C D के सामने एक मुख्य कार्य इन रियायतों में समानता लाना है। ये रियायतें १० वर्ष के लिए होंगी। कुछ वस्तुओं पर कस्टम ड्यूटीज बिल्कुल हटाई जा सकती हैं।[1]

यूरोपियन भुगतान सङ्घ

(European Payments Union)

स्वर्णमान के खण्डन के बाद (विशेषत द्वितीय महायुद्ध काल में) अन्तर्राष्ट्रीय

---

1 *Economic Times* 7. 12. 1967.

मौद्रिक प्रणाली एवं भुगतानों की सङ्गठित व्यवस्था टूट गई, जिससे देशों को विदेशी स्रोतों से अत्यावश्यक वस्तुयें प्राप्त करने में कठिनाई होने लगी। अतः यूरोपीय देशों को द्विपक्षीय व्यापार समझौते करने पड़े, जिनके अनुसार व्यापार सन्तुलित स्तर पर किया जाने लगा। किन्तु इससे भी कठिनाई हल न हुई, क्योंकि कुछ देशों के पास अधिक माँग वाली निर्यात वस्तुओं का अभाव था, जिससे वे विदेशों से अपनी न्यूनतम आवश्यकतायें भी पूरी नहीं कर सकते थे। इसीलिए यूरोपीय देश बहुपक्षीय भुगतान व्यवस्था पर लौटने के लिये बहुत उत्सुक थे, ताकि वह अपनी आवश्यक वस्तुएँ कहीं से भी प्राप्त कर सकें।

इस दिशा में यूरोपीय आर्थिक सङ्गठन ने पहले कदम के रूप में एक उदार नीति अपनाई जिसके अन्तर्गत यूरोपीय देशों के पारस्परिक व्यापार पर लगे हुये प्रतिबन्ध शनैः शनैः समाप्त किये जाने थे। दूसरा कदम यह था कि भुगतानों की यूरोपव्यापी व्यवस्था करने के लिए एक यूरोपीय भुगतान सङ्घ (E P U) की स्थापना की गई।

यूरोपीय भुगतान सङ्घ की कार्यप्रणाली इस प्रकार थी —(i) सभी सदस्य देश उसे हर महीने यह सूचना दिया करते थे कि किस किस देश के साथ उनका क्या शुद्ध चालू खाता शेष है। इन सूचनाओं के आधार पर EPU के अधिकारी प्रत्येक देश के सामूहिक लेन (या देन) ज्ञात कर लेते थे। (ii) किन्तु इनके निबटारे की जिम्मेदारी EPU पर होती थी। उदाहरण के लिये, यदि A को किसी महीने में B, C और D के साथ क्रमशः १०, २० और ३० मि० डालर का आधिक्य शेष है, और शेष देशों के साथ १० मि० का घाटा, तो उसे यूनियन से ५० मि० डालर लेने रहे। इस प्रकार, द्विपक्षीय सन्तुलन के बजाय यूनियन के प्रति देश के सन्तुलन का महत्त्व हो गया और, ऋणता की सामूहिक गणना के फलस्वरूप, बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था प्रचलित हो गई। (iii) निबटारे की सुविधा के लिए यूनियन ने एक साख प्रणाली बनाई, जिसके अनुसार प्रत्येक सदस्य ने, जिसका यूनियन पर रुपया निकले, यूनियन को अपने कोटे के २०% तक साख देने का वचन दिया। यदि लेनदार सदस्य का आधिक्य इस प्रतिशत से अधिक है, तो शेष आधिक्य के ५०% भाग का भुगतान स्वर्ण या डालर में किया जायेगा और ५०% भाग यूनियन पर साख के रूप में छोड़ दिया जायेगा। इसके विपरीत, घाटे वाले देश को EPU इसके कोटे के २०% तक साख दिया करती थी। २०% से अधिक किन्तु १००% से कम घाटे के लिए कुछ तो स्वर्ण या डालरों में भुगतान किया जाता था और शेष के लिए अतिरिक्त साख स्वीकृत की जाती थी। १००% से अधिक के घाटे पूर्णतः स्वर्ण या डालर में ही चुकाने पड़ते थे।

इस व्यवस्था के कारण वह सदस्य-देश भी, जिनके स्वर्ण एवं डालर कोष अपर्याप्त थे, आवश्यक वस्तुयें प्राप्त करने में समर्थ हो गए। वस्तुयें यूनियन के किसी

भी सदस्य देश से खरीदी जा सकती थी। कारण, अब द्विपक्षीय भुगतान के बजाय बहुमुखी व्यवस्था चालू हो गई थी, यूनियन-क्षेत्र में व्यापार अधिक स्वच्छन्दतापूर्वक होने लगा था, करेंसियाँ एक दूसरे में पूर्ण परिवर्तनशील हो गई एवं विनिमय नियन्त्रण समाप्त हो गए थे। चूँकि लेनदार देश EPU को साख देने के लिये बाध्य थे, इसलिये उन्हें यह प्रेरणा रहती थी कि वे अपना आधिक्य शेष अन्य सदस्य देशों से अधिक आयात करके ही चुकता कर लें। इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि हो गई।

यूरोपियन मौद्रिक समझौता
(European Monetary Agreement)

धीरे-धीरे यूरोपीय करेंसियों की परिवर्तनशीलता पुनः स्थापित हो गई और व्यापारिक सौदे विदेशी विनिमय बाजारों के जरिये किये जाने लगे। चूँकि EPU का उद्देश्य पूरा हो चुका था, इसलिये सन् १९५८ में इसे समाप्त कर दिया गया और एक नया समझौता लागू किया गया जोकि यूरोपियन मौद्रिक समझौता (E M A) के नाम से विख्यात है।

EMA का उद्देश्य कठिनाइयाँ उत्पन्न होने पर सदस्य देशों की सहायता करना है। इस समझौते के अनुसार एक 'यूरोपियन फण्ड' ६०० मि० डालर की पूँजी से स्थापित किया गया है, जिसमें से भुगतान सम्बन्धी कठिनाइयों के निवारण के लिए सदस्यों को २ वर्षीय साख दी जाती है। EPU की भाँति EMA भी बहुमुखी भुगतान प्रणाली स्थापित करता है, जिसकी निम्न दो निषेधात्मक विशेषतायें हैं :—(अ) इसमें सभी लेन-देन पूर्णतः स्वर्ण व डालर में चुकाये जाते हैं, और (ब) निबटारे अधिकृत (क्रय एवं विक्रय) दरों पर किये जाते हैं, अमेरिकी डालर से समता दर पर नहीं। यह उल्लेखनीय है कि EMA की विधा का प्रयोग तब ही किया जा सकता है जबकि विदेशी विनिमय बाजारों के द्वारा ...न की व्यवस्था टूट जाय।

स्टर्लिङ्ग क्षेत्र प्रणाली
(Sterling Area System)

बहुमुखी व्यवस्थाओं का एक रूप तो वह था, जिसके अन्तर्गत यूरोपीय भुगतान संघ जैसे संगठन स्थापित हुये जिन्होंने बहुमुखी लेनदेन सम्भव बनाये, और, दूसरा रूप वह था, जिसके अन्तर्गत स्टर्लिङ्ग एरिया जैसे करेंन्सी क्षेत्र बने, जिनमें कि विभिन्न देशों के पारस्परिक लेनदेन एक 'मुख्य' करेंसी के सन्दर्भ में निपटाये जाते हैं।

स्टर्लिंग क्षेत्र प्रणाली से आशय एवं इसकी विशेषतायें—

सन् १९३१ में स्वर्णमान टूट गया। ब्रिटेन से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध वाले देशों ने सामान्य हितों से प्रेरित होकर अपनी करेंसियों का सम्बन्ध स्टर्लिंग से स्थापित कर लिया, जिससे कि करेंन्सी का एक पृथक क्षेत्र बन गया। चूँकि इस क्षेत्र की बुनियादी करेंन्सी 'स्टर्लिंग' थी, इसलिए यह क्षेत्र स्टर्लिङ्ग एरिया के नाम से

प्रमित हुआ। १९३१ और १९३९ के मध्य लन्दन एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु था, जिसकी निम्न विशेषताये थी —(i) अनेक देशो का समूह, (ii) ब्रिटेन से घनिष्ठ व्यापारिक एव वित्तीय सम्बन्ध, (iii) स्टर्लिंग मे अन्य करैन्सियो का मूल्याकन, (iv) स्टर्लिंग की डालरो म स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता, (v) लन्दन मे विभिन्न देशो के विदेशी मुद्रा कोष रखे जाना एव (vi) लन्दन के माध्यम से अधिकाश लेनदन निपटाया जाना।

सन् १९३९ म कनाडा को छोडकर स्टर्लिङ्ग क्षेत्र म अन्य सब साम्राजीय देश आयरिश रिपब्लिक, पुर्तगाल स्केन्डिनेवियन राष्ट्र, बाल्टन देश, मध्यपूर्व के देश थाइलैण्ड और अर्जेन्टायना सम्मिलित थे। द्वितीय महायुद्ध छिडने पर स्टर्लिंग क्षत्र बहुत सकुचित हो गया तथा इसकी बहुमुखी व्यवस्थाओ का स्थान विनिमय नियन्त्रणो ने ले लिया। आजकल स्टर्लिंग एरिया की निम्न प्रमुख विशेषतायें हैं —
(१) सभी सम्बद्ध राष्ट्र अपने विदेशी मुद्रा सम्बन्धी व्यवहारो की प्राय ब्रिटिश विनिमय नियन्त्रणो की रूपरेखा के अनुसार ही संचालित करते है। (२) डालर देशो से आयातो को सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है जिससे कि इनके साथ भुगतान सन्तुलन अधिक प्रतिकूल न होने पाय (३) क्षेत्र के बाहर पूँजी के निर्यातो पर कडे नियन्त्रण लग हुए है किन्तु क्षेत्र के अन्दर वे अपेक्षत स्वतन्त्रतापूर्वक किये जा सकते है। (४) डालर और अन्य दुर्लभ मुद्राओ की कमाई देशो को एक कन्ट्रोल कोष म रखनी पडती है। किन्तु एरिया के बाहर के देशो को भुगतान के लिए इसमे से उचित सीमा तक आहरण किया जा सकता है।

स्टर्लिङ्ग एरिया का महत्व—

स्टर्लिङ्ग एरिया एक व्यापक करैन्सी क्षेत्र है जिसके भीतर भुगतान बहुमुखी (multilateral) होते है, अर्थात्, एक सदस्य देश इस क्षेत्र के अन्य देशो से वस्तुओ का स्वतन्त्रतापूर्वक क्रय विक्रय कर सकता है। सम्बद्ध देशो मे पूँजी का स्थानान्तरण भी स्वतन्त्र होता है। वे देश भी, जिन्होने स्टर्लिङ्ग एरिया के साधनो का अर्जन करने मे कोई योग नही दिया या अल्प योग दिया है इन साधनो का लाभ उठा सकते हैं। इस क्षेत्र की सदस्यता के कारण ही विभिन्न देशो के जो सचित स्टर्लिङ्ग बैलेन्सेज थे उनका भुगतान उन्हे सुगमतापूर्वक मिल गया।

स्टर्लिङ्ग एरिया मे विविध प्रकार के देश (विकसित एवं अल्पविकसित, औद्योगिक एव कृषक, स्वतन्त्र एव आधीन लघु एव विशाल) सम्मिलित होने से इसके प्रशासन मे कई कठिनाइयाँ प्रस्तुत हुई हैं, यथा—(i) दुर्लभ करैन्सियों का वितरण सभी सदस्यो के अनुकूल नहीं हो सकता है। वास्तव मे, दुर्लभ मुद्राओ की अधिक कमाई करने वाले देशो का यह आरोप है कि उन्हे उनकी आवश्यकताओ के अनुसार हिस्सा नही मिला, (ii) कभी इगलैण्ड के कारण तो कभी अन्य देशो के कारण डालर-भुगतान सम्बन्धी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती रही है जिनसे विवश होकर डालर आयातो पर कठोर भेदात्मक प्रतिबन्ध लगाने पडे हैं, (iii) प्रत्येक देश की

केन्द्रीय बैंक अपनी राष्ट्रीय नीति के अनुसार चलना चाहती है, जिससे एक समन्वित नीति का पालन नहीं हो पाता है तथा मौद्रिक साम्य बनाये रखना कठिन हो गया है (iv) सदस्यों की डालर सम्बन्धी आवश्यकताओं का ठीक ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सका है, क्योंकि पर्याप्त जानकारी का अभाव है, (v) युद्धकालीन अवरुद्ध कोषों को मुक्त करने में बड़ी देर लगाई गई, एव (vi) लन्दन से नीति विषयक निर्णयों के बारे में भी सदस्य-देशों को सतोष नहीं है।

सन् १९४७ में एक 'स्टर्लिङ्ग एरिया सांख्यकीय समिति' सगठित की गई थी, जो प्रशासन की सुविधा के लिए आवश्यक सांख्यिकी सूचना एकत्र करती है। 'कॉमनवैल्थ सम्पर्क समिति' का कार्य उपलब्ध प्रसाधनों के सदर्भ में सदस्यों की आवश्यकताओं का अनुमान लगाना है। कामनवैल्थ के वित्त मन्त्रियों के सम्मेलन में स्टर्लिङ्ग एरिया के कामकलापों की समीक्षा की जाती है तथा सुझावों का आदान-प्रदान होता है। इस प्रकार, स्टर्लिङ्ग एरिया अन्तर्क्षेत्रीय स्तर पर मौद्रिक सहयोग का एक सफल उदाहरण है।

भारत को लाभ—

स्टर्लिङ्ग क्षेत्र की सदस्यता से भारत कई प्रकार लाभान्वित हुआ है जैसे—(i) वह अन्य सदस्य देशों से स्वतन्त्रतापूर्वक अतर्राष्ट्रीय व्यापार करने में समर्थ हुआ जबकि इसके भुगतान की जिम्मेदारी बैंक ऑफ इङ्गलैंड पर थी। (ii) पूँजी का आयात सुगम हो गया जिससे उसके विकास कार्यों में बहुत मदद मिली। (iii) स्टर्लिङ्ग बैलेंसेज का सहज ही भुगतान हो गया, क्योंकि वह एरिया के किसी भी देश से इनके बदले वस्तुयें खरीद सकता था। इससे उसका आर्थिक विकास तेजी से सम्भव हो गया। यह अवश्य है कि भारत को जो लाभ हुआ वह उसकी डालर-कमाई की तुलना में कम था। कारण, उसका डालर क्षेत्र में काफी व्यापार था, जिससे उसने पर्याप्त डालर आय अर्जित की और केन्द्रीय कोष में जमा कराई।

व्यापार एवं प्रशुल्क विषयक सामान्य समझौता या गैट
(The General Agreement on Trade and Tariffs or GATT)

जिन दिनों (१९४७ में) जनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सङ्गठन का चार्टर बनाया जा रहा था उन्हीं दिनों चार्टर बनाने वाली समिति के सदस्यों ने परस्पर टैरिफ विषयों के बारे में विचार करना जारी रक्खा और व्यापार एवं प्रशुल्क विषयक एक सामान्य समझौते की रूपरेखा बनाई। इसे १ जनवरी १९४८ से व्यवहार में लाया गया और इसके सचालन का भार जिस सङ्गठन पर है उसे गैट" के नाम से पुकारा जाता है। यह विभिन्न देशों का एक ढीला ढाला सङ्गठन है, जो व्यापार की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करता रहता है। इसके प्रमुख नियम निम्न हैं —(i) परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य (M F. N Clause), जिसका आशय यह है कि एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र को दी गई रियायतें अन्य सब राष्ट्रों को भी, जो कि गैट के सदस्य हैं 'स्वत' (automatically) प्राप्त हो जायगी, (ii) परिमाणात्मक नियन्त्रणों के प्रयोग

पर प्रतिबन्ध, (iii) आयातित एवं स्वदेशी वस्तुओं पर आन्तरिक करों की समानता, (iv) वस्तुओं के यातायात पर प्रतिबन्ध न होना, (v) अत्यधिक आयात-निर्यात कर व लालफीताशाही पर रोक एवं (vi) निर्यातों के लिए आर्थिक सहायताओं की आवधिक समीक्षा।

गैट की लोचपूर्ण व्यवस्थायें—

गैट के नियम पर्याप्त लोचदार रखे गए हैं जिससे कि व्यक्तिगत सदस्यों के विविध हितों और दृष्टिकोणों की सन्तुष्टि हो सके। इस प्रकार, गैट के स्वतन्त्र व्यापार एवं भेदभाव रहित व्यवहार सम्बन्धी उद्देश्य अविकसित दशा द्वारा संरक्षण-नीति के प्रयोग से पूर्ण संगति रखते हैं। गैट के नियमों में यह छूट दी हुई है कि एक सदस्य देश अपने कीमत-स्थायीकरण-कार्यक्रम (price support programme) की सफलता हेतु विदेशों से कृषि-वस्तुओं के स्वतन्त्र आयात पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। किन्तु, साथ ही, यह शर्त रखी हुई है कि वह स्वदेश की कृषि वस्तुओं के उत्पादन या विपणन के विषय में भी उतने ही प्रतिबन्धात्मक नियन्त्रण लागू करेगा। कारण, जब तक आयातित एवं स्वदेशी वस्तुओं पर समान रूप से प्रतिबन्ध लगाये जायेंगे, तब तक बाजार में विदेशी विक्रेता को अपना सामान्य हिस्सा न छोड़ना पड़ेगा।

गैट की सफलतायें—

इस समय गैट से विश्व की बड़ी व्यापारिक शक्तियाँ सम्बद्ध हैं और विकासोन्मुख देश भी इसमें सदस्य हैं। सबका व्यापार मिलाकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ⅘ है। गैट ने अत्यन्त सफलतापूर्वक कार्य किया है, जिसका अनुमान इसके निम्नलिखित कार्यकलापों से लगाया जा सकता है —

(१) **झगड़ों का निपटारा**—गैट को झगड़ों का निपटारा कराने में सबसे अधिक सफलता मिली है। इसके वार्षिक सम्मेलनों में नियमों का उल्लंघन करने वाले दोषी राष्ट्र के विषय में शिकायतें प्रस्तुत की जाती हैं। प्रारम्भ में तो पक्षों से यह प्रार्थना की जाती है कि वे पारस्परिक वार्ता द्वारा अपने विवाद को सुलझालें। किन्तु, यदि वे ऐसा करने में असमर्थ रहें तो सङ्गठन की एक वर्किंग कमेटी समस्या का सावधानी से अध्ययन करती है और अपना सुझाव या निर्णय देती है। दोषी सदस्य से इस सुझाव या निर्णय का पालन करने के लिए कहा जाता है। यदि वह ऐसा न करे, तो हानि उठाने वाले पक्ष को यह अनुमति दे दी जाती है कि वह दोषी देश के विरुद्ध, उसने कुछ या सब रियायतें लौटाकर, प्रतिकारात्मक कार्यवाही करे। प्रायः व्यवहार में दोषी सदस्यों ने वर्किंग कमेटी के सुझावों का आदर किया है। केवल अमेरिका ने ही नीदरलैंड के डेरी उत्पादों पर अपने आयात प्रतिबन्धों में संशोधन करना स्वीकार नहीं किया था। सन् १९५३ से सदस्यों ने एक पैनल बना दिया है जो झगड़ों के निपटारे के लिए एक अनौपचारिक न्यायालय के सदृश कार्य करता है।

(२) परिमाणात्मक प्रतिबन्धों में कमी—विभिन्न देशों ने अपने स्वर्ण एवं विदेशी मुद्रा कोषों की सुरक्षा के लिए जो परिमाणात्मक प्रतिबन्ध लगाये हुए थे उनमें कमी कराने में भी गैट को सफलता मिली है। गैट का हथियार समझाना-बुझाना (persuation) और परामर्श देना है। किन्तु ये हथियार बहुत दुर्बल हैं तथा एक ऐसे देश पर जो कि परिमाणात्मक प्रतिबन्धों को जारी रखने पर अड़ा हो, इनका प्रभाव पड़ना कठिन है। फिर भी, परिमाणात्मक प्रतिबन्धों की निरन्तर समीक्षा की जाती है तथा उन्हें हटाने या कम करने पर जोर दिया जाता रहता है।

(३) टैरिफ वार्त्ताएँ—गैट ने अपनी टैरिफ वार्त्ताओं द्वारा बैठकों में सबसे ठोस सफलता प्राप्त की है। विश्व व्यापार के २/३ भाग के सम्बन्ध में लगभग ६,००० टैरिफ दरों पर वार्त्ताएँ हुई हैं। इन वार्त्ताओं के फलस्वरूप प्रभावशाली टैरिफ दरों में ५०% कमी हो गई है और स्थिरता एवं निश्चितता आ गई है, जिसमें सदस्य-देश बहुत लाभान्वित हुए हैं तथा विश्व के स्वतन्त्र व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

गैट का भविष्य—

गैट का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि वह सदस्य-देशों की विरोधी नीतियों को अपने मौलिक उद्देश्यों के अनुसार किस सीमा तक संशोधित कर सकता है। १९५४-५५ में यह प्रस्ताव रखा गया था कि गैट के सङ्गठन को सुधारने के लिए एक 'व्यापार सहयोग सङ्गठन' (Organisation for Trade Cooperation, OTC) की स्थापना की जाय। इसका मतलब यह था कि गैट के अनौपचारिक संगठन को एक औपचारिक सङ्गठन द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाय, जिसका अपना स्थाई स्टाफ हो और कर्त्तव्यों के सम्पादन के लिये एक एक्जीक्यूटिव कमेटी हो।

जब तक देशों की मौद्रिक एवं व्यापारिक नीतियाँ स्वतन्त्र व्यापार के आदर्श को प्राप्त नहीं कर लेती हैं, गैट और इसके कार्यकलापों के लिये आवश्यकता बनी रहेगी। अब अविकसित देश अपने विकास में तेजी से लगे हुए हैं। परिणामतः आयातों और निर्यातों के स्वभाव में, इनकी मात्रा और रचना में महान परिवर्तन हो जायेंगे। इन परिवर्तनों के साथ ही साथ भुगतान सन्तुलनों में भी परिवर्तन होंगे। इस प्रकार, गैट को भविष्य में कम विकसित देशों के निर्यात-व्यापार के विकास के लिए एक ठोस कार्यक्रम अपनाने की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु अर्धविकसित देशों के दावों का स्वीकार करना तथा इस विषय में उनकी नीति के लिए विकसित देशों का समर्थन प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं है।

गैट समझौते के अन्तर्गत भारत ने विभिन्न देशों से महत्त्वपूर्ण टैरिफ रियायतें प्राप्त की हैं और बदले में उन्हें महत्त्वपूर्ण रियायतें दी हैं। गैट देशों को भारत के निर्यातों का ५०% भाग टैरिफ रियायतों से लाभान्वित हो रहा है, जो कि उसने गैट समझौते के अन्तर्गत प्राप्त की हैं। एक अल्पविकसित देश के नाते जो कि केन्द्रीय आर्थिक नियोजन के द्वारा तेजी से आर्थिक विकास करने पर तुला हुआ है, भारत को भविष्य में गैट से बहुत लाभ होने की सम्भावना है।

गैट के नवें सम्मेलन में, जो कि जनेवा में १९५५ में हुआ था। अर्ध-विकसित देशों के इस अधिकार को स्वीकार किया गया कि आर्थिक विकास सम्बन्धी अपने कार्यक्रमों की पूर्ति के उद्देश्य से पर्याप्त विदेशी विनिमय कोष निर्मित करने हेतु परिमाणात्मक प्रतिबन्ध लगा सकते हैं। गैट के १२वें सम्मेलन में जो कि जनेवा में १९५८ में हुआ था, यह सामान्य अनुभूति हुई कि यूरोपियन साझा बाजार योजना के आधीन औद्योगिक देशों की नई प्रशुल्क नीति अर्ध-विकसित एवं कृषक देशों के निर्यात व्यापार को बहुत ही हानि पहुँचायेगी। अतः यह सुझाव दिया कि चाय, कहवा तम्बाकू और चीनी का निर्यात करने वाले अल्प विकसित देश मिलकर टैरिफ में कमी कराने के लिए आयातक देशों से अनुरोध करें। इस सुझाव के तत्काल बाद ही इन निर्यातक देशों ने आयातक देशों से यह संयुक्त अनुरोध किया कि टैरिफ में कमी की जानी चाहिए। १९५९ के टोक्यो में हुए गैट सम्मेलन के बाद यह समाचार मिला कि भारत एवं अन्य अविकसित देशों से विकसित देशों को भेजी जाने वाली वस्तुओं पर आयात प्रतिबन्ध धीरे धीरे हटाये जायेंगे। उदाहरणार्थ दिस० १९५९ में प० जर्मनी ने भारत के जूट निर्यात पर से पाँच वर्ष के लिये आयात प्रतिबन्ध हटाने की घोषणा की। १९६२ और १९६३ के सम्मेलनों में भी गैट के उन्नत सदस्य देशों से चाय, कहवा, कोको और अन्य वस्तुओं पर जो कि अल्प विकसित देशों द्वारा निर्यात की जाती थीं टैक्स घटाने का अनुरोध किया गया।

८ फरवरी १९६५ को गैट के 'नये अध्याय' पर लगभग सभी सदस्य देशों ने हस्ताक्षर किये। यह अध्याय अल्प विकसित देशों के दृष्टिकोण से बहुत प्रेरणादायक है। इस अध्याय के फलस्वरूप इस आवश्यकता को अधिकृत रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि विकासोन्मुख देशों को अपनी नई निर्मित वस्तुओं के लिए बाजार ढूँढने चाहिए। यही नहीं, विकसित देशों से यह कहा गया है कि वे विकासोन्मुख देशों के वर्तमान या सम्भाव्य निर्यातों पर कोई नये टैरिफ या प्रतिबन्ध न लगायें। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तो यह व्यवस्था होना है कि विकासोन्मुख देशों को जो रियायतें विकसित देशों से मिलें उनके लिये वे बदले की रियायतें दें ऐसा आवश्यक नहीं है।

इस प्रकार भारत को दोहरा लाभ हो रहा है—एक ओर उसके निर्यातों में कुछ परिपक्व गैट सदस्य देशों द्वारा दी गई टैरिफ रियायतों के फलस्वरूप वृद्धि हो रही है और दूसरी ओर उसे अपने विदेशी विनिमय कोष सुरक्षित रखने के लिए परिमाणात्मक आयात प्रतिबन्धों की नीति अपनाने की अनुमति भी प्राप्त है।

भारत सहित ४६ देशों ने ३० जून, १९६७ को एक करार पर हस्ताक्षर किये जिसका उद्देश्य टैरिफ में ५०% तक कमी करना है। स्वर्गीय प्रेसीडेन्ट केनेडी ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बारे में जो वार्ता शुरू की थी यह करार उसका अन्तिम अध्याय था। भारत ने इस बात का प्रयत्न किया कि भारत और अन्य विकासशील देशों को अपनी विकास सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी करने हेतु केवल टैरिफ की आधी

कटौती का ही पूरा-पूरा लाभ न पहुँचे वरन् उन्नत देश विकासशील देशों को इससे भी अधिक रियायतें दें।

नवम्बर १९६८ में जनेवा में व्यापार तथा टटकर सम्बन्धी सामान्य करार व्यवस्था के वस सदस्यों का पच्चीसवां अधिवेशन हुआ। अधिवेशन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विकासशील देशों का भाग निरन्तर कम होने पर चिन्ता प्रकट की गई। अधिवेशन में इस बात पर जोर दिया गया कि इन देशों की व्यापार की समस्याओं का हल करने के लिए शीघ्र करार किए जायें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अधिवेशन में अनुरोध किया गया कि पाँचवें अधिवेशन की सिफारिशों को शीघ्र कार्यान्वित किया जाय। अधिवेशन ने यह भी मत प्रकट किया कि व्यापार तथा टटकर समझौते के चौथे भाग के कार्यान्वित होने में आने वाली कठिनाइयों की एक विशेष समिति द्वारा जाँच की जानी चाहिए जिसमें इसको अधिक प्रभावशाली तथा सुव्यवस्थित ढंग से कार्यान्वित किया जा सके।

१९६४-६७ के दौरान टटकर को कम करने की कठिनाइयों पर बातचीत के कैनेडी-दौर (Kennedy Round) में किए गए करारों को जनवरी १९६८ से कार्यान्वित किया जा रहा है। भारत तथा अन्य विकासशील देशों के आग्रह पर विकसित देशों ने टटकर में क्रमिक कमी करने की जगह एक साथ कमी करने की बात मान ली थी।

यूरोपियन साझा बाजार
(European Common Market)

यूरोपियन साझा बाजार या यूरोपियन आर्थिक समुदाय का जन्म यूरोपियन एकता के लिए देशों की उत्कट इच्छा के फलस्वरूप हुआ था। EEC एक नई संस्था है किन्तु जिस भावना से इसका संगठन हुआ वह बहुत पुरानी है। यूरोप का इतिहास का अध्ययन करने से यह पता चलेगा कि एक संयुक्त यूरोप का निर्माण करने हेतु कितने अथक प्रयत्न किए गए। जिस प्रकार भारतीय उप-महाद्वीप में एकता के लिए भावना समय-समय पर करवटें लेती रही थी उसी प्रकार से यूरोप में भी एकता की भावना दार्शनिकों एवं कवियों की रचनाओं तथा स्पेन के राजाओं नेपोलियन और हिटलर के कार्यों में झलकती है। बहुत समय तक संयुक्त यूरोप एक सुखद स्वप्न मात्र रहा। किन्तु संयुक्त राष्ट्र अमरिका की स्थापना और फिर इसकी सफलता ने यूरोपवासियों को यह दर्शा दिया कि यदि वे मिलकर काम करें तो यूरोपियनों का समूह क्या नहीं कर सकता है। किन्तु यह सब राष्ट्रीय द्वेष भावों को समाप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं था।

प्रथम महायुद्ध के बाद, जब लीग आफ नेशन्स (जो कि मुख्यतः यूरोपीय देशों की संस्था थी) की स्थापना हुई तब यूरोपियन एकता के विचार ने ठोस स्वरूप धारण किया। द्वितीय महायुद्ध ने तो यूरोपियन एकता को अनिवार्य बना दिया क्योंकि उन दिनों पश्चिमी यूरोप के अस्तित्व का ही खतरा उत्पन्न हो गया था। युद्ध

के बाद यूरोप के बड़े राष्ट्रों ने अपने आपको दो महान शक्तियों (रूस और अमेरिका) के चक्कर में फँसा पाया। अमेरिका की शक्ति का स्रोत उसकी टेक्नीकल प्रगति में निहित था किन्तु यूरोप में राजनैतिक सीमाओं के कारण लगे हुए आर्थिक प्रतिबन्धों ने इस प्रगति में बाधा डाल रक्खी थी। अतः यूरोपियन राष्ट्रों की एकता के लिए प्रबल भावना उत्पन्न हो गई। सम्भव था कि यह भावना कुछ समय तक अपूर्ण रहती किन्तु अमेरिका के सहायता तन्त्र ने अन्जान में ही इसे फलीभूत होने का अवसर दे दिया। सन् १९४७ में पश्चिमी यूरोप की युद्ध जर्जरित अर्थ-व्यवस्था के पुनर्गठन के लिए प्रसिद्ध **मार्शल योजना** (Marshall Plan) आरम्भ की गई। इस योजना ने जो कि **यूरोपियन पुनर्जीवन कार्यक्रम** (ERP) के नाम से प्रसिद्ध हुई, सहायता देने के लिए OEEC की स्थापना हुई, जो एक अन्तर्सरकारी संस्था थी। इससे देशों में राजनैतिक एकता तो उत्पन्न न हुई किन्तु एकता की भावना बहुत मजबूत हो गई जिसके फलस्वरूप एक व्यापक संस्था की स्थापना हुई जो कि आगे चलकर यूरोपियन आर्थिक समुदाय की जननी बनी।

यूरोपियन कोयला एवं स्पात समुदाय—

९ मई १९५० को फ्रांस के विदेश मंत्री रॉबर्ट शूमन ने यह प्रस्ताव रखा कि कोयला और स्पात सम्बन्धी फ्रांसीसी और जर्मनी प्रसाधनों को एक सामान्य संगठन के अन्तर्गत मिलाया जाय और इस सङ्गठन की सदस्यता अन्य यूरोपियन देशों के लिए भी खुली होनी चाहिए। उसका प्रस्ताव एक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र था और लक्ष्य था एक यूरोपियन सङ्घ की स्थापना जो कि शांति बनाये रखने के लिए अपरिहार्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक था कि फ्रान्स और जर्मनी के सदियों पुराने बिगड़े हुये सम्बन्धों को ठीक किया जाय। ब्रिटेन ने इस भावना की उपेक्षा की किन्तु फ्रान्स, जर्मनी, इटली, नीदरलैंड, बेल्जियम और लक्समबर्ग इन छः देशों ने एक **यूरोपियन कोयला एवं स्पात समुदाय** (European Coal and Steel Community) की स्थापना के मसविदे पर हस्ताक्षर कर दिये। प्रशासन के लिये एक उच्च अधिकार प्राप्त समिति बनाई गई जिसमें छः सरकारों के प्रतिनिधि लिये गए इसके निर्णय छः देशों के सम्बद्ध उद्योगों पर लागू होते थे जिनके विरुद्ध केवल न्यायालय में ही अपील करने की अनुमति थी।

बढ़ती हुई यूरोपियन एकता—

कोयला एवं स्पात प्रसाधनों के एकीकरण के फलस्वरूप इन उद्योगों की अभूतपूर्व उन्नति हुई। तत्पश्चात् 'छः देशों' ने अपनी सामरिक शक्ति का एकीकरण करने हेतु एक यूरोपीय रक्षा समुदाय (European Defence Community) स्थापित करने का यत्न किया। किन्तु इसे फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने स्वीकार नहीं किया। तत्पश्चात् इनका ध्यान पुनः आर्थिक एकीकरण पर गया। उन्होंने आपस के सभी आर्थिक प्रतिबंधों को दूर करने के उद्देश्य से एक आर्थिक समुदाय (Economic community) स्थापित करने की योजना बनाई। साथ ही, उन्होंने यूरोपियन

अणु शक्ति समुदाय (European Atomic Energy Community) की स्थापना के प्रश्न पर विचार किया। उनके प्रयत्नों को सफलता मिली। २५ मार्च १९५७ को रोम सन्धि पर हस्ताक्षर हुये तथा १९५८ के प्रारम्भ में यूरोपियन आर्थिक समुदाय (European Economic Community, EEC) की स्थापना हुई। अणु शक्ति समुदाय भी स्थापित हो गया।

यूरोपियन आर्थिक समुदाय (EEC) के उद्देश्य एवं इसकी प्रगति—

यूरोपियन आर्थिक समुदाय का कार्य क्षेत्र ४४६,००० वर्ग मील तक फैला हुआ है तथा इसमें १७ करोड़ से अधिक जनसंख्या है। इसमें १८ सम्बद्ध अफ्रीकी देश (उपनिवेश एवं अधीन देश) भी हैं। इसकी जनसंख्या ५½ करोड़ है। यदि सदस्यता के लिए आए हुए सभी प्रार्थनापत्र स्वीकृत कर लिए जायें तो समुदाय के अन्तर्गत फिनलैंड को छोड़कर समस्त गैर कम्यूनिस्ट यूरोप आ जाता है इसकी जनसंख्या अमेरिका से १½ गुनी हो जायगी।

रोम सन्धि के अन्तर्गत समुदाय के भीतर सभी आर्थिक सीमान्त १९७० तक या अधिक से अधिक १९७३ तक खत्म कर दिए जायेंगे, जिससे कि वस्तुएँ, मनुष्य सेवायें और पूँजी स्वतन्त्रता पूर्वक आने जाने लगे। 'छः देश' समुदाय विदेशी व्यापार कृषि यातायात और अन्य अनेक क्षेत्रों में सामान्य एवं एकीकृत नीतियाँ अपनायेगा। अन्तिम लक्ष्य एक संयुक्त राष्ट्र यूरोप का निर्माण करना है। समुदाय के कार्य क्षेत्र में एक जनतन्त्रीय शासन की पूर्ण मशीनरी सक्रिय है। इस मशीनरी के विभिन्न अङ्ग (एग्जक्यूटिव, कैबिनेट पार्लियामेण्ट और सुप्रीम कोर्ट) निम्नलिखित हैं —

(१) कोयला एवं इस्पात उच्च सत्ता (The Coal and Steel High Authority, 1952), जिसका कार्य छः देशों के मध्य समस्त व्यापारिक प्रतिबन्धों का उन्मूलन करके कोयला, इस्पात लौह खनिज एवं स्क्रैप के लिए एक सामान्य बाजार (Common Market) स्थापित करना तथा बनाये रखना है।

(२) साझा बाजार आयोग (The Common Market Commission 1958), जिसका कार्य १२ से १५ वर्ष की अवधि में एक पूर्ण साझा बाजार स्थापित करना है, जिसमें सभी व्यापारिक प्रतिबन्ध समाप्त कर दिये जायेंगे और जो कृषि, यातायात एवं विदेशी व्यापार के विषय में मिली-जुली नीतियां अपनायेगा तथा आर्थिक मौद्रिक एवं श्रम नीतियों को भी एकीकृत करेगा।

(३) यूरोपीय अणु शक्ति समुदाय (Euratom, 1958), जिसका कार्य अणु शक्ति के शान्तिपूर्ण प्रयोग के लिए एक शक्तिशाली उद्योग कायम करना तथा एक अणु साझा बाजार का निरीक्षण करना है।

इन सब में साझा बाजार आयोग सबसे महत्त्वपूर्ण है, प्रो० वाल्टर हैलेस्टीन (Walter Hallstein) के शब्दों में, "यह एक प्रेरक शक्ति, एक निरीक्षक एवं एक ईमानदार मध्यस्थ है जो कि समुदाय को रोम सन्धि की अनुसारता में ढालने में लगा हुआ है।"

१९६७ में प्रगति लेखा-जोखा—

दिस० १९६७ मे तीनो यूरोपियन समुदायो की एक्जीक्यूटिव मशीनरी कौंसिल एव स्पात यूरोपीय अणुशक्ति एव साझा बाजार एक ही १४ सदस्यीय आयोग मे सविलीन हो गई है। एक सामान्य कृषि नीति को पूर्णता प्रदान करने की दिशा मे भी यथेष्ठ प्रगति हुई है जबकि रोम सन्धि के अवसर पर सोचा गया था कि कृषि नीति को समुदाय द्वारा सबसे अत मे स्वीकार किया जायेगा। करारोपण के क्षेत्र मे भी 'छह देशों' ने दो महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये, जिनमे से एक है वर्तमान 'टर्न ओवर टैक्स सिस्टम' (Turn Over Tax System) के स्थान मे एडेड वेल्यू टैक्स सिस्टम' (Added Value Tax System) को अपनाना।

छह देशो के दृष्टिकोण से एक प्रमुख सफलता व्यापारिक वार्ताओ के कनैडी दौर (Kennedy Round) को सपूर्ति होना था। इस वार्त्ता मे आयोग ने अपनी सदस्य-सरकारो का प्रतिनिधित्व किया जिससे यह जाहिर हो गया कि EEC एक 'इकाई' के रूप मे सफलता सहित वार्त्ता चला सकता है। कमीशन ने विभिन्न टैक्स्टाईल वार्त्ताओ मे भी भाग लिया।

रोम सधि मे एक ऐसी सामान्य कृषि नीति की कल्पना की गई थी जो उत्पादकता को बढाये, कृषि-जनसख्या को उचित स्तर पर जीवन निर्वाह का अवसर दे और बाजारो के सयुक्त प्रबन्ध के द्वारा उपभोक्ताओ को उचित कीमतो पर गारन्टीड पूर्ति की व्यवस्था करे। ऐसी एकीकृत नीति को स्वीकार करने के मार्ग मे अनेक बाधाएँ आई क्योकि कृषि सम्बन्धी दशाये छह देशो मे अलग-अलग है। यही नहीं, इन देशो मे कृषक जनता का राजनीति पर काफी प्रभाव है। कृषि वित्त की समस्या को लेकर ही फ्रास ने ब्रुसेल्स वार्त्ताओ का ७ महीने तक बायकाट किया था। फ्रास ने यह रुख लिया कि जल्दी से सधि पर हस्ताक्षर करने की बजाय देर मे किसी सतोषजनक सधि पर हस्ताक्षर करना अच्छा है। वार्त्ताओ मे चीनी और फल सब्जियो से सम्बधित नियमो के सम्बन्ध मे कठिनाई हुई। फ्रास एक प्रमुख चीनी उत्पादक देश है। वह इटली और जर्मनी को EEC के एक्जीक्यूटिव कमीशन द्वारा प्रस्तावित मात्रा मे अधिक बडे कोटे स्वीकार नही करना चाहता था क्योकि ये देश सीमान्त उत्पादक थे। दूसरी ओर बेल्जियम कोटे की व्यवस्था द्वारा चीनी उत्पादन को सीमित कर देने के विरुद्ध था, क्योकि ऐसा होने से उनकी निर्यात क्षमता कम हो जाती तथा समुदाय के कृषि कोष से मिलने वाली कीमत सहायता (price subsidy) मे कमी आती। इन कठिनाइयों के सदर्भ मे मन्त्रियो की वार्त्ता बार बार अवरुद्ध हो जाती थी किन्तु जुलाई १९६६ मे कृषि नीति विषयक ठहराव हो ही गया।

पचवर्षीय योजना (प्रथम मध्यमकालीन आर्थिक कार्यक्रम)

कौंसिल ऑफ मिनिस्टर्स आफ दि यौरोपियन इकॉनोमिक्स कम्युनिटी ने फरवरी १९६७ मे १९६६ से १९७० की मध्यावधि के लिये एक आर्थिक योजना का मसविदा स्वीकार करके छह सदस्य देशो के आर्थिक एकीकरण की दिशा मे एक

महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। इस आर्थिक कार्यक्रम का आधार अप्रैल १९६४ में लिया गया निर्णय था। कार्यक्रम में कोई विशिष्ट लक्ष्य तो निर्धारित नहीं किये गये किन्तु रोजगार और वोकेशनल ट्रेनिंग पालिसी पब्लिक फाइनेंस में व क्षेत्रीय पालिसी पर प्रकाश डाला गया और इस बात पर बल दिया गया कि समुदाय की नियमित एवं तीव्र गति से उन्नति कीमतों को पर्याप्त रूप से स्थिर रखने पर निर्भर है। अतः सरकार को चाहिए कि प्राइवेट उपभोग और सार्वजनिक व्यय के अत्यधिक विस्तार को रोके। कार्यक्रम में यह भी कहा गया कि आज यूरोप पहले की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है यद्यपि इसके कुछ भाग अभी भी पिछड़े हुए हैं। किन्तु रोम संधि ऐसी असमताओं को दूर करने के लिये कटिबद्ध है क्योंकि कुछ क्षेत्रों का पिछड़ापन सम्पूर्ण समुदाय पर भारी बोझ बना हुआ है तथा उसकी अधिक उन्नति में बाधक है। १९६१-६५ की पंचवर्षीय अवधि में समुदाय के उत्पादन में वृद्धि की दर ४.६% थी जो १९६६-१९७० की पंचवर्षीय अवधि में ४.३% होने की संभावना है। (यह कमी जर्मनी की वृद्धि दर के पिछड़ने के कारण होगी।)

स्मरण रहे कि आर्थिक कार्यक्रम को समुदाय द्वारा स्वीकार किया जाना अपने में एक विचित्र बात है क्योंकि इसमें अधिकांश देश नियोजन की लाभदायकता में विश्वास नहीं करते थे।

समान कर व्यवस्था की ओर—

यूरोपियन आर्थिक समुदाय के मिनिस्टरों की कौंसिल ने साझे बाजार में करों द्वारा स्थापित सीमायें समाप्त करने की दिशा में एक और कदम उठाया। फरवरी १९६७ में कौंसिल ने दो निर्देश जारी किये। पहले निर्देश में कहा गया है कि बेल्जियम, लक्समबर्ग, जर्मनी, इटली और नीदरलैण्ड्स में जो संचयी विक्रय कर की व्यवस्था (cumulative turnover tax system) प्रचलित है उसके स्थान में बढ़ाये गये मूल्य पर कर की व्यापक व्यवस्था (Common system of taxation on value added) को लागू किया जायगा। फ्रांस में जो बढ़ाये गये मूल्य पर करों की प्रणाली विद्यमान है उसे भी व्यापक EEC व्यवस्था के स्तर पर ले आया जायगा। निर्देश में यह प्रावधान है कि बढ़ाये गये मूल्य पर कर की सामान्य व्यवस्था १ जनवरी १९७० से प्रचलित होगी और १९६८ की समाप्ति के पहले ही एग्जीक्यूटिव कमीशन को ऐसे प्रस्ताव रखने होंगे जिनके आधार पर समान कर व्यवस्था का अंतिम उद्देश्य—आयातों पर लगाये हुए सभी करों की तथा सदस्य देशों के मध्य व्यापार में निर्यातों पर डायरेक्ट की समाप्ति—पूरे हो सकें।

नई बढ़ाये गये मूल्य पर करारोपण की सामान्य व्यवस्था के निम्न लाभ बताए गए हैं :—(१) यह साझा बाजार में इन्टीग्रेटेड और नान इन्टीग्रेटेड उपक्रमों के मध्य प्रतिस्पर्धा पर कोई प्रभाव नहीं डालेगी जबकि संचयी विक्रय कर व्यवस्था डालती है। (२) उत्पादन के विशिष्टीकरण में अब कृत्रिम बाधायें न पड़ेंगी। ( ) पुरानी व्यवस्था के असमान नई व्यवस्था टर्न ओवर टैक्सों के भार को अंतर्राष्ट्रीय

व्यापार य बराबर बराबर वितरित कर सकेगी। (४) अन्तर-समुदाय व्यापार के लिए व्यापारियों को भविष्य में छह विभिन्न कर व्यवस्थाओं के बजाय एक ही सामान्य व्यवस्था से निपटना पड़ेगा।

दूसरा निर्देश सामान्य कर व्यवस्था को लागू करने के ढंगों से सम्बन्धित था।

EEC की व्यापारिक नीति और विकासोन्मुख देश—

सन् १९६६ में EEC ने विकासोन्मुख देशों के २१% निर्यात लिए। इस प्रकार यह विकासोन्मुख देशों का सबसे बड़ा—अमेरिका EFTA देश समूह समाजवादी देशों और जापान से भी बड़ा—अकेला ग्राहक है। कारण पश्चिमी यूरोप की साधन-स्थिति (resource position) कुछ ऐसी है कि वह खाद्यान्न कच्चे माल, ईंधन और बुनियादी धातुओं के लिए विकासोन्मुख दशा पर अधिक निर्भर है। १९६६ को समाप्त होने वाले पाँच वर्षों में विकासोन्मुख देशों में जबकि EFTA और EEC ने प्रतिवर्ष ४५ डालर प्रति व्यक्ति का आयात किया, तब अमरिका ने (जहाँ प्रति व्यक्ति आय दूनी है) केवल ३० डालर का आयात किया।

विकासोन्मुख देशों से निर्यात अन्य देशों की अपेक्षा EEC को अधिक उत्साह दिखा रहे हैं। १९५८ और १९६६ के मध्य विकासोन्मुख देशों से विश्व को कुल निर्यात ५७% बढ़ गए। जापान और समाजवादी देशों को निर्यातों में सबके तीव्र वृद्धि हुई (निर्यात लगभग तिगुने हो गए हैं) किन्तु स्मरण रहे कि इन देशों के साथ विकासोन्मुख देशों का व्यापार मामूली ही है अधिकांश व्यापार तो असाम्यवादी पश्चिमी देशों से होता है। इस वर्ग में भी EEC देशों को निर्यात ७२% EFTA को २८% और अमरिका को ३०% बढ़े।

उक्त विषमताओं का आर्थिक विकास की गति के अन्तरों के आधार पर पूर्णत स्पष्ट नहीं किया जा सकता। GNP की वृद्धि इन तीन वर्षों में EEC में सर्वोच्च और EFTA में निम्नतम थी किन्तु ये अन्तर उनमें कहीं छोटे हैं जो कि विकासोन्मुख देशों से आयातों की वृद्धि-दर में है। यथार्थ में, दोनों EFTA एवं USA में विकासोन्मुख देशों से आयात G N P कुल राष्ट्रीय उत्पादन (Gross National Product) की अपेक्षा धीमी गति से बढ़े हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि हम आयात वृद्धि के लिए श्रेय आय-वृद्धि को देना चाहते हैं तो EEC को आय वृद्धि का, लाभ गुणांक बहुत होने के कारण, अधिक सार्थक स्वीकार करना होगा। अन्य शब्दों में अमेरिका का ऊँचा विकास ढाँचा (high dovelopment pattern) यूरोपियन ढाँचे की अपेक्षा कम साधन-प्रधान (less resource oriented) होगा, जिस कारण U S A और (Europe) के मध्य अन्तर का तो समाधान हो जाता है लेकिन EFTA और EEC के बीच के अन्तरों का नहीं।

यदि हम वस्तु क्रम के आधार पर तुलना करें, तो उक्त अन्तरों का समाधान हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि आधारभूत कारण चाहे कुछ भी हो, विकासोन्मुख देशों के आयातों के प्रति EEC में आकर्षण अधिक पाया जाता है।

अत यदि साधन और आवश्यकताओ के मध्य सम्बन्धो मे परिवर्तन धीरे-धीरे हो, तो यह सम्भव है कि विकासोन्मुख देशो के निर्यात के बाजार के रूप मे EEC का सापेक्षिक महत्त्व आज की अपेक्षा भी अधिक हो जायगा। इस सम्बन्ध मे तीन बातें उल्लेखनीय है—

(१) विकासोन्मुख देशो से १९५८ से आयातो मे वृद्धि के लिये एसोशियेटेड देशो के साथ रियायत व्यवस्थाओ को श्रेय नही दिया जा सकता है। यथार्थ मे एसोशियटेड देशो से आयात नॉन-एसोशियटेड देशो मे आयातो की अपेक्षा कही धीमी गति म बढे।

(२) निर्मित वस्तुओ के आयातो के सम्बन्ध मे अपनाई जाने वाली उदार नीति को भी आयात वृद्धि के लिए श्रेय नही दिया जा सकता है क्योंकि बुनियादी धातुओ को छोडकर निर्मित वस्तुओ का विकासोन्मुख देशो से EEC को आयात मामूली है। प्रति व्यक्ति के हिसाब से ऐसे आयात अमेरिका मे EFTA देशो की अपेक्षा तीन गुने है।

EEC मे अपनाई जाने वाली व्यापारिक और सामान्य आर्थिक नीति भी विकासोन्मुख देशो से अधिक आयात आकर्षित करने वाली नही है। ट्रोपिकल प्रोडक्ट्स (Tropical Products) पर आन्तरिक कर बहुत ऊँचे है। कृषि नीति आत्म निर्भरता पर आधारित है (विशेषत चीनी, अनाज और फलो के सम्बन्ध मे) स्पष्टत ऐसी नीति विकासोन्मुख देशो के हितो के विरुद्ध है। विकासोन्मुख देशो से तिलहनो के लिए अमेरिका से सोयाबीन के विरुद्ध कोई रियायते नही दी जाती हैं। इन नीतियो के बावजूद विकासोन्मुख देशो से यदि आयात बढे है तो इससे यह पता चलता है कि यूरोपीय देशो की आवश्यकता बढ रही है, न कि उन्होने विकासोन्मुख देशो के हितो को प्रधानता दी है।

१९५८ की रोम सन्धि ने EEC और सम्बद्ध क्षेत्रो के मध्य एक मुक्त व्यापार क्षेत्र की कल्पना की थी। अधिक विस्तृत नियम एक विशेष कन्वेंशन (convention) मे सम्मिलित किये गये थे जो कि ५ वर्ष के लिये था। इस कन्वेंशन की समाप्ति तक अनेक एसोशियेटेड देश स्वतन्त्र हो गये थे, जिस कारण **दूसरा पांच वर्षीय** कन्वेंशन (the Convention of Yaounde) हुआ, जिसकी प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित है —(१) EEC और एसोशियेटेड देशो व क्षेत्रो के मध्य मुक्त व्यापार होगा, किन्तु एसोशियेटड देश चाहे तो फिस्कल अथवा सरक्षणात्मक (Fiscal or Protective) कारणो से EEC से आयातो पर टैरिफ जारी रख सकते हैं और बढा भी सकते हैं। (२) तीसरे देशो के साथ व्यापार मे एसोशियेटेड देश EEC के सामान्य वैदेशिक तटकरो (common external tariffs) से बँधे हुए न होगे। (३) EEC एसोशियेटेड देशो के विकास के लिए एक विकास कोष मे से मदद देगा। (४) अन्य देश भी EEC के सगठन मे सम्मिलित होने के लिए प्रार्थना पत्र दे सकते है। (५) फ्रेन्च कोलोनियो को फ्रान्स के बाजारो मे जो विशेष स्थिति प्राप्त है (उन्हे विश्व

बाजार के स्तरों से ऊँची कीमतें देनी पड़ती है और बदले में वे स्वयं भी फ्रांस के निर्यातों के लिये ऊँची कीमत देते है) यह शर्त शनै शनै समाप्त की जायेगी। इन कोलोनियो को विशेष सहायता दी जायेगी जिससे कि वे अपनी उत्पादकता को इस सीमा तक बढ़ा लें कि नई स्थिति का सामना कर सकें।

१९६४ में कन्वेंशन के आरम्भ के अवसर पर तृतीय देशो के विरुद्ध सामान्य तटकर कई ट्रॉपीकल प्रोडक्टस पर नीचे कर दिए गये या स्थगित कर दिये गए। इस प्रकार 'भेदभाव का समायोजन' धीरे-धीरे होने के बजाय भेदभाव 'तात्कालिक' हो गया।

समुदाय की रियायती व्यवस्थाये प्रारम्भ से ही नॉन-एसोशियेटेड विकासान्मुख देशो (विशेषत अफ्रीका और लेटिन अमेरिका में) के लिए चिन्ता का विषय रहीं है। यह डर था कि उनका व्यापार कहीं अस्त व्यस्त न हो जाय अर्थात् ऐसोशियेटेड देशो के निर्यात बाहरी देशो के निर्यातो का जो किन्हीं दशाओं मे उनके लिये परमावश्यक हैं (जैसे—कहवा कोकोआ और आग) स्थान न लेलें। किन्तु अभी तक ये आशकाये निर्मूल हुई है। जैसा कि हमने पहले बताया था EEC को विकासोन्मुख देशो के कुल निर्यातो मे १९५८-१९६६ की मध्यावधि मे ७२% वृद्धि हो गई है। इसी अवधि म EEC को एसोशियेटेड देशो और क्षेत्रो के निर्यात केवल ३३% ही बढे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रियायती व्यवस्थाओ को अभी अपना प्रभाव दिखाने का अवसर नहीं मिला है। जहाँ तक भविष्य की स्थिति का प्रश्न है वह इस बात पर निर्भर होगी कि विकास के लिये दी जाने वाली सहायता का उपयोग करके ऐसोशियेटेड देश अन्य सप्लायरो की तुलना मे प्रतिस्पर्धा कर पायेंगे या नहीं।

अंकटाड द्वितीय (UNCTAD II) के सामने यह प्रश्न है कि क्या EEC समुदाय जैसी प्रीफरेन्शियल स्कीमो को समाप्त कर देना चाहिये। प्रेसीडेन्ट जोन्सन ने तो सामान्यीकृत रियायतो (generalised preferences) के पक्ष मे अमेरिका का समर्थन घोषित किया है। अल्जीयर्स चार्टर (Algeiers Charter) मे भी यह कहा गया है कि विशेष रियायतो को समाप्त कर दिया जाय और जो देश इसे अब तक रियायते पाते रहे है उन्हें तात्कालिक हानि से बचाने के लिये क्षतिपूरक लाभ दिये जाये। किन्तु EEC का दृष्टिकोण Yaounde Convention के अनुसार विद्यमान रियायतो को ही बनाये रखने का है—ऐसा EEC स्वय के हित में चाहती है या अफ्रीरी देशो के हित मे, इस बारे मे निश्चिततापूर्वक नही कहा जा सकता। स्पष्टत विवेकपूर्ण कदम तो यह होगा कि UNCTAD-I और अल्जीयर्स चार्टर की सिफारिशो का अनुसरण किया जाय।

उल्लेखनीय है कि ऐसोशियेटेड देशो को निर्मित वस्तुओ को EEC मे मुक्त-पहुँच (free access) प्राप्त है, जिस कारण औपचारिक रूप से यह प्रतीत होता है कि उनकी स्थिति अनेक विकासोन्मुख देशो की अपेक्षा बहुत अनुकूल है। किन्तु यथार्थ मे ऐसा नहीं है। कारण, इन देशो मे औद्योगीकरण विलम्ब से आरम्भ हुआ है। गृह-

बाजार पर आधारित उद्योग सामान्यतः एसोशियटेड देशों में छोटे और असहत्वपूर्ण होते हैं जिससे इनके लिए भविष्य उज्जवल नहीं है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि औद्योगिक देशों में व्यापारिक बाधाओं की समाप्ति मात्र से विकासोन्मुख देशों का लाभ नहीं हो जायगा। इन देशों में एक औद्योगीकरण स-निर्यात प्रयास की सफलता के लिये यह भी जरूरी होगा कि उत्पादन एवं विपणन सम्बन्धी तकनीकी ज्ञान व कौशल का हस्तान्तरण हो। अतः निर्मित वस्तुओं के प्रति EEC की व्यापारिक रियायतें अधिकांश में निष्प्रभावी unelfective) हैं।

मोटे रूप में EEC की व्यापारिक नीति अन्य औद्योगिक देशों के ही समान है—कच्चे मालों पर (जो कि स्थानीय पूर्ति स्रोतों से प्रतिस्पर्धा न करने वाले हों) नाची या शून्य ड्यूटीज लगाना, प्रोसेसिंग के स्तर के साथ बढ़ती हुई टैरिफ दरें निर्धारित करना और जिन दशाओं में ऊँचे टैरिफ भी सफल न होंगे वहाँ कोटा प्रतिबन्ध लगाना। साथ ही, EEC में टेम्परेट क्षेत्र के कृषि उत्पादों के विषय में आत्मनिर्भरता के लिये प्रयास किया जा रहा है तथा ट्रोपीकल प्रोडक्ट्स (जैसे—कहवा और चाय) पर ऊँचे कर लगाये गये हैं।

EEC की स्थिति विकासोन्मुख देशों के लिए अन्य औद्योगिक देशों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह उनका सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार है। अतः विकासोन्मुख देश उससे निम्न आशायें लगा सकते हैं —(१) विकासोन्मुख देशों की व्यापार शर्तों को प्रतिकूल न होने देने बल्कि अनुकूल बनाने की योजनाओं के प्रति पूर्ण सहयोग देना। (२) ट्रोपीकल प्रोडक्ट्स पर आन्तरिक-करों को हटाना या घटाना। (३) आन्तरिक कृषि नीतियों में ऐसे समायोजन करना जिससे विकासोन्मुख देशों में प्रतिस्पर्धात्मक निर्यातों (जैसे—चीनी) की वृद्धि को ठेस न पहुँचे। (४) सभी विकासोन्मुख देशों को सामान्य रियायतें (generalised preferences) देने के प्रस्तावों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाना। (५) विकासोन्मुख देशों में निर्यात-उद्योग कायम करने और इनके उत्पादकों का वितरण करने में उनको प्रत्यक्ष और यथेष्ठ सहायता देना।

विकासोन्मुख देशों को रियायतें देने के प्रश्न पर का दृष्टिकोण—

यूरोपियन समुदाय के आयोग के अध्यक्ष जीन रे (Jean Ray) ने कौंसिल ऑफ मिनिस्टर्स को भेजे गये अपने दो टिप्पणी-पत्रों में भारत और अन्य विकासोन्मुख देशों को हित की बातों की चर्चा की है। ये दो टिप्पणी-पत्र निम्न प्रकार हैं —

(१) OECD की चार सदस्यीय समिति की रियायती प्रशुल्कों से सम्बन्धित रिपोर्ट पर विचार—विकासोन्मुख देशों के लिये रियायती टैरिफों के विषय में OECD की चार सदस्यीय समिति ने निम्न आठ बातें रखी थी —(i) विकासोन्मुख देशों के लिये सुरक्षा प्रावधान रखा जाय, (ii) रियायतों की व्यवस्था सभी विकसित देशों द्वारा समान स्तर पर की जाय, (iii) विकासोन्मुख देशों की एक ऐसी सूची तैयार की जाये जिसमें लाभान्वित होने वाले देशों के नाम हों, (iv)

अपवाद सूची बनाई जाय, (v) मूल स्थान (Origin) सम्बन्धी नियम अलग अलग हो सकते हैं किन्तु उनका एकीकरण (Coordination) होना चाहिए, (vi) केन्द्रीय नियोजित अर्थव्यवस्थाओ (अर्थात् पूर्वी यूरोप के देशो) को भी विकासोन्मुख देशो की सहायता करनी चाहिये, (vii) पारस्परिकता (reciprocity) की आवश्यकता नही होगी लेकिन विकासोन्मुख देश क्षत्रीय व्यवस्थाओ म प्रविष्टि होकर स्वय ही अपने विकास को बढायेंगे एव (viii) रियायतें घटती हुई और अस्थाई होनी चाहिय प्रारम्भ म ये केवल १० वर्ष के लिए हो सकती हैं।

(२) खाद्यान्न सम्बन्धी सहायता—कैनेडी दौर की समाप्ति की अवस्थाओ मे विकासोन्मुख देशो ने एक अमेरिकन प्रस्ताव को स्वीकार किया जिसके अनुसार एक 'बहुमुखी कार्यक्रम' (multilateral programme) गठित किया जाना था। इसके अनुसार विकासोन्मुख देशो को ४ ५ मि० टन खाद्यान्न सप्लाई किया जायगा। इसम ECM का भाग २३% रखा गया जो नगदी म या जिन्स म दिया जा सकेगा। कमीशन ने जिन्स के रूप म सहायता देने की इच्छा दिखाई है जो विकासोन्मुख देशों की आवश्यकता पर आधारित होगी राजनीति पर नही।

ब्रिटेन और साझा बाजार—

ब्रिटेन ने १६५६ म साझा बाजार मे प्रवेश करने से इन्कार कर दिया था और यहाँ तक कि इसके विरोध म यूरोपियन अबाध व्यापार समुदाय' की रचना तक कर डाली थी। बाद को १६६३ म EEC की प्रगति को देख कर उसने इमम सदस्यता ग्रहण करने की पेशकश की। किन्तु फ्रास के राष्ट्रपति डिगाल के प्रबल विरोध ने उसे साझा बाजार का सदस्य नही बनने दिया। अब १६६७ मे ब्रिटेन ने सदस्यता के लिए प्रस्ताव पुन रखा। इस बार वह राष्ट्रमडल के हितो को छोडने और अपनी कृषि नीति सम्बन्धी शर्तो से भी हटने के लिए तैयार हो गया। किन्तु इतने पर भी फ्रास ने उसकी सदस्यता का विरोध नही छोडा। कहा गया कि ब्रिटन को पहले अपनी भुगतान सतुलन सम्बन्धी प्रतिकूलता को सुधार लेना चाहिए। तब तक के लिए वह एसोसिएट सदस्य बन सकता है, किन्तु ऐसी सीमित सदस्यता ब्रिटेन को स्वीकार नही हुई।

फ्रान्स के विरोध के कारण—

१६५८ मे सत्तारूढ होने के समय से डिगाल का उद्देश्य यूरोप को एक सयुक्त राष्ट्र के रूप मे प्रतिष्ठित करने का रहा—ऐसा सयुक्त राष्ट्र, जिसमे फ्रान्स की स्थिति मुख्य हो। किन्तु फ्रान्स EEC का एक वरिष्ठ साझेदार तब ही तक बना रह सकता है जब तक कि ब्रिटेन उससे बाहर है। यदि ब्रिटेन EEC मे सम्मिलित हो जाय, तो फ्रान्स की प्रभावशाली स्थिति समाप्त हो जायेगी, क्योकि फ्रान्स की भाँति ब्रिटेन भी एक 'इकाई' है, अणु सम्पन्न राष्ट्र है, और अग्रेजी EEC की प्रमुख भाषा

बन जायेगी, क्योंकि जर्मन और इन भाषाओं फ्रान्स की अपेक्षा अंग्रेजों के अधिक निकट है।

डिगाल का ब्रिटेन विरोधी दृष्टिकोण इसलिए भी था कि वह स्वयं अमेरिका विरोधी थे जबकि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में ब्रिटेन अमेरिका का निकट सहयोगी है।

इससे भी बड़ा कारण यह है कि ब्रिटेन साझा बाजार मे प्रवेश के साथ राष्ट्र-मण्डल के देशों के व्यापारिक हितों की भी रक्षा करना चाहता था। खासकर कनाडा एवं न्यूजीलैंड के हितों की रक्षा के लिए वह अपनी और राष्ट्रमण्डल के कृषिजन्य वस्तुओं के व्यापार को विशेष स्थिति दिलाना चाहता था।

इन सब प्रश्नों पर आकर फ्रान्स ने ब्रिटेन की गाड़ी को यूरोपीय आर्थिक संघ मे प्रवेश से पहले ही अटका कर रख दिया। १४ जनवरी, १९६३ को जनरल डिगाल ने कहा —"ब्रिटेन एक अलग द्वीप है, समुद्री व्यापार करने वाला राष्ट्र है और अपने व्यापार, अपने बाजारों और अपने माल मुहैया करने वालों के द्वारा अनेक प्रकार के देशों से जुड़ा हुआ है, जिनमें से कुछ बहुत दूर हैं .. ....प्रश्न यह है कि क्या ग्रेट ब्रिटेन अपने आपको यूरोपीय महाद्वीप के साथ रख सकता है, और महाद्वीप की भांति सही अर्थों में एक सामान्य टैरिफ में रह सकता है, राष्ट्रमण्डल के मामले में सब तरजीहें छोड़ सकता है, इस दावे का परित्याग कर सकता है कि उसकी कृषि को एक विशेष स्थिति प्रदान की जाये, और सबसे बढ़कर क्या यूरोपीय अबाध व्यापार क्षेत्र (यूरोपियन फ्री ट्रेड एरिया) के साथ हुए अपने सब समझौतों को रद्द कर सकता है ? सारा प्रश्न यही है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रश्न फिलहाल हल हो गया है। क्या यह किसी दिन हल होगा ? स्पष्टतः इसका उत्तर केवल ब्रिटेन ही दे सकता है।" जनरल डिगाल के इस उद्धरण से वे सब आर्थिक कारण स्पष्ट हो जाते है जिनसे ब्रिटेन के साझा बाजार में प्रवेश को उन्होंने अटकाया।

राष्ट्र मंडल से बदलते हुये सम्बन्ध—

ब्रिटेन के 'दि इकानामिस्ट' पत्र के अनुसार "पाच वर्ष पूर्व श्री डफिनबेकर कनाडा श्री हैरोल्ड मैकमिलन के यूरोपीय साझा बाजार मे प्रवेश के इरादे पर चौंक उठा था। परन्तु अभी हाल मे आंग्ल-कनाडियन आर्थिक समिति के आश्चर्यजनक शान्ति के साथ सम्पन्न हुए सम्मेलन में भाग लेने के लिए लन्दन मे आये छः कनाडी मंत्रियों ने ब्रिटेन के इस बाजार मे पुनः प्रवेश के नए प्रयत्न पर बुनियादी तौर पर अनुकूल रुख ही प्रकट किया।"

वास्तव मे राष्ट्रमण्डल का रूप बहुत बदलता रहा है। किसी समय उसमे ११ देश थे, अब २६ है। देशों की संख्या इतनी अधिक हो जाने के कारण उसमे वह सुगठित एकसूत्रता नहीं रही, जो पहले थी। ४१ वर्ष पूर्व १९२६ में लार्ड-बालफोर की अध्यक्षता में बैठी समिति ने अपनी रिपोर्ट में राष्ट्रमंडल के जिस स्वरूप की कल्पना की थी, उसमे मूल सिद्धान्त यह था कि उसके सदस्य सभी देश

स्वतन्त्र है, उनका स्तर समान है और 'घरेलू या वैदेशिक नीति के किसी पहलू के बारे में कोई किसी के अधीन नहीं है।' समानता के इस सिद्धान्त का पालन किया गया। परन्तु फिर भी ब्रिटेन ने क्योंकि राष्ट्रमण्डल का गठन किया था इसलिए शेष सभी सदस्य राष्ट्रों के प्रति उसका भाव संरक्षकता का था और सदस्य राष्ट्र भी उसमें कुछ आशाएँ रखते थे। लेकिन राष्ट्रमंडल की बैठकों में राष्ट्रमंडलीय देशों ने दक्षिणी रोडेशिया और वियतनाम के सवालों को लेकर अपने समान स्तर का लाभ उठाया और ब्रिटेन को उसमें कुछ कठिनाई का सामना करना पड़ा। अत ब्रिटेन का ख्याल है कि जब राष्ट्रमंडल के दूसरे देश समान दर्जे का लाभ अपनी दृष्टि से उठाते हैं और ब्रिटेन को कठिनाई में डाल सकते हैं तो वे ब्रिटेन से संरक्षकत्व की आशा कैसे कर सकते हैं ? ब्रिटेन यह तर्क भी देता है कि जब राष्ट्रमंडल के सदस्य राष्ट्र राष्ट्रमंडल से चाहे जब अलग हो सकते है तो ब्रिटेन से ही उनका हर हालत में, अपने हितों की उपेक्षा करके भी, राष्ट्रमंडल का साथ देने की आशा करना कहाँ तक न्याय-संगत है ? इसलिए ब्रिटेन ने अपना हित देखकर अपना यह पुराना रुख बदल दिया है कि वह यूरोपीय साझा बाजार में तभी जायेगा जबकि राष्ट्रमंडल के हितों की वह रक्षा कर सकेगा। अब वह कहता है, पहले मुझे यूरोपीय साझे बाजार में प्रविष्ट हो जाने दो उसके बाद राष्ट्रमंडल के हित-संवर्धन का प्रयत्न करने की बात सोची जायगी। उसके इस रुख का परिणाम यह हो सकता है कि राष्ट्रमंडल का विघटन त्वरित हो जाये।

साझा बाजार में प्रवेश के लिए ब्रिटेन उत्सुक क्यों ?

ब्रिटेन का यूरोपीय साझा बाजार में प्रविष्टि होने में क्या हित है ? असल में अमेरिका की पूँजी और टेक्नोलॉजी ने ब्रिटेन सहित यूरोप पर बहुत जबर्दस्त आक्रमण किया हुआ है। अमेरिका की विदेशों में लगी ४५ अरब डालर की पूँजी में से एक तिहाई पूँजी यूरोप में लगी हुई है। अकेले ब्रिटेन में ही ६.५ अरब डालर का उसका पूँजी-विनियोग है। इसके अलावा अमेरिका से यूरोप को बहुत बड़ी मात्रा में नई टेक्नोलॉजी का आयात करना पड़ता है। अनुमानतः यूरोप प्रतिवर्ष अमेरिका से पेटेन्ट प्राप्त करने के लिए १ अरब डालर व्यय करता है।

दूसरी ओर यूरोप के आला दिमाग अमेरिका में अच्छा वेतन और अनुसंधान की अच्छी सुविधायें मिलने के कारण चुम्बक से खिंचने वाले लोहे की तरह अटलांटिक के उस पार खिंचे चले जा रहे हैं। इससे यूरोप के सामने (जिसमें ब्रिटेन भी सम्मिलित है) यह समस्या पैदा हो गई है कि यदि वह अपने को सम्भालने के लिए संगठित नहीं हुआ तो क्या वह आर्थिक और टेक्नोलॉजीकल मामलों में अमेरिका का दास होने से बच सकेगा ?

अमेरिका और साझा बाजार की आबादियाँ करीब करीब बराबर है परन्तु साझा बाजार के देशों की प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय अमेरिका की औसत प्रति व्यक्ति आय से आधी है। इसका कारण यह पाया गया है कि अमेरिका के भीतर

अपना आन्तरिक बाजार ही इतना बड़ा है कि वह नई टेक्नोलॉजी का लाभ उठाकर बढ़े हुए उत्पादन को खपा सकता है। इसलिए पश्चिमी यूरोप के सभी देश अब यह अनुभव करने लगे हैं कि उन्हें राष्ट्रीय सीमाओं को मिटाकर बड़े-से-बड़ा बाजार बनाना चाहिए। इसी मे ब्रिटेन का लाभ है, इसी मे यूरोपीय साझा बाजार का और इसी में यूरोपीय अबाध व्यापार क्षेत्र का भी लाभ है।

ECM मे ब्रिटेन के प्रवेश से भारत को हानि—

लेकिन ब्रिटेन को यूरोपीय साझे बाजार मे प्रवेश से भले ही लाभ हो, राष्ट्र-मण्डल के देशो, खासकर भारत को इससे व्यापार मे भारी हानि उठानी पड़ेगी। ब्रिटेन भारत के माल का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्राहक रहा है और राष्ट्रमण्डल के देशो को दी जाने वाली टैरिफ सम्बन्धी तरजीह के कारण उसका माल ब्रिटेन मे सस्ता पहुँचता रहा है। इस तरजीह की वजह से ब्रिटेन मे उसके माल की अधिक बिक्री रही है, जबकि यूरोपीय साझा बाजार के देशो से जहाँ उसे यह रियायत नही मिली हुई है, उसका व्यापार उतना नही रहा।

यदि ब्रिटेन यूरोपीय साझा बाजार मे प्रविष्ट हो जाता है तो साझा बाजार के देशो मे परस्पर टैरिफ न होने या बहुत कम होने के कारण ब्रिटेन को यूरोपीय देशों का माल राष्ट्रमण्डलीय देशों या भारत मे सस्ता पड़ेगा। दूसरी ओर भारत के माल पर वही टैरिफ लग जायेगा जो यूरोपीय साझा बाजार के देशो मे लगता है। इससे ब्रिटेन म उसका माल महँगा पड़ेगा और भारत के व्यापार पर इसका प्रतिकूल असर पड़ना स्वाभाविक है।

ब्रिटेन जब यूरोपीय अबाध व्यापार क्षेत्र मे (अर्थात् EFTA, जिसके सदस्य हैं, आस्ट्रिया, डेनमार्क नार्वे, पुर्तगाल, स्वीडन, स्विटजरलैण्ड और ब्रिटेन) प्रविष्ट हुआ, तब से टैरिफ की इन छूटों के कारण ही भारत का व्यापार न केवल यूरोपीय अबाध व्यापार क्षेत्र के देशो के साथ घटा, बल्कि ब्रिटेन के साथ भी घट गया। यही बात ब्रिटेन के साथ भी भारत के व्यापार मे हुई। १९६० मे जहाँ ब्रिटेन को भारत का निर्यात ३५ करोड डालर था, वहाँ वह १९६४ मे घटकर ३२२ करोड डालर रह गया। इस प्रकार उसके निर्यात मे ५१ प्रतिशत की कमी हुई। दूसरी ओर उसी अवधि मे ब्रिटेन को यूरोपीय अबाध-व्यापार क्षेत्र का निर्यात ४२ प्रतिशत बढ़ा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि ब्रिटेन का यूरोपीय अबाध व्यापार क्षेत्र मे प्रवेश भारत के लिए इतना हानिकर हो सकता था, तो उसका यूरोपीय साझे बाजार मे प्रवेश तो और भी अधिक नुकसानदेह होगा।

राष्ट्रमण्डल का प्रभावकारी सदस्य होने से ब्रिटेन मे तथा राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत देशो मे भी मैत्री के कारण भारत अपनी वस्तुओ का निर्यात करने म समर्थ है। यह दोहराने की आवश्यकता नही कि जबकि पहली और दूसरी पचवर्षीय योजनाओ म हमने निर्यात-वृद्धि की दिशा मे प्रयत्न किये थे, तब तृतीय पचवर्षीय योजना

मे निर्यात-वृद्धि को प्राथमिकता प्रदान की गई। कारण, अधिक निर्यात के बिना हमारी विदेशी मुद्रा अर्जित करने की सामर्थ्य कम होने का डर था। निर्यात-वृद्धि की आधारभूत आवश्यकता के इस गम्भीर अवसर पर अचानक ही ब्रिटेन का राष्ट्र-मण्डल के देशो की उपेक्षा करते हुए यूरोपीय संयुक्त बाजार की सदस्यता स्वीकार करना गम्भीर परिणाम उत्पन्न कर सकता है। अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को सैनिक सहायता देना जिस प्रकार भारतीय सुरक्षा के लिए खतरा बन गया है उसी प्रकार ब्रिटेन द्वारा यूरोपीय संयुक्त-बाजार का सदस्य बनना भारत की आर्थिक स्थिति पर प्रहार करेगा। निश्चय ही यदि ब्रिटेन सदस्य बन जाता है तो वहा के बाजार मे भारत की वस्तुओ को काफी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पडेगा, और काफी करो का शोधन करना पडेगा जिनकी राष्ट्रमण्डल का सदस्य होने के कारण उसे छूट थी। यही कारण है कि भारत ने अब भी ब्रिटेन से, राष्ट्रमण्डल के लिए सुविधायें प्राप्त किये बिना और उसके हितो की रक्षा किये बिना, यूरोपीय साझा बाजार मे सम्मिलित न होने का अनुरोध किया है।

भारत की माँगें—

भारत की ओर से यूरोपीय आर्थिक सघ को पहले एक ज्ञापन भारत की कठिनाइयो के समाधान के लिए दिया गया था जिसमे रोम सन्धि का हवाला देकर उसके ढांचे के भीतर ही भारत के निर्यात व्यापार को सुविधायें देने के सुझाव दिये गये थे। इन सुझावो पर भारत अब भी बल दे सकता है। ये सुझाव ये —(१) यूरोपीय आर्थिक सघ भारत के प्राथमिक, अर्ध-तैयार और कुछ तैयार (ग्रेमेस्ड) उत्पादो पर जो अब तक ब्रिटेन मे कोटे और ड्यूटी के बन्धन से मुक्त होकर प्रविष्ट होते रहे है सर्वसामान्य वैदेशिक टैरिफ के बजाय शून्य टैरिफ लगा दे, (२) अन्य उत्पादको को रोम सन्धि के अनुच्छेद २३६ के अनुसार ब्रिटेन मे उसी तरह विशेष रियायतें दे दे जैसे फ्रास मे मोरक्को और ट्यूनीशिया के सामान को दी जाती हैं, (३) भारत के विशेष हित के सामान पर जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टैरिफ के अनुच्छेद २४ के अनुसार सर्वमान्य बाहरी टैरिफ मे काफी कटौती कर दे, (४) और इन परिवर्तनो एव सुविधाओ के सक्रमण काल को काफी लम्बा कर दे।

यदि भारत दृढता से ये सुझाव पुन यूरोपीय साझा बाजार के सामने रखे और वह भी इन पर सहानुभूति से विचार करे तो भारत के हितो की कुछ रक्षा हो सकती है।

कहा जाता है कि परिवर्तन शनै शनै होगे तथा कॉमनवैल्थ व्यापार के लिये विशेष सुरक्षा व्यवस्थायें रखी जायेंगी। किन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसी व्यवस्थाये सीमित ही होंगी तथा मध्यान्तर अवधि भी छ-सात वर्ष की होगी। इसके अतिरिक्त, भारत की स्थिति अन्य कॉमनवैल्थ के देशो से भिन्न है। जबकि कॉमन वैल्थ के अन्य देश ब्रिटेन से वर्तमान व्यापार बना रहने पर ही सन्तुष्ट हो जायेगे (और इसे ही छ दस स्वीकार करने को तत्पर हैं अधिक नही) जब भारत एव एक दो अन्य विकासो-

न्युरा देशों को वर्तमान व्यापार यथावत् बना रहने से ही सन्तोष न होगा, वरन् वे यह चाहेंगे कि उनके निर्यात बढ़ें।

अफ्रीकी साझा बाजार
(African Common Market)

अफ्रीकी साझा बाजार की स्थापना हाल ही में कासाब्लांका शक्तियों (Casablanca Powers) द्वारा की गई है। इसका उद्देश्य और रूपरेखा बहुत कुछ यूरोपीय आर्थिक समुदाय के समान है। इसके छः संस्थापक सदस्य निम्न हैं — संयुक्त अरब गणराज्य (मिश्र, सीरिया और ईराक), घाना, अल्जीरिया, मोरक्को, गिनी और माली। आशा की गई थी कि यह देश पहले वर्ष में अपनी कस्टम ड्यूटियों में ५% कमी कर देंगे और तत्पश्चात् शेष ड्यूटियों को भी अगले ४ वर्षों में समाप्त कर देंगे। उन्होंने एक स्थायी संगठन 'अफ्रीकी साझा बाजार परिषद्' (African Common Market Council) स्थापित करने का निर्णय किया, जिसमें प्रत्येक राज्य का एक प्रतिनिधि सम्मिलित होगा। इनकी सहायता के लिए परामर्शदाता भी होंगे। कौंसिल का प्रधान कार्यालय कासाब्लांका में होगा और इसकी बैठक प्रति छठे माह हुआ करेगी। निर्णय सर्वसम्मत से किये जायेंगे। प्रत्येक राज्य का एक वोट होगा। कोई भी सदस्य देश पहले अन्य सदस्यों से परामर्श किये बिना, अ-सदस्य देशों से, किसी ठहराव में प्रविष्ट न हो सकेगा।

इस समय यह कहना कठिन है कि कासाब्लांका आर्थिक समुदाय (Casablanca Economic Community, CEC) का अन्य देशों पर विशेषतः भारत के व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इन देशों के साथ हमारा व्यापार बहुत ही अल्प है। १९६२-६३ में हमारे निर्यातों का केवल ३.२% भाग ही उनको गया था और हमारे आयातों का केवल १.८% भाग ही उनसे आया था। इतने पर भी इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं का अध्ययन करना तथा इनके साथ अपना व्यापार बढ़ाने की सम्भावनाओं पर विचार करना आवश्यक है। इन अर्थव्यवस्थाओं के बारे में एक उल्लेखनीय बात यह है कि इनके विकास का स्तर समान नहीं है। किन्तु सब ही अपनी जनता का जीवनमान एक नियोजित ढंग से ऊँचा करने के लिये उत्सुक हैं। इनमें से अधिकांश का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल रहता है। प्राथमिक वस्तुओं (primary products) का उत्पादक होने के कारण वे अपने विकासार्थ विदेशी मुद्रा के अर्जन के लिए इनी-गिनी वस्तुओं के निर्यात पर ही निर्भर रहते हैं।

भारत को चाहिए कि परम्परागत बाजारों को स्थिर रखते हुए नये बाजारों की खोज जारी रखे। अभी जापान, जर्मनी और ब्रिटेन भारत के प्रतिस्पर्धी हैं। इन सम्पन्न देशों से टक्कर लेने के लिए हमें अपनी विक्रयकला और वितरण-नीति को सरल बनाना होगा। मूल्य नियन्त्रण, पैकिंग-सुधार, किस्म-सुधार और तत्परता की ओर अधिक ध्यान देना होगा। इसके अलावा अफ्रीका से आने वाले माल के लिये भारत में बाजार अनुसन्धान भी करना अभीष्ट है क्योंकि जब तक अफ्रीका से आयात

नही बढेगा, तब तक हमारे निर्यात मे भी वृद्धि नही हो सकती। प्रसन्नता की बात है कि अफ्रीका के देशो मे अधिकाश वस्तुएँ खुले लाइसेंस में शामिल हैं। भारत को भी अफ्रीकी वस्तुओं सम्बन्धी आयात-नीति मे ढिलाई देनी होगी क्योंकि आखिर व्यापार दोनों पक्षों का आपसी मधुर सम्बन्ध ही तो है।

यूरोपियन स्वतन्त्र व्यापार परिषद्
(European Free Trade Association)

यूरोपियन स्वतन्त्र व्यापार परिषद् (EFTA) की स्थापना मई १९६० में (E. C M. को स्थापना के दो वर्ष बाद) ब्रिटेन, पुर्तगाल, स्विटजरलैंड, डेन्मार्क नार्वे, स्वीडन और आस्ट्रिया (जिन्हे 'Outer Seven' कहा जाता है) द्वारा स्टाक होम प्रस्ताव की पुष्टि के फलस्वरूप हुई थी। जून १९६१ मे फिनलैंड भी इस परिषद् का एक 'एसोसियेट सदस्य' बना था।

EFTA आठ देनो के मध्य एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके द्वारा, सदस्यों के मध्य व्यापार पर से समस्त टैरिफ एवं अन्य प्रतिबन्ध समाप्त करके, एक 'एकाकी बाजार' (single market) स्थापित किया जायेगा। किन्तु सदस्य देश अन्य देशों के प्रति स्वेच्छानुसार टैरिफ एव व्यापारिक नीतियाँ अपना सकते है। EFTA का उद्देश्य अन्तिमत ECM मे मिश्रित हो जाना है। इसीलिए इसके सदस्य-देश अपनी टैरिफ नीतियों को ECM की टैरिफ नीति के अनुसार ही ढालने का प्रयत्न करते है।

रोम सन्धि (जिसके आधार पर ECN की स्थापना हुई) एवं स्टाकहोम सन्धि (जिसके आधार पर EFTA बना) मे टैरिफ नीति विषयक दो अन्तर उल्लेखनीय है, एक तो स्टाकहोम प्रस्ताव कृषि टैरिफो पर लागू नहीं होता वह इन्हे अछूता छोड देता है किन्तु रोम सन्धि एक साझी कृषि नीति एव एकीकृत कृषि कीमतो पर बल देती है और दूसरे, स्टाकहोम प्रस्ताव एक सामान्य वाह्य टैरिफ (common external tariff) की व्यवस्था नही करता। EFTA का प्रत्येक सदस्य इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि वह एरिया के बाहर के देशो के साथ अपने व्यापार मे जो चाहे टैरिफ लगाये। इसके विपरीत, ECM ने एक सामान्य टैरिफ (Common Tariff) स्थापित किया है, जो उस समय, जबकि अन्तर समुदाय (inter community) टैरिफ समाप्त हो जायें, लागू होगी।

१९६७ का वर्ष प्रारम्भ होने के साथ ही सप्त देशीय यूरोपियन-अबाध-व्यापार-संघ (EFTA) एक पूर्ण स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र बन गया। EFTA के मध्य व्यापार की निर्मित वस्तुओ पर लगे हुए शेष २०% टैरिफ भी १ जनवरी १९६७ की अर्ध रात्रि से हटा लिए गये है। टैरिफ कम करने का क्रम १९६० मे आरम्भ हुआ था। उस समय ब्रिटेन, पुर्तगाल, आस्ट्रिया, डेन्मार्क, नार्वे, स्वीडन और स्विट-जरलैंड ने टैरिफ कम किये थे। फिनलैंड १ वर्ष बाद एसोसिएट सदस्य बना था। अत उसने अपने टैरिफ १९६७ मे १०% तक घटा दिये और शेष १०% १९६८ मे हटा दिये। किन्तु, स्मरण रहे अधिकाश कृषि एव सामुद्रिक उपज पर अभी टैरिफ

लगे हुये है और EFTA देश अपने क्षेत्र में बाहर से आने वाले माल पर स्वेच्छानुसार टैरिफ लगाते हे। इस प्रकार EFTA देशो की १०० मि० जनसख्या को अभी तक केवल निर्मित वस्तुओं से अबाध व्यापार का लाभ मिला है। निर्मित वस्तुओ पर टैरिफ शिड्यूल से तीन वर्ष पूर्व ही हटा लिये गये है, जो इस गुट के देशों के लिए एक सराहनीय सफलता है।

शनै शनै की जाने वाली टैरिफ घटौतियो के फलस्वरूप EFTA के सदस्यों के मध्य व्यापार पहिले ही दूना हो चुका था। पूर्ण अबाध व्यापार के प्रचलन के साथ अब यह आशा है कि छोटे EFTA राष्ट्रों का गृह बाजार कई गुना बडा हो जायेगा। यदि ऐसा विकास न होता तो EFTA देशों को छ देशीय यूरोपीय आर्थिक समुदाय से कडे भेदभाव का सामना करना पडता और इसका उनकी अर्थव्यवस्थाओं पर गहरा असर होता। अब EFTA के उत्पादकों और व्यापारियों के लिए यह अवसर है कि वे १०० मि० जनसंख्या वाले बाजार के लिए अधिक बडी उत्पादक और वितरक इकाइयाँ स्थापित करें।

ECA और EFTA के मध्य इनकी स्थापना के समय से ही प्रतिद्वन्दिता चली आ रही है, जिस कारण सयुक्त राष्ट्र के रूप मे यूरोप का एकीकरण नहीं हो सका है। पिछले छ वर्षों में EFTA सरकारो ने EEC के साथ अपने सम्बन्धों की खाई को पाटने के लिए कई बार प्रयत्न किये किन्तु EEC का रुख कुछ उत्साहजनक नही रहा। इसके कई कारण है, जिनमे से एक तो यह है कि स्वय EEC को आन्तरिक विरोधों का सामना करना पड रहा है और दूसरे EFTA को EEC जितना आकर्षक लगता है उतना EEC को EFTA नहीं लगता है। इसके अतिरिक्त, EFTA देशों म उन शर्तों पर मतैक्य नही है जिन पर कि उन्हे EEC मे सम्मिलित होना चाहिए। जैसे—डेन्मार्क EEC मे पूर्ण सदस्यता चाहता है किन्तु स्विटजरलैंड एव आस्ट्रिया एसोसियट सदस्यता पर ही राजी है। इन राष्ट्रों ने ब्रिटेन को EEC मे सम्मिलित होने की अनुमति दे दी थी किन्तु डिगाल का ब्रिटेन के के प्रवेश के प्रति पुराना विरोध अभी भी जारी है। इस प्रकार, यूरोप की आर्थिक एकता का स्वप्न साकार होने मे अभी विलम्ब है।

कोलम्बो योजना और भारत का योगदान

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सदर्भ मे सभी देशों की, जिनमे नवोदित जनतन्त्रात्मक गणराज्य विशेष उल्लेखनीय है, कुछेक कठिनाइयाँ इतनी जटिल बन गई है कि आज के वैज्ञानिक युग मे अपने ही ससाधनों द्वारा उनको अल्पावधि मे सुलझाना इन देशों के बूते की बात नहीं है। यह बात गत कुछ दशको मे दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों के मन्द आर्थिक गति से पुष्ट होती है। गत वर्ष प्रकाशित सयुक्त राष्ट्र सघ की रिपोर्ट के अनुसार विकासशील राष्ट्रों के विकास की गति या तो स्थिर रही है अथवा जो भी प्रगति हुई है, वह निर्धारित लक्ष्यों की तुलना मे नगण्य है। इसके दो मुख्य कारण रहे है—पहला, सीमित और साधन और दूसरा व्या-

व्यवहारिक तकनीकी ज्ञान की कमी। शायद इसीलिए भारत जैसे प्राकृतिक साधनों से परिपूर्ण देश के लिए कहा गया है कि 'साधन होते हुए भी भारत एक निर्धन देश है''। हमारे पास प्राकृतिक सम्पदा है, बिजली पैदा करने के लिए पानी है उद्योग स्थापित करने के लिए खनिज पदार्थ हैं, परन्तु इन सबका उपयोग करने के लिए वह ज्ञान नहीं है जो अमरीका रूस के पास है। अतः इस अभाव की पूर्ति हेतु अपने ससाधनों पर अधिकाधिक निर्भर करने के साथ साथ ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का सदस्य बनना, जिनका उद्देश्य राष्ट्रीय स्तर पर सामूहिक प्रयत्नों द्वारा आर्थिक सामाजिक विकास को गति प्रदान करना है भारत की दूरदर्शिता और सद्भावना का ही द्योतक है।

कोलम्बो योजना के उद्देश्य —

अन्य संस्थाओं की भांति 'कोलम्बो योजना' भी जिसका पूरा नाम 'दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया में सहकारी आर्थिक विकास के लिए कोलम्बो योजना' है, उन अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सियों में से एक है जिसका भारत आरम्भ में समर्थन करता आया है। १९५० में जब इस योजना के कार्यान्वयन पर बातचीत चल रही थी, उस समय स्वर्गीय प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने इसकी उपयोगिता के बारे में कहा था—''मुझे विश्वास है कि कोलम्बो योजना जैसे सक्रिय अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम दक्षिण और दक्षिण-पूर्व स्थित देशों के आर्थिक विकास में वरदान साबित होंगे। भारत इस योजना की सदस्यता का हार्दिक स्वागत करता है।''

योजना का शुभारम्भ—

दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया के देशों की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं को सुलझाने और वहाँ के लोगों के रहन सहन के स्तर को ऊँचा उठाने में मदद देने के प्रश्न पर मण्डल के विदेश मन्त्रियों की पहली बैठक जनवरी १९५० में कोलम्बो में हुई थी। इस बैठक के निर्णय के अनुसार दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया के देशों के आर्थिक विकास की विभिन्न समस्याओं पर सलाह देने के लिए एक सलाहकार समिति का गठन किया गया जिसकी पहली बैठक १९५० में सिडनी में हुई जिसमें इन देशों की आर्थिक उन्नति के लिए एक छः वर्षीय विकास योजना सुझाई गई और इन देशों में तकनीकी शिक्षा के अभाव की पूर्ति के लिए तुरन्त तकनीकी ज्ञान उपलब्ध कराने पर भी जोर दिया गया। तकनीकी ज्ञान उपलब्ध कराने के उद्देश्य से इस बैठक में सलाहकार समिति ने अलग से एक स्थायी समिति की स्थापना भी की। इस समिति की रिपोर्ट में दर्शाया गया है कि इन विकासशील देशों में विकास कार्यक्रमों को चालू करने के लिए १,०८४०,००,००० पौन्ड की विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। इतनी विदेशी सहायता के समस्त पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि इसकी उपलब्धि राष्ट्र संघ के देशों के बूते की बात नहीं है और इसके लिए संसार के अन्य देशों का सहयोग भी आवश्यक होगा। परिणामतः इन देशों को तकनीकी ज्ञान उपलब्ध कराने के लिए एक सामूहिक तकनीकी परियोजना चालू की गई।

तकनीकी परियोजना की विशेषताएँ—

(१) इस योजना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कोई भी सदस्य देश कार्यान्वित किये जाने वाले कार्यक्रमों में फेर-बदल के लिए सुझाव रख सकता है, जिन पर विचार करना प्रत्येक सदस्य देश अपना कर्तव्य समझता है। इस वृहत दृष्टिकोण से न केवल सदस्य राष्ट्रों की अपने हितों की सुनिश्चितता के प्रति आस्था बनी रहती है, बल्कि इन देशों में पारस्परिक भाईचारे और सद्भावना को भी बढ़ावा मिलता है।

(२) इसके अन्तर्गत उपलब्ध सहायता राजनैतिक स्वार्थों से सर्वथा मुक्त होती है। अतः सहायता प्राप्त करने वाले और सहायता देने वाले राष्ट्रों के सम्बन्धों में किसी प्रकार की कड़वाहट का प्रश्न ही नहीं उठता और सहायता देने वाला देश और सहायता लेने वाला देश, सीधे बातचीत करके स्थिति का मूल्यांकन करते हैं। यही कारण है कि आरम्भ में यह योजना यद्यपि केवल छः वर्षों के लिए अर्थात् १९५१ से १९५७ तक के लिए बनाई गई थी, तथापि इसकी उपलब्धियों और महत्त्व को देखते हुए १९५५ में कोलम्बो योजना की सलाहकार समिति ने इसकी अवधि १९६१ तक, १९५९ में १९६६ तक और फिर १९७१ तक बढ़ा दी।

(३) इसके अन्तर्गत आर्थिक-तकनीकी दृष्टि से अधिक विकसित सदस्य राष्ट्रों द्वारा कम विकसित देशों को यथासम्भव सहायता दी जाती है। उदाहरण के लिए, अन्य सदस्य देशों की तुलना में थाईलैंड काफी पिछड़ा हुआ देश है। अतः इसके विकास के लिए इस योजना के अन्तर्गत काफी सहायता उपलब्ध की गई है। थाईलैंड को सबसे अधिक सहायता अमरीका आस्ट्रेलिया और जापान से मिली है।

सदस्य देश—

आरम्भ में इस योजना की सदस्यता केवल राष्ट्रमंडलीय सदस्यों अर्थात् आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन मलयेशिया, उत्तर बोर्नियो, सिंगापुर, लंका, भारत, पाकिस्तान, न्यूजीलैंड आदि तक ही सीमित थी। परन्तु दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों का साधन जुटाने की समस्या की व्यापकता को देखते हुए इसकी सदस्यता अन्य राष्ट्रों के लिए भी खोल दी गई है। इस समय २४ राष्ट्र इस योजना के सदस्य हैं, जो इस प्रकार हैं —आस्ट्रेलिया, भूटान, बर्मा, कम्बोडिया, कनाडा, लंका, भारत, इंडोनेशिया, कोरिया गणराज्य, लाओस, मलयेशिया, नेपाल, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान, फिलीपीन, सिंगापुर थाईलैंड, ब्रिटेन, वियतनाम, अमरीका, अफगानिस्तान ईरान, जापान और मालदीव द्वीप-समूह।

कोलम्बो योजना की प्रगति—

अनेक कठिनाइयों और समस्याओं के बावजूद कोलम्बो योजना के अन्तर्गत सदस्य देशों की जितनी प्रगति हुई है, वह वास्तव में सराहनीय है। इसमें सन्देह नहीं कि ससाधनों के अभाव में इन देशों में विकास की गति लक्ष्यानुसार बनाये रखना सम्भव नहीं हो सका, फिर भी इन २० वर्षों में हुई प्रगति को देखते हुए यह

निश्चत रूप से कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र के सभी देश अपने लोगों के रहन-सहन का स्तर सुधारने और आय बढाने के लिए कृतसकल्प हैं। इस सकल्प को कार्य रूप देने के लिए इन देशो की सरकारे राष्ट्रीय विकास की योजनाओ और कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने मे लगी हुई है।

जैसाकि कोलम्बो योजना की सलाहकार समिति (१९६६) की १७ वी बैठक की रिपोर्ट मे कहा गया था, कोरिया, फिलीपीन, थाईलैंड और मलयेशिया म गत वर्षों की अपेक्षा आर्थिक विकास की गति काफी सन्तोषजनक रही, जबकि भारत पाकिस्तान, फिलीपीन, थाईलैंड और वियतनाम गणराज्य द्वारा किये जाने वाले निर्यात् की दर मे सबसे अधिक वृद्धि हुई। चूँकि इस योजना के अन्तर्गत अधिकतर सदस्य देशो की अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित है, इस तथ्य को ध्यान म रखते हुए अब इन देशो की आर्थिक विकास की योजनाओ मे कृषि की पैदावार बढाने पर अधिक बल दिया जा रहा है। औद्योगिक क्षेत्र मे भी इन देशो मे काफी प्रगति हुई है। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत उपलब्ध सहायता से भारत पाकिस्तान, लका, इडोनेशिया और बर्मा मे विभिन्न औद्योगिक परियोजनाओ को पूरा करने का काम तेजी से चल रहा है। इसके अतिरिक्त, स्वास्थ्य शिक्षा, सचार और परिवहन आदि के अनेक कार्यक्रमो को भी शीघ्रातिशीघ्र पूरा किया जा रहा है जिनसे इन देशो को आर्थिक और जनकल्याण सम्बन्धी योजनाओ को कार्यान्वित करने मे सहायता मिलेगी।

वैसे तो सामूहिक योजना के कार्यक्रमो म सभी देश यथाशक्ति आर्थिक सहायता उपलब्ध करा रहे है किन्तु सबसे अधिक सहायता अमरीका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, जापान, कनाडा और न्यूजीलैंड के बाद भारत से प्राप्त हो रही है। इसके अतिरिक्त विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियो (जैसे—IBRD, सयुक्तराष्ट्रीय विशेष कोष) के माध्यम से भी इस योजना के सदस्य विकासशील देशो को आर्थिक सहायता मिल रही है।

कोलम्बो योजना परिषद् की एक पडताल के अनुसार कोलम्बो योजना के सदस्य देशो म तकनीशियनो की कमी है, शिल्पिक शिक्षा के सरकारी विभागो और उद्योग तथा सरकारी शिल्पिक विभागो मे तालमेल का अभाव है, कृषि विस्तार, पशु-पालन, मछलीपालन, अन्य सम्पदा से सम्बन्धित ज्ञान और मेकेनिकल तथा इलेक्ट्रिकल इजीनियरिंग आदि म प्रशिक्षण सुविधाओं का विस्तार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। सदस्य देशो म तकनीकी ज्ञान के इस अभाव को ध्यान म रखते हुए भारत ने अपने सीमित साधनो के बावजूद जो महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, वह प्रशसनीय है। ३१ दिसम्बर १९६८ तक भारत ने विभिन्न देशो के ४०१० व्यक्तियो को प्रशिक्षण सुविधाये दी। ये प्रशिक्षणार्थी अफगानिस्तान आस्ट्रेलिया, इडोनेशिया, कम्बोडिया, केनिया, घाना, जापान, तन्जानिया थाइलैण्ड, दक्षिणी कोरिया, न्यूजीलैण्ड नाइजीरिया, नेपाल पाकिस्तान, फिलीपाइन, बर्मा, मलयेशिया, मलावी, मारीशस मालदीव द्वीप समूह, युगाण्डा, लाओस, वियतनाम, श्री लका और सियरा लियोन से आय। जीवन बीमा के राष्ट्रीयकरण कोट विज्ञान, कराधान, चर्म प्रौद्योगिकी, काजू उत्पादन

सास्थिकीय विस्म नियन्त्रण, सिचाई, परिवहन, लघु उद्योग, इस्पात उत्पादन मे प्रशिक्षण कृषि योजना प्रचार और मैकाग नदी परियोजना के टोनले सौप क्षेत्र के लिये भी भारतीय विशेषज्ञो की सेवायें उपलब्ध की गई। इसमे सन्देह नही कि कोलम्बो योजना के प्रारम्भ मे जो सदस्य देश तकनीकी प्रशिक्षण के लिए आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, कनाडा, जापान, न्यूजीलैंड और अमरीका पर निर्भर करते थे, वही देश आज अन्य सदस्य देशो को तकनीकी ज्ञान के क्षेत्र मे सहयोग दे रहे हैं। ऐसे देशों मे भारत का मुख्य स्थान है।

कोलम्बो योजना के अन्तर्गत दिसम्बर १९६८ के अन्त तक भारत को '६७ विदेशी विशेषज्ञो की सेवायें प्राप्त हुई और कोलम्बो योजना के देशो मे चिकित्सा तथा स्वास्थ्य, शिक्षा, खाद्य तथा कृषि उद्योग तथा व्यापार, बिजली तथा ईधन इंजीनियरी, परिवहन तथा सचार साधन बैंकिग श्रम प्रशासन, ट्रेड यूनियन के कार्य, मुद्रण आदि के क्षेत्रो मे ५१०८ भारतीयो के लिये प्रशिक्षण की सुविधायें प्राप्त हुई।

योजना के प्रारम्भ से ३१ अक्टूबर १९६८ तक भारत को इन देशो मे वित्तीय सहायता प्राप्त हुई—आस्ट्रेलिया ५४ ६५ करोड रु०, न्यूजीलैंड ४ ६३ करोड रु० कनाडा ३२८·९७ करोड रु० तथा ब्रिटेन २०·०८ करोड रुपये।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कोलम्बो योजना जैसे सामूहिक प्रयास का वर्तमान शीतयुद्ध की खाई को पाटने और विश्व शान्ति तथा सद्भावना के साथ-साथ आर्थिक पुनर्निर्माण के वातावरण के निर्माण मे अद्वितीय योग है। उप-प्रधानमंत्री श्री मोरारजी के शब्दों में "इस योजना की आधारशिला रखने वाले सदस्य देशो के सपनो को मूर्त रूप देने की दिशा मे कोलम्बो योजना एक व्यावहारिक कदम है। इस योजना के अन्तर्गत तकनीकी ज्ञान और अनुभव के आदान प्रदान से न केवल सदस्य देशो म निर्माण कार्यो के कार्यान्वयन म सहायता मिली है, बल्कि प्रादेशिक सहकारी क्षेत्र मे नये-नये कार्यक्रमों को विकसित करने और सदस्य देशो म पारस्परिक सहयोग की भावना मे भी अभिवृद्धि हुई है। विकसित और अविकसित देशो के बीच यह योजना एक मूल्यवान परीक्षण है। मुझे विश्वास है कि कोलम्बो योजना के सदस्य देश उसी भावना से ओत-प्रोत और अन्तर्राष्ट्रीय सहकार की भावना के साथ राष्ट्रीय निर्माण की गतिविधियों मे पहले से भी अधिक रुचि लेते रहेंगे।"

सयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन
(United Nations's Conference of Trade and Development)

बीसवी शताब्दी के पाँचवें दशक के अन्तिम वर्षो मे जारी की गई हवाना घोषणा और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और तटकर समझौते (गाट) की स्वीकृति से न केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अपेक्षित वृद्धि नही हुई अपितु इनसे विकासशील देशो की अर्थ-व्यवस्था और व्यापार को भी पर्याप्त प्रोत्साहन नही मिला। गरीब और

समृद्ध देशो के बीच की खाई बढती गई और १६६० मे सयुक्त राष्ट्र सघ की इस घोषणा के बावजूद कि बीसवी शताब्दी का सातवाँ दशक विकास दशक होगा दशक के प्रारम्भिक वर्षों मे विकासशील देशो की अवस्था मे कोई महत्त्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ। इस स्थिति के निराकरण के लिए नये सिरे मे अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न किए गये और ऐसी व्यवस्था करने पर जोर दिया गया जिसमे विकासशील देशो के आर्थिक विकास और व्यापार को बढाने पर अधिक जोर दिया जाय। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप जून, १६६० मे सयुक्त राष्ट्र सघ के व्यापार और विकास सम्मेलन का जन्म हुआ।

पहले सम्मेलन की उपलब्धियाँ—

अत सयुक्त राष्ट्र का पहला व्यापार और विकास सम्मेलन जेनेवा मे हुआ। इस सम्मेलन मे विकासशील देशो की समस्याओ और उनके निराकरण के उपायो पर विस्तार से विचार किया गया। विचार-विमर्श के बाद अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो (जैसे—कच्चे माल और बनी हुई चीजो का व्यापार, ऋण और पूँजी लगाना जहाजरानी और भाडे आदि) के सम्बन्ध मे सिफारिशें की गई और ससार के विभिन्न राष्ट्रो के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कुछ विशेष सिद्धान्त निश्चित किये। सम्मेलन की सिफारिशो को लागू करने और सम्मेलनो की मध्यावधि मे काम करने के लिए एक सगठन बनाया गया। साथ ही, आशा प्रकट की गई कि दूसरे अधिवेशन होने तक सम्मेलन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए काफी काम होगा।

किन्तु पहले सम्मेलन के बाद के वर्षों मे यह आशा पूरी नही हुई। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म काफी वृद्धि हुई है किन्तु विकासशील देशो के आर्थिक विकास की गति मे कमी हुई है और गरीब और समृद्ध राष्ट्रो के बीच की खाई बढी है। जहाँ विकसित देशो मे राष्ट्रीय आय प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति ६० डालर की दर से बढ रही है वहाँ अविकसित देशो मे राष्ट्रीय आय प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति २ डालर से भी कम दर से बढ रही है। १६५३ मे ससार के कुल व्यापार म विकासशील देशो का हिस्सा २७% था किन्तु १६६६ मे यह घटकर १६ ३% रह गया। विकासशील देशो के निर्यात की क्रय शक्ति निरन्तर गिर रही है। १६६५ मे इन देशो को अपनी वस्तुओ के लिए इस दशक के शुरूआत की अपेक्षा १०% कम दाम मिले। सम्मेलन की सिफारिश के बावजूद विकासशील देशो को फायदा पहुँचाने वाले कच्चे या बुनियादी माल के लिए कोई करार नही किया गया। विकासशील देशो के तैयार और अर्ध-तैयार माल के निर्यात पर लगे तटकरो म कोई कमी नही की गई है। पहले सम्मेलन ने सर्वसम्मति से सिफारिश की थी कि विकसित देश अपनी राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत भाग विकासशील देशो को दें किन्तु वास्तव मे इस अवधि मे विकसित देशो द्वारा विकासशील देशो को दी जा रही सहायता मे लगातार कमी हुई है। जहाजरानी के क्षेत्र मे भेदभावपूर्ण तौर-तरीके और व्यवस्थाएँ और उनके भाडे मे

द्ध के कारण विकासशील देशों का भुगतान-संतुलन बिगड़ गया है। इससे विकासशील देशों के निर्यात में वृद्धि नहीं हो सकी है और उनको विदेशी मुद्रा की कमी का सामना करना पड़ रहा है।

निस्सन्देह पहले संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन के बाद विश्व जनमत में परिवर्तन आया है। इस सम्मेलन से पूर्व कुछ ही देशों को ही तटकर आदि की सुविधाएँ मिल रही थीं और विकासशील देशों को इन सुविधाओं से वंचित रखा जाता था। पहले सम्मेलन में इस सिद्धान्त को बदल दिया गया। परन्तु व्यावहारिक रूप में विकासशील देशों को तरजीह देने का अभी भी कोई समझौता नहीं है, यद्यपि पिछले तीन वर्षों में कुछ देशों ने अपनी नीति में परिवर्तन किया है। आस्ट्रेलिया, अमरीका और समाजवादी देशों ने विकासशील देशों के हक में कुछ फैसले किये हैं।

पहले इस नियम का कड़ाई से पालन होता था कि विकासशील देशों को व्यापार सम्बन्धी जो छूट दी जाएँगी, वैसी ही रियायतों की अपेक्षा उनसे भी की जायेगी। अब संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन के सिद्धान्त और अन्तर्राष्ट्रीय तटकर और व्यापार समझौते (GATT) के अध्याय ४ में यह व्यवस्था है कि विकासशील देशों को व्यापार में जो रियायतें दी जायेंगी, उसके बदले में उनसे कोई अपेक्षा नहीं की जायेगी। कैनेडी वार्ता से भी विकासशील देशों को कुछ व्यापार सम्बन्धी रियायतें प्राप्त हुई हैं।

समस्या और समाधान (दूसरे १९६७ के सम्मेलन की पृष्ठ भूमि)—

यदि विकासशील देशों के आर्थिक विकास में उल्लेखनीय प्रगति होनी है तो पहले सम्मेलन के दौरान सामने आई सभी समस्याओं का आपसी बातचीत और विचार विमर्श द्वारा निराकरण होना चाहिए। दूसरे सम्मेलन १९६७ के दौरान, थोड़े समय में विकासशील देशों की इन सभी समस्याओं का निराकरण नहीं किया जा सकता। अतः इस विषय में कोई प्राथमिकता निर्धारित की जानी चाहिए ताकि आपसी बातचीत और विचार-विमर्श से प्रमुख कठिनाइयाँ दूर की जा सकें। संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के महासचिव **डा० राबुल प्रविश** ने व्यापार और विकास मण्डल के पांचवें अधिवेशन में ऐसी कुछ समस्याओं की चर्चा की थी उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—जिन्सों के सम्बन्ध में नीति, तटकर आदि से उत्पन्न समस्याएँ, विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं को तरजीह देना, सहायक पूँजी का प्रश्न, समाजवादी देशों और अन्य देशों के बीच व्यापार की समस्याएं और विकासशील देशों के बीच व्यापार बढ़ाने का प्रश्न। इस बारे में सभी देशों में सहमति थी कि दूसरे सम्मेलन के दौरान विचार-विमर्श द्वारा इन समस्याओं को हल किया जाना चाहिए। आशा थी कि विकासशील देशों की कुछ समस्याएं सम्मेलन के दौरान हल हो जायेंगी और सम्मेलन के अन्य लक्ष्य भी कालान्तर में पूरे होंगे।

एशिया, अफ्रीका और अमरीका के विकासशील देश कुछ महीनों पूर्व से सम्मेलन को सफल बनाने के उपायों पर विचार कर रहे थे। इकाफे क्षेत्र के देशों सितम्बर १९६७ में बैंकाक में बैठक करके एक घोषणा पत्र स्वीकार किया। अमरीका के देशों ने बगोटा (कोलम्बिया) में और अफ्रीका तथा एशियाई देशों ने अल्जीयर्स में इन पर विचार किया। और फिर अल्जीयर्स घोषणा' जारी की गई थी। इस घोषणा पत्र में कहा गया है कि सभी विकासशील देशों के आधारभूत हित एक हैं। अल्जीयर्स सम्मेलन में यह बात भलीभांति अनुभव की गई कि सम्मेलन की सफलता के लिए विकासशील देशों की एकता आवश्यक है। अल्जीयर्स सम्मेलन में यह बात भी अनुभव की गई कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास की उन नीतियों का जो विकासशील देशों के किसी भी वर्ग को लाभ पहुँचायें सभी विकासशील देशों को समर्थन करना चाहिए। इन समस्याओं के निदान के लिए भी जिनका सामना थोड़े से देशों को करना पड़ता है सभी '७७" देशों का समर्थन जरूरी समझा गया है।

अल्जीयर्स सम्मेलन में यह स्वीकारा गया है कि जहाँ विकसित देशों को अपनी सम्पन्नता और तकनीकी प्रगति के कारण विकासशील देशों की भरसक सहायता करनी चाहिए, वहाँ विकासशील देश केवल स्वालम्बन द्वारा ही प्रगति और सम्पन्नता हासिल कर सकते हैं। अतः सम्मेलन में विकासशील देशों ने स्वावलम्बन द्वारा विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अलग-अलग रूप से और मिलकर पारस्परिक व्यापार को बढ़ाने, अधिक प्रगाढ़ आर्थिक सम्बन्ध कायम करने और घनिष्ठ सहयोग करने का संकल्प दुहराया। इस दिशा में व्यापार और तटकर समझौते और भारत, युगोस्लाविया और संयुक्त गणराज्य के त्रिपक्षी विचार विमर्श द्वारा शुरुआत की जा चुकी है।

क्या अंकटाड (UNCTAD) असफल रहा ?

विश्व व्यापार व विकास सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन २९ मार्च १९६८ को समाप्त हुआ। इस अधिवेशन की कार्यवाही ५८ दिन तक चली। इस सम्मेलन की कार्यवाही इतने अधिक समय तक चलना इस बात का प्रमाण है कि विकासशील देशों के समक्ष अनेक गम्भीर समस्याएँ हैं। अन्त में विश्व व्यापार व विकास सम्मेलन ने जो प्रस्ताव स्वीकार किया उसे लेकर सर्वत्र निराशा व्यक्त की गई। विकासशील देशों में निराशा ज्यादा दिखाई देती थी। कहा गया कि संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन जैसे उन्नत देशों में आर्थिक संकट पैदा नहीं हुआ तो विश्व व्यापार व विकास सम्मेलन के ज्यादा अच्छे परिणाम प्राप्त हुये होते। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा संकट पैदा हो जाने के कारण विकासशील देशों की कठिनाइयों की ओर ध्यान देने की स्थिति में व देश अपने आपको नहीं पा रहे हैं। इस संकट से पूर्व भी उन्नत देश विकासशील देशों की आवश्यकताओं के प्रति खास ध्यान नहीं दे रहे थे—अपने राष्ट्रीय हित को संकुचित मनोवृत्ति अपनाकर कहीं कहीं उन्होंने इस ओर ध्यान दिया।

विश्व व्यापार व विकास सम्मेलन की कार्यवाही मे स्पष्ट हो गया कि विश्व के राष्ट्रो म आर्थिक क्षेत्र के प्रति जागरूकता अभी पैदा नही हुई है। यदि हम सब शान्ति स्वतन्त्रता और एकता की बात करते हैं तो यह भी जरूरी है कि इसकी अभिव्यक्ति आर्थिक दृष्टि से भी हो। इसके माने हैं कि यह हम सबका सामूहिक दायित्व है कि विज्ञान और टैक्नोलोजी के इस युग मे हर पुरुष या महिला या बालक के जीवन की आधारभूत आवश्यक्ताओ की पूर्ति हो। विश्व का अर्थ तन्त्र ऐसा होना चाहिये कि इस काम को पूरा करना सम्भव हो सके। विकासशील देशो द्वारा सहायता व्यापार अधिमानो इत्यादि के बारे मे जो इस सम्मेलन मे प्रश्न उठाए गये थे उन सब का व्यापक दृष्टिकोण से महत्व है। उन्नत देशो द्वारा इन प्रश्नो का दिया गया उत्तर यदि निराशाजनक है तो इसका प्रमुख कारण यह है कि विश्व के राष्ट्रो म विकासशील देशो की कठिनाइयों के सम्बन्ध मे आवश्यक जागरूकता की कमी है।

इन सब बातो के होते हुए इस सम्मेलन की कुछ उपलब्धियाँ भी थी। अकटाड के प्रमुख प्रस्ताव से कुछ प्रश्नो को हल करने मे मदद मिलेगी, क्योंकि उसमे सभी अहम सवालो की सूची दी गई है जिन पर गम्भीरतापूर्वक निरन्तर विचार किये जाने की आवश्यकता है। इस प्रस्ताव मे यह भी स्पष्ट है कि उन्नत देश विकासशील देशो की न्यूनतम आवश्यक्ताओ की पूर्ति के लिये अब किस हद तक तैयार है। इस प्रस्ताव मे ऐसे प्रश्नो पर भी रोशनी डाली गई है जिन पर बाद मे सावधानीपूर्वक अध्ययन करने और कुछ ठोस कदम उठाने के बारे मे विचार-विमर्श करने की आवश्यकता है। व्यापार के क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का महत्व कम नही है। सयुक्त राज्य अमेरिका, शुरू मे कुछ सकोच दिखाने के बाद, अन्ततोगत्वा अपने राष्ट्रीय उत्पादन का एक प्रतिशत विकासशील देशो को सहायता देने के लिए सहमत हो गया है, लेकिन उसने इस पर अमल करने की कोई तिथि निश्चित नहीं की है। विशेष अधिमानो के बारे मे फाँस के रुख मे ढिलाई आई है। पाश्चात्य देश अकटाड को एक कार्यकारी सगठन के रूप मे काम कर देने के प्रश्न पर झुक गये है। अकटाड के तत्वावधान मे अधिमानो के प्रमुख प्रश्न पर बात-चीत करने के लिए उन्नत देश अब तैयार हो गये है।

औद्योगिक वस्तुओ के व्यापार के क्षेत्र मे विकासशील देशो को अपना निर्यात बढाने की सम्भावनाएँ अब बढ गई हैं। यह ठीक है कि यदि इन वस्तुओं की सूची मे तैयार और अर्द्ध-तैयार माल शामिल नहीं किया जाता तो कम विकसित ओर अल्प विकसित देशो को कोई फायदा नही होने वाला है। फिर भी तैयार और अर्द्ध-तैयार वस्तुओं के व्यापार के क्षेत्र मे विकासशील देशो के पक्ष में उदार नीति अपनाई गई है।

इस सम्मेलन की दूसरी विशेषता यह है कि इस बार ७७ राष्ट्रो का समूह एकता के सूत्र मे बध कर आगे बढा है। उनकी इस एकता का परिचय अल्जीरी

देशो के निर्णय से मिला है जिन्होने विकासशील देशो के हित को अपने हित से अधिक महत्त्व देते हुए यूरोपीय आर्थिक समुदाय द्वारा स्वीकृत अधिमानो को ठुकरा दिया है। ये साधारण लाभ हैं लेकिन इनके आधार पर ही हम उन्नत और अल्प-विकसित देशो मे सहयोग की भावना पैदा करने मे सफल हो सकते है।

विश्व व्यापार नीति
(World Trade Policy)

अकटाड के सेक्रेटरी जनरल राउल प्रीविश ने यह मत प्रगट किया है कि UNCTAD को विकासोन्मुख देशो के सहयोग से एक विश्व व्यापार नीति का विकास करना चाहिए। यदि विश्व व्यापार भूतकालीन प्रवृत्ति के अनुसार ही चलता रहा, तो विकासोन्मुख देशो के विदेशी मुद्रा अर्जन मे सन् १९७० तक २० बिलियन डालर की न्यूनता हो जाएगी। यदि ये देश ५% की मामूली दर से भी अपना विकास करना चाहे, जिसका सुझाव यू० एन० की जनरल असेम्बली ने दिया था तो भी इस न्यूनता को पाटना आवश्यक है। सेक्रेटरी जनरल ने कहा कि अभी तक विकासोन्मुख देशों की दृष्टि से कोई विश्व व्यापार नीति नही है। विकसित देश वस्तुओ के विश्व उपभोग मे विकासोन्मुख देशो को निर्मित वस्तुओ की मामूली गति से वृद्धि भी सहन करने को तैयार नही है। इस बात की बडी आवश्यकता है कि विकासोन्मुख देशो से निर्यातो को व्यवस्थित रूप मे बढाया जाय तथा औद्योगिक राष्ट्र अपनी आयात आवश्यकताओ का प्राथमिकता क्रम निश्चित करें। यह बडे खेद की बात है कि जबकि विकसित देश आपस मे ही व्यापार बढाने के लिये एकीकृत नीतियाँ एव उपाय अपना रहे है तब विकासोन्मुख देशो ने ऐसा नही किया है।

परीक्षा प्रश्न :

१ दो महायुद्धो के बीच की अवधि मे जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विघटन हुआ उसकी मुख्य विशेषतायें बताइये।
[Bring out the main features of the International economic disintegration in the inter-war peraiod]
(आगरा, एम० ए०, १९६७)

२. गैट क्या है ? यह विश्व व्यापार को उदार बनाने से कहाँ तक सफल हुआ है?
[What is GATT ? How far has it succeeded in liberalising world trade ?]
(गोरखपुर, एम० ए०, १९६८)

३ अक्टाड द्वितीय के सामने प्रमुख प्रश्न क्या थे ? इसकी सफलताओ और विफलताओ का संक्षिप्त मूल्याकन कीजिये।

[What were the main issues before UNCTAD II ? Briefly evaluate its achievements and failures]

(इलाहा०, एम० ए०, १९६९)

४. कामनवैल्थ देशों को अंक्टाड और गैट के माध्यम से एक बहुमुखी व्यवस्था उपलब्ध है।" विवेचन कीजिये।

["Commonwealth countries are best handled multilaterally through the UNCTAD and GATT" Discuss]

(इलाहा०, एम० कॉम०, १९६९)

५ 'कैनेडी राउन्ड एग्रीमेन्ट' क्या है ? यह गैट के उद्देश्य की पूर्ति कहाँ तक करता है ? सावधानी से स्पष्ट कीजिये।

[What is Kennedy Round Agreement ? How far does it subserve the purpose of GATT ? Explain this carefully]

(आगरा, एम० ए०, १९६६)

६ गैट के बुनियादी सिद्धान्त क्या हैं ? क्या इन पर अर्द्ध विकसित देशों के नियोजित आर्थिक विकास पर कोई प्रभाव पड़ा है ?

[What are the basic principles of GATT ? Have they been affected by the planned economic development of underdeveloped countries ?] (आगरा, एम० ए०, १९६८)

७ गैट के मुख्य उद्देश्य क्या हैं ? इनकी पूर्ति किस सीमा तक हुई ? अधिक सफलता के लिये व्यावहारिक सुझाव दीजिये।

[What are the main objectives of the GATT ? To what extent have they been re[illegible]d ? What practical suggestions could you make for imp[illegible]ing conditions ?]

(आगरा, एम० ए०, १९६६)

४६

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
(International Monetary Fund)

परिचय—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के क्षेत्र मे एक महान् घटना है। यद्यपि इसे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग का पहला उदाहरण तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे पूर्व भी इस दशा मे कई प्रयत्न हो चुके हैं, तथापि यह अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्बन्धो के सगठित सचालन (Organised conduct) का सबसे विस्तृत और सचेत प्रयास है।

कोष के जन्म की पृष्ठ-भूमि

यद्यपि मुद्रा कोष, वास्तविक रूप से, सन् १६४४ मे, स्थापित हुआ था, तथापि इसका उद्भव (Origin) प्रथम महायुद्ध के समय मे पता लगाया जा सकता है। वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष निम्नलिखित परिस्थितियों के कारण स्थापित हुआ —

(१) **स्वर्णमान का परित्याग**—प्रथम महायुद्ध से पूर्व विश्व के अग्रणी राष्ट्र स्वर्णमान पर थे किन्तु *युद्धकाल मे यह मान स्थगित हो गया।* युद्धोत्तर काल म इसकी पुन स्थापना हेतु प्रयत्न किये गये और पुन स्थापना भी हो गई। किन्तु विभिन्न राष्ट्रो की परिस्थितियाँ मौलिक रूप से इतनी बदल गई थी कि स्वर्णमान जल्दी ही पुन टूट गया। एक अन्तर्राष्ट्रीय मान का अभाव हो जाने से विनिमय-दरो मे बड़ी अस्थिरता (instability) आ गई और अधिकाश देशो ने विनिमय नियन्त्रण (exchange control) की नीति ग्रहण कर ली।

(२) **युद्धकालीन मुद्रा प्रसार**—लगभग सभी देशों की आर्थिक दशाएँ युद्धकालीन मुद्रा प्रसार के कारण बहुत बिगड गई। अनेक देशो ने बहुत अधिक (excesssive) मात्रा मे नोटो का निर्गमन किया, जो कि अपरिवर्तनशील थे। इससे कीमतो मे अत्यधिक वृद्धि हो गई। विभिन्न देशों मे कीमत-स्तर बहुत असमान (unequal) हो गये तथा इसका विदेशी व्यापार पर बहुत कुप्रभाव हुआ। यहा तक कि आन्तरिक व्यापार भी अस्त-व्यस्त हो गया।

(३) **देशों के मध्य प्रतिस्पर्धा**—प्रत्येक देश अन्य देशो के हितो की चिन्ता

न करते हुये एक स्वार्थपूर्ण आर्थिक नीति अपना रहा था। यदि कुछ देशों ने अपनी करेंसी का अवमूल्यन करके अपने निर्यातों में वृद्धि करने का प्रयास किया, तो अन्य देश इसे अपने यहाँ आयात नियन्त्रण लगाकर असफल बनाने की चेष्टा करते थे। इस प्रकार, मौद्रिक सहयोग के स्थान में कटु-प्रतियोगिता प्रचलित थी।

(४) द्वितीय महायुद्ध की अवधि में धन सम्पत्ति की अत्यधिक बर्बादी—द्वितीय महायुद्ध के समय में दशायें और भी बिगड़ गईं। युद्ध के अर्थ-प्रबन्धन के लिये विशाल मात्राओं में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा निर्गमित (issue) की गई। इसके अतिरिक्त मानवीय धन व जायदाद की इतनी अधिक बर्बादी हुई थी कि सभी राष्ट्र यथाशीघ्र पुनर्निर्माण और पुनर्वास के कार्यक्रम शुरू कर देने के लिये बहुत उत्सुक थे।

स्पष्टत उक्त समस्यायें किसी एक (single) देश के प्रयत्नों से ही सुलझना सम्भव न था। समय की यह माँग थी कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में सब देश आपस में सहयोग करें। चूँकि स्वर्णमान की पुन. स्थापना सम्भव नहीं थी, इसलिये इसके स्थान में किसी नई व्यवस्था का प्रचलन आवश्यक था। यह नई प्रणाली ऐसी होनी चाहिये थी जो कि अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के द्वारा पर्याप्त लोच प्रदान करे तथा साथ ही मौद्रिक अनुशासन के उन सिद्धान्तों का भी पालन करे, जिनके बिना कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकती है। इस हेतु विभिन्न राष्ट्रों ने विभिन्न योजनायें प्रस्तुत की। सन् १९४४ में ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर एक सम्मेलन इन योजनाओं पर विचार करने हेतु बुलाया गया। इसमें ४४ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इनके विचार विमर्श के परिणामस्वरूप दो अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें स्थापित हुईं —मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.) के उद्देश्य

जैसा कि मुद्रा कोष के चार्टर में बतलाया गया है, इसकी स्थापना निम्न उद्देश्यों से हुई है —(i) एक स्थायी संस्था के माध्यम से, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं पर परामर्श व सहयोग के लिये उचित व्यवस्था करेगी, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग में वृद्धि करना। (ii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार एवं सन्तुलित विकास में सुविधा देना और इसके द्वारा रोजगार व वास्तविक आय के ऊँचे स्तर कायम रखना। (iii) विनिमय स्थायित्व तथा सुव्यवस्थित विनिमय समझौतों को बढ़ावा देना तथा प्रतिस्पर्धात्मक ह्रास (competitive depreciation) की रोकथाम करना। (iv) भुगतानों की एक बहुपक्षीय प्रणाली (multi-lateral system of payments) स्थापित करने में तथा इसके द्वारा विघ्नकारक विदेशी-विनिमय-प्रतिबन्धों को हटवाने में सहायता देना। (v) अन्तर्राष्ट्रीय कोषों में वृद्धि करके तथा विनिमय दरों के परिवर्तनों को सुव्यवस्थित रूप में सम्भव बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय समायोजन के लिये मुद्रा संकुचन की अपेक्षा, एक अधिक श्रेष्ठ साधन प्रदान करना (vi) इन उद्देश्यों की पूर्ति करते हुये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में

सुविधा पहुँचाना तथा भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी असाम्यता (disequilibrium) की अवधि में उग्रता को कम करना।

मुद्रा कोष का सङ्गठन
(Organisation of the Fund)

३० जून १९६९ को कोष के सदस्यों की संख्या १७४ थी। मुद्रा कोष के प्रत्येक सदस्य के लिए इसकी राष्ट्रीय आय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में स्थिति (Position) के आधार पर एक चन्दा-अभ्यंश (subscription quota) नियत कर दिया जाता है। सदस्य देश अपने कोटे का २५% भाग स्वर्ण या डालर में और शेष भाग राष्ट्रीय करेंसी में, जो कि सम्बद्ध देश में ही कोष के नाम से रखी जाती है, देता है। सन् १९५९-६० में ५ बिलियन डालर की वृद्धि के बाद फण्ड के कुल प्रसाधन १६ बिलियन डालर हो गये। २५ सितम्बर सन् १९६५ से मुद्रा कोष की टोकियो बैठक के प्रस्तावानुसार कोष के अभ्यंशों में पुन २५% वृद्धि की गई है। और इसके फलस्वरूप कोष के वर्तमान प्रसाधन २१ बिलियन डालर हो गये हैं। १ जनवरी १९७० से चन्दों में फिर परिवर्तन करने का निश्चय किया गया है। यह परिवर्तन अक्टूबर १९७० से लागू होगा। अब कोष की कुल पूँजी २८'९० बिलियन डालर हो जायेगी। भारत का चन्दा वर्तमान ७५ करोड से बढ़कर ९४ करोड डालर हो जायेगा। उसका स्थान चन्दों की दृष्टि से अभी तक पाँचवाँ था किन्तु भविष्य में आठवाँ रह जायेगा और इस प्रकार उसे सचालक-मण्डल में एक सदस्य नामजद करने का अधिकार नहीं रहेगा। फण्ड की सर्वोच्च सत्ता बोर्ड आफ गवर्नर्स है। इसने अपने अनेक अधिकार बोर्ड आफ एक्जीक्यूटिव डायरेक्टर्स को दिये हैं। मैनेजिंग डायरेक्टर कोष के स्टाफ का मुखिया और बोर्ड आफ एक्जीक्यूटिव डायरेक्टर्स का चेयरमैन भी होता है।

कार्य प्रणाली
(Mode of operation)

फण्ड के पास विभिन्न सदस्य देशों की करेंसियों और स्वर्ण के रूप में विशाल पूँजीगत प्रसाधन है। यह एक ऐसे ढङ्ग से कार्य करता है, जिससे कि विदेशी विनिमय के उतार-चढ़ाव न्यूनतम सीमा तक घट जाये तथा बहुपक्षीय व्यापार पद्धति की फिर से स्थापना हो जाय। इसके कार्यकलापों की प्रमुख विशेषतायें निम्न-लिखित हैं :—

(१) स्वर्ण या डालर में करेन्सियों के सम-मूल्य का निर्धारण—प्रत्येक सदस्य देश अपनी करेंसी का सम-मूल्य अमेरिकी डालर (इसकी तौल व शुद्धता वह होनी चाहिये जोकि जुलाई १९४४ को थी अर्थात् ०'८८,८६,७१ ग्राम स्वर्ण प्रति डालर) में या स्वर्ण में घोषित कर देता है। कोई देश चाहे तो अपनी करेंसी का सम-मूल्य घोषित न भी करे (जैसे साइप्रस व अफगानिस्तान)। किंतु जब एक बार विभिन्न

करैंसियों के सम मूल्य निश्चित हो जाते हैं तब किन्हीं दो देशों के मध्य विनिमय-दर मालूम करना सुगम हो जाता है।

(२) सम मूल्य में परिवर्तन की अनुमति सुपरिभाषित सीमाओं तक—फण्ड के अन्तर्गत विनिमय-दर इतनी कठोर (rigid) नहीं है जितना कि वे स्वर्णमान के अधीन हुआ करती थी। किसी भी देश को केवल कुछ सुपरिभाषित सीमाओं के भीतर ही अपनी बुनियादी (basic) समता दर को बदलने की अनुमति दी जा सकती है। सदस्य देश १०% की सीमा तक तो स्वयं ही केवल अपना ऐसा इरादा मुद्रा कोष को सूचित करके परिवर्तन कर सकते हैं। यह परिवर्तन (१०% की सीमा तक) चाहे सम्पूर्ण या थोड़ा थोड़ा करके भी सम्भव है। परिवर्तन के प्रति मुद्रा कोष सामान्यतः विरोध नहीं करता। किन्तु प्रथम १०% से अधिक परिवर्तन के लिए सदस्य देश को मुद्रा कोष की अनुमति लेनी पड़ती है अर्थात् यदि अनुमति प्राप्त न हो तो वह ऐसा परिवर्तन नहीं कर सकता। प्रथम १०% से अधिक परिवर्तन की अनुमति फण्ड द्वारा तब ही प्रदान की जाती है जबकि उसे इस बात का सन्तोष हो जाय कि उपरोक्त परिवर्तन प्रस्ताव करने वाले देश के भुगतान सन्तुलन में उत्पन्न हुई किसी मौलिक असाम्यता के सुधार के लिए आवश्यक है। किन्तु मौलिक असाम्यता (Fundamental disequilibrium) क्या है फण्ड के चार्टर में इसकी परिभाषा तो नहीं की गई है। लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्रथम १०% से अधिक किसी परिवर्तन के प्रस्ताव को उचित ठहराने के लिए प्रस्तावक देश के भुगतान सन्तुलन की असाम्यता निरन्तर और गम्भीर घाटे (continuing and serious deficit) के रूप में प्रगट होना चाहिए।

यदि फण्ड को असाम्यता की गम्भीरता के बारे में सन्तोष हो जाय तो वह किसी प्रस्तावित परिवर्तन को प्रस्ताव करने वाले देश की आन्तरिक सामाजिक अथवा राजनैतिक नीतियों के आधार पर अस्वीकृत न कर सकेगा। यदि कोई देश फण्ड की सहमति के बिना अपनी करैंसी के सम मूल्य में परिवर्तन करता है तो उसे कोष की सदस्यता सम्बन्धी लाभों से वंचित किया जा सकता है और अन्ततः कोष की सदस्यता से निकाला भी जा सकता है। फण्ड चाहे तो अपनी ओर से भी सभी सदस्य देशों की करैंसियों के सम मूल्यों में अनुपातिक परिवर्तन (proportionate changes) कर सकता है।

(३) भुगतान सन्तुलन में अस्थाई असाम्यता के सुधार के लिए विदेशी मुद्रा के ऋण देना—फण्ड यह अनुभव करता है कि स्वतन्त्र विश्व व्यापार के लिए विनिमय स्थायित्व की बड़ी आवश्यकता है। अतः उसका उद्देश्य देशों के सम-मूल्यों में उतार चढ़ावों को रोकना और इसके लिए भुगतान सन्तुलन की असाम्यता का सुधार करने में सहायता देना है। यदि किसी देश को घाटे का सामना करना पड़ रहा है तो वह आवश्यक विदेशी मुद्रा उस देश को एक नियत विनिमय दर पर बेचेगा। विदेशी मुद्रा वाले इस ऋण की सहायता से वह देश अपने विदेशी दायित्व चुकाने में

समर्थ हो जाता है। इस प्रकार कोष कठिनाई के समय देशों को एक 'सांस लेने भर की मोहलत' (breathing space) प्रदान करता है, जिसमें वे अपनी असाम्यता का सुधार कर सकते हैं। किन्तु, यदि असाम्यता किसी ऐसे मौलिक कारण (जैसे—करेंसी के अधि मूल्यन या अत्यधिक उत्पादन लागत) से, जो कि देश की अर्थ-व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन (structural changes) करने आवश्यक बना दे, उत्पन्न हुई है, तो वह उस देश से यह प्रार्थना करेगा कि ऐसा परिवर्तन कर दिया जाय। जब किसी साम्य को आन्तरिक वित्त नीति और विनिमय स्थायित्व को ठीक-ठाक रखने की नीति (जो कि कोष का एक प्रमुख लक्ष्य है) के मध्य संघर्ष होता है, तो फण्ड मुख्यतः समझाने-बुझाने के टेक्नीक अपनाता है। हाँ जब कोई सदस्य निरन्तर ही विरोधी नीतियाँ अपनाये, तब फण्ड सम्बद्ध सदस्य को अपने कोषों की सुविधायें देने से मना कर सकता है।

(४) विदेशी मुद्रा क्रय या आहरण करने का अधिकार—जबकि फण्ड एक देश की करेंसी बेचता है तो वह इसे इसके मूल-देश (Country of origin) से अथवा उस देश से जिसने अपने व्यापार द्वारा इसका आधिक्य प्राप्त कर लिया है खरीदता है। कोई देश कितनी मात्रा में आवश्यक करेंसी खरीद सकता है, इसकी न्यूनतम् एवं अधिकतम् दोनों ही सीमायें निश्चित कर दी गई हैं। सदस्य देश मुद्रा कोष से किसी एक वर्ष में अपने कोटे के २५% तक कोई भी करेंसी खरीद सकता है। कोष इस विषय में कोई जाँच किये बिना ही तत्काल अपनी अनुमति दे देता है। किन्तु सदस्य देश 'सहमति ठहराव' (Waiver agreement) पर हस्ताक्षर करके किसी एक वर्ष में उक्त प्रतिशत से अधिक मात्रा में भी करेंसी खरीद सकता है। लेकिन इसकी अनुमति तब ही मिलती है जबकि वह कोष को यह सन्तोष दिला दे कि ऐसा क्रय आवश्यक है तथा उचित उद्देश्यों के लिए है। किसी भी दशा में कुल आहरण (क्रय) फण्ड में किसी देश के करेंसी कोटे के २००% से अधिक नहीं हो सकता। व्यवहार में देश १५०% से अधिक आहरण नहीं करते हैं। क्योंकि अधिक उधार लेना या क्रय करने पर, क्रेता-देश की आन्तरिक प्रशुल्क व मौद्रिक नीति में, कोष का हस्तक्षेप बढ़ता जाता है। यह स्मरणीय है कि क्रयाधिकार को सीमित करने का उद्देश्य देशों को वृहत मात्राओं में विदेशी मुद्रायें खरीदने से अप्रोत्साहित करना है। जब कोष विदेशी मुद्रा का ऋण स्वीकृत कर देता है अथवा यों कहें कि प्रार्थी देश को एक निश्चित मात्रा में विदेशी मुद्रा खरीदने की अनुमति दे देता है, तो यह तब आहरण एक साथ (in one lump sum) किया जा सकता है अथवा थोड़ा थोड़ा (in instalments) भी कई बार में आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

(५) ऋण के बचन (Stand by arrangements)—कभी-कभी एक सदस्य को ठीक से यह पता नहीं होता कि उसे विदेशी मुद्रा की आवश्यकता कब पड़ेगी। ऐसी दशा में, दूरदर्शिता के विचार से वह फण्ड के पास अपना एक 'लेनी-खाता' खोल सकता है। यह 'लेनी खाता' भविष्य में, आवश्यकता के समय कोष

द्वारा ऋण देने के वचन के रूप में होता हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्बद्ध देश एक निश्चित रकम एक नियत अवधि के भीतर कभी भी कोष से ऋण स्वरूप माँग सकता है। ऋण का वचन देने के पूर्व मुद्रा कोष सामान्यत ऐसे सम्भावित ऋण के औचित्य के बारे मे सन्तोष प्राप्त करता है, जिससे वास्तविक ऋण देते समय जाँच पड़ताल करने मे वृथा विलम्ब न हो।

(६) **फन्ड के कोषों की तरलता**—यदि देनदार देश अपनी निज की करेंसी के बदले म मुद्रा कोष विदेशी मुद्रा खरीदते ही चले जायें, तो यह सम्भव है कि कोष के पास ऐसी करेंसियाँ, जिनकी विश्व-बाजार मे कम माँग है, अधिक इकट्ठी हो जायें, तथा, ऐसी करेंसियाँ जिनकी विश्व-बाजार मे अधिक माँग है, घट जायें, यदि ऐसा हुआ, तो मुद्रा-कोष एक सुरक्षित कोष (Reserve fund), अथवा यो कहे कि विभिन्न देशो की केन्द्रीय बैंको के अन्तिम ऋणदाता के रूप मे, कार्य न कर सकेगा। अत यह बहुत आवश्यक है कि मुद्रा-कोष अपने प्रसाधनो को तरल दशा मे बनाये रखे।

इस आशय के लिए—यह नियम रखा गया है कि ऋणी या क्रेता देशों को कोष मे ली गई समस्त साख ३ वर्ष की अवधि के भीतर हीं लौटानी पडेगी। ऋण की इन वापसियों (repayments) को टेकनीकल भाषा मे 'पुनर्क्रय' (Re-purchases) कहा जाता है। ऋण की वापसिया के सम्बन्ध मे एक 'स्वचालित पुन क्रय वाक्य' (automatic repayments' clause) होता है, अर्थात्, किसी देश के मौद्रिक (स्वर्ण या विदेशी मुद्रा) कोष म जो वृद्धि हुई हो उसका आधा भाग अनिवार्यत मुद्रा-कोष स अपनी आन्तरिक करेंसी, जो कि विदेशी मुद्रा लेते समय कोष को दी गई थी, वापस खरीदन म प्रयोग किया जायेगा।

लेकिन, जब मौद्रिक कोष मे कोई वृद्धि न हो, या वृद्धि तो हुई है किन्तु वृद्धि होने पर भी मौद्रिक कोष देश के कोटे (Quota) से कम हो, तो ऐसा पुन क्रय न करना पड़ेगा। किन्तु यदि ऋण चुकाने की सम्पूर्ण अवधि म यह अपर्याप्तता बनी रहे, तो सम्बद्ध देश के लिए यह अनिवार्य होगा कि ऋण की अवधि के अन्त मे स्वर्ण देकर अपनी करेंसी का पुन क्रय करें। किन्तु ऐसे अनिवार्य क्रय का अवसर कठिनता न ही आता है, क्योकि ऋणी देश प्राय अन्य देशो या सदस्यों से ऋण लेकर, कोष मे अपनी आन्तरिक करेंसी का पुन क्रय कर लिया करते हैं। इसके अतिरिक्त जब कभी विदेशी मुद्रा सम्बन्धी-स्थिति बहुत विषम हो जाती है, तो मुद्रा कोष स्वय भी ऋण की अवधि बढ़ा देता है।

(७) **अल्पपूर्ति वाली करेंसी**—यह सम्भव है कि किसी देश की करेंसी की पूर्ति कम (short supply) हो। विदेशी विनिमय बाजार म किसी देश की करेंसी की अल्प पूर्ति होने से यह पता चलता है कि उसका भुगतान सन्तुलन उसके अनुकूल चल रहा है अर्थात् उसके निर्यात आयातो की अपेक्षा अधिक है। जिन देश का भुगतान सन्तुलन अनुकूल रहता है वह विनिमय स्थायित्व म विघ्न उत्पन्न करने का इतना ही दोषी है जितना कि वह देश जिसके भुगतान सन्तुलन मे घाटा रहा करता

है। अत् मुद्रा कोष अनुकूल स्थिति वाले देश से यह आशा करता है कि वह अपनी करैंसी का पुनर्मूल्यन करके स्थिति को सभाल देगा। वास्तव मे, जैसे ही कोष किसी विशेष करैंसी को 'दुर्लभ' (scarce) घोषित करे, वैसे ही सम्बद्ध देश को चाहिए कि अपनी करैंसी का इस प्रकार से पुनर्मूल्यन करे कि देश मे लागते व कीमतें बढ जायें जिससे आयात बढे और निर्यात घटे।

(८) **फण्ड योजना में स्वर्ण का स्थान**—फण्ड की योजना के अधीन प्रत्येक सदस्य देश को कोष मे अपने कोटे के २५% तक या अपने स्वर्ण धारण (gold holdings) के १०% तक स्वर्ण मे जमा करना पडता है। सदस्य देशो की करैंसियो के सम-मूल्य भी स्वर्ण मे नियत किये जाते है। सम-मूल्य मे परिवर्तन सुपरिभाषित सीमाओ के अन्दर ही किये जा सकते है। यदि कोई विशेष करैंसी कम मात्रा मे है, तो फण्ड इसे स्वर्ण देकर खरीद सकता है।

(९) **केन्द्रीय बैंकों का बैंक**—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को विभिन्न देशो की केन्द्रीय बैंको का बैंक कहा जाता है। वह विभिन्न केन्द्रीय बैंको के प्रसाधनो का सग्रह उसी प्रकार मे करता है जिस प्रकार से कि एक देश का केन्द्रीय बैंक स्वदेश के समस्त व्यापारिक बैंको के नगद कोष एकत्र करता है।

(१०) **मध्यान्तर काल मे सुविधायें**—फण्ड का उद्देश्य सभी विनिमय नियन्त्रणो को हटवाना है जिससे कि विश्व व्यापार का विकास हो सके। किन्तु कोष यह अनुभव करता है कि युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था को शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था मे परिणित करने मे कुछ विलम्ब लगेगा। इस बीच सदस्य देश कोष द्वारा वाछनीय समझी गई सीमा तक नियन्त्रणो को जारी रख सकते है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष योजना एव स्वर्णमान

फण्ड की योजना के अन्तर्गत प्रत्येक देश को फण्ड के पास अपने कोटे (Quota) का २५% तक या अपने स्वर्ण-कोष का १०% तक स्वर्ण मे जमा कराना पडता है। इसके अतिरिक्त, सदस्य-देशो की करैंसियो के सममूल्य (Par-values) भी स्वर्णमान मे व्यक्त किये जाते है। इनम सुनिश्चित सीमाओ के भीतर ही कोई परिवर्तन करने की अनुमति दी जा सकती है। स्वर्ण का मूल्य फण्ड द्वारा ३५ डालर प्रति (विशुद्ध) औन्स नियत किया गया है। यदि फण्ड के पास किसी विशेष करैंसी का अभाव हो, तो वह स्वर्ण के बदले मे उस करैंसी का क्रय कर सकता है। इस प्रकार, फण्ड की योजना मे स्वर्ण का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी आधार पर प्रो० विलियम्स जैसे अर्थशास्त्रियो ने फण्ड की योजना को एक अनिवार्य स्वर्णमान योजना (essentially a gold standard plan) घोषित किया है। दूसरी ओर, कीन्स जैसे अर्थशास्त्रियो ने फण्ड की योजना को 'स्वर्णमान का ठीक विपरीत' (the exact opposite of gold standard) बताया है। ये दोनो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण है। नीचे इन पर गम्भीरता से विचार किया गया है।

"फण्ड-योजना अनिवार्य रूप से एक स्वर्णमान योजना है"—

कोष के साथ इनके सदस्य-देश जिस तरह से अपने सौदे करते हैं उससे यह प्रतीत होता है कि स्वर्णमान और फण्ड-योजना एक दूसरे से बहुत सादृश्य रखती हैं। फण्ड की योजना के अन्तर्गत, भुगतान सन्तुलन में घाटा रखने वाले देश की स्थिति स्वर्ण खोने वाले देश' के समान तथा भुगतान सन्तुलन में आधिक्य रखने वाले देश की स्थिति 'स्वर्ण पाने वाले देश' के समान होती है। यह उल्लेखनीय है कि सदस्य-देश कोष के साथ केवल अपने केन्द्रीय बैंक या खजाने के द्वारा ही व्यवहार कर सकते हैं। फण्ड को सभी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए समाशोधन गृह का कार्य करने वाला नहीं माना जा सकता। अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान, फण्ड के हस्तक्षेप बिना विदेशी विनिमय बाजार के द्वारा निबटा दिये जाते हैं। फण्ड के माध्यम से सदस्य-देश जो सौदे करते हैं वे एक असाधारण स्वभाव के होते हैं और इनकी तुलना से स्वर्णमान के अधीन स्वर्ण या अल्पकालीन पूँजी के आवागमन से की जा सकती है। ये सौदे भी बैंक कोषों को ठीक उसी प्रकार से प्रभावित करते हैं जिस प्रकार से कि स्वर्णमान के अधीन स्वर्ण के आवागमन करते हैं।

मान लीजिए कि भारत में डालरों का अस्थाई अभाव है। अतः रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया मुद्रा कोष से डालरों का क्रय करना चाहता है। यदि फण्ड आवश्यक राशि में डालर बेचने को तैयार हो जाय, तो रिजर्व बैंक अमेरिका के फैडरल रिजर्व बैंक ऑफ न्यूयार्क में खुले हुए फण्ड के डालर खाते के विरुद्ध आहरण कर लेगा। इस सौदे के फलस्वरूप फैडरल रिजर्व बैंक के पास फण्ड के डालर खाते में कमी आ जायेगी तथा क्रय विक्रय रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया में खुले हुए फण्ड खाते में क्रेडिट कर दिया जायेगा। अब रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया इस प्रकार से प्राप्त की गई डालर करेंसी को व्यापारिक बैंकों को बेचेगा, जो फिर इसे अपने ग्राहकों को बेचेंगे। इससे व्यापारिक बैंकों के माग-डिपाजिट (demand deposits) घट जायेंगे। अतः केन्द्रीय बैंक के पास रखे हुए उनके कोषों में भी कमी आ जायेगी। इस प्रकार, उक्त सौदे का भारतीय अर्थव्यवस्था पर विस्फीतिक प्रभाव (contractionist effect) पड़ता है। किन्तु अमेरिका में विपरीत प्रवृत्ति (trend) दिखाई देगी। भारत द्वारा खरीदे गये डालरों का प्रयोग अमेरिका से आयातों का भुगतान करने में किया जायेगा। इससे उस देश के व्यापारिक बैंकों के डिपाजिट्स व कोष दोनों में वृद्धि हो जायेगी और इसलिए वे साख का विस्तार करने की नीति (expansionist policy) अपना सकेंगे।

"फण्ड योजना स्वर्णमान का ठीक विपरीत है"—

यद्यपि फण्ड की योजना में स्वर्ण एक ऐसे माध्यम के रूप में सामने आता है, जिसके द्वारा विभिन्न करेंसियां परस्पर सम्बन्धित हो गई हैं तथापि वह कई महत्त्वपूर्ण बातों में पुराने स्वर्णमान से भिन्न है। प्रमुख निम्नलिखित हैं —

(१) फण्ड योजना में 'स्वर्ण' देशो की करेंसी का उस प्रकार से आधार नहीं है जिस रूप से यह स्वर्णमान के अन्तर्गत होता था—करेंसियों का स्वर्ण-मूल्य में कठोरतापूर्वक नियत (rigidly fixed) नहीं होता वरन् उसमे कुछ सुनिश्चित सीमाओ के भीतर परिवर्तन किये जा सकते है। इसके अतिरिक्त, स्वर्ण उत्पादन सम्बन्धी उतार-चढाव नई योजना के अन्तर्गत अमहत्त्वपूर्ण हो गये है किन्तु जब राष्ट्रीय करेंन्सियों की स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के साथ कठोरतापूर्वक सम्बद्ध रखा जाता था तब ऐसे उतार-चढाव बहुत महत्त्वपूर्ण होते थे। इस प्रकार फण्ड की योजना मे स्वर्ण एक 'शुभचिन्तक सेवक' (faithful servant) के रूप मे काय करता है, 'तानाशाह स्वामी' (wayward master) के रूप मे नही, जैसा कि वह स्वर्णमान के आधीन था।

(२) सचेत अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रबन्ध—नई योजना के अन्तर्गत आधिक्य एव घाटे वाले दोनो ही प्रकार के देशो से फण्ड द्वारा यह अनुरोध किया जाता ह कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सतुलन मे साम्यता बनाये रखे। जब कोई देश ऐसी साम्यता बनाए रखने म असमर्थ हो जाय, तब कोष उसे अपनी विनिमय दरों मे नियोजित (orderly) ढङ्ग से समायोजन करने का निर्देश करता है। किन्तु स्वर्ण-मान इन समस्याओ से मुक्त था। उसके अन्तर्गत सचेत रूप से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रबन्ध की आवश्यकता नही पडती थी। इस प्रकार, फण्ड की योजना स्वर्णमान के निर्बाधावादी पहलू (laissez faire aspect) के बिल्कुल विपरीत है।

(३) मुद्रा सकुचन एक तर्क सगत परिणाम नहीं है—स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण खोने वाले देश के लिए यह एक तर्क सङ्गत परिणाम था कि वहाँ मुद्रा सकुचन की स्थिति पैदा हो जाय, किन्तु कोष-योजना के अधीन 'घाटा रखने वाले' (deficit) सदस्य देशो के लिए यह आवश्यक नही है कि उन्हे फण्ड के साथ सौदा करने के फल-स्वरूप, मुद्रा-सकुचन सम्बन्धी फल भोगने हा पडें।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रेसीडेन्ट का दृष्टिकोण—

यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रेसीडेन्ट जैकबसन (Jacobsson) के दृष्टि-कोण का उल्लेख करना अनावश्यक न होगा। उनके अनुसार, वर्तमान करेन्सी प्रणाली जिसका अनुगमन विश्व के अनेक राष्ट्रों द्वारा किया जा रहा है, सन् १६२० और १६३० के स्वर्ण-विनिमय मान से सादृश्य रखती है। सन् १६६० के अन्त मे सोवियत गुट के देशो को छोडकर शेष देशो की केन्द्रीय बैंकों व सरकारों के कोष ६० बिलियन डालर थे, जिसमे से ३८ मि० डालर स्वर्ण मे १०½ बिलियन डालर डालरों म और ७ बिलियन डालर स्टर्लिङ्ग तथा ४ बिलियन डालर अन्य विभिन्न करेंसियो म थे··· ··जिस प्रणाली के अधीन अधिकांश देश अपने कोष अशत स्वर्ण मे और अशत

रिजर्व करैंसियों के रूप में रखते हैं, उसे स्वर्ण विनिमय मान का आधुनिक स्वरूप कहा जा सकता है।[1]

मुद्रा कोष योजना की तुलनात्मक श्रेष्ठता—

मुद्रा कोष योजना निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान से श्रेष्ठ है। स्वर्णमान की बुनियादी (basic) दुर्बलता यह थी कि इसके कारण देश की आन्तरिक एवम् बाह्य मौद्रिक नीतियों में संघर्ष होने लगता था। विनिमय दरें स्वर्ण की अपरिवर्तनीय मात्राओं में कठोरतापूर्वक सम्बद्ध होती थी। स्वर्ण के आगमन की समस्या का सामना करने वाले देश को मुद्रा प्रसार के प्रति और स्वर्ण के बहिर्गमन की समस्या का सामना करने वाले देश को मुद्रा संकुचन के प्रति घुटने टेकने पड़ते थे, तब ही साम्य पुनः स्थापित हो पाता था। इस प्रकार आन्तरिक मौद्रिक नीति को बाह्य मौद्रिक नीति के अनुशासन में चलना पड़ता था।

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की योजना के आधीन देश को अपनी करैंसी का प्रसार या संकुचन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। फलतः उसकी अर्थव्यवस्था समायोजन की कष्टजनक प्रक्रिया (painful process of adjustment) से बच जाती है। कोष योजना के अनुसार, विनिमय दरें कठोरतापूर्वक नियत नहीं होती है। उसमें समय और परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार समायोजन किया जा सकता है। किन्तु यह अवश्य है कि कोई भी देश मनमाने ढंग से विनिमय दरों को परिवर्तित नहीं कर सकता। वह असीमित विनिमय नियन्त्रण भी नहीं लगा सकता। स्वर्णमान के टूटने के बाद विश्व के देशों ने पुनः पत्र मान अपना लिया। पत्र-मान के अन्तर्गत करैंसियों की परिवर्तनशीलता सम्भव नहीं रह गई है। यही नहीं, विनिमय दर में बार बार परिवर्तन करने तथा विनिमय नियन्त्रण अपनाने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो गई। किन्तु मुद्रा कोष ने विनिमय दरों में परिवर्तन करने के अधिकार को सुपारिभाषित सीमाओं तक सीमित करके, विनिमय नियन्त्रणों का निषेध करके तथा स्वर्ण के माध्यम से करैंसियों की परिवर्तनशीलता सम्भव बनाकर स्वर्णमान के समस्त लाभ प्राप्त कर लिए हैं तथा पत्र-मान की हानियों से बच गया।

बहुपक्षीय भुगतानों की व्यवस्था करने एवं विनिमय नियन्त्रण हटवाने में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सफलता

मुद्रा कोष ने अपने कार्यकलाप सन् १९४५ से आरम्भ किये और १९६७ में

[1] "The system under which most countries hold their reserves partly in gold and partly in reserve currencies is the present day version of the gold exchange standard."—Jacobsson President of the I M F.

इसने अपने सक्रिय जीवन के २२ वर्ष पूर्ण कर लिये। इस अवधि में इसने जो कार्य किये हैं उनका संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

(१) उत्तरोत्तर उदार नीति अपनाना—कोष बहुत सावधानी से कार्यों को चला रहा है। इसने ऋण सम्बन्धी कार्यकलापों में जोखिम को न्यूनतम रखने की नीति अपनाई। यह सावधानी का रुख अप्रैल सन् १९५२ तक रहा। परिणामस्वरूप सन् १९४९ और सन् १९५२ के मध्य उसके कार्य बहुत मन्द रहे। सन् १९५३ में उसने ऋण की शर्तें उदार बनाई और 'ऋण वचन व्यवस्थाओं' (Stand-by Arrangements) के आधीन विदेशी मुद्रा के ऋण अधिक उदारतापूर्वक दिये जाने लगे।[1] सन् १९५५ तक छः वर्षीय अवधि कोष के लिए अल्प कार्य वाला समय था। इसमें उसने केवल ५४२ मि० डालर के ऋण दिये।

(२) कार्यों का विस्तार और पूँजी में वृद्धि—सन् १९५६-५७ में मुद्रा-कोष के कार्यकलापों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। अक्टूबर सन् १९५८ में कोटा-वृद्धि द्वारा फण्ड के प्रसाधनों का विस्तार किया गया। कारण, जबकि पिछले दशक (सन् १९४८-१९५८) में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दूना हो गया था, तब कोष के कोटे वही बने हुए थे, जिससे "सहमति वाक्य" (Waiver Clause) का प्रयोग बार-बार करना पड़ रहा था। अतः १५ सितम्बर सन् १९५९ के सदस्य देशों के कोटे में ५०% सामान्य वृद्धि की गई। जापान, कनाडा और प० जर्मनी के लिए, जिनकी विकास-गति तेज होने के कारण आर्थिक अवस्था अच्छी हो गई थी, ५०% से भी अधिक वृद्धि की माग स्वीकृत हुई। सन् १९६५ फण्ड के कोटे २५% से पुनः बढ़ाने का प्रस्ताव स्वीकार किया। इसके अन्तर्गत फण्ड के अभ्यंशों (quotas) में जो सामान्य वृद्धि इस वर्ष लागू की गई उसके अनुसार सभी देशों के अभ्यंश २५% बढ़ाये गये और १६ सदस्यों के अभ्यंश अधिक अनुपात में बढ़ाने की अनुमति दी गई। ८० देशों ने ऐसी वृद्धियाँ स्वीकार कर ली हैं। अतः कोष की पूँजी १६ बि० डालर से बढ़ कर २१ ३० डालर हो गई। १९७० में होने वाली वृद्धि के फलस्वरूप कोष की कोटा पूँजी २८ ९० बि० डालर हो जायेगी। SDR की ३०० करोड़ डालर व्यवस्था अलग से है।

(३) परिवर्तनशीलता के क्षेत्र का विस्तार होना—कोष के व्यवहारों में स्वीकृत करेंसियों के प्रयोग का क्षेत्र बराबर बढ़ रहा है। फरवरी सन् १९६१ को १० सदस्यों (बेलजियम फ्रान्स जर्मनी, आयरलैण्ड, इटली लक्समबर्ग, नीदरलैंड पीरू स्वीडन और ब्रिटेन) ने अपनी करेंसियों के लिए परिवर्तनशीलता का दायित्व स्वीकार किया। औपचारिक परिवर्तनशीलता का क्षेत्र बढ़ जाने से ऋणी-सदस्य अब

[1] मुद्रा-कोष सदस्यों को विदेशी मुद्रा प्रत्यक्ष रूप में बेचता है और साथ ही आवश्यकता पड़ने पर विदेशी मुद्रा देने के वचन भी करता है। मुद्रा बेचने के वचन की अवधि प्राय एक वर्ष की होती है किन्तु इसे समझौते द्वारा बढ़ाया भी जा सकता है।

अपने विदेशी मुद्रा वाले ऋण को पहले से अधिक देशों की करैंसियों में चुका सकते है। सन् १९६१ के पूर्व पुन क्रय (Repayment or Repurchases) अधिकांशत स्वर्ण या अमरीकी डालर म किये जाते थे, किन्तु सन् १९६२ मे पुन क्रय प्रथम बार कितनी ही करैंसियों मे सम्पन्न हुए। ३० अप्रैल सन् १९५८ तक कोष के विदेशी मुद्रा ऋणो मे डालर का भाग ९१ ७% था, किन्तु सन् १९६४-६५ मे यह १५% ही रह गया। १९६७ से फण्ड ने अपने लेन-देनों म पहले की अपेक्षा अधिक देशों की मुद्राओ का प्रयोग किया। यूरोपियन मुद्राओं, स्टर्लिङ्ग और अमरीकी व कनाडियन डालरों के विक्रय के अतिरिक्त उसने आस्ट्रेलिया, ब्राजील, आयरलैंड मलेशिया, मक्सिको, द० अफ्रीका और वेनजुएला की मुद्राओ म भी ऋण दिये। इसके फलस्वरूप कुछ करैंसियो के बैलेन्सेज चन्दा स्तर मे भी नीचे गिर गये। अब प्राय सब करैंसियाँ जिन्हे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और भुगतानो के अर्थ प्रबन्धन के लिए प्रयोग किया जाता था, परिवर्तनशील बन गई है। यह भुगतानो की बहुपक्षीय व्यवस्था करने की दिशा म एक महत्वपूर्ण कदम है।

(४) विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय—जब से कोष ने कार्य आरम्भ किया तब से ३० अप्रैल सन् १९६५ तक ५८ सदस्यो ने विदेशी मुद्रायें खरीदी, जिनमें से अनेक ने तो कई बार मुद्रायें ली। तीन अन्य सदस्यों ने कोष से ऋण-वचन-अनुबन्ध प्राप्त किये किन्तु कोष से वास्तविक क्रय नही किया। इस प्रकार लाभ उठाने वाले ६१ देशों में से २० देश लेटिन अमरीका, १४ यूरोप, ७ म० पू०, ८ सुदूरपूर्व, ९ अफ्रीका और ३ उत्तरी अमेरिका मे थे। कोष द्वारा कुल ९३६ ९ करोड डालर मूल्य की विदेशी मुद्रा बेची गई। ४७ सदस्य देशो ने लगभग ५८०·३ करोड डालर मूल्य की अपनी मुद्रायें वापस ली। यह पुन क्रय स्वर्ण और परिवर्तनशील मुद्राओ मे किया गया। ३० अप्रैल सन् १९६५ को कुल बकाया राशि २७८·९ करोड रुपये थी। इसका अधिकांश भाग ३ वर्ष से अधिक पुराना नही था। केवल ३ ऋण ही ४½ या ५ वर्ष पुराने थे।

१९६७ में प्रगति—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से बकाया आहरण (Drawing Outstanding) (बकाया आहरण से आशय फण्ड के उन प्रसाधनो का है जो कि सदस्यो के चालू प्रयोग में है) १९६७ के अन्त मे ४,४७८ मि० डालर, १९६६ के अन्त मे ५,१११ मि० डालर, १९६५ के अन्त मे ४,३५४ मि० और १९६४ के अन्त मे ३,६२१ मि० डालर थे। १९६७ मे नवीन आहरण ८३५ मि० डालर हुए किन्तु पुन क्रय या पुन भुगतान ९१८ मि० डालर थे। ऋण-वचन-व्यवस्थाओ (stand-by arrangements) के अधीन सदस्यो को उपलब्ध राशियो मे तेजी से वृद्धि हुई और वे ३६५ मि० डालर से बढ़कर १७९४ मि० डालर तक पहुँच गई। १·४ बि० की वृद्धि उस समय हुई जबकि ब्रिटेन ने ब्रिटिश पौंड का १४·३% अवमूल्यन कर दिया। उसने इतना ऋण इस हेतु माँगा जिससे कि उसकी मुद्रा म विश्वास पुन जम सके। ब्रिटेन के बाद आयरलैंड, इसरायल, गायना, स्पेन, साइप्रस, मलावी, जम्बिया,

जैमेका, ट्रिनिडाड, टोबागो, सियरा लियोनी, न्यूजीलैंड, लका, आइसलैंड, डेनमार्क, फिनलैंड और नेपाल ने भी अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन किया। इस बार के अव-मूल्यन १९४९ के अवमूल्यन की अपेक्षा सीमित थे।

१९६७ म फण्ड के लेनदेन मुख्यत विकासोन्मुख देशो के साथ हुए (अमेरिका या ब्रिटेन ने कोई अपहरण नही किये और उनके बकाया आहरणो मे भी कमी आई)। इस वर्ष के फण्ड से निम्न देशो ने ऋण लिय। अफगानिस्तान, वर्मा, बुरुण्डी, लका चिली कोलम्बिया, कोस्टारिका, एल सल्वाडोर, फिनलैंड, घाना, ग्वाटेमाला, हैटी आइसलैंड भारत, ईराक लिबरिया, माली, न्यूजीलैंड पीरू, फिलिपीन्स, सियरा लियोनी सोमाली, स्पैन सुडान, सीरिया, ट्यनिशिया, टर्की और युगोस्लाविया। इनमे से अनेक देशो ने पहले भी फण्ड से ऋण लिये थे।

१९६७ के वर्ष म अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता की कमी की समस्या को हल करने के सम्बन्ध मे कोष ने कुछ नई व्यवस्थाये की थी। यह व्यवस्था विशेष आहरण अधिकारो (Special Drawing Rights S. D R) के नाम से प्रसिद्ध हुई है। जल्दी ही इस व्यवस्था पर अमल होने लगगा। फण्ड के प्रशासनिक व्यय १९६६ ६७ मे १८ मि० डालर हुए, जबकि आय ८९ मि० डालर हुई।

सन् १९६२ मे कोष न अपने कोष की अनुपूर्ति हतु 'उधार सम्बन्धी सामान्य व्यवस्था' (General Agreements to Borrow GAB) की थी जिनका प्रयोग १९६४ मे ४०५ मि० और १९६५ मे ५२५ मि० डालर तक किया गया। सन् १९६६ मे १० औद्योगिक देशो को समूह म GAB ६ बिलयन डालर थी, जो २४ अक्टूबर १९६६ से आगे चार वर्ष तक के लिये है।

कोष ने अपनी क्षतिपूरक वित्त व्यवस्था नीति (Compensatory Finance Policy) को उदार बनाया है। यह नीति उन देशो द्वारा इसके प्रसाधनो के प्रयोग पर लागू होती है, जो कि अपनी विदेशी विनिमय सम्बन्धी कमाई के लिए प्राथमिक वस्तुओ के निर्यातो पर निर्भर है।

(५) **विकासोन्मुख देशो को सहायता**—विगत ५ वर्षो मे विकासोन्मुख देशो के लिये, वर्ग के रूप मे, कोष से आहरण की सम्भावनाओ मे बहुत वृद्धि हो गई है। इसका कारण यह है कि अफ्रीका, एशिया, लेटिन अमेरिका और मध्य पूर्व मे स्थित देशो के कोटे (quotas) फण्ड मे ऊँचे हो गये हैं और कोष ने भी उदार नीति अपनाली है। विकासोन्मुख देशो के कुल कोटे १९६२ मे २·९ बि० डालर से बढकर १९६७ के अन्त मे ४·८ बि० डालर हो गये हैं। इसी अवधि मे उनके बकाया आहरणो (outstanding drawings) मे ४७९ मि० डालर की वृद्धि हो गई है। स्मरण रहे कि सदस्य-देश मुद्रा कोष से अपने कोटे के १२५% तक उधार ले सकते हैं। इस उधार लेन की क्षमता को (सभी देशो के लिये सम्मिलित रूप से) 'Gross Fund Positions' कहते है। ३१ दिसम्बर १९६७ को यह क्षमता ४,७१२ मि० डालर

तक पहुँच गई थी अर्थात् १९६२ की अपेक्षा दूनी हो गई थी। यह क्षमता अब लगभग चुक' (exhaust) गई है।

सभी प्रमुख भौगोलिक क्षत्रो म विकासोन्मुख देशो के वर्ग ने पिछल ५ वर्षो म अपनी Drawing Positions बढ़ाली है जैसा कि निम्नांकित तालिका म स्पष्ट है —

(मि० डॉलर)

	१९६२	१९६८
लेटिन अमरीकी देश	१०५५	१८८२
मध्यपूर्व के देश	२४४	६८६
एशियाई देश	८८५	१२८४
अफ्रीकी देश	१४१	८५७

मुद्रा-कोष के कार्यो की आलोचना

कोष के अब तक के कायकलापो से इसकी निम्न दुर्बलतायें प्रकाश म आई है —

(१) सम मूल्यों का चुनाव उपयुक्त नहीं—विनिमय दरें एक ऐसे समय म नियत को गई थी जबकि करैंसिया प्राय अधिमूल्यित था। फलत बाद का कई दशाओं म इनके अवमूल्यन की आवश्यकता हुई।

(२) चन्दे वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं—चन्दा या तो विभिन्न दशा का विदेशी व्यापार की मात्रा के आधार पर हो सकता था या व्यापारान्तेष की स्थिति के आधार पर और या विदेशी विनिमय की आवश्यकता के आधार पर परन्तु इनमे से किसी को भी आधार नही बनाया गया। ऐसा मालूम होता है कि अग्रेजो और अमरीकनो के आर्थिक और राजनैतिक स्वार्था को ध्यान म रखकर चन्दा निर्धारित किया गया और इसी का परिणाम रूस के त्याग पत्र के रूप मे सामने आया।

(३) प्रगति सन्तोषजनक नहीं—कहा गया है कि कोष ने जो सहायता प्रदान की है वह बहुत ही अल्प है। अत सस्था को भग कर देना चाहिए। [यह आलोचना कोष के प्रारम्भिक वर्षो के कायकलापो की प्रगति पर आधारित प्रतीत होती है। सन् १९५९ १९६५ १९७० और १९७१ म साधनो को बढा लेन के बाद कोष द्वारा दी गई सहायता निरन्तर बढती जा रही है।]

(४) सुविधाओं के देने म भेद भाव—कहा गया है कि मुद्रा कोष न ऋण प्राय अमेरिका ब्रिटन और अन्य धनी राष्ट्रो के ही समथको को दिये। [किन्तु अब इस आलोचना म अधिक सार नही है क्योंकि कोष मे अविकसित देशो का बहुमत हो गया है जिससे उनकी अवहेलना करना सुगम नहा।]

(५) कार्यकारिणी की दोषपूर्ण सदस्यता—मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी की सदस्यता इस प्रकार रखी गई कि अमरीकन हितों की रक्षा होती रहे, इसीलिए लेटिन अमरीका के देशों के लिये दो स्थान सुरक्षित रखे गये।

(६) डालर की अल्पता—स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों को डालर की बहुत अल्पता अनुभव हो रही थी। किन्तु फिर भी फण्ड उसे "अल्प-मुद्रा" (Scarce currency) घोषित न कर सका। फलत अनेक देशों को अमेरिका से डालर की प्राप्ति के लिए सीधे समझौते करने पड़े। [अब रिजर्व करेंसियों की स्थिति सुधारने हेतु एक नया मुद्रा-कोष स्थापित करने की योजना बनाई जा रही है।]

(७) साख योग्यता की अवहेलना—कोष पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि इसने देशों को इनकी साख-क्षमता का विचार किये बिना ही क्रय-अधिकार (purchasing rights) स्वीकार किये। [यह आलोचना भी अनुचित है क्योंकि इसमें फण्ड के उद्देश्यों को ध्यान में नहीं रखा गया है।]

(८) प्रसाधनों का अभाव—इन देशों के लिए एक उचित समाधान यह है कि इन्हें दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय ऋण देकर रोजगार एवं अन्य में वृद्धि की जाय। परन्तु कोष के पास साधनों का अभाव रहा है। [अब दो बार कोटा वृद्धि द्वारा इस अभाव को दूर कर लिया गया है और यह भी व्यवस्था की गई है कि देश विशेषत अविकसित देश कोष से किसी वर्ष में अपने कोटे की सम्पूर्ण राशि तक (न कि केवल २५% तक) ऋण ले सकता है।]

(९) दानी संस्था—मुद्रा कोष की आलोचना इसे एक दानी संस्था कह कर भी की गई है जिसमें अधिकांश धन विकसित राष्ट्रों ने लगाया है और जिससे कुछ देश अपनी आर्थिक उन्नति हेतु पर्याप्त यत्न किये बिना लगातार उधार लेकर कार्य चला रहे है। इस प्रकार कोष सुस्ती को उत्साहित करता है। [अन्य आलोचनाओं की भाँति यह आलोचना भी अनुचित है, क्योंकि न केवल अल्प विकसित राष्ट्र वरन् अमेरिका, इटली और ब्रिटेन जैसे विकसित देशो ने भी विगत कुछ वर्षों में भारी ऋण लिये। सच तो यह है कि कोष उन सभी देशों को ऋण देता है, जिनकी भुगतान-तुला संकटग्रस्त हों।]

मुद्रा-कोष की सफलतायें

मुद्रा-कोष की स्थापना का उद्देश्य विश्व के देशों को सामयिक और अस्थायी *आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त करना, उनके आर्थिक विकास की* दर को बढाना एवं पूर्ण रोजगार उत्पन्न करना था। निम्सन्देह ये लक्ष्य पूर्ण नहीं हुए है किन्तु उचित दिशा में कुछ प्रगति अवश्य हुई है, जिसका अनुमान निम्नलिखित विवरण से लगाया जा सकता है :—

(१) विनिमय दरों का स्थायित्व—कोष की एक प्रमुख समस्या विश्व राष्ट्रों मे प्रतिस्पर्धी मुद्रा-अवमूल्यनों को रोकने की थी। इस हेतु यह आवश्यक समझा

गया कि सभी देशो की मुद्राओं की समता दरें निर्धारित की जायें। उसने अपेक्षाकृत अच्छी आर्थिक स्थिति के देशो की समता दरें, तो तुरन्त निर्धारित कर दी और शेष के सम्बन्ध मे निर्णय किया कि इन्हें 'धीरे-धीरे स्थिति सुधरने पर' निर्धारित किया जाय। सन् १९४६ मे ३२ देशो की समता-दरें निर्धारित हुई और ३० जून सन् १९६९ तक ११८ सदस्य देशों में से १०४ की समता-दरें निश्चित हो गयी थीं। जिन १६ देशों की समता-दरें निश्चित नहीं हुई उनमे कुछ तो नये सदस्य देश थे और कुछ आर्थिक दृष्टि से बहुत गरीब थे।

आवश्यकता पड़ने पर कोष ने समता-दर में परिवर्तन करने की अनुमति दी है। उदाहरणार्थ, सन् १९४७ के अन्त में फ्रांस ने अपनी मुद्रा का लगभग ८०% अवमूल्यन करने की अनुमति माँगी। साथ मे यह भी चाहा कि वह कुछ देशों के साथ इच्छानुसार अलग-अलग दर अपनावे। बहुत सोच-विचार के बाद मुद्रा-कोष ने फ्रैंक के अवमूल्यन की अनुमति तो दी किन्तु बहुमुखी विनिमय दर के लिये मना किया। फ्रांस ने कोष की अवहेलना करते हुए फ्रैंक का अवमूल्यन किया और बहुमुखी विनिमय दर अपनाई। यह कोष के लिए प्रथम परीक्षा-काल था। सौभाग्य से फ्रांस ने सन् १९४८ में ही केवल एक ही समता दर को व्यापारिक कार्यों का आधार बनाने की घोषणा कर दी, जिससे कटुता टल गई। कोष ने फ्रांस की नई स्थिति को स्वीकार कर लिया।

सितम्बर सन् १९४९ मे इङ्गलैंड समेत २८ देशों ने मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया, जिसे कोष की स्वीकृति प्राप्त थी। यह सामूहिक अवमूल्यन इन देशों के आर्थिक हितों के अनुकूल थे। इसके बाद समता-दरों मे यथेष्ठ स्थिरता आ गई। कोरिया, स्वेज, अरब देशों के बाद मे भी समता दरें अडिग बनी रहीं यही नहीं उन देशों ने भी (जैसे—कनाडा आदि), जो बहुत समय से अपनी मुद्राओं के सम-मूल्य घोषित नहीं कर रहे थे, अपनी ... निश्चित कर दी। १९६६ मे भारत ने अपने रुपये का और १९६७ मे इङ्गलैंड ने ... का पुनः अवमूल्यन किया, जिसका उद्देश्य भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी बिगड़ती हुई स्थिति पर काबू करना था। इस प्रकार कुल पर, कोष के मार्ग दर्शन में विश्व के सभी देश अनुशासन बद्ध चलने को प्रेरित हुये है। लगभग १३ देशों ने बहुमुखी दरें अपनाई हुई हैं। चूँकि वे आर्थिक दृष्टि से विपन्न है, इसलिये अस्थाई रूप से ऐसा करने की छूट देना उचित ही है।

(२) **भुगतान की बहुमुखी व्यवस्था**—मुद्रा-कोष की स्थापना के समय प्रायः सभी देशों के विदेशी विनिमय कोष घट गये थे और इस कारण उन्होंने विनिमय-नियन्त्रण लगाये हुए थे तथा विदेशी व्यापार कम हो गया था। इस स्थिति से निबटने के लिये मुद्रा कोष ने विदेशी मुद्रा के ऋण देने की नीति अपनाई। १९४६ से १९५८ तक कोष ने पश्चिमी यूरोपीय देशों को लगभग ११६ करोड़ डालर की विदेशी मुद्रा की सहायता दी। सन् १९५८ मे कोटे बढ़ाये जाने से कोष के प्रसाधनों में वृद्धि हो गई तथा वह अधिक उदारतापूर्वक ऋण देने में समर्थ हुआ। इसका एक लाभ तो यह

हुआ कि ऋण पाने वाले देशों की विदेशी विनिमय सम्बन्धी दशा मजबूत हुई और दूसरे उन्हें अधिक सहायता मिलने का भरोसा हो गया। इसी से सन् १९५८ में १४ प० यूरोपीय देशों ने अपनी मुद्रा के समस्त विदेशी कोषों को परिवर्तनशील घोषित कर दिया। अन्य शब्दों में, अन्य देशों के पास इन देशों की मुद्राओं के जो भण्डार थे या होंगे, उनके बदले में मुद्रा-कोष द्वारा निश्चित दर पर कोई भी मुद्रा खरीदी जा सकती है। यह घोषणा भुगतान की बहुमुखी व्यवस्था स्थापित करने की राह में एक महत्त्वपूर्ण सोपान थी। शीघ्र ही स्टर्लिंग क्षेत्र के १५ देशों ने अपने विनिमय नियन्त्रण ढीले किये। इस प्रकार, बहुमुखी भुगतान व्यवस्था स्थापित करने में पर्याप्त सफलता मिली है और फलस्वरूप विदेशी पूँजी के विनिमय में बहुत वृद्धि हुई है। विदेशी व्यापार भी पहले की अपेक्षा लगभग दुना हो गया है।

(३) स्वर्ण नीति—मुद्रा-कोष की स्थापना से विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण विनिमय मान स्थापित हो गया है, क्योंकि प्रत्येक सदस्य देश की मुद्रा का मूल्य डालर में और डालर का मूल्य स्वर्ण में निश्चित है। अमेरिका की सरकार ने १ औंस स्वर्ण =३५ डालर के तुल्य माना है। सदस्य-देश इस दर से अधिक पर स्वर्ण न तो खरीद सकते और न बेच ही सकते हैं। किन्तु तस्कर व्यापारियों ने विषम स्थिति पैदा कर दी है। इनके कारण देश की सरकार को विदेशी मुद्रा की हानि होती है। मुद्रा कोष ने बार-बार देशों से आग्रह किया है कि वे अनाधिकृत रूप से ऊँची दर पर होने वाले स्वर्ण के क्रय-विक्रय को रोकें तथा स्वर्ण को निजी हाथों में न जाने दें, वरन् अधिकृत कोषों में रखें जिससे वह विनिमय दर के निजी हाथों से काम आ सके। कोष ने सन् १९५२ से एक स्वर्ण क्रय-विक्रय सेवा (Gold Transactions Service) भी आरम्भ की। इसका उद्देश्य यह है कि देश कोष के माध्यम से सोने का क्रय-विक्रय कर सकते हैं, जिसके लिये कोष केवल १/३२% शुल्क लेता है। इस सुविधा के फलस्वरूप देशों को माल खरीदना बेचना सुगम हो गया है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता—सन् १९६३ से एक्जीक्यूटिव डायरेक्टरों ने अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता के प्रश्न पर बहुत ध्यान देना आरम्भ कर दिया है। GAB में भाग लेने वाले १० औद्योगिक देश समूह ने भी इस विषय में समानान्तर अध्ययन कराये हैं। सितम्बर १९६७ में मुद्रा कोष के गवर्नरों के वार्षिक सम्मेलन में एक नई अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निर्मित करने का प्रस्ताव रखा गया। इसका नाम स्पेशल ड्राइङ्ग राइट्स (Special Drawing Rights या SDR) रखा गया है। ये एक बैंक के चैकों की भाँति होंगे। अन्तर केवल यह होगा कि इनके पीछे किसी धरोहर के रखने की आवश्यकता न होगी। १ जनवरी १९७० से सदस्यों को ३५० करोड़ डालर का अधिकार दिया गया है। १९७१ व १९७२ में ९५० करोड़ डालर की दो किश्तें और भी आयेंगी।

१९६८ में विकासोन्मुख देशों को मदद—

सन् १९६८ मुद्रा कोष के लिये कार्यकलापों की दृष्टि से एक रिकार्ड वर्ष

था। इस वर्ष विकासोन्मुख देशो ने कोष के प्रसाधनो का पहले की अपेक्षा कुछ अधिक मात्रा म कोष के साधनों का लाभ उठाया। विगत १० वर्षों मे इन देशो के कोटे जिस अनुपात मे बढे, उस अनुपात मे इनके (सामूहिक रूप में) कुल आहरण नही बढ़े। अफ्रीका, एशिया, लेटिन अमेरिका और मध्य पूर्व मे ८७ सदस्य देशो के शुद्ध आहरण १९६७ मे १६७० मि० डालर से बढकर १९६८ मे १७४६ मि० डालर हो गये अर्थात् आहरण मे ७९ मि० डालर की वृद्धि हुई जबकि समस्त १११ सदस्यों के शुद्ध आहरण ६०० मि० डालर से बढ़े अर्थात् ८,४८४ मि० डालर से बढकर ५,०८६ मि० डालर हो गये।

मुद्रा कोषो द्वारा प्रकाशित सूचना से पता चलता है कि १९५८ से विकासोन्मुख देशो के शुद्ध आहरण धीरे-धीरे बढ रहे है। यह १९५८ मे ६५० मि०, १९६० मे ७४२ मि०, १९६२ में १२०० मि०, १९६४ मे १२६२ मि० और १९६६ मे १४२६ मि० डालर थे। इस प्रकार १९५८-६८ की मध्यावधि मे विकासोन्मुख देशो के शुद्ध आहरण १ १ मि० डालर से बढ़े अर्थात् १७०% की वृद्धि हुई। दूसरी ओर, इसी अवधि मे उनके चन्दे २८०% बढ़े। इनके कोटे से शुद्ध आहरणो का अनुपात १९५८ मे ४४% था, जो १९६६ मे ३४ २, १९६७ मे ३८ ५ और १९६८ म ३४ ८% था।

कोष की 'निर्यात न्यूनता के प्रभावो को दूर करने हेतु क्षतिपूरक वित्त व्यवस्था' के अधीन विकासोन्मुख देशो ने १९६८ मे ६०·३५ मि० डालर लिये। जबकि १९६७ मे १९५ ८ मि० डालर लिये थे।

क्षेत्र क्रम से शुद्ध ऋणता १९६८ मे एशियाई और लेटिन अमेरिका के देशो के लिये कुछ घटी किन्तु अफ्रीकी देशो के लिये बढा —

(मि० डालर)

	१९६८ के अन्त में	१९६७ के अन्त मे
लेटिन अमेरिका के देश	५१७ ९	५२० ३
एशियाई देश	८९९ ४	९८४ ७
अफ्रीकी देश	३७८ १	३१७ २

कोष के साथ विकासोन्मुख देशो के ऋण बचत अनुबन्ध १९६८ के अन्त मे ७४० ५ मि० डालर के हुये (जिसमे से ३३९ ३ मि० डालर उपयुक्त रहे) जबकि १९६७ के अन्त मे ५४२ ८ डालर के थे, जिसमे मे ३७६ ८ मि० डालर उपलब्ध थे।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

सदस्य बनने का निर्णय ऐतिहासिक—

भारत उन देशो मे से है जिन्होंने सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की शर्तों पर हस्ताक्षर किए थे। सन् १९४४ मे हुए ब्रिटेन वुड्स सम्मेलन मे भारत ने भी भाग लिया था। अक्टूबर १९४६ मे भारत इस कोष का सदस्य बना। उसके सदस्य बनने

से पूर्व यह प्रश्न अत्यन्त विवाद-ग्रस्त रहा कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बनना भारत के हित मे होगा ? अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य बनने के विरोध में निम्नलिखित तर्क दिये गये —

(१) भारत को भविष्य मे व्यापार सन्तुलन की किसी कठिन परिस्थिति का सामना नही करना पडेगा, अत उसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बनना आवश्यक नही है। (विरोधियों का यह तर्क इस बात पर आधारित था कि उस समय देश ने लगातार कई वर्षों तक अनुकूल व्यापार की स्थिति का ही सामना किया था, जिसके फलस्वरूप हमारे पास पर्याप्त मात्रा में स्टर्लिंग पावने एकत्र हो गए।)

(२) इसके प्रमुख सदस्य मुख्यत कुछ सैनिक गुटो के सदस्य थे। अत इस कोष से सहायता केवल उन्ही देशो को मिलेगी जो इन सैनिक गुटो के सदस्य होगे।

(३) कि जब तक ब्रिटेन अपना स्टर्लिंग पावना नही चुका देता, भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य नही बनना चाहिए। (यह तर्क ठीक नहीं था, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष केवल ब्रिटेन के द्वारा बनाई गई संस्था नही थी।)

(४) मुद्रा कोष केवल सम्पन्न देशो का ही सहायता देगा। तत्कालीन परिस्थिति को ध्यान मे रखते हुए यह कथन अनुचित प्रतीत नही होता क्योंकि तब विश्व के अधिकतर अविकसित देश परतन्त्र थे और यूरोप के तथा अन्य कुछ सम्पन्न देश ही इस कोष का सदस्य बनने को तत्पर थे। (परन्तु आज स्थिति सर्वथा विपरीत है। अब तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अधिकतर सदस्य अविकसित और हाल मे स्वतन्त्रता-प्राप्त देश है।)

विरोधो के बावजूद भी अपने दीर्घकालीन हितो को देखते हुए भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बनने का निर्णय किया।

स्टर्लिङ्ग की दासता से मुक्ति—

सदस्य बनने के कुछ समय ही पश्चात् १८ दिसम्बर १९४६ को भारत ने अपने रुपये की विनिमय दर निश्चित की और १८ दिसम्बर १९४६ से १ रुपया = ०·२६८६०१ ग्रेन सोना माना जाने लगा। स्वर्ण म रुपये का यह मूल्य तय किये जाने के बाद स १ रुपया = १ शिलिंग ६ पैंस हुआ, क्योंकि ब्रिटेन ने १ पौण्ड = ३ ५८१३४ ग्रेन स्वर्ण घोषित किया था। भारत का मुद्रामान अब स्टर्लिंग विनिमय मान नही रह गया अपितु स्वर्ण समता मान हो गया। कोष का सदस्य बन जाने के कारण रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारायें ४० और ४१ समाप्त कर दी गई। इनके अनुसार बैंक के लिये यह अनिवार्य था कि वह रुपये को स्टर्लिंग को रुपा मे बदलेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होने का तात्पर्य यह होता है कि देश समस्त अर्जित विदेशी विनिमय अपने ही पास रखे और आवश्यकतानुसार व्यय करे। इस तरह भारत के लिये स्टर्लिंग क्षेत्र की सदस्यता त्यागना आवश्यक था। परन्तु भारत मे विदेशी मुद्रा बाजार न तो उस समय ही इतना विकसित था और न आज है कि

हम अपने देश में ही आवश्यकतानुसार हर देश की मुद्रा प्राप्त कर सकें। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के बाद स्टर्लिंग क्षेत्र जैसे मुद्रा क्षेत्र का बना रहना और मुद्रा कोष के सदस्यों का इस क्षेत्र का भी सदस्य होना परस्पर विरोधी बातें हैं, तथापि विश्व की आर्थिक परिस्थितियों को देखते हुए इस क्षेत्र का कोष द्वारा विरोध नहीं किया गया है। केवल स्टर्लिंग क्षेत्र ही नहीं अपितु पिछले कुछ वर्षों में अनेक मुद्रा संघों का उदय हुआ है। इन मुद्रा बाजारों एवं संघों को विश्व मुद्रा कोष ने यदि प्रत्यक्षत नहीं तो विरोध न कर ही विश्व के आर्थिक विकास का स्वाभाविक अंग मान लिया है।

विनिमय नियन्त्रण के लिए समुचित छूट—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य होने के नाते भारत के लिये यह भी आवश्यक था कि वह विदेशी विनिमय का लेन-देन पर से नियन्त्रण हटा ले। इसका तात्पर्य यह है कि देश के तथा विदेश के लोगों को यह अधिकार प्राप्त हो जाए कि वे बिना किसी बाधा अथवा निषेध के विदेशी तथा भारतीय मुद्रा का क्रय विक्रय कर सकें। परन्तु इस प्रकार का नियन्त्रण तुरन्त हटाना न तो उस समय सम्भव था और न ही अनिवार्य। स्वयं मुद्रा कोष ने इस बात को मान लिया था कि जिन देशों में विदेशी विनिमय नियन्त्रण है वे धीरे-धीरे अनुकूल परिस्थितियों के अनुसार विनिमय नियन्त्रण को शिथिल करेंगे और अन्त में बिल्कुल समाप्त कर देंगे।

विश्व बैंक की सदस्यता का लाभ—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होने के कारण ही भारत विश्व बैङ्क का सदस्य बन सका है। इस देश की आर्थिक उन्नति के लिये विश्व बैंक ग्रुप ने जो सहायता की है उससे सभी अच्छी तरह से परिचित हैं। विश्व बैंक ने भारत को न केवल स्वयं दीर्घकालीन आर्थिक सहायता प्रदान की है अपितु अन्य देशों को इसके लिये उत्साहित किया है।

सोवियत संघ तथा अन्य पूर्वी यूरोप के देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बनने से इन्कार कर दिया जिसके फलस्वरूप भारत सबसे अधिक चन्दा देने वाले ५ देशों में गिना गया और इस प्रकार कोष की सचालक मण्डली का स्थायी सदस्य बन गया। भारत को मुद्रा कोष से प्राप्त सहायता का विवरण इस प्रकार है —

(१) १९४७-४८ में अर्थात् मुद्रा कोष के कार्य आरम्भ करने के दूसरे वर्ष से ही भारत ने इस कोष से २८० लाख डालर के बराबर विदेशी विनिमय ऋण स्वरूप प्राप्त किया। इतना अधिक ऋण लेने का यह तात्पर्य हुआ कि मुद्रा कोष में भारतीय मुद्रा की पूर्ति अपने कोटा के २५ प्रतिशत से भी अधिक होगई, जिस कारण भारत को अधिक ब्याज दर कोष को देनी पड़ी।

(२) १९४९ में भारत ने भी अन्य अनेक देशों की भाँति स्टर्लिंग के साथ अपने सिक्के का अवमूल्यन किया। इस अवमूल्यन के लिए भारत को मुद्रा कोष से अनुमति भी मिल गई क्योंकि 'भारत तथा अन्य देशों के मौद्रिक तथा व्यापारिक

सम्बन्ध ब्रिटेन से इतने अधिक घनिष्ठ हैं कि इनकी मुद्राओ का स्टर्लिंग के साथ अवमूल्यन करना आवश्यक था।"

(३) १९४८-४९ तक भारत ने कोष से ७१९ लाख डालर की सहायता प्राप्त की और १९४९-५० में यह राशि १० करोड डालर हो गई। १९५३ में भारत के व्यापार सतुलन में सुधार हुआ और इस सुधार से भारत ने मुद्रा कोष से ३६० लाख डालर के बराबर अपनी मुद्रा का पुन क्रय कर लिया।

(४) प्रथम पचवर्षीय योजना एक छोटी-सी योजना थी और इसके अतिरिक्त योजना के आरम्भ मे स्टर्लिंग पावने के रूप म देश के पास विदेशी विनिमय का पर्याप्त सचित कोष था। इन दो कारणो से भारत के प्रथम पचवर्षीय योजना म मुद्रा कोष से विशेष सहायता नही लेनी पडी। किन्तु द्वितीय पचवर्षीय योजना काल के १९५७ म जब भारत कई वर्षो तक लगातार विदेशी व्यापार मे भारी असन्तुलन की स्थिति का सामना कर चुका था, मुद्रा कोष से भारत को १२ ७ करोड डालर के बराबर विदेशी सहायता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त कोष ने भारत को ७ २ करोड डालर के कोष मे से कभी भी मुद्रा निकालने की अनुमति दी। तृतीय पंच-वर्षीय योजना के प्रथम वर्ष में ही भारत ने मुद्रा कोष से १२ ६ करोड डालर के बराबर सहायता प्राप्त की। १९६२ मे पुन भारत ने २ ९ करोड डालर के बराबर सहायता प्राप्त की। १९६३ मे इस ऋण मे से, भारत ने अपने विदेशी भुगतान की स्थिति मे सुधार के कारण मुद्रा कोष को २०० करोड डालर अदा कर दिये। १९६४ म देश की भुगतान स्थिति अधिक बिगडी, जिसका कारण यह था कि इस वर्ष भारतवर्ष को पहले के लिए विदेशी ऋणो को अदा करना पडा। इस तरह देश के समक्ष विदेशी-विनिमय सङ्कट पुन आ पडा। देश को बार-बार विदेशी-विनिमय के सकट का सामना करने का एक कारण, जिसे मुद्रा कोष ने भी स्वीकार किया है, यह है कि भारत को दूसरे विकासशील देशो के अनुपात मे बहुत कम विदेशी सहायता प्राप्त होती है। योजना के अन्तिम वर्ष मे पाकिस्तान से युद्ध, सूखा तथा विदेशी सहायता एकाएक बन्द हो जाने के कारण भारत को मुद्रा कोष से पुन १८ ७ करोड डालर के बराबर सहायता प्राप्त हुई।

(५) भारत ने अपनी व्यापार तथा भुगतान सन्तुलन की स्थिति मे पूर्णरूपण छुटकारा पाने के लिए जून १९६६ में अपने सिक्के का अवमूल्यन किया। इस अव-मूल्यन को मुद्रा कोष ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे दीर्घकालीन परिवर्तन की सज्ञा दी।

(६) मुद्रा कोष से जितने भी अविकसित देशो ने आज तक सहायता प्राप्त की है, भारत ने उनमे से सबसे अधिक राशि (३१ मार्च १९६९ तक ८१७ ५० करोड रु०) सहायता के रूप म प्राप्त की है। (इसमे से ५३८.५० करोड रु० लौटा भी दिए गए हैं। जब-जब भारत ने विदेशी विनिमय के सङ्कट का सामना किया है, इस मुद्रा-कोष से पर्याप्त सहायता मिली है।

(७) आर्थिक नीति निर्धारण में भी मुद्रा कोष ने हमारा-पक्ष प्रदर्शन किया है। सन् १९५२ में मुद्रा कोष ने भारत के आग्रह पर एक आर्थिक मिशन भारत भेजा था जिसने देश की आर्थिक उन्नति के मूल मन्त्र के रूप में यह सुझाव दिया कि देश की आर्थिक उन्नति आन्तरिक मूल्य की स्थिरता के साथ होनी चाहिए। प्रथम पंच-वर्षीय योजना को मुद्रा कोष ने अच्छा प्रमाण पत्र दिया था और स्वीकार किया था कि देश की आर्थिक उन्नति मूल्य स्थिरता के साथ-साथ हुई है। दूसरी तथा तीसरी पंचवर्षीय योजना के बारे में मुद्रा कोष ने खुले आम कोई मत व्यक्त नहीं किया, परन्तु कोष के विभिन्न प्रकाशनों तथा कोष के मैनेजिंग डायरेक्टर (श्री स्वाइजर) द्वारा अक्टूबर १९६४ में इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन में दिये गये भाषण से यह प्रतीत होता है कि मुद्राकोष भारत की आर्थिक प्रगति से सन्तुष्ट होते हुए भी देश की मूल्य-व्यवस्था से पूर्णरूप से सन्तुष्ट नहीं है।

संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, पश्चिम जर्मनी तथा फ्रांस को उनके कोटे के अनुसार सामूहिक रूप में इतने मत देने का अधिकार है कि वे कोष के हर महत्वपूर्ण कार्य के निर्णय में अपना बहुमत प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार भारत प्रथम ५ सबसे अधिक कोटा वाले देशों में होने हुए भी मुद्रा कोष की नीति पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं डाल सकता क्योंकि भारत न तो किसी गुट का सदस्य है और न ही किसी नये गुट में शामिल होकर ही बहुमत प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त मुद्रा कोष का मुख्य कार्यालय संयुक्त राज्य अमेरिका में होने के कारण मुद्रा कोष के अधीनस्थ कर्मचारी अधिकतर अमेरिकन हैं। कोष के उच्च पदस्थ कर्मचारियों में से केवल एक भारतीय है।

परीक्षा प्रश्न :

१. सदस्यों में नियमित विनिमय ठहरावों और विनिमय स्थायित्व को प्रोत्साहन देने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने क्या व्यवस्था की है? क्या इसे अधिक प्रभावपूर्ण बनाने हेतु कोई सुधार अपेक्षित हैं?

[Discuss the mechanism adopted by the International Monetary Fund for promoting exchange stability and orderly exchange agreements among members Are any changes envisaged to make it more effective?]

(इलाहा० एम० कॉम० १९६१)

२ कैसे और किस सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्यों को स्वर्णमान के लाभ उपलब्ध कराता है?

[How and to what extent does the I M F function to secure for its members the advantages of the Gold Standard?]

३ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सफलताओ का मूल्याकन करिये और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म इसकी भूमिका को अधिक उपयोगी बनाने के लिय सुझाव दीजिये।

[*Assess* the achievements of the International Monetary Fund and suggest measures to make it more contributive to international trade] (इलाहा० एम० कॉम० १९६७)

४ अ० मु० कोष के प्रमुख उद्देश्य क्या है ? यह सदस्य देशो की क्या सहायता करता है ?

[What are the main objectives of the I M F ? How does the Fund assist the member countries ?]

(विक्रम एम० ए०, १९६९)

५. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यो को बताइये। इसने दुर्लभ करेंसियों की और विनिमय-स्थायित्व की समस्या का निवारण किस तरह किया है ?

[State the purposes of the International Monetary Fund How has it dealt with the problem of scarce currencies and with that of exchange stability ?]

६ चालू व्यवहारो के सम्बन्ध मे भुगतानो की एक बहुमुखी व्यवस्था के स्थापित करने तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी प्रतिबन्धो को हटवाने मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष किस सीमा तक सहायक हुआ है ?

[How far has the IMF helped the establishment of a multilateral system of payments in respect of current transactions and the elimination of foreign exchange restrictions ?]

७ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अन्तराष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के क्षेत्र म जो भूमिका निभाई है उसका विवेचन कीजिय।

[Discuss the role of I M F in the field of International Monetary Cooperation] (विक्रम, एम० ए० १९६६)

८ अ० मु० कोष की सदस्यता से भारत को क्या लाभ हुये है ?

[Assess the beneficial effects enjoyed by India in her membership of the I. M F. in her foreign trade and economic development] (इलाहा० ए० कॉम०, १९६६)

४७

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक

(The International Bank for Reconstruction & Development)

परिचय —

द्वितीय महायुद्ध ने न केवल बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था को विस्थापित कर दिया वरन् जन-धन दोनों को बहुत क्षति पहुँचाई। इस प्रकार, युद्ध जर्जरित अर्थ व्यवस्थाओं के तात्कालिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता थी। यह भी अनुभव किया गया कि पश्चिम और पूर्व के आय व जीवन-यापन स्तरों में बहुत अधिक अन्तर है, जो कि कभी भी महान् अशान्ति को जन्म दे सकता है। यदि इस अन्तर को दूर (या कम) नहीं किया गया, तो सम्पूर्ण विश्व पुनः एक नये युद्ध की लपेट में आ जायगा तथा विश्व शान्ति की बुनियादें हिल जायेंगी। इस प्रकार, युद्ध की समाप्ति के बाद अल्प विकसित देशों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने की गम्भीर समस्या सामने थी। फलतः ब्रेटन वुड्स सम्मेलन के निर्णयों के आधार पर ही, अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा कोष के अतिरिक्त, एक 'अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक' भी स्थापित हुआ।

विश्व-बैंक के कर्त्तव्य या उद्देश्य
(Functions or Objectives)

जैसा कि विश्व बैंक के पार्षद अन्तर्नियमों (Articles of Association) में बताया गया है, बैंक के कर्त्तव्य या उद्देश्य निम्नलिखित हैं — (i) सदस्य देशों की अर्थ व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण एवं विकास में सहायता करना। इस हेतु विश्व बैंक उत्पादक उद्देश्यों के लिए पूँजी के विनियोग को सुविधाजनक बनायेगा। (ii) विदेशी प्राइवेट विनियोगों को प्रोत्साहित करना। इस हेतु बैंक प्राइवेट विनियोजकों द्वारा दिये गये ऋण व विनियोगों की गारन्टी देगा या इनमें भाग लेगा। (iii) जब उचित शर्तों पर प्राइवेट पूँजी उपलब्ध नहीं है, तो अपने स्वयं कोष से या उधार लिये गये कोष से उत्पादक कार्यों के लिये ऋण देना। (iv) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दीर्घ सूत्रीय विकास में और भुगतान सन्तुलन की साम्यता बनाये रखने में सहायता करना। इस हेतु वह सदस्यों के उत्पादक प्रसाधनों का विकास करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विनि-

योजन को प्रोत्साहन प्रदान करेगा। (v) अपने कार्यकलापों द्वारा युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था को शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था में बदलना।

विश्व बैंक का संगठन

(I) विश्व बैंक की सदस्यता—

विश्व बैंक की सदस्यता प्राप्त करने के लिए पहले मुद्रा कोष की सदस्यता प्राप्त करनी आवश्यक होती है। ३१ अक्टूबर सन् १९४५ तक मुद्रा कोष की सदस्यता प्राप्त कर लेने वाले देश विश्व बैंक के भी आरम्भिक सदस्य मान लिये गये हैं। कोई भी देश लिखित आदेश द्वारा सदस्यता त्याग सकता है परन्तु यह आवश्यक है कि सदस्यता त्यागने से पहले वह देश बैंक से लिए हुए समस्त ऋण का भुगतान कर दे। यदि कोई देश मुद्रा कोष की सदस्यता त्याग देता है, तो विश्व बैंक में भी उसकी सदस्यता स्वयं ही समाप्त हो जाती है। ३१ मार्च १९६९ को बैंक के सदस्यों की संख्या ११० थी।

(II) विश्व बैंक की पूँजी तथा सदस्य के चन्दे—

स्थापना के समय कोष की अधिकृत पूँजी १ ००० करोड डालर निश्चित की गई थी जिसे १-१ लाख डालर के १ लाख अंशों में विभाजित किया गया था। २२ दिसम्बर सन् १९५८ में बैंक की अधिकृत पूँजी को पूरा करना स्वीकृत हुआ। फलतः १५ सितम्बर सन् १९५९ से सब देशों की पूँजी बढ़ गई। लगभग सभी देशों के चन्दे दुगुने कर दिये गये किन्तु कुछ देशों के चन्दे दुगुने से भी अधिक हुए। राष्ट्रवादी चीन (तैवान) ही एक ऐसा देश था जिसने अपने चन्दे में केवल २५% वृद्धि ही स्वीकार की। निम्नलिखित तालिका से कुछ प्रमुख देशों के, १५ सितम्बर सन् १९५९ से पूर्व तथा बाद के, चन्दे दिखाये गये हैं —

विश्व बैंक के चन्दे

(करोड डालर में)

देश	१५ सितम्बर सन् १९५८ से पूर्व का चन्दा	पूँजी वृद्धि के बाद चन्दे
संयुक्त राज्य अमेरिका	३१७ ५	६३५ ०
ब्रिटेन	१३० ०	२६० ०
चीन (तैवान)	६० १	७५ ०
फ्रांस	५२ ५	१०५ ०
भारत	४० ०	८० ०
प० जर्मनी	३३ ०	१०५ ०
कनाडा	३२ ५	७५ ५
जापान	२५ ०	६६ ६

बैंक की पूँजी में वृद्धि का कारण यह था कि ऋणों की माँग तेजी से बढ़ती

जा रही थी जिसे पूरा करने हेतु बैंक को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में ऋण लेने पड़ रहे थे। बैंक की कुल अधिकृत पूँजी में से केवल २०% पूँजी ही दत्त थी और शेष को सदस्यों से असाधारण परिस्थितियों में ही माँगा जा सकता था। इसमें से भी २२% स्वर्ण-भाग निकाल दें तो ऋण देने योग्य प्रसाधन २२० करोड़ डालर थे जबकि बैंक सन १९५९ तक ४५० करोड़ डालर के ऋण दे चुका था। ऐसी स्थिति में पूँजी बढ़ाना कम से कम मुद्रा-बाजार में ऋणदाताओं में विश्वास बढ़ाने हेतु आवश्यक था। ३० जून सन् १९६६ को बैंक की प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital) २२४८·६ करोड़ डालर थी, जिसमें से केवल २२४·३ करोड़ डालर दत्त पूँजी थी और शेष को सुरक्षित रखा गया था। बैंक की प्रार्थित पूँजी १९६७ वर्ष में बढ़ कर २२८५ करोड़ डालर और १९६८ में २२९४·२ करोड़ डालर हो गई। १९६९ में यह २३०३·७ करोड़ डालर है।

प्रत्येक देश के चन्दे को निम्न दो भागों में बाँटा गया है —(अ) २०% चन्दा माँगने पर तुरन्त ही देना पड़ता है और (ब) शेष ८०% उस समय देना पड़ता है जबकि आवश्यकता पड़ने पर बैंक माँगे। अन्यांश का २% स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में लिया जाता है और शेष १८% सदस्य देश अपनी मुद्रा में दे सकता है। जब और अधिक चन्दे की माँग की जाती है, तो सदस्य देश को यह अधिकार होता है कि वह उसे स्वर्ण, डालर अथवा बैंक द्वारा आदेशित किसी अन्य मुद्रा में चुका दे। समय समय पर बैंक ऐसी मुद्रा की घोषणा करती रहती है।

(III) बैंक का कार्यक्षेत्र—

(१) बैंक को व्यक्तियों और व्यक्तिगत संस्थाओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवसाय का अधिकार नहीं है। वह केवल सदस्य-देश की सरकार द्वारा ही व्यवसाय कर सकता है।

(२) मुद्रा-कोष की भाँति विश्व बैंक में सदस्यों को प्राप्त होने वाले ऋणों की मात्रा उनके चन्दों पर निर्भर नहीं होती है चन्दे तो केवल उत्तरदायित्वों तथा शासन शक्तियों की सीमायें निश्चित करते हैं।

(३) बैंक का उद्देश्य यह भी नहीं है कि व्यक्तिगत विदेशी ऋण के स्थान पर अपनी ओर से ऋण दे। इसके विपरीत, वह व्यक्तिगत ऋणों का प्रोत्साहन देती है। वह अपने पास से तो केवल उसी दशा में ऋण देती है जबकि व्यक्तिगत विदेशी ऋण उपलब्ध नहीं होते हैं।

(४) बैंक अपने ऋण पर ब्याज तो लेती ही है परन्तु जिन व्यक्तिगत ऋणों की गारन्टी ली जाती है उन पर भी जोखिम उठाने का कमीशन लिया जाता है। बैंक द्वारा अपने ऋण लिए हुए कोषों में से उधार देने पर ब्याज दर उस दर से जो कि वह स्वयं चुका रहा है, १% अधिक होती है। अब तक ब्याज दर ४.५ से ६% के मध्य रही है और गारन्टी ऋणों पर बैंक १ से १.५% तक कमीशन लेता है। १९६८ से विश्व बैंक ने ब्याज दर में ½% की वृद्धि कर दी है।

(५) गारन्टी लेने से पहले बैंक यह देख लेता है कि ऋण लेने वाले की माँग कहाँ तक वास्तविक है और देने वाले की शर्तें कहाँ तक उचित अथवा न्यायपूर्ण हैं। ऋणों की गारन्टी अथवा उसके प्रदान करने के सम्बन्ध में बैंक की शर्तें निम्न प्रकार होती हैं —(i) प्रार्थी देश को अन्य स्रोतों से उचित शर्तों पर ऋण मिलने की सम्भावना नहीं है। (ii) यदि वह देश जिसकी सीमा में ऋण का उपयोग होना है, स्वयं ऋण नहीं लेता तो सदस्य देश अथवा उसकी केन्द्रीय बैंक को ऋण के मूलधन, ब्याज तथा अन्य खर्चों के चुकाने की गारन्टी देनी पड़ती है। (iii) बैंक द्वारा नियुक्त की हुई ऋण समिति ऋण देने के प्रस्ताव का समर्थन करे। (iv) मूलधन एवं ब्याज चुकाने की रीति भी उपयुक्त होनी आवश्यक है। (v) गारन्टी देते समय बैंक ऋण लेने वाले ऋण देने वाले तथा समस्त सदस्यों के हित को देखती है। (vi) बैंक द्वारा दिये गये अथवा गारन्टी किये गये ऋण कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर केवल पुनर्निर्माण अथवा विकास योजना पर ही व्यय किये जा सकते हैं।

(६) **विश्व बैंक बहुदेशीय निवासी तथा व्यापार के आधार पर कार्य** करती है। प्राप्त ऋणों के द्वारा किसी भी देश से माल खरीदा जा सकता है। अतः प्रत्येक सदस्य को अनुकूलतम बाजार से माल खरीदने का अवसर मिलता है। जब तक ऋण का उपयोग बैंक के उद्देश्यों के विरुद्ध नहीं किया जाता है, तब तक सदस्य द्वारा ऋण के व्यय पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है।

(७) विश्व बैंक **ऋण के प्रयोग से सम्बन्धित योजना के कार्य पर ध्यान** रखती है और समय समय पर ऋणी देश को प्रगति का विवरण बैंक को प्रस्तुत करना पड़ता है। बैंक भी समय-समय पर विशेषज्ञों द्वारा जाँच कराती रहती है।

(८) बैंक प्रायः सदस्य देश की योजना के सम्पूर्ण व्यय का उतना ही भाग ऋण स्वरूप देता है जो कि विदेशों से माल खरीदने में खर्च हो। किन्तु यह भाग भी कुल व्यय के ५०% से अधिक नहीं होना चाहिए। ज्यों-ज्यों कार्य पूर्ण होता जाता है बैंक किस्तों में ऋण देता जाता है।

(IV) विधान और प्रबन्ध –

बैंक के प्रबन्ध के लिए एक गवर्नर मण्डल, एक कार्यकारिणी समिति, एक अध्यक्ष तथा अन्य कर्मचारी होते हैं।

बैंक का सचालन अधिकार गवर्नर मण्डल (Board of Governors) के हाथ में होता है। प्रत्येक सदस्य देश का एक गवर्नर (जो परम्परानुसार उनका वित्त मन्त्री हुआ करता है) और एक स्थानापन्न गवर्नर होता है। गवर्नरों की कार्यावधि ५ वर्ष है किन्तु बीच में सदस्य देश किसी अन्य व्यक्ति को भी अपनी ओर से गवर्नर नियुक्त कर सकता है। स्थानापन्न गवर्नर को गवर्नर की अनुपस्थिति में ही वोट देने का अधिकार होता है। गवर्नर मण्डल अपने में से एक को अध्यक्ष चुन लेता है। यह मण्डल बैंक की साधारण सभा (General Council) का कार्य करता है। इसकी बैठक में नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं। गवर्नरों को वेतन नहीं मिलता। हाँ, यात्रा

मत्त मिलते हैं। प्रत्येक गवर्नर को २५० मत और १ लाख डालर चन्दे के पीछे एक और मत देने का अधिकार होता है।

दिन प्रतिदिन का कार्य प्रशासनिक सचालक समिति या कार्यकारिणी समिति (Board of Executive Directors) करती है, जिसमें १२ सदस्य होते हैं (आज कल बैंक के २० प्रशासनिक सचालक हैं।) ५ सदस्य पाँच बड़े-बड़े अभ्यश वाले देशों द्वारा नियुक्त किए जाते हैं और शेष ७, मुद्राकोष की भांति प्रतिनिधि निर्वाचन प्रणाली द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। यह समिति गवर्नर मण्डल से प्राप्त समस्त अधिकारों का प्रयोग करती है। कार्यकारिणी समिति एक अध्यक्ष की नियुक्ति करती है, जो न तो कार्यकारिणी का सदस्य हो सकता है और न गवर्नर मण्डल का। यह बैंक के दैनिक कार्य चलाने के लिए उत्तरदायी होता है।

गवर्नर समिति कम से कम सात सदस्यों की एक सलाहकार समिति का भी निर्वाचन करती है। इसमें विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ रखे जाते हैं। समिति की बैठक प्राय वर्ष में एक बार होती है। आवश्यकतानुसार अधिक बैठकें भी बुलाई जाती हैं। बैठक बुलाने का व्यय बैंक वहन करता है।

जब किसी ऋण का प्रार्थना पत्र प्राप्त होता है तो समुचित जाँच के लिये बैंक एक ऋण समिति (Loan Committee) नियुक्त करता है। इसमें विश्व बैंक के एक दो सदस्य, जो सम्बद्ध विषय के विशेषज्ञ हों रहते हैं तथा एक ऋण प्रार्थी देश के गवर्नर द्वारा नियुक्त विशेषज्ञ होता है। समिति की रिपोर्ट पर ही ऋण देने या न देने का निर्णय किया जाता है।

(V) आय का वितरण—

कोष का प्रबन्धक मण्डल यह निश्चित करता है कि बैंक की शुद्ध आय में से कौन-सा भाग सुरक्षित कोष में डाला जाये और कौन से भाग का सदस्यों के बीच वितरण किया जाय। कुल लाभ का २% उन सदस्यों में बाँट दिया जाता है जिनकी मुद्राओं का ऋण देने के लिए उपयोग किया गया है। शेष सभी देशों में उनके चन्दों के अनुपात में बाँट दिया जाता है। लाभ का भुगतान सदस्य देश की मुद्रा में किया जाता है, परन्तु जिस देश की मुद्रा बैंक के पास नहीं होती उसे सोने अथवा किसी अन्य मुद्रा में भुगतान किया जाता है।

विश्व बैंक के कार्यकलापों की प्रगति—

३० जून, १९६९ को विश्व बैंक ने अपने कार्यकारी जीवन के २३ वर्ष पूरे कर लिये हैं। १९६५-६६ में इसने अन्य सहयोगी संस्थाओं (IDA और IFC) के साथ मिलकर ११६० मि० डालर नये ऋण दिये। इसने अकेले १९६५, १९६६, १९६७, १९६८ और १९६९ के वर्षों में क्रमश १०२३, ८३९, ८७७, ८४७ और १०९९ मि० डालर के ऋण स्वीकार किये। किन्तु जैसा कि आगे के चार्ट से स्पष्ट है, पूरी राशि अभी वितरित नहीं की गई है।

१९४७ तक विश्व बैंक का कार्य पुनर्निर्माण से सम्बन्धित रहा। उसने ४ पुन-

निर्माण ऋण दिये, जिनकी कुल राशि ४६७ मि० डालर थी और ये फ्रान्स, नीदरलैंड डेनमार्क और लक्समबर्ग को दिये गये थे। १९४७ के बाद सभी ऋण विकास कार्यों के लिए ही दिये गये हैं। इनका अधिकांश भाग अल्प विकसित एवं अविकसित देशों को मिला और यह उचित भी था, क्योंकि इन देशों में केवल निर्मित माल आयात करने हेतु धनाभाव की समस्या नहीं थी वरन् उन्हें सामाजिक पूँजी का भी निर्माण करना था, जिसके लिए न तो उनके पास धन था, न अनुभव और न तकनीकी ज्ञान। अतः बैंक ने बिजली, यातायात, कृषि उद्योग तथा अन्य उपयोगी एवं आवश्यक कार्यों के लिये ऋण दिये। अधिकांश ऋण बिजली यातायात और उद्योग के विकास हेतु दिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि विश्व बैंक अर्थव्यवस्थाओं के पिछड़ेपन को दूर करके आधुनिक स्तर पर लाने का यत्न कर रहा है।

विश्व बैंक द्वारा दिये गये लगभग ७२% ऋण एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी व केन्द्रीय अमेरिका के पिछड़े हुए क्षेत्रों म दिया गया। एशिया में जापान के अतिरिक्त अन्य सब देश प्रत्येक क्षेत्र म अविकसित दशा म थे। राजनैतिक जागरण के बाद पिछड़े हुए देशों की आर्थिक विकास सम्बन्धी माँग बढ़ गई है।

१९५६ से पूर्व डालर की माँग ८२% से भी अधिक थी लेकिन अब मार्क, पौंड, स्टर्लिंग, स्विच फ्रैंक, फ्रैंच फ्रैंक कैनेडियन डालर और नीदरलैंड में गिल्डर का महत्त्व काफी बढ़ गया है। भारतीय मुद्रा म भी ऋण दिये गये। वर्ष के दौरान ३४६ मि० डालर के पुन भुगतान (repayments) हुये। ३० जून, १९६६ तक ऋणियों से कुल २,५६० मि० डालर लौटे। इस प्रकार बकाया ऋणों की रकम ६,२९९ मि० डालर थी।

१९६७ म ऋणियों ने १८८ मि० डालर की अदायगी दी और १९६८ और १९६९ मे क्रमश २३७ और २९८ मि० डालर की वापिसी हुई। बैंक की ग्रास और शुद्ध आय १९६९ मे क्रमश शिखर स्तर पर पहुँच गई, जो क्रमश ४१० मि० डालर और १७१ मि० डालर थी।

बैंक के कार्यकलापों का सूक्ष्म विवरण

(मि० डालर मे)

	१९६५	१९६६	१९६७	१९६८	१९६९
ऋण-सख्यायें	३८	३७	४७	४४	८४
ऋण-स्वीकृति	१०३३	८३९	८७७	८४७	१३९९
ऋण-वितरित	६०६	६६८	७९०	७७२	७६२
ऋण-अदायगी (बैंक)	१३७	१६६	१८८	२३७	२९८
कुल आय	२६७	२९२	३३१	३५६	४१०
शुद्ध आय	१३७	१४४	१७०	१६९	१७१
कुल कोष	८९५	९१४	१०२३	११६०	१२५४

अल्प-विकसित देशों की समस्याओं के प्रति अधिक झुकाव—

बैंक यह समझ गया है कि विकासोन्मुख देशो के साथ व्यवहार करते समय इनकी तीन विभिन्न समस्याओ पर ध्यान देना चाहिये —(i) चूँकि प्राथमिक उत्पादन (Primary products) मे उनकी आय कम और अस्थिर है, इसलिये इनकी अर्थ-व्यवस्था को विविधतामय (Diversified) बनाने की आवश्यकता है। (ii) उनके ऋण दायित्व पहले से ही अत्यधिक हैं तथा निर्यात-आय इनके भुगतान के लिए पर्याप्त नही है। (iii) इनकी वस्तुओं के मूल्य मे निरन्तर ह्रास हो रहा है, जिनसे भयकर मुद्रा प्रसार की आशकायें उत्पन्न हो गई हैं। इन समस्याओ द्वारा लगाई गई सीमाओ के भीतर विश्व बैंक के प्रेसीडेण्ट ने कार्यकलाप के निम्नलिखित तीन नये तरीके बताये हैं —

(१) **कृषि उत्पादन मे सहायता करना**—कृषि उत्पादन मे सहायता करना पहला नया तरीका है। कृषि, वन और मछली पालन इन व्यापक शीर्षकों के अधीन सिंचाई व बाढ नियन्त्रण पशु पालन, वनारोपण, फार्म यन्त्रीकरण, मछली व्यवसाय सम्मिलित है। अब विश्व बैंक एक अधिक व्यापक मोर्चे पर कार्यवाही करना चाहता है जिसमे भण्डार व विपणन, कृषि वित्त सस्थाओ और टेक्नीकल सहायता भी आ जायेगी। यह एक महान परिवर्तन (big change) है, क्योंकि इससे प्रत्यक्ष कृषि सहायता (direct farm finance) के युग का भी श्री गणेश होता है। इन दिशाओ मे उधार देना खर्चीला तो न होगा किन्तु कठिन होगा और साथ ही परिणाम भी देर से दृष्टिगोचर होंगे। इनमे अनिश्चितता भी होगी। अत कोई बडी आशायें न रखना ही ठीक होगा। किन्तु विशेष क्षेत्रो मे प्रयोगात्मक प्रयास तो किये ही जा सकते हैं। इस हेतु सयुक्त राष्ट्र का खाद्य एव कृषि सगठन (Food and Agricultural Organisation of the U. N or F A O) समुचित योजनायें बना चुका है।

(२) **नये उद्योगों तथा मेन्टीनेन्स आयातों के लिए वित्त की व्यवस्था**—यदि महँगी मशीनों व सयन्त्रो मे भारी प्रारम्भिक विनियोग करने के लिए विदेशी विनिमय या सहायता उपलब्ध हो जाय किन्तु कच्चे मालो तथा स्पेयर पुर्जों की नियमित आपूर्ति (supply) उपलब्ध न हो, तो यह विनियोग अवरुद्ध (blocked) हो जाता है तथा कोई विशेष लाभ नही दे पाता। अत यह आवश्यक है कि कच्चे माल आदि के आयातो के अर्थ प्रबन्धन की व्यवस्था भी की जाय, जिससे कि बुनियादी व आवश्यक उद्योग निरन्तर प्रगति करते रहे। हर्ष का विषय है कि इस तरह के ऋण I D. A द्वारा दिए जा सकते हैं।

(३) **स्कूलों के निर्माण के लिए साख देना**—टेक्नीकल शिक्षा की सुविधाओ के लिए उधार देना बहुत प्रचलित है और इस हेतु कई सयुक्त राष्ट्रीय सस्थायें विद्यमान हैं। किन्तु स्कूलो के निर्माण के लिए उधार देना कुछ नया है। शिक्षा क्षेत्र

मे I D A ने कई देशो को साख दी है। यूनेस्को भी बैंक को महत्त्वपूर्ण स्कीमे बनाने मे व इनके लिए साख की व्यवस्था करने मे सहायता दे रहा है।

विश्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन—

विश्व बैंक पर कई आरोप लगाये जाते है, जैसे—

(१) यह कहा जाता है कि उसका **कार्य विलम्बपूर्ण** होता है। यह विलम्ब ऋण लेने वाले देश के लिए बडा असुविधाजनक होता है।

(२) इसका कार्य (जैसे—अधिकारियो की नियुक्ति करना, ऋण देना) भी भेद-भाव से पूर्णतया विमुक्त नहीं है। किन्तु सच्चाई तो यह है कि अल्प विकसित देशो म प्रशिक्षित और अनुभवी अधिकारियों का अभाव है, जिससे विकसित देशा मे से ही अधिकारियो की नियुक्ति करना बैंक के लिए अनिवार्य सा है। जहा तक ऋणो का प्रश्न है अधिकाश ऋण एशिया, अफ्रीका और केन्द्रीय व दक्षिणी अमेरिका के देशों को ही दिये गये हैं जिससे पक्षपात का आरोप ठीक नही जँचता।

(३) बैंक ऋण देने से पूर्व **पुन भुगतान की क्षमता पर अधिक** बल देता है। यह आलोचना भी सही प्रतीत नही होती है। बैंक एक वित्तीय सस्था है। यदि वह पुन भुगतान क्षमता पर ध्यान न दे, तो पूँजी फँस सकती है और यदि ऐसा हुआ, तो भविष्य म बैंक की ऋण देने की क्षमता कम हो जायगी। हाँ, यह अवश्य है कि यदि सम्बद्ध देश की सरकार गारन्टी कर दे, तो फिर बैंक को ऋण देने म सकोच नही करना चाहिए। जहाँ तक बैंक द्वारा निरीक्षण का प्रश्न है, वह तो सस्था के लिए लाभदायक है ही। इसके अतिरिक्त अभी तक बैंक ने किसी देश मे, अनावश्यक या अनुचित रूप से, ऋण देने से इन्कार नही किया है।

(४) विश्व बैंक की **ब्याज की दर के सम्बन्ध में भी आक्षेप** किया गया है। निस्सन्देह ६¾% ब्याज की दर ससार भर म साधारण दर है, परन्तु कहा जाता है कि विश्व बैंक को अधिक उदार होना चाहिए था। क्योंकि अल्प विकसित देशों को ऊँची ब्याज-दर देने मे कठिनाई होती है। यदि बैंक ब्याज दर कम न भी कर सके, तो वह कमीशन लेना तो बन्द ही कर सकता है। अब ऋणो के सम्बन्ध मे कठोरता तथा ऊँची ब्याज की दरें ये दोनो ही शिकायतें अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ की स्थापना के कारण दूर हो गई हैं।

जहाँ तक भविष्य का सम्बन्ध है, इन दोनो सस्थाओ की उपयोगिता बडे प्रश तक राजनैतिक तथा आर्थिक शांति और स्थिरता पर निर्भर होगी। भारत को दोनो सस्थाओं से लाभ और सहायता प्राप्त हुई है। फिर भी विश्व बैंक का सही मूल्याकन करने के लिए हमें मिस्टर ब्लैक के इस कथन को नही भूलना चाहिए कि—"ससार के कम विकसित देशो के लिए विश्व बैंक एक अपूर्व सहारा है और इसका मूल्याकन केवल कुछ पत्थर के भवनो तथा सीमेन्ट की बिल्डिङ्ग के द्वारा नही किया जाना चाहिए। इसका लक्ष्य अधिक गहरा है। इसका कार्य ससार की धन राशि म वृद्धि

करके मानवता को प्रकाश और उष्मा प्रदान करना है और उन्हें थकान और उदासी से मुक्त करना है। बैंक का उद्देश्य ऐसी व्यवस्था और विचारधारा का निर्माण करना है जिससे प्रचुरता केवल स्वप्न अथवा कल्पना न रह कर एक ठोस सत्यता बन जाये।"

अभी हाल में विश्व बैंक के वित्तीय साधनों में जो विस्तार किया गया है उसके फलस्वरूप बैंक अध-विकसित देशों को अधिक सहायता दे सकेगा।

भारत और विश्व बैंक

भारत ने विश्व बैंक की प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली थी। उसे बैंक की सदस्यता से पर्याप्त सहायता मिली है। बैंक में भारत की प्रारम्भिक पूंजी ४० करोड़ डालर निर्धारित हुई थी और अधिकतम पूंजी वाले प्रथम ५ देशों में होने के कारण उसे विश्व बैंक में एक स्थाई प्रशासनिक संचालक नियुक्त करने का अधिकार मिला। बैंक से प्राप्त हुई सहायता का विवरण नीचे दिया गया है।

विश्व बैंक से ऋण—

३० जून, १९६६ तक विश्व बैंक ने भारत की सरकारी एवं गैर सरकारी क्षेत्रों की विभिन्न परियोजनाओं के लिये ७५५.४१ करोड़ रु० ऋण दिये। इस राशि में से ३१ मार्च १९६६ तक ६४१.७५ करोड़ रु० प्राप्त कर लिये गये हैं, से मिली ऋण राशि ९७२ मि० डालर थी। १९६७ में भारत को विश्व बैंक से सबसे अधिक मात्रा में ऋण मिला। संख्या और रकम की दृष्टि से विश्व में सबसे अधिक ऋण भारत को ही मिले है। इसके बाद जापान, मैक्सिको, इटली और कोलम्बिया का नम्बर है। बैंक ने भारत को जिन परियोजनाओं के लिये ऋण दिया है उनमें ये भी हैं — (१) रेलों के लिये आवश्यक सामग्री तथा पुर्जों का आयात, (२) खरपतवार वाली तथा जंगल भूमि को साफ करके कृषि योग्य बनाने के लिये आवश्यक कृषि मशीनों की खरीद, (३) दामोदर घाटी निगम की बिजली परियोजनायें, (४) एयर इण्डिया द्वारा विमानों की खरीद, (५) कलकत्ता तथा मद्रास बन्दरगाहों का विकास, (६) कोयना (महाराष्ट्र) की पन बिजली परियोजना, (७) टाटा आयरन एण्ड स्टील क० तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील क० के लिये कार्यक्रम, (८) बम्बई के निकट ट्राम्बे में तापीय बिजलीघर की स्थापना (९) राज्य बिजली मण्डलों तथा कुछ बिजली कम्पनियों द्वारा बिजली लाइनों के निर्माण के लिये सामग्री तथा उपकरणों का आयात, (१०) आन्ध्र प्रदेश में कोत्तगुडेम स्थित तापीय बिजलीघर का विस्तार (द्वितीय चरण) (११) गैर सरकारी क्षेत्र में कोयला उद्योग का विकास और (१२) भारत के औद्योगिक ऋण तथा विनियोग निगम को सहायता, जिससे वह गैर सरकारी कम्पनियों को ऋण दे सके।

भारत को जो ऋण प्राप्त हुये है उनके सम्बन्ध में निम्न आलोचनायें की गई हैं —(1) सामान्य उद्देश्यों के लिए ऋण नहीं—ये ऋण केवल निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये मिलते है, जबकि भारत सामान्य ऋण भी चाहता है, जिनका प्रयोग किसी भी कार्य के लिए किया जा सके। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लिए भारत ने

बैंक से निश्चित उद्देश्य ऋणों के स्थान में सामान्य ऋण देने की प्रार्थना की थी। (ii) ऊँची ब्याज—ब्याज की दर ऊँची है। भारत जैसे अविकसित और निर्धन राष्ट्र के लिए २ ५% से ६.७८% तक ब्याज-दर बहुत भारस्वरूप है, जिससे विवश होकर उन्हें सस्ती साख के अन्य स्रोत तलाशने पड़ते हैं। (iii) नगण्य ऋण—औद्योगिक एवं विकास योजनाओं की आवश्यकताओं को देखते हुए भारत को जो ऋण मिला है वह बहुत नगण्य है।

इधर एक-दो वर्षों में बैंक ने वित्तीय सहायता देने की शर्तों का कुछ उदार बना दिया है। अब वह अतिरिक्त ऋणों पर वार्षिक ब्याज ¾% के बजाय ⅜% लेता है। इससे ऋणी देशों पर प्रयोग में न आये ऋण का व्यय-भार कम हो गया है। चूँकि कृषि हमारी अर्थ-व्यवस्था का आधार है, इसलिए आर्थिक विकास की एक बुनियादी आवश्यकता यह है कि कृषि क्षेत्र में तेजी से उन्नति की जाय। किन्तु कृषि का विकास शिक्षित प्रबन्धकों और टेक्नीकल कर्मचारियों की उपलब्धता पर निर्भर है। तदनुसार, विश्व बैंक ने हमें कृषि और शिक्षा के क्षेत्र में अधिक मार्गदर्शन और प्रोत्साहन देने का निर्णय किया है। यही नहीं, अभी हाल में, विश्व बैंक ने कुछ निश्चित उद्देश्य ऋणों (Specific loans) को सामान्य ऋणों (Block loans) में बदल कर हमारे लिए बड़ी सुविधा कर दी है।

प्राविधिक सहायता, सलाह एवं प्रशिक्षण—

ऋण के अतिरिक्त कुछ अन्य रीतियों से भी विश्व बैंक भारत की सहायता करता रहता है जैसे—समय समय पर बैंक के तकनीकी विशेषज्ञ भारत में आते रहते हैं। उनके हमारी विकास योजनाओं के अध्ययन और उनकी लाभदायकता का अनुमान लगाने हेतु कई मिशन भेजे हैं। अब तक १५ से भी अधिक मिशन भारत आ चुके हैं। विशेष जाँच-पड़ताल के लिए बैंक के अधिकारीगण भी भारत आते रहते हैं। यहाँ तक कि १६५७-५८ से बैंक का एक स्थाई प्रतिनिधि भारत में रहता चला आ रहा है, जो कि योजनाओं, आर्थिक नीतियों में सलाह देता है। उसने १६५८-५६ में औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम को सलाह देने हेतु एक विशेषज्ञ को एक वर्ष तक के लिये भारत भेजा। बैंक ने पाकिस्तान से हमारे नहरी पानी विवाद को सुलझाने में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वह अपने 'आर्थिक विकास विद्यालय' में भारतीयों को प्रशिक्षण भी देता है। उसने भारत सहायता क्लब (Aid India Club) के द्वारा भारत को अतिरिक्त सहायता दिलाने में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

बैंक से हमारे देश को सहायता निरन्तर एक प्रवाह के रूप में मिलती रही है। वास्तविकता यह है कि विश्व बैंक हमारे लिए एक बड़ी उपयोगी संस्था सिद्ध हुई है। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता एक बड़े अंश तक विश्व बैंक की यथा समय पर्याप्त सहायता द्वारा ही सम्भव हो सकी है।

भारत सहायता क्लब (Aid India Club)—

योजनाकाल में भारत की विदेशी सहायता सम्बन्धी आवश्यकतायें बहुत

अधिक बढ़ जाने के कारण विशेष प्रयत्न आवश्यक हो गये हैं। वास्तव में योजनाओं में विकास गति बढ़ाने के लिए अधिक आयात आवश्यक हो गये हैं। सन् १९५८ में विश्व बैंक ने कनाडा, जर्मनी, जापान, ब्रिटेन और अमेरिका का वाशिंगटन में एक सम्मेलन बुलाया था, ताकि भारत को अधिक विदेशी सहायता उपलब्ध करने के लिए विचार किया जाय। मार्च सन् १९५९ में इन देशों के सम्मेलन ने भारत की स्थिति पर फिर विचार किया। अन्त में मई १९६१ में इन देशों का एक और सम्मेलन हुआ, जिसमें फ्रान्स ने भी भाग लिया। इस सम्मेलन ने भारत की तीसरी पंचवर्षीय योजना के लिए अतिरिक्त ऋण देने के करार किये। १० मित्र राष्ट्रों और विश्व बैंक ने जिन्हें 'भारत सहायता क्लब' का नाम दिया जाता है, अप्रेल-दिसम्बर १९६६ में ४३६.३४ करोड़ की सहायता मिली। ऐसी सहायता के कारण भारत की विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाई कुछ सीमा तक हल हो सकी।

भारत को विश्व बैंक परिवार की सहायता के चार पहलू (Aspects) —

भारत को विश्व बैंक और इससे सम्बद्ध संस्थाओं द्वारा जो सहायता दी जा रही है। उसके निम्नलिखित चार पहलू हैं, जिन पर ध्यान देना आवश्यक है —

(१) अधिक सहायता की आवश्यकता—इस समय भारत को जो सहायता उपलब्ध है उसमें कहीं अधिक मात्रा में सहायता की आवश्यकता है। निस्सन्देह ये संस्थायें भारत की सहायता देने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही हैं किन्तु इनके प्रसाधन हमारी आवश्यकताओं से कम पड़ गये हैं। यदि अधिक मात्रा में बाह्य सहायता (External assistance) उपलब्ध हो जाय, तो हम अपनी योजनाओं का आकार बढ़ा रख सकते हैं। किन्तु, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यदि इन संस्थाओं के प्रसाधन बढ़ा भी दिए जाएँ, तो इन संस्थाओं से मिलने वाली सहायता भारत की आवश्यकताओं के लिये अपर्याप्त रहेगी। कारण, जो अन्य देश अभी इन संस्थाओं से ऋण ले रहे हैं उनकी वित्तीय आवश्यकतायें भविष्य में बढ़ने वाली हैं, जिससे वे भी अधिक सहायता की माँग करेंगे। इसके अतिरिक्त, अफ्रीकी देश भी आज़ाद हो रहे हैं तथा उनके आर्थिक विकास के लिए साधनों की माँग भी इन्हीं संस्थाओं को पूरी करनी होगी।

(२) विकास कार्यक्रम में कृषि का महत्त्व—चूँकि कृषि हमारी अर्थ-व्यवस्था का आधार है इसलिए आर्थिक विकास की एक बुनियादी आवश्यकता यह है कि कृषि के क्षेत्र में शीघ्रता से प्रगति की जाय। हर्ष का विषय है कि विश्व बैंक ने भी इस बात को समझ लिया है पिछले दशाब्द के अनुभव से यह मालूम हुआ है *जब तक कृषि क्षेत्र पर अधिक ध्यान नहीं दिया जायेगा तब तक उत्तरोत्तर निरंतर* बढ़ती हुई जन-संख्या के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त न हो सकेगी। किन्तु कृषि का विकास शिक्षित प्रबन्धकों व टैक्नीकल कर्मचारियों की उपलब्धता पर निर्भर है। तदनुसार विश्व बैंक ने कृषि और शिक्षा के क्षेत्र में अधिक मार्गदर्शन व प्रोत्साहन देने का निर्णय किया है। इस दिशा में विश्व बैंक (IBRD), अन्तर्राष्ट्रीय विकास

परिषद् (I. D. A) और विश्व कृषि सङ्गठन (F. A O.) साथ मिलकर कार्य करेंगे।

(३) **'मुक्त' सहायता की** आवश्यकता—भारतीय योजनाओं को अधिक मात्रा में 'मुक्त सहायता' (Free assistance) की आवश्यकता है। 'बन्धे हुये' या 'सशर्त ऋणों' (Tied loans) की अपनी कुछ कठिनाइयाँ हैं। प्राइवेट विदेशी पूँजी का प्रवाह थोड़ा है और समाप्त होता जा रहा है तथा द्विपक्षीय सहायता (Bilateral assistance) पर राजनैतिक रंग चढ़ा होता है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् व अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम द्वारा स्वीकृत साख व विनियोग का अधिकांश भाग अवितरित रहता है, क्योंकि वह कुछ विशिष्ट योजनाओं से बँधा होता है। अतः यह आवश्यक है कि न केवल भारत अधिक विदेशी सहायता प्राप्त करे वरन् मुक्त रूप से प्राप्त करे। इससे उसके आर्थिक विकास को सामान्य आश्रय मिलेगा। इस दृष्टिकोण से यह प्रशंसनीय है कि पिछले वर्ष I D A ने भारत को एक नये ढंग से औद्योगिक साख प्रदान की थी, जो किसी विशिष्ट परियोजना से बद्ध न थी वरन् चुने हुए भारतीय पूँजीगत सामग्री उद्योगों में निर्माताओं की सहायता के लिए थे, जिससे कि पहले से ही विद्यमान क्षमता का प्रयोग कर सकें, क्योंकि अब वे आवश्यक पुर्जों व सामग्रियों का बड़ी तादाद में जो इस साख से पूर्व विदेशी विनिमय की दुर्लभता के कारण सम्भव नहीं हुआ था, आयात कर सकें।

(४) **वित्तीय सहायता की शर्तें**—अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद (IDA) के ऋण हमारी आवश्यकताओं व आर्थिक स्थिति के बिल्कुल अनुरूप है। अब तो विश्व बैंक परिवार से प्राप्त होने वाली सहायता की शर्तें और भी उदार बना दी गई है। विश्व बैंक एवं IDA न केवल महत्वपूर्ण परियोजनाओं को विदेशी विनिमय सम्बन्धी लागत वरन् स्थायी करेन्सी वाला लागत के सम्बन्ध में सहायता देने को तैयार है। अवितरित ऋणों (Undisbursed loans) पर वार्षिक व्यय (Annual commitment charge) $\frac{3}{4}\%$ से घटा कर $\frac{1}{2}\%$ कर दिया है। इससे ऋणी देशों पर प्रयोग में न आये ऋण का व्यय भार कम हो गया है। किन्तु न केवल ब्याज कम होना आवश्यक है वरन् ऋण की वापिसी के लिए दी गई अवधि भी अधिक लम्बी होनी चाहिए। हर्ष है कि विश्व बैंक ने इस दिशा में भी ध्यान दिया है। फिलीपाइन्स को अभी हाल में जो ऋण दिया गया है वह ३० वर्ष के लिए है। आशा है कि भारत के सन्दर्भ में भी विश्व बैंक यही नीति अपनायेगा।

बैल कमीशन की रिपोर्ट—

१९६७ में बैल मिशन ने भारत के लिये उपलब्ध सहायता का सर्वोत्तम लाभ उठाने के लिए आयोग ने जो अनेक सुझाव दिए हैं, उनमें कुछ इस प्रकार है —(१) विदेशी निजी उद्योगों के सहयोग से कृषि कार्यक्रम पर बल और खाद-उत्पादन कार्यक्रम का विस्तार। (२) औद्योगिक विनियोग और उत्पादन पर और अधिक रियायत तथा अनावश्यक नियन्त्रणों का उन्मूलन। (३) परिवार नियोजन के कार्यक्रमों पर

दृढ़ता से अमल। (४) नियन्त्रण हटाने और आयात में उदारता बरतने की नीति जारी रहे। (५) निर्यात बढ़ाने के लिए तुरन्त कदम उठाए जाएं। (६) वर्तमान उत्पादन सुविधाओं के अधिक प्रभावी उपयोग के कदम उठाए जाएं। (७) वर्तमान सुविधाओं की वास्तविक क्षमता को देखते हुए नई क्षमता कायम करने की योजनाओं और ऐसी क्षमता के विस्तार की सम्भावनाओं का स्थान। (८) आवश्यक क्षेत्रों में विदेशी निजी पूंजी आकर्षित करने के लिए और प्रयास किये जाएं। (९) अनुत्पादक सरकारी खर्च घटाने के लिए ठोस कदम उठाए जाएं।

बैल मिशन ने सुझाव दिया है कि चालू वित्तीय वर्ष के लिए सुझायी गई ७० से ८० करोड़ डालर की मदद खाद सहायता के रूप में दी जानी चाहिए, जिससे भारत १९६७ में लगभग १ करोड़ टन अनाज विदेशों से मगा सके। मिशन ने भारत सहायता क्लब से ९० करोड़ डालर की गैर-परियोजना मदद का समर्थन किया। मिशन के अनुसार १९६७-६८ में निर्यात के लिए धन जुटाने के लिए भारत के विदेशी मुद्रा के अर्जित साधनों के पूरक रूप में ऐसी सहायता की जरूरत होगी। मिशन ने कम से कम ६० करोड़ डालर की परियोजना सहायता का सुझाव दिया। मिशन के अनुसार उत्पादन की गति तेज करने और उसे ५ से ६ प्रतिशत प्रति वर्ष की दर पर बनाये रखने के लिए ऐसी मदद जरूरी होगी।

परीक्षा प्रश्न :

१ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक की स्थापना के क्या उद्देश्य हैं? वह सदस्य देशों को जो सहायता देता है उसके स्वभाव और उसकी सीमा का मूल्यांकन कीजिये।

२ विश्व बैंक अर्द्ध विकसित देशों के आर्थिक विकास में सहायता करने के लिये क्या काय कर रहा है ?—विवेचन कीजिये।

[Examine the role played by the I B R. D in assisting the economic growth of underdeveloped countries]

(आगरा, एम० ए० १९६७)

४८

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम

(International Finance Corporation)

परिचय—

विश्व बैंक ने पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, किन्तु इसके कार्यवाहन में निम्न दो कमियाँ अनुभव की गई —(i) वह सरकारी गारन्टी पर ही प्राइवेट उद्योगों को ऋण देता है, जो इनके लिए कोई उत्साहजनक बात न थी, क्योंकि प्रथमतः सरकारें प्राइवेट उपक्रमों की गारन्टी देना पसन्द नहीं करती हैं और, दूसरे गारन्टी के बहाने कहीं उद्योग में सरकार का हस्तक्षेप न बढ़ जाय इस डर से प्राइवेट उपक्रमी स्वयं भी सरकार की गारन्टी पर ऋण लेने में संकोच करते है। एवं (ii) चूँकि विश्व बैंक उद्योगों की अंश पूँजी में हिस्सा नहीं ले सकता, केवल निश्चित ब्याज वाले ऋण ही दे सकता है इसलिये वह ऋणी उद्योग में इतनी रुचि नहीं लेता जितनी कि अंशधारी लेते हैं। यही नहीं, ऋण के कारण संस्था पर ब्याज का भार भी बढ़ जाता है। इन कमियों को दूर करने के उद्देश्य से ही अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम और अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् स्थापित किये गये हैं।

वित्त निगम ने जुलाई १९५५ से कार्य आरम्भ किया। वह विश्व बैंक की एक सम्बन्ध संस्था के रूप में कार्य करता है तथा उसकी प्रबन्ध व्यवस्था विश्व बैंक के ही सदस्य है। विश्व बैंक का प्रेसीडेन्ट निगम का चेयरमैन होता है।

निगम के उद्देश्य

निगम का प्रधान उद्देश्य अर्ध-विकसित देशों में उत्पादक प्राइवेट उपक्रम को प्रोत्साहन देकर उनके आर्थिक विकास की गति को तेज करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह उत्पादक प्राइवेट उपक्रमों में प्राइवेट विनियोजकों के साथ मिलकर विनियोग करता है और पुनर्भुगतान के लिये सरकार की गारन्टी नहीं माँगता। वह वास्तव में 'देशी और विदेशी प्राइवेट पूँजी', 'अनुभवी प्रबन्ध' तथा 'विनियोग सुअवसर' इन तीनों में समन्वय स्थापित करता है।

निगम का सगठन एवं प्रबन्ध

एक स्वतन्त्र सस्था होते हुये भी निगम विश्व बैंक के सरक्षण मे कार्य करता है। इसका सदस्य होने के लिए विश्व बैंक की सदस्यता आवश्यक है। निगम की अधिकृत पूँजी ११ करोड डालर है, जो एक-एक हजार डालर के १,१०,००० अशो म विभाजित की गई है। ३० जून १९६७ को निगम की स्वीकृत पूँजी १० करोड डालर के लगभग थी, जिसमे प्रमुख देशो का भाग (लाख डालरो म) इस प्रकार था —

अमेरिका	३५१ ६८	जर्मनी	३६·५५
ब्रिटन	१६४	कनाडा	३६
फ्रास	५८ १५	नीदर लैण्ड्स	३०·४६
भारत	४४ ३१		

स्पष्टत ७ २७ करोड डालर की पूँजी (अर्थात् कुल की लगभग ६८%) इन सात देशो के पास थी।

निगम का कोष विश्व बैंक के कोषो से अलहदा रखा जाता है। वह बैंक से उधार लेनदेन नही कर सकता किन्तु शुल्क देकर विश्व बैंक के अधिकारियो की सेवा का प्रयोग कर सकता है। वह विश्व बैंक के द्वारा ही अन्य विश्व सस्थाओ से सम्पर्क स्थापित कर सकता है। उसका प्रधान कार्यालय विश्व बैंक के साथ ही होना अनिवार्य है। किन्तु वह अन्य कार्यालय कही भी सदस्य देशो मे स्थापित कर सकता ह। इस समय इसके कार्यालय न्यूयाक, लन्दन और पेरिस मे भी हैं।

वित्त निगम की सर्वोच्च प्रबन्ध-सत्ता गवर्नर मण्डल है। विश्व बैंक मे सदस्य देशा द्वारा मनोनीत गवर्नर ही निगम मे भी गवर्नर मण्डल के सदस्य होते हैं। यह मडल नीतिया निर्धारित करता है। विश्व बैंक का अध्यक्ष वित्त निगम का पदेन प्रधान होता है। कार्य सचालन की जिम्मेदारी सचालक मण्डल पर है जिसम विश्व बैंक के सचालक मण्डल के सदस्य ही, जो वित्त निगम के सदस्य हैं, सम्मिलित होते है। सचालक मण्डल विश्व बैंक की सहमति से एक अध्यक्ष नियुक्त करता है जा दैनिक कार्य सचालन के लिये दायी होता है। उसे मत देने का अधिकार नही होता। प्रत्येक सदस्य को २५०+प्रति अश एक मत देने का अधिकार होता है। प्राय समस्त निर्णय बहुमत द्वारा होते हैं।

३० जून १९६८ को निगम के सदस्यो की सख्या ८६ तक पहुँच गई।

निगम के कायकलापो का क्षेत्र—

(१) ऋण देना और अश पूँजी का क्रय करना—निगम की स्थापना के पूर्व विश्व बैंक की यह राय थी कि वित्त निगम का मुख्य कार्य औद्योगिक इकाइयो म अश-पूँजी खरीदना होना चाहिए, ऋण देना नही। बाद म, इसका चार्टर तैयार होते समय, कुछ लोगो ने यह मत प्रगट किया कि पूँजी विनियोजन मे बहुत कठिनाइयाँ हैं, जिससे आरम्भ मे वित्त निगम का कार्य ऋण देना ही रखा जाय। फलत-

निगम को अश विनियोजन का अधिकार नही मिला। किन्तु निगम ने दूरदर्शिता के विचार से, जिन उद्योगों को ऋण दिये उनमे किसी भी समय अश पूँजी खरीदने का अधिकार सुरक्षित रखा। यही नही बाँटे जाने वाले लाभ मे निगम का हिस्सा भी नियत किया गया।

कुछ वर्षो से कार्यचालन से ही निगम को अनुभव हो गया कि उसकी ऋण देने की विशेष प्रणाली जिसमे ऋणो को पूँजी म परिणित करने का अधिकार सुरक्षित रखा जाता था, ऋणी देशो के नियमो और विधानो के अनुकूल नही थी, जिससे बार-बार स्पष्टीकरण देने पडते थे और ऋण देने म विलम्ब हो जाता था। निगम को यह परेशानी भी होती थी कि उसे पहले मे ही ऐसी सस्थायें और व्यक्ति तलाश करने पडते थे, जो ऋण को पूँजी म बदलने की अवधि की समाप्ति पर उन अशो को खरीद ले, क्योकि निगम स्वय ही अशो को खरीदने का अधिकार नही रखता था।

इन कठिनाइयो को दृष्टिगत रखते हुए सन् १९६१ म निगम के नियमो म सशोधन किया गया जिससे उसके अशो म विनियोग करने पर से पाबन्दी हटा ली गई। आशा है कि अब निगम के अश पूँजी विनियोजन से अविकसित देश यथेष्ठ लाभ उठा सकेंगे।

(२) प्राइवेट उद्योगो में ही विनियोग करना—निगम सरकारी उपक्रमो मे या सरकार की प्रमुखता वाले उपक्रमो मे विनियोग नही कर सकता। वह प्राइवेट उपक्रमो म विनियोग करता है और इस हेतु सरकार की गारन्टी नही माँगता। यदि किसी उपक्रम का प्रबन्ध प्राइवेट हाथो मे है और सरकार की मामूली पूँजी लगी है, तो निगम को विनियोग करने म बाधा न होगी। वह नये उपक्रमो म कुल पूँजी का आधा भाग लगा सकता है बशर्ते शेष आधा भाग प्राइवेट विनियोक्ताओ ने लगा दिया हो। वह पुरानी सस्थाओ के विकास हेतु लगाई जाने वाली पूँजी मे ५०% से भी अधिक विनियोग कर सकता है किन्तु कुल निजी पूँजी (नई + पुरानी) निगम के विनियोजन से अधिक हो जानी चाहिए। वह केवल विदेशी पूँजी द्वारा स्थापित औद्योगिक इकाइयो म भी सहयोग दे सकता है किन्तु देशी और विदेशी पूँजी के सहयोग वाली इकाइयो को प्राथमिकता देता है। वह अपने साथ-साथ प्राइवेट विनियोक्ताओ को भी उपक्रम मे पूँजी लगाने को उत्साहित करता है जिसमे उद्योग को पर्याप्त पूँजी मिल जाय।

(३) केवल निर्माणी उपक्रमो को ही सहायता देना—वित्त निगम निर्माणी उद्योगो मे, जिनम खनन, विधायन एव सभी तरह के उत्पादन काय शामिल हैं, धन लगाता है। वह लोकोपयोगी सेवाओ (जैसे—बिजली, सिंचाई, गृह निर्माण, होटल आदि) और विदेशी व्यापार के लिये धन नही देता।

(४) अन्य शर्तें—(अ) निगम छोटे, वृहत एव मध्यम सभी आकार के उपक्रमो को धन देता है किन्तु इनकी कुल पूँजी (निगम के सहयोग को मिलाकर) ५ लाख डालर से कम नही होनी चाहिये। (आ) वह १ लाख डालर से कम और

३० लाख डालर से अधिक पूँजी नहीं लगाता। यदि निजी पूँजी अधिक आने को तैयार हो तो वह ३० लाख डालर से भी अधिक विनियोग कर सकता है। (इ) विनियोजन का स्वरूप ऋण (Loans) अंश पूँजी का क्रय अथवा ऋणों को पूँजी मे परिवर्तन करने की शर्त वाला ऋण हो सकता है, प्राय वह जोखिम पूँजी लगाना अधिक पसन्द करता है ताकि उसका संस्था म प्रत्यक्ष स्वार्थ रहे। (ई) ब्याज दर उद्योग की अर्जन शक्ति के अनुसार निश्चित की जाती है और प्राय ६ से १०% तक ली गई है। (उ) वह लाभ मे हिस्सा देने की शर्त लगा सकता है (ऊ) अप्रयुक्त ऋण राशि पर १% वार्षिक दर से ब्याज लगाया जाता है। (ए) ऋण सुविधाजनक किश्तों म चुकाया जा सकता है। ये किश्तें ५ से १५ वर्ष तक के लिये निश्चित की गई। वार्षिक किश्तों की संख्या नियत करने म उत्पादन आरम्भ होने तथा लाभ अर्जन की शक्ति का ध्यान रखा जाता है। (ऐ) निगम डालर म या आवश्यकता पड़ने पर अन्य मुद्राओं म) विनियोग करता है। (ओ) वित्त निगम केवल उद्योग की जमानत पर ही ऋण दे देता है उसकी सम्पत्ति बन्धक नहीं रखता सरकार या अन्य संस्थाओं से गारन्टी दिलाने की माग नहीं करता। हा, संस्था पर ऐसी शर्त लगा सकता है जिसके अनुसार वह एक निश्चित रकम से अधिक ऋण न ले और अपनी चालू पूँजी का विनियोग ठीक से करे। (औ) ऋण की राशि एक मुश्त या किश्तों म दी जा सकती है। इसका प्रयोग कहीं से भी सामान खरीदने म अथवा किसी भी विकास कार्य म किया जा सकता है।

प्रार्थी उद्योग पूरी योजना बनाकर निगम को भेजते हैं। इसका विश्लेषण करने स निगम को योजना की उपयुक्तता तथा प्रबन्ध व्यवस्था की कुशलता का अनुमान लग जाता है। सब बातों से सन्तुष्ट होकर ही वह विनियोग करने का निर्णय करता है। ऋण देने के पश्चात् भी वह ऋणी उपक्रम से सम्बन्ध बनाये रखता है। इस हेतु अपने विशेषज्ञ भेजकर जानकारी प्राप्त करता है, रिपोर्ट आदि मगवाता है। पूँजी का अभिगोपन करने की दशा म उपर्युक्त नियमों का अनुसरण किया जाता है। आजकल प्राय सभी देशों ने विदेशी विनिमय सम्बन्धी कड़े प्रतिबन्ध लगाये हुये हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के विनियोजन पर प्राय कोई रोक नहीं है। यदि किसी देश म ऐसा हो, तो निगम वहाँ की सरकार से स्वीकृति मागता है। यदि स्वीकृति न मिले, तो वह प्रार्थी उपक्रम को ऋण देने से इन्कार कर देता है।

निगम के कार्यकलापों की प्रगति—

३० जून १९६९ को अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के कार्यकारी जीवन के ११ वर्ष पूरे हो गये। इन १३ वर्षों म इसके कार्यकलापों की प्रगति का वर्णन संक्षेप में नीचे किया गया है —

(१) स्वीकृत किये गये ऋण—३० जून १९६८ तक निगम ने ३६ देशों म २२२ १ मि० डालर की सहायता दी। १९६६-६७ मे ४६ १ मि० डालर की सहायता दी गई है जबकि १९६५-६६ म ३५.६ मि० डालर दिये गये थे। इस प्रकार,

अपने कार्यचालन के द्वितीय दशाब्द के प्रथम वर्ष में IFC ने पिछले दशाब्द की कुल सहायता का एक चौथाई भाग स्वीकृत किया। अधिकतर ऋण ५ से १०% पर दिये गये हैं। अधिकांश ऋणों को अंश पूँजी में परिवर्तित करने का अधिकार सुरक्षित रखा गया है।

(२) प्रायोजना-लागत अंश—१९६६-६७ में निगम ने ३३० मि० डालर की लागत वाली प्रायोजनाओं के लिये ४९ मि० डालर दिये। इस प्रकार ३० जून १९६८ तक निगम ने जिन प्रायोजनाओं के लिये वित्त प्रदान किया उनकी कुल लागत १०१० मि० डालर थी, जिसमें निगम का अंश १८६ मि० डालर था। इस प्रकार निगम ने प्रत्येक १ डालर के विनियोग के लिये अन्य विनियोजकों ने ६ डालर प्रदान किये। (विकास वित्त कम्पनियों की दशा में यह अनुपात १ और १२ का है) स्पष्टत: वित्त निगम से अन्य स्रोतों द्वारा विनियोजन को यथेष्ट प्रोत्साहन मिल रहा है। यथार्थ में ऐसा प्रोत्साहन देने के लिये ही निगम को अपनी भूमिका १९६२ में केवल ऋणदाता होने के बजाय 'ऋणदाता-से-विनियोजक' की बनानी पड़ी।

(३) विनियोग पोर्टफोलियो—३० जून १९६८ तक IFC का कुल विनियोग-पोर्टफोलियो अल्प आय वाले देशों में १९६५-६६ में ८४ मि० डालर से बढ़कर १९६६-६७ में १०७ ६ मि० और १९६७-६८ में ११५ मि० डालर हो गया। इस पर निगम की औसत वार्षिक आय ७ ४१% हुई है। विनियोग पोर्टफोलियो में इक्विटी अंश विगत वर्ष के ३०% से बढ़ कर अब ४०% हो गया है। इसके अतिरिक्त वह जनता को शेयरों के निर्गमों का अभिगोपन भी करता रहा है। इससे स्थानीय पूँजी बाजारों के विकास को बहुत प्रोत्साहन मिला। IFC की इक्विटी फाइनेंसिंग की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वह अपने पोर्टफोलियो से सदा चिपका नहीं रहता वरन् उसे बदलता रहता है तथा इस हेतु प्राइवेट विनियोजकों को अपने निजी विनियोगों में भाग लेने का अवसर देता है। कोषों का इस प्रकार से पुन: प्राप्त करते रहने का ही यह सुपरिणाम था कि निगम अपनी दत्त अंश पूँजी (=१० करोड़ डालर) के लगभग दूने के बराबर (अर्थात् २२·१ करोड़ डालर) विनियोग-दायित्व उठाने में समर्थ हुआ।

(४) विश्व बैंक को सहयोग—विश्व बैंक ने कई देशों के विकास बैंकों और वित्त संस्थाओं को उद्योगों को ऋण देने हेतु सहायता की योजना बनाई है। वित्त निगम भी इसमें हिस्सा ले रहा है ताकि दोनों संस्थाओं की सम्मिलित पूँजी अविकसित देशों की आवश्यकतायें पूरी कर सके। इस योजना का लाभ यह है कि एक ओर तो अल्प विकसित देशों को सहायता मिलने में सुविधा हो जायेगी और दूसरे वित्त निगम और विश्व बैंक को एक अच्छा मध्यस्थ मिलने से उनका दायित्व हल्का हो जायगा। ३० जून १९६८ तक निगम ने १७ विकास वित्त कम्पनियों में १९·२ मि० डालर के अंश खरीदे।

(५) वित्त निगम के प्रसाधनों में वृद्धि—स्मरण रहे कि १९६१ में निगम

के नियमों में एक संशोधन के अनुसार निगम द्वारा पूँजी स्टॉक में विनियोग करने पर से पाबन्दी हटा ली गई थी और १९६५ के दूसरे संशोधन ने निगम को अपनी प्रभार रहित प्रार्थित पूँजी और आधिक्य के चार गुने की सीमा तक विश्व बैंक से उधार लेने की शक्ति दी। इसमें I F C के पास द्वितीय दशाब्द के कार्यचालन के लिये ५०० मि० डालर जुड़ गये हैं। अतः अब वह पहले की अपेक्षा बड़े दायित्व उठा सकता है। १९६६-६७ में निगम को कार्यचालन के लिए उपलब्ध प्रसाधनों की संचयी राशि ३१०.४ मि० डालर तक पहुँच गई। जिसमें विश्व बैंक से प्राप्त १०० मि० डालरों का ऋण भी सम्मिलित है।

(६) सहायता पाने वाले देश, उद्देश्य एवं ऋण आकार—१९६६-६७ में निगम ने अपने विनियोगों का आकार बढ़ा दिया है। इस वर्ष कुल तीन विनियोग (ब्राजील, भारत और फिलिपाइन्स) १० में १२ मि० डालर के हुये। अतः औसत आकार ४.५ मि० डालर का रहा जबकि पिछले दशाब्द में वह केवल १४ मि० डालर की ही थी। निगम अपने व्यवसाय को विविधमुखी बनाता जा रहा है। इस वर्ष तो इसने पर्यटन के लिए भी आर्थिक सहायता दी है। वह भौगोलिक दृष्टि से भी अपने व्यवसाय को फैला रहा है। इस वर्ष ऐशिया और अफ्रीका में विनियोजन पर अधिक ध्यान दिया गया है। यदि विभिन्न देशों को I F C से असमनुपित सहायता मिली है तो इसका कारण उसका विभेदात्मक व्यवहार नहीं है वरन् कुछ देशों की उपयुक्त स्थानीय दशायें विकसित करने की असमर्थता है।

भारत और अ० वि० निगम—

भारत ने निगम के समझौता-पत्र पर १९५५ में हस्ताक्षर कर दिये थे और इस प्रकार यह निगम का प्रारम्भिक अवस्था में ही सदस्य बन गया था। वह पहले पांच अधिकतम् पूँजी वाले देशों में से है और इस नाते उसे निगम के प्रशासनिक संचालक मण्डल में एक स्थायी स्थान मिला हुआ है। निगम में पहला ऋण जनवरी १९५९ में रिपब्लिकन फोर्ज कम्पनी को मिला जो १५ लाख डालर का था। दूसरा ८.४ लाख डालर का ऋण किर्लोस्कर ऑयल इंजन लि० को अप्रैल १९५९ में मिला। चूँकि उनको आवश्यक पूँजी अन्य साधनों से मिल गई थी, इसलिये उन्होंने इन स्वीकृत ऋणों का लाभ नहीं उठाया। तीसरा १३.६५ लाख डालर का ऋण आसाम सिलिमेनाइट लि० को जून १९६० में एवं चौथा २.१० लाख डालर का ऋण K S B Pump Ltd को जनवरी १९६१ में मिला। अन्य ऋण निम्न थे—प्रिसीयन बीयरिंग्स इण्डिया लि० ८.६६ लाख डालर, फोर्ट ग्लोस्टर इन्डस्ट्रीज लि० १२.११ लाख डालर, महिन्द्रा यूजीन स्टील कम्पनी लि० ३४.५० लाख डालर, लक्ष्मी मशीन वर्क्स लि० १.८० लाख डालर। नई उर्वरक प्रयोजनाओं के लिये सहायता देने के सम्बन्ध में वित्त निगम से वार्ता चल रही है। १९६६ के अन्त तक निगम ने आठ भारतीय कम्पनियों में १५.४२ करोड़ रुपये का विनियोग कर रखा है।

प्रारम्भिक वर्षों में भारत ने निगम से कोई विशेष लाभ नहीं उठाया, क्योंकि

उसे विश्व बैंक से अधिक लम्बी अवधि के और कम ब्याज के ऋण मिल जाते है। फिर युद्धोत्तर काल मे अधिकांश निजी उद्योग सरकारी प्रोत्साहन से स्थापित हुये है और उन्हें अन्य देशो से भी पूँजी उदारतापूर्वक मिलती रही है, जिससे निजी उद्योग पतियो का ध्यान निगम की ओर अधिक नही गया। किन्तु पिछले ३-४ वर्षो मे भारतीय उद्योगपतियो ने निगम की सुविधाओ का लाभ उठाने पर अधिक ध्यान दिया है।

वित्त निगम के कार्यों का मूल्यांकन—

निगम के कार्यचालन की प्रमुख आलोचनाये निम्नलिखित है —

(१) **अविकसित देशो को अल्प सहायता**—अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का कार्य अविकसित देशो की भारी आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुये मामूली रहा। विगत १५ वर्षो मे उसने ३६ देशो मे २२२ मि० डालर की सहायता दी है जबकि अविकसित देशो की सख्या १०० के लगभग है। हमारी सम्पत्ति मे यह आलोचना सही नही है। कारण, प्रत्येक नई सस्था प्रारम्भिक वर्षो मे धीमी गति से ही प्रगति करती है। जिस प्रकार विश्व बैंक और मुद्रा कोष की प्रगति, प्रारम्भिक अवस्था पार करने के बाद अब सराहनीय बन गई है, उसी प्रकार वित्त निगम भी भविष्य मे तेजी से प्रगति कर सकेगा ऐसा हमे विश्वास है। इसके अतिरिक्त निगम की सफलता का ठीक ज्ञान इसके द्वारा दिये गये ऋणों से नही, वरन् इस बात से होता है कि इसने निजी व्यवसायो को देशी और विदेशी पूँजी किस सीमा तक उपलब्ध कराई है। इस दृष्टि से तो निगम कार्य बहुत सन्तोषजनक कहा जावेगा, क्योकि ऋणी उद्योगों मे निगम के प्रत्येक डालर के निवेश के कारण ४ अतिरिक्त डालरो का निवेश हुआ है।

(२) **महंगे ऋण**—निगम अपने ऋणो पर औसतन ७% ब्याज लेता है। आलोचको का कहना है कि यह दर बहुत ऊँची है। विशेषत जबकि निगम का व्यवसाय के लाभ मे भी हिस्सा होता है। नि सन्देह विकासोन्मुख देशो को उपर्युक्त दर ऊँची प्रतीत हो सकती है किंतु यदि यह ध्यान मे रखें कि निगम बिना जमानत ऋण देता है, ऋण-प्रार्थी की आवश्यकता को यथासाध्य पूरी करने के लिये प्रयत्नशील रहता है, और निजी उद्योग लम्बी अवधि के और वह भी असुरक्षित ऋण अन्य स्रोतो से प्राप्त नही कर सकते हैं, तो आलोचना की सराहनीयता प्रत्यक्ष हो जावेगी। इसके अतिरिक्त जैसा कि निगम के पिछले अध्यक्ष गार्नर ने कहा था, यदि निजी उद्योग का आधार सुदृढ है, तो उसे सस्ती मुद्रा की सहायता नही चाहिए। पुन महँगी पूँजी का महत्त्व समझकर उसका दुरुपयोग नही होता। सक्षेप मे निगम की ब्याज-दर ऊँची नही है, और यदि मान भी ली जाय कि ऊँची है, तो इसे अनुचित नही कहा जा सकता।

(३) **ऋण-आकार उपयुक्त नहीं**—निगम छोटे-बड़े सभी उद्योगो को ऋण देता है। किंतु कुछ आलोचको का कहना है कि निगम केवल छोटे उद्योगों को ही ऋण दे। अन्य आलोचको की सम्मति मे इसे केवल बडे उद्योगो को ही ऋण देना

चाहिए। हमारी सम्मति है कि दोनों ही विचार ठीक नहीं हैं। एक बहुत छोटी संस्था को प्राय थोड़ी पूँजी चाहिये जिसमें भी विदेशी मुद्रा का अंश बहुत ही मामूली होता है। अत इसकी आवश्यकतायें देशी स्रोतों से ही पूरी की जा सकती हैं। इसी प्रकार एक बहुत बड़े उद्योग को ऋण देना भी निगम के उद्देश्यों से असंगत है। कारण निगम का उद्देश्य विकासोन्मुख देशों में प्राइवेट पूँजी को प्रोत्साहित करना है और वहाँ बहुत बड़े उद्योगों का अभाव है। अत अल्प विकसित देशों को बहुत बड़े ऋणों की आवश्यकता नहीं। यथार्थ में प्रत्येक मामले की विशेष दशाओं के सन्दर्भ में सहायता देने की उपयुक्तता का विचार किया जाना चाहिए। निगम का सबसे छोटा ऋण सल्वेडोर के एक हाजियरी फैक्ट्री को मिला था, जिसमें ७० श्रमिक काम करते थे। छोटी होते हुए भी इसका बिक्री राशि १९ करोड़ डालर वार्षिक थी। अत इसे सहायता देना अनुचित नहीं कहा जा सकता। निगम के २५% ऋण २० लाख डालर या इससे अधिक राशि के हैं। इससे बड़ी राशि के ऋणों की अल्प विकसित देशों को जरूरत नहीं है और यदि हो भी तो निगम पर कोई वचनबद्धता नहीं है।

चार्टर के संशोधन के पश्चात् निगम ने विकास बैंकों की जोखिम पूँजी में विनियोग किया है और ऋण लेने की क्षमता में वृद्धि होने से वह कम विकसित सदस्य देशों के आर्थिक विकास में एक व्यापक पैमाने पर हाथ बँटाने में समर्थ हो गया। इन देशों में इक्विटी पूँजी के उत्पादक विनियोग के लिए प्रचुर अवसर हैं। निगम का विनियोग अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाह को प्रोत्साहित करके अविकसित देशों में विकसित देशों द्वारा विनियोग को सम्भव बना सकता है। निगम ने इस दिशा में सन्तोषजनक प्रगति की है।

परीक्षा प्रश्न .

१ किन बातों में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक से भिन्न है। विवेचन करिये।

[In what respects does the International Finance Corporation differ from International Bank of Development and Reconstruction ?]

२ अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगमों के कार्यकलापों की आलोचना कीजिये। अल्प विकसित देशों के विकास में निगम कहाँ तक सहायक हुआ है ?

[Give a critical estimate of the working of the International Finance Corporation How far has the Corporation been helpful in the development of under developed countries ?]

४६

अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद्

(International Development Association)

प्रारम्भिक—

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ अपेक्षाकृत एक नई सस्था है, जो अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर कम विकसित देशो मे आर्थिक विकास के कार्यक्रमो का अर्थ-प्रबन्ध करती है। यह सस्था २६ सितम्बर सन् १६६० मे स्थापित की गई थी। यह अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (विश्व बैंक) के सहायक के रूप मे कार्य करती है।

परिषद् की स्थापना क्यों ?

विकासोन्मुख देशो के समक्ष गम्भीर पूँजी सम्बन्धी समस्याये है। **सर्वप्रथम,** उन्हे दो प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है—विकास पूँजी (वृहद् उद्योगो के विकास हेतु) एव सामाजिक पूँजी (सार्वजनिक लाभ के सामान्य कार्यो के सम्पादन हेतु)। दोनों वर्गों की पूँजी की आवश्यकता दीर्घकालीन होती है। कारण, उपक्रमो के लाभप्रद बनने मे १८ वर्ष तक लग जाते हैं और इसके बाद भी ऋण धन सहज-सहज ही चुकाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक पूँजी तो स्पष्टत अनुत्पादक है ही। **दूसरे,** ब्याज का भुगतान भी एक गम्भीर समस्या है। यदि दीर्घकालीन ऋणो पर ५-६% की दर से ब्याज लगावें, तो २० वर्ष मे मूलधन के बराबर ही ब्याज देनी पडती है, जो अल्प-विकसित देशो के लिये बहुत भारस्वरूप है। **तीसरे** यदि मूलधन और ब्याज का भुगतान विदेशी मुद्रा मे ही करना पडा, तो स्थिति और भी गम्भीर बन जाती है। **चौथे,** निजी उपक्रमो प्राय. शीघ्र एव पर्याप्त लाभ देने वाले उद्योगो मे ही विनियोग करते है और उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम सदा ऋण देने को प्रस्तुत रहता है किन्तु सामाजिक उद्योगो मे प्राय सरकार को ही आगे बढना पडता है, क्योकि ये विलम्ब से लाभ देते हैं और वह भी साधारण, और, साथ ही सरकार पर अन्य कार्यों का भार होने से उसकी पूँजी लगाने की क्षमता भी सीमित होती है, जिससे यह आवश्यक है कि कोई बाह्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्था उसे ऋण दे। इन्ही आवश्यकताओ के सदर्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ इस उद्देश्य से स्थापित किया गया है कि कम विकसित देशो को ऐसे ऋण प्रदान कर सके जिनके उपयोग मे उन्हे अधिक स्वतन्त्रता रहे और जिनके भुगतान की रीति ऐसी हो कि ऐसे देशो के

व्यापाराशेष पर अधिक भार न पड़े। अत यह सस्था विश्व बैंक के उद्देश्यों को और भी अधिक अश तक पूरा कर सकेगी और साथ ही कुछ ऐसे उद्देश्यो के लिए भी ऋण दे सकेगी जिनके लिए विश्व बैंक ऋण देने मे असमर्थ है।

परिषद् का सगठन—

कोई भी देश जो विश्व बैंक का सदस्य है, विकास परिषद् का भी सदस्य बन सकता है। ३० जून १९६८ को इसके सदस्यों की सख्या ९८ थी। परिषद् मे सदस्य-देशों को विकसित और अविकसित वर्गों मे बाँटा गया है। प्रथम वर्ग मे १८ और द्वितीय वर्ग म ८० देश हैं।

सघ की प्रारम्भिक पूँजी १०० करोड डालर रखी गई है और इसे उपरोक्त वर्गों म निम्न प्रकार बाँटा गया है—७५·१ करोड डालर विकसित देशो के लिए और २४ ९ करोड डालर अविकसित देशो के लिये। सघ की प्रार्थित पूँजी ९९९ १५ मि० डालर हो गई है। दूसरे वर्ग के सदस्यों को अपने चन्दे का १०% स्वर्ण और परिवर्तनशील मुद्राओ म और शेष ९०% राष्ट्रीय मुद्राओ मे, पाँच किश्तो मे, चुकाना पडता है और प्रथम वर्ग के सदस्यों को सम्पूर्ण चन्दा स्वर्ण या परिवर्तनशील मुद्राओ मे देना पडता है। अमरीका, इङ्गलैंड, जर्मनी व कनाडा सबसे बडे चन्दाधारी देश हैं। इनकी चन्दा राशियाँ क्रमश ३२० २९ मि०, १३१ १४ मि०, ५२·९६ मि० व कनाडा ३७ ८३ मि० डालर हैं। भारत का चन्दा ४०·३१ मि० डालर है जो उसने १०% स्वर्ण व परिवर्तनशील मुद्राओ मे तथा ९०% रुपयो मे दिया है।

विकास परिषद् मे सभी अविकसित देश बडी आस लगाये हुये है। किन्तु इनकी आवश्यकताओ को देखते हुए परिषद् के साधन अपर्याप्त हैं। अत कार्यकारी सचालको के सुझाव पर परिषद् के साधनो मे वृद्धि का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। इस प्रस्ताव के अनुसार प्रथम वर्ग के सदस्यों से पूरक अशदान लेकर अतिरिक्त धन की व्यवस्था की जायेगी। ऐसी पहली व्यवस्था ७५० मि० डालर के लिए सन् १९६४ मे की गई थी।

विकास परिषद् के लिये प्रबन्ध व्यवस्था विश्व बैंङ्क की ही भाँति है। गवर्नर मण्डल, प्रशासनिक सचालक मण्डल और अन्य उच्च अधिकारियों के अतिरिक्त विश्व बैंक के नियमित कर्मचारी ही इसके कार्य सम्पादन के लिए जिम्मेदार हैं। हाँ, यदि भविष्य म आवश्यक समझा जाय, तो अलग कर्मचारी नियुक्त किये जा सकते हैं। प्रत्येक सदस्य को ५००+प्रति पाँच हजार डालर एक मत देने का अधिकार है।

विकास परिषद् के कार्य—

जैसा कि हमने पहले भी सकेत किया है अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् विश्व बैंक की पूरक सस्था है और अल्प-विकसित देशो को विकास हेतु सस्ते और दीर्घ-कालीन ऋण देता है। इनकी शर्तें अधिक सरल और सुविधाजनक है। विकास सघ के ऋण का सुलभ ऋण (Soft Loans) कहा जाता है, जिनकी तीन विशेषतायें होती हैं—(i) ब्याज की दरें नीची होती है, (ii) ऋण लम्बी अवधि के लिए दिए

जाते हैं, और (iii) ऋण का भुगतान ऋणी देश की मुद्रा मे स्वीकार कर लिया जाता है।

बहुत से ऐसे देशो को भी, जिन्हे विश्व बैंक से ऋण प्राप्त नही हो सकते, सघ से प्राप्त हो सकते हैं। सघ द्वारा दिये गये ऋणो पर कोई ब्याज नही है। इससे अविकसित देशो को बहुत ही लाभ है, क्योकि उन पर ऋण का भार बहुत कम पडता है। परिषद् ऋण देने हेतु व्यवसाय की उत्पादकता या लाभ प्राप्त करने की शक्ति पर विशेष ध्यान नही देता। फलत परिषद् से सभी प्रकार के व्यवसाय लाभ प्राप्त कर रहे हैं। ऋण प्राप्त करने की शर्त केवल यह है कि योजना विशेष को देश के आर्थिक विकास मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिए। चूँकि ऋण का भुगतान देशी मुद्रा मे किया जा सकता है इसलिये ऋणी देश को विदेशी मुद्रा के बारे म चिंता नही करनी पडती। उसे भुगतानशेष की प्रतिकूलता की भी चिन्ता नही रहती। ऋण देने के बाद परिषद् समय समय पर ऋणी देश म योजना की प्रगति का ब्यौरा लेती रहती है एव प्राविधिक और अन्य सहायता देती है। परिषद् राजनीति के प्रभाव से निष्पक्ष होकर केवल आर्थिक आधार पर ही ऋण देती है। ऋण देने के पूर्व वह परियोजना की जाच एक विशेषज्ञ समिति से कराती है। वह इस बात का ध्यान रखती है कि ऋण का निर्धारित योजना के लिए ही सदुपयोग किया जाय। इसके द्वारा कही से भी वस्तुये खरीदी जा सकती हैं।

विकास परिषद् के कार्यकलापो की प्रगति—

परिषद् ने ८ नवम्बर १९६१ को कार्यारम्भ किया और ३० जून १९६७ को परिषद् के ऋण देने योग्य कुल प्रसाधन १,७८१ मि० डालर् थे, जिसमे से इस तिथि तक वह १,६८४ २ मि० डालर के ऋण स्वीकृत कर चुकी है। इस प्रकार ३० जून १९६७ को परिषद् के अबद्ध ऋण (uncommitted funds) ९६ ८ मि० डालर रह गये। ३० जून १९६८ को स्वीकृत ऋण राशि १७७६ मि० डालर हो गई और अबद्ध ऋण केवल ५५ मि० डालर रह गये। किन्तु यह राशि उन परियोजनाओ के लिये सुरक्षित कर दी गई है जोकि अभी अन्तिम निर्णय की अवस्था मे हैं। यह सहायता निम्न कार्यों के सम्बन्ध मे दी गई है—विद्युत शक्ति, परिवहन, तार परिवहन, कृषि और वन विकास, उद्योग, जल पूर्ति योजना, शिक्षा योजना। ये ऋण ब्याजमुक्त हैं। इन पर उधार लेने वालो से केवल ¾% सेवा व्यय लिया जाता है। सबसे अधिक सहायता एशिया और मध्य पूर्व के देशो को प्राप्त हुई है तथा उद्देश्यानुसार परिवहन के लिये सबसे अधिक ऋण मिला है।

भारत और अं० वि० परिषद्—

भारत परिषद् का प्रारम्भिक सदस्य और अपने चन्दे के आधार पर इसमे एक प्रशासनिक सचालक नियुक्त करने का अधिकारी है। यद्यपि उसका चन्दा अधिकतम् पांच मे से एक है तथापि उसे भाग २ के सदस्य देशो मे सम्मिलित किया गया है,

जिससे वह परिषद् से यथेष्ठ ऋण सुविधायें प्राप्त कर सकता है। विगत ८ वर्षों मे परिषद् ने भारत को सडको, रेलो, टेली-कम्यूनीकेशन, सिंचाई, विद्युत शक्ति के विकास और बम्बई-बन्दरगाह के सुधार-हेतु ऋण दिये। १६ अगस्त सन् १६६६ को विश्व बैंक ने परिषद् द्वारा भारत को १५० मि० डालर का गैर-प्रायोजना (non-project) ऋण स्वीकृत किया, जिसका उद्देश्य भारत के लिए आवश्यक विदेशी विनिमय की व्यवस्था करना है ताकि वह विद्यमान निर्माणी क्षमता के द्वारा उत्पत्ति बढाने हेतु पुर्जे, सामग्रियाँ, फुटकर हिस्से एव अन्य सामान का आयात कर सके। इस ऋण से निम्न उद्योगो को लाभ पहुँचने की आशा है —व्यापारिक व्हीकल्स, मशीनी औजार, इलेक्ट्रिकल इक्विपमट, कृषि ट्रैक्टर, बॉल एव रोलर बियरिंग्स, औद्योगिक एव खनन यन्त्र, उर्वरक एव कीटनाशक दवाइयाँ, बुनियादी अलौह धातुयें। यह ऋण कुल ६०० मि० डालर की पहली किश्त थी। इस ऋण का प्रयोग लाइसेंस पाने वाली फर्मों द्वारा अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप सर्वोत्तम ढङ्ग से किया जायगा। यह ऋण ब्याज-मुक्त है। इसकी अदायगी १० वर्ष बाद शुरू होगी तथा इसे ५० वर्षों म लौटाना होगा। इस नये ऋण से यह प्रगट होता है कि परिषद् अल्प विकसित देशो के लिए कृषि-विकास के महत्त्व को अनुभव करने लगी है। ३१ मार्च १६६६ तक परिषद् ने भारत को ७५७ ५६ करोड रुपये के ऋण दिये, जिसमे से ५७० २० करोड रुपये का उपयोग किया जा चुका है।

विश्व बैंक एव सम्बद्ध सस्थाओ के ऋणो की सहायता से पिछले दशाब्द मे भारत मे निर्माणी सस्थाओ मे यथेष्ठ वृद्धि हुई है, जो अब पर्याप्त पूंजीगत सामान (जैसे —औद्योगिक एव विद्युत मशीनरी, कन्स्ट्रक्शन इक्विपमेन्ट और व्यापारिक व्हीकल्स) बनाने मे समर्थ हैं। उद्योगो की क्षमता बढाने को प्राथमिकता दी गई थी। इसका कारण यह था कि देश, विद्युत विकास, सडक विकास एवं कन्स्ट्रक्शन इक्विपमेंट की भारी माँग होने जा रही थी जिसे पूरा करना जरूरी था। किन्तु विदेशी विनिमय की कमी के कारण निर्माण गण वह सब आयात नही कर पा रहे है जोकि वर्तमान स्थापित क्षमता का पूर्ण उपयोग करने के लिए आवश्यक है। आयात नियन्त्रण म ढील देने हेतु ही IDA ने भारत को नये Credits दिये हैं।

भारत को परिषद् द्वारा दी गई कुल सहायता का ५०% भाग मिला है। स्पष्ट है कि IDA ने भारत के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया है और उसके आर्थिक विकास मे भारी योग दिया है।

परिषद् के कार्यों का मूल्यांकन—

परिषद् के समक्ष एक विस्तृत कार्यक्षेत्र है। आजकल अनेक अविकसित देश आर्थिक विकास के लिए योजनायें बना रहे हैं किन्तु उनके लिये धनाभाव बहुत खटकने वाला है। परिषद् इस अभाव को दूर करके विकास कार्य मे सच्ची सेवा करती है। परिषद् के अधिकारियों को चाहिए कि परिषद् के उद्देश्यो को व्यावहारिक रूप प्रदान

करे। जैसा कि विश्व बैंक के अध्यक्ष ने कहा था, परिषद् के माध्यम से उन लोगों तक पहुँचना चाहिए जिन तक विश्व बैंक नहीं पहुँच सकता। आशा है कि परिषद् अपने इस पुनीत उद्देश्य में सफल होगी।

मार्च १९६८ में परिषद् के अबद्ध साधन केवल ५२ मि० डालर रह गये थे। अत परिषद् के सचालको ने १२०० मि० डालर के पूरक अंशदान का प्रस्ताव रखा है। यह राशि १८ सदस्य देशो और स्विटजरलैण्ड (जोकि परिषद् का सदस्य नहीं है) से तीन वार्षिक किश्तों में प्राप्त की जायगी।

परीक्षा प्रश्न :

१ "अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के क्षेत्र में जिस नई मौद्रिक सस्था का उदय हुआ है वह विकसित राष्ट्रों की इस शुभेच्छा का सूचक है कि वे अपने अल्पविकसित भाइयों को तेज गति से अपने बराबर के स्तर पर लाना चाहते हैं।" इस कथन को IDA के कार्यकलापों के सदर्भ में जाँचिये और यह बताइये कि परिषद् अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफल हुई है ?

५०

एशियाई विकास बैंक

(Asian Development Bank)

प्रारम्भिक—

२६ नवम्बर सन् १९६६ को बहुचर्चित प्रथम एशियाई विकास बैंक का औपचारिक उद्‌घाटन हुआ। यह एशिया और सुदूर पूर्व के विकास हेतु स्थापित किया गया पहला क्षत्रीय बैंक है। जापान के प्रधानमन्त्री ने बैंक के उद्‌घाटन भाषण मे कहा है कि— 'बैंक एशियाई राष्ट्रो की दीर्घकालिक महत्त्वाकाक्षाओ का पूर्ति बिन्दु है। यह एशियाई राष्ट्रो की स्व सहायता भावना और समेक्यता का प्रतीक है।"[1]

एशियाई विकास बैंक की स्थापना के कारण—

सर्वप्रथम मार्च सन् १९६३ म मनीला म एशियाई विकास बैंक की स्थापना का विचार किया गया था। किन्तु बैंक की स्थापना के लिए वास्तविक ठोस कदम ईकेफी (ECAFE) की वैलिंगटन बैठक मे ही उठाये जा सकते थे। वास्तव मे एशिया ही एकमात्र ऐसा प्रमुख क्षेत्र बचा हुआ था जिसमे अभी तक इसकी अपनी कोई क्षेत्रीय विकास सस्था नही थी। अत इण्टर अमेरिकन डेवलपमेट बैंक और अफ्रीकी विकास बैंक के नमूने पर एशियाई विकास बैंक की स्थापना का सुझाव सम्बद्ध पक्षो को बहुत उत्साहप्रद प्रतीत हुआ। अमेरिका ने भी उक्त बैठक मे इस प्रस्ताव के पक्ष मे राय दी यद्यपि वह पहले इसके विरुद्ध था। इस रुख-परिवर्तन का कारण यह था कि अमेरिकी कांग्रेस प्रत्यक्ष सहायता देने के बजाय विश्व सस्थाओ के माध्यम से सहायता देने के पक्ष म थी।

बैंक की सदस्यता—

अफ्रीकी विकास बैंक म क्षेत्र से बाहर के सदस्य सम्मिलित नही है किन्तु

---

1 The Bank represents the realisation of a long cherished aspiration of the nations living in the region It could be described as the crystallisation of Asia's spirit of self help and solidarity among peoples of this region "—Eisaku Sato, Japan's Prime Minister 24 11 1966

ADB में है। जिस समय बैंक का उद्घाटन हुआ उस समय ३० (१८ क्षेत्रीय एवं १२ गैर-क्षेत्रीय) देश सदस्य थे। अब इसकी सदस्य-संख्या ३३ है।

बैंक का प्रबन्ध-संगठन एवं पूँजी—

जापान के टाकेशी वाटानाबी (Takeshi Watanabe) को ५ वर्ष के लिये बैंक का प्रेसीडेण्ट चुना गया है। १९६८ में आस्ट्रेलिया के श्री विलियम मैक्महोन (William McMahon) को बैंक का चेयरमैन चुना गया है। तैवान और डेन्मार्क के प्रतिनिधियों को वायस चेयरमैन चुना गया है। अन्तिम तीन व्यक्ति द्वितीय वार्षिक सभा तक पद पर रहेंगे।

प्रबन्ध बोर्ड में ७ क्षेत्रीय और ३ गैर-क्षेत्रीय संचालक हैं। क्षेत्रीय संचालक १०% अंश पूँजी के आधार पर चुन गये हैं। भारत, जापान एवं आस्ट्रेलिया तो अपने चन्दे के आधार पर ही चुन लिए गये, किन्तु अन्य देशों को आपस में मिलना पड़ा। इस ढङ्ग से चुने गये क्षेत्रीय संचालक फिलिपाइन, थाइलैंड और द० कोरिया है। गैर-क्षेत्रीय संचालक अमेरिका, इंगलैंड और प० जर्मनी हैं।

बैंक के स्टॉफ की नियुक्ति करने में भौगोलिक वितरण की आवश्यकता का ध्यान में रखा जाता है। यथाशक्ति सुयोग्य कर्मचारी ही रखे जाते हैं।

विकासोन्मुख राष्ट्रों को ३५.८०% मताधिकारों पर नियन्त्रण है। भारत को विकासोन्मुख राष्ट्रों की मतशक्ति का २५% प्राप्त है। अन्य देशों के मताधिकार इस प्रकार है —जापान १७.२३%, आस्ट्रेलिया ७.६९%, न्यूजीलैंड २.५२%। इस प्रकार क्षेत्रीय सदस्यों को ६३.२४% मतशक्ति प्राप्त हैं। शेष गैर-क्षेत्रीय १३ सदस्यों के पास है जिनमें अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन और प० जर्मनी सम्मिलित हैं।

बैंक की अधिकृत पूँजी १,००० मि० डालर है। ADB के चार्टर के अनुसार, सदस्यों द्वारा आधी पूँजी पहले पाँच वर्षों में समान वार्षिक किश्तों द्वारा दी जावेगी। चुकता की जाने वाली पूँजी में से ६०.७०% परिवर्तनशील करेंसियों में होगी। इस प्रकार बैंक के कार्यक्षेत्र की २००० मि० जनता की मांग को पूरा करने हेतु प्रतिवर्ष १०० मि० डालर के (खर्च सम्मिलित करते हुए) ही उपलब्ध हो सकेंगे। इसमें से १०% ही उदार शर्तों पर दिया जावेगा। शेष कठोर शर्तों पर उपलब्ध किया जायेगा। अतः पूँजी बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता है। जापान और भारत ने नरम शर्तों पर उधार देने में प्रयोग हेतु स्थापित विशेष कोष (Special Fund) में विकसित राष्ट्रों से उदारतापूर्वक चन्दा देने की अपील की। एक अन्य उपाय बॉण्ड्स की बिक्री (Issue of bonds) बताया गया, किन्तु यह उपाय तीन-चार वर्ष बाद ही प्रयोग किया जा सकेगा जबकि बैंक पश्चिम के पूँजी बाजार का विश्वास अर्जित कर ले।

[हर्ष की बात है कि बैंक की तीसरी साधारण सभा में तीन धनिक राष्ट्रों ने विकासोन्मुख एशियाई देशों को रियायती दरों पर ऋण देने के लिये कोष उपलब्ध

करने का वचन दिया है—जापान ३० मि० डालर, ब्रिटेन १४ ४ मि० डालर और आस्ट्रेलिया १० मि० डालर। ये राशियाँ विशेष कोष म रखी जायेंगी।]

विकासोन्मुख राष्ट्रो मे भारत का चन्दा (=९३ मि० डालर) सबसे बडा है। भारत के इतने बडे चन्दे के कारण ही विकासोन्मुख राष्ट्रो को सम्मानित स्थान मिल गया है। इसके बिना ADB एक स्वकीय सहायता की क्षेत्रीय सस्था प्रतीत होने के बजाय बाहरी स्रोतो से प्राप्त होने वाली सहायता का वितरण करने वाली एजेन्सी जँचती। जापान और अमरीका का चन्दा (प्रत्येक) २०० मि० डालर है।

बैंक ने १९ दिस० से मनीला (जहाँ इसका प्रधान कार्यालय रखा गया है) म व्यवसाय आरम्भ कर दिया है।

बैंक के कार्य—

यह स्पष्ट कर दिया गया है कि एशियाई बैंक की स्थापना वीतनाम सम्बन्धी अमेरिकी नीति से बिल्कुल भी प्रभावित नही है। इसका प्रबन्ध एव सचालन एशिया-वासियो के लाभार्थ एशिया वालो द्वारा किया जाता है। यह अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ के प्रयत्नो मे, जो कि एशियाई क्षेत्र के विकासार्थ किये जा रहे है, वृद्धि करेगा। पूँजी की अपर्याप्तता के कारण आज अनेक एशियाई देश चालू विकास-दशाब्दी मे से ५% विकास दर के लक्ष्य को करने मे भी कठिनाई अनुभव कर रहे हैं। एशियाई विकास बैंक की स्थापना एशियाई क्षेत्र के आर्थिक विकास मे एक महत्वपूर्ण कदम है। यह एशियाई क्षेत्र के आर्थिक विकास की गति बहुत बढाने मे सहायक होगा।

बैंक के कार्यकलापो का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत रखा गया है, जिसमे कृषि, निर्माण एव शक्ति का विकास सम्मिलित है। विश्व की अन्य वित्त सस्थाओ की भाँति ADB भी लगभग ६% ब्याज दर पर ऋण देगा तथा २० से २५ वर्ष तक की अवधि मे उसकी अदायगी की जा सकेगी।

बैंक के कार्यकलापो की प्रगति—

१९ दिस० १९६९ को बैंक के कार्यचालन के ३ वर्ष पूरे हो गये है। यह समयावधि एशियाई विकास बैंक जैसी बहु-राष्ट्रीय वित्त सस्था के कार्यचालन के मूल्याकन के लिए बहुत ही थोडी है। फिर भी बैंक की उपलब्धियो को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है —

(१) बैंक ने अपने सगठन का कार्य पूरा कर लिया है। इसकी प्राथित पूँजी ९७८ मि० डालर है। इसमें से ६०% पूँजी क्षेत्र के १९ देशो ने प्रदान की है।

(२) बैंक के साधारण पूँजी प्रसाधन (विशेष कार्यकलापो के लिये अलग रखी गई पूँजी के अतिरिक्त) ४०१·४ मि० डालर थे जिसमे से ३३९ ४ मि० डालर परिवर्तनशील करेन्सियो मे था।

(३) १९६९ मे बैंक की ग्रॉस आमदनी १२ ६ मि० डालर और ग्रॉस व्यय

७४ मि० डालर थे। इस प्रकार उसे ५ ५ मि० डालर की शुद्ध आमदनी हुई जबकि १९६८ मे ३ ५ मि० और १९६७ मे २ १ मि० डालर हुई थी।

(४) इस वर्ष मे बैंक ने पहली बार बौंड बेचे। बॉण्ड जर्मनी संघीय गणराज्य मे बेचे गये। इनकी कुल राशि ६० मि० डालर थी। इन पर ब्याज ७% है तथा इनकी अवधि १५ वर्ष रखी गई है।

(५) ३१ दिस० १९६९ तक बैंक ने कुल २७ ऋण ११ विकासोन्मुख सदस्य देशो म २६ प्रोजेक्टो के लिय स्वीकार किय। ऐसे ऋणो की कुल राशि १३९ ७० मि० डालर है। १९६९ मे जो ऋण स्वीकार किय गये वह लका, तैवान (चीन), इडोनेशिया, द० कोरिया, मलेशिया नेपाल, फिलिपाइन्स, सिगापुर थाईलैण्ड और पश्चिमी सामोआ मे १९ प्रोजेक्टो के सम्बन्ध मे है।

(६) कृषि एव मछली-पालन, यातायात और विकास बैंकिंग के क्षेत्र म १० देशो को २ २३ मि० डालर की तकनीकी सहायता १३ प्रस्तावो के सम्बन्ध म दी गई। १९६८ मे ११ प्रस्तावो पर १ १४ मि० डालर की सहायता दी गई थी।

(७) साधारण पूँजी मे से दिये गये प्रोजेक्ट ऋणो के लिये ब्याज दर ६½% चार्ज की गई किन्तु विशेष कोष में से दिये गये ऋणो पर ब्याज की दर १½% से लेकर ३% तक रखी गई है।

(८) बैंक के विनियोग १९६९ के अत म ७२५ ७ मि० डालर के बराबर थे, जो बैंक के परिवर्तनशील करैन्सियो के कोष का जिसकी चालू कार्यकलापो के लिये आवश्यकता नही थी, प्रतिनिधित्व करते हैं।

(९) चूँकि अधिकाश विकासोन्मुख सदस्य देशो ने कृषि को बहुत महत्त्व दिया था, इसलिये बैंक ने एशिया म कृषि सम्बन्धी एक क्षेत्रीय सर्वेक्षण आरम्भ किया है। इसका मुख्य उद्देश्य यह पता लगाना है कि भविष्य म बैंक कृषि के विकास मे क्या योग दे सकता है।

(१०) मलेशिया सरकार की प्रार्थना पर बैंक ने एक क्षेत्रीय यातायात सर्वेक्षण भी आरम्भ किया, जिसका उद्देश्य द० पू० एशिया मे यातायात के विकास की सम्भावनाओ का अध्ययन करना और बैंक को विनियोग सम्बन्धी सुझाव देना है।

बैंक की कठिनाइयाँ—

(१) अपर्याप्त पूँजी के सन्दर्भ में बैंक का कार्यचालन कठिनाईपूर्ण होगा। उसे सहायता के लिए प्रायोजनाओ की परीक्षा मे विवाद का सामना करना पडेगा। आशा है कि भारत व इण्डोनेशिया जैसे राष्ट्रो के सहयोग से ये विवाद सहज ही सुलझाये जा सकेंगे। साथ ही ADB मे एशियाई आवाज को बुलन्द करने हेतु भारत और जापान को भी मिलकर कार्य करना होगा। हर्ष का विषय है कि इस विषय मे प्रयत्न चालू हो गये है।

(२) यह डर प्रगट किया गया कि विकसित देशो से एशिया को द्विपक्षी सहायता (bilateral aid) में कमी हो जायगी।

(३) स्थानीय करेंसियों में चन्दा एक गम्भीर समस्या है। क्योंकि इनका प्रयोग सीमित होगा।

(४) बैंक को क्षेत्रीय प्रतियोगिता तथा आर्थिक दशाओं में विशाल अन्तरों के कारण परिचालन में कठिनाइयाँ उठानी पड़ सकती है, किन्तु जिस तरह से इसकी स्थापना हुई है उसमें यह आशा बँधती है कि ADB एशियाई क्षेत्र के विकास में उपयोगी सेवा करेगा। आठ दक्षिणी-पूर्वी एशियाई देशों ने यह माँग की है कि कृषि विकास हेतु स्थापित किया जाने वाला विशेष कोष केवल दक्षिणी-पूर्वी एशियाई देशों के लाभार्थ अनन्यरूप से प्रयोग किया जाय।

भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता श्री भगत ने ADB के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की उद्घाटन बैठक को सम्बोधित करते हुए कहा कि 'प्रारम्भिक वर्षों में ADB को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ेगा कठिन निर्णय लेने होंगे और राष्ट्रों में विश्वास की भावना उत्पन्न करनी होगी। उसे अत्यन्त कुशलता से कार्य करना होगा, सभी राष्ट्रों से सहयोग प्राप्त करना होगा, अतः वह रातोंरात में चमत्कार नहीं कर सकेगा।" उन्होंने गैर-क्षेत्रीय देशों के सहयोग के लिए साधुवाद दिया तथा इस बात पर ज़ोर डाला कि ADB अन्य विश्व वित्त संस्थाओं से भावी सम्बन्धों की सहकारी व्यवस्था की रूप रेखा बनावे। श्री भगत ने सभी ईकैफी देशों से ADB में शामिल होने का अनुरोध किया।

भारत और एशियाई विकास बैंक—

एशियाई विकास बैंक के घोषणापत्र की धारा २ में निःसन्देह ऋण के प्रार्थना पत्रों को प्राथमिकता के आधार पर स्वीकार करने की व्यवस्था है। लेकिन किस प्रकार के प्रोजेक्ट को सहायता दी जानी चाहिए, इसका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। यहाँ यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि हर देश की अपनी समस्याएँ हैं। उसकी अपनी विकास-योजनाएँ है जिसमें वह अपने ढङ्ग से प्राथमिकताएँ देता है। निस्सन्देह भारत अपनी निजी आवश्यकताओं के लिए बैंक के प्रसाधनों का उपयोग करना चाहेगा। लेकिन उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि ऐसे उपयोग बहुत सीमित और चुनींदा (selective) ही रहेंगे। एशियाई विकास बैंक किस प्रकार भारत के लिय सहायक हो सकता है। इस पर नीचे प्रकाश डाला गया है —

(१) स्थगित भुगतान पद्धति पर निर्यात—यह सम्भवतः अन्य एशियाई विकासोन्मुख देशों के विकास कार्यक्रमों पर इन देशों को अपने निर्यात की वृद्धि द्वारा, अधिक ध्यान केन्द्रित करेगा। य देश भारतीय पूँजीगत वस्तुयें और मशीनें खरीदने में समर्थ हो सकें इस हेतु हमें स्थगित भुगतान पद्धति (system of deferred payments) का स्वीकार करना पड़ेगा। इसमें हमें कठिनाई पड सकती है क्योंकि हम अभी स्वयं ही विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों में फँसे हुए हैं। किन्तु इस दिशा में एशियाई बैंक सहायक बन सकता है।

(२) खाद्य उत्पादन बढ़ाने में सहायता—भारतीय अर्थ व्यवस्था की उन्नति

मुख्यत सिंचाई, बिजली, उर्वरक और अन्य उत्पादन साधनो पर निर्भर करती है। ऐसी स्थिति मे एशिया विकास बैंक के लिए क्या यह उचित नही कि वह सिंचाई-सुविधाओं म वृद्धि, बिजली और उर्वरक के रूप मे उत्पादन साधन उपलब्ध करने, आदि की ओर विशेष ध्यान दे ? भारत जैसे देश मे एशियाई विकास बैंक जिसके विभिन्न क्षेत्रों म सदस्य है, साधन एकत्र कर सकता है और भारत के कृषि-विकास म आ रही रुकावटो को दूर करने मे साधन और ज्ञान द्वारा सहायता पहुँचा सकता है। एशियाई विकास बैंक अपने घोषणा पत्र की धारा-१४ (१) के आधीन विकास योजनायें तैयार करने म भारत की मदद कर सकता है, जिससे वह इस प्रकार की योजना बना सकें कि उसमे उर्वरको की प्रधानता रहे और विद्युत शक्ति कृषि विकास के काम मे लायी जा सके। एशियाई विकास बैंक विभिन्न देशो के विशेषज्ञों को इस काम म लगाकर सहायता कर सकता है।

(३) अन्य पूँजीगत वस्तुओं में उत्पादन-वृद्धि—भारत की मुद्रा बाहुल्यकारी स्थिति म पूँजीगत वस्तुयें पैदा करने के प्रोजेक्टो मे पूँजी विनियोग करना एक मुश्किल काम है, क्योंकि इन प्रोजेक्टो मे पूँजी विनियोग का प्रतिफल प्राप्त करने मे काफी अन्तर रहता है। पूँजीगत वस्तुओ क उद्योग म यह समयावधि और भी ज्यादा होती है, क्योंकि इनके प्लाण्टो का आकार अपेक्षाकृत बडा होता है और इनके लिए किय गय अनुसन्धान आदि पर भी ज्यादा लागत आती है। इन कारणों से घरेलू साधनो स अर्थ-व्यवस्था मे इतना बडा पूँजी-विनियोग करना सम्भव नही हो पाता। इन क्षेत्रों मे इस्पात, अल्यूमिनियम और रासायनिक उद्योग शामिल है, जिनकी दिन-पर-दिन जरूरत बढती जा रही है। एशियाई विकास बैंक इस दिशा मे भी भारत की मदद कर सकता है।

(४) भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूल स्थिति में सुधार लाना—कई वर्षों से भारत विशेषतया फ्रान्स के साथ प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन की स्थिति म है और सामान्यत यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशो के साथ भारत का व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल है। यद्यपि, ब्रिटेन और यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशो के लिए भारत का निर्यात तीसरी पचवर्षीय योजना की अवधि म काफी बढा, लेकिन उन देशो को भारत के कुल निर्यात व्यापार का प्रतिशत ८ १ से कम होकर ७ ५ प्रतिशत रह गया है जबकि ब्रिटेन को किय जाने वाले निर्यात का प्रतिशत २६ ८ से कम होकर २१·१ प्रतिशत रह गया है। भारत अमेरिका से अन्न तो आयात करता ही है, लेकिन साथ ही वह बडे पैमाने पर महँगे कल-पुर्जे, लोहा और इस्पात खनिज तेल इत्यादि भी आयात करता है। आयात के प्रतिकूल प्रतिरूप को खत्म करने के लिए एशियाई विकास बैंक को भारत के ऐसे उद्योगो के लिए वित्तीय सहायता देनी चाहिए जिनके उत्पादन से आयात कम हो सके। इसी प्रकार कृषि के विकास के लिए आवश्यक उद्योग (जैसे रासायनिक खाद) और बिजली की योजनाओ को वित्तीय सहायता दी जानी चाहिए। भारत, चाय, कहवा, जूट और सूती कपडे के निर्यात द्वारा अधिक

विदेशी मुद्रा कमा सकता है। एशिया के देशों मे जहां तक भुगतान सन्तुलन की स्थिति का प्रश्न है, भारत की स्थिति सबसे ज्यादा गिरी हुई है। एशिया के देशो मे जो एशियाई विकास बैंक के सदस्य देश है, भारत ही एक ऐसा देश है जो भुगतान-सन्तुलन की कमी से बुरी तरह पीडित है। इसलिए, विदेशी मुद्रा के संकट पर काबू पाने मे एशियाई विकास बैंक को भारत को पूरी मदद करनी चाहिए। स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के साथ भारत के व्यापार की सम्भावनायें भी बहुत उज्ज्वल नही हैं।

निष्कर्ष—एशियाई विकास बैंक की ये समस्यायें हैं, तो इसमे कोई सन्देह नही कि इन समस्याओ को देखते हुए उसके पास साधन बहुत कम हैं। इसलिए सदस्य देशो द्वारा एशियाई विकास बैंक की कुल पूँजी मे अतिरिक्त योगदान देने की आवश्यकता प्रतीत होती है और फ्रास तथा सोवियत सघ जैसे देशो को भी सदस्य बनाये जाने की आवश्यकता प्रतीत होती है जैसा कि बैंक के प्रेसीडेण्ट ने सुझाव दिया है।

एशियाई विकास बैंक को दूसरे क्षेत्र के देशों मे सहयोग बढाने और एशिया के आर्थिक विकास के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सी समझा जाना चाहिए। डा० पी० एस० लोकनाथन ने ठीक कहा है "एशिया को एक आर्थिक इकाई के रूप मे अपना अस्तित्व अभी सिद्ध करना है।" और, एशियाई विकास बैंक ही एक ऐसी एजेन्सी है जो कि एशिया के क्षेत्रीय विकास के लिए वित्त अथवा धन उपलब्ध कर सकता है। एशिया के राष्ट्रो मे आर्थिक स्वतन्त्रता की भावना पैदा करने का प्रश्न है। इस बात की ओर विशेष ध्यान देना होगा कि कही परस्पर आर्थिक निर्भरता आर्थिक उपनिवेशवाद का एक नया रूप न ले ले।

परीक्षा प्रश्न :

१. एशियाई बैंक के उद्देश्य एवं इसके कार्यकलापो का विवेचन कीजिये।
[Discuss the objects and the working of Asian Development Bank]

५१

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली एवं अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता

(International Monetary System and International Liquidity)

वर्तमान विश्व-मुद्रा-प्रणाली
(The Present World Monetary System)

किसी भी कानून अथवा नियम म विश्व-मुद्रा-प्रणाली की परिभाषा नही की गई है। वास्तव म यह एक अनौपचारिक (Informal) व्यवस्था है, जिसम विभिन्न देशो की राष्ट्रीय मौद्रिक सस्थाये अन्तर्राष्ट्रीय सस्थायें तथा प्रथायें और सुविधायें सम्मिलित होती है।[1] यह विभिन्न राष्ट्रो के मौद्रिक सहयोग और अनुशासन का प्रतीक है।

प्रत्येक देश की एक राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली होती है जिसम मुद्रा इकाई दशाई व्यवस्था, करैंसी व्यापारिक वैंकस और केन्द्रीय बैंक सम्मिलित हैं। केन्द्रीय बैंक अपने पास स्वर्ण और विदेशी विनिमय कोष रखता है। विश्व मौद्रिक प्रणाली विभिन्न राष्ट्रीय मुद्रा प्रणालियो का मिश्रण है। विभिन्न देशों के वैंक्स, जो आयात-निर्यात मे साख की व्यवस्था तथा अन्य एजेन्सी काय करते हैं विश्व-मौद्रिक प्रणाली का प्रमुख अग बने हुये है। एक देश की करैंसी का दूसरे दशो की करैंसियो मे सम्बन्ध जोडने के लिए अनेक विनिमय दरें होती हैं, जो एक या अधिक प्रमुख करैंसियो के या स्वर्ण के सन्दर्भ मे निर्धारित की जाती हैं। विनिमय दरो को स्थायी रखने के लिये विदेशी मुद्रा के कोषो की आवश्यकता पडती है।

आजकल विश्व के देशो की करैंसियों के मूल्य स्वर्ण (या डालर) मे घोषित किय जाते हैं जिससे स्वर्ण समताओ के आधार पर पारस्परिक विनिमय दरें निश्चित हो जाती हैं। इस दृष्टि से यह कह सकते है कि विश्व की वर्तमान मुद्रा प्रणाली

---

[1] The International Monetary System is not to be found described in legislations or regulations It is a highly informal system some of it represented by national institutions based on national laws, some of it consisting in a complex of role of practices and facilities"—K K Sharma *Monetary Policy in Planned Economy*, p 46

'स्वर्ण विनिमय मान' (Gold Exchange Standard) है। (कुछ लोग ऐसा नहीं मानते, इनके विचार हम एक पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं) इसके अधीन डालर और कुछ सीमा तक स्टर्लिंग 'कोष करेंसियाँ' (Reserve Currencies) का कार्य करते हैं। इस कोष का संरक्षक है अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, जो विनिमय दरों में स्थायित्व बनाये रखने के लिए देशों को विदेशी मुद्रा के ऋण देता है।

आलोचकों का कहना है कि विश्व मुद्रा प्रणाली (स्वर्ण विनिमय मान) के दो मुख्य दोष हैं :—(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में असंतुलन, और (२) अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता का अव्यवस्थित सृजन।

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में असन्तुलन—कुछ समय से अमेरिका के भुगतान सन्तुलन में गम्भीर घाटे रहने लगे हैं। वहाँ मुद्रा-मात्रा कसती (tighten) जा रही है जिससे बेकारी फैलने लगी है। दूसरी ओर, यूरोप के आधिक्य वाले देश मुद्रा प्रसार से दुःखी हैं। इन कठिनाइयों के लिए आलोचकों ने भुगतान सन्तुलन और तत्सम्बन्धी नीतियों को दोषी ठहराया है। कुछ सीमा तक यह ठीक भी है। किन्तु उक्त दोषों के लिए अन्य घटक भी दायी हैं, जिन पर आलोचकों का ध्यान नहीं गया है। उदाहरणार्थ, अमरिका में असाधारण बेकारी उत्पन्न होने के लिए १९५६-५७ की अत्यधिक विनियोग तेजी (investment boom), कार्य अवसरों के ढांचों में परिवर्तन, श्रम शक्ति में परिवर्तन आदि भी दायी थे। अतः, यदि भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी प्रभावों से मुक्त कोई मौद्रिक या प्रशुल्क अपनाई जाती, तो भी ये घटक मुधर नहीं सकते थे तथा कुछ बेकारी फैलना अनिवार्य था। इसी प्रकार, यूरोपीय देशों को अमेरिकन घाटे के कारण ही मुद्रा प्रसार नहीं भोगना पड़ा, वरन् इसके लिए अन्य कारण भी दायी थे। उदाहरणार्थ, कॉमन मार्केट वाले देश बाहर से क्रय न करके अपने मार्केट के भीतर ही क्रय करते हैं, जिससे उनके व्यापार सन्तुलन में आधिक्य (और इसलिए मुद्रा प्रसार) उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

इस प्रकार, केवल भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी असाम्यताओं को ही विभिन्न देशों की कठिनाइयों के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। "दस देश समूह" (Group of Ten) की रिपोर्ट में भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी असाम्यताओं और इनके कुप्रभावों को दूर करने के लिए जिन उपचारों का संकेत किया गया है उनमें आय नीति' (Incomes Policy) मुख्य है। 'आय नीति' के अनुसार घाटे वाले देश (अमेरिका) में मजदूरियों और अन्य आयों का इस प्रकार से नियमन होना चाहिए कि वे स्थिर बनी रहें। ऐसी दशा में उत्पादकता की वृद्धि के साथ-साथ मुद्रा में वस्तुओं की कीमतें पतन लगेंगी तथा वे, आधिक्य वाले देशों द्वारा अपने यहाँ कीमतें ऊँची न रखने पर भी, प्रतिस्पर्धा कर सकेंगी, अर्थात् उनका निर्यात बढ़ जायेगा, जिससे घाटे की स्थिति में सुधार होने लगेगा।

इतने पर भी विदेशों में कुछ न कुछ सीमा तक मुद्रा-प्रसार होना अवश्यम्भावी है। कारण, शायद ही किसी देश ने कोई उचित आय नीति अपनाई हो। अमेरिका

को ही लीजिए। वहां मजदूरियों और कीमतों के सम्बन्ध में जो नियम (Guide posts for Wages and Prices) बने हुए हैं, वे अधिक से अधिक, कीमतों को बढ़ने से रोक सकते हैं। कारण, राष्ट्र-व्यापी उत्पादकता में वृद्धि होने के साथ ही साथ मजदूरियों में भी आनुपातिक वृद्धि प्रोत्साहित होती है।

भुगतान सन्तुलन की असाम्यता के सुधार का भार (burden) घाटे वाले और आधिक्य वाले देशों में परस्पर किस प्रकार से वितरित होगा यह अन्तर्राष्ट्रीय कोषों की मात्रा पर, अर्थात्, साख की उस मात्रा पर जो कि देश परस्पर देने को तैयार हों, निर्भर करता है। यदि कोष अल्प है, अथवा अन्य देश पर्याप्त साख सुविधायें देने को तैयार नहीं है, तो घाटे वाला देश अपने भुगतान सन्तुलन को सुधारने के लिए मुद्रा-पूर्ति पर कठोर नियन्त्रण रखने एवं सार्वजनिक व्यय में कटौती करने के लिये विवश हो जायेगा, जिससे बेकारी बढ़ेगी और उसी को असाम्यता के सुधार का प्रमुख भार ढोना पड़ेगा। इसके विपरीत, यदि अन्तर्राष्ट्रीय कोष विशाल है, अथवा घाटे वाले देश को अन्य देशों से साख सुविधायें सुगमता से मिल जायें, तो वह सुधार प्रक्रिया सुगमता से पूरी कर लेता है, जिससे कम बेकारी उत्पन्न होती है। ऐसी दशा में आधिक्य देश एक दीर्घ अवधि तक 'आधिक्य शेष वाले' ही बने रहते हैं, जिसमें वहाँ मुद्रा पूर्ति का यथेष्ठ विस्तार हो जाता है। अतः उनको ही मुद्रा प्रसार के रूप में समायोजन का प्रमुख भार ढोना पड़ता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता का अव्यवस्थित सृजन—आलोचकों का दूसरा आरोप यह है कि विश्व मुद्रा प्रणाली की आड़ का काम करने वाला मौद्रिक कोष जिस प्रकार से एकत्र होता है वह दोषपूर्ण है। अमेरिका के भुगतान सन्तुलन में घाटा रहने से अन्य देशों को डालर प्राप्त होते हैं। यह घाटा कभी अधिक तो कभी कम रहता है। फलतः विश्व बाजार में डालर की पूर्ति बढ़ती घटती रहती है। किन्तु अमेरिकन घाटे का विश्व की कोष सम्बन्धी आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। फलतः विश्व कोष सही परिमाण में एकत्र नहीं हो सकता है। यदि अमेरिकन घाटा दीर्घ समय तक बना रहे, तो डालर का सम्मान कम हो जायेगा और इसमें विश्व-द्रवता को ठेस पहुँचने का डर है। किन्तु, यदि भुगतान सन्तुलन में घाटा न हो, तो डालर रखने वाले देश कभी भी अमेरिका से स्वर्ण माग सकते हैं। इसी प्रकार, यदि भुगतान सन्तुलन में आधिक्य बना रहे तो विश्व के अन्य देश अपने डालर कोषों को कम करके अमेरिका को डालर चुकाने लगते हैं। इससे अमेरिका के रिजर्व बढ़ने बन्द हो जाते है। [ध्यान रहे कि अमेरिका अपने रिजर्व में डालर नहीं रखता वरन् स्वर्ण और अन्य करेंसियाँ रखता है।] इस प्रकार, अमेरिकन आधिक्य और घाटा ही विश्व-द्रवता को ठेस पहुंचाते हैं।

हमारी सम्मति में यदि अमेरिकन भुगतान सन्तुलन का नियन्त्रण अच्छे ढंग से किया जाय, तो वर्तमान विश्व-मुद्रा प्रणाली (स्वर्ण विनिमय मान) अनेक वर्षों तक सफलतापूर्वक चल सकती है। यदि विश्व का सबसे धनी राष्ट्र ही ऐसा न कर सके,

ना फिर स्वर्ण विनिमय मान ही क्या, कोई भी मौद्रिक प्रणाली भग हो सकती है। निस्सदेह ऐसे तरीके खोजे जाने चाहिए, जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय कोषो के सृजन का नियमन हो सके। यही कारण है कि आजकल अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता का प्रबन्ध विश्व की एक प्रमुख समस्या बनी हुई है।

स्वर्ण व डालर का आर्थिक सकट[1]

आजकल विदेशी व्यापार मे लेन-देन का हिसाब करने एव भुगतान करने के लिए स्वर्ण के अलावा मुख्य रूप से डालर एव पौंड का उपयोग किया जाता है। पौंड के अवमूल्यन के पश्चात् जनता का ध्यान डालर की तरफ खिच गया। परन्तु आज डालर के प्रति भी लोगो की धारणायें निम्न कारणो से विपरीत हो देखी जा रही हैं जिससे लोगो का आकर्षण स्वर्ण के प्रति अधिक होता जा रहा है।

अमेरिका का प्रतिकूल भुगतान सतुलन—

पिछले २० वर्षों म १९५७ को छोड कर एक भी वर्ष ऐसा नही बीता है जिसम अमेरिका की विदेशी देनदारी लेनदारी से अधिक न रही हो। इस अवधि मे भुगतान सन्तुलन का घाटा ३५ अरब डालर रहा। भुगतान सन्तुलन के प्रतिकूल होने के मुख्य कारण निम्न रहे है —आयात का व्यय, समुद्र पार के सैनिक व्यय, विदेशी सहायता और पूँजी के निर्यात के रूप मे अमेरिका जितना दूसरो को देता रहा है उतना निर्यात से, विदेशो मे लगी पूँजी पर लाभ मे और अन्य प्राप्तियो की राशि से नही कमाता रहा। अमेरिका ने १९६६ में माल और सेवाओं के निर्यात से ४३ अरब डालर कमाये थे जिसमे से माल और सेवाओं के आयात को घटाने पर ५ अरब १० करोड डालर का शुद्ध लाभ रहा। लेकिन पेंशन, सरकारी, सहायता और अनुदान पूँजी आदि के रूप में इतनी धन राशि बाहर गई कि हिसाब साफ होने पर १ अरब ३६ करोड डालर का शुद्ध घाटा रहा। इस घाटे की पूर्ति कुछ तो सोने की बिक्री से की गई और शेष की पूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष मे उधार लेकर। विदेशी भुगतान के घाटे के निम्न प्रमुख कारण बताये जा सकते हैं —

(१) **सैनिक व्यय में बढोतरी—**अमेरिका चाहता है कि वह गैर-साम्यवादी विश्व का नेता बना रहे। नेतृत्व कायम रखने के लिए पूँजी का निर्यात, आर्थिक सहायता या सैनिक गठबधन या कार्यवाही तीनो का सहारा लिया जाता रहा है। इन खर्चो मे भी सैनिक व्यय का हिस्सा सबसे ज्यादा है। चालू वित्त वर्ष का प्रशासनिक बजट १३५ अरब डालर का है जिसमे से ७५ अरब डालर प्रतिरक्षा के लिए रखे गए हैं। इस राशि का १/३ भाग दक्षिणी पूर्वी एशिया मे वियतनाम युद्ध के लिए निर्धारित किया गया है।

(२) **विदेशी सहायता और पूँजी निर्यात—**विदेशी सहायता के मामले म

1 श्री कैलाशचन्द्र जैन, आर्थिक समीक्षा, १ मई, १९६८।

भी अमेरिका कम उदार नहीं रहा है। १९६६ में ही ४ अरब १३ करोड डालर की नई पूंजी दूसरे देशों में लगाई गई। इस प्रकार भी विदेशी भुगतान का घाटा बढ़ा है।

(३) फ्रांस की नीति—सरकारी की सुरक्षित मुद्राओं को डालर और डालर को सोने में बदलने की सुविधा के लिये दस देशों (अमेरिका ब्रिटेन फ्रान्स जर्मनी, स्विटजरलैंड हालैंड इटली बेल्जियम, कनाडा और जापान) ने संयुक्त स्वर्ण कोष बना रखा है जिससे कि लोगों का डालर में विश्वास बना रहे। यह गुट संयुक्त रूप में अमेरिकी डालर को सोने में बदलने के लिये तत्पर रहता है परन्तु जून १९६७ में फ्रांस के इस कोष से अलग हो जाने के कारण स्थिति और भी खराब हो गई है जिसके फलस्वरूप भी सोने की मांग और भड़क उठी है। बहुत से देश डालरों को सोने में देने के इच्छुक हो गए हैं। फ्रांस ने अपने भण्डार में अब ७१ करोड डालर (१९५८) की जगह ५२३ करोड डालर (जुलाई १९६७) का स्वर्ण जमा कर लिया है। अब फ्रांस के पास संसार में दूसरे नम्बर का स्वर्ण भण्डार है। इसलिये फ्रांस यह चाहता है कि अगर संसार में सोना ही अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का एकमात्र साधन बना रहे और डालर का अवमूल्यन हो जाये तो विश्व में फ्रांस की प्रभुसत्ता बढ़ जायेगी और अमेरिका की आर्थिक सत्ता घट जायेगी। इसी आशा में फ्रांस और कुछ अन्य देश जैसे—जर्मनी, इटली स्विटजरलैंड आदि भी डालरों को स्वर्ण में बदलने लगे है। इसका अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि लंदन में ही ३५ करोड पौंड का लगभग ७५० टन सोना हस्तान्तरित हुआ। पेरिस में सोने के दाम बढ़कर प्रति किलो ७००० फ्रैंक तक पहुँच गये और ४५ डालर प्रति औंस स्वर्ण तक के सौदे हो गये—२६ मार्च १९६८ के समाचार के अनुसार पेरिस के स्वतन्त्र बाजार में सोना ४०.३८ डालर प्रति औंस के भाव में बिक रहा था जबकि स्वर्ण दर ३५ डालर प्रति औंस है।

(४) सोने की सीमित उपलब्धि—व्यक्तिगत जमाखोरी, बढ़ती औद्योगिक खपत, और डालर व पाउण्ड में विश्वास घटने से सोना खरीदने की होड़ प्रारम्भ हो गई, डालरों को स्वर्ण में बदला जाने लगा। साथ ही सोने का उत्पादन स्थिर-सा हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के कारण और डालर का मूल्य स्थिर रखने के लिये अमेरिका को अपना सोने का भण्डार अन्तर्राष्ट्रीय सोना बाजारों (विशेषत लन्दन) में बेचना पड़ा। इससे अमेरिका का स्वर्ण भण्डार घटता गया। १९५८ में यह भंडार २०५८ करोड डालर का था। जुलाई १९६७ में घटकर १,३१७ करोड डालर का रह गया। आगामी तालिका से विश्व के स्वर्ण भण्डार का अनुमान लगाया जा सकता है —

विश्व के सरकारी स्वर्ण भण्डार

(मूल्य करोड अमेरिकी डालर)

देश	१९५८	१९६१	१९६२	१९६३	१९६४	१९६५	१९६६	जुलाई १९६७
अमेरिका	२०५८	१६८५	१६०६	१५६०	१५४७	१४०७	१३२४	१३१७
फ्रांस	७५	१२९	२५९	३१८	३७३	४७१	५२४	५२३
जर्मनी	२६३	३६६	३६८	३८४	४२५	४४१	४२९	४२९
स्विटजरलैंड	१९२	२५६	२६७	२८२	२७३	३०४	२८४	२८४
इटली	१०६	२२३	२२४	२३४	२११	२४०	२४१	२४१
ब्रिटेन	२८१	२२७	२५८	२४८	२१४	२२७	१९४	अनुपलब्ध
हालैंड	१०५	१५८	१५८	१६०	१६९	१७६	१७३	१७३
बेल्जियम	१२७	१२५	१३७	१३७	१४५	१५६	१५३	१५२
कनाडा	१०८	८४	७१	८२	१०३	११५	१०४	१०७
जापान	५	२८	२९	३०	३३	३३	३३	अनुपलब्ध
अन्य सरकारें	४८८	५०१	५५१	५८७	५९२	६०४	६३१	अनुपलब्ध
सकल सरकारी स्वर्ण	३८०३	३८८७	३९२८	४०२२	४०८५	४१९५	४०९१	,
अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें	१४१	२२५	२२०	२०८	२१७	१३८	२२१	,
अधिकृत स्वर्ण भण्डार	३९४४	४११२	४१४८	४०३०	४३२०	४३२३	४३११	,

स्रोत—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा प्रकाशित आँकडो पर आधारित

प्रतिकूलता के सुधार हेतु उठाये गये कदम—

(१) बैंक दर मे १/२ प्रतिशत की वृद्धि कर ५ प्रतिशत कर दी गई है, जिससे पूँजी निर्यात पर प्रभाव पडेगा।

(२) डालरो की सिक्यूरिटी के लिये २५ प्रतिशत सोना अनिवार्यत रखने की व्यवस्था का भी त्याग कर दिया गया है जिससे स्वर्ण बाजार मे पूर्ति मे वृद्धि होगी फलस्वरूप भाव गिरेंगे।

(३) इगलैंड मे अनुरोध कर शुक्रवार एव शनिवार को वहाँ के सोना चाँदी एक्सचेंजो को बन्द करा दिया और बैंको मे नक्दी के सिवाय सब काम बन्द करवा दिये।

(४) ४५ करोड डालर का सोना बाजार मे निकला।

(५) गोल्डपूल के सदस्य देशो के बैंकरो को १० मार्च को वाशिंगटन बुला कर परामर्श किया जिसमे यह तय किया कि स्वर्ण के दो मूल्य निर्धारित किये जाएँ प्रथम सरकारें व केन्द्रीय बैंक परस्पर ३५ डालर प्रति औंस सोने की बिक्री करें और स्वतन्त्र बाजार म सोने की कीमत बाजार भाव म तय हो।

(६) १० प्रतिशत का सरचार्ज लगाया जा रहा है इससे वहाँ ४ अरब डालर की सालाना आय बढ जायेगी ।

(७) ३०० से ४०० करोड डालर का प्रशासनिक व्यय घटाने का निर्णय किया गया है ।

(८) आयात मे कटौती करने और निर्यात बढाने का निर्णय किया है।

इस प्रकार अमेरिका द्वारा उपर्युक्त कदम डालर सकट को दूर करने के लिए उठाये गए है। मुख्य रूप से अमेरिका के सामने अपने भुगतान-सन्तुलन को पक्ष मे करने के लिये दो ही रास्ते हैं—या तो वह वियतनाम सरीखे खर्चीले युद्ध से जल्द से जल्द मुक्ति पा ले या फिर आयात कम करके निर्यात व्यापार इतना बढा ले कि सारे खर्चे आमदनी से पूरे हो जायें।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा या स्वर्ण की मूल्य-वृद्धि—

भुगतान की बिगडती स्थिति को सुधारने के लिये विश्व के अधिकतर देश सुझाव दे रहे कि जिस प्रकार राष्ट्रीय मुद्रा मे सोने और नोटो का सम्बन्ध समाप्त किया गया है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मे मुद्रा और सोने का सम्बन्ध समाप्त कर देना चाहिए। उनका मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रचलित की जानी चाहिये जिसका अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो मे उपयोग हो लेकिन उसके बदले मे राष्ट्रो का सोना माँगने का अधिकार न हो। हाँ, इस मुद्रा की कुल रकम सोने के अनुपात मे प्रचलित की जाये और सब देशों का सोने का भण्डार इसकी पीठ पर हो। उनका मत है कि आपसी सहयोग से ही इस प्रकार की व्यवस्था सम्भव है।

परन्तु, फ्रास के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान स्वर्ण मे ही होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को मुद्रा प्रचलित करने के अधिकार देने से उसकी शक्ति बहुत बढ जायेगी, क्योकि यह अधिकार राज्य की प्रभुसत्ता से जुडा होने के कारण राष्ट्रीय सरकारो को ही होना चाहिए। इस सङ्कट का निवारण स्वर्ण की दर बढा कर किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि एक औंस सोना ३५ डालर के बजाय ७० डालर का हो जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की तरलता दुगुनी हो सकती है। दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ है कि डालर का अवमूल्यन होना चाहिए। अमेरिका इस सुझाव से बिल्कुल सहमत नहीं है। उसका विचार है कि यदि १९३४ मे निर्धारित दर बदली गई तो डालर मे विश्वास जाता रहेगा।

इस प्रकार मौजूदा परिस्थितियो मे डालर का अवमूल्यन वाछनीय होते हुए भी अवाछनीय है, क्योकि भुगतान सन्तुलन मे घाटे के बावजूद भी डालर हर जगह छाया हुआ है। यदि उसकी विनिमय दर गिरी तो लगभग हर देश को अपनी-अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन करना पडेगा। ब्रिटेन की हालत खराब होने के कारण स्टर्लिङ्ग क्षेत्र मरणासन्न सा हो रहा है। फिर भी उपनिवेशो समेत २२ देशो ने अपनी मुद्राओं

की विनिमय दर गिरा दी—डालर का अवमूल्यन होने पर मुद्रा का अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचा एक बार तो अवश्य ही चरमरा जायगा।

भारत पर स्वर्ण सकट का प्रभाव—

स्वर्ण के लिए सुझाई गई द्विमार्गी पद्धति का भारतीय अर्थ व्यवस्था पर शीघ्र कोई प्रभाव नही पडने वाला है और स्वतन्त्र बाजार मे सोने का मूल्य बहुत अधिक बढ जाने के कारण भारत म सोना चोरी छिपे लाना कम हो जाने की सम्भावना है। परन्तु भुगतान सन्तुलन को सुधारने के लिए अमरीका तथा अन्य राष्ट्र जैसे ही अगली कार्यवाही करेंगे, भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर निश्चय ही उसका प्रभाव पडेगा। अमरीका को भारत द्वारा निर्यात २०५ करोड रुपये से भी अधिक का है जबकि स्वर्ण पूल के सदस्य देशो को भारतीय निर्यात ४८० करोड रुपय मूल्य का है। भारत सहायता-सङ्घ भी अपना हाथ पीछे खीच लेगा और विदेशी सहायता मे और अधिक कटौती हो जाएगी। जिसके परिणामस्वरूप हमारे आयात के लिए उपलब्ध विदेशी मुद्रा मे बहुत अधिक कमी हो जायगी जिसका 'भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्रगति" पर दुष्प्रभाव पडे बिना न रहेगा। यह भी सच है कि इसके कारण आयोजना के खर्च मे भी कटौती करनी होगी। इसी प्रकार भारत पर विदेशी ऋणो-सम्बन्धी खर्चो के मामले म भी, जो इस समय लगभग ५००० करोड रुपए है, समस्याये पैदा होगी। योजनाबद्ध विकास के लिए यह अत्यावश्यक है कि ऐसी सभी सम्भावित समस्याओ का समय मे पहले ही ठीक-ठीक मूल्याकन कर लिया जाए ताकि किसी अन्य और घोर आपत्ति स बचने के लिए शीघ्र ही उपाय किए जा सके।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता
(International Liquidity)

अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता से आशय—

'अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता' का तात्पर्य स्वर्ण एव विश्व-बाजारो मे स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार की जाने वाली करैंसियां (विशेषत डालर एव स्टर्लिंग और आजकल स्विस फ्रांक एव प० जर्मन मार्क्स भी) के कोषो की कुल विश्व पूर्ति तथा इन करैंसियो के उपलब्ध ऋणों की पूर्तियो के कुल योग से है। सन् १९६१ के अन्त मे कम्यूनिस्ट ग्रुप के देशो के अतिरिक्त अन्य सब देशो के सरकारी कोष कुल ६९,२०० मि० डालर के बराबर थे, जिनमे स्वर्ण की मात्रा ४०,२०० मि० डालर थी। स्पष्टत कुल द्रवता म स्वर्ण का भाग आधे से अधिक है, किन्तु राष्ट्रीय करैंसियो की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नही है। अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता की दृष्टि से किसी राष्ट्रीय करैंसी का महत्व तब उदय होता है जबकि वह अन्य देशो के कोषो मे स्थान पाये। उदाहरण के लिए डालर विश्व के अन्य देशो के कोषो म रखा जाता है किन्तु स्वय अमेरिका मे वह सरकारी कोष म नही रखा जाता। अमेरिका अपने कोष मे मुख्यत स्वर्ण और कुछ विदेश करैंसियाँ ही रखता है।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता की आवश्यकता—

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान ऋणी या ऋणदाता दोनों में से किसी भी देश की करेंसी म या परस्पर स्वीकार्य किसी तीसरे देश की करेंसी मे किये जा सकते हैं। प्रत्येक दशा मे एक करेंसी को दूसरी करेंसी मे परिणत कराना पड़ता है। यह कार्य विनिमय बैंको द्वारा अपने प्रसाधनों की सहायता से, अथवा, विदेशी विनिमय बाजार म विदेशी मुद्रा के बिलो के क्रय विक्रय द्वारा, अथवा देश के केन्द्रीय बैंक से विदेशी मुद्रा का ऋण लेकर सम्पन्न किया जा सकता है। यदि केन्द्रीय बैंक के साधन अपर्याप्त हो, तो वह अन्य देशो की केन्द्रीय बैंको स या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण ले सकता है। इतने पर भी यदि विदेशी भुगतान की व्यवस्था न हो सके, तो फिर सम्बद्ध देश आयात न करने पायेगा जिससे विश्व व्यापार मे कमी हो जायेगी। अत विश्व व्यापार के विस्तार के लिए स्वर्ण एव परिवर्तनशील करेन्सियो की उपलब्धि (अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता) की पर्याप्तता आवश्यक है।

द्रवता के अभाव का उदय—

सन् १९६० मे डालर पतन के चक्कर मे आ गया और उस पर दौड आरम्भ हो गई। तब से ही मुद्रा कोष द्वारा आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता की पर्याप्तता (adequacy) के बारे मे सदेह प्रगट किये जाने लगे है।

प्रो० ट्रिफिन (Triffin) का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष (स्वर्ण + करेंसिया) बढ तो रहे है, किन्तु जबकि करेंसियो की वृद्धि अनुपातातीत हुई है तब स्वर्ण अनुपात मे कम बढा है। स्वर्ण-कोष १ ५% चक्र वृद्धि गति से बढ रहा है। चूंकि १०-१५ वर्ष के पूर्व विश्व को विकास दर (एव इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता की माँग) ३% थी, इसलिये कोष सम्बन्धी आवश्यकता ५०% स्वर्ण मे और ५०% करेंसिया मे पूर्ण होती थी। किन्तु आजकल विश्व-अर्थ व्यवस्थाओ की विकास दर बढ जाने से कोष मे स्वर्ण और करेंसियों का सन्तुलन बिगड गया है। अन्य शब्दो मे, कोष म करेंसियों का अनुपात बढ रहा है जबकि स्वर्ण का अनुपात घट रहा है। अत द्रवता के अभाव की समस्या उत्पन्न हो गई है। यदि इसे हल न किया गया, तथा अथक प्रयासों के फलस्वरूप जिस बहुपक्षी परिवर्तनशीलता की स्थापना हुई है, वह पुन टूट जायेगी।

चूँकि स्वर्ण-पूर्ति मे वृद्धि करना कठिन है इसलिए यह कहा जा सकता है कि द्रवता-अभाव को पाटने के लिए करेन्सी-धारणो मे वृद्धि की जाय। किन्तु करेन्सी धारणा को बढाने म कई खतरे है —(i) यदि करेन्सी धारणा बढाया गया, तो कोष करेंसियो (reserve currencies) पर दबाव बढ जायेगा क्योंकि अधिक मात्रा मे रखे जाने से इनम लोगों का विश्वास कम हो जाता है और (ii) कोष-करेंसियो वाले देशो को भी अपनी आन्तरिक आवश्यकता के अनुसार एक ठोस आर्थिक नीति का पालन करना कठिन हो जायगा।

अधिक द्रवता के प्रबन्ध के लिए विभिन्न योजनायें—

अन्त अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता की वृद्धि के लिये कुछ अन्य वैकल्पिक योजनायें रखी गई हैं जो कि इस प्रकार है —

(१) ट्रिफिन योजना (Triffin Plan)—इसके अनुसार राष्ट्रीय करेंसिया के कोष का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करके, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक (Supernational central bank or XIMF) बनाया जाय, जो विश्व-अर्थव्यवस्थाओं की विकास दरों के अनुरूप एक उपयुक्त दर से साख उत्पन्न करे तथा XIMF currency (जिसे कीन्स ने Bancor Currency कहा है) ही भविष्य में एक रिजर्व करेंसी के रूप में चले। इस योजना को निम्न देशों के कारण पसन्द नहीं किया गया —(i) यह मुद्रा प्रसारिक प्रभाव उत्पन्न करेगी, (ii) इसमें राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का हनन होता है, एवं (iii) इसमें इतनी अधिक आशा करना असामयिक (too much too soon) है।

(२) हैरोड योजना (Harrod's Plan)—डालर में स्वर्ण का वही मूल्य चला आ रहा है जो कि सन् १६३४ में प्रचलित था। किन्तु तब से कीमतों के निरपेक्ष स्तर लगभग दूने हो गये हैं। अत हैरोड ने यह सुझाव दिया कि स्वर्ण-कीमत को ३५ डालर से बढ़ा कर ७० डालर प्रति औंस कर देना चाहिए। इससे द्रवता में वृद्धि हो जायेगी। अन्य शब्दों में उन्होंने डालर के अवमूल्यन का प्रस्ताव रखा। उनके प्रस्ताव में निम्न दोष थे और इन्ही दोषों के कारण वह लोकप्रिय न हो सकी—(i) अमेरिका के भुगतान सन्तुलन में कोई मौलिक असाम्यता नहीं है, फिर डालर का अवमूल्यन क्यों किया जाय ? (ii) यदि डालर का अवमूल्यन किया गया, तो उसके चालू खाते में आधिक्य पहले की अपेक्षा बढ़ जायगा। फलत प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन होने लगेगा। (iii) स्वर्ण के पुनर्मूल्यन से स्वर्ण उत्पादक देश (जैसे—रूस) ही अधिक लाभान्वित होंगे। यदि ऐसा हुआ, तो एक विरोधी विचार धारा वाले राष्ट्र की आर्थिक दशा मजबूत बनेगी। (iv) यदि स्वर्ण कीमतों में एक बारगी वृद्धि की गई, तो अत्यधिक द्रवता (और इसके फलस्वरूप मुद्रा प्रसार) की समस्या उत्पन्न हो जायेगी। (v) यदि वृद्धि थोड़ी-थोड़ी मात्रा में की जाय, तो इससे स्वर्ण कीमतों की प्रवृत्ति के बारे में अनिश्चितता उत्पन्न होकर सट्टा प्रारम्भ हो जायेगा।

(३) जेकबसन योजना (Jecobsson Plan)—मुद्रा कोष के भूतपूर्व प्रबन्ध सचालक ने एक समन्वयात्मक प्रस्ताव रखा, जिसके अनुसार आधिक्य भुगतान वाले देशों (surplus payment countries) के साथ ऋण वचन अनुबन्ध (Stand by Arrangements) किए जायें। जब द्रवता की माँग बढ़े, तो कोष इन अनुबन्धों के अधीन प्रमुख करेंसियाँ उधार ले फिर जरूरत वाले देशों को ऋण में दें। इस प्रकार ये ऋण साधन द्वितीय रक्षा पंक्ति का कार्य करेंगे। कोष ने इस योजना को स्वीकार कर लिया है।

ऋण-वचन-अनुबन्ध के अतिरिक्त अन्य युक्तियों द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता

गो बढाने का यत्न किया गया है। इन उपायो म करेंसी (currency swaps) और होटा-वृद्धि की योजनायें मुख्य है।

(४) पत्र-स्वर्ण योजना (Special Drawing Rights, SDR)—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एव 'दस देश समूह' द्वारा कराये गये अध्ययनो से यह पता चलता है कि स्वर्ण और रिजर्व करैंसियो की विद्यमान विश्व सप्लाई द्रवता सम्बन्धी वर्तमान आवश्यकता को पूरा करने के लिए पर्याप्त है किन्तु भविष्य की दृष्टि से चिन्ता प्रगट की गई है। यह भी उल्लेखनीय है कि वर्तमान द्रवता का वितरण विभिन्न देशो के मध्य न्यायोचित नही है। विशेषत विकासोन्मुख देशो को, जिन्हे भारी मात्रा मे आयात करने पड रहे है, द्रवता की आवश्यकता अनुभव हो रही है। यदि इसकी पूर्ति न हुई तो इनकी योजनायें भङ्ग होने का डर है। इसी हेतु अभी हाल मे सितम्बर १९६७ मे रायोडिजनेरियो की बैठक म तैयार की गई योजना के अनुसार मुद्रा कोष ने 'पत्र स्वर्ण' (Paper Gold) प्रचलित किये है। इस योजना की विशेषतायें निम्न प्रकार है —

(अ) अतिरिक्त कोषो का सृजन—एक नियत राशि तक अतिरिक्त कोष, SDR के रूप न वार्षिक आधार पर पहिले ५ वर्षों की अवधि के लिये, बनाये जावेंगे। इसम सदस्यो का योगदान उनके विद्यमान अभ्यशो स आनुपातिक होगा और वह इसका प्रयोग अपने भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी घाटो की पूर्ति के लिए ही कर सकेंगे। स्कीम के सचालन का भार मैनेजिंग डाइरेक्टर पर होगा। आशा है कि प्रारम्भिक ५ वर्ष की अवधि मे अतिरिक्त कोष की मात्रा १ ५ बि० प्रतिवर्ष होगी।

(आ) करैंसियो का क्रय—घाटे वाला देश प्रारम्भिक पांच वर्षीय अवधि मे अपने कुल SDR हिस्से के ७०% तक अन्य करैंसियां खरीद सकेगा (ऐसा करने पर उसका SDR कोटा कम हो जायेगा और लेनदार राष्ट्रो का बढ जायेगा)।

(इ) SDR के आधार पर आहरण शर्तरहित होंगे—अधिकतम निर्धारित सीमा तक आहरण करने के लिए देनदार देश स्वतन्त्र होंगे, अर्थात् उनसे यह अपेक्षा नही की जायेगी कि अपनी घरेलू आर्थिक नीतियो मे कोई परिवर्तन करें। उन्हे यह राशि पांच वर्षीय अवधि के भीतर नही लौटानी पडेगी, लौटाने का प्रश्न इस अवधि के बाद उठेगा।

(ई) SDR का स्वर्ण मूल्य—SDR का स्वर्ण-मूल्य प्रचलित दर के हिसाब से ही नियत किया गया है और इसके दुरुपयोग को रोकने के उद्देश्य से ब्याज की दर मामूली रखी गई है।

(उ) अवमूल्यन—यदि मौलिक असाम्यता करैंसी का अवमूल्यन करना आवश्यक बनाए, तो सम्बन्धित देश को मुद्रा कोष के प्रति कुछ अतिरिक्त भुगतान करना होगा, ताकि SDR के रूप मे उसका कोटा बना रहे।

स्पष्ट है कि SDR ने हिसाब की एक नई अन्तर्राष्ट्रीय इकाई का सृजन किया है, किन्तु यह स्वर्ण या रिजर्व करैंसियो को प्रतिस्थापित नही करती वरन् इनका

पूरक मात्र है। शर्तरहित आहरणों से अर्द्ध विकसित देशों को विशेष लाभ होगा। इसके अतिरिक्त किसी भी सदस्य देश को स्वर्ण या परिवर्तनशील करेंसी में कोई प्रारम्भिक भुगतान करने की आवश्यकता नहीं है।

विश्व व्यापार में विनिमय माध्यम का कार्य करने के लिए पत्र चलन के सृजन की दिशा में SDR स्कीम एक महत्वपूर्ण कदम है। इसे एक विश्व केन्द्रीय बैंक की स्थापना की दिशा में उठाया गया कदम भी कह सकते हैं। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता का परिमाण निकट भविष्य में अपर्याप्त ही रहेगा तथापि SDR स्कीम उसका एक प्रगतिशील समाधान है और मानव जाति को स्वर्ण के दीर्घकालिक मोह जाल से मुक्त कराने वाली है।

किन्तु स्कीम की निम्न सीमायें भी हैं —(i) SDR के कोटे IMF की वर्तमान संरचना के अनुसार ही निर्धारित कर दिये गये हैं, कोई वैज्ञानिक तरीका नहीं अपनाया गया। उचित तो यह था कि SDR कोटा घाटे वाले देशों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए निर्धारित किया जाता, क्योंकि स्कीम का बुनियादी उद्देश्य यही तो है कि देशों को अपने भुगतान सन्तुलन में समायोजन करने के लिये जल्दबाजी न करनी पड़े। (ii) चूँकि फण्ड की सदस्यता विश्व व्यापी नहीं है इसलिये विश्व-व्यापार एवं भुगतानों का एक महत्वपूर्ण भाग SDR स्कीम से बाहर ही छूट गया है।

अभी तक फण्ड के विशेष आहरण खाते (Special Drawing Account) में भाग लेने वाले देशों को कुल ३,४१४ मि० डालर के हिस्से (SDR Holdings) प्रदान किये गये हैं। कुछ देशों ने SDR का प्रयोग किया है जिसमें उनके SDR हिस्से कम होकर मुद्रा कोष व अन्य देशों के SDR हिस्से (SDR Holdings) बढ़ गये हैं। मुद्रा कोष के SDR हिस्से १ जनवरी १९७० को शून्य से बढ़कर ३१ जनवरी १९७० को १२.३ मि० डालर हो गये, क्योंकि कुछ सदस्यों ने SDR का प्रयोग फण्ड से लिये हुये ऋणों को चुकाने में किया। कुछ देशों ने SDR का उपयोग करैंसियाँ प्राप्त करने के हेतु किया, जिस कारण U. S. का SDR कोटा ३२.८ मि० डालर से बढ़कर ८६६.३ मि० डालर हो गया। आस्ट्रिया, बेल्जियम, इटली, नीदरलैण्ड्स, कनाडा, जापान, आस्ट्रेलिया, द० अफ्रीका, मैक्सिको और वैनेजुएला के SDR कोटे भी बढ़ गये हैं।

SDR का प्रयोग करने वाले देश निम्न हैं—संयुक्त अरब गणराज्य, फिलीपाइन्स और इजराइल। इन्होंने अपने प्रारम्भिक कोटे की लगभग सम्पूर्ण राशि इस्तेमाल कर डाली है। अन्य देश हैं—ग्रीस, लंका, पाकिस्तान, सूडान, कोस्टारिका।

कोष की रिपोर्ट से पता चला है कि विकासोन्मुख देशों—विशेषतः मिश्र, इजराइल और ग्रीस—ने SDR का उपयोग दुर्लभ करैंसियाँ प्राप्त करने में किया है। इस प्रकार का उपयोग स्कीम के उद्देश्यों से विपरीत है। अतः कोष भविष्य में SDR के उपयोग के विशेष में कुछ प्रतिबन्ध लगाने पर विचार कर रहा है।

परीक्षा प्रश्न :

१. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली है। इसमे क्या दोष है ?

२. अभी हाल मे जो डालर सकट उदय हुआ उसके क्या कारण थे ? भारत पर इसका क्या प्रभाव पड सकता है ?

३. अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता से आप क्या समझते हैं ? इसे बढाने के उपायो पर प्रकाश डालिये।

४ अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता की धारणा को समझाइये और सितम्बर १९६७ मे रायो-डिजनेरियो मे अन्तर्राष्ट्रीय द्रवता के विकास हेतु जो योजना बनाई गई थी उसकी आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये।

[Explain the concept of international liquidity and critically assess the plan which was evolved at Riode Janerio in September 1967 for ensuring international liquidity]

५२

मन्दी—एक विश्व समस्या

(Depression—A World wide Problem)

प्रारम्भिक—

पिछले दो चार वर्षों स दश के कुछ औद्योगिक क्षेत्रो मे मन्दी के लक्षण प्रगट हुए ह। इस सम्बध म याद रह कि मन्दी की समस्या भारत की ही समस्या नही है वरन् यह एक विश्व-समस्या है। श्रम विभाजन की नीति जब तक ससार मे लागू नही होती, मन्दी की समस्या हल नही होगी। एशिया अफ्रीका तथा दक्षिण अमरीका के पिछडे देश विकसित हो रहे हैं अब वे कच्चे माल के निर्यातक ही नही, बल्कि उत्पादित माल के विक्रता भी बन गय हैं। इस हालत मे सब देशो को अपना औद्योगिक विकास समन्वित करना होगा। सयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन इस काम म सहायक सिद्ध हो सकता है। पश्चिमी दश कब तक चेतेंगे इसकी प्रतीक्षा करनी होगी।

पश्चिमी देश और मन्दी

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पश्चिम जर्मनी का 'मार्शल योजना' के अधीन अमरीका से अपार धनराशि मिली। अपने तकनीकी ज्ञान का लाभ उठाकर उसने सारे दश म सभी उद्योग नये आधार तथा नई मशीनो से खडे किये। इससे वह ब्रिटेन तथा फ्रास से भी आगे बढ गया। किन्तु अब उसे भी औद्योगिक मन्दी तथा बढती हुई बेकारी का सामना करना पड रहा है। अमरीकी और जापानी माल उसके बाजारो म भर गया है। इससे उसे अपने उद्योगो को सरक्षण देने की जरूरत महसूस हुई। वहाँ भी माग घट गई है। आर्थिक मामलो के विशेषज्ञ कहते हैं कि वहाँ लोग अपनी आमदनी का अधिक से अधिक भाग बैंको म जमा कर रहे ह। खच करना नही चाहते और इसका कारण है बेकारी का भय। कोयला खाने बन्द हो रही है। उद्योगो म लोगो को अधिक सख्या म काम नही मिलता और अब कम्प्यूटर लग जाने के बाद कार्यालयो तथा उद्योगो मे जनशक्ति की जरूरत और भी घट जायेगी।

इन कठिनाइयो को दूर करने के लिए ही पश्चिम जर्मन सरकार ने चार वर्ष की योजना कार्यान्वित करने का फैसला किया। वे इस योजना का 'प्रोजेक्शन'

रहते हैं। वहाँ सरकार मकानो तथा सडको का निर्माण बढ़ाकर बेरोजगारी की समस्या हल करना चाहती है। सारे पश्चिमी यूरोप म उपभोक्ता उद्योगो का विस्तार हो रहा है जिससे अधिकाधिक लोगो को काम मिले और क्रय शक्ति बढ़े। यह होने पर ही देश मे उत्पादित माल खप सकेगा।

ब्रिटेन अपनी आर्थिक समस्या हल करने का जी तोड प्रयास कर रहा है। मजदूर दलीय सरकार ने इसके लिए साहसपूर्ण कदम उठाये है। पिछडे इलाको के विकास के लिए श्री विल्सन की सरकार उद्योगपतियो को भूमि, ऋण तथा कारखानो के लिए बने बनाये मकान दे रही है। यह कार्यक्रम उनकी योजना का आवश्यक अग है। इसे ही वहाँ 'प्रोत्साहन मदद' कहा जाता है। इसी तरह वेल्स के औद्योगीकरण तथा वहाँ की बेरोजगारी को दूर करने का कार्यक्रम चलाया जा रहा है।

इतना ही नही, ब्रिटेन की सरकार सरकारी क्षेत्र मे उपभोक्ता उद्योग खडा करने जा रही है इसका कारण है—निजी विनियोजन का अभाव। वहाँ भी पूँजी-पति अपनी पूँजी उद्योगो मे लगाने म हिचक रहे है। इस हालत मे सरकार और क्या करे। आयोजन और सरकारी क्षेत्र की अनिवार्यता का यही कारण है।

इस प्रकार पश्चिमी देशो म योजनाबद्ध विकास म अनिवार्यता अब मानी जाने लगी है। किन्तु उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक है सिद्धान्तवादी नही। ब्रिटेन और जर्मनी मे भी सरकारी व्यय म कटौती की जा रही है। कारखानो की क्षमता का कुल ७५ प्रतिशत काम म आ रहा है। सरकार अपनी ओर से पूँजी लगा रही है। बैंक दर घटाकर ऋण का विस्तार किया जा रहा है। कारखानो का मुनाफा तेजी से घटा है और श्रम सगठन वेतन म वृद्धि की माग कर रहे है। इस हालत म महँगाई बढी है। करो म वृद्धि की जा रही है। इन देशो मे अर्थव्यवस्था मे सरकारी हस्तक्षेप प्रतिदिन बढ रहा है।

भारत और मन्दी

जब विकसित देशो की यह हालत है तो भारत जैसे विकासशील देश की समस्या का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। भारत जैसे विकासशील देशो मे विकास की पूरी जिम्मेदारी सरकार पर है। आजादी से प्राप्त अधिकार तथा आम लोगो की आशाओ एव आकाक्षाओ मे वृद्धि के कारण निजी स्वार्थो को नियन्त्रित करना अनिवार्य हो गया है अन्यथा जन आन्दोलन देश और समाज की रीढ ही तोड डालेंगे।

मन्दी से उबरने के लिये भारत के सम्बन्ध मे सुझाव—

भारतीय वाणिज्य एव उद्योगमडल सघ ने देश मे आई मन्दी मे से निकलने के लिए लौह पिंड, स्पात और केमिकल्स जैसे औद्योगिक माल और पखो, सिलाई की मशीनो, कपडा और प्लास्टिक के सामान जैसे तैयार माल पर उत्पादन शुल्क घटाने, कम्पनी कर तथा बैंक दर कम करने तथा रिजर्व बैंक की ऋण नीति और ढीली करने की मांग की।

मन्दी के मुकाबले के लिये सरकार ने अब तक जो कदम उठाए हैं वह अर्थ-व्यवस्था को मन्दी में से तेजी से निकालने के लिए काफी नहीं है। भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग मंडल संघ ने सरकार और उद्योग दोनों के द्वारा 'अधिक रचनात्मक और कल्पनाशील' कार्यक्रम पर अमल किए जाने का सुझाव दिया। उसने चेतावनी दी कि उद्योगों में वर्तमान मन्दी को सिर्फ अस्थायी दौर नहीं माना जाना चाहिए। इसके गम्भीर परिणाम निकलेंगे और उसे समय रहते रोका नहीं गया तो स्थिति खराब हो जाएगी। तब और भी कड़े कदम उठाने पड़ेंगे। संघ की एक समिति ने औद्योगिक क्षेत्र में मन्दी के कारणों का अध्ययन किया था और उसने अपनी अंतरिम रिपोर्ट में उसे दूर करने के कुछ उपाय सुझाए हैं जो कि निम्न प्रकार है —

(१) सरकार कृषि उपज के मूल्य स्थिर करने के लिए पर्याप्त कदम उठाये और अनुत्पादक खर्च कम कर दे जैसे सहायता राशि (सब्सिडी), सामुदायिक विकास और ग्रामीण निर्माण कार्य आदि का खर्च। उसे ऐसी औद्योगिक योजनाओं पर भी धन नहीं लगाना चाहिए जो लम्बे समय के बाद उत्पादन शुरू करती हैं। इसके साथ ही सरकार को ऐसी योजनाओं पर धन लगाना चाहिए, जिन पर काम चल रहा है या जिनमें अर्थ-व्यवस्था का ढाँचा मजबूत होता हो।

(२) कुछ क्षेत्रों में रेल परिवहन तथा बिजली की कमी अनुभव की जाने लगी है। उदाहरण के लिए कोयला उद्योग को रेल परिवहन की भारी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। अतः रेल डिब्बों के निर्माण में कटौती बहाल की जाये और रेल परिवहन की दिक्कत खत्म किया जाय। बिजली की उत्पादन-क्षमता का बढ़ाया जाय।

(३) सरकार भारी एवं दरम्यानी इस्पात-ढाँचा निर्माण उद्योग की क्षमता का अधिक उपयोग करे। इस क्षेत्र में पहले ही जरूरत से अधिक क्षमता को देखते हुए ढाँचे बनाने के नए कारखानों के लिए लाइसेन्स नहीं दिए जाने चाहिए।

(४) अन्य वित्तीय-प्रोत्साहन कम्पनी-करों में कमी कर दिए जाने चाहिए। यदि कम्पनी कर घटा दिया जाता है तो निर्माता मन्दी का मुकाबला करने के लिए बेहतर स्थिति में होंगे। बैंक दर भी घटा दी जानी चाहिए जिससे ब्याज और लाभांश की दरें बराबर की जा सकें।

(५) रिजर्व बैंक की ऋण नीति को और उदार बनाया जाए जिससे धन कम ब्याज पर ही नहीं, अधिक मात्रा में भी उपलब्ध हो सके। इसके साथ ही बैंकों को देहाती क्षेत्रों में धन-संग्रह की सुविधाएँ दी जानी चाहिए।

(६) निर्माताओं को बाजार की माँग के मुताबिक चीजें बनाने देना चाहिए केवल वे ही चीजें नहीं जिनके लिए उन्हें लाइसेन्स दिया गया था।

(७) देश में इन्जीनियरिंग माल की माँग में कमी का निर्यात बढ़ाने के

लिए लाभ उठाया जाए। इसके लिए सरकार को कुछ विशेष प्रोत्साहन देने चाहिए।

चूँकि देशी माँग मे कमी का एक सम्भावित कारण आयात की नई उदार नीति के अन्तर्गत कुछ अधिक आयात भी है, इसलिए ऐसे उपाय करना जरूरी है कि जो चीजें देश मे बनने लगी है, उनका आयात न हो।

परीक्षा प्रश्न :

१. "मन्दी—एक विश्व समस्या है"—इस कथन की समीक्षा कीजिए। भारत पर मन्दी का क्या प्रभाव पड रहा है ? इसके उपचार बताइये।

परिशिष्ट (अ)

विदेशी व्यापार गुणक

(Foreign Trade Multiplier)

प्रारम्भिक—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे 'विदेशी व्यापार गुणक' की धारणा 'वेग' velocity की धारणा से उदय होती है। जब लोग व्यय करते है, तो क्रय-शक्ति विक्रेताओ को प्राप्त हो जाती है, जो फिर स्वय भी व्यय करते है, जिसके फलस्वरूप और भी अधिक व्यक्ति अतिरिक्त क्रय शक्ति पाते तथा खर्च करते है। प्राप्त होने वाले अतिरिक्त कोष बाद मे कितनी तेजी से व्यय किये जावेंगे, यह 'मुद्रा के वेग' पर निर्भर है। किन्तु, जो व्यक्ति अधिक कोष प्राप्त करता है आवश्यक नही कि वह सब की सब अतिरिक्त क्रय शक्ति को व्यय कर दे। कारण, वह इसके एक भाग को निष्क्रिय (Idle) रख सकता है अथवा पिछले ऋणो के चुकाने मे इस्तेमाल कर सकता है। कुछ भी कारण हो, किन्तु यह निश्चित है कि समस्त कोष व्यय नही किये जाते है। यदि ये बाद म कभी व्यय किये गये, तो उनके प्रभाव घटे हुये व्यय के सदृश होंगे। वर्ष मे व्यय की अपेक्षाकृत धीमी दर कुल व्यय-राशि को घटा सकती है। इस प्रकार, यदि प्राप्ति और व्यय की मध्यान्तर औसत अवधि दुनी हो जाय, तो व्यय राशि ५०% घट जायेगी। यह धारणा क्षरण' (leapage) कहलाती है और व्यय धारा मे से हुये रिसाव को सूचित करती है।

आयात और निर्यात क्षरण—

रिसाव या क्षरण वह क्रय-शक्ति है जिसे व्यय-धारा मे से अलग कर लिया गया है। जैसे-जैसे रिसाव अधिक होता जाता है, क्रय-शक्ति की प्रथम वृद्धि से उत्पन्न हुआ विस्तारकारी उद्वेग भी धीरे-धीरे घटने लगता है और अन्तत समाप्त हो जाता है। इस प्रकार व्यय धारा म मे हुआ कोई भी रिसाव अतिरिक्त व्यय की राशि को घटा देता है। आयातो की दशा मे, जबकि व्यय का अधिकार किसी विदेशी को चला जाता है, क्रय-शक्ति देश से बाहर हस्तातरित हो जाती है और तब विदेशी अर्थव्यवस्था के पास अतिरिक्त व्यय शक्ति (बढे हुये निर्यात) हो जाती है किन्तु आयातक देश के पास यह कम रह जाती है (घटे हुय आयात)।

जैसे-जैसे क्रय शक्ति विस्तृत होती है इस अतिरिक्त व्यय का एक भाग आयातो पर काम आता है, जिससे इस रिसाव मे वृद्धि होती है। इस प्रकार, रिसाव दो प्रकार का होता है—(अ) वह जो बचत, सचय आदि से उदय होता है और (ब)

वह जो आयातो के कारण उदय होता है। ये दोनो ही विस्तारमूलक शक्तियाँ (गुणक) को, एक एकाकी अर्थव्यवस्था की अपेक्षा, जो कि आयात नही करती है और जिसे आयातो के द्वारा क्रय शक्ति का अतिरिक्त रिसाव प्राप्य नही है अधिक शीघ्रता से काट देते है।

विदेशी व्यापार गुणक—

'गुणक' व्यय के इस प्रकार से खोये हुए भाग का प्रतिपूरक (reciprocal) होता है। इसमे दोनो प्रकार के रिसाव सम्मिलित होते हैं, तकनीकी भाषा म, वह दोनो प्रकार के अनुपातों के योगफल का प्रतिपूरक होता है।[1]

विदेशी व्यापार गुणक भी अतिरिक्त निर्यातो स प्राप्त अतिरिक्त क्रय शक्ति को दिखलाता है। निर्यात से क्रय शक्ति मे वृद्धि होती है, आयात से कमी। अत, यदि आयातो की अपेक्षा निर्यात अधिक बढते हैं, तो हमारी क्रय शक्ति मे 'शुद्ध वृद्धि' होती है और यदि निर्यातो की अपेक्षा आयात अधिक बढते हैं, तो क्रय शक्ति मे शुद्ध कमी' होगी। यदि आयात और निर्यात समान रूप से बढे, तो क्रय शक्ति मे कोई परिवर्तन नहीं होगा, वह पूर्ववत् रहेगी। यदि क्रय शक्ति मे कोई परिवर्तन (शुद्ध वृद्धि या शुद्ध कमी) हुआ है तो वह अर्थ व्यवस्था म गुणक (किन्तु घटते हुये) प्रभाव के साथ, फैल जाता है और बाद को विभिन्न प्रकार के कारणो के रूप मे दिखाई देता है।

उदाहरणार्थ, एक स्फीतिक चक्र (expansionary cycle) को लीजिये। मान लीजिये कि हमारे निर्यातो मे विदेशियो की आय बढने के फलस्वरूप, कुछ प्रारम्भिक वृद्धि हो जाती है। ऐसा होने पर देश को भुगतान म अधिक क्रय शक्ति प्राप्त होगी और फलस्वरूप अतिरिक्त व्यय की एक शृङ्खला चल पडेगी। जैसे-जैसे विदेशियो की आय और बढ़ेगी नियातो मे वृद्धि घटती हुई दर से होगी, क्योंकि एक तो विदेशियो की बचतें बढ जाती हैं और दूसरे हमारे अपने आयात भी बढते हैं। आय म वृद्धि होना उस समय बन्द हो जाता है जबकि ये दोनो प्रकार के कारण क्रय शक्ति मे हुई समस्त प्रारम्भिक वृद्धि को सोख लेते हैं—एक प्रकार का कारण बचतो को बढाता है और दूसरा आयातो को। बचत मे वृद्धि होने का मतलब है कि उपभोग पर और व्यय नही किया जायेगा तथा जब तक उधार-कोषो के लिए माँग वर्तमान स्तर की तुलना मे बढ नही जाती उनका कोई उपयोग शेष नही रहता। अन्य शब्दो मे, ये कोष व्यय-धारा मे अलग हो गये है। इस तथ्य का (कि बढ़े हुए आयातो के लिये मुद्रा द्वारा भुगतान किया जा रहा है) अर्थ यह है कि क्रय शक्ति विदेशी सप्लायरो को ट्रासफर की जा रही है। यहाँ भी कुछ कोष व्यय-धारा से निकल जाते है। जब

1 "The multiplier is the reciprocal of the proportion of spending so lost. It includes the two leakages, technically the reciprocal of the sum of the two proportions"

अतिरिक्त निर्यातों के बदले प्राप्त हुआ समस्त प्रारम्भिक कोष काम में आ जाता है अर्थात् वह तो निष्क्रिय बचतों के रूप गतिहीन (inactive) बन जाता है अथवा बढ़े हुये आयातों के भुगतान में विदेशों को चला जाता है, तब शुद्ध कोष सक्रिय कोष पुन उतने ही रह जाते है जितने कि यह निर्यात वृद्धि के पूर्व थे। आयातों पर यह द्वितीयात्मक प्रभाव सप्लायर देशों की क्रय शक्ति को बढ़ाता है, जो अब (क्रेता देश का) अधिक निर्यात करते है, क्योंकि उस देश के बढ़े हुये निर्यातों ने उनकी आय और इसलिए उसके आयातों को बढ़ा दिया है। अब वे स्वयं भी वृद्धि दिखलाते है—उनकी आयें बढ़ती है और उनके आयात बढ़ते है, जिनमें से कुछ पुन प्रथम देश मे आते हैं। चूँकि प्रत्येक स्तर पर आयात आय-वृद्धि का एक अनुपात मात्र होगा, इसलिए विभिन्न प्रभाव घटती हुई दर से होते है। निर्यातों म हुई प्रारम्भिक वृद्धि ने जिन स्फीतिक शक्तियों को गतिशील बनाया था वह दूसरे देश मे, जोकि प्रथम देश के बढ़े हुये निर्यातों का स्रोत था, आयातों में हुई वृद्धि से उदय होने वाली विस्फीतिक शक्तियों से सन्तुलित हो सकती है।

गुणक-विश्लेषण का महत्त्व—

गुणक-विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि एक देश की तेजी कैसे अपने आपको अन्य देशों में सम्मिलित कर देती है और एक देश की विस्फीति कैसे अन्य देशों को फैल जाती है। तेजी के फलस्वरूप आय व आयात में वृद्धि होती है, जिस कारण सप्लायर देशों म विस्तार की प्रवृत्ति शुरू हो जाती है और,फिर आयात अधिक बढ़ते हैं तथा तेजी और भी जोर पकड़ती है। क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। इसी प्रकार, मंदी की दशा मे आयात और निर्यात घटते है, जिसके फलस्वरूप व्यापार मे भाग लेने वाले पक्षों को नुकसान पहुँचता है तथा मंदी फैलने लगती है।

आयातों की अपेक्षा निर्यातों मे अधिक वृद्धि होना स्फीतिक (expansionary) होना है। किन्तु जब निर्यात में गिरावट आयातों की अपेक्षा धीमी गति से हो, तब भी ऐसा ही होता है। यदि निर्यात मे १ करोड़ रु० और आयात में १·५ करोड़ रु० से कमी होती है, तो विदेशियों के प्रति स्वदेश के शुद्ध भुगतानों में ०·५ करोड़ रु० की कमी होती है अर्थात् इतने कोष उसकी व्यय-धारा म बने रहते है और इस प्रकार उतना ही प्रोत्साहन देते है जितना कि निर्यात मे १·५ करोड़ रु० और आयात मे १ करोड़ रु० की वृद्धि होने पर देते। इसी प्रकार, निर्यातों की अपेक्षा आयातों म अधिक वृद्धि उतनी ही विस्फीतिक (deflationary) होती है जितनी कि निर्यातों की अपेक्षा आयातों में हुई थोड़ी कमी।

निर्यात-आयात सतुलन पर पड़ने वाले इस प्रभाव मे तब भिन्नता होगी जबकि यह बढ़ते हुये या घटते हुये व्यापार के साथ हो। हम यह मान सकते हैं कि आयात और निर्यात जब समान राशियों म बढ़ते है तो ऐसी वृद्धियों का प्रभाव 'तटस्थ' होगा, क्योंकि सबद्ध देश जितनी क्रय शक्ति अधिक पाता है उतनी ही खो भी देता है। इस पर भी 'वृद्धि' प्रेरणादायक है—निर्यात उद्योगों का विस्तार होता है और क्षमता को

र के लिये नये विनियोग किये जाते है। अधिक विस्तार की भावना तेजी की मनो-र निर्मित कर देती है। दूसरी ओर, आयात और निर्यात मे समान रूप से हुई गी मंदा की मनोवृत्ति बनाती है। तेजी की दशा मे क्षरण-घटक मे शिथिलता होता है जो यह कि पहिले की अपेक्षा कम राशि निष्क्रिय रहती है किन्तु पहिले की अपेक्षा व्यय अधिक किया जाता है और फलस्वरूप गुणक के मूल्य या आकार (value or size) मे वृद्धि हो जाती है।

आयात-क्षरण का आकार देश मे आर्थिक क्रिया के स्तर के साथ साथ परिवर्तित होता है। यदि निष्क्रिय क्षमता या बेकारी एक बडी मात्रा मे विद्यमान हो, तो व्यय मे हुई वृद्धि मुख्यत घरेलू उत्पादको को मिलेगी, आयातको को कम। किन्तु जैसे जैसे पूर्ण क्षमता का स्तर निकट पहुँचेगा, विदेशो से अधिकाधिक प्राप्ति होगी और विकासोन्मुख माग उपलब्ध घरेलू पूर्ति की तुलना मे बढ जायेगी। इसके अतिरिक्त, दीर्घकाल मे क्षरण का मूल्य या आकार आत्म-निर्भरता के अश के साथ परिवर्तित हो सकता है।

उधार लेन के निचले स्तरो पर आय और व्यय की वृद्धि विद्यमान सयन्त्रो के प्रयोग की दरो को ऊँचा कर देती है। किन्तु जैसे-जैसे वास्तविक उत्पादन क्षमता-स्तरो के निकट होने लगता है और अधिक आय विस्तार, अतिरिक्त विनियोजन को आवश्यक बना देता है। ताकि बढती हुई माँग की पूर्ति के लिय नये प्लाट लगाये जा सकें। अतिरिक्त विनियोजन को आवश्यक कार्यकलापो के ऊँचे स्तरो पर आन्तरिक क्षरण सभवत कही कम होता है क्योकि थोडे ही कोष निष्क्रिय रखे जाते है किन्तु अधिकाश कोष विनियोग कर दिये जाते हैं। ऐसी परिस्थिति मे यह सम्भव है कि ये दोनों प्रकार के क्षरण एक चक्र मे विपरीत दिशाओ मे चलें—आर्थिक क्रिया के साथ आयात-क्षरण तो बढे किन्तु आन्तरिक क्षरण घटे। आर्थिक क्रिया के सकुचन की दशा मे विपरीत क्रम देखा जाता है। परिणामस्वरूप गुणक का मूल्य प्राय अस्थिर होता है क्योकि इसका वास्तव मे आकार इन दो बुनियादी परिवर्तनशील उप-वर्गो का ही प्रतिबिम्ब होता है, जिनमे से प्रत्येक अपनी-अपनी शक्तियो के अनुसार चल रहा होता है।

यदि सभी देश सम्पन्न होते है, तो निर्यात एव आयात भी ऊँचे रहते हैं। किन्तु सभी देश यदि मदी मे चल रहे है, तो निर्यात और आयात भी अपेक्षत नीचे होते है। राष्ट्रीय आय, निर्यात-आयात और विनियोग सभी साथ-साथ बढते-घटते है तथा इनमे से प्रत्येक व्यय-धारा पर अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया दिखलाता है। दोनो ही (तेजी या मदी की) दशाओ मे प्रत्येक देश के लिये भुगतान एव प्राप्तियां सतुलित होते है। किन्तु आन्तरिक कल्याण पर उनका क्या प्रभाव होगा ? गुणक तर्क के अनुसार चूँकि आयात और निर्यात समग्र विश्व की दृष्टि से बराबर होने चाहिये, इसलिये, समान रूप से मूल्यांकित किये जाने पर, जो देश अधिक प्राप्त करते है उनके लिये क्रयशक्ति

वे 'शुद्ध अन्तर्प्रवाह' (Net in flow) की प्रेरणा उन देशों को, जिन्हें प्राप्तियों की अपेक्षा भुगतान अधिक करना पड़ रहा है, क्रय शक्ति के शुद्ध बहिर्गमन (Net out-flow) की कुप्रेरणा के ठीक बराबर होगी। इस प्रकार, सम्पूर्ण विश्व के लिये, 'विदेशी व्यापार गुणक' सदा 'शून्य' होता है। इसका मतलब यह हुआ कि विश्व व्यापार के स्तर का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। क्योंकि यह सेक्टर विश्व की क्रय शक्ति में न तो वृद्धि कर सकता है न कमी। ऐसी दशा में गुणक निरर्थक रह जाता है। अत इसकी उपयोगिता मुख्यत एक छोटे क्षेत्र में या कुछ देशों तक सीमित है। बड़े क्षेत्रों पर लागू करने की दशा में गणना सम्बन्धी त्रुटियाँ हो सकती हैं।

परीक्षा प्रश्न :

१ विदेशी व्यापार गुणक क्या होता है ? क्या यह व्यापारिक नीति के लिये एक सतोषजनक आधार प्रदान करता है ?

[What is a foreign trade multiplier ? Does it provide a satisfactory basis for commercial policy ?]

(इलाहा०, एम० ए०, १९६९)

२ राष्ट्रीय आय के सदर्भ में विदेशी व्यापार गुणक की धारणा का विवेचन कीजिये।

[Discuss the concept of foreign trade multiplier in relation to national income]
(आगरा, एम०, ए०, १९६७)